॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१५८

॥ श्रीः ॥

माधवनिदानम्

'मधुकोष' 'विद्योतिनी' विमर्शोपेतम्

[उत्तरार्द्धम्]

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

DR. Jan Mohan Joshi
B.A.M.S st.
D.A.V. medical college
Jullundur city

प्रभो! विपत्तियों से रक्षा करो - यह प्रार्थना लेकर मैं तेरे द्वार पर नहीं आया, विपत्तियों से भयभीत न होऊं यही वरदान दे, अपने दुःख से व्यथित चित्त को सान्त्वना देने की भिक्षा नहीं मांगता हूँ दुःखों पर विजय पाऊं यही आशीष दे।

यही मेरे अन्तरात्मा की प्रार्थना है।

[illegible]
22.9.66

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला
१५८

महामतिश्रीमाधवकरविरचितं

माधवनिदानम्

महामहोपाध्याय श्रीविजयरक्षित-श्रीकण्ठदत्ताभ्यां
विरचितया 'मधुकोश' व्याख्यया विभूषितम्

तथा

हरिद्वार-ऋषिकुलायुर्वेदकालेजाध्यापक-
आयुर्वेदाचार्य श्री सुदर्शनशास्त्रि ए. एम. एस.
कृतया
'विद्योतिनी' हिन्दीटीकया नवीनवैज्ञानिक 'विमर्शेन'
च समुल्लसितम्

तच्चेदम्

काशीहिन्दूविश्वविद्यालयायुर्वेदकालेजाध्यापक-
आयुर्वेदाचार्य श्री यदुनन्दनोपाध्याय बी. ए., ए. एम. एस.
सर सुन्दरलाल-आतुरालयचिकित्सकेन सुसंस्कृत्य सम्पादितम् ।

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : द्वितीय, संवत् २०१८.
मूल्य : ७-५०

Phone 3145

DR. Nandmohan Joshi
B.A.M.S.
D.A.V. Medical College
Jullundur city

निवेदन

आयुर्वेद के आदि प्रवर्तक परमकारुणिक भगवान् शंकर[1] के अनुग्रह से महामति श्री माधवकर विरचित 'रोग विनिश्चय' ग्रन्थ के पूर्वार्ध की विमर्शयुक्त विद्योतिनी टीका के प्रकाशन के ठीक एक वर्ष बाद आज हमें उत्तरार्ध और परिशिष्ट भी प्रस्तुत करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के पूर्वार्ध को विद्वानों एवं छात्रों ने जिस प्रेम से अपनाया है उससे प्रोत्साहित होकर हमें उत्तरार्ध को और भी सुन्दर ढंग से सजाने की प्रेरणा मिली है और हमने यथाशक्ति उसे पूरा करने का प्रयास भी किया है। फिर भी विवशतावश अनेक त्रुटियों का रह जाना असम्भव नहीं है।

उत्तरार्ध भाग में कायचिकित्सा के अवशिष्ट अंश के अतिरिक्त आयुर्वेद के शेष सात अङ्गों में से शल्यतन्त्र, शालाक्यतन्त्र, प्रसूतितन्त्र युक्त कौमारभृत्य एवं अगदतन्त्र इन चार अङ्गों के मूलसिद्धान्तों का प्रायः पूरा तथा भूतविद्या एवं विषतन्त्र का संक्षिप्त वर्णन है। चिरकाल से व्यावहारिक क्षेत्र में यह विषय प्रायः उपेक्षित ही रहे हैं अतः उनके मनन विशेषतः आज के युग में अतिविकसित इन्हीं विषयों के अर्वाचीन तन्त्रों के साथ तुलनात्मक विवेचन के लिए पर्याप्त श्रम और समय दोनों ही अपेक्षित हैं। हमने यथाशक्ति इसे सम्पादित करने की चेष्टा की है किन्तु अनेक प्रकार के अन्य कार्यों में व्यस्त रहने के कारण इस कार्य के लिए अत्यन्त सीमित समय ही मिलता था। टीकाकार श्री सुदर्शन शास्त्री के अतिदूर (हरद्वार में) रहने से हमारा कार्यभार और भी बढ़ गया जिससे इस भाग के प्रकाशन में विलम्ब होने लगा। दूसरी ओर जिन महानुभावों ने पूर्वार्ध को अपना कर हमें प्रोत्साहित किया था उनकी विशेषतः छात्रों की उत्तरार्ध की प्रतीक्षा अधीरता में परिणत होती जा रही थी। बहुत-से छात्रों ने प्रकाशन के पूर्व से ही दोनों भागों के मूल्य देकर अपनी प्रतियाँ सुरक्षित करा ली हैं। उनकी अधीरता ने तो हमें भी अधीर बना दिया और सीमित साधन एवं समय में ही जो कुछ भी हो सका है उसे आपके समक्ष उपस्थित करते हैं।

---

१. 'रुद्रः प्रथमो दैव्यो भिषक्' (ऋग्वेद)

परिशिष्ट में संगृहीत रोगों के सम्बन्ध में कुछ विवरण या निर्देश मूल ग्रंथ अथवा उसकी टीका और विमर्श में हो चुके हैं। उनका भी पर्य्यालोचन सुगमता से किया जा सके इसलिए 'परिशिष्ट' में भी स्थल-स्थल पर विमर्श के साथ मूलग्रंथ के पृष्ठों का संकेत कर दिया गया है तथा जिन विषयों का विवरण टीका और विमर्श में विस्तृत रूप से हो चुका है उन्हें पुनः परिशिष्ट में यथासम्भव नहीं आने दिया गया है। इस प्रकार ग्रन्थ को निर्दोष एवं सम्पूर्ण करने की यथासम्भव चेष्टा की गयी है। शीघ्रता के कारण बहुत सावधानी रखने पर भी मुद्रणसम्बन्धी तथा अन्य कुछ त्रुटियों का रह जाना असम्भव नहीं है। विद्वज्जन एवं सहृदय पाठकगण उदारतापूर्वक गुण और दोष की समीक्षा कर जिन सुधारों का निर्देश करेंगे उनका अगले संस्करण में पूर्ण ध्यान रखा जायगा।

पूर्वार्ध में उल्लिखित गुरुजनों, विद्वानों एवं मित्रों के अतिरिक्त उत्तरार्ध को पूर्ण करने में मेरे प्रिय शिष्य श्री बनारसी दास गुप्त ए० एम० एस० ने पर्य्याप्त श्रम के साथ सहयोग दिया है। एतदर्थ इन्हें सस्नेह आशीर्वाद देते हुए इनके मंगलमय उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ। मेरे परम मित्र श्री अत्रिदेव जी गुप्त, आयुर्वेदालङ्कार भी बड़े प्रेम से निरन्तर प्रोत्साहित करते रहे हैं अतः उनका भी अत्यन्त आभारी हूँ। विद्वद्वर श्री विश्वनाथ जी द्विवेदी प्रभृति उन सहृदय विद्वज्जनों का आभार न मानना भी कृतघ्नता होगी जिन्होंने पूर्वार्ध को देखकर उत्तरार्ध में एवं सम्पूर्ण ग्रन्थ की द्वितीयावृत्ति में सुधार करने के लिए अनेक बहुमूल्य सुझाव देने का अनुग्रह कर हमें प्रोत्साहित किया है। आशा है हमें इनका यह अनुग्रह एवं सहयोग भविष्य में भी प्राप्त होता रहेगा।

भगवान् भूतभावन से प्रार्थना है कि वह हमें शक्ति दें कि हम आयुर्वेद की अधिकाधिक सेवा करते हुए मानव समाज की सेवा कर उनको रोगसमूह से मुक्त करने एवं उनके हितायुष्ट्व एवं सुखायुष्ट्व की सिद्धि में कुछ भी सहायक हो सकें।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ॥

धन्वन्तरि जयन्ती २०११ वि०
काशी हिन्दूविश्वविद्यालय

विदुषामनुचरः—
वैद्य यदुनन्दन उपाध्याय

उत्तरार्द्धगत-विषयानुक्रमणिका

५७ कर्णरोगनिदानम्

५८ नासारोगनिदानम्

परिशिष्टविषयानुक्रमणिका

॥ श्रीः ॥

माधवनिदानम्

'मधुकोश' 'विद्योतिनी' टीकाद्वयोपेतम्

(उत्तरार्द्धम्)

प्रमेह-प्रमेहपिडकानिदानम्

प्रमेहस्य साधारणहेतुं व्याचष्टे—

आस्यासुखं स्वप्नसुखं दधीनि ग्राम्यौदकानूपरसाः पयांसि।
नवान्नपानं गुडवैकृतं च प्रमेहहेतुः कफकृच्च सर्वम् ॥१॥ (च. चि. ७)

गुदगुदे विस्तरे पर निश्चेष्ट आराम से पड़े रहना, सुखपूर्वक अधिक सोना, दही का सेवन, ग्राम्य (बकरा आदि), जलजन्तु (मछली आदि) तथा आनूप (भैंसा आदि) प्राणियों के मांसरस का सेवन, दुग्धसेवन, नवीन अन्न तथा नवीन वर्षाजल, गुड (या शर्करा) के बने पदार्थ तथा अन्य सम्पूर्ण कफवर्धक पदार्थों का सेवन करना प्रमेह का उत्पादक हेतु है ॥ १ ॥

चन्द्रोदयप्रणयपीवरदुग्धसिन्धुपूरभ्रमं वहति यद्गुणकीर्तिगुच्छः ॥
तेन व्यधायि गुरुणा विजयेन शिष्यप्रेरणाऽश्मरीरुगवधेर्मधुकोषबन्धः ॥ १ ॥
श्रीकण्ठदत्तभिषजा गुरुभक्तिलेशादारभ्यते प्रभृति संप्रति मेहरोगात् ॥
सूक्तीर्विचिन्त्य मधुशीकरमुद्गिरन्तीष्टीकाकृतः कतिपयस्य तदीयशेषः ॥ २ ॥

अश्मरीरोगानन्तरं बस्तिविकृतिसाम्यात्प्रमेहनिदानमुच्यते—आस्यासुखमित्यादि। आस्या उपविष्टस्य चेष्टोपरमः, तेन कृतं सुखमास्यासुखम्, एवं स्वप्नसुखमिति द्रष्टव्यम्। तेनासनादिदोषादास्यादुःखं स्वप्नदुःखं वा न प्रमेहहेतुः। गुडवैकृतमिति गुडविकाराः शर्करादयस्तथा गुडकृताश्च भक्ष्याः। प्रमेहहेतुः कफकृच्च सर्वमित्यनुक्तहेतुसंग्रहार्थमुक्तम्। एष साधारणो हेतुः प्रमेहस्य; विशेषहेतुस्तु चरके निदानस्थाने,–'हायनकोद्दालक'—इत्यादिना कफजस्य, 'उष्णाम्ललवण'—इत्यादिना पित्तजस्य, 'कटुतिक्तकषाय' (च. नि. अ. ४) इत्यादिना वातजस्याभिहितः। एतेन सामान्यहेतुसहितो विशिष्टहेतुः कफजादिप्रमेहस्य। किंच कफजनिदानमप्येतदास्यासुखादि बोद्धव्यम् ॥ १ ॥

विमर्श—'प्रकर्षेण प्रभूतं = प्रचुरं वारम्वारं वा मेहति मूत्रत्यागं करोति यस्मिन् रोगे स प्रमेहः' अत्यधिक या वार-वार और प्रायः गँदले मूत्र का त्याग ही प्रमेह कहलाता है। सभी प्रमेहों में मूत्रवहसंस्थान की विकृति होना अनिवार्य है। विकृति की विभिन्नता के अनुसार प्रमेहों के लक्षणों में भी भेद पाये जाते हैं।

यह रोग प्रायः समाज के उस विभाग में पाया जाता है जो शारीरिक श्रम से विमुख सम्पन्नता का जीवन व्यतीत करते हैं। अपने कार्य के निरीक्षण के लिए अथवा वैसे भी इन व्यक्तियों को प्रायः घंटों तक गद्दों पर ही बैठना पड़ता है। वैसे भी जीवन के दैनिक क्रम में भी यह लोग आरामदेह सामग्रियों का ही उपयोग करते हैं। जिह्वा-लौल्य के ही कारण अत्यधिक पौष्टिक एवं कफ और मेदोवर्धक पदार्थों का सेवन व अत्यधिक सुखास्यामय जीवन (Sedantary life) प्रमेह का मुख्य उत्पादक हेतु है"।

दधीनि—इसका प्रयोग बहुवचन में किया गया है अतः दधि के साथ दधि के विकारों का भी समावेश हो जाता है। वाग्भट ने इसी उपलक्षण के लिये गोरस शब्द का उपयोग किया है।

कफकृच्च सर्वम्—यहाँ पर 'च' शब्द से अनुक्त सभी हेतुओं का संग्रह कर दिया गया है। यह प्रमेह के साधारण हेतु हैं और दोषानुसार विशिष्ट हेतु तो चरक निदान स्थान में ऐसे कहे गये हैं:-

श्लेष्मज प्रमेह के कारण—**हायनकयवकचीनकोद्दालकनैषधेत्कटमुकुन्दकमहाव्रीहिप्रमोदकसुगन्धकानां नवानामतिवेलमतिप्रमाणेनोपयोगस्तथा सर्पिष्मतां नवहरेणुमाषसूपानां ग्राम्यानूपौदकानां च मांसानां शाकतिलपललपिष्टान्नपायसकृशरविलेपीक्षुविकाराणां क्षीरमन्दकदधिद्रवमधुरतरुणप्रायाणामुपयोगो, मृजाव्यायामवर्जनं स्वप्नशय्यासनप्रसंगो यश्च कश्चिद् विधिरन्योऽपि श्लेष्ममेदोमूत्रप्रजननः स सर्वो निदानविशेषः** (च० नि० ४)।

पित्तज प्रमेह के कारण—**'उष्णाम्ललवणक्षारकटुकाजीर्ण'** इत्यादि। (च० नि० ४)

वातज प्रमेह के कारण—**'रूक्षकटुकषायतिक्तलघुशीत इत्यादि**। (च० नि० ४)

और भी, 'कफकृच्च सर्वम्' का एक भाव यह भी है, कि यह सब हेतु प्रमेहकारक होने के साथ श्लेष्मवर्धक भी है। यदि दुग्धविकारों का सेवन किया जाये और उनका उचित पाचन होता रहे तो अपेक्षाकृत कफ की अधिकता रहेगी ही और यही श्लेष्मा जब दोष रूप में हो जाता है तो बस्तिगत क्लेदांश को दूषित कर प्रमेह की उत्पत्ति करता है। इसलिए 'च' शब्द का उपयोग किया गया। अर्थात् प्रमेहकारक पदार्थ कफवर्धक है और कफवर्धक पदार्थ प्रमेहकारक भी है। इनका परस्पर अन्योन्याश्रय संबन्ध है। श्लेष्मानाशक पदार्थों के सेवन से प्रमेह नष्ट होता है एवं प्रमेहनाशक पदार्थों के सेवन से श्लेष्मा नष्ट होता है।

शास्त्रों में प्रायः कफज की चिकित्सा का ही वर्णन है। इसलिए 'च' शब्द से श्लैष्मिक प्रमेह के ही ये सब कारण होते हैं, ऐसा भी कुछ का मत है किन्तु अन्य वातल और पित्तल कारणों से वातज एवं पित्तज प्रमेहों का भी वर्णन आया है यद्यपि वे बाद में होते हैं प्रथम तो प्रायः सभी श्लेष्मज ही होते हैं।

सुश्रुतोक्त कारणों का निरूपण करने पर भी यह स्पष्ट हो जाता है कि कफ या कफवर्धक पदार्थ ही प्रमेह की उत्पत्ति में प्रधान कारण हैं—**'दिवास्वप्नाव्यायामालस्यप्रसक्तं शीतस्निग्धमधुरमेद्यद्रवान्नपानसेविनं पुरुषं जानीयात् प्रमेही भविष्यतीति'** (सु० नि० ६) इसके साथ वातल तथा पित्तल पदार्थों का सेवन करते रहने से प्रमेह वातिक तथा पैत्तिक स्वरूप को भी धारण कर लेता है। इसी लिये चरक ने **'त्रिदोषप्रकोपनिमित्ता विंशतिः प्रमेहा भवन्ति'** तीनों दोषों के कारण प्रमेह के बीस भेद होते हैं' ऐसा कहा है।

---

१. **'आस्यासुखं'** को अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य वाग्भट ने—**एकस्थानासनरतिः** (वा० नि० १०) कहा है। यह वाक्य अधिक युक्तियुक्त एवं भावबोधक है अर्थात् जो व्यक्ति एक ही स्थान पर बैठे अपने कार्य को सम्पादित करते हैं।

स्वप्नसुखं—सुख एवं सन्तोषदायक निद्रा कभी भी रोग का कारण नहीं होती है फिर भी जब वह विधिवर्जित (**शयनं विधिवर्जितम्** वा० नि० १०) होती है अर्थात् धातु, देश, काल एवं आयु की मर्यादा का अतिरेक करके होती है तो अवश्य कष्टदायक होती है।

श्लैष्मिकादिभेदानां सम्प्राप्तिं वर्णयति—

मेदश्च मांसं च शरीरजं च क्लेदं कफो बस्तिगतः प्रदूष्य।
करोति मेहान् समुदीर्णमुष्णैस्तानेव पित्तं परिदूष्य चापि॥ २॥
क्षीणेषु दोषेष्ववकृष्य धातून् संदूष्य मेहान् कुरुतेऽनिलश्च।

कफजमेह—बस्तिप्रदेश में स्थित कफ शरीरस्थ मेद, मांस तथा जलीयांश को दूषित करके कफज मेहों को उत्पन्न करता है।

पैत्तिकमेह—उष्णपदार्थों के सेवन से बढ़ा हुआ बस्तिप्रदेश में स्थित पित्त भी पूर्ववत् मेद, मांस और शरीर के जलीयांश को दूषित करके पैत्तिक मेहों को उत्पन्न करता है।

वातिकमेह—कफ और पित्त के क्षीण होनेपर वायु धातुओं (वसा, मज्जा, ओज तथा लसिका) को दूषित कर और बस्ति में लाकर वातिक मेहों को उत्पन्न करता है॥ २॥

दोषोल्बणताभेदेन प्रमेहाणां साध्यासाध्यता—

साध्याः कफोत्था दश, पित्तजाः षड् याप्या, न साध्यः पवनाच्चतुष्कः॥
समक्रियत्वाद्विषमक्रियत्वान्महात्ययत्वाच्च यथाक्रमं ते॥ (च. चि. ६)

कफजन्य दस प्रमेह दोष और दूष्यों की समान चिकित्सा होने के कारण साध्य होते हैं। पित्तजन्य छः प्रमेह दोष और दूष्यों की चिकित्सा में विषमता होने के कारण याप्य होते हैं। अत्यधिक शीघ्रता से एवं घातकरूप से धातुओं के विनाशक होने के कारण तथा दोष एवं दूष्यों की चिकित्सा में विषमता होने से चार प्रकार के वातिक मेह असाध्य होते हैं॥ ३॥

कफपित्तवातजमेहानां क्रमेण संप्राप्तिमाह—मेद इत्यादिना। अत्र कफजा एव मेहा भूयस्त्वेन साध्यत्वेन चादावुच्यन्ते। तानेवेति। मेदोमांसशरीरजक्लेदान्। उष्णैरिति। उष्णवीर्यस्पर्शैर्द्रव्यैः। क्षीणेषु दोषेष्विति। प्रवृद्धत्वेनैव क्षीणेषु, न तु समानापेक्षया क्षीणेषु, अनेन वृद्धे कफे पित्ते वा यो वायुर्लङ्घनादिना क्रमेण वृद्धो भवति, स नेहासाध्यमेहचतुष्टयप्रकरणे विवक्षित इति सूच्यते। तत्र हि चिकित्साविधानात् साध्यत्वमस्ति। यदुक्तं,—'या वातमेहान् प्रति पूर्वमुक्ता वातोल्बणानां विहिता क्रिया सा। वायुर्हि धातुष्वतिकर्षितेषु[१] कुप्यत्यसाध्यान् प्रति नास्ति चिन्ता' (च. चि. अ. ६) इति। दोषेष्विति। कफपित्तेषु, द्वयोश्च बहुवचनं व्यक्त्यपेक्षया बहुत्वात्। अवकृष्येति बस्तिमुखं नीत्वा। धातूनिति। वसामज्जौजोलसीकाख्यान्। समक्रियत्वादिति। कफस्य दोषस्य दूष्यस्य च मेदःप्रभृतेः समानत्वात् कटुतिक्तादिक्रियायाः। अत्र व्याधिमहिम्ना तुल्यदूष्यता साध्यताया हेतुः। तेन 'न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत्' (च. सू. अ. ११) इति चरकवचनं कष्टसाध्यतार्थं नोद्भावनीयम्। यदुक्तं,—'ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता। रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्'-इति। विषमक्रियत्वादिति। पित्तस्य प्रमेहप्रधानदूष्यस्य च मेदःप्रभृतेश्चान्योन्यविपरीतक्रियत्वात्; पित्तहरं हि मधुरादि मेदस्करं, मेदोहरं च कटुकादि पित्तकरमिति क्रियावैषम्यम्; अत्र व्याधिस्वभावो हेतुः, तेनान्येषु व्याधिषु परस्परविरुद्धदोषदूष्यसंसर्गेऽप्युभयप्रत्यनीकभेषजविधिरविरोधीति। महात्ययत्वादिति, मज्जादिगम्भीरधात्वपकर्षकत्वेन बहुव्यापत्तिकरत्वात्; आशुकारित्वादितीशानः। चकाराद्विषमक्रियत्वं च वातजानां समुच्चीयते॥ २-३॥

विमर्श—शरीरज क्लेद से लसीका के अतिरिक्त रक्त, शुक्र, जल तथा रस चारों का भी

---

१. 'मेहेष्वतिकर्षितानाम्' इति पाठान्तरम्।

ग्रहण हो जाता है। इनमें से कुछ कफजमेह में और कुछ पैत्तिकमेह में विशेष रूप से दूषित होते हैं। मेद और मांस प्रायः प्रत्येक में समान रूप से दूषित होते हैं।

बस्तिगत—साधारणतया बस्ति शब्द से मूत्राशय का ही ग्रहण होता हैं, किन्तु प्रकृत में इससे सम्पूर्ण मूत्रवहसंस्थान का ग्रहण कर लेना चाहिये; क्योंकि उसके ही विभिन्न अङ्गों की विकृति के परिणामस्वरूप विभिन्न प्रमेहों की उत्पत्ति होती है। उक्त आशय को सुश्रुत ने भी स्पष्ट किया है—**'तस्य चैवं प्रवृत्तस्यापरिपक्वा एव वातपित्तश्लेष्माणो यदा मेदसा सहैकत्वमुपेत्य मूत्रवाहिस्रोतांस्यनुसृत्याधोगत्वा बस्तेर्मुखमाश्रित्य निर्भिद्यन्ते तदा प्रमेहान् जनयन्ति।'** (सु० नि० ६)। अपरिपक्व वात, पित्त और कफ मेद के साथ मिलकर मूत्रवाही स्रोत (वृक्क, गवीनी) तथा मूत्राशय में आकर प्रमेह को उत्पन्न करते हैं। दोषों के साथ साथ उपर्युक्त अङ्गों की विकृति का परिणाम भी प्रमेहों में अभिव्यक्त होता है। जिससे उसके अवान्तर भेद किये जाते हैं।

साध्यासाध्यता का निरूपण करते हुए चरक ने कहा है कि रोगारम्भक दोष के समान-गुण दूष्य एवं समान दोषज-प्रकृति का अभाव ही साध्यता की कसौटी है **'न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत्।'** इस प्रकार यद्यपि मेद, शुक्र और जल जैसे समान गुण धर्मवाले दूष्यों से युक्त कफज मेह को साध्य कोटि में नहीं रखा जा सकता, तथापि प्रमेह इसका अपवाद है और व्याधिप्रभाव से उसकी तुल्यदूष्यता भी साध्यता को ही प्रकट करती है; क्योंकि प्रमेह रोग का मुख्य उत्पादक हेतु कफ एवं कफजातीय पदार्थों का सेवन है और दूषित होनेवाली धातुयें भी कफश्रेणी की है। अतः दोष और दूष्य दोनों की चिकित्सा के लिये कटु-तिक्त-कषाय रसों से युक्त द्रव्यों का उपयोग किया जाता है और समान गुण होने से दोनों की शान्ति भी होती है जिससे प्रमेह की चिकित्सा करना सरल हो जाता है। इसीलिये कहा भी है—

'ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता। रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम् ॥'

पैत्तिक मेह में दोष और दूष्यों की चिकित्सा में विषमता रहती है अतः वह याप्य होता है। दोष पित्त है और दूष्य कफ श्रेणी के हैं, अतः यदि पित्त के विरुद्ध शीत तथा मधुर पदार्थों का उपयोग किया जाता है तो प्रमेह के मुख्य उपादान कफ की वृद्धि होने से प्रमेह की वृद्धि की सम्भावना रहती है। इसके विपरीत यदि कफनाशक उपायों का सहारा लिया जाय तो प्रमेह के उत्पादक हेतु पित्त की वृद्धि होने से प्रमेह यथास्थित रहता है। इस प्रकार विषमक्रिया होने से यह याप्य है क्योंकि कुछ (थोड़े से ही) द्रव्य ऐसे हैं जो पित्तशमन करने के साथ साथ मेद आदि दूष्यों का भी शमन करते हैं। यथा कषायरस पित्त का भी शमन करता है और दूष्यों का भी। इसी लिए पैत्तिक प्रमेहों को याप्य कहा गया है।

वातिक मेह में धातुओं का जितनी तीव्रता से विनाश होता है उसकी पूर्ति के लिये उतनी प्रभावकारी औषधों का प्रायः अभाव होता है। यदि औषधियाँ हैं भी तो बहुत कम; जो सर्वसाधारण को और सर्वत्र उपलब्ध नहीं हो सकतीं। तथा तीव्रता से धातुक्षय के कारण अनेक घातक उपद्रव भी उत्पन्न होते हैं एवं वातशामक चिकित्सा प्रायः मेद आदि का वर्धक एवं मेदोघ्न आदि द्रव्य प्रायः वातवर्धक होने से चिकित्सा में भी विषमता होती है। अतः उसे असाध्य श्रेणी में रखा गया है। वातज प्रमेहों की जो चिकित्सा शास्त्रों में वर्णित है वह वातोल्वण प्रमेहों की है अर्थात् कफज या पैत्तिक प्रमेहों की चिकित्सा में लंघनादि के कारण कभी-कभी वातदोष बढ़ गया और उससे कुछ वातिक प्रमेहों की उत्पत्ति हो गयी हो तो उसको शांत करने के लिये है। और जहाँ वायु स्वयं दूषित होकर धातुओं को आकृष्ट कर बस्तिस्थान में अवस्थित हो जाती है, यह स्थिति सर्वथा असाध्य है और इसमें प्रत्याख्यान करके ही चिकित्सा करनी चाहिये। कहा भी है—

या वातमेहान् प्रति पूर्वमुक्ता वातोल्वणानां विहिता क्रिया सा।
वायुर्हि धातुष्वतिकर्षितेषु कुप्यत्यसाध्यान् प्रति नास्ति चिन्ता॥ (चरक)

प्रमेहाणां दोषदूष्यसंग्रहमाह—

कफः सपित्तः पवनश्च दोषा, मेदोऽस्रशुक्राम्बुवसालसीकाः।
मज्जारसौजः पिशितं च दूष्याः, प्रमेहिणां विंशतिरेव मेहाः॥ ४॥
(वा. नि. १०)

प्रमेह की उत्पत्ति में वात, पित्त और कफ ये तीनों दोष कारण हैं। मेद, रक्त, शुक्र, जल, वसा, लसीका, मज्जा, रस, ओज तथा मांस ये दस दूष्य हैं। इनसे (इन दोष-दूष्यों के संयोग विशेष से) बीस प्रकार के प्रमेह उत्पन्न होते हैं॥ ४॥

सर्वमेहानां दोषदूष्यसंग्रहमाह-कफ इत्यादिना। वसा मांसस्नेहः, सर्वदेहस्नेह इत्यन्ये। लसीकोदकविशेषः। यथाह चरकः,-**'यत्तु मांसत्वगन्तरे उदकं तल्लसीकाशब्दं लभते'** (च. शा. अ. ७) **इति। रसौज इति। रसश्च ओजश्च इति द्वन्द्वः। ओजश्चात्रार्धाञ्जलिपरिमितं श्लेष्मरूपम्, यदुक्तं,-'श्लेष्मलस्यौजसोऽर्धाञ्जलिः परिमाणम्'** (च. शा. अ. ७) **इति नत्वष्टबिन्द्वात्मकं, तस्य भ्रंशेन मरणाभिधानात्। ननु, रस एवौजो रसौज इति कुतो न कल्प्यते? रसोऽप्योजःशब्देनोच्यते; यदुक्तं,-'तस्मिन् काले पचत्यग्निर्यदन्नं कोष्ठमागतम्। मलीभवति तत् प्रायः कल्प्यते किंचिदोजसे'** (च. चि. अ. ८) **इति; ओजसे इति रसायेत्यर्थः। नैवम्, ओजसो हि मधुमेहे दूष्यत्वेनोक्तत्वात्, ओजःशब्दोपादानवैफल्याच्च। यद्यप्यत्र बहूनि मेदःप्रभृतीनि दूष्यत्वेनोच्यन्ते, तथाऽपि पूर्वं मेदोमांसशरीरजक्लेदानां सर्वमेहेष्ववश्यम्भाविदूष्यत्वेन पृथगभिधानम्। मज्जादयस्तु मेहविशेषे दूष्याः। तद्यथा-लसीकावसामज्जौजांसि वातिके, न पैत्तिके, न श्लैष्मिके।** ईशानः **पुनराह,-रसरक्तशुक्राणि सर्वमेहेषु कदाचिद्दूष्यन्ते न त्ववश्यमिति। किंच सर्वमेहानामेव दोषत्रयजन्यत्वं सकलदूष्याश्रयित्वं च 'कफः सपित्त'-इत्यादिनोपदर्श्यते। मेदोमांसादीनि त्वत्यन्तदूष्योपदर्शनार्थं पृथगुक्तानि। यतश्चरकेऽपि कियन्तः शिरसीयाध्याये सकलमेहवाचकमधुमेहकथने दोषत्रयप्रकोपोऽभिहितः। तथाहि,-'स मारुतस्य पित्तस्य कफस्य च मुहुर्मुहुः। दर्शयत्याकृतिं गत्वा क्षयमाप्याय्यते पुनः'** (च. सू. अ. १७) **इति। तथा** सुश्रुतोऽप्याह,-**'वातपित्तमेदोभिरन्वितः श्लेष्मा मेहान् जनयति'** (सु. नि. अ. ६) **इत्यादि। कफादीनां द्व्युल्बणादिसंसर्गस्यानन्त्येन सर्वमेहावस्थाविशेषेण मधुमेहेन च संख्याधिक्यप्रसङ्गनिरासायावधारणार्थमाह-'विंशतिरेव मेहा' इति॥ ४॥**

विमर्श—प्रमेह की उत्पत्ति में तीनों दोषों का संसर्ग रहते हुए भी जलबहुल कफदोष की विशेषता रहती है। **'बहुद्रवः श्लेष्मा दोषविशेषः'** (च. नि.) प्रमेह के सामान्य निदान में भी कफ को ही प्रधानता दी गई है। दूष्यों का संग्रह करते हुए चरक ने मेद आदि दूष्यों के पूर्व 'बहु और अबद्ध' इन दो विशेषणपदों का व्यवहार किया है। **'बह्वबद्धं मेदो मांसं च शरीरजक्लेदः शुक्रं शोणितं वसा मज्जा लसीका रसश्चौजश्च इति दूष्यविशेषाः संख्याताः'** (च. नि. ४) वस्तुतः उक्त दो विशेषणों का उपादान करना अनिवार्य है, क्योंकि प्राकृत परिमाण एवं बद्धावस्था में ये दूष्य मूत्रमार्ग द्वारा उत्सृष्ट नहीं हो सकते। इन विशेषणों का दूष्यों के साथ सम्बन्ध यथायोग्य समझना चाहिये। मेद, मांस, वसा और मज्जा के साथ दोनों विशेषण लग सकते हैं। किन्तु शेष सब स्वतः अबद्ध या द्रव रूप हैं अतः उनके साथ केवल बहु विशेषण लगाना ही उचित है।

वसा से कतिपय विद्वान् मांसगत स्नेह या त्वगन्तरीय वसास्तर का ग्रहण करते हैं। **'शुद्ध मांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिता'**। इसी लिये विजयरक्षित जीने भी **'वसा मांस स्नेहः'** ऐसा लिखा है। वस्तुतः सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त स्नेह विशेष को ही वसा कहना चाहिये।

लसीका—मांस और त्वचा के मध्य में रहने वाला जलीय पदार्थ ही लसीका है। इसे लिम्फ (Lymph) भी कहते हैं। चरक ने कहा भी है—**यत्तु मांसत्वगन्तरे उदकं तल्लसीकाशब्दं लभते'**। इसके अतिरिक्त शरीर के अन्य भागों में भी लसीका रहती है।

रसौजः—रस और ओज पृथक्-पृथक् शब्द हैं-**'रसश्चौजश्चेति रसौजः'**। कतिपय विद्वानों का कथन है कि उक्त समास से 'रसौजसी' यह द्विवचन का रूप ही बन सकता है एकवचन का नहीं। अतः वे **'रस एवौजः रसौजः'** इस प्रकार का विग्रह करके रस को ही ओज मानते हैं, क्योंकि चरक ने राजयक्ष्म चिकित्सिताध्याय में स्पष्ट रूपसे रस के लिये ओजशब्द का प्रयोग किया है—**'तस्मिन् काले पचत्यग्निर्यदन्नं कोष्ठमागतम्। मलीभवति तत्प्रायः कल्प्यते किंचिदोजसे'**। ओजशब्द यहाँ रस का वाचक है। वस्तुतः रस और ओजशब्द का अभिप्राय पूर्णतया भिन्न है; क्योंकि मधुमेह में ओज को ही दूष्य माना गया है—**'ओजः पुनर्मधुरस्व भावम्, तद् यदा रौक्ष्याद्वायुः कषायत्वेनाभिसंसृज्य मूत्राशयेऽभिवहति तदा मधुमेहं करोति'**(चरकनि० ४)। इसके अतिरिक्त रस ही ओज होता तो रस के साथ ओज शब्द का उपादान भी व्यर्थ ही था। चरकोक्त दूष्य-संग्रह में ओज का रस से पृथक् उल्लेख मिलने से भी यह स्पष्ट है कि यहाँ ओज का स्वतन्त्र उल्लेख इष्ट है।

ओज कफजातीय है। यह दो प्रकार का होता है—(१) अर्धाञ्जलिपरिमाण (२) अष्ट-बिन्दुपरिमाण। अर्धाञ्जलिपरिमाण सर्वशरीर में व्याप्त रहता है, किन्तु अष्टबिन्दुपरिमाण ओज को पर या उत्कृष्ट ओज भी कहते हैं और इसका अधिष्ठान केवल हृदय ही है-**'तत्परस्यौजसः स्थानम्'** यह ओज प्राणों का आश्रय है। इसके किञ्चिन्मात्र क्षय से भी प्राणनाश का भय रहता है। **'हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत्सपीतकम्। ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशान्ना विनश्यति,** (च० सू० १८) तथा **'प्राणाश्रयस्यौजसोऽष्टौ बिन्दवो हृदयाश्रिताः'**। अत एव प्रकृत में अर्धाञ्जलि-परिमाण ओज का ही ग्रहण किया जाता है। यद्यपि प्रमेह में मेद आदि अनेक दूष्य होते हैं किन्तु मेद, मांस और शरीरज क्लेद विशेषरूप से और सभी प्रमेहों में दूषित होते हैं अतः सम्प्राप्ति वर्णन में उनका विशेषरूपसे उल्लेख किया गया है। शेष मज्जा आदि दूष्य तो विशिष्ट मेहों में ही दूषित होते हैं यथा—लसीका, वसा, मज्जा और ओज केवल वातप्रमेह में दूषित होते हैं पैत्तिक और कफज में नहीं ऐसा मधुकोषकार का मत है। ईशान का मत है कि रस, रक्त और शुक्र सभी मेहों में कभी दूषित होते हैं और कभी नहीं। वस्तुतः सभी प्रमेह दोषत्रयजन्य होते हैं और सभी दूष्य भी दूषित हो सकते हैं किन्तु मेद, मांस आदि सभी में अधिक दूषित होते हैं और विशिष्ट मेहों में विशिष्ट दूष्य ही अधिक दूषित होते हैं। यही मत चरक एवं सुश्रुत का भी है जिसका उल्लेख मधुकोष में किया गया है।

विंशतिरेवेति—कफादि दोषों के तारतम्य से द्वयुल्वण आदि भेद और सभी प्रमेह के अवस्था विशेष में होनेवाले मधुमेह के कारण संख्याधिक्य की आशंका से अवधारणार्थक एव शब्द का प्रयोग कर केवल बीस प्रकार के प्रमेह होते हैं इसका प्रतिपादन किया है ऐसा मधुकोषकार का मत है। किन्तु छन्दपूर्ति के लिए ही एव शब्द का प्रयोग किया गया प्रतीत होता है। क्योंकि चरकोक्त आलाल मेह, शीतमेह तथा कालमेह का पाठ सुश्रुत में नहीं मिलता। इसी प्रकार लवण, फेन और अम्ल मेहों का वर्णन चरक में नहीं मिलता। लक्षणभिन्नता के कारण ये एक दूसरे के पर्याय भी नहीं कहे जा सकते हैं। यदि इन सब को मिलाया जाय तो संख्या बीस से अधिक ही होती है। इसके अतिरिक्त आधुनिक ग्रन्थों में वर्णित पूयमेह, भेषजमेह आदि का उल्लेख प्राचीन

ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। इसलिए **'विंशतिरेव'** का अर्थ बीस ही न करके बीसों या अनेक करना सङ्गत प्रतीत होता है। इसी बात को मधुकोषकार ने भी आगे चल कर स्वीकार किया है और कहा है कि **'सामञ्जस्यं चात्र नास्त्येव परस्परलक्षणसंवादाभावात् स्मृतिद्वैधवत् सर्वं प्रमाणम्।'** कविराज गणनाथसेन जी ने सोलह भेद मानकर उन्हीं के भीतर सभी प्रमेहों का समावेश किया है वह भी ठीक नहीं है क्योंकि उन्होंने अर्वाचीन रीति से दर्शित प्रमेहों का ही विचार किया है और उनकी संख्या में निरन्तर अन्तर आता रहता है।

विभिन्न संहिताओं में वर्णित प्रमेहभेदों का ज्ञान निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जायगा। इसमें जिन जिन के नाम या लक्षण में सामञ्जस्य है उनका उल्लेख एक ही रेखा में किया गया है किन्तु जिनमें परस्पर सामञ्जस्य नहीं मिलता उनके सामने स्थान रिक्त छोड़ दिया गया है:—

कफज प्रमेह

चरक	सुश्रुत	वाग्भट	माधवनिदान
१ उदकमेह	उदकमेह	उदकमेह	उदकमेह
२ इक्षुवालिकारसमेह	इक्षुवालिकामेह	इक्षुमेह	इक्षुमेह
३ सान्द्रमेह	सान्द्रमेह	सान्द्रमेह	सान्द्रमेह
४ सान्द्रप्रसादमेह	सुरामेह	सुरामेह	सुरामेह
५ शुक्लमेह	पिष्टमेह	पिष्टमेह	पिष्टमेह
६ शुक्रमेह	शुक्रमेह	शुक्रमेह	शुक्रमेह
७ शीतमेह	—	शीतमेह	शीतमेह
८ सिकतामेह	सिकतामेह	सिकतामेह	सिकतामेह
९ शनैर्मेह	शनैर्मेह	शनैर्मेह	शनैर्मेह
१० आलालमेह	—	लालामेह	लालामेह
११ —	लवणमेह	—	—
१२ —	फेनमेह	—	—

पित्तज प्रमेह

१ क्षारमेह	क्षारमेह	क्षारमेह	क्षारमेह
२ कालमेह	—	कालमेह	कालमेह
३ नीलमेह	नीलमेह	नीलमेह	नीलमेह
४ लोहितमेह	शोणितमेह	रक्तमेह	रक्तमेह
५ मञ्जिष्ठामेह	मञ्जिष्ठामेह	मञ्जिष्ठामेह	मञ्जिष्ठामेह
६ हारिद्रमेह	हारिद्रमेह	हारिद्रमेह	हारिद्रमेह
७ —	अम्लमेह	—	—

वातज प्रमेह

१ वसामेह	वसामेह	वसामेह	वसामेह
२ मज्जामेह	सर्पिर्मेह	मज्जामेह	मज्जामेह
३ हस्तिमेह	हस्तिमेह	हस्तिमेह	हस्तिमेह
४ मधुमेह	क्षौद्रमेह	मधुमेह	मधुमेह

प्रमेहस्य पूर्वरूपाणि विवेचयति—

दन्तादीनां मलाढ्यत्वं प्राग्रूपं पाणिपादयोः ।
दाहश्चिक्कणता देहे तृट् स्वाद्वास्यं च जायते ॥५॥ (वा. नि. १०)

दाँत, तालु, गल और जिह्वा आदि का मैला होना, हाथ और पैरों में जलन, शरीर में चिकनापन, प्यास तथा मुख का मीठा प्रतीत होना ये प्रमेह के पूर्वरूप हैं ॥ ५ ॥

पूर्वरूपमाह–दन्तादीनामित्यादि । आदिशब्देन नयनतालुकर्णादीनां ग्रहणम् । यदुक्तं सुश्रुते–'तालुगलजिह्वादन्तेषु मलोत्पत्तिः' (सु. नि. अ. ६) इति । अत्र च मलभूयस्त्वं मेदोदोषात् । चिक्कणता देहे मेदःकफदुष्टेः । अत्र चकारात् सुश्रुतोक्तकेशजटिलीभावनखातिवृद्धी बोध्ये । एतच्च व्याधिविशेषनियतमेव, तेनान्यत्र विद्यमानाऽपि कफमेदोदुष्टिनैवं कर्तुं क्षमा॥

विमर्श—उपर्युक्त पूर्वरूप प्रमेह और मधुमेह दोनों में पाये जाते हैं किन्तु मधुमेह में विशेषरूप से पाये जाते हैं । सुश्रुत ने मूत्र की मधुरता का भी निर्देश किया है । इसके साथ साथ श्वास में दुर्गन्धि, केशों का परस्पर चिपक जाना तथा नखों की वृद्धि को भी पूर्वरूप के लक्षणों में बताया है।[१]

प्रमेहस्य सामान्यरूपाणि व्याचष्टे—

सामान्यं लक्षणं तेषां प्रभूताविलमूत्रता ।
दोषदूष्याविशेषेऽपि तत्संयोगविशेषतः ॥ ६ ॥
मूत्रवर्णादिभेदेन भेदो मेहेषु कल्प्यते । (वा. नि. १०)

मूत्र की अधिकता और गँदलापन सभी प्रमेहों का सामान्य लक्षण है । सभी प्रमेहों में दोष और दूष्य के समान रहने पर भी उनके संयोगविशेष के कारण मूत्र के वर्ण, गन्ध, स्पर्श आदि भेद से प्रमेहों के अनेक भेद हो जाते हैं ॥ ६ ॥

सामान्यलक्षणमाह–सामान्यमित्यादि । प्रभूतेत्यादि प्रभूतमूत्रत्वं दूष्यद्रवधातुसम्बन्धात्, आविलत्वं दोषदूष्यसंसर्गात् । ननु, कथं कफेन दश, पित्तेन षडित्यादिव्यवस्था ? यतः कारणभेदात् कार्यभेद इत्याशङ्क्याह,–दोषदूष्याविशेषेऽपि तत्संयोगविशेषत इति । तेषां दोषदूष्याणामुत्कर्षापकर्षकृतात् संयोगभेदाद्भेदो मेहेषु भवति । यथा–पञ्चानां वर्णानां श्वेतकृष्णपीतलोहितश्यावानां संयोगभेदादनेकपिङ्गलपाटलादिभेदाः । सुश्रुतेऽप्युक्तं–'यथा पञ्चानां वर्णानामुत्कर्षकृतेन संयोगविशेषेण कपिलादिनानावर्णोत्पत्तिरेवं दोषादिसंसर्गान्मेहानां नानात्वम्' (सु. नि. अ. ६.) इति । संयोगभेदप्रतीतिः कुत इत्यत आह–मूत्रेत्यादि । मूत्रवर्णादिभेदं दृष्ट्वा कारणानां समानानां भेदः कल्पनीयः, यथा—मृदादिकारणकलापस्याभेदेऽपि कुम्भकारादिसंयोगभेदादुदञ्चनादिप्रपञ्चभेदः । ननूदञ्चनादौ कुम्भकारादिप्रयत्नभेदः, अत्र तु कः संयोगभेदहेतुः ? उच्यते, तत्तदाहारादिकमदृष्टं च भवतीत्यदोषः ॥ ६ ॥

विमर्श—प्रभूतमूत्रता (मूत्र का अधिक मात्रा में अथवा बार बार होना) तथा आविलमूत्रता (मूत्र का मैलापन) ये दो लक्षण प्रमेह के मुख्य लक्षण हैं । किसी प्रमेह में एक और किसी में ये दोनों लक्षण मिलते हैं । यथा उदकमेह या सोमरोग में प्रभूतमूत्रता यह प्रथम लक्षण तो मिलता है किन्तु दूसरा लक्षण नहीं मिलता । निदानभेद तथा दोष और दूष्यों के उत्कर्ष व अपकर्षजनित वैचित्र्य के कारण मूत्र के वर्ण आदि लक्षणों में भी भेद आ जाता है जिससे प्रमेह के अनेक भेद हो जाते हैं । सुश्रुत ने विभिन्न वर्णों के संयोग-विशेष का उदाहरण देते हुए इसका स्पष्टीकरण किया है—

---

१. तेषां तु पूर्वरूपाणि—हस्तपादतलदाहः, स्निग्धपिच्छिलगुरुता गात्राणां मधुरशुक्लमूत्रता, तन्द्रा सादः पिपासा, दुर्गन्धश्च श्वासस्तालुगलजिह्वादन्तेषु मलोत्पत्तिर्जटिलीभावः केशानां, वृद्धिश्च नखानाम् ॥' (सु० नि० ६)

यथा हि वर्णानां पञ्चानामुत्कर्षापकर्षकृतेन संयोगविशेषेण शबलबभ्रुकपिलकपोतमेचकादीनां वर्णानामनेकेषामुत्पत्तिर्भवति, एवमेव दोषधातुमलाहारविशेषेणोत्कर्षापकर्षकृतेन संयोगविशेषेण प्रमेहाणां नानाकरणं भवति ।' (सु. नि. ६ ।)

जैसे पाँच रङ्गों के घटने-बढ़ने एवं उनके संयोग विशेष से शबल–बभ्रु–कपिल–पिंगल कपोताभ-मेचक आदि रङ्गों की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार दोष, धातु, मल एवं आहार विशेष के उत्कर्ष, अपकर्ष या संयोगविशेष से नाना प्रकार के प्रमेहों की उत्पति होती है ।

अब प्रश्न यह है कि उस संयोग-भेद की प्रतीति किस प्रकार होती है । उसके लिये आचार्य कहते हैं यथा बर्तनों के निर्माण में कारण मिट्टी समान होने पर भी कुम्भकारकृत संयोग उदञ्चनादि प्रपञ्च (वर्तन बनाने की क्रिया आदि में) भेद होता है उसी प्रकार दोष-दूष्य समान होने पर भी उनके संयोगविशेष के कारण होने वाले मूत्र के वर्ण आदि में भेद को देखकर दोष-विशेष की कल्पना एवं नामभेद करना चाहिये तथा यह संयोगभेद आहार-विहार-वैचित्र्य एवं दैवकृत होता है ।

शुद्ध मूत्र के लक्षण एवं संघटक—२४ घण्टे में शुद्ध मूत्र की कितनी मात्रा आनी चाहिये यह प्रत्येक व्यक्ति के आहार पर निर्भर करता है । मांसाहारियों में कम एवं शाकाहारियों में मूत्र-प्रवृत्ति अधिक होती है । फिर भी चौबीस घण्टे में यह मात्रा औसतन १५००–१७०० ग्राम होनी चाहिये । यदि मात्रा १५०० सी० सी० हो तो निम्न द्रव्य निम्न अनुपात में मिलने चाहिए

पूर्ण मात्रा	१५०० ग्राम	सल्फ्यूरिक एसिड	२·५ ग्राम
द्रव भाग	१४४० ”	अमोनिया	२·९ ”
घन भाग	६० ”	क्रीटीनीन	·९ ”
यूरिया	३५ ”	क्लोरीन	११·० ”
यूरिक एसिड	०·७५ ”	पोटासियम	२·५ ”
हिप्यूरिक एसिड	०·७ ”	सोडियम	५·५ ”
सोडियम क्लोराइड	१६·५ ”	कैल्शियम्	·२६ ”
फास्फोरिक एसिड	३·५ ”	मैगनीसियम	·२१ ”

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि मूत्र के मुख्य संघटक जल, यूरिया और सोडियम क्लोराइड हैं । साथ ही अम्ल और क्षारों को मिलाकर अनेक अन्य लवण भी तैयार होते हैं यथा क्लोराइड, सल्फेट आदि, जिनका ऊपर उल्लेख नहीं किया गया है । उपर्युक्त विवरण में एक और भी महत्त्वपूर्ण बात है कि हिप्प्यूरिक एसिड और अमोनिया को छोड़कर, जिनका निर्माण वृक्क में होता है, शेष का निर्माण रक्त में ही होता है । वृक्क केवल एक छानने के यन्त्र Filter का कार्य करता है । It is important to note that the constituents of urine, with the exception of hipuric acid and ammonia, are not formed by the kidney, but that the kidney merely excretes them from the blood.

Halliburton's Physiology

सर्वतः संचारी रक्त आहार रस का ही परिणाम है । जैसा हमारा आहार होगा वैसा ही रक्त बनेगा इसे आयुर्वेदज्ञ और एलोपैथ भी मानते हैं । अतः मिथ्याहार-विहार के कारण जब आहार रस का सम्यक् परिपाक नहीं हो पाता तो वह रक्त को दूषित कर देता है । और यही दूषित रक्त बस्ति (आयुर्वेद में बस्ति के नाम से वृक्क, गवीनी और मूत्राशय सभी का एक साथ ग्रहण होता है) को दूषित कर देता है । इसी से मूत्रजन्य अनेक विकार होते हैं । उदाहरण के लिए साधारण मूत्र में शर्करा या वसा की समवर्त शृङ्खला में उत्पन्न होनेवाले अम्ल द्रव्य नहीं होते पर जब आहार-दोष से अग्न्याशय दूषित हो जाता है तो शर्करा और वसा का पाचन सम्यक् रीत्या नहीं

हो पाता। परिणामतः शर्करा और एसीटोन, एसीटिक एसिड, बीटा हाइड्रोआक्सीब्यूट्रिक एसिड आदि अम्ल मूत्र में आने लगते हैं।

श्लैष्मिकमेहानां स्वरूपं वर्णयति—

अच्छं बहु सितं शीतं निर्गन्धमुदकोपमम् ॥ ७ ॥
मेहत्युदकमेहेन किंचिदाविलपिच्छिलम् ।
इक्षो रसमिवात्यर्थं मधुरं चेक्षुमेहतः ॥ ८ ॥
सान्द्रीभवेत् पर्युषितं सान्द्रमेहेन मेहति ।
सुरामेही सुरातुल्यमुपर्यच्छमधो घनम् ॥ ९ ॥
संहृष्टरोमा पिष्टेन पिष्टवद्बहुलं सितम् ।
शुक्राभं शुक्रमिश्रं वा शुक्रमेही प्रमेहति ॥ १० ॥
मूर्ताणून् सिकतामेही सिकतारूपिणो मलान् ।
शीतमेही सुबहुशो मधुरं भृशशीतलम् ॥ ११ ॥
शनैः शनैः शनैर्मेही मन्दं मन्दं प्रमेहति ।
लालातन्तुयुतं मूत्रं लालामेहेन पिच्छिलम् ॥ १२ ॥
(वा. नि. १०)

उदकमेह—उदकमेह में स्वच्छ, मात्रा में अधिक, सफेद (वर्णरहित), स्पर्श में ठण्डा, गन्धरहित, जल के समान तथा कुछ गँदला और पिच्छिलतायुक्त मूत्रत्याग होता है।

इक्षुमेह—इक्षुमेह से पीडित रोगी ईख के रस के समान अति मधुर मूत्र का त्याग करता है।

सान्द्रमेह—सान्द्रमेह से पीडित रोगी के मूत्र में रखने से तलछट बैठ जाती है।

सुरामेह—सुरामेह से पीडित रोगी का मूत्र ऊपर से स्वच्छ एवं निम्नभाग में घना होता है।

पिष्टमेह—पिष्टमेह से पीडित रोगी का शरीर मूत्रत्याग करते समय रोमाञ्चित हो जाता है और वह सफेद, मात्रा में अधिक एवं पिट्ठी सदृश पदार्थ से मिला हुआ मूत्रत्याग करता है।

शुक्रमेह—शुक्रमेह से पीडित रोगी शुक्र के समान अथवा वस्तुतः शुक्र से मिश्रित मूत्र का त्याग करता है।

सिकतामेह—सिकतामेह से पीडित रोगी के मूत्र में सिकता (रेत) के समान छोटे छोटे कठिन कण मिले रहते हैं।

शीतमेह—शीतमेही का मूत्र मधुर एवं स्पर्श में अत्यधिक शीतल होता है, रोगी बार बार मूत्रत्याग करता है।

शनैर्मेह—इस से पीडित रोगी बहुत धीरे धीरे मूत्रत्याग करता है।

लालामेह—लालामेह से पीडित रोगी का मूत्र पिच्छिल एवं लालारस के समान होता है॥

अत्र कफस्य श्वेतशीतमूर्तपिच्छिलाच्छस्निग्धगुरुमधुरसान्द्रप्रसादमन्देषु गुणेषु मध्ये कुत्रचित् किंचिद्गुणप्रकर्षादुदकमेहादयो दश दश्यन्त इत्याह—अच्छमित्यादि। सान्द्रप्रसादस्त्वेक एव गुणो गणनीयः, सान्द्रमेहव्यपदेशस्त्वेकदेशेन भविष्यतीति। एतैश्च श्वेतादिभिर्गुणैर्व्यस्तैः समस्तैश्च योगाद्दश मेहा न तु यथाक्रमं, 'येन गुणेनैकेनानेकेन वा भूयस्तरमुपसृज्यते तत्समाख्यं गौणं नामविशेषं प्राप्नोति' (च. नि. अ. ४) इति चरकवचनात्। नच

यथा दशभिर्गुणैर्दश मेहान् करोति तथा संसर्गविकल्पान्तरेणापरानपि कुतो न करोतीत्याशङ्कनीयं, भावस्वभावस्यापर्यनुयोज्यत्वात्, अदृष्टकल्पनायाश्चानर्हत्वात् । तत्र श्वेताच्छशीतैर्गुणैरुदकमेहः; मधुरशीताभ्यामिक्षुमेहः; सान्द्रपिच्छिलाभ्यां सान्द्रमेहः; अच्छेन पित्तानुरागिणा सुरामेहः; शुक्लेन पिष्टमेहः, अत्र पिष्टवदित्यालेपनपिष्टवत्; श्वेतस्निग्धाभ्यां शुक्रमेहः; अत्र शुक्राभमिति सर्वमेव मूत्रं शुक्रतुल्यं, शुक्रमिश्रं वेति शुक्राभशुक्रमिश्रं; वास्तवशुक्रमिश्रत्वे तु कफजस्याप्यसाध्यत्वं स्यादिति, वाप्यचन्द्रस्तु शुक्रस्य मूत्रेण गुणकृतं सादृश्यं, शुक्रमिश्रं वेति च शुक्रगुणानां संयुक्तसमवायान्मूत्रे दर्शनमित्याह; सान्द्रमूर्त्ताभ्यां सिकतामेहः, अत्र मूर्ताणूनिति मूर्तान् कठिनान्, अणून् अल्पान्; मलानिति बहुवचनं दोषाणामवयवबहुत्वात्, जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमिति वाप्यचन्द्रः; मलोऽत्र प्रकरणात् कफः; गुरुमधुरशीतैः शीतमेहः; मन्दमूर्ताभ्यां शनैर्मेहः; पिच्छिलेन लालामेहः । चरके सुरामेहस्थाने सान्द्रप्रसादमेहः पठितः, तथा पिष्टमेहः शुक्लमेहशब्देन, तेनैव शीतमेहलालामेहौ पठितौ, पित्तजश्च कालमेहः; सुश्रुतस्तु चरकोक्तशीतमेहलालामेहयोः स्थाने फेनमेहलवणमेहौ, कालमेहस्थाने चाम्लमेहं पठितवान् । सामञ्जस्यं चात्र नास्त्येव, परस्परलक्षणसंवादाभावात्, स्मृतिद्वैध्यवत् सर्वं प्रमाणम् ॥ ७–१२ ॥

विमर्श—कफ के श्वेत, शीत, मूर्त, पिच्छिल, स्वच्छ, स्निग्ध, गुरु, मधुर, सान्द्रप्रसाद एवं मन्द इन दस गुणों में से एक या अनेक के संसर्ग से दस प्रकार के प्रमेह होते हैं किन्तु प्रत्येक गुण से एक या विभिन्न गुणों के विपर्यस्त संयोग से दस से भी अधिक प्रमेहों की कल्पना करना प्रत्यक्ष विरुद्ध होनेसे उचित नहीं है किन्तु व्याधिस्वभावात् यह दस ही प्रकार के होते हैं यथा-श्वेत अच्छ और शीत गुणों के संयोग से उदकमेह, मधुर एवं शीत के संयोग से इक्षुमेह, सान्द्र एवं पिच्छिल के संयोग से सान्द्रमेह, अच्छगुण मात्र से पित्त का अनुबन्ध होने से सुरामेह, शुक्ल से पिष्टमेह, श्वेत और स्निग्ध से शुक्रमेह, सान्द्र और मूर्त के संयोग से सिकतामेह, गुरु, मधुर एवं शीत संयोग से शीतमेह, मन्द और मूर्त संयोग से शनैर्मेह तथा पिच्छिल गुणमात्र से आलालमेह उत्पन्न होता है ऐसा श्रीकण्ठदत्त ने मधुकोष में लिखा है। किन्तु गुण-तारतम्य से अन्य प्रकार के प्रमेहों का होना असम्भव नहीं है। अत एव सुश्रुत ने चरकोक्त शीत और आलालमेह का वर्णन नहीं किया है और उनके स्थान पर फेन और लवणमेह का उल्लेख किया है। इनके लक्षणों में सामञ्जस्य न होने से यह परस्पर भिन्न ही हैं और दोनों संहिताओं में वर्णित प्रमेहों की गणना एक साथ करने पर कफज प्रमेह बारह हो जाते हैं। और इस संख्याधिक्य को श्रीकण्ठदत्त को भी स्मृतिद्वैध्यवत् प्रमाण मानना पड़ता है। (देखिए श्लोक ४ का विमर्श)

यद्यपि चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट तीनों ने कफजमेह को दस प्रकार का ही माना है, परन्तु नामों में कुछ अन्तर मिलता है। यथा सुश्रुत में चरक के सान्द्रप्रसादमेह, शुक्लमेह, शीतमेह और लालामेह का वर्णन नहीं मिलता। इनके स्थान पर वहां सुरामेह, पिष्टमेह, फेनमेह तथा लवणमेह का वर्णन किया गया है। सान्द्रप्रसादमेह के लक्षण सुश्रुतोक्त सुरामेह के समान ही हैं नाम मात्र का ही अन्तर है, जैसे—**'सुरामेही सुरातुल्यमुपर्यच्छमधोघनम्'**। सान्द्रप्रसादमेह का लक्षण चरक में करते हुए कहा गया है—**'यस्य संहन्यते मूत्रं किंचित् किंचित् प्रसीदति, सान्द्रप्रसादमेहीति'** अर्थात् जिस रोगी के मूत्र में नीचे घनी तलछट बैठे और ऊपर निर्मलता रहे उसे सान्द्रप्रसादमेह से पीडित समझना चाहिये। बिना छाने हुए मद्य या शराब (सुरा) की भी यही स्थिति रहती है। उसमें नीचे घनी तलछट बैठी रहती है जिसे जगल या किट्ट भी कहते हैं और ऊपर स्वच्छ सुरा रहती है। चरकोक्त शुक्लमेह सुश्रुत के पिष्टमेह के समान है क्योंकि

१. 'अवान्तरशुक्रमिश्रत्वे' इति पाठान्तरम् ।

दोनों के लक्षणों में साम्य मिलता है यथा—**शुक्लं पिष्टनिभं मूत्रमभीक्ष्णं यः प्रमेहति । पुरुषः कफकोपेन तमाहुः शुक्लमेहिनम् ॥** (चरक) तथा **'हृष्टरोमा पिष्टरसतुल्यं पिष्टमेही'** (सुश्रुत)। सुश्रुतोक्त फेनमेह एवं लवणमेह और चरकोक्त शीतमेह तथा लालामेह में कोई साम्य नहीं है। वाग्भट ने भी चरक के समान शीतमेह और लालामेह दोनों स्वीकार किये हैं। शुक्रमेह के स्थान पर सुश्रुत के समान वाग्भट ने भी पिष्टमेह ही माना है।

१· **उदकमेह**—अर्वाचीनदृष्टया शुद्धकफज तथा वातज-कफज दो प्रकार का होता है। शुद्धकफज उदकमेह को डायबिटीज इन्सिपिडस (Diabetes Insipidus) कहते हैं। इसमें मूत्र गँदला और चिपचिपा (आविल-पिच्छिल) नहीं होता। यही वास्तविक उदकमेह है। वातकफज उदकमेह में उपर्युक्त दोनों (आविलता और पिच्छिलता) लक्षण मिलते हैं। यह मधुमेह का पूर्वरूप होता है। उदकमेह में रोगी को पुनः पुनः मूत्रत्याग करने की इच्छा रहती है इसलिए इस अवस्था को बहुमूत्रता (Polyuria) भी कहते हैं। इस अवस्था में मूत्र का वर्ण तथा सापेक्षिक-घनत्व (Specific gravity) जल के समान हो जाता है। कारणों की दृष्टि से उदकमेह को स्थायी एवं अस्थायी दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। अस्थायी उदकमेह वृक्क को अत्यधिक क्रियाशील करनेवाले जल तथा चाय जैसे पदार्थ व आकस्मिक मानसिक आघात सदृश कारणों से अर्थात् अधिक जलपान या मूत्रलद्रव्य सेवन एवं तात्कालिक कारणों से कुछ समय के लिए ही होता है। जीर्णवृक्क शोथ (Chronic nephritis), पीयूषग्रन्थि (Pituitary body) की विकृति तथा धमनीजठरता (Arterio sclerosis) के कारण रक्तभार (Blood pressure) में वृद्धि हो जाने से स्थायीस्वरूप का उदकमेह पैदा होता है।

२· **इक्षुमेह** में मूत्र में शर्करा पायी जाती है किन्तु फिर भी इसे मधुमेह नहीं कह सकते हैं; क्योंकि इस अवस्था में केवल मूत्र में ही शर्करा पायी जाती है। मधुमेह के लिये रक्त में शर्करा की मात्रा का अधिक होना अनिवार्य है। इसलिए वाग्भट ने—**सर्वेऽपि मधुमेहाख्या माधुर्याच्च तनोरतः'** इसके द्वारा मधुमेह को इससे पूर्णतया पृथक् कर दिया है। शर्करा अथवा कर्बोजमय पदार्थों के अत्यधिक सेवन से यह अवस्था उत्पन्न होती है। अतः इसे भोजनजन्य इक्षुमेह (Alimentary glycosuria) भी कहते हैं। यह अस्थायी स्वरूप का होता है, और शर्करावहुल पदार्थों को भोजन से कम कर देने पर बिना विशेष उपचार के भी ठीक हो जाता है। चरक ने शर्करायुक्त मेह को दो प्रकार का माना है। (१) कफजन्य (२) वातजन्य। इनमें कफजन्य सन्तर्पण से और वातजन्य धातुक्षय से होता है—**'दृष्ट्वा प्रमेहं मधुरं सपिच्छं मधूपमं स्याद् द्विविधो विचारः। क्षीणेषु दोषेष्वनिलात्मकः स्यात् सन्तर्पणाद्वा कफसंभवः स्यात्'** (च. चि. ६) अस्थायी स्वरूप के कफजन्य या सन्तर्पणजन्य शर्करायुक्त मेह का ही दूसरा नाम भोजनजन्य मधुमेह (Alimentary glycosuria) है किन्तु यह भी स्थायी स्वरूप का होने पर आवरण दोष से वायु के प्रकुपित होने पर वास्तविक या वातिक मधुमेह ही हो जाता है। इसके अतिरिक्त मानसिक आघात, अत्यधिक परिश्रम तथा समवर्त विकृति से होनेवाले शर्करायुक्त मेह को वातजन्य या अपतर्पणजन्य मधुमेह कहते हैं। इस अवस्था में रक्त में भी शर्करा प्रकृत से अधिक रहती है। इसी को वास्तव में मधुमेह (Diabetes mellitus) कहते हैं। कभी कभी वृक्क देहली मर्यादा (Renal threshold) के प्रकृत से कम हो जाने पर भी मूत्र द्वारा शर्करा उत्सृष्ट होने लगती है। उस अवस्था को वृक्कविकारजन्य मधुमेह (Renal glycosuria) कहते हैं।

३· **सान्द्रमेह** में मूत्र को कुछ देर रखने से उसमें तलछट जम जाती है। इसे फास्फेट यूरिया (Phosphaturia) कहते हैं। यहाँ 'पर्युषित' शब्द का अर्थ 'वासी' न होकर 'थोड़े काल में ही' करना उचित है क्योंकि एक दिन के वासी प्राकृत मूत्र में भी थोड़ा बहुत तलछट बैठता ही है। अतः थोड़े ही समय में अधिक तलछट का जमना ही सान्द्रमेह का निदर्शक है।

सुरामेहको कुछ लोग गन्ध की दृष्टि से एसिटोनयूरिया (Acetonuria) कहते हैं, किन्तु कुछ लोग इसे भी फास्फेट यूरिया का ही एक प्रकार मानते हैं; क्योंकि एसिटोनयूरिया मधुमेह (Diabetes mellitus) का एक विशिष्ट लक्षण है। किन्तु एक अवस्था-विशेष में होने से आधुनिक ग्रन्थों में भी उसे पृथक् नाम दिया गया है, अतः सुरामेह को Acetonuria मानना ही उचित प्रतीत होता है।

पिष्टमेह भी फास्फेट यूरिया का ही एक उग्र प्रकार है। फास्फेट की अल्पाधिक मात्रा के अनुसार फास्फेट यूरिया को ही सान्द्र और पिष्टमेह नाम दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लोग पिष्टमेह को काइलयूरिया (Chyluria) कहते हैं। किन्तु उसमें स्नेहांश अधिक एवं प्रायः असाध्य होने के कारण उसे सर्पिर्मेह या वसामेह ही मानना उचित है।

शुक्रमेह में मूत्र के साथ शुक्र या उसका कुछ अंश भी निकलता है अतः इसे स्परमेटूरिया (Spermaturia) कहते हैं। यह प्रायः कामुक नवयुवकों में या विबन्ध आदि कारणों से मल द्वारा शुक्राशयसम्पीडन के कारण होता है।

सिकतामेह में मूत्र के साथ अश्मरी के छोटे-छोटे कण निकलते हैं, अतः इसे लिथूरिया (Lithuria) कहते हैं। **शीतमेह** के लिये आजकल कोई नाम नहीं दिया जा सकता। मूत्र शरीर की उष्णता के समान उष्ण होता है और उसका शीत होना शारीरिक उष्णता की कमी या नाश का द्योतक है, और वह अवस्था असाध्यता की सूचक है[1]। अवरोधक कारणों से मूत्रमार्ग के अवरुद्ध होने पर **शनैर्मेह** की अवस्था उत्पन्न होती है। इसे मूत्राघात का ही एक भेद मानना चाहिये। यद्यपि इसे प्रमेह नहीं कहा जा सकता तथापि मूत्रत्याग की बार-बार इच्छा रहने के कारण इसे भी प्रमेह में माना गया है। अथवा मूत्रमार्ग और बस्ति में क्षोभ या शोथ होने पर भी बार बार थोड़ी थोड़ी मात्रा में मूत्रत्याग होने को शनैर्मेह कह सकते हैं। **लालामेही** के मूत्र में स्निग्ध व पिच्छिल वस्तु रहती है जो कि मूत्र में अल्ब्यूमिन की उपस्थिति का द्योतक है। अतः इसे अल्ब्यूमिनयूरिया (Albuminuria) कहना चाहिये। वृक्क के विविध प्रकार, पाण्डुरोग (Anaemia), यकृत् वृद्धि, हृद्रोग तथा सगर्भावस्था में मूत्र के साथ अल्ब्यूमिन का उत्सर्ग होता है। अल्ब्यूमिन अधिक निकलने पर शरीर में सूजन भी आ सकती है[2]।

पैत्तिकान् मेहान् व्याचष्टे—

गन्धवर्णरसस्पर्शैः क्षारेण क्षारतोयवत् ।
नीलमेहेन नीलाभं कालमेही मसीनिभम् ॥ १३ ॥
हारिद्रमेही कटुकं हरिद्रासंनिभं दहत् ।
विस्रं माञ्जिष्ठमेहेन मञ्जिष्ठासलिलोपमम् ॥ १४ ॥

---

१. स्वभावतः मूत्र रक्तताप के समान ही उष्ण होता है पर जिन अवस्थाओं में नेत्रजनीय पदार्थों की अधिकता होती है एवं अमोनिया की उत्पत्ति अधिक होती है, मूत्र अतिशीघ्रता से शीत हो जाता है। सम्भवतः इसी का ध्यान रखकर शीतमेह का वर्णन चरकादि आचार्यों ने किया है। (सं०)

२. सुश्रुतोक्त फेनमेह को Penumaturia कह सकते हैं। मूत्र में वायु की उपस्थिति वायवीय पदार्थोत्पादक जीवाणुओं के कारण होती है जो प्रायः अशुद्ध शलाकादि प्रवेश के साथ बस्ति में पहुँच जाते हैं। कभी कभी बस्त्यन्त्रीयनाडीव्रण (Vesico enteric fistula) होने पर भी मूत्र के साथ वायु (gas) आ सकती है। उसी प्रकार क्लोराइड आदि लवणों की राशि अत्यधिक होने को ही लवणमेह कह सकते हैं। जैसे Oxaluria. (सं०)

विस्रमुष्णं सलवणं रक्ताभं रक्तमेहतः । (वा. नि. १०)

क्षारमेह—क्षारमेह से पीड़ित रोगी के मूत्र की गन्ध, वर्ण, रस एवं स्पर्श क्षारमिश्रित जल के समान होते हैं।

नीलमेह—नीलमेह में मूत्र का रङ्ग नीला होता है।

कालमेह—कालमेह में मूत्र स्याही के समान काला होता है।

हारिद्रमेह—हारिद्रमेह में मूत्र का वर्ण हरिद्रा के सदृश तथा रस में कटु होता है और मूत्रत्याग करते समय रोगी को जलन का अनुभव होता है।

माञ्जिष्ठमेह—माञ्जिष्ठमेह में रोगी आमगंधयुक्त मजीठ के क्वाथ के वर्ण का मूत्रत्याग करता है।

रक्तमेह—रक्तमेह में रोगी दुर्गन्धित, उष्ण, लवणयुक्त तथा लालरंग का मूत्रत्याग करता है।

पित्तात्तु षड्भिः पित्तगुणैः क्षारनीलकालपीतलोहितविस्रैर्यथाक्रमं क्षारमेहादयः षट्, तान् गन्धवर्णरसस्पर्शैरित्यादिना दर्शयति-गन्धेत्यादि। नीलाभमिति। चासपक्षप्रभं, चासः 'स्वर्णचूड' इति लोके ख्यातः, क्वचित् 'टाक्साना चासः' इति गदाधरः, तत्पक्षश्च स्निग्धनीलो भवति। दहदिति मूत्रविशेषणम्। दहन्निति पाठान्तरे दाहमनुभवन् पुरुषः ॥ १२-१४ ॥

विमर्श-क्षारमेह—साधारण अवस्थाओं में मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल होती है किन्तु यदि किसी कारण से मूत्र बस्ति में अधिक देर ठहर जाय तो वह क्षारीय हो जाता है। मूत्र के वेग को रोकने, पौरुषग्रन्थि-वृद्धि (Enlarged prostate) अथवा मूत्रमार्ग के संकोच तथा जीर्ण बस्तिशोथ (Chronic cystitis) के कारण बस्ति में मूत्र को अधिक देर रुकना पड़ता है। फास्फेट की अधिकता से भी मूत्र क्षारीय हो जाता है। क्षारमिश्रित मूत्र का त्याग ही क्षारमेह कहलाता है। आजकल इसे अलकलाइन यूरिन (Alkaline Urine) कहते हैं।

२. **नीलमेह**—इस प्रकार का मूत्रत्याग मूत्र में इण्डिकन नामक पदार्थ की उपस्थिति से होता है। अतः इसे "इन्डिकन्यूरियाँ" कहते हैं। मूत्र को कुछ देर रखने के पश्चात उसका वर्ण नीला हो जाता है कभी कभी प्रारम्भ से ही नीला रहता है। विबन्ध, आन्त्रावरोध, आन्त्रकलाशोथ, फुफ्फुसकोथ (Gangrene of the lung) सदृश रोगों में अल्ब्यूमिन के सड़ने से इस पदार्थ की उत्पत्ति अधिक बढ़ जाती है और यह रक्तप्रवाह के द्वारा वृक्क में पहुंच कर मूत्र द्वारा उत्सृष्ट होता है। अतः मूत्र नीलाभ हो जाता है।

३. **कालमेह**—इसका वर्णन सुश्रुत ने नहीं किया है। यह रक्तमेह (Haematuria) की ही एक अवस्था का नाम है, कच्चित इसे (Melanuria) भी कहते हैं। सुश्रुत ने इसके स्थान पर अम्लमेह का वर्णन किया है। किन्तु इन दोनों में कोई साम्य नहीं है। **'अम्लरसगन्धमम्लमेही'** यह अम्लमेह का लक्षण किया है। अम्लमेही का मूत्र रस और गन्ध में अम्ल होता है। मूत्र में यूरिक एसिड तथा यूरेट्स की अत्यधिक मात्रा उपस्थित रहने के कारण यह स्थिति उत्पन्न होती है। जैसे (Cystinurea) प्रमेह, वातरक्त (Gout), व्यायाम न करने तथा प्रोभूजिन बहुल पदार्थों के अधिक सेवन से उक्त पदार्थ मूत्र से उत्सृष्ट होने लगते हैं। मूत्र की प्रतिक्रिया प्रकृत से अधिक अम्ल हो जाती है। अतः इसे Highly acidic urine कह सकते हैं।

५. **हारिद्रमेह**—मूत्र में पित्त की अधिक उपस्थिति होने से मूत्र हरिद्रावर्ण का हो जाता है। अतः इसे बाइलयूरिया (Biluria) कहते हैं। यकृत्-विकार तथा कामला में यह अवस्था मिलती है। श्री डाक्टर घाणेकर जी इसको रक्तमेह (Haematuria) की ही एक अवस्था मानते हैं। उनका कहना है कि मूत्र में रक्त दो रूपों में आ सकता है। जब केवल रक्त का रागक (Haemoglabine) ही मूत्र में आता है रक्तकण नहीं आते तो उसे हारिद्रमेह (Haemoglocinuria) कहते हैं और जब रक्तकण भी मूत्र में आने लगते हैं तो उसे रक्तमेह (Haematuria) कहते हैं। इन दोनों अवस्थाओं का पृथक्करण सूक्ष्मदर्शक की सहायता से तलछट की परीक्षा

करके किया जा सकता है। ये दोनों मेह वृक्कार्बुद, वृक्काश्मरी, बस्ति का अर्बुद तथा कालमेह ज्वर (Black-water fever) में पाये जाते हैं। मूत्रमार्ग के रक्तपित्त में भी यद्यपि हरिद्रावर्ण का मूत्र निकलता है तथापि उसे प्रमेह नहीं कह सकते क्योंकि उसमें प्रमेह के अन्य लक्षण (पूर्वरूप) नहीं मिलते—

हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः ।
यो मूत्रयेत्तं न वदेत प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः ॥

5. **माञ्जिष्ठमेह**—वृक्क या गवीनी के रक्तस्राव में यह स्थिति मिलती है। यह भी रक्तमेह का ही एक प्रकार है। इसमें विभिन्न कारणों से शारीरिक रक्त का शोणांशन होने पर मूत्र में रक्तगत शोणवर्तुलि की मात्रा अधिक होने से इसका वर्ण धूम्राभ होता है और आजकल इसे Haemoglobinurea) कहते हैं। श्री डाक्टर घाणेकर जी इसको कोल्यूरिया (Choluria) अथवा यूरोबाइलीन्यूरिया (urobilinuria) मानते हैं। उनका कहना है कि वैनाशिक रक्तक्षय (Pernicious anaemia), विषमज्वर तथा यकृद्दाल्युदर जैसे रक्तनाशक रोगों के कारण यह होता है।

6. **रक्तमेह**—इसे हीमेच्यूरिया (Haematuria) कहते हैं। यह मूत्र में रक्तकणों की उपस्थिति के कारण होता है, यह पीछे कहा जा चुका है। जब रक्तस्राव बस्ति या मूत्रप्रसेकिनी (Urethra) में होता है तो रक्त के वर्ण में परिवर्तन नहीं होता जिससे मूत्र रक्तवर्ण का रहता है। किन्तु जब वही वृक्क या गवीनी से होता है तो उसमें कुछ परिवर्तन आ जाता है।

वातिकान् मेहान् लक्षयति—

वसामेही वसामिश्रं वसाभं मूत्रयेन्मुहुः ॥ १५ ॥
मज्जाभं मज्जमिश्रं वा मज्जमेही मुहुर्मुहुः ।
कषायं मधुरं रूक्षं क्षौद्रमेहं वदेद् बुधः ॥ १६ ॥
हस्ती मत्त इवाजस्रं मूत्रं वेगविवर्जितम् ।
सलसीकं विबद्धं च हस्तिमेही प्रमेहति ॥ १७ ॥ (वा. नि. १०)

वसामेह—वसामेह से पीडित रोगी वसा से मिश्रित तथा वर्ण-गन्ध आदि में वसा के समान मूत्र का बार बार त्याग करता है।

मज्जमेह—मज्जमेह से पीडित रोगी बार बार मज्जा के तुल्य तथा मज्जामिश्रित मूत्र का त्याग करता है।

क्षौद्रमेह—कषाय एवं मधुर रस से युक्त बार बार होने वाले मूत्रत्याग को विद्वान् क्षौद्रमेह कहते हैं।

हस्तिमेह—हस्तिमेह से पीडित रोगी मदमस्त हाथी के समान बिना किसी रुकावट के निरन्तर लसीकामिश्रित और विबद्ध (ग्रथित) मूत्र का त्याग करता है ॥ १५–१७ ॥

वातेन यथाक्रमं वसामज्जौजोलसीकाभिर्यथाक्रमं वसामेहादयः; तानाह-वसेत्यादि । अत्र मज्जमेहः सुश्रुते सर्पिर्मेहनाम्ना पठितः ॥ १५–१७ ॥

विमर्श—वसामेह—तीनों संहिताकारों ने इसे स्वीकार किया है। मूत्र में अल्पाधिक मात्रा में वसा मिलती है। इसे लाइप्यूरिया (Lipuria) कह सकते हैं। काइल्यूरिया में भी मूत्र में वसा मिलती है।

मज्जमेह—चरक ने इसे मज्जमेह ही कहा है और इसके लक्षण भी वाग्भट के समान ही हैं। सुश्रुत ने इसे सर्पिर्मेह नाम दिया है। यह भी वसामेह का ही एक प्रकार है। इस अवस्था में वसा के साथ कुछ रक्त भी मिश्रित रहता है। इस प्रकार मूत्र द्वारा पूयसदृश स्राव निकलता

है। यह अवस्था वृक्कविद्रधि, गवीनीमुखशोथ (Pyelitis), पूयमेह (Gonorrhoea) तथा मूत्रसंस्थान के राजयक्ष्मा में मिलती है[1]।

हस्तिमेह—कविराज गणनाथसेन जी इसे अल्ब्यूमिन्यूरिया में होनेवाली बहुमूत्रता (Polyuria) की अवस्था मानते हैं। किन्तु वह उचित प्रतीत नहीं होता; क्योंकि बहुमूत्रता में विबद्धता नहीं पायी जाती। मूत्र में लसीका की प्रवृत्ति देखने से इसे पूयमेह या काइल्यूरिया की अवस्था भी कहा जा सकता है, क्योंकि इसकी चिकित्सा में भी वरुणादिगणकाथ तथा अन्य क्षीरी वृक्षों के क्वाथ के प्रयोग का उल्लेख है। श्री डाक्टर घाणेकर जी विबद्ध शब्द को लेकर इसे मिथ्या मूत्रकृच्छ्र (False incontinenee of the urine) कहना अधिक उपयुक्त मानते हैं। इसका मुख्य कारण सुषुम्नास्थित मूत्रकेन्द्र का घात, अश्मरी तथा पौरुषग्रन्थि की वृद्धि है। कुछ विद्वान् अजस्र शब्द को लेकर इसे डायबिटीज इन्सिपिडस (Diabetes insipidus) मानते हैं। परन्तु वह ठीक प्रतीत नहीं होता; क्योंकि इस अवस्था में भी मूत्र में विबद्धता नहीं रहती, प्रत्युत मूत्र प्रचुर परिमाण में निकलता है अतः उसे तो उदकमेह नाम देना ही उचित है।[2]

क्षौद्रमेह—चरक ने इसे मधुमेह कहा है, लक्षणों में पूर्णतया साम्य है। यह प्राथमिक (Primary) तथा अन्य मेहों की उपेक्षा करने पर उपद्रवस्वरूप (Secondary) भी हो सकता है; क्योंकि सुश्रुत ने कहा है—

सर्व एव प्रमेहास्तु कालेनाप्रतिकारिणः। मधुमेहत्वमायान्ति तदाऽसाध्या भवन्ति हि॥

मधुमेह को आजकल डायबिटीज मेलाइटस (Diabetes mellitus) कहते हैं। इसमें मूत्र के साथ ओज का क्षरण होता है। चरक मधुमेह को ओजोमेह भी कहते हैं। इस प्रकार जो लोग ओजोमेह से अल्ब्यूमिन्यूरिया (Albuminuria) मानते हैं, वह ठीक नहीं। इस रोग में निकलने वाला ओज मधुर स्वभाव का होता है, इसी के लोभ से रोगी के मूत्र में चीटियां लगती हैं। आजकल इसे ग्लुकोज़ (Glucose) कहते हैं। प्रकृत अवस्था में मूत्र का सापेक्ष गुरुत्व (Specific gravity) १०१५ से १०२५ तक है, इस अवस्था में यह १०३० से अधिक हो जाती है। साधारणतया मूत्र में शर्करा नहीं रहती। मूत्र में शर्करा की उपस्थिति का कारण जानने से पूर्व शरीर में प्राङ्गोदीय (Carbohydrate) के समवर्त (Matabolism) का ज्ञान कर लेना अनिवार्य है। इसलिए संक्षेप में उसका विवरण नीचे की पङ्क्तियों में किया जाता है।

प्राङ्गोदीय (Carbohydrates) आन्त्रिक पाचन के द्वारा मधुशर्करा (Glucose) के रूप में परिणत होकर शोषित हो जाता है और रक्तवाहिनियों द्वारा यकृत् में पहुँचकर ग्लाइकोजन के रूप में संचित हो जाता है। इसका कुछ भाग पेशियों में भी संचित होता है। आवश्यकता पड़ने पर पुनः यह ग्लाइकोजिनेज नामक किण्व (Enzyme) के द्वारा ग्लूकोज के रूप में परिवर्तित होकर शरीर के काम में आता है। पेशियों को शक्ति प्रदान करने के निमित्त रक्त में भी यह

---

१. मेरे विचार से इसमें वसातुल्य स्निग्ध पदार्थ के साथ रक्त का भी अंश रहने से इसका वर्ण मज्जा के समान (मज्जाभ) होता है और यही वास्तव में आधुनिक (Chyluria) है जो विशेषतः श्लीपद के रोगियों में मिलता है। यह आज भी प्रायः असाध्य ही माना जाता है। (सं०)

२. मेरे विचार से हस्तिमेह को पूयमेह मानना ही अधिक उचित होगा। बस्ति या मूत्र मार्ग में पाक एवं पूय होने पर जो क्षोभ होता है उससे बार बार मूत्र त्याग करने की इच्छा होती है या यों कहिए कि मूत्र सञ्चित न होते हुये भी मूत्रवेग उपस्थित सा रहता है तथा मूत्र के साथ ग्रथित पूय का भाग होने से विबद्धता भी रहती है। चिकित्सा में भी पूयहर वरुणादिगण या क्षीरी वृक्षों के क्वाथ का विधान है एवं इतना व्यापक होते हुये भी प्राचीन ग्रन्थों में पूयमेह का नामोल्लेख नहीं है। अतः इसे पूयमेह (Pyuria) ही मानना उचित है। (सं०)

एक निश्चित परिमाण में बना रहता है । अन्ततोगत्वा जल और कार्बन डाइआक्साइड के रूप में परिणत हो जाता है । रक्त में साधारणतया इसकी मात्रा ०·०८ से ०·१८ तक रहती है। शर्कराबहुल पदार्थों के अधिक सेवन से इसकी मात्रा बढ़ती है तथा बन्द कर देने से घटती है। रक्त में आवश्यकता से अधिक शर्करा होने पर उसका संचय यकृत् में ग्लाइकोजन के रूप में हो जाता है । जब यकृत् भी इससे परिपूर्ण हो जाता है तो ग्लूकोज मेद के रूप में परिवर्तित होकर शरीर की विभिन्न धातुओं में संचित हो जाता है । मूत्र में शर्करा की उपस्थिति का प्रधान कारण प्राङ्गोदीयों (Carbohydrates) के समवर्त्त की विकृति ही है। शर्करा रक्त से वृक्कों द्वारा छन कर ही मूत्र में आती है । साधारणतया जब तक रक्त में १·८ प्रतिशत से कम शर्करा रहती है तब तक वृक्क उसे नहीं छानते । इसको वृक्क-देहली मर्यादा (Renal threshold) कहते हैं । जिस अवस्था में शर्करा की प्रतिशत मात्रा वृक्क-देहली मर्यादा को अतिक्रान्त कर जाती है तो वृक्क के द्वारा उसका क्षरण होने लगता है । कुछ रोगियों में वृक्क देहली मर्यादा ही स्वभाव से कम होती है तब इससे कम प्रतिशत प्रमाण में रहने पर भी उसका क्षरण हुआ करता है। इसे वृक्कज मधुमेह (Renel glycosuria) कहते हैं। यह चिन्ताजनक स्थिति नहीं है। वृक्क के अतिरिक्त प्राङ्गोदीय (Carbohydrate) बहुल पदार्थों के अत्यधिक सेवन से वृक्क-देहली मर्यादा (Renal threshold) का अतिक्रमण होने पर भी मूत्र में शर्करा की उपस्थिति मिलती है । इसे सन्तर्पणजन्य इक्षुमेह अथवा भोजनजन्य मधुमेह (Alimentary glycosuria) कहते हैं। यह स्थिति भी चिन्ताजनक नहीं है; क्योंकि प्राङ्गोदीयों की मात्रा कम कर देने पर यह विकृति ठीक हो जाती है ।

मधुमेह का मुख्य कारण कुछ अन्तःस्रावी ग्रन्थियों (Ductless glands) के स्रावों की विकृति है । अग्न्याशय (Pancreas), चुल्लिकाग्रन्थि (Thyroid), अधिवृक्क (Suprarenal) तथा पीयूषग्रन्थि (Pitutary body) ये चार ग्रन्थियां प्राङ्गोदीय समवर्त (Carbohydrate metabolism) का नियन्त्रण करती हैं ।

अग्न्याशय—इससे दो प्रकार के स्राव निकलते हैं । अग्न्याशयरस (Pancreatic juice) इसका प्रथम स्राव है जो पच्यमानाशय (Duodenum) में पित्त के साथ मिलकर प्रधानतया वसा तथा भोजन के अन्य भागों का भी पाचन करता है। दूसरा अन्तःस्राव है जो रक्तप्रवाह में मिलकर क्रिया करता है। इसका क्रियाकारी तत्त्व मधुनिषूदिनी (Insulin) है। यह पेशियों द्वारा शर्करा का उपयोग तथा यकृत् के द्वारा इसका सञ्चय कराता है। इसका अभाव या कमी होने पर पेशियां शर्करा का उपयोग नहीं कर सकतीं और न यकृत् में ही इसका सञ्चय हो सकता है । परिणामस्वरूप रक्तगत शर्करा बढ़कर वृक्क देहली मर्यादा का अतिक्रमण करके मूत्र-द्वारा उत्सृष्ट होने लगती है। यह चिन्ताजनक स्थिति है । इस अवस्था में वृक्क पूर्णतया स्वस्थ रहते हैं। शेष तीनों ग्रन्थियां मधुनिषूदिनी (Insulin) की क्रिया को रोकती हैं। इस प्रकार इन चारों ग्रंथियों के अन्तःस्रावों की प्रकृत अवस्था शर्करा के परिवर्तनों का नियन्त्रण करती है । कभी कभी मधुनिषूदिनी की क्रिया बढ़ जाती है या अन्य तीन ग्रन्थियों की क्रिया घट जाती है तो रक्तगत शर्करा प्रकृत से भी कम हो जाती है जिसे उपमधुमयता (Hypoglycaemia) कहते हैं। यह भी चिन्ताजनक स्थिति है, यदि तुरन्त शीघ्रकारी उपायों द्वारा रक्तगत शर्करा की वृद्धि न की जाय तो रोगी के प्राण संकट में पड़ जाते हैं । यह स्थिति मधुनिषूदिनी लेने के पश्चात् तुरन्त ग्लुकोज न लेने पर भी देखी जाती है । इससे यह स्पष्ट है कि मधुमेह का प्रधान कारण अग्न्याशय का विकृत होना है । साधारण मधुमेह में भोजन के कुछ देर बाद तक रक्तगत शर्करा की मात्रा प्राकृत से अधिक रहती है और उसका मूत्र द्वारा क्षरण होता रहता है। किन्तु मधुमेह की तीव्र अवस्था मेंम रक्तगत शर्करा सदा प्राकृतांश से कई गुना अधिक रहती है और उसका उत्सर्ग भी त्र द्वारा

सर्वदा होता रहता है। इस प्रकार शर्करा समवर्त (Metabolism) का प्रभाव वसा और प्रोटीन पर भी पड़ता है। वसा-समावर्त में विकृति होने से अम्लोत्कर्ष (Ketosis) होता है जिससे रक्त की क्षारीयता प्रकृत से बहुत कम हो जाती है और रोगी में संन्यास-सदृश लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित मेहों के अतिरिक्त अन्य भी कई प्रमेहों का वर्णन अर्वाचीन ग्रन्थों में मिलता है किन्तु उनमें प्रायः सभी का समावेश प्राचीन किसी न किसी मेह में हो जाता है। कभी कभी विभिन्न ओषधियों के सेवन से भी मूत्र के वर्ण आदि में भेद आ जाते हैं जो अस्थायी स्वरूप के होते हैं। कविराज गणनाथसेन जी ने इनके समावेश के लिए 'भेषजमेह' संज्ञा की कल्पना की है।

प्रमेहाणामुपद्रवान् व्याचष्टे—

अविपाकोऽरुचिश्छर्दिर्निद्रा कासः सपीनसः।
उपद्रवाः प्रजायन्ते मेहानां कफजन्मनाम् ॥ १८ ॥
बस्तिमेहनयोस्तोदो मुष्कावदरणं ज्वरः।
दाहस्तृष्णाऽम्लिका मूर्च्छा विड्भेदः पित्तजन्मनाम् ॥ १९ ॥
वातजानामुदावर्तः कम्पहृद्ग्रहलोलताः।
शूलमुन्निद्रता शोषः कासः श्वासश्च जायते ॥ २० ॥

(वा. नि. १०)

भोजन का परिपाक न होना, अरुचि, वमन, निद्रा की अधिकता, कास तथा प्रतिश्याय ये कफज प्रमेह के उपद्रव हैं।

बस्तिप्रदेश तथा शिश्न में सुई चुभने जैसी पीडा, अण्डकोष में फूटने के समान पीडा, ज्वर, दाह, प्यास, खट्टी डकार, मूर्च्छा तथा अतिसार ये पैत्तिक मेहों के उपद्रव हैं।

उदावर्त, शरीर में कम्पन, हृदय प्रदेश में जकड़ाहट, सब रसों को सेवन करने की इच्छा, शूल, निद्रानाश, शोष, कास तथा श्वास ये वातिक प्रमेहों के उपद्रव हैं ॥ १८-२० ॥

इदानीं कफजादिमेहानां कृच्छ्रसाध्यत्वमसाध्यत्वं च ज्ञापयितुं भेदेनोपद्रवानाह— अविपाकोऽरुचिरित्यादि। कफजे कास आर्द्रः, वातजे शुष्कः। तोदः संसर्गिवातजन्यः, मेहानां त्रिदोषजन्यत्वात्। मुष्कावदरणं पाकेन। अम्लिका अम्लोद्गारः। लोलता सर्वरसभक्षणेच्छा, इयं तु प्रभावाद्धातुक्षयाद्वा भवति, यथा वातग्रहण्यां 'गृद्धिः सर्वरसानाम्' इत्युक्तम् ॥ १८-२० ॥

विमर्श—सुश्रुत ने मक्खियों का शरीर पर या मूत्र पर बैठना और मांसोपचय को भी कफज मेह का उपद्रव माना है। पूयमेह तथा बस्तिकलाशोथ में बस्ति और शिश्न-दण्ड में पीडा होती है, अतः इसे पैत्तिकमेह का उपद्रव मानना उचित है। उदावर्त शब्द से मूत्र का अवरोध (Retention of urine) भी समझ सकते हैं। समस्त मेह (विशेषतया मधुमेह) के उपद्रव स्वरूप प्रमेहपिडका की उत्पत्ति भी चरकसम्मत है,[1] आधुनिक विद्वान् इसे कार्बङ्कल (Cardunole) कहते हैं। इसका वर्णन आगे किया जायेगा।

---

१. उपद्रवास्तु खलु प्रमेहिणां तृष्णातीसारज्वरदाहदौर्बल्यारोचकाविपाकाः पूतिमांसपिडकालजीविद्रध्यादयः' (च. नि. अ. ४)

प्रमेहाणामसाध्यतां वर्णयति—

यथोक्तोपद्रवाविष्टमतिप्रस्रुतमेव च।
पिडकापीडितं गाढः प्रमेहो हन्ति मानवम् ॥२१॥ (सु. सू. ३३)

उपर्युक्त उपद्रवों तथा धातु और मूत्र के अत्यधिक स्राव से युक्त और पिडका से आक्रान्त रोगी को चिरकालीन प्रमेह नष्ट कर देता है॥ २१॥

असाध्यतामाह—यथोक्तोपद्रवाविष्टमित्यादि। उक्तैरविपाकादिभिरन्यैश्च सुश्रुताद्युक्तैरुपद्रवैः; तद्यथा-कफजे आलस्यास्योपदेहशैथिल्यकफप्रसेकमक्षिकोपसर्पणादिकं, पित्तजे पाण्डुरोगादिकम्। अतिप्रस्रुतमिति। अतिशयं धातुमूत्रस्रावयुक्तम्। पिडकापीडितमिति। शराविकादिपिडकापीडितम्। गाढः कालप्रकर्षात्। यद्यपि पिडका अप्युपद्रवत्वेनाभिमताः; यदुक्तं चरके, 'उपद्रवास्तु खलु प्रमेहिणां तृष्णातीसारज्वरदाहदौर्बल्यारोचकाविपाकाः पूतिमांसपिडकालजीविद्रध्यादयः' (च. नि. अ. ४) इति, तथाऽपि पिडकानां पृथगुत्पादसूचनार्थं पृथक्करणम्। उक्तं च चरके,-'विना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः' (च. सू. अ. १७) इति अन्यदप्यसाध्यलक्षणं बोद्धव्यम्। यदाह चरकः,-'सपूर्वरूपाः कफपित्तमेहाः क्रमेण ये वातकृताश्च मेहाः। साध्या न ते पित्तकृतास्तु याप्याः साध्यास्तु मेदो यदि न प्रदुष्टम्' (च. चि. अ. ६) इति। अस्यार्थः,—ये कफजाः साध्यास्ते सपूर्वरूपाः सन्तोऽसाध्याः, पित्तकृतास्तु याप्या ये ते सपूर्वरूपा एवासाध्याः। सर्वरोगाणामेव यद्यपि पूर्वरूपानुवृत्तावसाध्यत्वमुक्तं, तथाप्यत्रासकलपूर्वरूपान्वयेऽसाध्यत्वम्, अन्यत्र तु सकलपूर्वरूपान्वये सतीति विशेषः। क्रमेणेति। स्वनिदानक्रमेण। तेन निजहेत्वादिकृता ये वातजाश्चत्वारो मेहास्ते पूर्वरूपरहिता अपि नहि साध्याः, ये तु पश्चाद्धात्वपकर्षणाद्वातानुबन्धेन वातजास्ते साध्या याप्या वा। अत एवोक्तं,-'या वातमेहान् प्रति पूर्वमुक्ता वातोल्वणानां विहिता क्रिया सा' (च. चि. अ. ६) इत्यादि॥ २१॥

विमर्श—यद्यपि पिडका भी प्रमेह का उपद्रव ही है जैसा कि चरक ने भी स्वीकार किया है तथापि प्रकृत में अन्य उपद्रवों से पिडका का वर्णन पृथक् किया गया है; क्योंकि पिडका प्रमेहातिरिक्त अन्य रोगों के परिणामस्वरूप भी उत्पन्न होती है। चरक ने कहा भी है कि—ये मेदोदुष्टि के कारण विना प्रमेह के भी उत्पन्न हो जाती हैं। इन लक्षणों के अतिरिक्त चरक ने कुछ और भी असाध्यतासूचक लक्षण बताये हैं—'पूर्वरूप के थोड़े से भी लक्षणों से युक्त प्रकृत्या साध्य कफजमेह भी असाध्य होते हैं, पैत्तिकमेह स्वभावतः याप्य हैं किन्तु पूर्वरूप के लक्षणों से युक्त होने पर ये भी असाध्य होते हैं। साधारणतया चारों वातिक मेह असाध्य होते हैं किन्तु जो कफज या पित्तज मेह धातुओं के अत्यधिक कर्षण से वातिक स्वरूप धारण करते हैं और मेदोदुष्टि अधिक न होतो वे साध्य या याप्य होते हैं'। इसी अवस्था की चिकित्सा का वर्णन चरक में मिलता है—

'या वातमेहान् प्रति पूर्वमुक्ता वातोल्वणानां विहिता क्रिया सा।' (च. चि. अ. ६।)

अर्थात् पहिले जो वातजमेही की चिकित्सा कही गयी है वह वातोल्वण मेहों की है अर्थात् कफज और पित्तज मेहों में यदि बीच में कहीं वात की अधिकता हो जाय या प्रकुपित हो जाय उसके लिए कही गयी है।

प्रकारान्तरेणासाध्यतां निरूपयति—

जातः प्रमेही मधुमेहिनो वा न साध्य उक्तः स हि बीजदोषात्।
ये चापि केचित्कुलजा विकारा भवन्ति तांस्तान् प्रवदन्त्यसाध्यान्॥
(च. चि. ६)

प्रमेह को उत्पन्न करने वाले दोष से उत्पादक बीज (शुक्र या शुक्रकीट के क्रोमोजोन नामक अवयव) के दुष्ट हो जाने से मधुमेही पिता की सन्तान यदि प्रमेही या मधुमेही होती है तो उसे विद्वान् असाध्य मानते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कुलज प्रवृत्ति वाले रोग (Hereditary diseases) भी गर्भारम्भक-बीजदोष के कारण असाध्य होते हैं ॥ २२ ॥

असाध्यतायाः प्रकारान्तरमाह-जात इत्यादि। श्लेष्ममेदसोरतिदुष्ट्या मूत्रमेदःश्लेष्मणामतिमाधुर्यान्मधुमेहिनो जातो यः प्रमेही स चाप्यसाध्यो भवतीति। बीजदोषादिति। प्रमेहारम्भकदोषदुष्टबीजजातप्रमेहित्वात्। मधुमेहशब्देन चात्र मेहमात्रमुच्यते, यदि तु वातिक उपेक्षितो वा मेहो मधुमेह उच्यते, तदा चेतरप्रमेहयुक्तमाता-पितृजनितप्रमेहिणो नासाध्यत्वमुक्तं स्यात्; किंच मधुमेहिना जनितस्य मधुमेहित्वमेव कारणानुरूपतया युक्तं, ततश्च मधुमेही मधुमेहिनो (वा) जातो न साध्य इति वक्तुमुचितं; तस्यासाध्यत्वमपि न वक्तव्यं मधुमेहस्यासाध्यत्वादेव। अन्यत्रापि मधुमेहशब्देन मेहमात्रमुक्तम्। यथा-'गुल्मी च मधुमेही च राजयक्ष्मी च यो नरः। अचिकित्स्या भवन्त्येते बलमांसपरिक्षयात्' (च. इ. अ. ९) इति। यदि ह्यत्र मधुमेहोऽभीष्टः स्यात्तदा बलमांसपरिक्षयादिति न कृतं स्यात्, तस्य स्वरूपत एवासाध्यत्वात्। यथा कियन्तःशिरसीयाध्याये-'उपेक्षयाऽस्य जायन्ते पिडका माधुमेहिकाः' (च. सू. अ. १७) इत्यादिना या मधुमेहसंबन्धित्वेनोक्तास्ता एव 'प्रमेहिणां याः पिडका मयोक्ताः' (च. चि. अ. ६) इत्यन्तेन च चिकित्सास्थाने प्रमेहिमात्रसंबन्धितयाऽनूद्य चिकित्सायां संयोजिताः। तस्माद्भाविनीं मधुमेहतामाश्रित्य सर्वं एव मेहा मधुमेहशब्दवाच्याः। उक्तं हि वाग्भटे-**'मधुरं यच्च मेहेषु प्रायो मध्विव मेहति। सर्वेऽपि मधुमेहाख्या माधुर्याच्च तनोरतः'** (वा. नि. अ. १०) **इति।** गदाधरेण **तु पिडकासंबन्धेनैव मधुमेहत्वमुक्तं यतश्चरके कियन्तःशिरसीयाध्याये** (च. सू. अ. १७) **मधुमेहमभिधाय पिडका उक्ता इति। तन्न मनोहरं, तत्र मधुमेहशब्देन प्रमेहमात्राभिधानात्। यदि तु मधुमेह एवाभीष्टः स्यात्, तदा 'उपेक्षयाऽस्य जायन्ते'-इत्युपेक्षणाभिधानमनुपपन्नं स्यात्, पिडकानां च मधुमेहभवानां चिकित्सोपदेशो व्यर्थः स्यादिति। कुलजमेहस्यासाध्यताप्रसङ्गेनापरेषामपि कुलजानामसाध्यत्वमाह-ये चापीत्यादि। केचिदिति। कुष्ठादयः कुलजा इति। पितृपितामहादिसम्भूताः। एतेन प्रमेहिपितृपितामहमातामहस्यापि प्रमेहमसाध्यं दर्शयति। ननु, यस्य पितामहः प्रमेही तस्य पिताऽपि प्रमेही, प्रमेहिजातत्वात्; तथा च सति 'जातः प्रमेही मधुमेहिनो वा न साध्य उक्तः स हि बीजदोषात्'-इत्यनेनैव गतार्थम्। नैवं, न हि प्रमेहिनो जात इत्येतावता उत्पन्नमात्र एव प्रमेही भवति, किं तर्हि कालवशेन दुष्टेरभिव्यक्त्या; यथा-कुष्ठिजातस्य कुष्ठम्; एतेन यदाऽनतिदुष्टबीजेन प्रमेहिजातेन पित्रा जन्यते पुरुषः प्रमेही सोऽप्यसाध्य इति। कुलजा इत्यनेनैव मेहस्याप्यसाध्यतायां लब्धतायां पुनस्तद्वचनं प्रमेहाणां प्रायेण सन्तानानुबन्धित्वप्रदर्शनार्थम्। उक्तं च,—प्रमेहोऽनुषङ्गिणाम्'** (च. सू. अ. २५) **इति ॥ २२ ॥**

विमर्श—गर्भ की उत्पत्ति पुरुषबीज और स्त्रीबीज तथा जीवात्मा के संयोग से होती है—**'शुक्रशोणितजीवसंयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भसंज्ञा भवति'** (च० शा० अ० ४) जिस प्रकार जीव के साथ सत्त्व या मन के संयोग से गर्भ और इसकी उत्पत्ति के पश्चात् बालक या मनुष्य में विशिष्ट प्रकार के आध्यात्मिक एवं मानस गुणों की अभिव्यक्ति होती हैं, ठीक वैसे ही भौतिक शरीर का निर्माण करने वाले पुरुषबीज और स्त्रीबीज के गुण-दोषों का प्रभाव भी सन्तान पर पड़ता है। ये गर्भोत्पादक बीज अनेक बीजावयवों के समूह हैं। इन्हें आजकल क्रोमोजोम कहा जाता है। शरीर के प्रत्येक अंग के गुण-दोष इन बीजावयवों के गुण-दोषों पर निर्भर रहते हैं। जिस अंग का उत्पादक बीजावयव विकृत होता है उससे उत्पन्न अंग भी अवश्य ही विकृति के

स्वरूप के अनुसार विकृत होगा। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन महर्षि चरक ने शारीर स्थान में किया है[1]। यदि किसी रोगी का सन्तानोत्पादक बीज प्रमेह उत्पन्न करने वाले दोष से विकृत है तो मूत्रवह अथवा उत्पादक संस्थान का निर्माण करने वाले अवयव के दुष्ट हो जाने से भावी सन्तान भी प्रमेही ही उत्पन्न होती है और इस प्रकार के प्रमेहियों में मौलिक दोष होने से चिकित्सा सफल नहीं हो पाती।

यद्यपि कारणानुरूप कार्य के सिद्धान्तानुसार पूर्वोक्त श्लोक का 'मधुमेही से उत्पन्न जो सन्तान मधुमेही होती है' यही अर्थ निकलता है। किन्तु प्रकृत में मधुमेह शब्द प्रमेहमात्र का द्योतक है। क्योंकि यदि वातिक अथवा उपेक्षित मेह को ही मधुमेह मानना अभीष्ट होता तो अन्य प्रकार के प्रमेहरोग-पीडित रोगियों की सन्तान को असाध्य कोटि में नहीं रखा जा सकता। इसके अतिरिक्त मधुमेहपीडित रोगी की सन्तान मधुमेही ही हो सकती है अन्य प्रमेही नहीं; क्योंकि उत्पादक बीज की दुष्टि मधुमेहोत्पादक दोष से हुई है, इसलिये उसके स्वरूप भी दुष्टि के अनुकूल ही होना चाहिये। इस प्रकार मधुमेही से उत्पन्न मधुमेही सन्तान का रोग असाध्य होता है' यह कथन भी निष्प्रयोजन ही प्रतीत होता है; क्योंकि मधुमेह तो स्वयं असाध्य है। इन अनुपपत्तियों को ध्यान में रखकर ही मधुमेह से मेह सामान्य का ग्रहण करना उचित माना गया है। चरक के इन्द्रियस्थान में भी प्रमेह सामान्य के लिये मधुमेह शब्द का व्यवहार किया है—

गुल्मी च मधुमेही च राजयक्ष्मी च यो नरः।
अचिकित्स्या भवन्त्येते बलमांसपरिक्षयात्॥ (च० इ० अ० ९)

यदि यहाँ मधुमेह ही अभीष्ट होता तो उसके साथ बल-मांस-परिक्षय लक्षण लगाने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि वह स्वरूप से ही असाध्य होता है। इसी तरह कियन्तःशिरसीय अध्याय में चरक ने प्रमेहपिडका के लिये मधुमेहपिडका शब्द का व्यवहार किया है—**'उपेक्षयाऽस्य जायन्ते पिडका माधुमेहिकाः।'** (च० सू० अ० १७)। पिडका केवल मधुमेह का ही उपद्रव नहीं है, क्योंकि चरक ने सभी प्रमेहों से पिडका की उत्पत्ति मानी है, और उनकी चिकित्सा का निर्देश भी किया है—

प्रमेहिणां याः पिडका मयोक्ता रोगाधिकारे पृथगेव सप्त।
ताः शल्यविद्भिः कुशलैश्चिकित्स्याः शस्त्रेण संशोधनरोपणैश्च॥ (च० चि० अ० ६)

शंका होती है कि 'जब सभी कुलज (पिता, पितामह, माता, मातामह आदि से परम्पराप्राप्त) रोग असाध्य होते हैं तो प्रमेह को अलग से कहने का तात्पर्य क्या है ? उत्तर है कि प्रमेह रोगी की सन्तान अल्पदुष्टबीज पिता से उत्पन्न होने पर भी प्रायः प्रमेही होती हैं, यह जनाने के लिये अलग पाठ है। इसीलिये चरक ने कहा है-**'प्रमेहोऽनुषङ्गिणाम्'** अर्थात् प्रमेह रोग कुल परम्परागत रोगों में सबसे अधिक प्रबल होता है। अन्य रोगों में इस प्रकार का प्रायोभावित्व कम होता है। इसके अतिरिक्त प्रमेह का प्रकरण होने से उसे विशेषता दी गयी है। मधुमेही की सन्तान मधुमेही होती है किन्तु यह नियम नहीं है कि जन्म से ही उसमें लक्षण व्यक्त हो जांय। यदि पिता को पचास वर्ष की आयु में मधुमेह हुआ तो पुत्र को चालिस या साठ वर्ष की आयु में हो सकता है।

---

१. 'यस्य यस्य ह्यङ्गावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति तस्य तस्य ह्यङ्गावयवस्य विकृतिरुपजायते' (च० शा० अ० ४)।

उपेक्षितानां सर्वेषां मेहानां मधुमेहत्वं प्रतिपादयति—

सर्व एव प्रमेहास्तु कालेनाप्रतिकारिणः ।
मधुमेहत्वमायान्ति तदाऽसाध्या भवन्ति हि ॥ २३ ॥
(सु. नि. ६)

समय पर उचित उपचार न करने से सभी प्रमेह मधुमेह में परिणत होकर असाध्य कोटि में पहुँच जाते हैं ॥ २३ ॥

मधुमेहस्वरूपं विवेचयति—

मधुमेहे मधुसमं जायते स किल द्विधा ।
क्रुद्धे धातुक्षयाद्वायौ दोषावृतपथेऽथवा ॥ २४ ॥
आवृतो दोषलिङ्गानि सोऽनिमित्तं प्रदर्शयन् ।
क्षणात्क्षीणः क्षणात्पूर्णो भजते कृच्छ्रसाध्यताम् ॥ २५ ॥

मधुमेह में रोगी मधु के समान मूत्रत्याग करता है । यह दो प्रकार से होता है, एक धातुक्षय से प्रकुपित वायु से और दूसरा पित्त या कफ से आवृत वायु के द्वारा उत्पन्न होता है । आवृत वायु से उत्पन्न मधुमेह में आवरक दोष एवं वायु के लक्षण भी प्रकट हो जाते हैं तथा अकस्मात् ये लक्षण कभी कम और कभी अधिक होते हैं और क्रमशः रोग कृच्छ्रसाध्य हो जाता है ॥ २४-२५ ॥

मधुमेहस्य निरुक्तिमाह—

मधुरं यच्च मेहेषु प्रायो मध्विव मेहति ।
सर्वेऽपि मधुमेहाख्या माधुर्याच्च तनोरतः ॥२६॥ (वा. नि. १०)

चूंकि मधुमेह में रोगी मधु के समान मधुर मूत्र का त्याग करता है और शरीर में भी माधुर्य रहता है अतः इसे और इन विकारों से युक्त होने पर सभी प्रमेहों को मधुमेह कहते हैं ॥ २६ ॥

उपेक्षया हि पित्तकफजानामपि मधुमेहत्वं प्रदर्शयितुमाह–सर्व एवेत्यादि । धातुक्षयावरणाभ्यां कुपितवातेन मधुमेहसंभवमाह–मधुमेह इत्यादि । मधुसममिति । 'मूत्रम्' इति शेषः । स इति मधुमेहः । सावरणलिङ्गमाह–आवृत इत्यादि । आवृत इति । आवृतवातकृतः। दोषलिङ्गानीति। येन पित्तादिना आवृतस्तस्य वातस्य च लिङ्गानि प्रदर्शयति। अनिमित्तमकस्मात् । क्षणात् क्षीणः क्षणात्पूर्ण इति । आवरणेन पुनः पूर्णो भवन् कृच्छ्रसाध्यो भवति । तथा च–चरकः,–'स मारुतस्य पित्तस्य कफस्य च मुहुर्मुहुः । दर्शयत्याकृतिं गत्वा क्षयमाप्याय्यते पुनः' (च. सू. अ. १७) इति । धातुक्षयकुपितवातजस्य तु केवलवातजमेव लिङ्गम् । गदाधरस्त्वाह–मधुमेहः सावरणवायुनैव क्रियते । यदाह चरकः,–'तैरावृतगतिर्वायुरोज आदाय गच्छति । यदा बस्तिं तदा कृच्छ्रो मधुमेहः प्रवर्तते' (च. सू. अ. १७) इति । केवलवातजेषु तु कषायादिवमनाद्यतियोगादिकृतेषु धातुक्षयजेषु वायोरावरणं नास्तीति भेदः । मधुमेहशब्दप्रवृत्तिमाह–मधुरं यच्च मेहेष्वित्यादि ॥ २३-२६ ॥

विमर्शः—मधुमेह का प्रधान कारण वायु है । इसका प्रकोप धातुक्षय तथा अन्य दोषों के आवरण से हो सकता है । प्रमेह में शरीर की पोषक धातुओं का क्षय होता है । इस प्रकार पैत्तिक या कफज मेहों की उपेक्षा करने से धातुयें अत्यधिक क्षीण हो जाती हैं जिससे वायु प्रकुपित होकर मधुमेह को उत्पन्न करती है । आधुनिक विद्वान् मधुमेह को प्राङ्गोदीयों (Carbohydrates) के समवर्त की विकृति का परिणाम मानते हैं, इसका वर्णन पीछे (पृ० १६) हो चुका है । वस्तुतः यह

रोग वृद्धावस्था में जब कि सब धातुयें क्षीण होने लगती हैं विशेषतः उत्पन्न होता है। साधारणतया सभी मेह त्रिदोषज होते हैं। यदि वायु स्वकारणों से प्रकुपित होती है तो वातिक लक्षण प्रधानरूप में मिलेंगे। यदि वह किसी दोष से आवृत है तो उस दोष के लक्षणों की अभिव्यक्ति भी होती है। यदि कफजमेह मधुमेह में परिणत हुआ है तो कफजन्य लक्षण गौण हो जाते हैं, किन्तु कभी कभी उसके लक्षण भी व्यक्त हो जाते हैं। और मधुमेह के लक्षण भी कम या अधिक होते रहते हैं। इस प्रकार बार बार आक्रमण होने से साध्य प्रमेह भी असाध्य हो जाते हैं। इससे यह भी द्योतित होता है कि आवरणदोष-जनित मधुमेह आरम्भ में साध्य हो सकता है। तथा धातुक्षयजनित वात से उत्पन्न मधुमेह में वातिक लक्षण मात्र होते हैं और वह यदि स्वतन्त्ररूप से उत्पन्न है तो असाध्य ही होगा। अर्थात् कफज और पित्तज मेह जो क्रमशः साध्य या याप्य कहे गए हैं उनकी उचित और समय पर चिकित्सा न करने पर वे मधुमेह में परिणत हो कर और कष्टसाध्य हो जाते हैं किन्तु रोग के बार बार आक्रमण होने पर वे असाध्य हो जाते हैं। तथा आवरणदोष-जनित या उपेक्षित-प्रमेहजन्य मधुमेह कष्टसाध्य; किन्तु स्वतन्त्र वातकोपजन्य मधुमेह असाध्य होता है। मधुसम शब्द से केवल मधुमेही के मूत्र की मधुरता, कषायता तथा रूक्षता का ही ग्रहण करना चाहिए उसकी घनता का नहीं; क्योंकि मधुमेही का मूत्र जलबहुल होता है।

माधुर्याच्च तनोः—तनु या शरीर के माधुर्य से रक्तगत शर्करा की वृद्धि समझनी चाहिए। इस रोग में रक्तगत-शर्करा की वृद्धि के साथ-साथ मूत्र द्वारा भी उसका उत्सर्ग होता है। शरीर क्रिया विज्ञान की दृष्टि से इसे मधुमेहयुक्त परम मधुमयता (Hyperglycaemia with glycosuria) कहते हैं। इक्षुमेह से इसका यही भेद है। मधुमेह (Diabetes) में शरीर का मधुर होना या रक्तगत शर्करा का वृक्कदेहली-मर्यादा (Renal threshold) से अधिक होना आवश्यक है, जब कि इक्षुमेह में रक्तगत शर्करा की वृद्धि नहीं होती है। (देखिए पृ० १६)

प्रमेहपिडका आह—

शराविका कच्छपिका जालिनी विनताऽलजी।
मसूरिका सर्षपिका पुत्रिणी सविदारिका ॥ २७ ॥
विद्रधिश्चेति पिडकाः प्रमेहोपेक्षया दश।
सन्धिमर्मसु जायन्ते मांसलेषु च धामसु ॥ २८ ॥ (बा. नि. १०)

प्रमेह की उपेक्षा से सन्धि, मर्म तथा मांसल भागों में शराविका, कच्छपिका, जालिनी, विनता, अलजी, मसूरिका, सर्षपिका, पुत्रिणी, विदारिका तथा विद्रधिका ये पिडकायें उत्पन्न होती हैं ॥ २७-२८ ॥

प्रमेहोपेक्षया पिडकासंभवं दर्शयितुमाह—शराविकेत्यादि। इह दशपिडकासु विनतायाः पाठो भोज**विरुद्धः,** भोजे **हि नव पिडकाः; तद्यथा—शराविका सर्षपिका कूर्मिका जालिनी तथा। कुलत्थिकाऽलजी पुत्री विदारी विद्रधिस्तथा॥ नवैताः पिडका ज्ञेयाः' इत्यादि। कुलत्थिका** भोजे **मसूरिका ज्ञेया; किंतु** भोज **एव विनता न्यूनेति वक्तुं सुकरं,** सुश्रुते चरके **च विनताया दर्शनात्।** चरके **तु सप्त पिडकाः। तद्यथा—'शराविका कच्छपिका जालिनी सर्षपी तथा। अलजी विनताख्या च विद्रधी चेति सप्तमी'** (च. सू. अ. १७) **इति। तत्र प्रायोभावात् सप्तानामभिधानम्। यतस्तेनैव कियन्तःशिरसीये 'तथाऽन्याः पिडकाः सन्ति' इत्यादिनाऽधिकपिडकासंभवः सूचितः। प्रमेहोपेक्षयेत्यभिधानं मधुमेहेन प्रमेह-मात्रेण च पिडकासंभवं दर्शयति। अत एव 'विना प्रमेहमप्येताः'** (च. सू. अ. १७) **इत्यत्र प्रमेहमात्रग्रहणं कृतम्। धामस्विति स्थानेषु॥ २७-२८ ॥**

विमर्श—प्रमेहरोग से पीड़ित मेदस्वी व्यक्तियों में पिडकायें अधिक उत्पन्न होती हैं।[1] साधारणतया सभी प्रमेहों के उपद्रवस्वरूप पिडकायें उत्पन्न हो सकती हैं किन्तु मधुमेह, (Diabetes mellitus), इक्षुमेह (Renal glycosuria), वसामेह (Lipuria) और मज्जमेह (Chyluria) इस रोग के प्रमुख कारण हैं। इसके अतिरिक्त दुर्बलता करनेवाले ज्वर-सदृशरोग भी इसके कारण हैं। अत एव चरक ने कहा है—**'विना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः'**

पूयजनक स्तबक गोलाणु (Staphylococcus) इस रोग की उत्पत्ति का प्रधान कारण है। आजकल इस रोग को कार्बङ्कल (Carbuncle) कहते हैं।

चरक ने पुत्रिणी, विदारिका तथा मसूरिका को न मानकर केवल सात प्रकार की ही पिडकाओं का वर्णन किया है किन्तु अन्य प्रकार की पिडकाओं की सम्भावना भी माना है। **'तथाऽन्याः पिडकाः सन्ति।'** भोजने विनता को छोड़ दिया है और मसूरिका के स्थान पर कुलत्थिका कहा है। इस प्रकार केवल नव भेद ही माना है।

प्रमेह-पिडका

चरक	सुश्रुत	वाग्भट	भोज
१ शराविका	शराविका	शराविका	शराविका
२ कच्छपिका	कच्छपिका	कच्छपिका	कूर्मिका
३ जालिनी	जालिनी	जालिनी	जालिनी
४ सर्षपी	सर्षपी	सर्षपिका	सर्षपिका
५ अलजी	अलजी	अलजी	अलजी
६ विनता	विनता	विनता	—
७ विद्रधि	विद्रधिका	विद्रधि	विद्रधि
८ —	मसूरिका	मसूरिका	कुलत्थिका
९ —	पुत्रिणी	पुत्रिणी	पुत्रिका
१० —	विदारिका	विदारिका	विदारी

पिडकानां लक्षणान्याह—

अन्तोन्नता तु तद्रूपा निम्नमध्या शराविका।
गौरसर्षपसंस्थाना तत्प्रमाणा च सर्षपी॥ २९॥
सदाहा कूर्मसंस्थाना ज्ञेया कच्छपिका बुधैः।
जालिनी तीव्रदाहा तु मांसजालसमावृता॥ ३०॥
अवगाढरुजाक्लेदा पृष्ठे वाऽप्युदरेऽपि वा।
महती पिडका नीला विनता नाम सा स्मृता॥ ३१॥
महत्यल्पचिता ज्ञेया पिडका चापि पुत्रिणी।
मसूराकृतिसंस्थाना विज्ञेया तु मसूरिका॥ ३२॥
रक्ता सिता स्फोटचिता दारुणा त्वलजी भवेत्।

---

१. तत्र वसामेदोभ्यामभिपन्नशरीरस्य त्रिभिर्दोषैश्चानुगतधातोः प्रमेहिणो दश पिडका जायन्ते'। (सु० नि० अ० ६)

विदारीकन्दवद् वृत्ता कठिना च विदारिका ॥ ३३ ॥
विद्रधेर्लक्षणैर्युक्ता ज्ञेया विद्रधिका तु सा । (सु. नि. ६)

किनारों पर उठी हुई और बीच में दबी हुई पिडका को **शराविका** कहते हैं। **सर्षपी** पिडका सफेद सरसों के समान आकार और प्रमाण वाली होती है। दाहयुक्त एवं कछुवे के पृष्ठ के समान कठोर उभड़ी हुई और चिकनी पिडका को **कच्छपिका** कहते हैं। **जालिनी** नाम की पिडका में तीव्र दाह तथा मांसजाल रहता है। अत्यधिक पीडा और क्लेद से युक्त पृष्ठ अथवा उदर पर होनेवाली बड़ी और नीलवर्ण की पिडका को **विनता** कहते हैं। बड़ी और समीप में छोटी-छोटी अनेक फुन्सियों से युक्त पिडका को **पुत्रिणी** कहते हैं। मसूर के आकार की पिडका **मसूरिका** कहलाती है। लाल और श्वेत वर्ण की फुन्सियों से युक्त भयंकर पिडका **अलजी** कहलाती है। विदारीकन्द के समान गोल और कठिन पिडका को **विदारिका** कहा जाता है। विद्रधि के लक्षणों से युक्त पिडका को **विद्रधिका** कहते हैं ॥ २९-३३ ॥

सर्वासामाकृतिमाह—अन्तोन्नतेत्यादि। तद्रूपेति शरावरूपा। अल्पाचिता अल्पपिडकान्तराचिता। विद्रधेर्लक्षणैर्युक्तेत्यभिधानेन विद्रधेरस्या भेदो बोध्यः ॥ २९-३३ ॥

विमर्श—वस्तुतः यह एक ही व्याधि है किन्तु पिडकाओं की आकृति तथा कुछ लक्षण-भिन्नता के कारण इसके भेद किये गये हैं। चिकित्सा की दृष्टि से इनमें विशेष अन्तर नहीं है। मांसल स्थान गुदा (Perineum) आदि, मर्मस्थानों में ये प्रायः होती हैं। वस्तुतः जिस स्थान पर पोषण या रक्तसंवहन कम होता है वहीं यह पिडका पायी जाती है। इस प्रकार इस अवस्था को अधस्त्वक् धातुओं (Subcutaneous tissues) में होनेवाला स्थानीय कोथ या निर्जीवाङ्गता (Localised gangrine) कह सकते हैं। इसके लक्षण निम्न हैं—

(१) मध्य में एक बड़ी पिडका रहती है और उसके चारों ओर अनेक सच्छिद्र फुन्सियाँ रहती हैं। इसका सादृश्य पुत्रिणी से किया जा सकता है।

(२) दाह, पीडा, रक्तिमा, स्पर्शनासहता (Tenderness) जैसे व्रणशोथ के लक्षण मिलेंगे।

(३) पीला चमकीला पूय का स्राव होता है। स्राव में पूयजनक स्तवक गोलाणु (Staphylococcus) भी मिलते हैं।

(४) आक्षेप, प्रलाप सदृश विषमयता के लक्षण भी अभिव्यक्त हो जाते हैं।

पिडकादोषयोः सम्बन्धं निरूपयति—

ये यन्मयाः स्मृता मेहास्तेषामेतास्तु तन्मयाः ॥ ३४ ॥ (सु. नि. ६)

जो प्रमेह जिस दोष से होता है उससे होनेवाली पिडका में भी उस दोष की प्रधानता रहती है ॥

पिडकानां सामान्यमारम्भककारणमाह—

विना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः ।
तावच्चैता न लक्ष्यन्ते यावद्वास्तुपरिग्रहः ॥३५॥ (च. सू. १७)

मेद की दुष्टि होने पर पिडकायें बिना प्रमेह के भी उत्पन्न हो जाती हैं। जब तक ये अपना विस्तार नहीं कर लेतीं तब तक विशेष लक्षण व्यक्त नहीं होते ॥ ३५ ॥

पिडकानामारम्भककारणमाह—ये यन्मया इत्यादि। तन्मया इति निर्देशः क्वचिदपवादविषयेऽप्युत्सर्गोऽभिनिविशत इति ङीपं बाधित्वा टापा साधनीयः। तद्दोषं मत्वा कैश्चित् 'तत्कृताः' इति पाठान्तरं कृतम्। अयमत्र पिण्डार्थः—यो यद्दोषोल्बणो मेहस्तद्दोषोल्बणेनैव पिडका भवन्ति। ननु, जालिन्यां तीव्रदाहः पठितः, स च पित्तकृतः, भोजेऽपि जालिनी

पित्तकृतैव पठिता, यथा—'परस्पराभिसंबन्धा पिडका चैकदेशजा। पित्तोत्कटा दाहवती भृशरुग् जालिनी मता' इति। तत्कथं जालिन्यां पित्तजत्वनियमाद् ये यन्मयेत्यादिग्रन्थार्थसंगतिः ? नैवं, प्रचुरपिडकानां तन्मयत्वेन बाहुल्येनाभिधानं; यथा—छत्रिणो गच्छन्तीति गदाधरः; किंवा स्वमहिम्ना जालिनी पित्तप्रधाना भवति, श्लेष्मवातजमेहभवत्वेन श्लेष्मवातप्रधाना च तेन दोषत्रयप्रधानत्वात् सर्वदा सा भवति। अन्यस्त्वाह—तीव्रदाहत्वं पीत्तोत्कटत्वं च पैत्तिकमेहजायां जालिन्यामवगन्तव्यम्, अन्यमेहजा त्वन्यदोषोत्कटा निर्दाहा च। अत एव चरके—जालिनी कफोल्वणा निर्दाहा एव पठिता। तद्यथा—'शराविका कच्छपिका जालिनी चेति दुःसहा। जायन्ते ता ह्यतिबलाः प्रभूतश्लेष्ममेदसाम्॥ स्तब्धा सिराजालवती स्निग्धस्रावा महाश्रया। रुजानिस्तोदबहुला सूक्ष्मच्छिद्रा च जालिनी' (च. सू. अ. १७) इति। न चातिप्रसक्तिः, उक्तं हि चरके समर्थ्यते, अस्मिंश्च समाधाने 'ये यन्मया' इत्यादि न व्याहन्यते। चरक-भोजवचनयोश्चाविरोधार्थं यत्नान्तरं मृग्यम्। कार्तिकस्त्वाह—पाककाले पित्तोत्कटत्वं 'तस्माद्धि सर्वान् परिपाककाले पचन्ति शोथांस्त्रय एव दोषाः' (सु. सू. अ. १७) इति वचनात्; एतत्तु सर्वत्राविशेषान्नाद्रियते॥ ३४–३५॥

विमर्श—जालिनी पिडका में दाह होता है और दाह पित्त से होता है। भोज ने भी—

परस्पराभिसंबन्धा पिडका चैकदेशजा। पित्तोत्कटा दाहवती भृशरुग् जालिनी मता॥

'एकदेश में होनेवाली परस्पर एक दूसरे से संबंधित पित्तप्रधान, दाह और पीडायुक्त यह पिडका जालिनी कहलाती है।' जालिनी को पित्तजा ही माना है। फिर यदि यह वातिक या श्लैष्मिक प्रमेह के कारण हो तो दाह नहीं होना चाहिए। इसके समाधान निम्न हैं :—

(१) **'छत्रिणो गच्छन्ति'** के अनुसार बाहुल्य से व्यपदेश कर लेंगे अर्थात् अन्य पिडकाएँ तो उसी दोष के कारण होती हैं जो प्रमेह का कारण होता है किन्तु जालिनी पित्तकृत होते हुए भी **'ये यन्मया'** आदि समादिष्ट है।

(२) जालिनी अपनी महिमा से पित्तप्रधान होती है। किन्तु जब श्लैष्मिक या वातिक मेह में होती है तो वह **'यन्मयाः'** के अनुसार कफज या वातिक होती है।

(३) सर्वदा त्रिदोषज होती है।

(४) तीव्र दाह आदि लक्षण पैत्तिक जालिनी में होते हैं। अन्य स्थानों में तो निर्दाह होती है। इसी लिए चरक ने इसे कफोल्बण एवं निर्दाह माना है।

शराविका कच्छपिका जालिनी चेति दुःसहाः। जायन्ते ता ह्यतिबलाः प्रभूतश्लेष्ममेदसाम्॥
स्तब्धा सिराजालवती स्निग्धस्रावा महाशया। रुजानिस्तोदबहुला सूक्ष्मच्छिद्रा च जालिनी॥
(च० सू० १७)

(५) पाक काल में पित्त उत्कट होता है।

पिडकाया असाध्यतामाह—

गुदे हृदि शिरस्यंसे पृष्ठे मर्मसु चोत्थिताः।
सोपद्रवा दुर्बलाग्नेः पिडकाः परिवर्जयेत्॥ ३६॥ (सु. नि. ६)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने प्रमेह-प्रमेहपिडकानिदानं समाप्तम्॥ ३३॥

दुर्बल अग्निवाले रोगी के गुदा (Perineum या गुद प्रदेश), हृदय प्रदेश, सिर या चेहरे या पीठ और मर्मस्थानों में होनेवाली उपद्रवयुक्त पिडकायें असाध्य होती हैं॥ ३६॥

असाध्यपिडकालक्षणमाह—गुद इत्यादि। सोपद्रवा इति उपद्रवाश्च तृट्कासादयः। यथाह चरकः—**'तृट्कासमांससंकोचमोहहिक्कामदज्वराः। विसर्पमर्मसंरोधाः पिडकानामुपद्रवाः' (च. सू. अ. १७) इति। पिडकास्तु प्रायेणाधः काय एव, दोषदूष्याणामधः**

प्रसरणात्, 'रसायनीनां च दौर्बल्यान्नोर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति प्रमेहिणां दोषाः (सु. चि. अ. १२) इति वचनाच्च । केचिदाहुः-स्त्रीणां प्रमेहो न भवतीति । तथाच तन्त्रान्तरे,—'रजःप्रसेकान्नारीणां मासि मासि विशुध्यति । सर्वं शरीरं दोषाश्च न प्रमेहन्त्यतः स्त्रियः'—इति । किंतु स्त्रीषु प्रमेहदर्शनात्, एतद्धेतुबलादन्यरोगासंभवत्वाच्चैतत् प्रायोवादमाश्रित्योक्तम् । मेहनिवृत्तिलक्षणं च सुश्रुते पठितम् । तद्यथा—'प्रमेहिणो यदा मूत्रमनाविलमपिच्छिलम् । विशदं तिक्तकटुकं तदाऽऽरोग्यं प्रचक्षते' (सु. चि. अ. १२) इति ॥ ३६)

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां प्रमेह-प्रमेहपिडकानिदानं समाप्तम् ॥ ३३ ॥

विमर्श—पिडकाओं के उपद्रव—'**तृट्कासमांससंकोच**········(मधुकोश) प्यास, खांसी, मांसक्षय, मोह (मूर्च्छा), हिचकी, वैचित्य, ज्वर, विसर्प तथा मर्म (हृदय, बस्ति और सिर) में अवरोध ये पिडकाओं के उपद्रव हैं ।

प्रमेहमुक्त या शुद्ध मूत्र के लक्षण—'**प्रमेहिणो यदा मूत्रम्**······' (मधुकोश) जिस प्रमेही का मूत्र स्वच्छ, विशद, पिच्छिलतारहित तथा रस में तिक्त और कटु हो जाये तो उसे प्रमेह से मुक्त समझना चाहिये ।

स्त्रियों को प्रमेह होता है अथवा नहीं ?

सुश्रुत के उपर्युक्त सूत्र में पुरुष शब्द का ही ग्रहण करने से कतिपय विद्वानों का यह मत है कि स्त्रियों को प्रमेह नहीं होता—**रजःप्रसेकान्नारीणां मासि मासि विशुध्यति । सर्वं शरीरं दोषाश्च न प्रमेहन्त्यतः स्त्रियः ॥** उनका कहना है कि प्रतिमास रजःस्राव के कारण स्त्रियों का सम्पूर्ण दोष और शरीर शुद्ध हो जाता है अतः उन्हें प्रमेह नहीं होता । वस्तुतः उक्त कथन सर्वशास्त्रसम्मत नहीं है, इसका निर्देश डल्हणाचार्य ने अपनी टीका में किया है—'**एतत्तु न युक्तं, सर्वतन्त्राप्रसिद्धेः प्रत्यक्षविरोधाच्च**' । पुरुषों का उदकमेह (Diabetes insipdus) और स्त्रियों का सोमरोग लक्षणों की दृष्टिसे समान ही है । स्त्रियों में मधुमेह भी देखा जाता है । किन्तु इस सम्बन्ध में इतना अवश्य स्वीकार करना चाहिये कि स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा मधुमेह से बहुत कम पीडित होती हैं । इस प्रकार संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि गर्भाशय या उत्पादकसंस्थानसम्बन्धी मेह स्त्रियों को भले ही न हो किन्तु वृक्कविकारजन्य मेह तो उन्हें भी होते ही हैं । उपर्युक्त कथन को हम नीचे ऐसे भी संगठित कर सकते हैं ।

(१) दोष और दूष्य स्त्री एवं पुरुष दोनों में समान ही होते हैं । यदि मेहवर्धक आहार-विहारों का सेवन किया गया तो स्त्रियों को भी अवश्य प्रमेह होगा—शास्त्र में इसके विपरीत कोई वचन नहीं मिलता एवं प्रत्यक्ष में ऐसा देखा जाता है ।

(२) सुश्रुत ने मेहनिवृत्ति के जो लक्षण कहे हैं उनमें भी स्त्री-पुरुष का भेद न कर '**प्रमेहिणः**' कहा है इससे भी स्त्री पुरुष दोनों का समावेश इसमें हो जाता है ।

(३) मासिक स्राव से शरीर की जब शुद्धि हो जाती है तो फिर स्त्रियों को कोई भी रोग विशेषतः प्रजनन-संस्थान के ही अन्य विकार क्यों होते हैं क्यों कि सबसे अधिक शुद्धि उसी अंग की होती है ।

(४) आस्यासुख आदि निदानों का यदि स्त्रियाँ सेवन करें तो उन्हें कौन रोग होगा—इससे प्रमेह ही होगा ऐसा अनुमान, एवं तर्क से सिद्ध है—और होता है ऐसा प्रत्यक्ष है ।

(५) '**रजः प्रसेक**' आदि श्लोक प्रायिक हैं अर्थात् स्त्रियों में प्रमेह कम या पुरुषों की अपेक्षा कम ही होता है । प्रत्यक्ष में ऐसा देखा भी जाता है ।

इति प्रमेहनिदानं समाप्तम्

अथ मेदोरोगनिदानम्

मेदसो हेत्वादिवर्णनं करोति—

अव्यायामदिवास्वप्नश्लेष्मलाहारसेविनः ।
मधुरोऽन्नरसः प्रायः स्नेहान्मेदः प्रवर्धयेत् ॥ १ ॥
मेदसाऽऽवृतमार्गत्वात् पुष्यन्त्यन्ये न धातवः ।
मेदस्तु चीयते तस्मादशक्तः सर्वकर्मसु ॥ २ ॥
क्षुद्रश्वासतृषामोहस्वप्नक्रथनसादनैः ।
युक्तः क्षुत्स्वेददौर्गन्ध्यैरल्पप्राणोऽल्पमैथुनः ॥ ३ ॥
मेदस्तु सर्वभूतानामुदरेष्वस्थिषु स्थितम् ।
अत एवोदरे वृद्धिः प्रायो मेदस्विनो भवेत् ॥ ४ ॥

व्यायाम का अभाव, दिवास्वप्न तथा श्लेष्मवर्धक आहार का सेवन करने से अन्नरस मधुरतायुक्त और स्निग्ध होने से मेद को उत्पन्न करता है। मेद के द्वारा स्रोतों में अवरोध हो जाने से अन्य धातुओं का पोषण नहीं होता, केवल मेद की ही वृद्धि निरन्तर होती रहती है। इससे रोगी कोई भी काम नहीं कर पाता। वह क्षुद्रश्वास (थोड़े श्रम से श्वास-वेग का बढ़ जाना), प्यास, अज्ञान, निद्रा, कभी-कभी अकस्मात् श्वासावरोध, अंगशैथिल्य, अत्यधिक भूख, स्वेद तथा शरीर की दुर्गन्ध से पीडित रहता है। उसकी जीवनी एवं मैथुनशक्ति का भी ह्रास हो जाता है। सभी प्राणियों के उदर एवं छोटी अस्थियों में मेद का संचय हुआ करता है अतः मेदस्वी व्यक्ति का उदर ही अधिक बढ़ता है ॥ १-४ ॥

मेदस्वितायां बुभुक्षावृद्धौ कारणमाह—

मेदसाऽऽवृतमार्गत्वाद्वायुः कोष्ठे विशेषतः ।
चरन् सन्धुक्षयत्यग्निमाहारं शोषयत्यपि ॥ ५ ॥
तस्मात् स शीघ्रं जरयत्याहारमभिकाङ्क्षति ।
विकारांश्चाप्नुते घोरान् कांश्चित् कालव्यतिक्रमात् ॥ ६ ॥
एतावुपद्रवकरौ विशेषादग्निमारुतौ ।
एतौ तु दहतः स्थूलं वनदावो वनं यथा ॥ ७ ॥

मेद के द्वारा आवृत हुआ वायु विशेषतया आन्त्र में घूमता हुआ अग्नि को प्रदीप्त करके आहार शोषण करता है। इस प्रकार वह भोजन का शीघ्र परिपाक कर भूख को बढ़ा देता है। इस अवस्था में यदि भोजन न दिया जाय तो अनेक भयंकर उपद्रवों को उत्पन्न करता है। इस स्थिति में वायु और अग्नि ही विशेष रूप से उपद्रवों को उत्पन्न करते हैं। भोजन न मिलने पर ये स्थूल व्यक्ति को इस प्रकार जला देते हैं जैसे वनाग्नि वन को ॥ ५-७ ॥

असाध्यस्थितिं प्राह—

मेदस्यतीव संवृद्धे सहसैवानिलादयः।
विकारान् दारुणान् कृत्वा नाशयन्त्याशु जीवितम् ॥ ८ ॥

मेद के अत्यधिक बढ़ जाने पर वात आदि दोष सहसा भयंकर उपद्रवों को उत्पन्न करके रोगी के जीवन का नाश कर देते हैं ॥ ८ ॥

अतिस्थूलस्य परिभाषामाह—

मेदोमांसातिवृद्धत्वाच्चलस्फिगुदरस्तनः ।
अयथोपचयोत्साहो नरोऽतिस्थूल उच्यते ॥ ९ ॥ (च. सू. २१)

इति श्रीमाधवकरचिते माधवनिदाने मेदोनिदानं समाप्तम् ॥ ३४ ॥

मेद और मांस की अस्वाभाविक वृद्धि के कारण जिस व्यक्ति के नितम्ब, उदर और स्तन हिलने लगते हैं, तथा जिसके शरीर का गठन और उत्साह उचित नहीं है उसे अतिस्थूल कहा जाता है ॥ ९ ॥

'विना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदस' इत्यत्र मेदःसंकीर्तनान्मेदोदुष्टेरभिधानं, मेदोदुष्ट्या च स्थौल्यम्। मधुरोऽन्नरस इति मधुरप्राय आम इवान्नरसः संभवन् स्नेहान्मेदो जनयति। सुश्रुतेऽप्युक्तं-'आम इवान्नरसो मधुरतरश्च भवति'-इत्यादि। ननु मेदस्विनस्तीक्ष्णाग्नित्वात् कथमाम इवान्नरसो भवति? यदुक्तं चरके-'चरन् सन्धुक्षयत्यग्निं' (च. सू. स्था. २१) इति। अग्नौ च मन्दे आमोत्पादः; यदाह-'आमाशयस्थः कायाग्नेर्दौर्बल्यादविपाचितः। आद्य आहारधातुर्यः स आम इति कीर्तितः'-इति। उच्यते, श्लेष्मलाहाराध्यशनशीलत्वेन कदाचित् कालव्यतिक्रमभोजनेन च बहुविकारकरणाग्निव्यापत्तेरन्नरसस्यामतुल्यता, अथवा मधुरतरान्नरसोपलिप्तेऽन्नवहस्रोतसि सर्व एवान्नरसो मधुरतरो निष्पद्यते, यथा पित्तयुक्तेऽन्नवहस्रोतसि मधुररसस्यापि विदाहः। यदुक्तं-'स्रोतस्यन्नवहे पित्तं पक्तौ वा यस्य तिष्ठति। विदाहि भुक्तमन्यद्वा तस्याप्यन्नं विदह्यते' (सु. सू. स्था. ४६) इति, स चामतुल्यत्वादाम इत्युच्यते। अशक्तः सर्वकर्मस्विति मेदसः सौकुमार्यात्। क्षुद्रश्वासः 'रूक्षायासोद्भव' इत्यादिनाऽभिहितः। क्रथनमकस्मादुच्छ्वासावरोधः। मेदसेत्यादि चरन् सन्धुक्षयत्यग्निमिति मेदोरुद्धमार्गत्वात् कुम्भकारपवनन्यायेनान्तर्बलवान् वृद्धो वायुरग्निं दीपयति। अतिवृद्धस्तु वायुरग्निवैषम्यजनकः। विकारांश्चाप्नुते घोरानिति वातविकाराणामन्यतमान्; कालव्यतिक्रमात् भोजनकालव्यतिक्रमात्। विकारान् दारुणानिति प्रमेहपिडकाज्वरभगन्दरविद्रधिवातरोगाणामन्यतमान्। अयथोपचयोत्साह इति अयथावन्मांसोपचय उत्साहश्च यस्य स तथा ॥ १-९ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां मेदोनिदानं समाप्तम् ॥ ३४ ॥

विमर्श—मेदस्विता वह अवस्था है जिसके कारण शरीर में अत्यधिक वसा का संचय हो जाये। 'Obesity is a condition in which there is an excessive amount of body fat.'

('Medicine by Price')

मेदोवृद्धि के कारण—

(१) **सहज कारण**—कुछ जातियाँ हैं जिनमें स्वभाव से ही मेदोवृद्धि की प्रवृत्ति पाई जाती हैं। इनमें डच, दक्षिण जर्मनी के वासी, भारतीय, लङ्कावासी तथा कुछ अफ्रीका की जातियाँ मुख्य हैं।

(२) **सहायक कारण**-(क) **लिङ्ग**—पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में यह अधिक पाया जाता है।

(ख) आयु—साधारणतया किसी भी आयु में हो सकता है किन्तु चालीस वर्ष की आयु के पश्चात् यह अत्यधिक होता है।

(३) प्रधान कारण—(क) निस्रोत ग्रन्थियों की क्रियाहीनता। इन ग्रन्थियों में चुल्लिका ग्रन्थि (Thyroid gland) मुख्य है। इसके अतिरिक्त पीयूषग्रन्थि (Pituitary body), उप वृक्क ग्रन्थि (Suprarenal gland) तथा वृषणग्रन्थि (Testes) के अन्तःस्रावों की विकृति भी इसमें बहुत बड़ा भाग लेती है। इन ग्रन्थियों के स्राव की कमी से मौलिक समवर्त (Basal metabolism) भी कम हो जाता है जिससे सम्पूर्ण वसा का भञ्जन नहीं हो पाता और वह धातुओं में एकत्रित होने लगती है।

(ख) व्यायाम का अभाव। (ग) दिन में सोना।

(घ) अत्यधिक पौष्टिक (श्लेष्मल या मधुर) आहार का सेवन।

शरीर में वसा के संचय को देखकर यह अनुमान लगाना बहुत सरल है कि या तो रोगी आवश्यकता से अधिक पौष्टिक भोजन (High caloric diet) ग्रहण कर रहा है अथवा वह उस भोजन के ग्रहण करने पर भी उचित परिश्रम नहीं करता। मेदस्वी व्यक्तियों को भूख बहुत लगती है जिससे उन्हें भोजन अधिक करना पड़ता है। संचित हुई वसा पर व्यायाम का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। चौबीस घण्टे लेटे रहने वाले व्यक्ति के लिये १७०० कैलोरी उष्णता की आवश्यकता है। किन्तु चलने-फिरने वालों को इससे अधिक कैलोरी प्राप्त करने के लिये भोजन अधिक मात्रा में लेना पड़ता है। किन्तु जिस अवस्था में रोगी परिश्रम न करते हुए भी अत्यधिक पौष्टिक वसामय आहार (High caloric diet) लेता है तो सम्पूर्ण वसा का भंजन नहीं होता प्रत्युत वह धातुओं में सञ्चित हो जाती है। उपर्युक्त ग्रन्थियों के स्राव की हीनता का परिणाम भी यही होता है। श्लेष्मल आहार से यहाँ वसा और पिष्टमय आहार समझना चाहिये; क्योंकि यह आहार श्लेष्मप्रधान होते हैं। और वे ही मेदोवृद्धि में सर्वाधिक भाग भी लेते हैं। मद्य-सेवन से भी मेदोवृद्धि होती है। (विशेष विवेचन मदात्यय-प्रकरण में देखें)।

मधुरोऽन्नरसः—अपरिपक्व या अभञ्जित वसा ही मेद की वृद्धि करती है।

मेदसाऽऽवृतमार्गत्वात्—वसा का पूर्ण भञ्जन (Combustion) न होने से पर्याप्त शक्ति नहीं उत्पन्न होती। अत एव अन्य धातुओं का पोषण भी बन्द हो जाता है। शक्ति के अभाव से रोगी कुछ भी काम नहीं कर पाता। थोड़ा सा परिश्रम करने से ही उसका श्वास फूलने लगता है।

वसा-संचय के स्थान—त्वचा के नीचे, वपा (Greater omentum), आन्त्रनिबन्धिनी (Mesentery) तथा हृदय और वृक्क के चारों ओर वसा का संचय होता है।

लक्षण—

(१) रोगी की गतिशीलता कम हो जाती है।

(२) शरीर का गठन देखने में अच्छा नहीं लगता।

(३) क्षुद्र श्वास—साधारण परिश्रम से श्वास फूलता है।

(४) हृदयातिपात—इसका कारण वसामय अपजनन (Fatty degeneration of the heart) है।

(५) कच्छू या विचर्चिका (Eczyma) की प्रवृत्ति।

(६) मधुमेह (Diabetes mellitus) इस रोग की बहुत सम्भावना रहती है; क्योंकि मधुमेह की उत्पत्ति में मेदोदुष्टि अत्यन्त आवश्यक है। मेदोदुष्टि से प्रमेह-पिडका भी उपद्रवस्वरूप हो सकती है।

आचार्य चरक ने मेदोवृद्धि के आठ दोष और उनके कारण निम्न प्रकार से वर्णित किया है।

(१) मेदस्वी में मेद की ही अधिक वृद्धि होती है तथा अन्य धातुओं की कम अतः **आयु का ह्रास**

होता है । (२) शिथिलता, सुकुमारता एवं गुरुता के कारण जव (उत्साह) का अवरोध होता है। (३) शुक्र की कम उत्पत्ति होती है तथा मेद से मार्ग आवृत रहता है अतः मैथुन शक्ति भी हीन होती है । (४) धातुओं के वैषम्य के कारण दुर्बलता होती है । (५) दूषित मेद के स्वभाव से और स्वेद (जो कि मेद का ही मल है) की अधिकता से शरीर से दुर्गन्धि आती है । (६) कफ संसर्ग (समानगुणक होने से) तथा विष्यन्दनशीलता, स्वेद की अधिकता एवं थोड़े से भी व्यायाम को सहन करने की शक्ति न होने से स्वेदाबाध (पसीना बराबर आना) होता है । (७-८) (आभ्यन्तर रक्त संचार अधिक होने के कारण) जाठराग्नि तीक्ष्ण होने से एवं कोष्ठ में वायु की अधिकता से भूख और प्यास की अधिकता होती है । च० सू० २१ ।

समाप्तं चेदं मेदोरोगनिदानम् ।

अथोदररोगनिदानम्

उदररोगस्य निदानमाह—

रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ सुतरामुदराणि च ।
अजीर्णान्मलिनैश्चान्नैर्जायन्ते मलसंचयात् ॥ १ ॥ (वा. नि. १२)

शरीर में सम्पूर्ण रोग विशेषतः उदररोग अग्नि के मन्द होने पर अजीर्ण से, गन्दे अन्न से तथा मल के संचय से उत्पन्न होते हैं ॥ १ ॥

उदरोत्सेधसाधर्म्यादुदरनिदानम् । उदरस्य विशेषेण वह्निदुष्टिजन्यत्वमाह—रोगा इत्यादि । अग्निमान्द्यं च दोषत्रयजनकम् । यदुक्तं-'वर्षास्वग्निबले हीने कुप्यन्ति पवनादयः' (च. सू. स्था. ६) इति । मलिनैरिति अत्यर्थदोषजनकैर्विरुद्धाध्यशनादिभिः । मलसंचयादिति मला दोषाः पुरीषादयश्च, तेषामतिवृद्धत्वात् । तन्त्रान्तरं च-'अतिसंचितदोषाणां पापं कर्म च कुर्वताम् । उदराण्युपजायन्ते मन्दाग्नीनां विशेषतः' इति । यद्यपि मन्दाग्नित्वमलिनान्नत्वयोः प्रत्येकमपि दोषत्रयजनकत्वमस्ति तथाऽप्यत्रोभयहेतुजनकत्वेन दोषदुष्टिप्रकर्षः ख्याप्यते, अत एव दुष्टिप्रकर्षख्यापनार्थं मलसंचयादित्यत्र संपूर्वं कृतवान् ॥ १ ॥

विमर्श—प्रकृति में उदर शब्द एक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । इससे उत्सेधयुक्त सम्पूर्ण उदर रोगों का ग्रहण किया जाता है । आजकल इसे औदरिक वृद्धि (Generalised abdominal enlargement) कह सकते हैं ।

मन्देऽग्नौ—अग्नि की मन्दता ही सभी रोगों की जड़ है यह एक सामान्य एवं लोक में प्रचलित कहावत है । चरक ने भी कहा है कि वर्षा में अग्नि बल के हीन होने से वातादिक सारे दोष प्रकुपित हो जाते हैं । तन्त्रान्तर में भी उदर रोगों के तीन विशेष कारण बतलाये गये हैं ।

(१) मन्दाग्नि । (२) दोषों का अधिक संचय । (३) पापकर्म ।

१-और २-अन्योन्याश्रित हैं अर्थात् मन्दाग्नि से दोषों का संचय बढ़ता है और दोषों के संचय से मन्दाग्नि । आगे आचार्यों ने दुष्टिप्रकर्ष को अधिक प्रकाशित करने के लिए मल-संचय और मलिन अन्न का सेवन दोनों का एक साथ ही पाठ किया है । जब कि वे दोनों भी ऊपर की ही भाँति अन्योन्याश्रित हैं । इसका तात्पर्य यह भी है कि मन्दाग्निता, अजीर्ण एवं मलिन अन्न का सेवन प्रत्येक त्रिदोषप्रकोपक एवं मलसंचय-कारक होते हैं और एक दूसरे के भी जनक होते हैं अतः इनमें से कोई एक कारण भी उदर रोग का कारण हो सकता है । इतना ही नहीं वेगावरोध

आदि जनित मलसञ्चय भी पूर्वोक्त मन्दाग्निता आदि एवं उदर रोगों को उत्पन्न कर सकता है।

औदरिक उत्सेध के निम्न मुख्य कारण हैं—

(१) **मेदोवृद्धि** (Fat)—औदरिक कला में मेद का संचय होने से उदर फूल जाता है, नाभि का गर्त अधिक गहरा हो जाता है। उदर के अतिरिक्त स्फिक् तथा स्तनों में भी मेद की वृद्धि देखी जाती है। पीडन करने पर उदरप्राचीर में गढा नहीं बनता वह कड़ी रहती है। अङ्गुलिताडन करने से निनादित ध्वनि (Resonant) मिलती है। आसन बदलने पर ध्वनि में अन्तर नहीं होता।

(२) **वायु** (Gasses or flatus)—आध्मान की अवस्था में आन्त्र में वायु का संचय होने से उदर फूल जाता है। अंगुलिताडन से डिम-डिम ध्वनि मिलती है। उदर में हल्की-हल्की पीडा भी रहती है। गुड-गुड शब्द और अजीर्ण के लक्षण मिलते हैं। करवट बदलने पर इसमें भी ध्वनि में कोई अन्तर नहीं आता।

(३) **मल** (Faeces)—अजीर्ण या विबन्ध के कारण आन्त्र में मल का संचय होने से भी उदर फूल जाता है। हाथ से टटोलने पर आन्त्र में मल की गाँठें प्रतीत होती हैं इसके अतिरिक्त शिरःशूलः, मन्दाग्नि, अरुचि तथा आलस्य जैसे लक्षण भी पाये जाते हैं।

(४) **जल** (Fluid)—उदारावरणकला में जल का संचय हो जाने से भी उदर उत्सेधयुक्त हो जाता है। इस अवस्था में नाभि का गर्त लुप्त हो जाता है, पार्श्व तथा वस्तिप्रदेश में सूजन रहती है, अंगुलियों से दबाने पर गढा बनता है।

(५) **उदरस्थ अंगों की वृद्धि**—वस्ति, गर्भाशय, बीजकोष (Ovary), यकृत् एवं प्लीहा की वृद्धि से सम्पूर्ण उदर फूला हुआ दिखाई देता है।

(क) **बस्तिवृद्धि**—मूत्र के बाहर न निकलने से बस्ति का परिमाण बढ़ जाता है। इस अवस्था को मूत्रजठर (Distended bladder) कहते हैं। मूत्रनाडी (Catheter) से मूत्र निकाल देने पर उत्सेध नष्ट हो जाता है।

(ख) **गर्भाशय वृद्धि**—गर्भ की अत्यधिक वृद्धि से गर्भाशयप्रदेश अधिक बढ़ा हुआ मालूम होता है। कभी-कभी गर्भोदक की प्रचुरता के कारण सम्पूर्ण उदर फूला हुआ प्रतीत होता है। इस अवस्था को जलगर्भ (Hydramnios) कहते हैं। वस्तुतः यह कोई रोग नहीं है। मासिकधर्म की रुकावट, स्तनों की कृष्णता आदि गर्भ के लक्षणों को देखकर इसका निश्चय किया जा सकता है।

(ग) बीजकोश के सजलकोष या ग्रन्थि रोग में नाभि के नीचे एक पार्श्व में वृद्धि आरम्भ होती है और अतिवृद्धि होने एवं सम्पूर्ण उदर में व्याप्त होने पर भी प्रायः एक पार्श्व में और नीचे की ओर ही उसका अधिक प्रभाव रहता है।

(घ) यकृत् और प्लीहा वृद्धिजनित उदरवृद्धि का वर्णन आगे किया जायगा। इनके अतिरिक्त विविध अर्बुद एवं विभिन्न ग्रन्थि आदि रोगों में भी उदर की वृद्धि होती है।

उदररोगस्य सम्प्राप्तिमाह—

रुद्ध्वा स्वेदाम्बुवाहीनि दोषाः स्रोतांसि संचिताः । (च. चि. १३)
प्राणाग्न्यपानान् संदूष्य जनयन्त्युदरं नृणाम् ॥ २ ॥

संचित हुए दोष स्वेदवाही तथा जलवाही स्रोतों में अवरोध उत्पन्न करके, प्राणवायु, अपानवायु तथा जाठराग्नि को भी विकृत करके उदररोग को उत्पन्न करते हैं ॥ २ ॥

सम्प्राप्तिमाह-रुद्ध्वेत्यादि। स्वेदाम्बुवाहीनीति स्वेदवहान्यम्बुवहानि च। अनयोश्च भेदः, 'उदकवहानां स्रोतसां तालु मूलं क्लोम च; स्वेदवहानां स्रोतसां मेदो मूलं, लोमकू-

पार्श्व' (च. वि. स्था. ५) इत्यनेनोक्तो ज्ञेयः। स्रोतोरोधश्चात्र बहिरेव न पुनरन्तः। यदुक्तं चरके-'स्वेदस्तु बाह्येषु स्रोतःसु प्रतिहतगतिस्तिर्यगवतिष्ठमानस्तदेवोदकमाप्याययति' (च. चि. स्था. १३) इति। अत एवोदरपूर्णताऽन्नरसेन। प्राणाग्नीति पुनरग्निदूषणाभिधानेन मन्दस्याप्यग्नेः पुनर्दोषकृतं सुतरां मान्द्यं बोधयति। दोषसंचयगतेनापि वायुना प्राणापानयोर्दूषणं न विरुद्धं, यतो वायुना वाय्वन्तरदुष्टिः क्रियत एव। सुश्रुते तु पूर्वरूपमस्योक्तं, तद्यथा-'तत्पूर्वरूपं बलवर्णकाङ्क्षावलीविनाशो जठरे हि राज्यः। जीर्णापरिज्ञानविदाहवत्यो बस्तौ रुजः पादगतश्च शोथः' (सु. नि. स्था. ७) इति ॥ २ ॥

विमर्श--स्वेदवह स्रोतों का मूल मेद, रोमकूप अथवा स्वेदग्रन्थियाँ हैं **'स्वेदवहानां स्रोतसां मेदो मूलं रोमकूपाश्च'**। (च. वि. अ. ५) स्वेदग्रन्थियों के द्वारा स्वेद की उत्पत्ति होती है उनमें अवरोध होने से स्वेद का निकलना बन्द हो जाता है। जलवाही स्रोतों का मूल तालु तथा क्लोम है। **'उदकवहानां स्रोतसां तालु मूलं क्लोम च'** तालु से मस्तिष्क-स्थित जल-नियन्त्रक केन्द्र और क्लोम से अग्न्याशय का ग्रहण करना चाहिये[1]। इन दोनों ही उदकवाही स्रोतों की विकृति से शरीर का जलीय नियन्त्रण समाप्त हो जाता है जिससे वह प्रकृत मार्गों से न निकल कर औदरिक कला के मध्य में संचित होकर उदर रोग को उत्पन्न कर देता है। उक्त कथन से जलोदर की सम्प्राप्ति का बोध होता है। क्योंकि जलोदर में ही जलीय धातु दुष्ट होकर जलोदर को उत्पन्न करती है।[2] सुश्रुत ने भी सामान्यतया जलोदर की ही सम्प्राप्ति का वर्णन किया है—

---

१. देखिए टिप्पणी पृष्ठ संख्या २९२ पूर्वार्द्ध।

२. महामति माधवकर ने निदान-ग्रन्थ में विभिन्न संहिताओं के पाठों का संग्रह किया है। संक्षेप के विचार से उन्होंने अपनी दृष्टि से केवल महत्त्व के वचनों का ही संग्रह किया है। किन्तु कहीं-कहीं पर पूर्वापर का सम्बन्ध स्पष्ट न होने से भ्रम उत्पन्न हो जाता है। यहाँ पर वर्णित उदररोग-सम्प्राप्ति का श्लोक चरक संहिता चि० अ० १३ से लिया गया है। वहाँ देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उपेक्षित सभी उदर रोग अन्त में जलोदर में परिणत हो जाते हैं। अतः महर्षि अग्निवेश ने **'मन्देऽग्नौ मलिनैर्भुक्तैरपाकाद्दोषसंचयः। प्राणाग्न्यपानान् संदूष्य मार्गान् रुद्ध्वाऽधरोत्तरान्। त्वङ्मांसान्तरमागत्य कुक्षिमाध्मापयन् भृशम्। जनयत्युदरम्।'** इस प्रकार सामान्य सम्प्राप्ति का वर्णन कर **'तस्य हेतुं शृणु सलक्षणम्'** आदि कतिपय श्लोकों में हेतु और पूर्वरूप का वर्णन करने के बाद **'रुद्ध्वा स्वेदाम्बुवाहीनि'** आदि प्रस्तुत श्लोक लिखा है। यहाँ हेतुवर्णन में भी सम्प्राप्ति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। आचार्य सुश्रुत ने भी **'स्नेहादिमिथ्याचरणाच्च जन्तोर्वृद्धिं गताः कोष्ठमभिप्रपन्नाः। गुल्माकृतिव्यञ्जितलक्षणानि कुर्वन्ति घोराण्युदराणि दोषाः।'** इस पद्य में अति संक्षेप में चरक के ही वचनों का समर्थन किया है।

तात्पर्य यह है कि विभिन्न कारणों से उपचित वातादि दोष जब कोष्ठगत होते हैं तो प्रथम अन्न आदि के आदानकर्मा प्राणवायु, पाचनकर्मा अग्नि एवं मलविसर्जनकर्मा अपानवायु को दूषित कर आहार के ग्रहण, पाचन और मल के उचित विसर्ग में विकृति उत्पन्न कर ग्रहणी, अर्श, गुल्म आदि अल्पलिङ्ग एवं अव्यापक रोगों की सृष्टि करते हैं। तथा लब्धबल होकर कालान्तर में अथवा आदि से ही प्रबल होने पर बहुलिङ्ग और व्यापक उदरविकारों को उत्पन्न करते हैं जिन्हें पूर्ण उदर में व्याप्त होने से 'उदररोग' कहा जाता है। एवं हेतु और लक्षणानुसार वातोदर, पित्तोदर, कफोदर या सान्निपातिकोदर संज्ञा दी जाती है। यकृत् या प्लीहा में वृद्धि होने पर यकृद्दाल्युदर या प्लीहोदर, महास्रोत में अवरोध होने पर बद्धगुदोदर, महास्रोत या उदर में विदाह पाक और छिद्र होने पर छिद्रोदर या परिस्राव्युदर तथा स्वेद और उदकवाही स्रोतों में अवरोध होने एवं उपेक्षित दोषों के द्रवीभूत होने से उदर-गुहा में द्रव सञ्चित होने पर जलोदर संज्ञा दी जाती है।

कोष्ठादुपस्नेहवदन्नसारो निःसृत्य दुष्टोऽनिलवेगनुन्नः ।
त्वचः समुन्नम्य शनैः समन्ताद् विवर्धमानो जठरं करोति ॥ (सु० नि० ७)

प्रकृत अवस्था में अन्नरस स्रोत या केशिकाओं की दीवार से चूकर धातुओं का पोषण करने के उपरान्त पुनः लसवाहिनियों के द्वारा रक्त में मिल जाता है। यदि किसी कारण केशिकाओं की स्रवणक्षमता (Permiability) बढ़ जाती है अथवा लसवाहिनियों में जाने का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है तो लस अवकाशयुक्त स्थानों में एकत्रित होने लगता है और उसके समीपस्थ अङ्गों में सूजन आ जाती है। इस प्रकार स्रोतों की दुष्टि तथा रक्तभाराधिक्य शोथ के कारण हैं। जलोदर भी इसी श्रेणी का रोग है।

यहाँ स्रोतों का अवरोध अन्तः से न होकर बाहर से होता है यथा चरक ने कहाभी है कि बाह्य स्रोतों में गति का अवरोध होने पर स्वेद तिर्यंग्गति होकर जल को बढ़ा देता है अतएव उदर अन्न रस से भर जाता है।

प्राणाग्न्यपानान् संदूष्यः—दोष शब्द से वायु का ग्रहण हो जाने पर भी पुनः यह कहना कि दोषसंचय प्राण और अपानवायु को दूषित करता है इसलिए है कि वायु दुष्ट होकर दूसरी वायु को भी दुष्ट करती है।

उदरस्य सामान्यलक्षणान्याह—

आध्मानं गमनेऽशक्तिर्दौर्बल्यं दुर्बलाग्निता ।
शोथः सदनमङ्गानां सङ्गो वातपुरीषयोः ॥ ३ ॥
दाहस्तन्द्रा च सर्वेषु जठरेषु भवन्ति हि ।

सब प्रकार के उदर रोगों में आध्मान, चलने-फिरने में असमर्थता, दुर्बलता, जाठराग्नि की क्षीणता, शरीर में सूजन, अंगों में शिथिलता, वायु और मल का अवरोध, दाह और तन्द्रा ये सामान्य लक्षण पाये जाते हैं ॥ ३ ॥

उदराणां संख्यामाह—

पृथग्दोषैः समस्तैश्च प्लीहबद्धक्षतोदकैः ॥ ४ ॥
संभवन्त्युदराण्यष्टौ तेषां लिङ्गं पृथक् शृणु । (सु. नि. ७)

वातोदर, पित्तोदर, कफोदर, सन्निपातोदर, प्लीहोदर, बद्धगुदोदर, क्षतोदर तथा जलोदर भेद से उदररोग आठ प्रकार के होते हैं। आगे उन सबके लक्षण पृथक्-पृथक् कहे जायेंगे ॥ ४ ॥

उदराणां सामान्यरूपमाह-आध्मानमित्यादि। दुर्बलाग्नितेति मन्दोऽग्निर्यद्यप्यत्र हेतुस्तथाऽप्यग्नेरतिशयदौर्बल्यं लिङ्गत्वेन ज्ञेयम्। उदराण्यष्टाविति यकृद्दाल्युदरस्य प्लीहोदरेण सार्धंसमानचिकित्स्यतया तथोत्पत्तिविशिष्टदकोदरात् क्रमेण भूतदकोदरस्यापि समानलिङ्गचिकित्सितत्वेनाभिन्नत्वादष्टावेवोदराणि भवन्ति। प्लीहोदरादीनि च यद्यपि चत्वारि दोषजानि, तथाऽपि हेतुलिङ्गचिकित्साभेदात् पृथगुक्तानि ॥ ३-४ ॥

अतः इस श्लोक में मूल ग्रंथ में वर्णित विविध उदररोगों की सम्प्राप्ति का संग्रह उपसंहाररूप में किया है। सभी उदर रोग अन्त में जातोदक होने पर जलोदर में परिणत हो जाते हैं अतः विभिन्न उदर रोगों के साथ जलोदर की भी सम्प्राप्ति इसमें सम्मिलित है। अधिक विवेचन एवं विभिन्न उदर रोगों की पृथक्-पृथक् सम्प्राप्ति-वर्णन के लिए चरकसंहिता चिकित्सास्थान अध्याय १३ देखें। (सम्पादक)

विमर्शः—सन्निपातोदर का दूसरा नाम सुश्रुत ने दूष्योदर भी लिखा है। समान चिकित्सा के कारण प्लीहोदर से यकृद्दाल्युदर (Enlargement of the liver) का भी ग्रहण हो जाता है। क्षतोदर का ही दूसरा नाम परिस्रावी उदर है। इसी प्रकार अन्य उदर रोगों के उपद्रव रूप में होने वाले और स्वतन्त्र जलोदर को भी समान चिकित्सा की दृष्टि से एक ही माना है। यद्यपि प्लीहोदर आदि चार उदररोग भी दोषजन्य ही होते हैं किन्तु उनकी विशिष्ट सम्प्राप्ति और चिकित्सा होने से उन्हें दोषज उदर रोगों से अलग वर्णित किया गया है।

वातोदरलक्षणानि* निरूपयति—

तत्र वातोदरे शोथः पाणिपान्नाभिकुक्षिषु ॥ ५ ॥
कुक्षिपार्श्वोदरकटी-पृष्ठरुक् पर्वभेदनम् । (च. चि. १३)
शुष्ककासोऽङ्गमर्दोऽधोगुरुता मलसंग्रहः ॥ ६ ॥
श्यावारुणत्वगादित्वमकस्माद्वृद्धिह्रासवत् ।
सतोदभेदमुदरं तनुकृष्णसिराततम् ॥ ७ ॥
आध्मातदृतिवच्छब्दमाहतं प्रकरोति च ।
वायुश्चात्र सरुक्शब्दो विचरेत्सर्वतोगतिः ॥ ८ ॥ (वा. नि. १२)

(१) वातिक उदर में हाथ, पैर, नाभि तथा कुक्षि में शोथ, कुक्षि, पार्श्व, उदर, कटि तथा पीठ में दर्द और सन्धियों में भेदनवत् पीडा होती है। सूखी खांसी, अंगों में पीडा, धड़ से नीचे के भाग में भारीपन, विबन्ध, त्वचा आदि (नख, नयन, दशन, वदन) गुलाबी अथवा नीली हो जाती हैं, अचानक कभी उदर फूल जाता है और कभी पटक जाता है। उदर पतली-पतली काली सिराओं से व्याप्त रहता है, उसमें सुई के चुभने के समान और भेदनवत् पीडा का अनुभव होता है। अंगुलि-ताडन करने पर वायु से फूली हुई मशक के समान डिम-डिम ध्वनि मिलती है। इस अवस्था में वायु पीडायुक्त गुड़गुड़ शब्द को करती हुई सम्पूर्ण उदर में घूमती रहती है ॥ ५-८ ॥

वातोदरलक्षणमाह—तत्रेत्यादि। अकस्माद्वृद्धिह्रासवदिति अनियतवृद्धिह्रासयुक्तमुदरम्। आध्मातदृतिवदिति वातपूर्णचर्मपुटवदिति ॥ ५-८ ॥

पित्तोदरं प्राह—

पित्तोदरे ज्वरो मूर्च्छा दाहस्तृट् कटुकास्यता ।
भ्रमोऽतिसारः पीतत्वं त्वगादावुदरं हरित् ॥ ९ ॥

---

* चरक और सुश्रुत में उदर रोगों का सामान्य पूर्वरूप भी निम्न लिखित रूपमें वर्णित किया है। इन पूर्वरूपों के अध्ययन से उदर रोगों की सम्प्राप्ति पर भी पर्य्याप्त प्रकाश पड़ता है। यथा—

क्षुन्नाशः स्वादुता स्निग्धगुर्वन्नं पच्यते चिरात्। भुक्तं विदह्यते सर्वं जीर्णाजीर्णं न वेत्ति च ॥
सहते नातिसौहित्यमीषच्छोफश्च पादयोः। शश्वद्बलक्षयोऽल्पेऽपि व्यायामे श्वासमृच्छति ॥
पुरीषनिचयो वृद्धिरुदावर्तकृता च रुक्। बस्तिसन्धौ रुगाध्मानं वर्धते पाट्यतेऽपि च ॥
आतन्यते च जठरं लघ्वल्पभोजनैरपि। राजीजन्मवलीनाश इति लिङ्गं भविष्यताम् ॥
(चरक चि. १३)

तथा च सुश्रुतः—तत्पूर्वरूपं"'पादगतश्च शोथः। (पूरा श्लोक मधुकोषमें देखिए।) (सं०)

पीतताम्रसिरानद्धं सस्वेदं सोष्म दह्यते ।
(२) धूमायते मृदुस्पर्शं क्षिप्रपाकं प्रदूयते ॥ १० ॥ (वा. नि. १२)

पित्तोदर में रोगी ज्वर, मूर्च्छा, दाह तथा प्यास से पीडित रहता है। मुख का स्वाद कड़वा होता है। भ्रम और अतिसार के लक्षण मिलते हैं। त्वचा आदि (नख, नयन, वदन, दशन) में पीलापन तथा उदर में हरापन रहता है। उदर पीली और ताम्र वर्ण की सिराओं से व्याप्त रहता है। पसीना, उष्णता तथा जलन से युक्त होता है। उदर से ऊपर की ओर को धुँवा सा निकलता है, यहस्पर्श में मृदु तथा शीघ्र पकने वाला या उदररोगों के अन्तिमरूप जलोदर में परिणत होता है। उदर में पीडा और दाह रहता है ॥ ९-१० ॥

पैत्तिकमाह—पित्तेत्यादि। दह्यत इति उदरमात्रं दह्यते। दाहस्तु सकलदेहस्यैव बोद्धव्यः। धूमायते धूम इवोर्ध्वमेति। क्षिप्रपाकमिति क्षिप्रपाकाज्जलोदरतां यातीत्यर्थः। प्रदूयते व्यथते ॥ ९-१० ॥

श्लेष्मोदरलक्षणानि निरूपयति—

श्लेष्मोदरेऽङ्गसदनं स्वापः श्वयथुगौरवम् ।
निद्रोत्क्लेशोऽरुचिः श्वासः कासः शुक्लत्वगादिता ॥ ११ ॥
उदरं स्तिमितं स्निग्धं शुक्लराजीततं महत् ।
(३) चिराभिवृद्धं कठिनं शीतस्पर्शं गुरु स्थिरम् ॥१२॥ (वा. नि. १२)

श्लेष्मोदर से पीडित रोगी के अंगों में अवसाद, संज्ञानाश, सूजन तथा भारीपन होता है। निद्रा, मिचली, अरुचि, श्वास, कास तथा त्वचा आदि में श्वेतता हो जाती है। उदर निश्चल, स्निग्ध, बढ़ा हुआ तथा सफेद धारियों से व्याप्त रहता है। उदर चिरकाल तक फूला हुआ, छूने पर कठिन तथा शीत, स्थिर और गुरु प्रतीत होता है ॥ ११-१२ ॥

सन्निपातोदरं प्राह—

स्त्रियोऽन्नपानं नखलोममूत्रविडार्तवैर्युक्तमसाधुवृत्ताः ।
यस्मै प्रयच्छन्त्यरयो गरांश्च दुष्टाम्बुदूषीविषसेवनाद्वा ॥ १३ ॥
तेनाशु रक्तं कुपिताश्च दोषाः कुर्युः सुघोरं जठरं त्रिलिङ्गम् ।
तच्छीतवाते भृशदुर्दिने च विशेषतः कुप्यति दह्यते च ॥ १४ ॥
स चातुरो मुह्यति हि प्रसक्तं पाण्डुः कृशः शुष्यति तृष्णया च ।
(४) दूष्योदरं कीर्तितमेतदेव— (सु. नि. ७)

दुश्चरित्र स्त्रियाँ (अथवा दुष्ट मनुष्य और शत्रु) जिस व्यक्ति को नख, बाल, मूत्र, मल अथवा आर्तव से युक्त भोजन देती हैं, उससे अथवा शत्रु द्वारा विषयुक्त भोजन दे देने से और दुष्ट जल तथा दूषी विष के सेवन से कुपित हुआ रक्त तथा तीनों दोष त्रिदोष-लक्षण-युक्त उदर रोग को उत्पन्न करते हैं। ठण्डी हवा एवं दुर्दिन में इसके लक्षणों की वृद्धि और जलन होती है। रोगी को बार बार मूर्च्छा आती है। रोगी कृश होता है और उसमें रक्ताल्पता के लक्षण मिलते हैं। रोगी का मुँह प्यास से सूखा रहता है। इस अवस्था का दूसरा नाम दूष्योदर भी है ॥ ११-१४ ॥

सन्निपातोदरमाह—स्त्रिय इत्यादि । स्त्रीग्रहणमविवेकिसंनिहितजनोपलक्षणम् । गरं संयोगजं विषम् । दुष्टमम्बु सगरप्राणितृणपर्णादिकोथयुतं, विषमेवाग्न्याद्युपहतं मन्दप्रभावं

वा दूषीविषमुच्यते। यदुक्तं-'जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषितं वा। स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं हि दूषीविषतामुपैति' (सु. क. स्था. २) इति। तेनाशु रक्तमिति विषस्याग्नेयत्वेन रक्तदुष्टिः। कुपिताश्च दोषा इति स्वभावाद्दोषत्रयप्रकोपकं विषं भवति। तच्छीतवातादिषु कुप्यतीति। दूष्योदरं कीर्तितमेतदेवेति एतदेव सन्निपातोदरं दूष्योदरं कीर्तितं, न पुनरधिकमित्यर्थः। रक्तं दूष्यं दूषयित्वा भवतीति दूष्योदरं; किंवा परस्परं दूषयन्तीति दोषा एव दूष्यास्तैः कृतमुदरमिति ॥ ११-१४ ॥

विमर्श—मधुकोषकारने दूष्योदर की परिभाषा निम्न प्रकार से की है—(**रक्तं दूष्यं दूषयित्वा भवतीति दूष्योदरम्, किं वा परस्परं दूषयन्तीति दोषा एव दूष्यास्तैः कृतमुदरमिति**) दूष्य रक्त को दूषित करके उत्पन्न होने के कारण दूष्योदर कहते हैं, अथवा एक दूसरे को दूषित करने के कारण दोषों को भी दूष्य कहा जा सकता है। इस प्रकार सन्निपातज उदर को दूष्योदर कहना सरल है। वस्तुतः सन्निपातोदर से दूष्योदर का वर्णन पृथक् भी मिलता है। 'भेल संहिता' में स्पष्ट रूप से दोनों का पृथक् वर्णन किया गया है—

'तथा नानावेदनाढ्यमुदरं सान्निपातिकम् ।
स्त्रीणां दूष्योदरं नाम जायते सान्निपातिकम् ॥' (भेल)

दूष्योदर में सान्निपातिक लक्षण मिलते हैं। सुश्रुत ने दूषीविषोत्पन्न सन्निपातोदर का वर्णन किया है। चरक ने दोनों प्रकार को मिला कर वर्णन किया है—

दुर्बलाग्नेरपथ्यामविरोधिगुरुभोजनैः। स्त्रीदत्तैश्च रजोरोमविण्मूत्रास्थिरजोमलैः।
विषैश्च मन्दैः..................

यहाँ मन्द विष से दूषीविष का ही बोध होता है।[1]

प्लीहोदरं निरूपयति—

—प्लीहोदरं कीर्तयतो निबोध ॥ १५ ॥
विदाह्यभिष्यन्दिरतस्य जन्तोः प्रदुष्टमत्यर्थमसृक् कफश्च ।

१. चरक संहिता में इन प्रत्येक उदररोगों का विस्तार से वर्णन किया गया है। वातोदर में मलका अवरोध आध्मान-शूल आदि के साथ, 'आध्मातदृतिवच्छब्दमाहतं प्रकरोति च' यह विशिष्ट लक्षण है और इसे आधुनिकदृष्ट्या Tympanitis कह सकते हैं। और यह रोग विषमाग्नि, विष्टब्धाजीर्ण, वातग्रहणी, वातगुल्म आदि रोगपूर्वक या उनसे और उदावर्त आदि से युक्त भी हो सकता है। उसी प्रकार पित्तोदर का आरम्भ विदग्धाजीर्ण, पैत्तिक ग्रहणी, अम्लपित्त, कामला आदि विकृतिपूर्वक और उनके साथ भी हो सकता है और इसमें विदाह और पाक की अधिक सम्भावना रहती और उसके होने पर इसकी तुलना अर्वाचीन शास्त्रों में वर्णित उदरकलाशोथ Peritonitis से कर सकते हैं। कफोदर भी आमाजीर्ण, कफग्रहणी आदि आमप्राय विकारोंके साथ या उनके बाद होता है, उदर में शोथ भी हो सकता है और अर्वाचीनदृष्ट्या इसका सामञ्जस्य Amoebiasis या तत्सदृश विकारों से कर सकते हैं। वस्तुतः यह रोग चिरकालीन होता है और पाचन-संस्थानीय अनेक विकारों के साथ अनेक सार्वदैहिक विकृतियों को उत्पन्न करता है। कालान्तर में वात और पित्त को भी दूषित कर सान्निपातिक उदररोग का रूप धारण कर लेता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न उदररोगों में उत्पादक कारणों की मन्दता, दोषों की अल्पता एवं चिरकालीन होने से दोषान्तर-सम्बन्ध होने के कारण विविध उदर रोग भी दूष्योदर रूप में परिणत हो जाते हैं जैसे Sub acute Generalised Peritonitis आदि। (सं०)

१. दूषीविषस्य तत्रैव कोपात् मूर्च्छति। विषयोगात् प्रसक्तं निरन्तरम्। इति क.।

प्लीहाभिवृद्धिं कुरुतः प्रवृद्धौ प्लीहोत्थमेतज्जठरं वदन्ति ॥ १६ ॥
तद्वामपार्श्वे परिवृद्धिमेति विशेषतः सीदति चातुरोऽत्र ।
मन्दज्वराग्निः कफपित्तलिङ्गैरुपद्रुतः क्षीणबलोऽतिपाण्डुः । (सु. नि. ७)

विदाही तथा अभिष्यन्दि पदार्थों का अत्यधिक सेवन करने वाले मनुष्य का रक्त और कफ अत्यन्त प्रकुपित हो कर प्लीहा को निरन्तर बढ़ाते जाते हैं । इस अवस्था को प्लीहोदर कहते हैं । प्लीहा की वृद्धि बायीं ओर होती है । इस अवस्था में रोगी मन्दज्वर और मन्दाग्नि से विशेष रूप से पीड़ित रहता है । उसमें कफ और पित्त के लक्षण और उपद्रव मिलते हैं, रोगी का बल क्षीण और वर्ण पीला हो जाता है ॥ १५-१६ ॥

यकृद्दाल्युदरं प्राह—

सव्यान्यपार्श्वे यकृति प्रवृद्धे ज्ञेयं यकृद्दाल्युदरं तदेव ॥ १७ ॥
(सु. नि. ७)

इसी प्रकार दक्षिण पार्श्व में यकृत् के बढ़ा होने पर यकृद्दाल्युदर समझना चाहिए ॥ १७ ॥

प्लीहोदरमाह—प्लीहेत्यादि । असृक्कफश्चेत्यसृग्दुष्टथैव तत्तुल्यकारणतया पित्तदुष्टिरप्युच्यते, विदाहिना रक्तं पित्तं च दूष्यते; अत एव पश्चाद्वक्ष्यति–'कफपित्तलिङ्गैरुपद्रुतः' इति । अत्र पित्तस्य लिङ्गं मन्दज्वरः, कफस्य लिङ्गं मन्दाग्नित्वमिति गदाधरः । **प्लीहोदर एव यकृद्दाल्युदरस्यावरोधं दर्शयन्नाह–सव्यान्यपार्श्वं इत्यादि । सव्यान्यपार्श्वे दक्षिणपार्श्वे । तदेवेति तादृशमेव, प्लीहोदरसममेव न विलक्षणमित्यर्थः । यकृद्दालयति दोषैर्भेदयतीति यकृद्दाल्युदरम् ॥ १५–१७ ॥**

विमर्श—रक्त, पित्त तथा कफ प्रकोपक कारणों के सेवन से प्लीहा की वृद्धि होती है । आज कल इसे प्लीहा की जीर्ण वृद्धि (Chronic enlargement of spleen) कहते हैं ।

प्रदुष्टमत्यर्थमसृक्कफश्च—अत्यधिक प्रकुपित हुआ रक्त प्लीहा की वृद्धि करता है । आधुनिक अन्वेषणों के आधार पर यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि प्लीहा का रक्त से घनिष्ठ सम्बन्ध है । रक्त से सम्बन्धित प्लीहा के निम्न कार्य हैं—

(१) रक्त कणों का निर्माण । (२) श्वेत कणों की उत्पत्ति ।
(३) वृद्ध लाल कणों का विनाश । (४) रक्त का सञ्चय ।
(५) विकारी जीवाणुओं से शरीर की रक्षा करना । इस प्रकार जिन अवस्थाओं में उपर्युक्त क्रियायें बढ़ जाती हैं उन सब में प्लीहा का कार्य भी बढ़ जाता है । इसके परिणामस्वरूप प्लीहा की आकार-वृद्धि हो जाती है । विविध रक्त रोग तथा जीवाणुजन्य रोग प्लीहोदर के कारण हैं । इनमें निम्न मुख्य हैं—

(१) **रक्तदोष**—श्वेतकणाभिवृद्धि (Leukaemia), प्लैहिक पाण्डुरोग (Splienic anaemia), वैनाशिक रक्तक्षय (Pernicious anaemia)

(२) **जीवाणुजन्य रोग**—कालाजार, मलेरिया आदि ।

(३) यकृद्वृद्धि के कारणभूत विकार भी प्लीहा-वृद्धि करते हैं ।

(४) राजयक्ष्मा, फिरंग एवं फक्क रोग आदि में भी कुछ प्लीहा-वृद्धि हो सकती है ।

(५) प्लीहागत रक्तवाहिनियों के विकार (घनास्रता, अवरोध आदि) तथा प्लीहा के अर्बुद आदि से भी कभी-कभी प्लीहा-वृद्धि होती देखी गयी है ।

(६) साहसिक व्यायाम आदि से प्लीहा स्वस्थानच्युत होकर न बढ़ते हुए भी बढ़ी प्रतीत

होती है जिसे 'चल' प्लीहा (Movable spleen) कहते हैं। चरकसंहिता में सुस्पष्ट रूपसे दोनों वृद्ध और स्थान-भ्रष्ट प्लीहा का उल्लेख करते हुए कहा है **'वामपार्श्वश्रितः प्लीहा च्युतः स्थानात् प्रवर्धते । शोणितं वा रसादिभ्यो विवृद्धं तं विवर्धयेत् ।**

मन्दज्वराग्नि—प्लीहा की वृद्धि होने पर मन्द ज्वर तथा मन्दाग्नि रहती है।

यकृद्दाल्युदर—निदान, लक्षण तथा चिकित्सा की समानता के कारण प्राचीन ग्रन्थकारों ने यकृद्दाल्युदर का पाठ भी प्लीहोदर के साथ ही किया है। अन्तर केवल इतना है कि प्लीहोदर उदर के बायीं ओर तथा यकृद्दाल्युदर दायीं ओर होता है। कुछ रोगों में इन दोनों की एक साथ भी वृद्धि होती है। कुछ विद्वान् प्लीहवृद्धि के साथ होनेवाली यकृत्-वृद्धि को ही यकृद्दाल्युदर मानते हैं। उनका कहना है कि आयुर्वेद में कहीं भी इसका स्वतन्त्र उल्लेख नहीं मिलता, सर्वत्र इसे प्लीहोदर का ही भेद माना गया है **'तदेव प्लीहोदरं यकृद्दाल्युदरं ज्ञेयम्'** डल्हण, तथा—**'प्लीहोदरस्यैव भेदो यकृद्दाल्युदरं तथा'** भावप्रकाश। इसके अतिरिक्त चरक ने भी **'तुल्यहेतुलिङ्गौषधत्वात्तस्य प्लीहजठर एवावरोध इत्येतद्यकृत्प्लीहोदरं विद्यात्'** इसे प्लीहोदर का ही रूप माना है। प्लीहा की वृद्धि करनेवाले कालाजार, मलेरिया आदि रोगों की किसी अवस्था में अवश्य ही यकृत् की भी वृद्धि होती है। किन्तु कुछ अवस्थाओं में केवल या प्रधानतया यकृत् की ही वृद्धि होती है। अतः अर्वाचीन ग्रंथों में इसका स्वतन्त्र वर्णन विस्तार से मिलता है।

प्लीहोदरे यकृद्दाल्युदरे वा दोषसम्बन्धं विवेचयति—

उदावर्तरुजानाहैर्मोहतृड्दहनज्वरैः ।
गौरवारुचिकाठिन्यैर्विद्यात्तत्र मलान् क्रमात् ॥ १८ ॥ (वा. नि. १२)

इनमें उदावर्त, पीडा तथा आनाहको देखकर वातिक; मूर्च्छा, प्यास, जलन तथा ज्वर से पैत्तिक; उदर में भारीपन, अरुचि तथा उदर की कठिनता से श्लैष्मिक प्लीहोदर या यकृद्दाल्युदर समझना चाहिये ॥ १८ ॥

तत्र दोषसंबन्धमाह—उदावर्तेत्यादि । उदावर्तरुजादाहैर्वातं, मोहतृड्दहनज्वरैः पित्तं, गौरवारुचिकाठिन्यैः कफं जानीयात् ॥ १८ ॥

बद्धगुदोदरं निरूपयति—

यस्यान्त्रमन्नैरुपलेपिभिर्वा बालाश्मभिर्वा पिहितं यथावत् ।
संचीयते तस्य मलः सदोषः शनैः शनैः संकरवच्च नाड्याम् ॥ १९ ॥
निरुध्यते तस्य गुदे पुरीषं निरेति कृच्छ्रादपि चाल्पमल्पम् ।
हृन्नाभिमध्ये परिवृद्धिमेति तस्योदरं बद्धगुदं वदन्ति ॥ २० ॥
(सु. नि. अ. ७)

जिसका आन्त्र पिच्छिल अन्न, मल के कंकड़ी आदि से अवरुद्ध हो जाता है उसके आन्त्र में नाली में कूड़े के समान धीरे-धीरे दोषसहित मल एकत्रित होने लगते हैं। इस प्रकार उसकी गुदा में (आंत्र में) मल अवरुद्ध होकर कठिनाई से थोड़ा-थोड़ा निकलता है। इस अवस्थामें हृदय और नाभि के मध्य उदर फूल आता है। इस स्थिति को बद्धगुदोदर कहते हैं ॥ १९-२० ॥

बद्धगुदमाह—यस्यान्त्रमन्नैरित्यादि । उपलेपिभिः पिच्छिलैरन्नैः शाकशालुकादिभिः । पिहितं विबद्धम् । यथावदिति यथार्हम् । मलः पुरीषम् । सदोष इति दोषत्रयसहितः । नाड्यामित्यन्त्रनाड्याम् । संकरवदिति संमार्जनीक्षिप्यमाणतृणाद्यवकरो यथा चीयते क्रमेण

तथेत्यर्थः । बद्धगुदमिति गुदोपर्यन्त्रस्य बद्धत्वाद्बद्धगुदम् । यदुक्तं चरके-'पक्ष्मवालैः सहान्नेन भुक्तैर्बद्धायने गुदे' (च. चि. अ. १३) इति । पुरीषायतनस्य रुद्धत्वात् हृन्नाभिमध्येऽन्नपाकस्थाने वृद्धिः; गुदमात्रनिरोधे तु मलदोषैर्गुदादूर्ध्वमेवोदरवृद्धिः स्यात् ॥ १९-२० ॥

विमर्श—बद्धगुद के निम्न कारण हैं—

(१) बालाश्म-कंकड के रूप में शुष्क मल की ग्रन्थियाँ (Hard bulky faeces)

(२) सन्निरुद्ध गुद (Stricture of the rectum)-यह बच्चों में अधिक होता है।

(३) उदावर्त (Entro spasm)

(४) अर्श (Haemorrhoids)-अर्श के मस्से अत्यधिक बढ़कर गुदमार्ग को बन्द कर देते हैं।

(५) आन्त्रसम्मूर्च्छन (Volvulus)-चक्रपाणि दत्त ने आन्त्रसम्मूर्च्छन का अर्थ आन्त्रपरिवर्तन किया है। इसे आजकल (Volvulus) या आन्त्रान्त्रप्रवेश (Intussusception) कह सकते हैं। उपर्युक्त सब कारणों से आन्त्र का मार्ग पूर्ण या अपूर्णरूप से अवरुद्ध हो जाता है। पूर्ण अवरोध में मलत्याग बिलकुल नहीं होता। अपूर्ण अवरोध में कठिनता से थोड़ा मलत्याग होता है। चरक ने उक्त कारणों से ही बद्धगुद की उत्पत्ति मानी है।[1] कारणों के अनुसार आधुनिक दृष्टि से इसमें दो रोगों का समावेश हो जाता है। उनमें आन्त्रसम्मूर्च्छनजन्य बद्धगुद को तीव्र आन्त्रावरोध (Acute intestinial obstruction) कह सकते हैं। मलसंचय से उत्पन्न अवरोध को (Pelvirectal constipation) कहते हैं। आधुनिक विद्वान् आन्त्रावरोध की परिभाषा निम्न प्रकार से करते हैं—Intestinal obsturction is a condition in which passage of faeces and flatus throngh the bowel is delayed or prevented.

'बद्धगुद या बद्धान्त्र वह अवस्था है जिसमें मल एवं वायु के निस्सरण का मार्ग पूर्णतया अवरुद्ध हो जाता है या उनकी कठिनाई से प्रवृत्ति होती है। सुश्रुत ने भी इन दोनों अवस्थाओं का उल्लेख किया है—

'निरूप्यते चास्य गुदे पुरीषं निरेति कृच्छ्रादपि चाल्पमल्पम् ॥'

आन्त्रगत परिवर्तन—

(१) अवरोध स्थान से आन्त्र का ऊपरी भाग फूला रहता है।

(२) रक्ताधिक्य (Congestion) के कारण सूजन तथा लालिमा मिलेगी।

(३) अवरोधस्थान से नीचे का भाग सिकुड़ा हुआ पीला तथा कठोर रहता है।

(४) कभी-कभी अवस्था के अधिक उग्र रूप धारण करने पर आन्त्रक्षत के कारण उदरावरणकलाशोथ (Peritonitis due to perforation of the bowel wall) भी मिलता है।

आन्त्रावरोध के कारणों को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) **आन्त्रबाह्य कारण** – (External to the bowel) क—उदरगुहा के अर्बुद। ख—ग्रन्थि (Cyst) ग—बन्धित हार्नियाकोष (Strangulation of hernial sac)

(२) आन्त्रभित्तिगत कारण (In the wall of the bowel) क—अर्बुद, ख—सौत्रिकसांकोच्य (Fibrous Stricture)। ग—आन्त्रान्त्रप्रवेश (Intussusception)। घ—आन्त्रसम्मूर्च्छन या आन्त्रपरिवर्तन (Volvulus)। ङ—आन्त्रसङ्कोच (Entero-Spasm)।

(३) आन्त्रान्तर्गत कारण (Within the bowel) क—बालाश्म (Impaction of

---

१. पक्ष्मवालैः सहान्नेन भुक्तैर्बद्धायने गुदे ।
उदावर्त्तैस्तथाऽर्शोभिरन्त्रसम्मूर्च्छनेन वा ॥
अपानो मार्गसंरोधाद्धत्वाऽग्निं कुपितोऽनिलः ।
वर्चः पित्तकफान् रुद्ध्वा जनयत्युदरं ततः ॥ (च० चि० १३)

foriegn body)। ख—शुष्कमल (Faecal concretion)। ग—गण्डूपदकृमि Round worm) बच्चों में कभी-कभी ये आन्त्र में गुच्छे के रूप में एकत्रित होकर अवरोध उत्पन्न कर देते हैं।

लक्षण एवं चिह्न—

(१) हृदय और नाभि के मध्य में उभार 'हृन्नाभिमध्ये परिवृद्धिमेति' सुश्रुत। अवरोध क्षुद्रान्त्र के किसी भाग में होता है। अवरोध स्थल के ऊपरी भाग में विस्फार के कारण हृदय और नाभि के मध्य में उभार मिलता है।

(२) नाभिप्रदेश (Umblical region) में यकायक तीव्र पीडा जो कुछ देर में सम्पूर्ण उदर में फैल जाती है। यह प्रथम सान्तर (Intermittent) और फिर निरन्तर (Continuous) होती है।

(३) **वमन** (Vomiting) वायु के प्रतिलोम होने के कारण थोड़ी-थोड़ी देर में वमन होता है। वमन में प्रथम आमाशय के पदार्थ फिर पित्तयुक्त और सब से अन्त में विष्ठा की सी गन्ध से युक्त पदार्थ निकलते हैं—

तच्चोदरं विट्समगन्धिकं च प्रच्छर्दयन् बद्धगुदी विभाव्यः। सुश्रुतः।

(४) **घात** (Shock)—यह पीडा की तीव्रता के कारण होता है।

(५) नाडी दुर्बल, तापक्रम साधारण से कम (Subnormal tenperature) तथा त्वचा ठण्डी रहती है।

(६) मल एवं वायु का निर्गमन बन्द हो जाता है।

(७) कुछ दिनों बाद आन्त्रपुरःसरणगति का प्रत्यक्ष दर्शन (Visible paristalsis) भी होने लगता है।

(८) श्रवण (Auscultation) से पुरःसरण गति की ध्वनि भी स्पष्ट सुनाई पडती है।

परिस्राव्युदरं प्राह—

शल्यं तथाऽन्नोपहितं यदन्त्रं भुक्तं भिनत्त्यागतमन्यथा वा।
तस्मात्स्रुतोऽन्त्रात्सलिलप्रकाशः स्रावः स्रवेद्वै गुदतस्तु भूयः॥२१॥
नाभेरधश्चोदरमेति वृद्धिं निस्तुद्यते दाल्यति चातिमात्रम्।
एतत्परिस्राव्युदरं प्रदिष्टं—

(२) **(सु. नि. ७)**

अन्न के साथ सेवन किया हुआ या अन्य किसी प्रकार से आया हुआ शल्य जब आन्त्र की दीवार का भेदन कर देता है अथवा अन्य किसी कारण से आन्त्र में छिद्र हो जाता है तो आन्त्र से जल के समान निकला हुआ अत्यधिक स्राव उदर में सञ्चित होकर गुदमार्ग से बाहर भी निकलता है। इससे नाभि के निम्न प्रदेश में उदर फूल जाता है। उदर में सुई के समान चुभान तथा दलनवत् पीडा होती है। इस अवस्था को परिस्रावी उदर कहते हैं॥ २१॥

क्षतोदरमाह—शल्यमित्यादि। शल्यं कण्टकशर्करादि। अन्नोपहितमन्नयुक्तम्। भुक्तमागतमिति अर्थतः पाकाशयात्; विलोमेनागतमन्त्रं भिनत्ति, ऋज्वागतं हि शल्यमपि नान्त्रभेदकम्। अन्यथा वेति जृम्भणात्यशनाभ्यामन्त्रं भिद्यते। यदुक्तं चरके-'शर्करातृणलोष्टास्थिकण्टकैरन्नसंयुतैः। भिद्येतान्त्रं यदा भुक्तैर्जृम्भयाऽत्यशनेन वा' (च. चि. अ. १३) इति। स्रुत इति गलितः। 'स्रावः स्रवेद्वै गुदतस्तु भूय' इति बहु यथा भवति तथाऽन्त्रात् स्रुतः; दोषजेषु पुनरुपस्नेहन्यायेनाल्प एव स्रावो भूयः पुनःपुनर्गुदतश्च स्रवेत्। तु शब्दश्चार्थे,

भूयःशब्दोऽत्रावर्तनीयः; तेनोक्ता व्याख्या साध्वी भवती। ननु, भिन्नान्त्रात्तिर्यगत्र स्रावनिर्गमः, तत्कथं 'स्रावः स्रवेद्धि गुदतस्तु भूय' इत्युपपद्यते? नैवं, सच्छिद्रान्त्रमार्गेण बहिर्गतस्यातिवृद्धस्य पुनरागमनादुपस्नेहन्यायाद्वा गुदतः स्राव उपपन्न एव। चरकेप्युक्तं, 'पूरयन् गुदमन्त्रं च जनयत्युदरं नृणाम्' (च. चि. अ. १३) इति। स्रावेण द्रवस्य निम्नगत्वान्नाभेरधो जठरं वृद्धिमेति; एतच्छिद्रोदरं जलोदरमिति भण्यत इति गदाधरः। यत चरकेणोक्तं, 'तदधो नाभेः प्रायोऽभिनिर्वर्तमानं जलोदरं स्यात्' (च. चि. स्था. १३) इति। तदन्ये नानुमन्यन्ते, यतश्छिद्रोदरं शीघ्रं जलोदरतां यातीत्यभिप्रायेण चरकेणोक्तम्, अन्यथा दकोदरं पृथङ्न स्यात् ॥ २१ ॥

विमर्श—अन्न के साथ सेवन किया हुआ शल्य (Foriegn body) यदि सीधी दिशा में गति करता है तो कदाचित् आन्त्र को हानि विना पहुँचाये ही गुदमार्ग से बाहर निकल जाता है। किन्तु जिस अवस्था में यह तिरछा चलता है तो आन्त्रच्छेद (Perforation of intestine) होनेसे कुछ स्राव गुदमार्ग से बाहर निकलता है और कुछ उदरावरण कला में एकत्रित होकर वहाँ शोथ उत्पन्न करता है। कभी-कभी बाह्य शल्य न आकर आन्त्र के भीतर सञ्चित मल की शुष्क ग्रन्थि आदि भी क्षतोत्पत्ति करती हैं, अतएव सुश्रुत ने **'अन्यथा वा'** तथा चरक ने **'जृम्भयाऽत्यशनेन वा'** तथा **'इयात्पाकम्'** ऐसा कहा है। आन्त्र में क्षत या शोथ या पाक होने पर उसके बाहर और भीतर दोनों ओर स्राव होता है। बाहर हुआ स्राव उदर-वृद्धि करता है और भीतर हुआ स्राव गुदा द्वारा बार बार बाहर आता है। अतः चरक ने कहा है **'पूरयन्गुदमन्त्रं च जनयत्युदरं नृणाम्।'** 'उदर में सञ्चित द्रव अधिक होने पर पुनः आन्त्र में लौटकर भी गुदा द्वारा प्रवृत्त हो सकता है।' यह मधुकोषकार का मत भी अनुचित नहीं है। इस प्रकार इस अवस्था को आन्त्रच्छेदजन्य उदरावरणशोथ (Peritonitis due to perforation of the bowel) कह सकते हैं। परिस्रावी उदर के लिये छिद्रोदर तथा क्षतोदर शब्द का भी व्यवहार होता है। गुरुत्वाकर्षण के नियम के अनुसार द्रव प्रथम नाभि के नीचे ही एकत्रित होता है, इसी लिये मधुकोषकार ने कहा है—**स्रावेण द्रवस्य निम्नगत्वान्नाभेरधो जठरं वृद्धिमेति।**

तदधो नाभेः प्रायोऽभिनिवर्तमानं जलोदरं स्यात् (च० चि० १३)

'वह प्रायः नाभि के नीचे बढ़ता हुआ जलोदर हो जाता है' इस चरक वाक्य के आधार पर गदाधर आदि कुछ टीकाकार इसी को जलोदर भी मानते हैं पर अन्य आचार्य उपर्युक्त वाक्य का 'छिद्रोदर प्रायः आगे चलकर जलोदर में परिवर्तित हो जाता है या छिद्रोदर होने के बाद जलोदर होने की सम्भावना प्रायः बढ़ जाती है।' अर्थ करते हैं। यदि छिद्रोदर ही जलोदर होता तो आगे जलोदर का स्वतन्त्र पाठ ही क्यों करते। अतः दोनों भिन्न अवस्थाएँ हैं।

क्रमप्राप्तमष्टमं जलोदरं विवेचयति—

—दकोदरं कीर्तयतो निबोध ॥ २२ ॥

यः स्नेहपीतोऽप्यनुवासितो वा वान्तो विरिक्तोऽप्यथवा निरूढः।
पिबेज्जलं शीतलमाशु तस्य स्रोतांसि दुष्यन्ति हि तद्वहानि ॥ २३ ॥
स्नेहोपलिप्तेष्वथवाऽपि तेषु दकोदरं पूर्ववदभ्युपैति।
स्निग्धं महत्तत्परिवृत्तनाभि समाततं[१] पूर्णमिवाम्बुना च। (सु. नि. ७)

---

१. भृशोन्नतम् इति पा०।

यथा दृतिः क्षुभ्यति कम्पते च शब्दायते चापि दकोदरं तत् ॥ २४ ॥

जो व्यक्ति स्नेहपान, अनुवासन वस्ति, वमन, विरेचन अथवा निरूह के पश्चात् तुरन्त (संसर्जन क्रम के विना ही) शीतल जल का पान करता है तो उसके जलवाही स्रोत[1] दूषित हो जाते हैं। अथवा स्रोतों के स्नेह से लिप्त होने के कारण पूर्ववत् (छिद्रोदर के समान उदरावरण कला में जल के संचय से) जलोदर की उत्पत्ति होती है। जलोदरपीडित रोगी का उदर चिकना तथा बड़ा हो जाता है। नाभि बाहर को पलट जाती है। उदर बहुत फूला रहता है। जल से भरी हुई मशक में जिस प्रकार क्षोभ, कम्पन तथा ध्वनि होती है वैसे ही जलोदर में भी ये सब मिलते हैं ॥२२–२४॥

उत्पत्तिविशिष्टं दकोदरमाह—यः स्नेहपीत इत्यादि। स्नेहपीत इति कर्तरि क्तः, तेन स्नेहं पीतवानित्यर्थः। दुष्यन्तीति स्वकर्मसु दुष्टानि भवन्ति। तद्वहानि उदकवहानि। तेष्विति उदकवहस्रोतःसु। पूर्ववदिति यथा पूर्वमुक्तम्। अन्नरस उपस्नेहन्यायेन बहिर्निःसृत्योदरं जनयतीत्यर्थ इति। जेज्जटः। गदाधरस्त्वाह—**च्छतान्त्रोदरे यथा अधोनाभेरुदराभिवृद्धिर्गुदस्रावश्च तथा जलोदरेऽपि भवतीति। ननु, सर्वेषामेवोपस्नेहन्यायेन बहिर्निःसृतान्नरसमूलत्वात् कथमनुदकत्वम् ? नैवं, तेषु हि प्रथमतो नातिमन्दत्वादग्नेरन्नरसस्याल्पत्वाच्चानुदकत्वम्, अल्पत्वेन तद्व्यपदेशात्; अत्र तु प्रागेव भूरिजलोत्पत्तिरिति विशेषः। समाततं वेदनया विस्तार्यमाणमिवोदरं भवति। यथा दृतिः क्षुभ्यतीति दृतिरिव जलपूर्णा क्षुभ्यतीति, अन्तर्जलचलमिव धत्ते। शब्दायते गुडगुडायते ॥ २२–२४ ॥**

विमर्श—इन श्लोकों में जलोदर की सम्प्राप्ति तथा लक्षणों का वर्णन किया गया है। उपस्नेहन्याय से उदरावरण की दीवार से जल छन-छन कर उदरगुहा में एकत्रित होने लगता है। उपस्नेह न्याय से बाहर निकले अन्नरस से ही सभी उदर रोगों की उत्पत्ति बतलायी गयी है फिर भी उनमें जल नहीं होता इसके दो कारण हैं। (१) उनमें पहिले से ही अतिअग्निमांद्य नहीं होता है और अन्नरस ही अत्यल्प होता है। (२) यहाँ प्रारम्भ से ही जलोत्पत्ति अधिक होती है। एवं जल का अधिक होना ही इसकी विशेषता है। इस प्रकार उदरावरण-गुहा के जलसंचय को जलोदर कहते हैं—'An accumulation of serous fluid in the peritoneal cavity is called ascitis' प्राचीनों ने जलवाही स्रोतों की दुष्टि को जलोदर का कारण माना है। आधुनिक विद्वान् इसके निम्न कारण मानते हैं—

(१) **हृद्रोग**—रुग्ण हृदय रक्त को पूर्णतया अपनी ओर नहीं खींच सकता जिससे सिराओं में दबाव बढ़ने से जलोदर तथा पादशोथ जैसे लक्षण उत्पन्न होते हैं।

(२) **वृक्करोग**—रुग्ण वृक्क के द्वारा जब शुक्लि (Albumin) का मूत्र द्वारा क्षरण होने लगता है तो रक्त का आस्रुतीय पीडन (Osmotic tension) बदल जाता है और रक्तवाहिनियों की दीवार की प्रवेश्यता (Permiability) बढ़ जाने से उदरावरण गुहा में जल-संचय होकर जलोदर उत्पन्न होता है।

(३) **प्रतिहारिणी महासिरा का अवरोध** (Portal obstruction)—इसमें अवरोध हो जाने से सिराओं में रक्त का दाब बढ़ जाता है जिससे अन्ततोगत्वा अर्श अथवा जलोदर या दोनों ही की उत्पत्ति होती है।

(४) **क्षयजन्य उदरावरणशोथ** (Tubercular peritonitis)—शोथ होने पर रक्तवाहिनियों की दीवार से तरल के क्षरण से भी जलोदर हो सकता है।

---

१. उदकवाही स्रोत का विशेष विवेचन तृष्णानिदान में देखें।

(५) रक्तदोष—रक्त में विकारी जीवाणुओं की उपस्थिति होने पर प्लीहा का कार्य बढ़ जाता है। इससे उसकी तथा साथ में यकृत् की भी वृद्धि होकर जलोदर उत्पन्न होता है।

जलोदर के लक्षण—

सामान्य लक्षण—

(१) उदर में उत्सेध (Abdominal enlargement)

(२) संपरिवृत्तनाभि (Everted umblicus)

(३) दृति (मशक) के समान क्षोभ या कम्पन (Thrill)

(४) दृतिवत् शब्द (Percussion dullness)—इसे चलमन्दध्वनि (Shifting dullness) भी कहते हैं। यदि रोगी वामपार्श्व से लेटा है तो उसके दक्षिण पार्श्व से जल हट जाने के कारण उस स्थान पर मन्दता नहीं रहती। दक्षिण पार्श्व पर लेटने से मन्दता वामपार्श्व में नहीं रहती और वह बदल कर दक्षिण पार्श्व में आ जाती है।

(५) हृत्स्पन्दनाधिक्य (Palpitation) हृदय पर जल का दबाव पड़ने से यह होता है।

(६) श्वासकृच्छ्रता—फुफ्फुस पर दबाव होने से। (७) कास।

(८) मूर्च्छा—कभी-कभी हो जाती है।

(९) फुफ्फुस तथा हृदयाग्र की स्थानच्युति हो जाती है।

(१०) बुभुक्षानाश। (११) अग्निमान्द्य। (१२) चलने में असमर्थता।

विशेष लक्षण—

ये बहुत कुछ कारणों पर निर्भर रहते हैं।

हृद्विकारजन्य जलोदर के लक्षण—

(१) पैरों पर सूजन। (२) हृदय प्रदेश में भारीपन व धड़कन।

वृक्कविकारजन्य जलोदर के लक्षण—

(१) अक्षिकूट शोथ—विशेषतः प्रातःकाल सोकर उठते समय।

(२) मूत्र-त्याग कम होता है। (३) मूत्र में भग्न तन्तुओं की उपस्थिति।

प्रतिहारिणी सिरावरोधजन्य जलोदर के लक्षण—

(१) पादशोथ। (२) अग्निमान्द्य, मलावरोध, अर्श। (३) कामला। (४) सिराकुटिलता। (५) यकृत् और प्लीहा की वृद्धि।

रक्तदोषजन्य जलोदर के लक्षण—

(१) प्लीहा व यकृत् की वृद्धि। (२) जल की राशि कम।

(३) रक्त-परीक्षा से विकारी जीवाणु की उपस्थिति।

क्षयजन्य जलोदर के लक्षण—

(१) क्षय का इतिहास मिलेगा। (२) जल की राशि बहुत कम होती है। (३) ज्वर आदि लक्षण भी होते हैं।

उदररोगस्य साध्यासाध्यतां प्राह—

जन्मनैवोदरं सर्वं प्रायः कृच्छ्रतमं मतम्।
बलिनस्तदजाताम्बु यत्नसाध्यं नवोत्थितम्॥ २५॥
पक्षाद् बद्धगुदं तूर्ध्वं सर्वं जातोदकं तथा।
प्रायो भवत्यभावाय छिद्रान्त्रं चोदरं नृणाम्॥ २६॥

(च. चि. १३)

साधारणतया उत्पत्तिकाल से ही सर्व प्रकार के उदररोग कृच्छ्रसाध्य होते हैं। उदरावरण गुहा में जल-संचय होने से पूर्व बलवान् रोगी का उदर रोग यत्न करने पर ठीक हो जाता है। बद्धगुदोदर यदि पन्द्रह दिन तक ठीक न हो तो वह भी असाध्य होता है। जलोदर तथा परिस्रावी उदर भी प्रायः असाध्य होते हैं ॥ २५-२६ ॥

उदररोगस्य साध्यत्वादिलक्षणमाह—जन्मनैवेत्यादि। जन्मनैवोदरमिति उत्पत्तिमात्रेणैव। अजातोदकस्योदरस्य लक्षणं चरकेऽवगन्तव्यं तद्यथा—'अशोथमरुणाभासं सशब्दं नातिभारिकम्। सदा गुडगुडायन्तं सिराजालगवाक्षितम्॥ नाभिं विष्टभ्य पायौ तु वेगं कृत्वा प्रणश्यति। हृद्वङ्क्षणकटीनाभिगुदप्रत्येकशूलिनः॥ कर्कशं सृजतो वातं नातिमन्दे च पावके। लालया विरसे चास्ये मूत्रेऽल्पे संहते विशि॥ अजातोदकमित्येतैर्युक्तं विज्ञाय लक्षणैः' (च. चि. स्था. १३) इति। अत्र कर्कशमिति वेगवन्तम्। जातोदकलक्षणं च चरके यथा—'कुक्षेरतिमात्रं वृद्धिः सिरान्तर्धानगमनम् उदकपूर्णदृतिसमानक्षोभस्पर्शनं च भवति' (च. चि. स्था. १३) इति। पक्षादित्यादि बद्धगुदमुदरं पक्षादूर्ध्वं विनाशाय भवतीति जातोदकं पक्षात्। प्रायोग्रहणेन कदाचित् पक्षादूर्ध्वमपि न विनाशाय, तथा शल्यशास्त्राभिमतया चिकित्सया कदाचिज्जातोदकं छिद्रान्त्रं बद्धगुदं च सिध्यतीति दर्शयति। जातोदकं छिद्रान्त्रं च विनाशाय पक्षादूर्ध्वमिति संबन्ध इति केचित्॥ २६॥

विमर्श—चरक चिकित्सास्थान अध्याय तेरह में अजातोदक तथा जातोदक के लक्षण बताये गये हैं। यथा—**अजातोदकः**—अधिक शोथ न हो; उदर रक्तिमायुक्त हो, शब्द होता हो, रोगी अधिक भार का अनुभव करे, पेट का गुडगुडाना, दृश्य शिराजाल का होना, वायु नाभि पर विष्टम्भ करके और बाहर निकलने को वेग करके नष्ट हो जाये, रोगी के हृदय, नाभि, वंक्षण, कटि एवं गुदा प्रत्येक अवयव में शूल हो, यदि मल और वात निकले भी तो वह कर्कश हो, अग्नि अत्यन्त मन्द न हो, मुख का रस लालास्राव से विकृत रहता हो, मूत्र कम आता हो और पुरीष संहत (कठिन) और बँधा हुआ हो इन लक्षणों से अजातोदक कहलाता है। **जातोदकः**—कुक्षि की अत्यन्त वृद्धि, सिराओं का छिप जाना, जल से पूर्ण, उदर का जलपूर्ण, मशक के समान क्षोभ, स्पर्श एवं चिकनाहट और मृदुता होने से जातोदक समझना चाहिए। छिद्रोदर तथा बद्धगुदोदर साधारणतया औषध चिकित्सा से ठीक नहीं होते। शल्य चिकित्सा से ये भी ठीक हो जाते हैं। जलोदर तो ओषधि चिकित्सा से भी ठीक हो जाता है। इसमें ६ मास तक केवल दुग्धाहार ही करना पड़ता है। दुग्धों में उष्ट्री-दुग्ध सर्वश्रेष्ठ है। जल-संचय अधिक हो जाने पर जब हृदय तथा फुफ्फुस पर अधिक दबाव पड़ने लगता है तो तात्कालिक लाभ के लिये शस्त्रकर्म का विधान भी चरक ने बताया है। इस शस्त्रकर्म को आजकल Paracentasis abdominis कहते हैं।

असाध्यतां निरूपयति—

शूनाक्षं कुटिलोपस्थमुपक्लिन्नतनुत्वचम्।
बलशोणितमांसाग्निपरिक्षीणं च वर्जयेत्॥ २७॥ (च. चि. १८)
पार्श्वभङ्गान्नविद्वेषशोथातीसारपीडितम्।
विरिक्तं चाप्युदरिणं पूर्यमाणं विवर्जयेत्॥ २८॥ (सु. सू. ३४)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने उदरनिदानं समाप्तम्॥ ३५॥

जिसकी आँखें सूज रही हों, जिसकी मूत्रेन्द्रिय टेढ़ी हो गई हो, जिसकी त्वचा पतली और गीली हो तथा जिस रोगी का बल, रक्त, मांस तथा अग्नि क्षीण हो गये हों वह असाध्य होता है। जिस रोगी की पसलियाँ दब गई हों, जिसको खाने में अरुचि हो तथा जो शोथ और अतिसार से पीडित हो, विरेचन कराने पर भी जिसका उदर भरा ही रहे उसको भी असाध्य समझना चाहिये ॥ २७-२८ ॥

साध्यतयाऽभिहितानामप्यवस्थाविशेषेणासाध्यतामाह—शूनाक्षमित्यादि। 'उदरिणम्' इति शेषः। कुटिलोपस्थमिति वक्रमेहनम्। उपक्लिन्नतनुत्वचमिति उपक्लिन्ना तन्वी त्वग् यस्य तम्। अग्निपरिक्षीणमिति अग्निक्षयश्च यद्यप्युदरे पूर्वमेव भवति, तथाऽप्यत्र विशेषेणाग्निक्षयो लक्षणान्तरयुक्तश्चासाध्यतालिङ्गं संभवतीति ज्ञेयम् ॥ २७-२८ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तविरचितायां मधुकोशव्याख्यायामुदरनिदानं समाप्तम् ॥ २५ ॥

विमर्श—जलोदर रोग जब चिरकालीन या अति वृद्ध हो जाता है तो उसके दबाव के कारण हृदय, वृक्क, फुफ्फुस आदि अवयवों में विकृति एवं सर्वांग में तीव्रतम शोथ हो जाता है। तभी यह लक्षण उत्पन्न होते हैं और जलोदर की ही भाँति ये सभी रोग प्रायः असाध्य या कष्टसाध्य होते हैं। जब सभी एक साथ उत्पन्न हो जावे तो उनकी असाध्यता के सम्बन्ध में कहना ही क्या है।

समाप्तं चेदमुदररोगनिदानम्।

अथ शोथनिदानम्

शोथस्य सम्प्राप्तिं वर्णयति—

रक्तपित्तकफान् वायुर्दुष्टो दुष्टान् बहिःसिराः।
नीत्वा रुद्धगतिस्तैर्हि कुर्यात्त्वङ्मांससंश्रयम् ॥ १ ॥
उत्सेधं संहतं शोथं तमाहुर्निचयादतः।

स्वप्रकोपक कारणों से दूषित हुआ वायु दूषित रक्त, पित्त और कफ को उत्तान (Superficial) सिराओं में ले जाकर वहाँ उनसे अवरुद्ध होकर त्वचा और मांस के बीच में आश्रित रक्त सहित तीनों ही दोष के संचय से उभार को उत्पन्न करता है, उसे शोथ कहते हैं ॥ १½ ॥

शोथस्य भेदान् दर्शयति—

सर्वं हेतुविशेषैस्तु रूपभेदान्नवात्मकम् ॥ २ ॥
दोषैः पृथग्द्वयैः सर्वैरभिघाताद्विषादपि। (वा. नि. १३)

सभी शोथ एक होते हुए भी हेतुओं की विशेषता के कारण लक्षणों के भेद से वातिक, पैत्तिक, कफज, वातपित्तज, वातकफज, पित्तकफज, त्रिदोषज, अभिघातज तथा विषज नाम से नौ प्रकार के होते हैं ॥ २ ॥

उदरे शोथस्योपद्रवत्वेनोक्तत्वात्तदनन्तरं शोथनिदानम्। तस्य संप्राप्तिमाह—रक्तपित्तकफानित्यादि। रक्तपित्तकफान् स्वहेतुभिः स्वातन्त्र्येण दुष्टान् कुपितान्, दुष्टः स्वहेतुकुपितो वायुर्बहिःसिरा बाह्या अगम्भीराः सिरा नीत्वा गमयित्वा, तै रक्तपित्तकफै रुद्धगतिरावृतमार्गो वायुरुत्सेधमुच्छ्रायं कुर्यादिति योजना। बहिःसिराशब्देनात्रागम्भीरतयोक्तानां स्रोतसामपि

ग्रहणम् । त्वङ्मांससंश्रयमित्यनेन व्रणशोथाद् भेदं दर्शयति, अष्टसु व्रणवास्तुषु व्रणशोथस्य संभवात् । यदुक्तं सुश्रुतेन—'त्वङ्मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिकोष्ठमर्माणीत्यष्टौ व्रणवास्तूनि भवन्ति' (सु. सू. स्था. २२) इति । संहतं संहतात्मकम् । कुतः संहतात्मकमित्यत आह—निचयादत इति । अतोऽस्मात् पूर्वोक्ताद्रक्तसहितदोषत्रयसमुदायात् ; एतेन रक्तसहितत्रिदोषजन्यत्वमस्योक्तं भवति । सर्वमित्यादि । सर्वमिति पूर्वेण संबध्यते, सर्वमुत्सेधं शोथमाहुरित्यर्थः । हेतुविशेषैरिति दोषत्रयाभिघातप्रभृतिभिः कारणभेदैर्यो रूपभेदस्तस्मात् सर्वं नवात्मकमाहुरिति पूर्वक्रियया संबन्धः । 'सर्वहेतुविशेषैः' इति पाठान्तरे सर्वेषां हेतुविशेषैरित्यर्थः । द्वयैरिति द्वन्द्वैः, सर्वैस्त्रिभिः ॥ १-२ ॥

विमर्श—आयुर्वेद में शोथ, श्वयथु तथा शोफ इन तीन शब्दों का व्यवहार कहीं सूजन सामान्य के लिये पर्याय रूप में और कहीं विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है । किन्तु इस अध्याय में शोथ शब्द विशिष्ट अर्थ में है । जिस अवस्था में दोष त्वचा और मांस का आश्रय ग्रहण कर अर्थात् उनके बीच में स्थित होकर उभाड़ उत्पन्न करते हैं तथा जिनमें पाक की प्रवृत्ति नहीं होती है उसी का यहाँ वर्णन है । जिनमें दोष त्वचा, मांस, रक्त, आदि आठ व्रण-वास्तुओं को दूषित करते हैं एवं पाक की प्रवृत्ति होती है उसे व्रणशोथ कहते हैं । अर्वाचीन शास्त्रों में इनके लिए क्रमशः Oedema तथा Inflamation संज्ञा दी जाती है । यहाँ प्रथम प्रकार का ही वर्णन है । यद्यपि प्रथम प्रकार अपचारादि से दूसरे प्रकार में भी परिणत हो सकता है । विशेषतः पैत्तिक शोथ एवं आगन्तुक शोथों में इसकी संभावना अधिक रहती है ।

शोथ की उत्पत्ति में रक्तसहित तीनों ही दोष भाग लेते हैं किन्तु कारणों और लक्षणों एवं चिकित्सा की विशेषताओं के आधार पर एकदोषज तीन, द्विदोषज तीन और सान्निपातिक एक इस प्रकार सात निज और अभिघातज एवं विषज भेद से दो आगन्तुज और सब मिलाकर नव भेद किये जाते हैं ।

कारणभेद से सूजन के स्थूल रूप से दो भेद किये जा सकते हैं—

(१) **निजकारण-जन्य**—विविध मिथ्याहार-विहार के कारण शरीर में प्रकुपित दोषजन्य सूजनों का समावेश किया जाता है । इसे वर्णन-सौकर्यार्थ शोफ या श्वयथु (Oedema) भी कह सकते हैं ।

(२) **आगन्तुक-कारणजन्य**—आघात, अग्नितप्त पदार्थों से जलना, रासायनिक पदार्थ (तीव्र अम्ल या क्षार) से जलना, विष, विविध विकारी जीवाणु एवं विद्युत्प्रवाह ये सब आगन्तुक सूजन के कारण हैं इसमें त्वचा, मांस आदि व्रण-वास्तुओं के भी आक्रान्त होने और पूयोत्पत्ति की आशंका रहती है ।

चरकके अनुसार शोफ के तीन भेद किये जा सकते हैं—

(१) **सर्वांग शोफ**—Generalised oedema या Ceneral anasarca यह हृदय, यकृत् एवं वृक्क जैसे अवयवों की विकृतिसे होता है ।

(२) **अर्धांगशोफ**—उपर्युक्त अंगोंकी विकृति ही जब अल्प मात्रा में रहती है तो यह उत्पन्न होता है । हृदय एवं यकृत् की विकृति से अधरांगशोफ तथा वृक्क की विकृति से ऊर्ध्वांगशोफ अधिकतर होता है ।

इन दोनों में सूजन के अतिरिक्त कारणानुरूप अन्य सार्वदेहिक लक्षण भी प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं ।

(३) **एकदेशोत्थित या एकांग शोफ**—(Local oedema)—आगन्तुक कारणों से एक देश में भी शोथ उत्पन्न होता है । इनके अतिरिक्त चरक और तदनुसार माधव ने ऊर्ध्वगत, मध्यगत और अधोगत एवं सर्वसर भेद तथा सुश्रुत और वाग्भटने सर्वसर या सर्वांग और अवयव-समुत्थ

या एकांग शोथका भी वर्णन किया है। वाग्भट ने आकृति-भेदसे पृथु, उन्नत और ग्रथित इन तीन भेदों का भी उल्लेख किया है।

शोथस्य पूर्वरूपमाह—

तत्पूर्वरूपं दवथुः सिरायामोऽङ्गगौरवम् ॥ ३ ॥ (वा. नि. १३)

दाह, सिरों या रक्तवाहिनियोंका विस्फार तथा शरीर में भारीपन ये शोथ के पूर्वरूप हैं ॥ ३ ॥

पूर्वरूपमाह—तदित्यादि। दवथुरुपतापः। सिरायामः सिराप्रसरणवत् पीडा ॥ ३ ॥

शोथस्य सामान्यनिदानं वर्णयति—

शुद्ध्यामयाभुक्तकृशाबलानां क्षाराम्लतीक्ष्णोष्णगुरूपसेवा।
दध्याममृच्छाकविरोधिदुष्टगरोपसृष्टान्ननिषेवणं च ॥ ४ ॥
अर्शांस्यचेष्टा न च देहशुद्धिर्मर्मोपघातो विषमा प्रसूतिः।
मिथ्योपचारः प्रतिकर्मणां च निजस्य हेतुः श्वयथोः प्रदिष्टः॥ ५ ॥
(च. चि. १२)

वमन-विरेचन आदि पञ्चकर्म, ज्वर आदि रोग, भोजन का अभाव अथवा गुणहीन भोजन जैसे कारणोंसे कृश एवं दुर्बल हुए रोगियों का क्षार, अम्ल, तीक्ष्ण-उष्ण एवं गुरु पदार्थों का सेवन करना निज शोथ का हेतु है। इसके अतिरिक्त दही, अपक्व भोजन, मिट्टी, शाक, विरुद्ध भोजन, दुष्ट-भोजन, गर (संयोगज विष), अर्श, निष्क्रियता, शोधन की आवश्यकता होने पर भी शोधन न करना, दोषों से मर्मों में उपघात (विकार) होना, गर्भपात या गर्भस्राव तथा वमन आदि पञ्चकर्मों का ठीक प्रयोग या उपचार न करना ये सब भी निज शोथ के कारण होते हैं ॥ ४–५ ॥

पूर्वरूपानन्तरं कामचारान्निदानमाह—शुद्ध्यामयेत्यादि। शुद्धिर्वमनविरेचनादिः, आमया ज्वरादयः; अभुक्तमभोजनं विगुणं च भोजनं, तैः कृशानामबलानां च क्षारादिसेवा निजस्य श्वयथोर्हेतुः। दध्यादयः स्वतन्त्रा एव हेतवः, आममपक्वं, दुष्टं दोषजनकं मन्दक-नवोदकादि, गरं संयोगजं विषम्। अचेष्टा निष्क्रियत्वम्। न च देहशुद्धिरिति शोधनार्हेऽपि दोषे देहाशुद्धिः। मर्मोपघात इह दोषकृत एव ज्ञेयः, बाह्यहेतुजस्तु मर्मोपघात आगन्तुशोथ-हेतुरेव। विषमा प्रसूतिरामगर्भपतनादिका। मिथ्योपचारोऽसम्यक्करणमसम्यगुपचारः। प्रतिकर्मणां वमनादीनाम् ॥ ४–५ ॥

विमर्श—अर्वाचीन शास्त्रों में भी शोफ (Oedema) की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित विवेचन प्राप्त होता है।

शरीर की समस्त धातुएँ तरल पदार्थमें अवगाहित रहती हैं। इस तरल पदार्थमें रक्तवाहिनियों द्वारा आगत रक्त सूक्ष्म केशिकाओं या स्रोतों (Arterial capillaries) में पहुँच कर उपस्नेहन द्वारा पोषक पदार्थयुक्त रक्तरस पहुँचाता है और पुनः त्याज्य पदार्थयुक्त धातुरस का सिरास्रोत (Venous capillaries) द्वारा शोषण कर उसे विविध विसर्गाङ्गों में पहुँचाकर उनका निर्हरण करता रहता है। जब किसी भी कारण से इस धातुगत रस के शोषण में बाधा उत्पन्न होती है या स्रुत रक्तरस अधिक होता है तब धातुओं के संयोजक तन्तुओं में अधिक तरल का सञ्चय होनेसे उत्सेध उत्पन्न होता है जिससे वहाँ का स्थितिस्थापकत्व नष्ट हो जाता है और दबाने पर गड्ढा पड़ता है और उसे ही शोफ कहते हैं। कारणभेद से इस सञ्चित द्रव में तथा अन्य लक्षणों में विविधता

१. क्षीरेति पाठान्तरम्।

पायी जाती है तथा एक दूसरेको भी उद्भावित करता है। अतः शोथ के निश्चित कारण का उल्लेख दुष्कर होते हुए भी सामान्यतया निम्नलिखित कारण माने जाते हैं—

(१) स्रोतोभित्ति की प्रवेश्यता (Permeability of capillary endothelium) सामान्यतया स्रोतोभित्ति केवल जारक (O_2) और जल या उसमें घुले हुए पदार्थों के ही लिए प्रवेश्य होती है। रक्तरसगत प्रोभुजिन (Protien) के लिए अप्रवेश्य होती है। किन्तु विस्तृति और अभिघात, व्रणशोथ, भाराधिक्य, अम्लाधिक्य एवं कुछ निज और आगन्तुज विषों में इसकी प्रवेश्यता बढ़ जाती है तब प्रोभुजिन भी रक्तरस के साथ स्रोत के बाहर आजाती है और तरल के पुनःशोषण में बाधा उत्पन्न कर शोफको उत्पन्न करती है।

(२) स्रोतोगत भारवृद्धि—हृदय रोग में रक्तसञ्चार में बाधा होने से सिराओं और स्रोतों में रक्तभार स्वाभाविक से बहुत अधिक होकर उसके पुनःशोषण कार्य में बाधा और उसकी भित्तिकी प्रवेश्यता में वृद्धि उत्पन्न कर शोफ का कारण होता है।

(३) रक्तरसगत प्रोभुजिनों के आस्रुतीय पीडन की हीनता (Fall of colloid osmotic pressure of plasma protien)—रक्तरसगत प्रोभुजिन ही तरल-सञ्चय एवं आस्रुतीय-सम्पीडन द्वारा धातुगत तरल का शोषण करती है। वृक्कविकारों में मूत्रद्वारा उसका अधिक निर्हरण होने (लालामेह—Albuminurea) तथा स्रोतोभित्ति की प्रवेश्यता वृद्धि में रक्तरस के साथ धातुरस में स्राव होने से तथा भोज्यपदार्थों में उसकी कमी होने से जब इसकी स्वाभाविक राशि (प्रायः ७ प्रतिशत) रक्तरस में हीन (५°५% से कम) हो जाती है तब शोफ की उत्पत्ति होती है।

(४) रक्तगत विभिन्न संघटकों का प्रभाव (Effects of other constituents of blood.)—इसमें जल और सैंधव (Sodium chloride) को अधिक महत्त्व दिया जाता है किन्तु इनके सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों में मतभेद है और इनकी अधिकता से शोफोत्पत्ति के पक्ष और विपक्ष में अनेक प्रमाण दिए जाते हैं। जैसे शोफ की चिकित्सा में जल और नमक का निषेध करनेसे निश्चित लाभ प्राचीनतम कालसे देखा जाता है। किन्तु लवणविलयन का सिरा में निक्षेप करने से एवं अश्मरीजनित मूत्राघात में रक्त में जलांश अधिक होने पर भी शोफ की उत्पत्ति न होना इनकी शोफ की कारणता के विपक्ष में प्रमाण है।

(५) धातुगत परिवर्तन (Changes in tissue cells.)—धातुओं में लवण आदि कतिपय पदार्थों के अनुचित रूपमें सञ्चित होजाने पर भी उनको घोलनेके लिए जलकी अधिक आवश्यकता होती है और अधिक जलसञ्चय से शोफ की उत्पत्ति होती है।

आयुर्वेदोक्त सभी कारणों का समाधान इन्हीं पाँचों कारणों द्वारा सरलता से किया जा सकता है। यथा—**अभुक्तकृशाबलानाम्**—भोजन के अभाव तथा भोजन में प्रोभुजिन (Proteins) तथा जीवतिक्ति ए० और बी० की कमी से भी शोफ (Oedema) होता है। आधुनिक ग्रन्थों में इसे दुर्भिक्षजन्य शोफ (Famine oedema) नाम दिया गया है। इसके साथ रोगी को पाण्डु (Anaemia) तथा कभी-कभी अतिसार के आक्रमण भी होते रहते हैं।

तस्य सामान्यलक्षणान्याह—

सगौरवं स्यादनवस्थितत्वं सोत्सेधमूष्माऽथ सिरातनुत्वम्।
सलोमहर्षश्च विवर्णता च सामान्यलिङ्गं श्वयथोः प्रदिष्टम्॥ ६॥

(च. चि १२)

गौरव-सहित अस्थिरता, उभार, उष्णता, रक्तवाहिनी का पतलापन या विस्फार, रोंगटे खड़े होना तथा वर्ण की विकृति ये सूजनके सामान्य लक्षण हैं॥ ६॥

सामान्यलिङ्गमाह—सेत्यादि । सगौरवमिति अनवस्थितत्वविशेषणं, तथा सोत्सेध-मिति च ॥ ६ ॥

विमर्श—सामान्य शोफ में विकृत अवयव की त्वचा फूली या उभरी हुई होती है । तनाव के कारण त्वचा कुछ पतली चमकदार एवं विवर्ण होती है तथा सिरायें पतली और चमकती दिखाई देती हैं कुछ उष्मा भी होती है । तनाव से ही रोंगटे खड़े दिखते हैं । यह लक्षण पैत्तिक शोफ में जिसमें पाक की प्रवृत्ति होती है और अन्ततोगत्वा व्रणशोथ में परिणत हो सकता है उसमें विशेष रूपसे मिलते हैं । दबाने पर उत्सन्न भाग में गड्ढा पड़ना (pitting on presrure) शोफ का महत्त्वपूर्ण लक्षण है ।

आजकल सूजन के लिये इन्फ्लेमेशन तथा ईडिमा शब्द का व्यवहार होता है । ईडिमा का वर्णन पहले किया जा चुका है आगन्तुक कारणों से प्रायः इन्फ्लेमेशन की उत्पत्ति होती है । यह शारीरिक धातुओं की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है । Inflammation is the local defence of tissue of the site of damage which is caused by bacteria infection linjury or chemicals' इन्फ्लेमेशन के परिणामस्वरूप विद्रधि (Abcess) की उत्पत्ति होती है । ईडिमा में विद्रधि नहीं बनती अपितु धातुओं में जल-संचय हो जाने से भाग फूला हुआ दिखाई देने लगता है । साधारणतया किसी स्थान पर क्षोभ या उपसर्ग होने पर क्षोभक पदार्थ के विनाश या जीवाणुभक्षण क्रिया (phagocytosis) के द्वारा उपसर्गकारी जीवाणु का नाश कर दिया जाता है जिससे साधारण प्रतिक्रिया के उपरान्त कोई लक्षण व्यक्त नहीं होते । जिस अवस्था में स्थानीय धातुओं की दुर्बलता होती है उस अवस्था में उपसर्ग के लक्षण स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगते हैं । जिन्हें दो अवस्थाओं में विभक्त किया जा सकता है—

(१) **वाहिनीकृत अवस्था** (Vascular stage)—यह अवस्था रक्तवाहिनियों के विस्फार के कारण उत्पन्न होती है । इसके निम्न लक्षण हैं—

(क) रक्तिमा (Redness) विकृत भाग लाल हो जाता है ।

(ख) उष्णता (Heat) । (ग) स्पर्शासहता (Tenderness) ।

(घ) सूजन (Swelling) ।

(ङ) पीडा (Pain)

(च) स्वकर्मगुणहानि (Loss of function and abnormality in shape) ।

(२) **धातुकृत अवस्था** (Cellular stage)—इस अवस्था में उपसर्ग का मुकाबला करने के निमित्त स्थानीय प्रतिक्रियास्वरूप श्वेतकायाणुओं की वृद्धि होती है । बहुकारी (polymorph) श्वेतकण जीवाणुओं का भक्षण कर लेते हैं । इस अवस्था में कुछ जीवाणु और श्वेतकायाणुओं की मृत्यु भी होती है । पूय के ये मुख्य घटक होते हैं ।

ईडिमा में केवल पहिली अवस्था ही होती है, इससे वहाँ पूयोत्पत्ति नहीं होती ।

निजशोथेषु वातिकशोथं निरूपयति—

चलस्तनुत्वक् परुषोऽरुणोऽसितः सुषुप्तिहर्षार्तियुतोऽनिमित्ततः ।
प्रशाम्यति प्रोन्नमति प्रपीडितो दिवाबली च श्वयथुः समीरणात् ॥ ७ ॥

वातिक शोथ चञ्चल होता है । इसकी त्वचा पतली होती है। यह कठोर, लाल या काला होता है । कभी संज्ञानाश (Anaesthesia) एवं कभी रोमहर्ष (Hypersthesia) होता रहता है। अकारण ही शान्त हो जाता है और दबाने पर पुनः उभर आता है । दिनमें बढ़ जाता है ॥ ७ ॥

वातशोथलिङ्गमाह—चल इत्यादि। तनुत्वक् अबहलत्वक्। असितः कृष्णः। सुषुप्तिः स्पर्शाज्ञता; हर्षो झिणिझिणिवद्वेदना, किंवा रोमहर्षः। अनिमित्ततः प्रशाम्यतीति वायोश्चलत्वेन कदाचिन्निमित्तं विनाऽपि लीनो भवति; निमित्तत इति पाठे स्नेहोष्णमर्दनादेर्निमित्ततः प्रशाम्यति उपशमं प्राप्नोतीति, उपशयार्थमेतदुक्तम्। प्रोन्नमति प्रपीडित इति प्रपीडितः सन्नन्तरुन्नमतीत्यर्थः। दिवाबलीति दिवा बलवान्, न त्वबली। 'स्नेहोष्णमर्दनाद्यैश्च प्रशाम्येत् स च वातिकः। यश्चाप्यरुणवर्णाभः शोथो नक्तं प्रणश्यति' (च. सू. स्था. १८) इति चरकवचनात्॥ ७॥

विमर्श—साधारणतया वातिक शोथ तैल-मर्दन तथा सेक आदि उपचारों से शान्त होता है, किन्तु कभी-कभी विना उपचार के भी शान्त हो जाता है। जानपदिक शोथ (Epidemic dropsy) में शोफ दिन के अन्त में सबसे अधिक होता है और रात्रि को विश्राम करने से ठीक हो जाता है। इसे दिवाबली कह सकते हैं दानवीय उत्कोठ (Angioneurotic oedema) का भी इसमें ग्रहण कर सकते हैं। हृद्रोग में विशेषतः उसके आरम्भिक अवस्था में भी वातिक शोथ के लक्षण मिलते हैं।

पैत्तिकशोथमाह—

मृदुः सगन्धोऽसितपीतरागवान् भ्रमज्वरस्वेदतृषामदान्वितः।
य उष्यते स्पष्टरुगक्षिरागकृत् स पित्तशोथो भृशदाहपाकवान्॥ ८॥

पैत्तिक शोथ मृदु, विशेष प्रकार की गन्धसे युक्त, काला, पीला या लाल रंग का; भ्रम, ज्वर, स्वेद, प्यास तथा मद जैसे लक्षणों से युक्त होता है। जिसमें दाह विशेष हो, पीडा की स्पष्टता, आँखों में सुर्खी हो एवं पकने की प्रवृत्ति हो उसे पैत्तिक शोथ समझना चाहिये॥ ८॥

पैत्तिकमाह—मृदुरित्यादि। उष्यत इति दह्यते॥ ८॥

विमर्श—पित्तकृत विदाह के कारण विकृत स्थान की धातुएँ भी आक्रान्त हो जाती हैं तथा विदाह और पाक की प्रवृत्ति होने से पैत्तिक शोथ के सब लक्षण व्रणशोथ (Inflammalion) या शोथ की पच्यमानावस्था से मिलते हैं।[1]

कफजं शोथमाह—

गुरुः स्थिरः पाण्डुररोचकान्वितः प्रसेकनिद्रावमिवह्निमान्द्यकृत्।
स कृच्छ्रजन्मप्रशमो निपीडितो न चोन्नमेद्रात्रिवली कफात्मकः॥९॥

कफज शोथ गुरु, स्थिर, पाण्डुवर्ण का होता है। रोगी अरोचक लालास्राव, निद्रा, वमन तथा अग्निमान्द्य से पीडित रहता है। इस शोथ की उत्पत्ति और शान्ति कठिनाई (देर) से होती है। दवाने से दबकर शीघ्रता से उठता नहीं, रात्रि के समय इसकी वृद्धि होती है॥ ९॥

१. व्रणशोथ एक स्थानीय ही होता है जैसा कि आगे कहा जायगा **'एकदेशोत्थितः शोथो व्रणानां पूर्वलक्षणम्'**। अतः पैत्तिक शोथ को आधुनिकदृष्ट्या कोथ (Necrois & gangrene) कहना उत्तम प्रतीत होता है। इसमें रक्तवाहिनियों में अवरोध या अन्य कारण से रक्तसञ्चार में बाधा उत्पन्न होने से शोथ-स्थानीय धातुओं का पोषणाभाव एवं क्षोभक पदार्थों की उपस्थिति से विनाश या पाक प्रारम्भ हो जाता है। पित्त स्वभावतः विदाही और पाकजनक है और उसकी उपस्थिति या आधिक्य में स्थानीय धातुओं का गलन और क्थन होना असम्भव नहीं होता और उसके उत्पन्न होने पर पैत्तिक शोथ के सभी लक्षण मिलते हैं अतः पैत्तिक शोथ को कोथ (Gangrene) मानना ही उचित प्रतीत होता है। (सं०)

कफजमाह—गुरुरित्यादि । अरोचकान्वित इति अरोचकव्याधिसहचारी । कृच्छ्रजन्मप्रशम इति चिरोत्पत्तिविनाशः । रात्रिबलीति रात्रौ स्रोतोवरोधजेन देहक्लेदेनाचेष्टया च कफस्य वृद्धत्वात्तज्जः शोथो बलवान् भवति; दिवा तु स्फुटस्रोतसि शरीरे सचेष्टे च न कफो बली भवति, किं तर्हि वायुः, तेन तज्जः शोथो दिवाबली भवति ॥ ९ ॥

विमर्श—रात्रि में स्रोतों के अवरुद्ध हो जाने से तथा विश्राम करने से अधिक बढ़ा हुआ कफ रात्रि में शोथ को बढ़ा देता है। अर्वाचीनदृष्ट्या इसे घनशोफ (Solid oedema) कह सकते हैं। यह लसीकावाहिनियों (Lymphatics) के अवरोध के कारण उत्पन्न होता है।

द्विदोषत्रिदोषजशोथावाह—

निदानाकृतिसंसर्गाच्छ्वयथुः स्याद् द्विदोषजः ।
सर्वाकृतिः सन्निपाताच्छोथो व्यामिश्रलक्षणः ॥१०॥ (च. सू. १८)

निदान तथा लक्षणों के संसर्ग से द्विदोषज शोथ होता है। तीनों दोषों के मिलने से त्रिदोष लक्षणयुक्त सान्निपातिक शोथ होता है ॥ १० ॥

व्यामिश्रौषधविधानार्थं क्वापि क्वापि प्रकृतिसमसमवेता अपि शिष्यहितैषितया द्वन्द्वसन्निपाता अतिदेशेन पठ्यन्ते[1], ये तु विकृतिविषमसमवेतास्तान् कण्ठरवेण पठन्ति; अतोऽतिदेशेन द्वन्द्वत्रयसन्निपातानाह—निदानाकृतिसंसर्गादित्यादि । व्यामिश्रलक्षण इति मिलितवातादित्रयलिङ्गः । अनेनैव सर्वाकृतिरित्यस्यार्थे सिद्धे तदभिधानं वातादिप्रत्येकं कृत्स्नलिङ्गनियमार्थम् ॥ १० ॥

विमर्श—प्रकृतिसमसमवायारब्ध होने के कारण द्वन्द्वज तथा सन्निपातज शोथों का विस्तृत वर्णन नहीं किया गया है।

अभिघातजं शोथं प्राह—

अभिघातेन शस्त्रादिच्छेदभेदक्षतादिभिः ।
हिमानिलोदध्यनिलैर्भल्लातकपिकच्छुजैः ॥ ११ ॥
रसैः शूकैश्च संस्पर्शाच्छ्वयथुः स्याद्विसर्पवान् ।
भृशोष्मा लोहिताभासः प्रायशः पित्तलक्षणः ॥१२॥ (वा. नि. १३)

शस्त्र आदि से छेदन, भेदन एवं क्षत आदि अभिघात से, ठण्डी वायु, समुद्री वायु, भिलावे का रस तथा केवाँच के शूकों के स्पर्श से चारों ओर फैलने वाला शोथ उत्पन्न होता है, उसमें गर्मी (Temperature) अधिक होती है, रंग लाल होता है एवं पित्त के लक्षण मिलते हैं ॥

अभिघातजं श्वयथुमाह—अभिघातेनेत्यादि । अभिघातेन यः शोथः स शस्त्रादिभिर्भवति । हिमानिलोदध्यनिलैरिति हिमानिलैरुदध्यनिलैश्च, उदधिः समुद्रः । भल्लातकपिकच्छुजै रसैः शूकैरिति भल्लातकरसैः कपिकच्छ्वाः शूकैश्च । कपिकच्छुः शूकशिम्बी ॥ ११-१२ ॥

विमर्श—यह आगन्तुज शोथ है। स्थानीय धातुओं के संक्षोभ से इसकी उत्पत्ति होती है प्रायः व्रणशोथ या कोथ के समान ही इसके लक्षण होते हैं। अतिशीत वायु आदि के सम्पर्क से भी रक्तवाहिनियों में संकोच के कारण रक्त-सञ्चार अवरुद्ध हो जाने से शोफ की उत्पत्ति होती है जिसे अर्वाचीन ग्रन्थों में Chilblains or Raynaud's desease नाम से वर्णित किया गया है।

---

१. गण्यन्ते इति क.।

विषजन्यं शोथं वर्णयति—

विषजः सविषप्राणिपरिसर्पणमूत्रणात् ।
दंष्ट्रादन्तनखाघातादविषप्राणिनामपि ॥ १३ ॥
विण्मूत्रशुक्रोपहतमलवद्वस्त्रसंकरात् ।
विषवृक्षानिलस्पर्शाद्गरयोगावचूर्णनात् ॥ १४ ॥
मृदुश्चलोऽवलम्बी च शीघ्रो दाहरुजाकरः। (वा. नि. १३)

मकड़ी आदि विषैले जन्तुओं के शरीर पर चलने एवं मूत्रत्याग करने से, रीछ–व्याघ्र जैसे निर्विष प्राणियों की दाढ़, दांत एवं नाखूनों के आघात से, सविष प्राणियों के विष्ठा, मूत्र तथा शुक्र से दूषित वस्त्र के संपर्क से, विष वृक्ष की वायु के स्पर्श से, कृत्रिम विष का शरीर पर लेप करने से, स्पर्श में मृदु, संचरणशील, नीचे के अंगों में शीघ्र फैलने वाला एवं दाह और पीडा से युक्त शोथ उत्पन्न होता है ॥ १३–१४ ॥

विषजमाह—विषज इत्यादि । सविषप्राणिनः सर्पादयस्तेषां परिसर्पणं भ्रमणं तस्मात्, सविषप्राणिनां मूत्रणाच्च दंष्ट्रादन्तेति दंष्ट्रा कुटिला 'दाढ' इति ख्याता; तद्विपरीतश्च दन्तो गोबलीवर्दन्यायात् । विण्मूत्रशुक्रोपहतमलवद्वस्त्रसंकरादिति सविषप्राणिनां विण्मूत्राद्युपहतं मलवच्च वस्त्रं यत्तस्य संस्पर्शात् । अवलम्बी अधोगमनशीलः । शीघ्रः शीघ्रोत्पत्तिः । अयं चागन्तुरपि विशिष्टलिङ्गचिकित्सोपयोगात् पृथक् पठितः ॥ १३–१४ ॥

विमर्श—यह भी आगन्तुज शोथ ही है। इसमें भी स्थानीय धातुओं का संक्षोभ होता है। अविष प्राणियों के अभिघात से उत्पन्न शोथ अभिघातज में ही समझना चाहिये। पूर्वोक्त अभिघातादिजनित या विषजनित शोथों में रक्तसञ्चार में बाधा के अतिरिक्त विकृत स्थान की धातुओंका विनाश (Necrosis) और कथन Gangrenous change होता है अतः इनमें पैत्तिक शोथ के समान ही लक्षण होते हैं। आगन्तुज रूप में समान होते हुए भी कारणों की विशिष्ट चिकित्सार्थ अभिघातज और विषज शोथ का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया है।

कुत्र स्थिता दोषाः कस्मिन् देशे शोथं कुर्वन्तीति विवेचयति—

दोषाः श्वयथुमूर्ध्वं हि कुर्वन्त्यामाशयस्थिताः ॥ १५ ॥
पक्वाशयस्था मध्ये तु वर्चःस्थानगतास्त्वधः ।
कृत्स्नदेहमनुप्राप्ताः कुर्युः सर्वसरं तथा ॥ १६ ॥ (सु. चि. २३)

आमाशय में स्थित दोष शरीर के ऊर्ध्व भाग में शोथ उत्पन्न करते हैं। पक्वाशय में स्थित दोष मध्य भाग में तथा गुदस्थान में स्थित दोष निम्न भाग में शोथ उत्पन्न करते हैं। सर्व शरीर में फैले हुए दोष सार्वदेहिक शोथ को उत्पन्न करते हैं ॥ १५–१६ ॥

यत्रस्था दोषा यत्र देशे शोथं कुर्वन्ति तमाह—दोषा इत्यादि। ऊर्ध्वमिति उरःप्रभृत्यूर्ध्वदेहे। मध्य इति उरःपक्वाशयमध्ये। अध इति पक्वाशयादधः। सर्वसरं सर्वशरीरसरणशीलम् ॥ १५–१६ ॥

विमर्श—यहाँ निजकारणजन्य शोफ (Oedema) का वर्णन किया गया है। आमाशय में दोष रहने से वक्षःप्रदेश और ऊपर के भाग में शोथ उत्पन्न होता है। आमाशय कफ का स्थान है अतः इसे कफज शोथ भी कह सकते हैं। वृक्क–विकारजन्य शोथ के प्राथमिक लक्षण मुख, विशेषतः

आँखों पर प्रकट होते हैं। दोष जब पक्वाशय में स्थित रहता है तो उस स्थान के समीपस्थ अंगों में विकृति होने से यकृत् के रोग तथा जलोदर होते हैं। इसे पैत्तिक शोफ कह सकते हैं। निम्नप्रदेश की सूजन प्रायः वातजन्य होती है और प्रायः हृदय के विकार की द्योतक है। पोषणाभावजन्य शोफ (Neutritional oedema) भी वातिक शोफ का ही रूप है। इसमें भी हृदय की विकृति होती है और शोफ पैरों से ही प्रारम्भ होता है। जब ये दोष सारे शरीर में व्याप्त हो जाते हैं और रोग जीर्ण हो जाता है तो सार्वदेहिक शोफ (General anasarca) उत्पन्न हो जाता है।

शोथस्य साध्यासाध्यतां निरूपयति—

यो मध्यदेशे श्वयथुः स कष्टः सर्वगश्च यः।
अर्धाङ्गे रिष्टभूतः स्याद्यश्चोर्ध्वं परिसर्पति ॥ १७॥

श्वासः पिपासा छर्दिश्च दौर्बल्यं ज्वर एव च।
यस्य चान्ने रुचिर्नास्ति श्वयथुं तं विवर्जयेत् ॥१८॥ (सु. चि. २३)

अनन्योपद्रवकृतः शोथः पादसमुत्थितः।
पुरुषं हन्ति नारीं च मुखजो गुह्यजो द्वयम्।
नवोऽनुपद्रवः शोथः साध्योऽसाध्यः पुरेरितः ॥१९॥ (वा. नि. १३)

विवर्जयेत्कुक्ष्युदराश्रितं च तथा गले मर्मणि संश्रितं च।
स्थूलः खरश्चापि भवेद्विवर्ज्यो यश्चापि बालस्थविराबलानाम् ॥ २० ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने शोथनिदानं समाप्तम् ॥ ३६ ॥

शरीर के मध्यभाग तथा सर्वशरीरगत शोथ कृच्छ्रसाध्य होता है। अर्धांग में होनेवाला शोथ और ऊपर की ओर बढ़ता है अरिष्ट के समान अर्थात् असाध्य होता है। जिस रोगी को श्वास, प्यास, वमन, दुर्बलता तथा ज्वर हो एवं जिसे अन्न से अरुचि हो गई हो उसे भी असाध्य समझना चाहिये॥

शोथ के उपद्रवों[1] से ही उत्पन्न होने वाला पैरों से आरब्ध शोथ पुरुष को मार देता है। मुख से उत्पन्न और नीचे की ओर बढ़ने वाला शोथ स्त्री का एवं गुह्यस्थान में उत्पन्न हुआ शोथ स्त्री और पुरुष दोनों का प्राण हर लेता है। उपद्रवों से रहित नवीन शोथ साध्य एवं पूर्वोक्त असाध्य होते हैं॥

कुक्षि, उदर, गले तथा मर्म स्थान में होनेवाला शोथ असाध्य होता है। अधिक मोटा एवं खुरदरा शोथ भी असाध्य है। बालक, वृद्ध एवं दुर्बल रोगियों का शोथ भी असाध्य होता है॥१७-२०॥

अतः परं कृच्छ्रादिभेदमाह—यो मध्यदेश इत्यादि। मध्यदेहगस्य कष्टत्वं तद्देशगशोथप्रभावात्। सर्वंग इति सर्वदेहगामी। सर्वज इति पाठान्तरे सर्वजः सान्निपातिकः। रिष्टभूत इति रिष्टतुल्यः, भूतशब्द उपमाने; यथा–मातृभूतः पितृभूत इति। व्याधेरेवात्र रिष्टभूतत्वं तस्य च निमित्तकृतत्वाद्भूतशब्द उपात्त इति कार्तिकः। **अन्ये तु भूतशब्दं स्वरूपवचनमाहुः। यश्चोर्ध्वं परिसर्पतीति पुरुषविषयकमेतत्; चकारात् स्त्रियाश्चोपरिजो योऽधो याति स गृह्यते, तथा गुह्यजो यः सर्वंगः। वचनं हि–'यस्तु पादाभिनिर्वृत्तः शोथः सर्वाङ्गगो भवेत्। पुरुषं हन्ति, नारीं च मुखजो, गुह्यजो द्वयम्'** (च. सू. स्था. १८) **इति। अनन्योपद्रवकृत-**

---

१. छर्दिस्तृष्णाऽरुचिः श्वासो ज्वरोऽतीसार एव च।
सप्तकोऽयं सदौर्बल्यः शोथोपद्रवसंग्रहः ॥ (चरक)

इति। अन्यस्य उपद्रवा अन्योपद्रवास्तद्विपरीता अनन्योपद्रवाः, एतेनायमर्थः-शोथस्यैव ये उपद्रवास्तैः कृतः। ते च-'श्वासः पिपासा दौर्बल्यं ज्वरश्छर्दिररोचकः। हिक्काऽतीसारकासाश्च शोथिनं क्षपयन्ति हि' (सु. चि. स्था. २२) इति सुश्रुतोक्ताः। चरकेऽप्युक्तं-'छर्दिस्तृष्णाऽरुचिः श्वासो ज्वरोऽतीसार एव च। सप्तकोऽयं सदौर्बल्यः शोथोपद्रवसंग्रहः' (च. सू. स्था. १८) इति। अथवा अन्यमुपद्रवं करोतीति अन्योपद्रवकृन्निदानं नान्योपद्रवकृदनन्योपद्रवकृत्, ततः स्वनिदानात्, 'जातः' इति शेषः; तेन शोथजनकनिदानादेवोत्पन्न इत्यर्थः। पाण्डुरोगादौ तु यः शोथः पादसमुत्थितः सोऽन्योपद्रवकृतो निदानान्तराज्जातः, साध्य एव। 'आननोपद्रवगत' इति पाठान्तरेऽयमर्थः-पादयोरुत्थितः पूर्वं पश्चादाननमुपद्रवेण प्रसारेणोपद्रवत्वेन वा गतः। तथा च तन्त्रान्तरं-पादप्रवृत्तः श्वयथुर्नृणां यः प्राप्नुयान्मुखम्। स्त्रीणां वक्त्रादधो याति बस्तिजश्च न सिध्यति' इति। क्षारपाणिनाऽप्युक्तम्-'ऊर्ध्वगामी नरं पद्भ्यामधोगामी मुखात् स्त्रियम्। उभयं बस्तिसंजातः शोथो हन्ति न संशयः' इति। गुह्यज इति बस्तिजातः। द्वयमिति नरं नारीं च। असाध्यः पुरेरित इति 'अर्धाङ्गे रिष्टभूत' इत्यादिना॥ १७-२०॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां शोथनिदानं समाप्तम्॥ ३६॥

विमर्श—रोगी जिस पार्श्व से लेटे उसी में शोथ हो जाना रोग की उग्रता और रोगी की अतिदुर्बलता का निदर्शक होता है और प्रायः असाध्य होता है। फुफ्फुसगत दुष्टार्बुद में जब मध्यान्तरालीय ग्रन्थियाँ (Mediastinal glands) भी आक्रान्त हो जाती हैं तब एक पार्श्व में ही शिर और वक्ष में शोथ होता है; वह मूलरोग के कारण ही असाध्य होता है। अतः इसे रिष्ट या मृत्युसूचक कहा गया है।

अनन्योपद्रवकृतः शोथः—इसके दो अर्थ किये जाते हैं। (१) **न अन्यस्य उपद्रवाः तैः कृतः** अर्थात् जो उपद्रव दूसरों के नहीं किन्तु शोथ के ही उपद्रव हैं उनके द्वारा उत्पन्न शोथ असाध्य होता है। स्पष्टार्थ यह है कि श्वास, पिपासा[1] आदि शोथ के उपद्रवों के कारण यदि शोथ और भी बढ़ता जाये या इन्हीं रोगों में यदि पुरुष के पाद में शोथ उत्पन्न होकर बढ़ता जावे तो असाध्य होता है। (२) **न अन्यमुपद्रवं करोति (किन्तु शोथमेव जनयति) ततो जातः शोथः।** अर्थात् दूसरे विकारों को जो नहीं उत्पन्न करता है (केवल शोथ को ही उत्पन्न करता है) उससे अर्थात् शोथोत्पादकनिदान से ही उत्पन्न पादगत शोथ पुरुष में असाध्य होता है। उसी प्रकार पूर्ववत् मुख से उत्पन्न शोथ स्त्री में तथा गुह्यांग में उत्पन्न शोथ स्त्री और पुरुष दोनों में ही असाध्य होता है। तन्त्रान्तर में कहा है कि पैरों से प्रारम्भ होकर मुख तक पहुँच जाने वाला पुरुष का एवं मुख से निम्न भाग को जाने वाला स्त्री का या वस्तिप्रदेश में उत्पन्न शोथ स्त्री पुरुष दोनों में असाध्य होता है[2]। क्षारपाणि ने भी इसकी पुष्टि की है—**'ऊर्ध्वगामी नरं पद्भ्यामधोगामी मुखात् स्त्रियम्। उभयं बस्तिसंजातः शोथो हन्ति न संशयः॥** वाग्भट ने तो पादशोथ को ही असाध्य माना है **'प्रतिज्ञा वाग्भटस्येयं पादशोथी न जीवति'।** पादशोथ हृद्रोग का भी निदर्शक है। हृद्रोग स्वयं दुःसाध्य होता है। अतः उससे होने वाला शोथ भी असाध्य माना गया है।

समाप्तं चेदं शोथनिदानम्।

---

१. श्वासः पिपासा दौर्बल्यं ज्वरश्छर्दिररोचकः।
हिक्काऽतिसारकासाश्च शोथिनं क्षपयन्ति हि॥ (सुश्रुतः)

२. पादप्रवृत्तः श्वयथुर्नृणां यः प्राप्नुयान्मुखम्। स्त्रीणां वक्त्रादधो याति बस्तिजश्च न सिध्यति॥

अथ वृद्धिनिदानम्

वृद्धेः सम्प्राप्तिं वर्णयति—

वृद्धोऽनूर्ध्वगतिर्वायुः शोथशूलकरश्चरन् ।
मुष्कौ वङ्क्षणतः प्राप्य फलकोषाभिवाहिनीः ॥ १ ॥
प्रपीड्य धमनीर्वृद्धिं करोति फलकोषयोः ।

अधोगमनशील वायु कुपित होकर शोथ और शूल को उत्पन्न करता हुआ वंक्षण प्रदेश से होकर अण्डकोषों में आकर वृषणकोशगामिनी धमनी को दूषित करके अण्डकोषों को बढ़ा कर देता है उसे वृद्धि कहते हैं ॥ १ ॥

वृद्धेर्भेदान् दर्शयति—

दोषास्रमेदोमूत्रान्त्रैः स वृद्धिः सप्तधा गदः ॥ २ ॥
मूत्रान्त्रजावप्यनिलाद्धेतुभेदस्तु केवलम् । (वा. नि. ११)

वात, पित्त, कफ, रक्त, मेद, मूत्र तथा आन्त्र भेद से वृद्धि सात प्रकार की होती है। मूत्रवृद्धि तथा आन्त्रवृद्धि का मूल हेतु भी वायु ही है, विशिष्ट हेतु मात्र का भेद है ॥ २ ॥

शोथत्वसामान्याच्छोथानन्तरं वृद्धिरभिधीयते। वृद्धेः संप्राप्तिमाह-क्रुद्धोऽनूर्ध्वगतिर्वायुरित्यादि। अनूर्ध्वगतिरधोगतिर्वायुर्मुष्कौ प्राप्य चरन् गच्छन्, वङ्क्षणतो मेढ्रजङ्घासन्धेः सकाशात्; फलकोषाभिवाहिनीरिति फलं च कोषश्च फलकोषौ, अथवा फलयोः कोषौ, तद्वहा धमनीश्च प्रपीड्य संदूष्य, वृद्धिं करोति। फलकोषयोरिति द्विवचनमुपलक्षणं, तेनैककोषेऽपि दृश्यमाना वृद्धिः संगता। स वृद्धिरिति 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्'-इत्यनेन क्तिजन्तो वृद्धिशब्दः पुंल्लिङ्गः क्तिन्नन्तस्तु स्त्रीलिङ्गः, वृद्धिः कुरण्डोऽभिधीयते। संख्येयनिर्देशादेव संख्यायां लब्धायां सप्तधेति वचनं न्यूनाधिकसंख्यानिरासार्थं, तेन द्वन्द्वजादिवृद्धेरधिकाया निरासः, असंभवस्तु तस्या व्याधिस्वभावात्; मूत्रान्त्रवृद्ध्योर्वातवृद्ध्यन्तर्भावात् न्यूनसंख्यानिरासार्थमनयोर्वातजत्वेऽपि निमित्तचिकित्साभेदात् पृथगभिधानं, निमित्तभेदनिबन्धन एव व्याधिभेदः। यदुक्तं-'दोषदूष्यसंसर्गादायतनविशेषान्निमित्ततश्चैषां व्याधीनां भेदः' (सु. सू. स्था. २४) इति। अत आह-मूत्रान्त्रजावप्यनिलाद्धेतुभेदस्तु केवलमिति ॥ १-२ ॥

विमर्श—वृद्धि कहने से सामान्यतया सभी बढ़नेवाले रोगों (गलगण्ड, अर्बुद आदि) का ग्रहण हो सकता है, फिर भी प्रकृत में विभिन्न कारणों से होने वाली अण्डकोषवृद्धि का ही ग्रहण किया गया है। चरक ने इसके लिये ब्रध्न शब्द का प्रयोग किया है—

ब्रध्नोऽनिलाद्यैर्वृषणे स्वलिङ्गैरन्त्रं निरेति प्रविशेन्मुहुश्च।
मूत्रेण पूर्णं मृदु मेदसा चेत् स्निग्धं च विद्यात् कठिनं च शोथम् ॥ (चरकः)

सभी वृद्धियों में विशिष्ट कारणों के अतिरिक्त मूलकारण वायु ही है।

संक्षेप में वृद्धि के दो भेद किये जा सकते हैं—**निज** तथा बाह्य।

अण्डज वृद्धि—आन्त्रवृद्धि को छोड़कर अन्य छ प्रकारों का समावेश इसमें हो जाता है। वर्णनसौकर्यार्थ अण्डकोष को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) **कोश या आवरण**—इसमें निम्न रोग हो सकते हैं—

(क) अधस्त्वक् शोथ (Cellulitis) (ख) मेदोग्रन्थि (Sebaceous cyst)

(ग) अर्बुद (घ) मेदोजवृद्धि (Elephantiasis)

(२) अण्डरज्जु व वृषणावरण (Spermatic cord and tunica vaginalis) इसमें निम्न रोग हो सकते हैं—

(क) मूत्रजवृद्धि या जलवृषण (Hydrocele)
(ख) रक्तज वृद्धि (Haematocele)
(ग) सिरोत्फुल्लता (Varicocele)

(३) अण्डग्रन्थि (Testes) इसमें निम्न रोग हो सकते हैं—

(क) अण्डग्रन्थि शोथ (Orchitis) यह आन्त्रिक ज्वर, पाषाणगर्दभ (Mumps) तथा वातरक्त (gout) के उपद्रवस्वरूप उत्पन्न होता है। (ख) अर्बुद। (ग) उपाण्ड शोथ (Epidedimitis) (घ) उपाण्डीय ग्रन्थि (Cyst of epidedimitis)

बाह्यवृद्धि—अण्डकोषगत अंगों के अतिरिक्त किसी बाहर के अङ्ग के आने से जो वृद्धि होती है उसे बाह्यवृद्धि कहते हैं। ऐसी वृद्धि का उदाहरण आन्त्रवृद्धि है।

वातजादिवृद्धीनां लक्षणान्याह—

वातपूर्णदृतिस्पर्शो रूक्षो वातादहेतुरुक्॥ ३॥
पक्वोदुम्बरसंकाशः पित्ताद्दाहोष्मपाकवान्
कफाच्छीतो गुरुः स्निग्धः कण्डूमान् कठिनोऽल्परुक्॥ ४॥
कृष्णस्फोटावृतः पित्तवृद्धिलिङ्गश्च रक्तजः।
कफवन्मेदसा वृद्धिर्मृदुस्तालफलोपमः॥ ५॥
मूत्रधारणशीलस्य मूत्रजः स तु गच्छतः।
अम्भोभिः पूर्णदृतिवत् क्षोभं याति सरुङ्मृदुः॥ ६॥
मूत्रकृच्छ्रमधः स्याच्च चालयन् फलकोषयोः। (वा. नि. ११)

वातिक वृद्धि वायु से परिपूर्ण मशक के समान स्पर्श वाली एवं रूक्ष होती है एवं बिना किसी विशेष कारण के पीडा होती रहती है। पैत्तिक वृद्धि में वृषणकोष का रंग पके हुए गूलर के फल के समान हो जाता है और उसमें दाह, उष्णता तथा पकने की प्रवृत्ति रहती है। कफज वृद्धि में अण्डकोष शीत, गुरु, चिकना, खुजली से युक्त, कठिन तथा मन्द पीडा वाला होता है। रक्तज वृद्धि में काले रंग के स्फोट तथा पित्तज वृद्धि के लक्षण पाये जाते हैं। मेदोज वृद्धि के कफ के समान लक्षण होते हैं किन्तु वह मृदु होती है एवं उसका रंग ताड़ के फल के समान होता है। मूत्र के वेग को रोकने से मूत्रज वृद्धि होती है, इसमें चलने पर जलपूर्ण मशक के समान क्षोभ होता है, हलकी-हलकी पीडा होती है, स्पर्श में वह मृदु होती है और फलकोषों के इधर-उधर चलने से नीचे की ओर मूत्रकृच्छ्र के समान वेदना होती है॥ ३-६॥

वातजादीनां मूत्रजान्तानां वृद्धीनां क्रमेण लक्षणान्याह-वातेत्यादि। अहेतुरुगिति अनिमित्ततो दाहादिरुक्। रक्तजे 'कृष्णस्फोटावृत' इति पित्तजवृद्धिलिङ्गादधिकं; तेन हेतुलिङ्गचिकित्साभेदाद्रक्तजवृद्धिः पृथग्गण्यते। मेदोजे तालफलोपम इति पक्वतालफलमिव नीलवर्तुलः। मूत्रजे मूत्रकृच्छ्रमिति मूत्रकृच्छ्रवद्वेदना। चालयन् फलकोषयोरिति फलकोषयोश्चालयन् चलो भवन्नितस्ततो गच्छन् सोऽधः स्यात्। चालयन्निति स्वार्थिको णिच्॥ ३-६॥

विमर्श—श्रीरमानाथ द्विवेदी ने प्राचीन वृद्धियों के लिये निम्न शब्द दिये हैं—दोषजन्य सभी वृद्धियाँ वृषणशोथ (Orchitis) के विभिन्न भेद हैं।

वातिक वृद्धि—जीर्ण या सौम्य वृषणशोथ (Chronic or Subacute orchitis)
पैत्तिक वृद्धि—तीव्र " (Acute ")
कफज वृद्धि—जीर्ण " (Chronic or Tubercular)
मेदोज वृद्धि—(Scrotal Elephantiasis or simple tumour)
रक्तज वृद्धि—(Haematocele)
मूत्रज वृद्धि—जलवृषण (Hydrocele) आन्त्रवृद्धि—(Hernia)

मूत्रधारणशीलस्य—मूत्रज वृद्धि (Hydrocele) में वस्तुतः मूत्र से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यह वृषणावरण (Tunica vaginalis) का रोग है। जिस प्रकार जलोदर में रक्तवाहिनियों से जल चूकर उदरावरण गुहा में एकत्रित हो जाता है, वैसे ही इसमें भी रक्तवाहिनियों से जल चूकर वृषणावरण (Tunica vaginalis) में एकत्रित होने लगता है। 'Hydrocele is a collection of fluid other than pus or blood within the confines of the proeessus vaginalis.' वृषणावरण में रक्त एवं पूयातिरिक्त द्रव के एकत्रीभवन को मूत्रज वृद्धि या जलवृषण (Hydrocele) कहते हैं।

मूत्रज वृद्धि के लिये वस्तुतः जलवृषण शब्द का व्यवहार करना उचित है इसकी उत्पत्ति का विशिष्ट कारण अज्ञात है फिर भी वृषणशोथ, फिरंगज-वृषणविकृति एवं जल-वायु का इसकी उत्पत्ति पर विशेष प्रभाव पड़ता है। कुछ लोग इसे श्लीपद का ही एक प्रच्छन्न प्रकार मानते हैं।

लक्षण—(१) अण्डकोष फूला रहता है (२) पीडा का प्रायः अभाव

(३) कण्डू—रोग अधिक बढ़ जाने पर शिश्न अन्तराविष्ट हो जाता है जिससे मूत्र उसकी त्वचा पर भी बहता रहता है, कण्डू का यही मुख्य कारण है।

(४) अस्त्यात्मक दीपिका परीक्षा (Positive transillumination test)

(५) कम्पन या तरंग प्रतीति

अधस्त्वक् शोथ (Cellulitis), वृषणशोथ, मेदोज वृद्धि, रक्तज वृद्धि, अर्बुद तथा मेदोग्रन्थि से सापेक्ष निश्चिति की जाती है।

क्रमप्राप्तामान्त्रवृद्धिं वर्णयति—

वातकोपिभिराहारैः शीततोयावगाहनैः ॥ ७ ॥
धारणेरणभाराध्वविषमाङ्गप्रवर्तनैः ।
क्षोभणैः क्षोभितोऽन्यैश्च क्षुद्रान्त्रावयवं यदा ॥ ८ ॥
पवनो विगुणीकृत्य स्वनिवेशादधो नयेत् ।
कुर्याद्वङ्क्षणसन्धिस्थो ग्रन्थ्याभं श्वयथुं तदा ॥ ९ ॥
उपेक्ष्यमाणस्य च मुष्कवृद्धिमाध्मानरुक्स्तम्भवतीं स वायुः । (वा.नि.११)
प्रपीडितोऽन्तः स्वनवान् प्रयाति प्रध्मापयन्नेति पुनश्च मुक्तः ॥ १० ॥
अन्त्रवृद्धिरसाध्योऽयं वातवृद्धिसमाकृतिः ।

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने वृद्धिनिदानं समाप्तम् ॥ ३७ ॥

वातप्रकोपक भोजनों से, अधिक शीतल जल में स्नान करने से, उपस्थित वेग के धारण करने तथा अप्राप्त वेग के प्रेरण करने से, भार उठाने, अधिक मार्ग चलने तथा अङ्गों के इतस्ततः चालन तथा अन्य क्षोभक कारणों से क्षुभित वायु जब क्षुद्रान्त्र के एक भाग को संकुचित करके अपने स्थान से नीचे को ले जाता है तो वंक्षण में ग्रन्थि के समान शोथ को उत्पन्न करता है। उपेक्षा

करने पर वह वायु (और नीचे पहुँच कर) आध्मान, पीडा एवं स्तम्भन के साथ अण्डकोष की वृद्धि करा देता है। इसे आन्त्रवृद्धि कहते हैं। दबाने पर आन्त्र शब्द करता हुआ अन्दर प्रविष्ट हो जाता है और छोड़ने पर पुनः उभार पैदा करता हुआ अण्डकोश में पहुँच जाता है। आन्त्रवृद्धि के लक्षण वातिक वृद्धि के समान होते हैं और वह असाध्य होती है ॥ ७-१० ॥

अन्त्रवृद्धिमाह-वातकोपिभिरित्यादि। धारणं वेगस्योपस्थितस्य, ईरणमप्राप्तस्य। क्षोभणैः क्षुभितोऽन्यैरिति बलवद्विग्रहधनुराकर्षणादिभिः। क्षुद्रान्त्रावयवमिति बृहदन्त्रव्युदासार्थम्। विगुणीकृत्येति सङ्कुचीकृत्य। द्विगुणीकृत्येति पाठान्तरे सङ्कोचेन द्विगुणीकृत्य। स्वनिवेशात् स्वस्थानात्। तदा वङ्क्षणसन्धिस्थः सन् वङ्क्षणसन्धौ ग्रन्थिरूपमसाध्यं श्वयथुं करोति, तत्र ग्रन्थिरूपेण स्थित्वा कालान्तरेण फलकोषं गच्छतीति। तां मुष्कवृद्धिमाध्मानरुक्स्तम्भवतीमुपेक्षमाणस्य अचिकित्सतः पुरुषस्य। अत्र भोजः—**'अन्त्रं द्विगुणमादाय जन्तोर्नयति वङ्क्षणम्। वङ्क्षणात्तद्गुजायुक्तं फलकोषं प्रपद्यते' इति। प्रध्मापयन्निति उच्छूनयन्। असाध्योऽयमिति कथं? यतोऽस्य चिकित्साऽभिहिता; नैवम्, अप्राप्तफलकोषायामयं चिकित्साविधिः; प्राप्तफलकोषा त्वसाध्या; याप्यायां वा तस्यां चिकित्साविधिः। यदुक्तं** भोजे—**'याप्यां तामन्त्रजां विदुः' इति। ब्रध्ननिदानं तु तन्त्रान्तरे पठ्यते। तद्यथाः-'अत्यभिष्यन्दिगुर्वन्नसेवनान्निचयं गतः। करोति ग्रन्थिवच्छोथं दोषो वङ्क्षणसन्धिषु॥ ज्वरशूलाङ्गसादाढ्यं तं ब्रध्नमिति निर्दिशेत् इति ॥ ७-१० ॥**

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां वृद्धिनिदानं समाप्तम् ॥ ३७ ॥

विमर्श—प्राचीन आचार्यों ने अन्त्रवृद्धि को असाध्य माना है। इसी पर तर्क-वितर्क करते हुए आचार्यों ने यह तय किया कि जब आन्त्र अधोगमनशील होती हुई वंक्षण में स्थित रहती है वह अवस्था चिकित्स्य है और इसी की चिकित्सा करनी चाहिए पर जब आन्त्र द्विगुणित होकर अण्डकोष में फँस जाती (Strangulated hernia) है तो चिकित्सा नहीं करनी चाहिए अर्थात् यह अवस्था सर्वथा असाध्य है। आजकल की चिकित्सा ने सर्वथा शब्द अवयव को निकाल दिया है फिर भी असाध्यता में कोई कमी नहीं आयी है।

उपर्युक्त ६ प्रकार की वृद्धि अण्डकोष के विभिन्न अङ्गों की विकृति से ही होती है, किन्तु इस वृद्धि का कारण वाह्य अर्थात् आन्त्र है। इस अवस्था में आन्त्र न तो आकार में बढ़ती ही है और न उसमें किसी प्रकार की विकृति ही होती है। वास्तव में वह अपने प्रकृत स्थान उदर-गुहा से निकल कर वृषण कोष में चली आती है।

आजकल इस अवस्था को हार्निया (**Hernia**) कहते हैं। आधुनिक विद्वान् इसकी परिभाषा निम्न प्रकार से करते हैं—

'The protrusion of a viscus or portion of a viscus through an opeing or weak spot in the walls of the cavity in which it is contained. अर्थात् किसी अंग या उसके भाग का अपने प्रकृत स्थान से किसी छिद्र के द्वारा अस्वाभाविक रूप में निकलना ही हार्निया है'। इसमें आन्त्र के अतिरिक्त फुफ्फुस, मस्तिष्क तथा आमाशय की हार्निया का भी ग्रहण हो जाता है। यह अस्वाभाविक प्रवर्धन अधिकतर आन्त्र का ही होता है अतः हार्निया कहने से आन्त्र की हार्निया का ही बोध होता है। प्रकृत में भी उसी का वर्णन किया गया है।

आन्त्र के प्रवर्धन अधिकतर निम्न स्थानों से निकलते हैं—

(१) वंक्षण सुरंगा (Inguinal Canal) (२) और्वी सुरंगा (Femural canal)
(३) नाभि (Umblicus) (४) शस्त्रकर्म का स्थान

हार्निया के कारण—इसके दो प्रकार हैं—

(१) **सहज (Congenital) कारण**—यथा—

(क) उदर से वृषण तक के गर्भकालीन मार्ग का बन्द न होना

(ख) अण्डग्रन्थि का उदर से अण्डकोष में विलम्ब से उतरना

(ग) उदर प्राचीर की पेशियों की स्वाभाविक दुर्बलता तथा वंक्षण सुरंगा का अत्यधिक चौड़ा होना।

(घ) आन्त्रनिबन्धिनी की अधिक लम्बाई (Abnormal length of Mesentry)

(ङ) नाभि की स्वाभाविक दुर्बलता।

(२) **जन्मोत्तर कारण**--(Aquired causes) यथा—

(क) आघात या शस्त्रकर्म से उदर प्राचीर की दुर्बलता

(ख) सगर्भावस्था (ग) वृद्धावस्था (घ) भारी बोझ उठाना

(ङ) मलावरोध—Chronic oonstipation

(च) मूत्रत्याग में कठिनाई यथा अष्ठीलावृद्धि (Enlarged prostate), मूत्रमार्गसंकोच (Stricture of urethra)

(छ) पुरानी खांसी (Chronic bronchitis) (ज) मेदोवृद्धि (Obesity)

(झ) उदर के अर्बुद

आन्त्रवृद्धि के अवयव (१) कोष—(Sac) यह उदरावरण का बना होता है।

(२) अंग (Contents) इसमें क्षुद्रान्त्र (अधिक), उण्डुक, उण्डुक पुच्छ (Appendix), बीजग्रन्थि (Ovary), बीजवाहिनी (Fallopian tube) तथा आन्त्रनिबन्धिनी (Omentum) विशेष रूप से पाये जाते हैं।

सामान्य लक्षण—

(१) **गोल सूजन**—खाँसने से इसकी उत्पत्ति होती है, खड़े होने तथा कुन्थन से बढ़ती है, लेटने तथा दबाने से कम या लुप्त हो जाती है।

(२) डिम डिम ध्वनि—यदि इसमें आन्त्र है तो अंगुलि-ताडन से यह मिलेगी।

(३) दबाने पर कभी-कभी उदरशूल एवं गड़गड़ाहट की ध्वनि मिलती है।

(४) यदि आन्त्रनिबन्धिनी है तो उपर्युक्त ध्वनि न मिलेगी, अंगुलि-ताडन से मन्द ध्वनि मिलेगी।

(५) **पीडा**—प्रारम्भिक अवस्था में सभी में यह पाई जाती है।

हार्निया के प्रकार—

(१) **वंक्षणीय आन्त्रवृद्धि**—(Inguinal hernia)—सुश्रुत तथा वाग्भट ने इसके दो भेद किये हैं—

(क) **ग्राह्यफलकोषवृद्धि**—इसे आजकल पूर्ण (Complete or scrotal) हार्निया भी कहते हैं। इसमें आन्त्र वंक्षण सुरङ्गा के द्वारा बाह्यवंक्षण छिद्र में होती हुई अण्डकोष में पहुँच जाती है। इसमें सूजन उदर से अण्डकोष की ओर को बढ़ती हुई दिखाई देती है। अण्डकोष को दबाने से आन्त्र ऊपर को चढ़ जाती है।

(ख) **अग्राह्यफलकोशवृद्धि**—इसे अपूर्ण (Incomplete or Bubanocele) भी कहा जाता है। इसमें आन्त्र का भाग बहिर्वंक्षण सुरंगा (External inguinal ring) पर ही आकर रुक जाती है, जिससे वंक्षण में एक गोल उभार प्रतीत होने लगता है जो खांसने से इधर-उधर हिलता है। उपेक्षा करने पर यही पूर्णरूप में परिणत हो जाता है।

प्राचीनों का वर्णन वंक्षणी हार्निया के समान ही है। आधुनिक विद्वानों ने इसके तिर्यक (Oblique) तथा सरल वंक्षणी हार्निया (Direct inguinal hernia) करके दो उपविभाग

और किये हैं। चिकित्सा की दृष्टि से अन्तर न होने से विस्तृत वर्णन यहाँ अपेक्षित नहीं है। इस विषय को नवीन पुस्तकों में इसका विस्तृत वर्णन भी देख लेना चाहिये।

(२) **और्वी आन्त्रवृद्धि** (Femoral hernia)—यह स्त्रियों को अधिक होता है। अधिकतर बच्चे वाली स्त्रियों में पाया जाता है। आन्त्र और्वी सुरंगा के द्वारा बाहर निकलती है। ऊरु-प्रदेश में उभार प्रतीत होता है। स्त्रियों की और्वी सुरंगा (Femural canal) चौड़ी होती है इसलिये उनमें इसकी अधिक प्रवृत्ति पायी जाती है। हार्निया के सामान्य लक्षण इसमें भी पाये जाते हैं।

(३) **नाभि की हार्निया** (Umblical hernia)—यह अधिकतर बच्चों में होती है।

हार्निया के उपद्रव—

(१) **अकर्षणीयता** (Irriducibility)—पीडन करने पर भी यह ऊपर नहीं चढ़ती।

कारण—(क) अङ्गों की परस्पर संसक्ति। (ख) आन्त्रनिबन्धिनी में अत्यधिक वसा का संचय। (ग) हार्निया की जीर्ण अवस्था।

लक्षण—(क) खांसने पर कोई गति नहीं दिखाई देती। (ख) उदरशूल।

(२) **शोथ** (Inflammation)।

कारण—(१) विधिरहित तथा अत्यधिक मर्दन। (२) पेटी का दबाव।

लक्षण—(१) पीडा। (२) सूजन। (३) उष्णता। (४) स्पर्शासहता (Tenderness) (५) ज्वर। (६) मिचली। (७) वमन।

(३) **बन्धित हार्निया** (Obstructed hernia)—यह अवस्था विशेषतः नाभि की अकर्षणीय वृद्धि में पायी जाती है।

कारण—आन्त्र में अपक्व एवं शुष्क मल की उपस्थिति। मल आगे नहीं बढ़ पाता, वहीं उत्सेध उत्पन्न करता है।

लक्षण—(१) कोष्ठबद्धता (२) उदरशूल (३) मिचली (४) वमन।

(४) **अवरुद्ध हार्निया** (Strangulated hernia)

कारण—हार्निया का पुराना रोगी यदि अधिक भार उठाये तो यह अवस्था उत्पन्न हो सकती है।

लक्षण—(१) खांसने या मेहनत करने से आंत एकदम उतर जाती है। (२) स्थानीय पीडा। (३) स्तब्धता-(Shock), मूर्च्छा (४) नाड़ी की गति मन्द (५) तापक्रम साधारण से कम (Subnormal temperature) (६) ठण्डा पसीना (७) वमन (८) सम्पूर्ण उदर में पीडा (९) स्पर्शासहता (Tenderness) (१०) उदर का फूल जाना (११) विषमयता (Toxaemia) के लक्षण।

आन्त्रवृद्धि शस्त्रकर्म साध्य है, औषध-चिकित्सा से नहीं, अत एव उसे असाध्य कहा गया है। कुछ अवस्थाओं में शस्त्रकर्म से भी असाध्य होती है।

ब्रध्न—चरक में वृद्धि को ब्रध्न शब्द से वर्णित किया गया है किन्तु गङ्गाधर कविराज **'ब्रध्नोऽनिलाद्यैः'** के स्थान पर **'वृद्धेऽनिलाद्यैः'** पाठ मानते हैं। ब्रध्न नामक एक भिन्न रोग का निदान एवं लक्षण कुछ ग्रन्थों में निम्न लिखित मिलता है—

अत्यभिष्यन्दिगुर्वन्नसेवनान्निचयं गतः। करोति ग्रन्थिवच्छोफं दोषो वङ्क्षणसन्धिषु॥

ज्वरशूलाङ्गसादाढ्यं तं ब्रध्नमिति निर्दिशेत्। आधुनिक-दृष्ट्या यह वंक्षणीय लसीका ग्रन्थिशोफ (Bubo) हो सकता है।

समाप्तं चेदं वृद्धिनिदानम्।

अथ गलगण्डगण्डमालाऽपचीग्रन्थ्यर्बुदनिदानम्

गलगण्डस्य परिभाषामाह—

**निबद्धः श्वयथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बते गले ।
महान् वा यदि वा ह्रस्वो गलगण्डं तमादिशेत् ॥ १ ॥**

जिसके गले में बड़ा अथवा छोटा मर्यादित शोफ अण्डकोष के समान लटकता है उसे गलगण्ड कहते हैं ॥ १ ॥

वृद्धियुक्तमुष्कसमानलिङ्गत्वात्तदनन्तरं गलगण्डनिदानम् । तस्य सामान्यलिङ्गमाह-निबद्धः श्वयथुरित्यादि । निबद्धोऽनुबन्धवान् मुष्कवदण्डवत् । भोजेऽप्युक्तं-'महान्तं शोथमल्पं वा हनुमन्यागलाश्रयम् । लम्बन्तं मुष्कवद् दृष्ट्वा गलगण्डं विनिर्दिशेत्–' इति॥१॥

तस्य सम्प्राप्तिं निरूपयति—

**वातः कफश्चापि गले प्रदुष्टो मन्ये च संश्रित्य तथैव मेदः ।
कुर्वन्ति गण्डं क्रमशः स्वलिङ्गैः समन्वितं तं गलगण्डमाहुः ॥ २ ॥**
(सु. नि. ११)

वायु, कफ तथा मेद दूषित होकर गले और मन्या में पहुँच कर अपने-अपने लक्षणों से युक्त धीरे धीरे बढ़नेवाले गण्ड (गांठ) को उत्पन्न करते हैं, उसे गलगण्ड कहते हैं ॥ २ ॥

तस्य संप्राप्तिमाह—वात इत्यादि । वातकफमेदांसि पृथक् गलगण्डकारणानि, तेन त्रय एव गलगण्डाः, पैत्तिकस्तु न भवत्येव, व्याधिस्वभावात्; चातुर्थकज्वरवत् । चातुर्थके हि वचनं-'चतुर्थको दर्शयति प्रभावं द्विविधं ज्वरः । जङ्घाभ्यां श्लैष्मिकः पूर्वं शिरस्तोऽनिलसंभवः' (च. चि. स्था. ३) इति । क्रमशः इत्यनेन शनैरेव वर्धनं दर्शयति । स्वलिङ्गैः समन्वितमिति 'निबद्धः श्वयथुः' इत्यादिनोक्तगलगण्डलिङ्गैरन्वितम् ॥ २ ॥

विमर्श—पैत्तिक गलगण्ड नहीं होता यह व्याधि का स्वभाव है । गले में इस प्रकार की वृद्धि अवटुका-ग्रन्थि (Thyroid gland) के बढ़ने से होती है । आजकल इसे ग्वाइटर (goitre) कहते हैं । यह ग्रन्थि गले में आगे की ओर रहती है । इसका सामान्य भार एक औंस या ढाई तोले के लगभग होता है । पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में यह अधिक भारी होती है । मासिक धर्म तथा सगर्भावस्था में यह कुछ बढ़ जाया करती है । स्वास्थ्य के लिये यह ग्रन्थि परमावश्यक है । इस रोग की उत्पत्ति के निम्न कारण मुख्य हैं—

(१) आयोडीन की कमी—दूध, अण्डा, प्याज एवं मूली में आयोडीन (जम्बुकी) प्रचुर मात्रा में पाया जाता है । इस पदार्थ के द्वारा ग्रन्थि थाइरोक्सिन नामक द्रव्य का निर्माण करती है, जो भोजन के समवर्त (Metabolism) का नियन्त्रण करती है । इसकी क्रिया मधुनिषूदिनी (Insulin) के विपरीत होती है । आयोडीन की कमी से इसकी स्थायी वृद्धि हो जाती है । शारीर-क्रियाविज्ञान की दृष्टि से इसे अवटुका का परम उपचय (Hyper thyroidism) कहते हैं ।

(२) मेद की अधिकता । (३) चूने की अधिकता । (४) जीवतिक्त ए० और बी० की कमी (५) फास्फेट की कमी । (६) आन्त्र में पाचक जीवाणुओं की कमी ।

वातजगलगण्डलक्षणमाह—

**तोदान्वितः कृष्णसिरावनद्धः श्यावोऽरुणो वा पवनात्मकस्तु ।
पारुष्ययुक्तश्चिरवृद्ध्यपाको यदृच्छया पाकमियात्कदाचित् ॥ ३ ॥**

वैरस्यमास्यस्य च तस्य जन्तोर्भवेत्तथा तालुगलप्रशोषः । (सु. नि. ११)

वातिक गलगण्ड सुई चुभोने जैसी पीडा से युक्त, काली सिराओं से व्याप्त, श्याव या अरुण वर्ण का, स्पर्श में कर्कश, धीरे-धीरे बढ़ने वाला एवं पाकरहित होता है। कभी कभी (किसी विशिष्ट बाह्य कारण के प्रभाव से) अकस्मात् पाक भी हो जाता है। रोगी का मुख विरस एवं तालु और गला सूखा रहता है ॥ ३ ॥

वातजमाह—तोदान्वित इत्यादि। चिरवृद्धिरिति विकारप्रभावात् वातजोऽपि चिरेण वर्धते यदृच्छया पाकमियादिति कारणाप्रतिनियमेन कदाचित् पाकं याति, कारणाप्रतिनियमश्च बाह्योऽभिप्रेतः, आभ्यन्तरं पाककारणं तु पाककारणं पित्तं रक्तं च नियतमेव। कदाचिदिति न सर्वकालम्। 'यदृच्छया चैव भवेत् कदाचित्-' इति पाठान्तरे। 'पाक' इति शेषः ॥ ३ ॥

विमर्श—सुश्रुत के मूल पाठ में 'मेदोऽन्वितश्चोपचितश्च कालाद्भवेदतिस्निग्धतरोऽरुजश्च' इतना अधिक पाठ मिलता है। अर्थात् कुछ काल के बाद मेद से युक्त होने पर अतिस्निग्ध, बढ़ा हुआ और पीडा रहित हो जाता है।

श्लैष्मिकगलगण्डं निरूपयति—

स्थिरः सवर्णो गुरुरुग्रकण्डूः शीतो महांश्चापि कफात्मकस्तु ॥ ४ ॥
चिराभिवृद्धिं भजते चिराद्वा प्रपच्यते मन्दरुजः कदाचित्।
माधुर्यमास्यस्य च तस्य जन्तोर्भवेत्तथा तालुगलप्रलेपः ॥ ५ ॥
(सु. नि. ११)

कफजन्य गलगण्ड निश्चल, त्वचा के वर्णवाला, भारी, अत्यधिक खुजली से युक्त, स्पर्श में शीत तथा बहुत बड़ा होता है। यह बहुत दिनों में बढ़ता है, इसका पाक भी देर से होता है, मन्द-मन्द पीडा होती है। इससे पीडित रोगी के मुख का स्वाद मीठा होता है एवं तालु और गले में प्रलेप सा लगा रहता है ॥ ४-५ ॥

श्लेष्मजमाह—स्थिर इत्यादि। सवर्ण इति प्रकृतिसवर्णः ॥ ४ ॥ ५ ॥

मेदोजगलगण्डमाह—

स्निग्धो गुरुः पाण्डुरनिष्टगन्धो मेदोभवः कण्डुयुतोऽल्परुक् च।
प्रलम्बतेऽलाबुवदल्पमूलो देहानुरूपक्षयवृद्धियुक्तः ॥ ६ ॥
स्निग्धास्यता तस्य भवेच्च जन्तोर्गलेऽनुशब्दं कुरुते च नित्यम्।
(सु. नि. ११)

मेद से उत्पन्न गलगण्ड चिकना, मुलायम, भूरे रंग का, दुर्गन्धयुक्त होता है। खुजानेपर हलकी पीडा होती है, इसका मूल पतला होता है और तुम्बी के समान लटकता रहता है शारीरिक स्वास्थ्य के अनुसार इसके भी वृद्धि और क्षय का क्रम चलता रहता है। इससे पीडित रोगी का मुख चिकना रहता है, रोगी सदैव गद्गद या अस्पष्ट शब्द करता है ॥ ६ ॥

मेदोजमाह—स्निग्ध इत्यादि। देहानुरूपक्षयवृद्धियुक्त इति देहक्षये क्षयं, देहवृद्धौ च वृद्धिं यातीत्यर्थः। गलेऽनुशब्दमिति अनुनादं करोति। 'गले तु शब्दम्'-इति पाठान्तरं सुगमम् ॥ ६ ॥

गलगण्डस्यासाध्यतां दर्शयति—

कृच्छ्राच्छ्वसन्तं मृदुसर्वगात्रं संवत्सरातीतमरोचकार्तम् ॥ ७ ॥
क्षीणं च वैद्यो गलगण्डयुक्तं भिन्नस्वरं चापि विवर्जयेच्च । (सु नि. ११)

कठिनता से सांस लेने वाले, शिथिल शरीर और एक वर्ष से पुराने गलगण्ड से पीडित, अरुचि से युक्त, क्षीण और स्वरभेद से पीडित रोगी को असाध्य समझकर त्याग देना चाहिये ॥ ७ ॥

असाध्यतामाह—कृच्छ्राच्छ्वसन्तमित्यादि । कृच्छ्राच्छ्वसन्तं दुःखेन श्वासविमोचकारिणम् । भिन्नस्वरं स्वरभेदवन्तम् ॥ ७ ॥

विमर्श—गलगण्ड के सामान्य लक्षण—

(१) **श्वासकृच्छ्र**—यह श्वासनलिका पर दबाव पड़ने से होता है ।

(२) **निगलने में असमर्थता**—अन्ननलिका पर दबाव पड़ने से यह लक्षण होता है ।

(३) **स्वर में परिवर्तन**—स्वरयन्त्र एवं स्वरयन्त्र की नाडी (Recurrent laryngeal nerve) पर दबाव पड़ने का यह परिणाम है ।

(४) **सिरोत्फुल्लता**—सिरा पर दबाव पड़ने से रक्तावरोध होने पर होती है ।

(५) **भ्रम** (Vertigo)—यह मस्तिष्क के रक्तसंचार में बाधा होने से होता है । यह रोग वस्तुतः स्वयं मारक नहीं है वर्धिष्णु है । मृत्यु उपद्रवों से होती है ।

पीछे बताया गया है कि अवटुका-ग्रन्थि की वृद्धि को गलगण्ड कहते हैं । यह वृद्धि दो प्रकार की होती है जब ग्रन्थि के उपादानभूत धातुओं की वृद्धि होती है तो उसे तान्त्विक (Parenchymatus) कहते हैं और जब उसमें श्लेष्माभ पदार्थों का सञ्चय होने से वृद्धि होती है तो उसे (Colloid goitre) कहते हैं । प्राचीनदृष्ट्या प्रथम को वातिक और द्वितीय को श्लैष्मिक कह सकते हैं ।

'देहानुरूपक्षयवृद्धियुक्तः' इस लक्षण से यह प्रतीत होता है कि मेदोज गलगण्ड वास्तव में गलगण्ड नहीं होता । शरीर के विभिन्न भागों के साथ जब गले में भी अत्यधिक मेद-सञ्चय हो जाता है तो बहुधा वह गलगण्ड के समान ही दिखाई देने लगता है और उसका ह्रास या वृद्धि सार्वदैहिक मेद के ह्रास और वृद्धि के साथ होता रहता है किन्तु **'प्रलम्बतेऽलाबुवदल्पमूलो'** यह विशेषण इस मत में भी संशय उत्पन्न करता है ।

इनके अतिरिक्त अवटुका-ग्रन्थि का एक और रोग होता है जिसे उदक्षिगलगण्ड (Exopthalmic goitre) कहते हैं । यह इसके स्राव की अधिकता से होती है । इसके निम्न लक्षण होते हैं—

(१) आंखें बाहर को निकली रहती हैं । (२) पलक सदा खुले रहते हैं ।

(३) हृदय की गति प्रति मिनट १२० से १५० रहती है ।

(४) मातृका धमनी (carotid artery) में स्पन्दन स्पष्ट दिखाई देता है ।

(५) हाथों में कम्पन । (६) क्षुद्रश्वास (दम फूलना) (७) रोगी चिड़चिड़ा हो जाता है ।

सम्प्रति गण्डमालां निरूपयति—

कर्कन्धुकोलामलकप्रमाणैः कक्षांसमन्यागलवङ्क्षणेषु ॥ ८ ॥
मेदःकफाभ्यां चिरमन्दपाकैः स्याद्गण्डमाला बहुभिश्च गण्डैः ।

कक्षा, अंसप्रदेश, मन्या, गला तथा वंक्षण प्रदेश में मेद तथा कफ के कारण झड़बेर, बड़े बेर अथवा आंवले के बराबर आकार की, देर में धीरे-धीरे पकने वाली, बहुत सी गांठों को देखकर गण्डमाला समझना चाहिये ॥ ८ ॥

स्थानतुल्यतया गण्डमालामिहैवाह—कर्कन्धुकोलामलकप्रमाणैरित्यादि । कर्कन्धुः शृगालकोलिः, कोलं बृहद्बदरम् । मेदःकफाभ्यामिति मेदो दूष्यं, कफो दोषोऽत्रारम्भकः, मेदःकफौ प्राधान्येनोक्तौ; तेन वातपित्तसंबन्धोऽप्यत्र द्रष्टव्यः । यदाह भोजः, 'वातपित्तकफा वृद्धा मेदश्चापि समाचितम् । जङ्घयोः कण्डराः प्राप्य मत्स्याण्डसदृशान् बहून् ॥ कुर्वन्ति ग्रथितांस्तेभ्यः पुनः प्रकुपितोऽनिलः । तान् दोषानूर्ध्वगो वक्षःकक्षामन्यागलाश्रितः ॥ नानाप्रकारान् कुरुते ग्रन्थीन् सा त्वपची स्मृता । तां तु मालाकृतिं विद्यात्कण्ठहृद्धनुसन्धिषु ॥ गण्डमालां विजानीयादपचीतुल्यलक्षणाम्' इति । स्याद्गण्डमालेति मालातुल्यगण्डयोगाद्गण्डमाला । गलमात्र एव गण्डमाला चरके पठिता । यथा 'मेदःकफाच्छोणितसंचयोत्थो गलस्य मध्ये गलगण्ड एकः । स्याद्गण्डमाला बहुभिश्च गण्डैः' (च. चि. स्था. १२) इति ॥८॥

विमर्श—कफ—दोष । मेद—दूष्य ।

मेदःकफाभ्यां खलु रोग एष सुदुस्तरो वर्षगणानुबन्धी । (सु० नि० अ० ११)

इससे रोग में इन्हीं दो की प्रधानता रहती है । पर साथ ही वात-पित्त का भी अनुबन्ध रहता है, यथा भोज ने कहा भी है—अभिवृद्ध वात, पित्त, और कफ तथा निचित मेद जंघाओं की कंडराओं में प्राप्त होकर मत्स्याण्ड-सदृश बहुत सी ग्रन्थियों को उत्पन्न कर देता है । फिर उनसे प्रकुपित वायु उन दोषों को भी साथ लेकर ऊर्ध्वगामी होकर वक्षःस्थल, कक्षा, मन्या और कण्ठ में आश्रय बना अनेक प्रकार की ग्रन्थियों को उत्पन्न करता है, ये ग्रन्थियां ही अपची होती हैं और कण्ठ, हृदय और हनु की सन्धियों में उत्पन्न उसी अपची को माला की आकृति में देखकर गण्डमाला कहा जाता है ।

चरक ने रक्तदोष भी माना है, यथा—मेद और कफ से दूषित शोणित के संचय से गले के मध्य में एक गण्ड बन जाता है, इसको गलगण्ड कहते हैं, और इसी प्रकार के अनेक गण्डों को मिला कर गण्डमाला कहते हैं । (च. चि. १२)

अपचीमाह—

ते ग्रन्थयः केचिदवाप्तपाकाः स्रवन्ति नश्यन्ति भवन्ति चान्ये ॥ ९ ॥
कालानुबन्धं चिरमादधाति सैवापचीति प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ।
साध्याः स्मृताः पीनसपार्श्वशूलकासज्वरच्छर्दियुतास्त्वसाध्याः ॥ १० ॥

इनमें से कुछ ग्रन्थियाँ पक कर फूट जाती हैं और उनका स्राव बाहर निकल जाता है । कुछ नष्ट हो जाती हैं और कुछ पुनः नवीन उत्पन्न हो जाती हैं । इस प्रकार यह रोग दीर्घकाल तक बना रहता है । इस अवस्था को विद्वान् अपची कहते हैं । ये ग्रन्थियाँ साध्य होती हैं किन्तु पीनस (दुष्ट प्रतिश्याय), पार्श्वशूल, खांसी, ज्वर तथा वमन इन उपद्रवों से युक्त अपची की ग्रन्थियाँ असाध्य होती हैं ॥ ९-१० ॥

गण्डमालातुल्यतयाऽपचीमाह—ते ग्रन्थय इत्यादि । ते इति गण्डमालारम्भकदोषदूष्यकृता ये ग्रन्थयस्त एवेत्यर्थः । कालानुबन्धं चिरमिति चिरकालानुबन्धम् । सैवापचीति तादृशी अमालारूपा अपची भण्यते । सैवापचीति इतिशब्देनाभिहितत्वात् प्रवदन्तीति क्रियायोगेऽपि न द्वितीया । अपचीनिरुक्तिश्चापरापरोपचीयमानतया । अत एव 'चयप्रकर्षादपचीं वदन्ति' (सु. नि. स्था. ११) इति सुश्रुतः । चयप्रकर्षश्चापरापरभवनेनैव, साधुत्वं च नैरुक्तेन विधिना । यदुक्तम्—वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ । धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्' इति । अत एवोक्तं—नश्यन्ति भवन्ति चान्य इति ।

साध्याः स्मृता इति च्छेदः। पीनसादिभिरुपद्रवैरसाध्याः अयं तु ग्रन्थिश्चरके गण्डमालाया-मस्ति; संग्रहकारेण तु गण्डमालया सह तुल्यत्वादपच्या अपच्यामेव पठितः॥ ९-१०॥

विमर्श—'अपरापरमधिकाधिकं चीयत इति अपची, जो बराबर अधिकाधिक बढ़े उसे अपची कहते हैं। सुश्रुत भी यही परिभाषा करते हैं—

अनन्यवर्णैरुपचीयमानं चयप्रकर्षादपचीं वदन्ति॥

गण्डमाला और अपची एक ही रोग की दो अवस्थायें हैं। चरक ने केवल गण्डमाला का ही वर्णन किया है अपची का नहीं—

गलस्य पार्श्वे गलगण्ड एकः स्याद् गण्डमाला बहुभिस्तु गण्डैः॥ (चरकः)

सुश्रुत ने केवल अपची का ही वर्णन किया है, गण्डमाला का नहीं। सुश्रुत ने इसकी दो अवस्थायें मानी हैं—

(१) ग्रन्थियों की उत्पत्ति, पाक का अभाव, कण्डू की उपस्थिति तथा पीडा की मन्दता चरक के अनुसार यही गण्डमाला है। चरक ने इसका स्थान केवल गला ही माना है। इसका दूसरा नाम कण्ठमाला भी है।

(२) पाक और स्राव की अवस्था—इस अवस्था में ग्रन्थियों में पूय की उत्पत्ति हो जाती है और फूटने से उनसे स्राव निकलने लगता है।

यह लसग्रन्थियों का रोग है जो चिरकालीन स्वरूप का होता है। इसे चिरकालीन लसग्रन्थि-शोथ (Chronic lymphadenitis) कह सकते हैं। यह विभिन्न लसग्रन्थियों के शोथ के परिणामस्वरूप होता है। इस रोग में जिन स्थानों की लसिकाग्रन्थियां विशेष रूप से विकृत होती हैं उनका नामोल्लेख सुश्रुत के अनुसार नीचे दिये जाते हैं—

(१) हन्वस्थिप्रदेश (Submaxillary gland)
(२) कक्षा (Axillary gland)
(३) अक्षक (Supra or infra clavicular gland)
(४) बाहुसन्धि (Post cervical gland)
(५) मन्या (Deep " ")
(६) गला (Superficial " ")
(७) वंक्षण (Inguinal gland)

कारण—इसके कारणों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

(१) **प्रधान कारण**—यथा—(क) राजयक्ष्मा का दण्डाणु। (ख) फिरंग (Syphilis) (ग) दुष्ट क्षत। (Sepsis)

(२) **सहायक कारण**—यथा—(क) दूषित भोजन (ख) दूषित वायु (ग) रोमान्तिका (घ) कुक्कुर खाँसी (ङ) कालाजार (च) विषमज्वर (छ) नशीली चीजों का अत्यधिक सेवन।

राजयक्ष्मज अपची के लक्षण—अधिकतर राजयक्ष्मज अपची ही होती है। इसमें विशेषरूप से ग्रैवेयक (Cervical), श्वसनिकागत (Bronchial) तथा आन्त्रनिबन्धिनीगत (Mesentric) ग्रन्थियों पर प्रभाव पड़ता है। पौष्टिक आहार का अभाव, शुद्ध वायु का अभाव तथा कुलज प्रवृत्ति भी इसमें सहायक कारण होते हैं।

लक्षण—(१) **वर्षगणानुबन्धी**—रोग चिरकालीन स्वरूप का होता है। यह नष्ट होकर पुनः पुनः उत्पन्न होता रहता है।

(२) **स्थिर**—ग्रंथियों में ही मर्यादित रहता है।

(३) **उपचय**—यह रोग वर्धनशील है।

(४) स्राव होना, नष्ट होना तथा नवीन बनना। **'स्रवन्ति नश्यन्ति भवन्ति चान्ये'**

(५) संसक्ति (Matting together) मत्स्याण्डजालप्रतिमैः (सु० नि० ११)

(२) फिरंगज के लक्षण—(१) प्राथमिक व्रण के पास की ग्रंथियाँ विकृत होती हैं।

(२) पाकोत्पत्ति कदापि नहीं होती।

(३) द्वितीयावस्था में पश्चात् ग्रैवेयक (Post cervical) ग्रन्थियाँ भी बढ़ जाती हैं। स्पर्श में कठोर तथा पीडारहित होती हैं। इनमें पाक नहीं होता।

(४) तृतीयावस्था में कर्कटार्बुद (Gumma) बन जाता है।

(३) क्षतज के लक्षण—पूययुक्त एवं अशोधित क्षत, व्रण या विद्रधि के समीप की लसीकाग्रन्थि में शोथ हो जाता है उसमें—

(१) व्रणशोथ के समान ही (दाह, रक्तवर्णता, पीड़ा, स्पर्शासहत्व एवं कर्महानि) लक्षण होते हैं।

(२) कारणभूत व्रण आदि के सदुपचार एवं सेक आदि से ही यह भी शान्त हो जाता है।

(३) कभी २ पाक हो कर विद्रधि रूपमें भी परिणत हो जाता है और उसमें पाटनादि कर्म करना पड़ता है किन्तु इसमें चिरानुबन्धित्व प्रायः नहीं होता।

इनके अतिरिक्त वातालिका या ग्रन्थिकसन्निपात (Plague) में भी लसीकाग्रंथि का शोथ होता है जिसका वर्णन परिशिष्ट में किया जायगा श्लीपद (Filaria) में भी दौरे के समय लसीकाग्रन्थि में शोथ होता है किन्तु दौरे के बाद शान्त हो जाता है।

ग्रन्थिनिदानं वर्णयति—

वातादयो मांसमसृक् प्रदुष्टाः संदूष्य मेदश्च तथा सिराश्च। (सु. नि. ११)
वृत्तोन्नतं विग्रथितं च शोथं कुर्वन्त्यतो ग्रन्थिरिति प्रदिष्टः॥ ११॥

वात, पित्त और कफ दोष दुष्ट होकर मांस, रक्त, मेद तथा सिरा को दूषित कर गोल एवं गाँठदार सूजन को उत्पन्न कर देते हैं अतः इस रोग को ग्रन्थि कहते हैं॥ ११॥

अनन्तरमपचीगुडकतुल्यतया ग्रन्थिमाह—वातादय इत्यादि। वातपित्तकफाः प्रत्येकं दुष्टाः; दुष्टिश्चात्र वृद्धिरेव न क्षयः क्षीणानां विकारकरणाक्षमत्वात्। यद्येवं तर्हि कथं वातादिक्षये मन्दचेष्टादयः? उच्यते, तत्क्षये विरोधिदोषकोपात्; यथा-मधुरस्निग्धादिभिर्वाते क्षीणे तत्समानत्वाच्छ्लेष्मा प्रकुप्यति। वचनं हि, 'वृद्धिश्चापि विरोधिनाम्' इति। संदूष्य मेदश्च मांसमसृक् सिराश्चेत्यनेन मेदोजः, कफसंबन्धाद्यो भवति तथा सिराजोऽपि वायुना सिरादुष्ट्या यो जन्यते स उच्यते। एवं पञ्च ग्रन्थयः। तथेति संदूष्य मांसमसृगिति। अत्रासृजः क्रमोल्लङ्घनेन पाठोऽप्राधान्यप्रतिपादनार्थः, विसर्पे तु शोणितमेव प्रधानम्। अत एव क्वचित् चकारमप्राधान्यसूचकं निवेश्य 'असृक् च' इति पाठः। चरके तु ग्रन्थिर्ग्रथितकफज एव ग्रन्थिविसर्पशब्देनोक्तः। वृत्तोन्नतमिति वृत्तं वर्तुलम्, उन्नतमुच्छूनम्। विग्रथितं कठिनं, कर्कशं वा; विग्रथितत्वादेव ग्रन्थिरिति संज्ञा॥ ११॥

विमर्श—यहाँ वातादि की दुष्टि वृद्धि रूप लेना चाहिए, क्षयरूप नहीं। क्योंकि क्षीण दोष विकार उत्पन्न करने में असमर्थ होते हैं केवल उनका प्राकृत कार्य कम हो जाता है **'क्षीणाः जहति लिङ्गं स्वम्'**। यद्यपि मन्दचेष्टता आदि वातक्षय के, मन्दोष्माग्निता आदि पित्तक्षय के तथा रूक्षता आदि कफक्षय के लक्षण वर्णित हैं (सु० सू० १५) किन्तु यह लक्षण क्षीण दोषों के कारण न होकर उनके क्षीण होने पर विरोधी दोषों की वृद्धि होने से उत्पन्न होते हैं। यथा—मधुरादि सेवन से वात क्षीण होने पर कफ बढ़ता है और मन्दचेष्टता आदि को उत्पन्न करता है। कहा भी है **'वृद्धिश्चापि विरोधिनाम्'** किन्तु कभी कभी बिना एक दोष के क्षीण हुए भी दूसरे दोष की वृद्धि भी हो जा सकती है अत एव सामान्य रूप से दोषों की चिकित्सा का वर्णन करते हुए सुश्रुत ने कहा है **'क्षीणा वर्धयितव्याः, वृद्धाः ह्रासयितव्याः, समाः पालयितव्याः।'** किन्तु यहाँ वर्णित

लक्षणों में क्षीण दोषों के नहीं अपितु वृद्धों के ही लक्षण मिलते हैं अतः दुष्टि का अर्थ वृद्धि ही मानना ठीक होगा।

ग्रंथि के लक्षण एवं चिकित्सा-विधियों को देखते हुए यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इसके लिये ही आजकल सिस्ट (Cyst) शब्द का व्यवहार किया जाता है। लक्षणों में आगे बताया है कि—फटने पर इससे स्राव निकलता है **'भिन्नः स्रवेच्चानिलजोऽस्रमच्छम्'** इत्यादि। चिकित्सा में कहा गया है—वैद्य शस्त्र से ग्रंथि को कोश (Capsule) सहित निकाले और उस स्थान को जलाकर व्रण के समान चिकित्सा करे। इसके आधार पर ग्रन्थि की परिभाषा निम्न प्रकार से की जा सकती है—'कोषावृत द्रवपूर्ण उन्नत एवं सीमित गाँठ को ग्रन्थि कहते हैं।' ग्रंथि के बीच में द्रव भरा रहता है और उसके चारों ओर एक कोश (Capsule) रहता है जो उसे अन्य धातुओं से पृथक् रखता है, अत एव परिभाषा में सीमित विशेषण दिया गया है।

ग्रन्थि के भेद—आयाम, वर्ण तथा वेदना-वैचित्र्य के कारण ग्रन्थि के निम्न भेद होते हैं—(१) वातिक ग्रन्थि (२) पैत्तिक ग्रंथि (३) श्लैष्मिक ग्रन्थि (४) मेदोज ग्रंथि (५) सिराज ग्रंथि।

वातिकग्रन्थिमाह—

आयम्यते वृश्च्यति तुद्यते च प्रत्यस्यते मथ्यति भिद्यते च।
कृष्णो मृदुर्बस्तिरिवाततश्च भिन्नः स्रवेच्चानिलजोऽस्रमच्छम् ॥ १२ ॥

(सु. नि. ११)

वातिक ग्रन्थि में खिंचाव, छेदनवत् पीडा तथा तोद होता है। रोगी को अनुभव होता है कि कोई फेंक रहा है, आलोडन एवं भेदन कर रहा है। ग्रन्थि वर्ण में काली, मृदु एवं बस्ति के समान फूली रहती है। फटने पर स्वच्छ स्राव निकलता है ॥ १२ ॥

अनिलग्रन्थिमाह—आयम्यत इत्यादि। आयम्यते आकृष्य दीर्घीक्रियते। वृश्च्यतीति छिनत्तीव, अत्र दिवादेराकृतिगणत्वात् श्यन्प्रत्ययः। प्रत्यस्यते क्षिप्यते, मथ्यति आलोडयतीव, अत्रापि पूर्ववत् समाधानम्। भिद्यते विदीर्यत इव। अस्रं स्रावम् ॥ १२ ॥

विमर्श—अस्रम्—श्रीकण्ठदत्त जी इसका अर्थ स्राव करते हैं। डल्हणाचार्य इससे रक्त का ग्रहण करते हैं, किन्तु वह ठीक नहीं। प्रकरणवश स्राव अर्थ करना ही उचित है।

क्रमप्राप्तं पैत्तिकग्रन्थिं लक्षयति

दन्दह्यते धूप्यति वृश्च्यते च पापच्यते प्रज्वलतीव चापि।
रक्तः सपीतोऽप्यथवाऽपि पित्ताद्भिन्नः स्रवेदुष्णमतीव चास्रम्[1] ॥१३॥

(सु. नि. ११)

पैत्तिक ग्रन्थि में अत्यधिक दाह, सन्ताप, छेदन, पाक और जलन सी होती रहती है। ग्रन्थि का वर्ण लाल अथवा पीला होता है। फटने पर अत्यधिक गरम स्राव निकलता है ॥ १३ ॥

पित्तग्रन्थिमाह—दन्दह्यत इत्यादि। दन्दह्यते अत्यर्थं दह्यते अग्निनेव। पापच्यते भृशं पच्यत इव क्षारेण, किंवा उत्क्वथ्यत इव। प्रज्वलतीव ज्वलन् भस्मीभवतीव ॥ १३ ॥

श्लैष्मिकग्रन्थिं निरूपयति—

शीतोऽविवर्णोऽल्परुजोऽतिकण्डुः पाषाणवत् संहननोपपन्नः।
चिराभिवृद्धश्च कफप्रकोपाद्भिन्नः स्रवेच्छुक्लघनं च पूयम् ॥ १४ ॥

(सु. नि. ११)

---

१. चाढ्यम् इति पा०।

श्लैष्मिक ग्रंथि स्पर्श में शीत, त्वचा के वर्ण की, अल्प पीडायुक्त, अत्यधिक खुजली वाली, पत्थर के समान कठोर एवं देर में बढ़ने वाली होती है। फटने पर सफेद रंग का गाढ़ा पूय निकलता है॥ १४॥

कफग्रन्थिमाह—शीत इत्यादि। अविवर्णः प्रकृतिवर्णः, ईषद्विवर्ण इति कश्चित्। पाषाणवत् संहननोपपन्न इति पाषाणवत् कठिन इत्यर्थः; किंवा पाषाणवद्भवति। संहनोपपन्न इति संघातान्वितो महानित्यर्थः॥ १४॥

मेदोजग्रन्थिमाह—

शरीरवृद्धिक्षयवृद्धिहानिः स्निग्धो महान् कण्डुयुतोऽरुजश्च।
मेदःकृतो गच्छति चात्र भिन्नपिण्याकसर्पिःप्रतिमं तु मेदः॥१५॥
(सु. नि. ११)

मेदोज ग्रन्थि शरीर की वृद्धि और क्षय के अनुसार बढ़ने और घटने वाली, चिकनी, बड़ी, खुजली से युक्त एवं कम पीडा वाली होती है। फटने पर इससे तिल की खली एवं घृत के समान मेद का स्राव होता है॥ १५॥

मेदोजग्रन्थिमाह—शरीरेत्यादि। शरीरवृद्धिक्षयवृद्धिहानिरिति शरीरवृद्धिक्षयाभ्यां यथाक्रमं वृद्धिहानी यस्य स तथा। मेदोजेष्वेवं युक्तिर्धातुस्वभावात् चिरस्थायित्वाद्वा। गच्छति चात्र भिन्ने पिण्याकसर्पिःप्रतिमं तु मेद इति भिन्ने सति पिण्याकस्तिलकल्कः, सर्पिरत्र स्त्यानं तत्सदृशं मेदः स्रवति। भोजेन तु मेदोग्रन्थेः संप्राप्तिः पठ्यते। यथा 'मेदोवायुर्यदा मांसे निक्षिपेदथवा त्वचि। तत्र मेदोभवो ग्रन्थिः श्यावो भवति पाण्डुरः॥ कृशः कृशे महान् स्थूले ग्रंथिर्भिन्नश्च पीडितः। तिलकल्कनिभः स्रावो घृतवच्चास्य जायते' इति॥ १५॥

विमर्श—शरीर की वृद्धि के साथ ग्रन्थि की वृद्धि और क्षय के साथ घटने की प्रवृत्ति होती है। अर्थात्-जब शरीर में मेद की अधिकता होती है तो मेदोजग्रन्थि की भी वृद्धि होती है। किन्तु जिस अवस्था में शारीरिक मेद कम होता है तो ग्रन्थि भी आकार में घट जाती है। भोजने मेदोजग्रन्थि की पृथक् सम्प्राप्ति निम्नलिखित प्रकार से वर्णित की है-'जब प्रकुपित वायु मेद को मांस या त्वचा में पहुँचा देती है तब वहाँ मेदोजग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है। इसका वर्ण श्याव या अरुण होता है; दबाने या फूटने पर तिल की खली या जमे हुए घी के समान स्राव निकलता है।'

आधुनिक दृष्टि से इसे सिबेशस सिस्ट (Sebaceous cyst) कहते हैं, त्वचा में दो प्रकार की स्वाभाविक ग्रन्थियाँ पाई जाती हैं—

(१) स्वेदग्रन्थि (Sweat glands) इनसे स्वेदोत्पत्ति होती है।

(२) मेदोग्रन्थि या मेदःपिण्ड (Sebaceous gland) इनसे एक चिकना पदार्थ निकलता है जो अत्यन्त सूक्ष्ममुखवाली नलिकाओं के द्वारा त्वचा पर आकर खुलता है। इसी के कारण त्वचा सदा चिकनी रहती है। किन्तु जिस अवस्था में किसी कारण से नलिकाओं के सूक्ष्ममुख बन्द हो जाते हैं तो स्राव निरन्तर यहां आकर रुकता जाता है, परिणाम स्वरूप ये फूलकर ग्रन्थि रोग का रूप धारण कर लेते हैं। स्राव निकल जाने पर ग्रन्थि घट जाती है तथा पुनः स्राव के एकत्रित हो जाने पर ग्रन्थि बढ़ जाती है। इस प्रकार यह रोग बहुत दिन तक चलता रहता है। मेदःपिण्ड मुख की त्वचा में प्रचुर मात्रा में रहते हैं अतः वहाँ मुखदूषिका या मुहासे के रूप में ये अधिक पाये जाते हैं।

सिराजं ग्रन्थिं वर्णयति—

व्यायामजातैरबलस्य तैस्तैराक्षिप्य वायुस्तु सिराप्रतानम्।

संकुच्य संपीड्य विशोष्य चापि ग्रन्थिं करोत्युन्नतमाशु वृत्तम् ॥१६॥
ग्रन्थिः सिराजः स तु कृच्छ्रसाध्यो भवेद्यदि स्यात् सरुजश्चलश्च ।
अरुक्स एवाप्यचलो महांश्च मर्मोत्थितश्चापि विवर्जनीयः॥१७॥(सु. नि. ११)

विविध प्रकार के व्यायामों से दुर्बल मनुष्य में प्रकुपित हुआ वायु रक्तवाहिनी समूह को आक्षेपित, संकुचित, पीडित करके एवं सुखाकर उभरी हुई और गोल ग्रन्थि को शीघ्र उत्पन्न कर देता है। इसे सिराज ग्रन्थि कहते हैं। वह यदि पीडायुक्त एवं गतिशील होती है तो कृच्छ्रसाध्य समझना चाहिये। यदि वह पीडारहित और निश्चल हो एवं अन्य सभी ग्रंथियाँ बड़ी तथा मर्मस्थान पर उत्पन्न हुई हों तब उन्हें भी असाध्य ही समझना चाहिये ॥ १६-१७ ॥

सिराजग्रन्थेः संप्राप्तिमाह—व्यायामजातैरित्यादि। संकुच्येत्यन्तर्भावितोऽत्र ण्यर्थः, तेन संकोच्येत्यर्थः। संपिण्ड्येति संहतीकृत्य। उन्नतमाशु वृत्तमिति अस्य सामान्यलक्षणेनैव सिद्धे पुनस्तदुक्तिरतिशयार्थम्। स च सिराजो ग्रन्थिर्यदि सरुजश्चलश्च स्यात्तदा कृच्छ्रसाध्यः। स चारुजश्चापीत्यादिना न साध्यः। स चेति चकारेणारुजत्वादिधर्मयोगादपरेऽपि ग्रन्थयोऽसाध्या इति सूचयति। यदुक्तं भोजे, 'पञ्चैतानरुजो ग्रन्थीन् मर्मजानचलांस्त्यजेत्। कपोलगलमन्यासु दुश्चिकित्स्याश्च सन्धिषु' इति। अन्ये तु मांसासृग्भ्यां षष्ठं ग्रंथिं वदन्त एवं पठन्ति—'मांसास्रजं चार्बुदलक्षणेन तुल्यं हि दृष्टं त्वथ लक्षणज्ञैः' इति। किंत्वनार्षोऽयं पाठः, भोजादिसमानतन्त्रेष्वदृष्टत्वात् ॥ १६-१७ ॥

विमर्श—सभी प्रकार की ग्रन्थियां मर्मस्थित होने पर असाध्य होती हैं। भोजने भी मर्मस्थित ग्रन्थि को असाध्य माना है—**'पञ्चैतानरुजो ग्रन्थीन् मर्मजानचलांस्त्यजेत्। कपोलगलमन्यासु दुश्चिकित्स्याश्च सन्धिषु ॥'** सिराज ग्रन्थि प्रायः रक्तवाहिनी के स्थानीय विस्फार के कारण बनती है। आजकल इसे सिरोत्फुल्ल (Aneurysm) या रक्तग्रंथि (Blood cyst) कहते हैं। सिरोत्फुल्लता दो प्रकार की होती है—

(१) तुम्बिकाकार या पूर्ण विस्फार (Fusiform) इसमें रक्तवाहिनी की चारों ओर की दीवारें फूलती हैं, विस्फार के आगे और पीछे रक्तवाहिनी पतली रहती है। इस प्रकार उसकी आकृति सपेरे की वीन जैसी हो जाती है।

(२) पार्श्वीय या अपूर्ण विस्फार (Sacculated) इसमें रक्तवाहिनी की केवल एक ओर की दीवार ही फूलती है। दूसरी ओर की प्रकृत अवस्था में रहती है।

कारण—(१) व्यायामाधिक्य (Voilent exertion)—व्यायाम करने पर रक्तवाहिनियों में रक्त संचार बढ़ जाता है और वे कुछ फूल जाती हैं। दीर्घ काल तक अधिक व्यायाम करने से वह फुलाव स्थायी स्वरूप धारण कर लेता है।

(२) **दुर्बलता**—रक्तवाहिनियों की दीवार की स्वाभाविक दुर्बलता। यह विशेषतया मांसमय मध्यस्तर में पाई जाती है। अधिक श्रम और आघात दुर्बलता इसके कारण हैं। रक्तवाहिनी की दीवार जिस स्थान पर दुर्बल होती है दोष वहीं पहुँच कर ग्रन्थि उत्पन्न कर देते हैं—

कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्। यत्र संगः खवैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते ॥

जब कभी अभिघात आदि कारणों से रक्तवाहिनी से बाहर आकर किन्तु उसी से संश्लिष्ट एक थक्का रूप में सञ्चित हो जाता है तो उसके चारों ओर आवरण बन जाता है उसे भी रक्तग्रन्थि (Haematoma or Blood cyst) कहते हैं। कभी २ इसके भीतर का रक्त शोषित होकर कुछ

जल सदृश तरल पदार्थ मात्र रह जाता है। इसी प्रकार एकपार्श्वीय सिरोत्फुल्लता में भी जब रक्त जम जाता है तो उसमें स्पन्दन नहीं प्रतीत होता है और इसे घन रक्तग्रन्थि (Consolidated Aneurysm) कहते हैं और इसमें स्पन्दन नहीं होता। पहिले में हृदय के स्पन्दन के साथ स्पन्दन भी होता है जैसा कि चरक ने भी लिखा है—'स्फुरणं सिराभिः'।

इस प्रकार रक्तग्रन्थि चल (स्फुरण युक्त) एवं अचल (स्पन्दन रहित) भेद से दो प्रकार की होती है। चलग्रंथि का रक्त प्रवाह के साथ साक्षात् सम्बन्ध होने से वेदना होती है तथा यह शस्त्र-चिकित्सा द्वारा भी प्रायः असाध्य होती है। किन्तु अचल ग्रन्थि साध्य होते हुए भी मर्म देशों में होने पर असाध्य होती है। अर्वाचीन ग्रन्थों में सिराज ग्रंथि (Aneurysm) की परिभाषा निम्न प्रकार से की गयी है :—An aneurysm is a cavity containing blood and communicating with the lumen of an artery. 'धमनीविवर से सम्बन्धित रक्तगर्भ कोष को सिराज ग्रंथि (Aneurysm) कहते हैं।

लक्षण (Signs and symptoms)

(१) उत्फुल्लता।

(२) स्पन्दन (Pulsation) हृदय की गति से मिलता है और रक्तवाहिनी की दिशा (Course) में होता है।

(३) हृदय की दिशा में रक्तवाहिनी पर दवाव डालने पर स्पन्दन बन्द तथा उभार कम हो जाता है।

(४) दवाव हटाने पर स्पन्दन यथास्थित हो जाता है।

(५) रक्तवाहिनी के निम्न भाग का दवाव फुलाव और स्पन्दन को बढ़ा देता है।

इन लक्षणों के अतिरिक्त कोष्ठ के दवाव तथा रक्तप्रवाह में बाधा उत्पन्न होने से निम्न लक्षण भी होते हैं—

(१) निम्न या प्रान्तीय भाग (Distal part) में स्पन्दन कम होता है।

(२) सिरा पर दवाव होने से रक्ताधिक्य (Congestion), शोफ (Oedema) तथा कोथ (Gangrene) हो जाते हैं।

(३) नाड़ी पर दवाव पड़ने से पीडा, स्पर्शज्ञान का अभाव तथा घात (Paralysis) के लक्षण होते हैं।

(४) यदि ग्रन्थि श्वासनलिका (Trachea) या अन्ननलिका (Oesophagus) में है तो उनमें दवाव के लक्षण एवं व्रण होंगे। यदि वह फट जाये तो रक्तप्रवाह भी होगा।

(५) हृदय की वृद्धि (Hypertrophy) हो जाती है।

कारणों एवं लक्षणों में अधिक साम्य होने से सिराज ग्रन्थि से गठीली सिराओं (Varicose veins)का ग्रहण किया जाना उत्तम है। चरक ने मांसज ग्रन्थि भी मानी है 'ग्रन्थिर्महामांसभवः'। वाग्भट रक्तग्रन्थि, अस्थिग्रन्थि तथा व्रणग्रन्थि भी मानते हैं।[1]

---

१. दोषासृङ्मांसमेदोऽस्थिसिराव्रणभवा नव। (अ. हृ. उ. तं. २९)

मांसग्रन्थिः—मांसलैर्दूषितं मांसमाहारैर्ग्रन्थिमावहेत्।
स्निग्धं महान्तं कठिनं सिरानद्धं कफाकृतिम्॥

रक्तग्रन्थिः—दोषैर्दुष्टेऽसृजि ग्रन्थिर्भवेन्मूर्च्छत्सु जन्तुषु।
सिरामांसं च संश्रित्य सस्वापः पित्तलक्षणः॥

अस्थिग्रंथिः—Fibrous or vicious uuion

अस्थिभङ्गाभिघाताभ्यामुन्नतावनतं तु यत्। सोऽस्थिग्रन्थि………………॥

अर्बुदस्य सम्प्राप्तिं प्राह—

गात्रप्रदेशे क्वचिदेव दोषाः संमूर्च्छिता मांसमसृक् प्रदूष्य ।
वृत्तं स्थिरं मन्दरुजं महान्तमनल्पमूलं चिरवृद्ध्यपाकम् ॥ १८ ॥
कुर्वन्ति मांसोच्छ्रयमत्यगाधं तदर्बुदं शास्त्रविदो वदन्ति ।
वातेन पित्तेन कफेन चापि रक्तेन मांसेन च मेदसा वा ॥ १९ ॥
तज्जायते तस्य च लक्षणानि ग्रन्थेः समानानि सदा भवन्ति । (सु. नि. ११)

शरीर के किसी भाग में बढ़े हुए दोष मांस तथा रक्त को दूषित करके गोल, निश्चल, अल्प-पीडा वाले, बड़े, गहरे, देर में बढ़ने और न पकने वाले मांसपिण्ड के समान उन्नत सूजन को उत्पन्न कर देते हैं विद्वान् उसे अर्बुद कहते हैं । वह अर्बुद वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, रक्तज, मांसज तथा मेदोज भेद से छ प्रकार का होता है, उसके लक्षण ग्रन्थि के समान होते हैं ॥ १८-१९ ॥

मांसशोणितदूष्यसाम्याद्र्बुदाभिधानम् । तस्य संप्राप्तिमाह—गात्रप्रदेशे क्वचिदित्यादि । क्वचिदेवेत्यनेनानियतदेशे, न पुनरपचीवन्नियत देशे । 'संमूर्च्छिता' इति पाठान्तरे 'संमूर्च्छिता वृद्धाः' दूष्यसंसृष्टा इति कार्तिकः । **मांसमसृक् प्रदूष्येति सर्वार्बुदसाधारणं दूष्यं, मांसार्बुदमेदोऽर्बुदयोस्तु विशेषेण मांसदुष्टिः; मांसार्बुदमेदोऽर्बुदयोरपि तद्दूषको दोषोऽस्ति, तेन तत्रापि दोषकर्तृतया संप्राप्तिरियं भवति। मांसोच्छ्रयमिति मांसोच्छ्रयतया प्रतीयमानम् । मेदोजेऽपि मांसमुद्गतं भवति । अत्यगाधमिति दूरानुप्रविष्टम्; अत एवानल्पमूलमित्युक्तम् । वातादिभिस्तदर्बुदं जायते भवति, तेन षडर्बुदानि भवन्ति । ग्रन्थेः समानानीति वातपित्तकफमेदोग्रन्थिभिर्वातपित्तकफमेदोऽर्बुदानां लक्षणानि समानानि, शोणितजमांसजयोस्तु लक्षणं पृथग् वक्ष्यति ॥ १८-१९ ॥**

विमर्श—शरीरस्थ धातुओं की विभिन्न स्थानीय वृद्धियों में अर्बुद का स्थान विशेष है । आधुनिक शास्त्रों के अनुसार श्री डाक्टर घाणेकर जी ने अर्बुद की जो परिभाषा बताई है वह अविकल रूप से यहां दी जाती है—'जो शरीरस्थ धातु से ही उत्पन्न हुए नये धातु का एक ठोस पिण्ड होता है, जो शरीर की किसी विशेष आवश्यकता की पूर्ति के लिये नहीं उत्पन्न होता है (अर्थात् जिसकी उत्पत्ति निरर्थक होती है), जो वृक्ष के बन्दे की तरह शरीर पर पलता है (अर्थात् शरीर-वृद्धि-क्षय निरपेक्ष जिसकी वृद्धि होती है । जिसके उत्पन्न होने से शरीर को कुछ भी लाभ नहीं होता, वातिक संस्थान का जिस पर कुछ भी नियन्त्रण नहीं होता तथा जिसका कोई भी नियत अवसान नहीं होता, उसको अर्बुद कहते हैं' ।

आज कल इसे ट्यूमर (Tumour) कहते हैं । लक्षणों की दृष्टि से इसके मुख्य दो भेद बताये गये हैं—

(१) सौम्य या साधारण अर्बुद (Benign or simple tumour)

(२) घातक अर्बुद (malignant tumour)

लक्षणों के अनुसार इनमें परस्पर विभेद किया जाता है अतः इनके मुख्य मुख्य विभेदक लक्षण आगे दिये जा रहे हैं—

व्रणग्रन्थिः—

अरूढे रूढमात्रे वा व्रणे सर्वरसाशिनः । सार्द्रे वा बन्धरहिते गात्रेऽश्माभिहतेऽथवा ॥
वातास्रमस्रुतं दुष्टं संशोष्य ग्रथितं व्रणम् । कुर्यात् सदाहः कण्डूमान् व्रणग्रन्थिरयं स्मृतः ॥

सौम्य अर्बुद

(१) इसके चारों ओर कोष रहता है जिससे यह समीप की धातुओं से पृथक् रहता है

(२) कोष-सहित निकाल देने से पुनरुत्पत्ति का भय नहीं होता ।

(३) ये धीरे-धीरे बढ़ते हैं ।

(४) इस प्रकार का अर्बुद प्रायः एक ही होता है, द्विरर्बुद (Secondary tumour) या अध्यर्बुद नहीं होते ।

(५) इसमें या तो पीड़ा नहीं होती या बहुत कम होती है । किन्तु व्रणोत्पत्ति और पाक कभी नहीं होते। रक्तस्राव भी नहीं होता।

(६) इनसे जीवन के नाश का भय नहीं रहता परन्तु यदि मर्माङ्गों में हों तो जीवन के लिये खतरा हो सकता है ।

(७) ये साध्य हैं ।

घातक अर्बुद

(१) इसमें कोई कोष नहीं होता अत एव यह समीप की धातुओं से पृथक् भी नहीं रह सकता ।

(२) समीप की धातुओं में दोष शेष रह जाने से पुनरुत्पत्ति का भय बना रहता है ।

(३) इनकी वृद्धि तीव्रता से होती है ।

(४) समीपस्थ अंग या कभी-कभी दूरस्थित अंगों में भी द्विरर्बुद (Secondary tumour) की प्रवृत्ति देखी जाती है ।

(५) इसमें व्रणोत्पत्ति एवं पाक होने से पीड़ा होती है । इनमें रक्तस्राव की भी प्रवृत्ति होती है । रोगी पाण्डु से पीड़ित रहता है ।

(६) इनकी शीघ्र वृद्धि एवं अन्य लक्षणों के कारण मृत्यु का भय रहता है ।

(७) ये कृच्छ्रसाध्य या असाध्य होते हैं ।

सुश्रुत ने जो मन्द-पीड़ा, स्थिर, अपाकी आदि लक्षण बताये हैं उन्हें सौम्य अर्बुद के ही समझना चाहिए । वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक तथा मेदोज अर्बुद सौम्य श्रेणी के ही अर्बुद हैं । ग्रन्थि के समान ही लक्षण होने एवं साध्य होने से इनका पृथक् विशद वर्णन नहीं किया गया है । अतएव चरक और सुश्रुत दोनों ही ने कहा है—**'ग्रन्थ्यर्बुदानां च यतोऽविशेषः प्रदेशहेत्वाकृतिदोषदूष्यैः'** (च. चि. १२) तथा **'तस्य च लक्षणानि ग्रन्थेः समानानि सदा भवन्ति'** (सु. नि. ११) किन्तु रक्तार्बुद और मांसार्बुद घातक श्रेणी के हैं । असाध्य एवं लक्षणों में अत्यधिक विशेषता होने से उनका पृथक् वर्णन किया गया है । सामान्य लक्षणों के अतिरिक्त स्थानभेद से भी घातकार्बुद के लक्षणों में विशेषता पायी जाती है । आधुनिक कैन्सर और सार्कोमा घातकार्बुद के ही भेद हैं ।

अर्वाचीन ग्रन्थों में दूष्यविशेष के अनुसार कुछ और अर्बुदों के प्रकार वर्णित हैं:—

सौम्य अर्बुद—

(१) अस्थ्यर्बुद (Osteoma) (२) दन्तार्बुद (Odontoma) इसे अधिदन्त भी कहते हैं ।

(३) तरुणास्थ्यर्बुद (Chondroma) (४) सौत्रिकार्बुद (Fibroma)

(५) नाड्यर्बुद (Neuroma) (६) नाड्यावरणार्बुद (Neuro-fibroma)

(७) सिरार्बुद या धमन्यर्बुद (Angioma)

(८) लसिकावहार्बुद (Lymphangioma) यह रसवाहिनी में होता है ।

(९) पेश्यर्बुद (Myoma) यह पेशी में होता है । (१०) मेदोऽर्बुद (Lipoma)

घातक अर्बुद—

(११) रक्तार्बुद (Carcinoma or Sarcoma) (१२) मांसार्बुद (Scirrhus cancer)

अर्बुद की उत्पत्ति का हेतु—

अर्बुदोत्पत्ति का निश्चित हेतु बताना बहुत कठिन है । फिर भी अब तक जिन हेतुओं का ज्ञान

हो सका है उनका वर्णन आगे किया जायगा। प्राचीन वैद्यक ग्रन्थों में दुष्ट दोष तथा आघात को अर्बुदोत्पत्ति का हेतु माना है। अर्वाचीन ग्रन्थों में इसके अनेक हेतु माने गये हैं, किन्तु निश्चितरूप से कोई एक कारण नहीं है—

(१) किसी अंग पर स्थायी एवं निरन्तर पीड़न

(२) विकारी जीवाणु तथा धातुओं की विशेष विकृति यह दूसरा सिद्धान्त है। इसके विषय में भी विशेष प्रमाण नहीं मिलते।

(३) जन्मोत्तर बालक के शरीर में प्रारम्भिक धातुओं का शेष रहना—बालक में गर्भविकास काल की कुछ प्रारम्भिक कोषायें शेष रह जाती हैं जो जन्म के पश्चात् बढ़कर अर्बुद का रूप धारण कर लेती हैं। कुलज प्रवृत्ति तथा पीड़न इसके सहायक कारण हैं। ओष्ठ, जिह्वा, स्तन और त्वचा में अर्बुद बहुत बनते हैं; क्योंकि इन अंगों पर पीड़न बहुत होता है।

रक्तार्बुदं लक्षयति—

दोषः प्रदुष्टो रुधिरं सिराश्च संकुच्य संपिण्ड्य ततस्त्वपाकम् ॥२०॥
सास्रावमुन्नह्यति मांसपिण्डं मांसाङ्कुरैराचितमाशुवृद्धम्।
करोत्यजस्रं रुधिरप्रवृत्तिमसाध्यमेतद्रुधिरात्मकं तु ॥ २१ ॥
रक्तक्षयोपद्रवपीडितत्वात् पाण्डुर्भवेदर्बुदपीडितस्तु। (सु. नि. ११)

दुष्ट हुआ दोष रक्त तथा सिराओं को संकुचित करके और दवाकर पाक रहित या अल्पपाकयुक्त मांसाङ्कुरों से व्याप्त, जल्दी बढ़नेवाला, ईषत् स्रावयुक्त, मांसपिण्ड को उन्नत कर देता है। इसमें निरन्तर रक्तस्राव होता है। इस रक्तज अर्बुद को असाध्य समझना चाहिये। रक्तज अर्बुद से पीड़ित रोगी रक्तक्षय के उपद्रव से पीड़ित रहने के कारण पाण्डुवर्ण का हो जाता है॥ २०-२१॥

रक्तार्बुदमाह—दोषः प्रदुष्ट इत्यादि। संकुच्येति अन्तर्भावितोऽत्र णिजर्थः। अपाकमीषत्पाकं, तेन सास्रावमित्युपपन्नं भवति। दोष उन्नह्यति उच्छ्रितो भवति। सास्रावमीषत्स्रावम्। मांसपिण्डमाशुवृद्धं शीघ्रवर्धनं, मांसाङ्कुरैराचितं करोति, तथा अजस्रं रुधिरप्रवृत्तिमपि करोति; रुधिरं चात्राधिष्ठानभूतं सिरागतं प्रवर्तते न तु पाकात्, ईषदेव स्रावस्य क्लेदरूपस्योक्तत्वात्। किंवा उन्नह्यतीत्यन्तर्भावितण्यर्थः, तेन मांसपिण्डमुन्नाहयति उद्धतं करोति। 'दोषाः प्रदुष्टा' इति पाठपक्षे 'सास्रावमुन्नह्य हि' इति पाठः। उन्नह्य उन्नाह्य, अन्तर्भावितण्यर्थत्वात्। हि पादपूरणे॥ २०-२१॥

विमर्शः—पाश्चात्त्य वैद्यक के आधार पर इसे सार्कोमा या कार्सिनोमा कह सकते हैं। यह दोनों ही घातक अर्बुद हैं। सार्कोमा प्रायः अस्थ्यावरण एवं अस्थिमज्जा में उत्पन्न होता है। बाल्यावस्था और युवावस्था में अधिक होता है। सौम्य स्वरूप का सार्कोमा धीरे-धीरे बढ़ता है, स्पर्श में कठिन होता है। अत्यधिक घातक स्वरूप का सार्कोमा बहुत जल्दी बढ़ता है, यह मृदु होता है और इसमें से रक्तसंचार भी प्रचुर मात्रा में होता है। इसका विष रक्तवाहिनियों के द्वारा इधर-उधर फैलकर दूसरे अर्बुद (द्विरर्बुद या अध्यर्बुद) की उत्पत्ति करता है। प्राथमिक (Primary) सार्कोमा हन्वस्थि, प्रगण्डास्थि, प्रकोष्ठास्थि, ऊर्वस्थि, नासास्थि तथा लसग्रन्थियों में होता है।

बाह्य त्वचा एवं श्लैष्मिक कला पर कार्सिनोमा अधिक होता है। इसकी उत्पत्ति के प्रधान स्थान ओष्ठ, जिह्वा, मुख, अन्नप्रणाली, आमाशय, आन्त्र एवं मलाशय हैं। स्त्रियों में गर्भाशय तथा

स्तन और पुरुषों में अष्ठीलाग्रन्थि तथा शिश्न भी इसके प्रधान स्थान हैं। इसके लक्षण रक्तार्बुद के समान होते हैं।

मांसाङ्कुरैराचितम्—अर्बुद के ऊपर असंख्य अंकुर से उत्पन्न हो जाते हैं जो खिले हुए गोभी के फूल के समान होते हैं।

अजस्रं रुधिरप्रवृत्तिं करोति—रक्तार्बुद के समान सारकोमा या कार्सिनोमा में भी रक्तस्राव की प्रवृत्ति बहुत अधिक होती है।

रक्तक्षयोपद्रव—रक्तक्षय कैन्सर का प्रधान लक्षण है। रक्तस्राव से पाण्डु, क्षीणता तथा वातिक वेदनायें होती हैं।

मांसजन्यमर्बुदं प्राह—

मुष्टिप्रहारादिभिरर्दितेऽङ्गे मांसं प्रदुष्टं जनयेद्धि शोथम् ॥ २२ ॥
अवेदनं स्निग्धमनन्यवर्णमपाकमश्मोपममप्रचाल्यम्।
प्रदुष्टमांसस्य नरस्य गाढमेतद्भवेन्मांसपरायणस्य ॥ २३ ॥
मांसार्बुदं त्वेतदसाध्यमुक्तं— (सु. नि. ११)

मुष्टि आदि के प्रहार से पीड़ित अंग में दुष्ट हुआ मांस, अल्पवेदना से युक्त, स्पर्श में चिकने, त्वचा के वर्ण का, पाकरहित, पत्थर के समान कठोर और स्थिर सूजन को उत्पन्न कर देता है। अत्यधिक मांस सेवन करने के कारण जिसकी मांस धातु दुष्ट हो जाती है प्रायः उसमें यह मांसार्बुद उत्पन्न होता है। इसे असाध्य समझना चाहिये ॥ २२-२३ ॥

मांसजन्यसंप्राप्तिमाह—मुष्टिप्रहारादिभिरित्यादि। अश्मोपमं पाषाणवत् कठिनम्। अप्रचाल्यं स्थिरम्। यद्यपि रक्तमांसार्बुदयो रक्तमांसयोर्हेतुत्वेनोक्तिस्तथाऽपि रक्तजे पित्तं मांसजे वायुरारम्भकः, एवमपि ताभ्यां घृतदुग्धन्यायेन व्यपदेशः। मांसपरायणस्य मांसाशनशीलस्य। तस्य चातिमात्रं मांसवृद्धिः 'मांसं मांसेन वर्धते' इत्यभिधानात् ॥ २२-२३ ॥

विमर्श—कैंसर के एक प्रकार 'स्किरस' (Scirrhus) को मांसार्बुद कह सकते हैं; क्योंकि इन दोनों के लक्षण परस्पर मिलते हैं। अन्य अर्बुदों की अपेक्षा स्थानीय क्षोभ या पीड़न इस अर्बुद की उत्पत्ति में प्रधान हेतु होता है।

मांसपरायणस्य—यह रोग भारत की अपेक्षा अमेरिका और यूरोप में अधिक होता है। वहाँ यह रोग निरन्तर बढ़ता जाता है। उन देशों में मांस का प्रयोग अधिकता से किया जाता है। इससे यह समझा जाता है कि कैंसर की उत्पत्ति में अन्य कारणों के साथ मांसपरायणता भी एक कारण है।

सौम्यार्बुदानामसाध्यत्वम्—

—साध्येष्वपीमानि तु वर्जयेच्च।
संप्रस्रुतं मर्मणि यच्च जातं स्रोतःसु वा यच्च भवेदचाल्यम् ॥ २४ ॥
(सु. नि. ११)

साधारण प्रकार के साध्य अर्बुदों में भी स्रावयुक्त, मर्मस्थान के अर्बुद, नासिका महास्रोत आदि स्रोतों में होनेवाले और स्थिर अर्बुदों को असाध्य ही समझना चाहिये ॥ २४ ॥

साध्येष्वप्यसाध्यप्रकारानाह—साध्येष्वपीत्यादि। संप्रस्रुतं स्रावयुक्तं, स्रावश्चात्रापाकित्वेऽपि त्वगवदरणान्मनागवगन्तव्यः। स्रोतःसु नासादिषु। अचाल्यं स्थिरम् ॥ २४ ॥

अध्यर्बुदं प्राह—

यज्जायतेऽन्यत् खलु पूर्वजाते ज्ञेयं तदध्यर्बुदमर्बुदज्ञैः ।
यद्द्वन्द्वजातं युगपत् क्रमाद्वा द्विरर्बुदं तच्च भवेदसाध्यम् ॥ २५ ॥

पहिले अर्बुद के रहते ही या उसके छेदन के बाद भी उसी स्थल पर जो दूसरा अर्बुद उत्पन्न होता है उसे विद्वान् लोग अध्यर्बुद कहते हैं। एक ही या अन्य स्थान पर एक अर्बुद के साथ अथवा कुछ बाद में उत्पन्न होनेवाला दूसरा अर्बुद द्विरर्बुद कहा जाता है। उसे असाध्य समझना चाहिये ॥ २५ ॥

अध्यर्बुदमाह—यज्जायत इत्यादिना। अधिकमर्बुदमध्यर्बुदम्, एतद्द्विरर्बुदमेव। यद्द्वन्द्वजातं युगपत् क्रमाद्वेति द्वन्द्वजातं युग्मेन जातं, युगपदेकदा क्रमेण वा तद्द्विरर्बुदं न साध्यम्। तथा च भोजः—**'अर्बुदे त्वर्बुदं जातं द्वन्द्वजं चानुजं च यत्। द्विरर्बुदमिति ज्ञेयं तच्चासाध्यं विनिर्दिशेत्' इति ॥ २५ ॥**

विमर्श—मधुकोषकार ने अध्यर्बुद और द्विरर्बुद दोनों को पर्य्याय रूप में माना है। सुश्रुत की टीका में डल्हण ने भी यही कहा है। भोज ने अर्बुद में अर्बुद, द्वन्द्वज (एक साथ दो), एवं अनुज (पहिले के बाद में होनेवाले) अर्बुदों को द्विरर्बुद कहा है। किन्तु यह प्रमाणित है कि एक अर्बुद उत्पन्न होने पर उसी में या उसका छेदन करने पर पुनः उसी स्थल पर दूसरा अर्बुद भी हो सकता है इसीलिए चरक ने कहा है—**'अदग्ध ईषत्परिशेषितश्च प्रयाति भूयोऽपि शनैर्विवृद्धिम्'** (च. चि. १२)। इसे अध्यर्बुद कहना चाहिये। एक अर्बुद के साथ या बाद में उसी के पास या स्थानान्तर में होनेवाला अर्बुद द्विरर्बुद कहलाता है। प्रत्यक्षतः तीनों ही मिलते हैं। अर्वाचीन शास्त्रज्ञ इसे (Secondary or metastatic growth) कहते हैं। यह असाध्य होते हैं। घातक अर्बुद या रक्तार्बुद और मांसार्बुद स्वभावतः असाध्य होते हैं किन्तु साध्यों में भी यदि द्विरर्बुद या अध्यर्बुद उत्पन्न हों तो उन्हें भी प्रायः असाध्य समझना चाहिये।

अर्बुदानां पाकाभावे हेतुमाह—

न पाकमायान्ति कफाधिकत्वान्मेदोबहुत्वाच्च विशेषतस्तु ।
दोषस्थिरत्वाद् ग्रथनाच्च तेषां सर्वार्बुदान्येव निसर्गतस्तु ॥

(सु. नि. ११)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने गलगण्डगण्डमालापची-ग्रन्थ्यर्बुदनिदानं समाप्तम् ॥ ३८ ॥

कफ एवं मेद की अधिकता एवं दोषों की स्थिरता तथा कठिनता से सभी अर्बुद स्वभावतः पाक को प्राप्त नहीं होते ॥ २६ ॥

अर्बुदानां पाकाभावे हेतुमाह—न पाकमायान्तीत्यादि। सर्वार्बुदानि पित्तरक्तजान्यपि न पाकमायान्ति, कुत इत्यत आह—कफाधिकत्वान्मेदोबहुत्वाच्च। ननु, अपच्यामपि विशेषतः कफमेदसी अधिके, अथ च तस्याः पाकोऽस्त्येव, इत्यत आह—दोषस्थिरत्वादिति। अपच्यां कालान्तरेण हि रक्तपित्तमधिकं पाकमारभते, तच्चेह दोषस्थिरत्वात् सदा सदृशदोषत्वाद्ग्रथितत्वाच्च न पाकारम्भकम्। अन्ये तु दोषस्थिरत्वादिति दोषोच्छ्रायरूपशोथकाठिन्यादित्याहुः; तदप्रयोजनकम्, अन्यत्र दोषोच्छ्रायशोथकाठिन्येऽपि पाकदर्शनात्। अथ

कुतोऽत्रोक्तहेतुसंपदित्याह—निसर्गतस्त्विति—निसर्गतो व्याधिस्वभावात्। भोजेऽप्युक्तं-'न पच्यते स्थिरत्वाच्च ग्रथितत्वात् स्वभावतः' इति ॥ २६ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तविरचितायां मधुकोशव्याख्यायां गलगण्डगण्डमालापची-ग्रन्थ्यर्बुदनिदानं समाप्तम् ॥ ३८ ॥

विमर्श—साधारणतया जब तक कोई बाह्य उपसर्ग नहीं होता तब तक अर्बुद में पाक नहीं होता। सुश्रुत ने केवल रक्तार्बुद में पाक माना है, वह भी विवादास्पद है; क्योंकि माधव ने 'गतस्तु पाकम्' के स्थान पर 'अपाकम्' न पकने वाला विशेषण दिया है। भोज भी अर्बुद में पाक नहीं मानते 'न पच्यते स्थिरत्वाच्च ग्रथितत्वात् स्वभावतः'।

समाप्तं चेदं गलगण्डगण्डमालापचीग्रन्थ्यर्बुदनिदानम्

अथ श्लीपदनिदानम्

श्लीपदस्य सामान्यलक्षणान्याह—

यः सज्वरो वङ्क्षणजो भृशार्तिः शोथो नृणां पादगतः क्रमेण।
तच्छ्लीपदं स्यात् करकर्णनेत्रशिश्नौष्ठनासास्वपि केचिदाहुः ॥ १ ॥

मनुष्यों में जो ज्वरपूर्वक अत्यधिक पीड़ायुक्त शोथ वंक्षण प्रदेश में उत्पन्न हो कर क्रमशः नीचे की ओर पैर में चला जाता है उसे श्लीपद कहते हैं। कतिपय विद्वान् हाथ, कान, मूत्रेन्द्रिय, ओष्ठ तथा नासिका में भी इसकी उत्पत्ति मानते हैं॥ १ ॥

वातिकभेदेन श्लीपदस्य लक्षणान्याह—

वातजं कृष्णरूक्षं च स्फुटितं तीव्रवेदनम्।
अनिमित्तरुजं तस्य बहुशो ज्वर एव च ॥ २ ॥
पित्तजं पीतसंकाशं दाहज्वरयुतं मृदु।
श्लैष्मिकं स्निग्धवर्णं च श्वेतं पाण्डु गुरु स्थिरम् ॥ ३ ॥

वातिक श्लीपद कृष्ण वर्ण का, रूक्ष, दरारयुक्त, तीव्र वेदना वाला, अकारण ही उग्रपीड़ा से एवं प्रायः ज्वर से युक्त होता है। पैत्तिक श्लीपद पीला सा दाह और ज्वर से युक्त तथा स्पर्श में मृदु होता है। श्लैष्मिक श्लीपद चिकना सा श्वेत और पाण्डु वर्ण का गुरु तथा स्थिर होता है॥

उत्सेधसाधर्म्यादर्बुदेन सह कफसंबन्धाव्यभिचारसाम्याच्चाथ श्लीपदनिदानम्। तस्य संप्राप्तिमाह-य इत्यादि। वङ्क्षणावस्थानमेवास्य पूर्वरूपम्। क्रमेणेति शनैः शनैः। तच्छ्लीपदं स्यादित्यनेन निरुपाधिरेवेयं संज्ञेति दर्शयति, अन्ये शिलावत् पदं श्लीपदमिति वदन्ति, नैरुक्तयेन च विधिना साधुत्वम्। करकर्णादिगतश्लीपदानां यथोक्तसंप्राप्त्यभावात् केचिदाहुरिति परमतेनोक्तिः॥ १-३ ॥

विमर्श—'शिलावत् पदं श्लीपदम्, जिस रोग में पैर शिला के समान स्थूल एवं कठोर हो जाता है उसे श्लीपद कहते हैं। **'शनैः शनैर्घनं शोफं श्लीपदं तत्प्रचक्षते' अष्टांगसंग्रहः**। धीरे-धीरे होने वाले घन शोथ को श्लीपद कहते हैं।

साधारणतया लटकने वाले अङ्गों में इस रोग की उत्पत्ति होती है किन्तु पैर इसकी उत्पत्ति का

मुख्य अंग है अतः माधव और सुश्रुत दोनों ने पैर का ही उल्लेख किया है। आगे चलकर सुश्रुत ने कतिपय विद्वानों के मत से हाथ आदि में भी श्लीपद की उत्पत्ति मानी है—

पादवद्धस्तयोश्चापि श्लीपदं जायते नृणाम्। कर्णाक्षिनासिकौष्ठेषु केचिदिच्छन्ति तद्विदः॥

वस्तुतः लसीकावाहिनियों का अवरोध होकर किसी भी स्थान की त्वचा में श्लीपदकृत शोथ उत्पन्न हो सकता है। किन्तु सबसे अधिक पैरों में, उससे कम वृषण में तथा हाथ, कर्ण, नासिका, ओष्ठ, शिश्न, स्त्रियों के भगोष्ठ आदि में भी यह विकार प्रत्यक्ष होता है। इस रोग को आजकल लक्षण की दृष्टि से हस्तिपाद (Elephantiasis) तथा उत्पादक जीवाणु की दृष्टि से फाइलेरिया (Filaria) कहते हैं। पैर के श्लीपद में सर्वप्रथम वंक्षण प्रदेश की लसग्रन्थियाँ सूज जाती हैं, रोगी को ज्वर आ जाता है। इनमें पीड़ा भी बहुत होती है। पुनः यह शोथ ऊरु, जानु और जंघा में होता हुआ पैर में पहुँच जाता है, यही सम्प्राप्ति सुश्रुत ने भी बताई है—**'कुपितास्तु दोषा वातपित्तश्लेष्माणोऽधः प्रपन्ना वङ्क्षणोरुजानुजङ्घास्ववतिष्ठमानाः कालान्तरेण पादमाश्रित्य शनैः शोफं जनयन्ति तत् श्लीपदमित्याचक्षते'** (सु. नि. १२)

श्लीपद के कारण—श्लीपद के दो कारण हैं—

(१) प्रधान कारण—इसका प्रधान उत्पादक कारण फाइलेरिया बैंक्रोफ्टाई (Filaria bancrofti) नामक क्रिमि है। पूर्ण परिवर्धित पुरुष क्रिमि बालों के सदृश सूक्ष्म फीते के समान डेढ़ से दो इञ्च लम्बा होता है। स्त्री क्रिमि की लम्बाई इससे दो गुनी होती है। ये दोनों परस्पर गेंडुली के आकार में मिलकर लसवाहिनियों में निवास करते हैं। ये पारभासक (Translucent) तथा श्वेत वर्ण के होते हैं। इनके बीच में मुख तथा सिर के समीप जननेन्द्रिय होती है। मादा अनेक वर्षों तक समय पर असंख्य माइक्रो फाइलेरिया (Microfilaria) को उत्पन्न करती है। ये क्रिमि मृत्यु के पश्चात् लसवाहिनियों तथा लसग्रन्थियों में लिपटे हुए पड़े रहते हैं। इस अवस्था में उनके ऊपर चूने का आवरण चढ़ा रहता है। यही कारण है कि रोग का आक्रमण समाप्त हो जाने पर भी आक्रान्त अंग में कुछ सूजन अवशिष्ट रह जाती है। कभी-कभी कुछ क्रिमि नष्ट भी हो जाते हैं।

श्लीपद—क्रिमियों की कतिपय विशेषतायें—

(क) दिन में परिसरीय रक्त (Peripheral blood) में नहीं रहते।

(ख) सायंकाल होते ही ये परिसरीय रक्त में आना प्रारम्भ कर देते हैं और मध्य रात्रि के समय एक बूंद रक्त में इनकी सर्वाधिक संख्या (३०० से ६०० तक) हो जाती है। यही कारण है कि परीक्षार्थ ऐसे रोगी का रक्त मध्यरात्रि में ही लिया जाता है। सोने के समय में परिवर्तन कर देने से ये रात्रि के स्थान पर दिन में भी मिलने लगते हैं।

(ग) मध्यरात्रि के पश्चात् इनकी संख्या पुनः घटने लगती है और प्रातः ८-९ बजे तक ये परिसरीय रक्त से पूर्णतया लुप्त हो जाते हैं। उस समय ये आन्तरिक अंगों (फुफ्फुस, हृदय, वृक्क) की वाहिनियों में जाकर निवास करते हैं। इन क्रिमियों को रात्रिञ्चर (Nocturna) कहते हैं।

(घ) कुछ क्रिमि दिन में और कुछ दिन-रात दोनों में परिसरीय रक्त में मिलते हैं, किन्तु वे भारतवर्ष में नहीं होते। दिन के क्रिमि को दिवाप्रिय (Dieurna) कहते हैं।

(२) सहायक कारण—

(क) सीलनयुक्त स्थान।

(ख) **मच्छर**—क्यूलैक्स फेटिजेन्स (Culex fatigans) नामक मच्छरी इस रोग के क्रिमि का प्रसार कराती है।

(ग) **आनूपदेश—'जलप्रायमनूपं स्यात्'** जलबहुल प्रदेश को आनूप देश कहते हैं।

'सरित्समुद्रपर्यन्तप्रायः' नदी तथा समुद्री किनारे के प्रदेश को आनूप कहते हैं। हिमालय की तराई, उत्तर प्रदेश का उत्तर-पूर्वी भाग, विहार, बंगाल, उड़ीसा, कोचीन तथा त्रावणकोर में यह रोग अधिकता से होता है।

सम्प्राप्ति—मच्छरी के काटने से क्रिमि का शरीर में प्रवेश हो जाना है। यह लसवाहिनी, लसग्रन्थि एवं रसकुल्या में अपनी संख्या वृद्धि करके कुछ दिन वाद लसवाहिनियों में अवरोध उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार स्थानीय लसिका-संचय से क्रमशः सूजन प्रारम्भ हो जाती है जो आगे चलकर शिला के समान कठोर हो जाती है। सर्वप्रथम लसग्रन्थि-शोथ होता है, शोथ से ज्वर और फिर क्रमशः अंग में सूजन आजाती है। रोग के पुनः पुनः आक्रमण होते हैं। हर बार सूजन कुछ शेष रह जाती है और दूसरी बार के आक्रमण से पुनः बढ़ जाती है। उदर की लसवाहिनियों में अवरोध हो जाने से जलोदर के समान 'रसोदर' (Chylous ascitis) हो सकता है। रक्त में सकल श्वेतकायाणु वृद्धि के साथ उषसिप्रिय (Eosinophils) का प्रतिशत प्रमाण भी प्रकृत से बहुत अधिक हो जाता है।

श्लीपदस्यासाध्यतामाह—

वल्मीकमिव संजातं कण्टकैरुपचीयते ।
अब्दात्मकं महत्तच्च वर्जनीयं विशेषतः ॥ ४ ॥

वल्मीक के समान अनेक शिखर और गांठों से युक्त एक वर्ष का पुराना और बहुत बड़ा श्लीपद असाध्य होता है ॥ ४ ॥

एषामसाध्यतामाह—वल्मीकमिवेत्यादि। संजातं प्रवृद्धं सत् वल्मीकवद्बहुशिखराकारं ग्रन्थिभिरुपचितं यद्भवति तदसाध्यम्। अन्ये तु पुनरसुं ग्रन्थिं कफजलक्षणत्वेन वर्णयन्ति; तन्न मनो धिनोति, सुश्रुते वल्मीकवज्जातस्यासाध्यत्वेनाभिधानात्। तद्यथा, 'तत्र संवत्सरातीतमतिमहद्वल्मीकमिव संजातं संप्रस्रुतमिति वर्जनीयानि भवन्ति' (सु. नि. स्था. १२) **इति। अब्दात्मकमित्यादि। अब्दात्मकं संवत्सरातीतम्, अब्दमेकमिति पाठे तु 'अतिक्रान्तम्' इति शेषः। महदिति अत्यन्तमुच्छूनम्। वर्जनीयं विशेषत इति प्रत्याख्येयम् ॥ ४ ॥**

सर्वश्लीपदेषु कफस्य प्राधान्यमाह—

त्रीण्यप्येतानि जानीयाच्छ्लीपदानि कफोच्छ्रयात् ।
गुरुत्वं च महत्त्वं च यस्मान्नास्ति कफं विना ॥ ५ ॥

ये तीनों प्रकार के श्लीपद कफ की अधिकता से होते हैं; क्योंकि मोटापन और भारीपन कफ के विना नहीं होता ॥ ५ ॥

श्लीपदेषु कफस्याव्यभिचारेण प्राधान्यमाह—त्रीण्यप्येतानीत्यादि। ननु, यद्यव्यभिचारी सर्वत्र कफः कथं तर्ह्येकदोषजत्वव्यपदेशः सर्वस्य द्विदोषजत्वप्रसङ्गात्? उच्यते, अनुबन्धोऽत्र कफः, न त्वनुबन्ध्यः; एतेनात्र न द्विदोषजप्रसङ्ग इत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

श्लीपदस्योत्पत्तिदेशमायुर्वेददिशा वर्णयति—

पुराणोदकभूयिष्ठाः सर्वर्तुषु च शीतलाः ।
ये देशास्तेषु जायन्ते श्लीपदानि विशेषतः ॥ ६ ॥

पुराने जल से सदा भरे रहनेवाले तथा सब ऋतुओं में शीतल रहनेवाले देशों में श्लीपद रोग विशेषतया उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥

श्लीपदसंभवहेतुं देशमाह-पुराणोदकेत्यादि। अनूपदेशे हि सलिलं पतितं बहूदकं निम्नतया न शोषमुपयाति; जाङ्गले त्वाग्नेयोन्नतभूभागत्वान्न पुराणोदकभूयिष्ठता। स्तिमितस्यानूपस्य मन्दातपत्वेनोष्णर्तावपि शीततेत्यत उक्तं-सर्वर्तुषु च शीतला इति। करकर्णादिगतश्लीपदसंदेहे कोपद्वारेण ज्वरेण च श्लीपदावधारणं करणीयम्॥ ६॥

विमर्श—आधुनिक विद्वान् इसको सहायक कारण मानते हैं। पीछे इसका वर्णन किया जा चुका है।

अपरमसाध्यलक्षणमाह—

यच्छ्लेष्मलाहारविहारजातं पुंसः प्रकृत्याऽपि कफात्मकस्य।
सास्रावमत्युन्नतसर्वलिङ्गं सकण्डुरं श्लेष्मयुतं विवर्ज्यम्॥ ७॥

इति श्री माधवकरविरचिते माधवनिदाने श्लीपदनिदानं समाप्तम्॥ ३९॥

कफ प्रकृतिवाले पुरुष को कफवर्धक आहार-विहार के सेवन से उत्पन्न स्रावयुक्त, अत्यधिक उन्नत, सब दोषों के लक्षणों से युक्त, खुजली वाले और कफबहुल श्लीपद को असाध्य समझ कर छोड़ देना चाहिये॥ ७॥

सास्रावमिति अपरमसाध्यलक्षणमाह-यदित्यादि। अत्युन्नतसर्वलिङ्गमिति येन दोषेणारब्धं श्लीपदं तस्यात्युन्नतानि अतिवृद्धानि सर्वाणि लिङ्गानि यत्र तत्तथा। सकण्डुरमिति अत्यन्तकण्डुमत्। श्लेष्मयुतमिति श्लेष्मानुगम्॥ ७॥

इति श्रीकण्ठदत्तविरचितायां मधुकोशव्याख्यायां श्लीपदनिदानं समाप्तम्॥ ३९॥

अथ विद्रधिनिदानम्

विद्रधेः सम्प्राप्तिं भेदांश्चाह—

त्वग्रक्तमांसमेदांसि संदूष्यास्थिसमाश्रिताः।
दोषाः शोथं शनैर्घोरं जनयन्त्युच्छ्रिता भृशम्॥ १॥
महामूलं रुजावन्तं वृत्तं वाऽप्यथवाऽऽयतम्।
स विद्रधिरिति ख्यातो विज्ञेयः षड्विधश्च सः॥ २॥
पृथग्दोषैः समस्तैश्च क्षतेनाप्यसृजा तथा।
षण्णामपि हि तेषां तु लक्षणं संप्रवक्ष्यते॥ ३॥ (सु नि ९)

अत्यधिक प्रकुपित हुए दोष अस्थियों का आश्रय कर त्वचा, रक्त, मांस तथा मेद को दूषित कर धीरे-धीरे गम्भीरमूल, पीडायुक्त, गोल अथवा चौड़े शोथ को उत्पन्न कर देते हैं, उसे विद्रधि कहते हैं। वह विद्रधि वात, पित्त, कफ, त्रिदोष, क्षत तथा रक्त भेद से छ प्रकार की होती है। आगे उनके लक्षण कहे जाते हैं॥ १-३॥

शोथत्वसामान्याद्विद्रधिनिदानम्। तस्य संप्राप्तिमाह—त्वग्रक्तमांसमेदांसीत्यादि। घोरमित्यन्येभ्योऽपि शोथसमुत्थानेभ्यो ग्रन्थ्यादिभ्य आशुकारित्वाद्दारुणम्। उच्छ्रिता भृशमिति अत्यर्थं वृद्धाः। अस्थिसमाश्रिता इत्यनेन स्थानसंश्रयोऽभिहितः। उच्छ्रिता भृशमित्यनेन प्रकोप आविष्कृतः, एतेनैवान्तरीयकतया चयप्रसरावप्याक्षिप्तौ मन्तव्यौ। महा-

मूलमस्थ्यादिसमाश्रयणाद्गम्भीरमूलम् । रुजावन्तमिति उत्पत्तावेव रुजाप्रकर्षवन्तम् , अतिशायने मतुप् । वृत्तमित्यादि । वृत्तं वर्तुलम् । आयतं दीर्घम् । वृत्तायताभ्यां ग्रन्थ्यादिविलक्षणता। विद्रधिरिति ख्यात इति इतिशब्देन निरुपाधिसंकेतमात्रा विद्रधिसंज्ञेति दर्शयति। चरके तु विदाहप्रकर्षाद्विद्रधिसंज्ञा। यदुक्तं—'स वै शीघ्रविदाहित्वाद्विद्रधीत्यभिधीयते' (च. सू. अ. १७) इति ॥ १–३ ॥

विमर्श—अति प्रकुपित दोष एक सीमित स्थान में त्वचा, रक्त, मांस, मेद और अस्थि आदि को दूषित कर शोथ उत्पन्न करते हैं जिसमें शीघ्र पाक की प्रवृत्ति होने से पूय सञ्चित रहता है उसे विद्रधि कहते हैं। कुछ लोग विद्रधि शब्द को निरुपाधिक (अयोगरूढ) केवल सांकेतिक संज्ञा मात्र मानते हैं किन्तु चरक ने विदाह की प्रबलता के आधार पर इसे यौगिक ही माना है। यथा—

दुष्टरक्तातिमात्रत्वात् स वै शीघ्रं विदह्यते । ततः शीघ्रविदाहित्वाद् विद्रधीत्यभिधीयते ॥

(च. सू. १७)

विद्रधि बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार की होती है। जो त्वचा के समीपवर्ती मांस, स्नायु आदि में होती है उसे बाह्य और कोष्ठगत अवयवों में होने वाली को आभ्यन्तर विद्रधि कहते हैं। शुक्र को छोड़कर अन्य सभी धातु या उपधातु इसमें दूष्यरूप में वर्णित हैं किन्तु रक्त और मांस विशेष रूप से दूष्य होते हैं। यथा—'**अन्तः शरीरे मांसासृगाविशन्ति यदा मलाः।** (च. सू. १७) तथा—'**विद्रधिर्मांसशोणिते**' एवं '**मांसशोणितबाहुल्यात्पाकं गच्छति विद्रधिः**' (सु. नि. ९)। आधुनिकदृष्ट्या विद्रधि व्रणशोथ की ही पकावस्था है[1] और इसे Abscess कहते हैं और उसकी परिभाषा निम्न प्रकार से करते हैं—'शोथ के स्पष्ट परिवर्तनों से युक्त धातुओं से घिरे हुए पूय संग्रह के सीमित स्थान को विद्रधि कहते हैं '**A circumscribed collection of pus surrounded by a zone in which acute inflammatory changes are evidently present**'

सुश्रुत ने आमपक्वैषणीय अध्याय में व्रणशोथ की तीन अवस्थायें बताई हैं—

(१) आमावस्था—शोथ (Inflammation) की अवस्था ।

(२) पच्यमानावस्था—पूयोत्पादन की अवस्था । (३) पकावस्था—विद्रधि ।

विद्रधि को आजकल ऐब्सेस कहते हैं। यह शोथ का अन्तिम परिणाम है। इसके दो प्रकार हैं—

(१) तीव्र (Acute)   (२) चिरकालीन (Chronic)

विद्रधि के तीन भाग होते हैं—

(१) मध्यान्तराल (Centre)—यह आभ्यन्तर भाग है, इसमें पूय भरा रहता है।

(२) मध्य भाग—इसमें धातुओं की मृत्यु तथा पुनरुत्पत्ति साथ-साथ चलती रहती है।

(३) बाह्य भाग (Outer zone)—इस स्थान पर विद्रधि उत्पन्न करने वाला विष इतना मृदु हो जाता है कि वह उत्तेजक के समान क्रिया करता है। इस उत्तेजना के फल स्वरूप धातुओं की पुनरुत्पत्ति में सहायता होती है।

सबसे कम प्रतिरोध (Least resistance) की दिशा में विद्रधि बढ़ती जाती है। जीवाणु विष से कुछ धातुयें शीघ्र गल जाती हैं और कुछ देर में। ये न गलने वाली धातुयें दीवार सी बन जाती हैं। इस प्रकार एक विद्रधि में अनेक कोष बन जाते हैं। यदि उपेक्षावश इस अवस्था में

१. व्रणशोथ और विद्रधिमें अन्तर आगे पृष्ठ ९० पर देखें।

विद्रधि के पूयका निर्हरण न किया गया तो बड़े-बड़े उत्संग (Pus pockets) बन जाते हैं। पूय गम्भीर धातुओं में प्रविष्ट हो कर नाडी व्रण का रूप धारण कर लेता है।

तीव्र की अपेक्षा चिरकालीन विद्रधि के लक्षण सौम्य स्वरूप के होते हैं, पूयोत्पादन धीरे-धीरे होता है।

बाह्य एवं आभ्यन्तर विद्रधि के सम्बन्ध में विद्वानों के कई मत हैं जो नीचे दिये जाते हैं—

(क) तीन रोग मार्ग हैं **'त्रयो रोगमार्गाः'** :—

(१) शाखा—रक्त आदि धातुयें तथा त्वचा को शाखा कहते हैं **'शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक् च'** यह बाह्य रोगमार्ग है। इसमें बाह्य विद्रधि होती है।

(२) मर्म, अस्थि तथा सन्धि—**मर्मास्थिसन्धयः 'स मध्यमो रोगमार्गः'**।

(३) कोष्ठ—**'स आभ्यन्तरो रोगमार्गः'** यह आभ्यन्तर रोगमार्ग है। अन्तिम दोनों में होने वाली विद्रधि को आभ्यन्तर विद्रधि कहते हैं।

(ख) त्वचा, मांस और स्नायु की विद्रधि बाह्य तथा शरीर के आन्तरिक अङ्गों की विद्रधि आभ्यन्तर कहलाती है।

(ग) अधिक गम्भीर दारुण व घातक को आभ्यन्तर और इसके विपरीत को बाह्य कहते हैं।

(घ) शिरोगुहा, उदरगुहा तथा उरोगुहा के अङ्गों की विद्रधि आभ्यन्तर तथा शाखाओं व उक्त गुहाओं की प्राचीर की विद्रधि बाह्य कहलाती है। यथा—उदर प्राचीर के वंक्षण विभाग की विद्रधि (Psoas abscess) बाह्य और उदरगुहा के वंक्षण प्रदेश की विद्रधि (Appendicitis) आभ्यन्तर है। (सु. सू. १७ रहस्यदीपिका)

वातिकविद्रधिलक्षणान्याह—

कृष्णोऽरुणो वा विषमो भृशमत्यर्थवेदनः।
चित्रोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिर्वातसंभवः ॥ ४ ॥ (सु. नि. ९)

वातिक विद्रधि काले अथवा लाल वर्ण की, खुरदरी अथवा कभी छोटी और कभी बड़ी, अत्यधिक वेदना युक्त तथा विविध प्रकारों से उत्पन्न होने और पकने वाली होती है ॥ ४ ॥

वातिकमाह—कृष्ण इत्यादि। विषमो भृशमिति कदाचिदल्पः कदाचिन्महान्। चित्रोत्थानप्रपाक इति चित्रौ नानाविधौ वायोर्विषमक्रियत्वादुद्गमप्रपाकौ यस्य स तथा ॥ ४ ॥

विमर्श—चित्रोत्थानप्रपाक का स्पष्टीकरण चरक के शब्दो में—**'व्यधच्छेदभ्रमानाहशब्दस्फुरणसर्पणैः'** (च. सू. १७) किया जा सकता है।

पैत्तिकविद्रधिं लक्षयति—

पक्कोदुम्बरसंकाशः श्यावो वा ज्वरदाहवान्।
क्षिप्रोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिः पित्तसंभवः ॥ ५ ॥ (सु. नि. ९)

पित्तजन्य विद्रधि पके हुए गूलर के फल के सदृश अथवा श्याव वर्ण (धूसर और अरुण मिश्रित) की ज्वर और दाह से युक्त, जल्दी उठनेवाली और जल्दी ही पकनेवाली होती है ॥ ५ ॥

पैत्तिकमाह—पक्वेत्यादि। ज्वरदाहावुत्थानकाल एव, पाककाले तु प्रकर्षवन्तौ ताविति विशेषः ॥ ५ ॥

विमर्श—ज्वर और दाह आरम्भ से ही रहते हैं पच्यमानावस्था में और भी बढ़ जाते हैं किन्तु पक्वावस्था में प्रायः नहीं रहते। पित्त के आधिक्य एवं ज्वर और दाह के कारण तृष्णा भी होती है।

श्लैष्मिकविद्रधिं वर्णयति—

शरावसदृशः पाण्डुः शीतः स्निग्धोऽल्पवेदनः।
चिरोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिः कफसंभवः॥ ६॥ (सु. नि. ९)

कफजन्य विद्रधि सकोरे के समान बड़ी, पाण्डुवर्ण की, शीत, चिकनी तथा कम वेदना वाली, देर में उठने वाली और देर में पकने वाली होती है॥ ६॥

कफजमाह—शरावेत्यादि। शरावसदृश इति महत्त्वसूचनपरम्॥ ६॥

विमर्श—इसकी समता आधुनिक दृष्टि से जीर्ण या शीत विद्रधि (Ohronic or cold abscess) से की जा सकती है।

एषां स्रावलक्षणमाह—

तनुपीतसिताश्चैषामास्रावाः क्रमशः स्मृताः।

वातिक में पतला या थोड़ा, पैत्तिक में पीला तथा कफज में सफेद रंग का स्राव निकलता है॥

पाकानन्तरं संभूतास्रावलिङ्गमाह—तनुपीतसिताश्चैषामित्यादि। क्रमश इति यथाक्रमं; तेन वातेन तनुः, पित्तेन पीतः, कफेन सितः, तनुस्रावे वातानुरूपो वर्णो ज्ञेयः॥

सान्निपातिकविद्रधिमाह—

नानावर्णरुजास्रावो घाटालो विषमो महान्॥ ७॥
विषमं पच्यते चापि विद्रधिः सान्निपातिकः। (सु. नि. ९)

सान्निपातिक विद्रधि विभिन्न रंग, विविध प्रकार की वेदना तथा स्राव से युक्त अत्यधिक उभरी हुई, विषम आकार की, फैली हुई तथा विषमता से पकने वाली होती है॥ ७॥

सन्निपातजमाह—नानेत्यादि। नानावर्णरुजास्राव इति नानाशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, नाना बहुविधा वर्णाः कृष्णपीतशुक्लवर्णाः, रुजास्तोददाहकण्ड्वादिकाः, तनुपीतसिता आस्रावाश्च यस्य स तथा। अन्यत्र शोथे पाककाले नानारुजा, अत्र तु सर्वदा। घाटाल इति घाटा अस्यास्ति स घाटाल इति मत्वर्थीयो लच्, अत्युच्छ्रिताग्रत्वेन घाटाल इव। विषमोऽसाध्यत्वात्। विषमं पच्यत इति चिराचिरगम्भीरोत्तानोर्ध्वानूर्ध्वभेदेन विषमं यथा भवति तथा पच्यत इति विषममसमम्। ननु, विषमपाकित्वं वातिके विद्रधावुक्तं, तथाऽनुपक्रान्ते च शोथे; यथा—'योऽभ्युत्थितोऽल्पो यदि वा महान् स्यात् क्रियां विना पाकमुपैति शोथः। विशालमूलो विषमो विदग्धः स कृच्छ्रतां यात्यवगाढदोषः' (सु. सू. अ. १७) इति; अतः संशये कथं मिथो भेदप्रतीतिः? उच्यते, वातिकेऽप्रतीकारेणैव विषमपाकित्वम्, इह पुनः प्रतीकारेऽपि वैषम्यं; वातिके तु पाकमात्रवैषम्यं, न तु गाम्भीर्यादिना, अतो वातिकः साध्यः॥ ७॥

विमर्श—कृष्ण, पीत और श्वेत नाना वर्ण एवं तोद, दाह और कण्डू आदि विविध वेदनाएं तथा विषम पाक वातिक विद्रधि एवं अनुपक्रान्त शोथ में भी बताये गये हैं किन्तु वह चिकित्सा करने पर ठीक हो जाती है। सान्निपातिक चिकित्सा करने पर भी ठीक नहीं होती यही इन दोनों में भेद है। वातिक साध्य और सान्निपातिक विद्रधि असाध्य होती है।

आगन्तुजं विद्रधिं प्राह—

तैस्तैर्भावैरभिहते क्षते वाऽपथ्यकारिणः॥ ८॥
क्षतोष्मा वायुविसृतः सरक्तं पित्तमीरयेत्।

ज्वरस्तृष्णा च दाहश्च जायते तस्य देहिनः ॥ ९ ॥
आगन्तुर्विद्रधिर्ह्येष पित्तविद्रधिलक्षणः । (सु. नि. ९)

लाठी, पाषाण आदि के आघात लगने या क्षत हो जाने पर अपथ्य सेवन करने वाले रोगी के वायु से प्रेरित क्षत की उष्णता रक्त के सहित पित्त को भी प्रकुपित कर देती है। इसमें ज्वर, प्यास तथा दाह के लक्षण होते हैं। इसे आगन्तुक विद्रधि कहते हैं और इसमें पित्तजन्य विद्रधि के समान लक्षण पाये जाते हैं ॥ ८-९ ॥

अभिघातजस्यागन्तोः संप्राप्तिमाह—तैस्तैरित्यादि। तस्तैरिति काष्ठलोष्ठपाषाणादिभिः, अभिहत इति अस्रुतरक्तस्य मथितपिच्चितादेरुपलक्षणं, क्षत इति स्रुतरक्तस्य छिन्नभिन्नादेः, द्वयोरभिहितयोरपथ्यकारिण इति विशेषणम्। क्षतोष्मेति क्षतशब्दस्य हिंसामात्रपरिग्रहात् क्षताभिहतयोरप्यूष्मा क्षतोष्मशब्देनोच्यते। वायुविसृत इति क्षते रक्तक्षयादभिहतेऽभिघातादेव वातकोपः, कुपितेन वातेन हेतुभूतेन विसृतः प्रसृतो वायुविसृतः। यद्यप्ययं वातपित्तरक्तजस्तथाऽपि प्रागभिघातसंभवत्वेनागन्तुः, वातपित्तरक्तजानां जनकत्वेनैव विलक्षणाऽस्य संप्राप्तिः। पित्तविद्रधिलक्षण इति। अत्रोक्तज्वरादिव्यतिरिक्तसंस्थानवर्णवेदनादिपित्तविद्रधिलिङ्गयुक्त इत्यर्थः ॥ ८-९ ॥

विमर्श—यद्यपि इसमें भी त्रिदोष ही प्रकुपित होता है फिर भी प्रथम आगन्तु कारण से विद्रधि होती है पश्चात् दोषों का प्रकोप होता है इस लिए इसे आगन्तुज या अभिघातज कहा गया। त्वचा के नीचे की धातुओं का नाश होने पर भी त्वचा पर खुला घाव न बनना अभिहत कहलाता है। त्वचा पर खुला घाव बनना क्षत है। अभिघात से वायु का प्रकोप होता है तथा उस स्थल का रक्तसञ्चार बढ़ जाता है और वह अभिघात से विनष्ट धातुओं में सञ्चित हो कर शोथ को उत्पन्न करता है और उसमें विदाह या पाक होने पर विद्रधि बन जाती है।

रक्तजविद्रधिं निरूपयति—

कृष्णस्फोटावृतः श्यावस्तीव्रदाहरुजाकरः ॥ १० ॥
पित्तविद्रधिलिङ्गस्तु रक्तविद्रधिरुच्यते । (सु. नि. ९)

काले वर्ण की फुंसियों से व्याप्त, श्याव वर्ण की, तीव्र दाह और पीड़ा को करने वाली और पित्तजन्य विद्रधि के समान लक्षणों वाली विद्रधि को रक्तज विद्रधि कहते हैं ॥ १० ॥

रक्तजमाह—कृष्णेत्यादि। पित्तविद्रधिलिङ्गातिदेशेन लब्धावपि दाहज्वरौ तीव्रताविशेषार्थमुक्तौ। श्याव इति। पित्तविद्रधिलिङ्गातिदेशेन प्रसक्तस्य पक्वोदुम्बरसंकाशस्यापवादः। भोजप्रभृतयस्तु धातुरक्तजं विद्रधिं परित्यज्य मक्कल्लसंज्ञयाऽऽर्तवलक्षणरक्तजं पठन्ति। तेषां मते आर्तवजेन सह षड्विद्रधयः, सुश्रुते तु धातुरक्तजोऽपि तथा मक्कल्लसंज्ञकोऽपि विद्रधिः सामान्येन रक्तज एवेति षड्विद्रधय इति बोद्धव्यम् ॥ १० ॥

विमर्श—भोजादि आचार्य धातु रूप रक्त विद्रधि को न मानकर आर्तव रूपी रक्त से होने वाली मक्कल्लसंज्ञक विद्रधि[1] को रक्तज विद्रधि के नाम से मानते हैं। उनके मत में इस आर्तवज

---

१. स्त्रीणामपप्रजातानां प्रजातानां तथाऽहितैः। दाहज्वरकरो घोरो जायते रक्तविद्रधिः ॥
अपि सम्यक् प्रजातानामसृक् कायादनिःसृतम्। रक्तजं विद्रधिं कुर्यात् कुक्षौ मक्कल्लसंज्ञितम् ॥
सप्ताहान्नोपशान्तश्चेत्ततोऽसौ सम्प्रपच्यते। (सु. नि. ९)
आजकल प्रसवोत्तर गर्भाशय में उत्पन्न इस प्रकार के विकार को Puerperal or putried endometritis कहते हैं।

को मिला कर छः विद्रधियाँ होती हैं पर सुश्रुत ने मक्कलसंज्ञक विद्रधि को भी धातुरक्तज विद्रधि में समाहित कर लिया है।

विद्रधिके सामान्य लक्षण—

(१) स्थानिक लक्षण (Local symptoms):—(क) विदाह—यह दुष्ट रक्त की अधिकता से होता है। (ख) मन्थनवत् पीड़ा (Throbing pain) (ग) भूरे रंग की सूजन (Browny swelling) (घ) तरंगप्रतीति (Fluctuation)।

(२) सार्वदेहिक लक्षण (General symptoms):—(क) ज्वर—Fever with rigors (ख) रक्त में श्वेत कायाणूत्कर्ष (Leucocytosis) (ग) स्वेदागम।

अन्तर्विद्रधिं वर्णयति—

पृथक् संभूय वा दोषाः कुपिता गुल्मरूपिणम् ॥ ११ ॥
वल्मीकवत् समुन्नद्धमन्तः कुर्वन्ति विद्रधिम्।

अपने कारणों से प्रकुपित हुए अलग-अलग दोष अथवा मिलित तीनों दोष आन्तरिक अंगों में गुल्म अथवा बमी (वल्मीक) के समान उन्नत अन्तर्विद्रधि को उत्पन्न कर देते हैं ॥ ११ ॥

अन्तर्विद्रधेः स्थानान्याह—

गुदे बस्तिमुखे नाभ्यां कुक्षौ वङ्क्षणयोस्तथा ॥ १२ ॥
वृक्कयोः प्लीह्नि यकृति हृदि वा क्लोम्नि वाऽप्यथ।

गुदा, बस्तिमुख, नाभि, कोख, वंक्षणप्रदेश, वृक्क, प्लीहा, यकृत्, हृदय तथा क्लोम में अन्तर्विद्रधि होती है ॥ १२ ॥

तेषां लिङ्गान्याह—

तेषामुक्तानि लिङ्गानि बाह्यविद्रधिलक्षणैः ॥ १३ ॥
अधिष्ठानविशेषेण लिङ्गं शृणु विशेषतः।
गुदे वातनिरोधश्च बस्तौ कृच्छ्राल्पमूत्रता ॥ १४ ॥
नाभ्यां हिक्का तथाऽऽटोपः कुक्षौ मारुतकोपनम्।
कटीपृष्ठग्रहस्तीव्रो वङ्क्षणोत्थे तु विद्रधौ ॥ १५ ॥
वृक्कयोः पार्श्वसंकोचः प्लीह्न्युच्छ्वासावरोधनम्।
सर्वाङ्गप्रग्रहस्तीव्रो हृदि कासश्च जायते ॥ (सु. नि. ९)
श्वासो यकृति हिक्का च क्लोम्नि पेपीयते पयः ॥ १६ ॥

उनके सामान्य लक्षण बाह्यविद्रधि के समान ही होते हैं। स्थान के अनुसार भी उनके कुछ विशेष लक्षण होते हैं जिनका वर्णन आगे किया जा रहा है। गुदस्थान में विद्रधि होने पर अपानवायु का निःसरण वन्द हो जाता है। बस्ति में होने पर मूत्रत्याग में कठिनाई तथा कमी होती है। नाभि में होने पर हिचकी और आटोप, कुक्षि में होने पर वायु का प्रकोप, वंक्षण में होने पर कमर और पीठ में स्तब्धता या तीव्र पीड़ा, वृक्कों में होने पर पार्श्वों का संकोच, प्लीहा में होने पर श्वास लेने में अवरोध (कठिनता), हृदय में होने से सर्वाङ्गशूल और कास, यकृत्में होने से श्वास और हिक्का एवं क्लोम में होने से अत्यधिक पिपासा होती है ॥ १३-१६ ॥

अधिष्ठानविशेषेण लिङ्गविशेषं साध्यतामसाध्यतां च प्रतिपादयितुमाभ्यन्तरविद्रधिमाह- पृथगित्यादि। इयमधिकविधानार्थमुक्ताऽपि संप्राप्तिर्विद्रधेः पुनरुच्यते। आभ्यन्तरस्य रक्तजस्य तथाऽऽगन्तोश्च विद्रधेर्दोषेण व्यपदेशादियमेव तत्रापि संप्राप्तिर्ज्ञेयेति कश्चित्। बाह्यागन्तुवदाभ्यन्तरागन्तुसंप्राप्तिरित्यर्थः। क्षतजस्याभ्यन्तराभावान्न[1] निर्दिष्टः क्षतज इति तु जेज्जटः। गुल्मरूपिणमिति गुल्मवत् संहतम्। एतदाभ्यन्तरविद्रधीनां सामान्यरूपं; विशेषलक्षणं तु बाह्यविद्रधिलक्षणैरेव ज्ञेयम्। वल्मीकवत् उच्छूनत्वं समुन्नद्धं समन्तादुन्नतम्, एतदपि पच्यमानावस्थायां सर्वेषां समानम्। बस्तिमुख इति बस्तिमुख एव, विद्रध्याधारभूतमांसादिसंभवात्; न बस्तौ, तस्य तनुत्वात्। आटोपो रुजापूर्वकक्षोभः। मारुतकोपनमिति मार्गावरोधाद्वायोः कोपः। वृक्कयोरिति वृक्कमग्रमांसम्। सर्वाङ्गप्रग्रहः प्रत्यङ्गव्यथा, सर्वसिराधिष्ठानत्वाद्धृदयस्य। क्लोम्नीति क्लोम वृक्कादूर्ध्वं पिपासास्थानम्। पेपीयते पय इति पुनः पुनर्जलं पातुमिच्छतीत्यर्थः॥ ११-१६॥

विमर्श—क्लोम का विवेचन तृष्णा प्रकरण में किया जा चुका है। वातिकादि विद्रधि के जो लक्षण बताये जा चुके हैं उनके साथ स्थान विशेष के आधार पर वर्णित लक्षण भी होंगे। आधुनिक विचार से निम्नलिखित नाम और लक्षण हो सकते हैं।

(१) **गुदविद्रधि**—(Ischio-rectal abscess) यह गुदा और कुकुन्दरास्थि (Ischium) के मध्य में होती है। यह कड़े मल तथा शोथयुक्त अर्श से आन्त्रक्षत होने के कारण उत्पन्न होती है। पूय त्वचा द्वारा सीधे तथा आन्त्र द्वारा गुदा में होकर बाहर निकल सकता है। गुदा में मलत्याग के कारण पीड़ा होने से वेगावरोधजनित अपानवायु का भी निरोध हो सकता है।

(२) **बस्तिविद्रधि**—(Cystic abscess) यह मूत्राशय कला में होती है। इसमें मूत्रकृच्छ्र का लक्षण विशेष मिलता है। बस्तिमुख विद्रधि से पौरुषग्रन्थि विद्रधि (Prostatic abscess) भी ले सकते हैं। यह अधिकतर युवा व्यक्तियों में पूयमेह अथवा राजयक्ष्मा के उपद्रव स्वरूप होती है। इसमें पौरुषग्रन्थि की वृद्धि के साथ पुनः पुनः मूत्रत्याग की इच्छा एवं विद्रधि के अन्य सामान्य लक्षण (ज्वर, श्वेतकायाणुमयता, तरंगप्रतीति आदि) भी पाये जाते हैं।

(३) **नाभि तथा कुक्षि विद्रधि**—(Localised peritonitis) इसके कारण साधारण उदरावरण शोथ के समान (आन्त्र के रक्तसंवहन में बाधा पहुँचाने वाले कारण, तथा स्त्रियों में पूयमेह एवं भेदक व्रण आदि) ही होते हैं। भेद केवल इतना है कि वह उदरावरण के किसी भाग में ही सीमित रह जाता है, इधर-उधर नहीं फैलता। पार्श्वों में होने पर कुक्षि और मध्य में होने पर नाभि विद्रधि कहते हैं। इनके कारण उदर में विविध वातविकार एवं हिक्का की उत्पत्ति हो सकती है।

(४) **वङ्क्षणविद्रधि**—(Psoas abscess) यह वङ्क्षण प्रदेश की विद्रधि है जो पृष्ठवंश के क्षय के परिणामस्वरूप होता है। सर्वप्रथम विद्रधि उत्पन्न होकर कसेरुकाओं के पार्श्व में फैलती है। धीरे-धीरे यह कटिप्रदेश में कटिलम्बिनी पेशी (Psoas muscle) पर आ जाती है और पुनः नीचे वंक्षण प्रदेश में इसका उभार हो जाता है। अतः कटि और पृष्ठ में पीड़ा होती है।

(५) **दक्षिणवंक्षणविद्रधि**—(Appendicular abscess) यह वंक्षणप्रदेश से ऊपर दाहिनी ओर वंक्षणी बन्धन (Inguinal ligament) से ऊपर की ओर होती है। उण्डुक (Appendix) में शोथ के बाद विद्रधि बन जाती है। इसमें स्थानीय लक्षणों के अतिरिक्त विषमयता के लक्षण तथा श्वेतकायाणुमयता (Leucocytosis) भी पायी जाती है।

---

१. 'क्षतस्यान्तर्भावान्न' इति पा०।

(६) **वृक्कविद्रधि**—(Pyelonephritis, pyonephrosis or peri nephric abscess).
रोगी को यकायक शीतपूर्वक तीव्र ज्वर के साथ कटिपार्श्वप्रदेश में तीव्र पीड़ा प्रारम्भ हो जाती है। वमन, जिह्वा सूखी, प्रलाप तथा कभी-कभी संन्यास के लक्षण भी हो जाते हैं। प्रारम्भ में मूत्रत्याग कठिनाई से थोड़ा-थोड़ा और बार-बार होता है। मूत्र में शुक्ति (अल्ब्यूमिन), पूय, रक्त तथा अन्य विकारी जीवाणु पाये जाते हैं।

(७) **प्लीहविद्रधि**—(Spleenic abscess) यह निम्न कारणों से उत्पन्न हो सकती है—
(क) आन्त्रिक ज्वर (Typhoid) (ख) फुफ्फुसपाक (Pneumonia) (ग) राजयक्ष्मा
(घ) पूयमयता (Pyaemia) (ङ) अमीबाजन्य अतिसार (Amoebic dysentery)
विद्रधि के स्थानीय लक्षण वामपार्श्व में प्लीहाप्रदेश में मिलते हैं। सार्वदेहिक लक्षण पूर्ववत् ही होते हैं। इस पीड़ा के कारण प्रतिक्रियास्वरूप श्वासकार्य में भी बाधा होती है।

(८) **हृदयविद्रधि**—(Suppurative pericarditis) हृदयावरण शोथ के परिणामस्वरूप इसकी उत्पत्ति होती है।

(९) **यकृत् विद्रधि**—(Liver abscess)—यह प्रायः अमीबा के उपसर्ग का परिणाम है। प्रायः अमीबाजन्य अतिसार (प्रवाहिका) के पश्चात् इसकी उत्पत्ति होती है। सर्वप्रथम इसमें निम्न लक्षण होते हैं—

१. प्रथम दक्षिण आनुपार्श्विक प्रदेश (Right hypochondric region) में भेदनवत् पीड़ा प्रारम्भ हो जाती है। इसका प्रचलन कन्धे की ओर होता है।

२. ज्वर—यह सन्तत अथवा अन्येद्युष्क प्रकार का होता है। ३. मिचली।

४. प्रचुर स्वेद। ५. मांसक्षय (Emaciation)।

६. श्वेतकायाणुमयता—(Leucocytosis) इसमें उषसिप्रिय की संख्या प्रकृत से अधिक रहती है।

७. यकृत् प्रदेश में स्पर्शासहता तथा उभार पाया जाता है।

८. दक्षिण पार्श्व में श्वास लेने पर गति दूसरी ओर की अपेक्षा कम होती है।

यकृत् विद्रधि में उपमहाप्राचीरीय विद्रधि Subphrenic abscess का भी समावेश कर सकते हैं।

(१०) **क्लोमविद्रधि**—जैसा पहिले ही तृष्णा निदान में बताया गया है क्लोम शब्द से विभिन्न विद्वान् विभिन्न अवयवों का ग्रहण करते हैं, इनके प्रत्येक के अनुसार तालु में Brain abscess ग्रसनिका में Peri tonsillar or retro pharingial abscess श्वास नलिका में Lung abscess पित्ताशय में Cholecystitis तथा अग्न्याशय में होने पर pancreatitis कह सकते हैं। प्रत्येक का विस्तृत वर्णन किसी अर्वाचीन शल्यतन्त्र में देखें। अग्न्याशय विकार में ही प्यास की अधिक सम्भावना प्रतीत होती है। जैसा कि ऊपर लिखा है 'क्लोम्नि पेपीयते पयः'।

स्रावनिर्गममार्गं प्राह—

नाभेरुपरिजाः पक्वा यान्त्यूर्ध्वमितरे त्वधः। (सु. नि. ९)

नाभि से ऊपर के अंगों में होने वाली विद्रधि जब पक जाती है तो फूटने पर उसका स्राव ऊर्ध्व मार्ग (मुख) से निकलता है। नाभि से नीचे के भाग में होने पर गुद या मूत्रमार्ग से रक्त या पूय का स्राव, निकलता है॥

स्रावनिर्गममार्गमाह—नाभेरित्यादि। उपरिजा वृक्कप्लीहादिजाः। यान्ति स्रवन्ति। नाभिजस्तूभयमार्गस्रावी, ऊर्ध्वाधःस्रावश्च तथागतिरवाद्वातस्य। यदाह हारीतः, 'ऊर्ध्वं प्रभिन्नेषु मुखान्नराणां प्रवर्ततेऽसृक्सहितोऽपि पूयः। अधः प्रभिन्नेषु च पायुमार्गाद्, द्वाभ्यां प्रवृत्तिस्त्विह नाभिजेषु' इति। इतर इति नाभिबस्तिवङ्क्षणजाः॥

विमर्श—महास्रोत के आमाशय तक के भाग में होने वाली विद्रधि जब फूटती है तो उसका स्राव वमन होकर मुख द्वारा निकलता है। यकृत् और प्लीहा की विद्रधि भी जब आमाशय की दीवार का भेदन कर देती है तो उनका स्राव भी मुख द्वारा ही निकलता है। अथवा ऊपर की ओर फुफ्फुसावरण और फुफ्फुस में पहुँच कर कास वेग के द्वारा पूयका निर्हरण होता है। Subphrenic abscess में फुफ्फुस का आक्रान्त होना बहुधा देखा जाता है। आमाशय से नीचे के भाग में होनेवाली विद्रधि तथा अन्य समीपस्थ अंगों की विद्रधि जो आन्त्र का भी भेदन कर देती है उसका स्राव गुदमार्ग से निकलता है। गुदविद्रधि, वस्तिविद्रधि, नाभिविद्रधि तथा दक्षिण वंक्षणविद्रधि इस प्रकार की ही विद्रधि हैं जो समीप रहने से कभी-कभी आन्त्र या गुद की दीवार का भी भेदन करके अपना स्राव उसमें डाल देती है। वस्तिगत विद्रधि में स्राव मूत्रमार्ग से होता है।

साध्यासाध्यतां निरूपयति—

अधः स्रुतेषु जीवेत्तु स्रुतेषूर्ध्वं न जीवति ॥ १७ ॥
हृन्नाभिवस्तिवर्ज्या ये तेषु भिन्नेषु बाह्यतः ।
जीवेत् कदाचित् पुरुषो नेतरेषु कदाचन ॥ १८ ॥ (सु. नि. ९)

निम्न मार्ग से स्राव निकलने पर रोगी जीवित रह सकता है किन्तु ऊर्ध्वमार्ग से निकलने पर नहीं। हृदय, नाभि तथा वस्ति को छोड़कर बाहर की ओर को फूटने वाली अन्य आन्तरिक विद्रधियों से पीड़ित रोगी कदाचित् बच सकता है। हृदय आदि की विद्रधि के बाहर फूटने पर भी रोगी जीवित नहीं रह सकता ॥ १७–१८ ॥

साध्या विद्रधयः पञ्च विवर्ज्यः सान्निपातिकः ।
आमपक्वविदग्धत्वं तेषां शोथवदादिशेत् ॥ १९ ॥ (वा. नि. ११)
आध्मातं बद्धनिष्यन्दं छर्दिहिक्कातृषान्वितम् ।
रुजाश्वाससमायुक्तं विद्रधिर्नाशयेन्नरम् ॥ २० ॥ (सु. सू. ३३)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने विद्रधिनिदानं समाप्तम् ॥ ४० ॥

सान्निपातिक विद्रधि (जो असाध्य होती है) को छोड़कर शेष पाँचों प्रकार की विद्रधियां साध्य हैं उन विद्रधियों की आम, पच्यमान, पक्व अवस्था शोथ के समान ही समझनी चाहिये।

जो रोगी आध्मान, मूत्रावरोध, वमन, हिचकी, प्यास, तीव्र पीड़ा तथा श्वासकृच्छ्रता से पीड़ित होता है उसे अन्तर्विद्रधि नष्ट कर देती है ॥ १९–२० ॥

साध्यत्वादिकमाह—अध इत्यादि। अधःस्रुतेष्विति। स्वयमेव यदा नाभ्यादिजा भिन्ना अधः स्रवन्ति तदा जीवति। स्रुतेषूर्ध्वं न जीवतीति। ऊर्ध्वं पूयस्यासम्यङ्निर्गमान्न जीवनम्। हृन्नाभिवस्तिवर्ज्या इति प्लीहक्लोमादिजाः। भिन्नेषु बाह्यत इति वैद्यव्यापारेण भिन्नेषु; अन्ये मर्माद्याशयजेषु स्वयमेव भिन्नेष्विति व्याचक्षते, अन्तर्भिन्नेष्वप्यधःस्राविषु जीवनोक्तेः। नेतरेष्विति। हृन्नाभिवस्तिजेषु भिन्नेषु तेषां मर्मत्वात् बाह्या आभ्यन्तरा वा वर्ज्याः। कदाचनेति। पाके अपाके वा। तथा च भोजः-**'असाध्यो मर्मजो ज्ञेयः पक्वोऽपक्वश्च विद्रधिः। सन्निपातोत्थितोऽप्येवं पक्व एव तु वस्तिजः। त्वग्जो नाभेरधो यश्च साध्यो मर्मसमीपजः। अपक्वश्चैव पक्वश्च साध्यो नोपरिनाभिजः' इति। अत्र मर्मजशब्देन हृदयनाभिजावुच्येते। बद्धनिष्यन्दमिति बद्धमूत्रम्। एतद्वस्तिजे प्रायः ॥ १७–२० ॥**

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां विद्रधिनिदानं समाप्तम् ॥ ४० ॥

विमर्श—सुश्रुत ने विद्रधि के प्रकरण में गुल्म और विद्रधि का परस्पर भेद प्रदर्शित किया है। मधुकोशकार ने उसका संक्षिप्त वर्णन गुल्मनिदान में ही कर दिया है। अतः उसका विवरण वहीं देखना चाहिए।

उपर्युक्त अन्तर्विद्रधियों के अतिरिक्त सुश्रुत ने एक और अन्तर्विद्रधि का वर्णन किया है जिसे मज्ज-परिपाक[1] कहते हैं। यद्यपि माधव ने इसका वर्णन नहीं किया तथापि अधिकता से पाये जाने के कारण इसका वर्णन करना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रत्येक विद्रधि में जब वह दीर्घकाल तक अनुपक्रान्त रहती है तब समीपस्थ अस्थि में भी विकार का उपसर्ग हो सकता है। कभी-कभी आरम्भ से ही अस्थि में विद्रधि बनती है। विकृति के स्थानानुसार उसके तीन भेद अर्वाचीन शास्त्रों में वर्णित हैं। जब केवल अस्थ्यावरण में विकार होता है तो उसे **Periosteitis** कहते हैं, अस्थिमात्र में विकृति होने पर **Osteitis** एवं अस्थि और मज्जागतविकार को **Osteomyelitis** कहते हैं। अस्थि-मज्जा शोथ के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई मज्जागत विद्रधि को **मज्जपरीपाक** कहते हैं। यह भी एक अन्तर्विद्रधि है। सुश्रुत-प्रतिपादित लक्षण अस्थिशोथ (**Oesteitis**) तथा अस्थ्यावरणशोथ (**Periosteitis**) में भी मिलते हैं। अर्वाचीन ग्रन्थों में इसका वर्णन संक्षेप से निम्नलिखित मिलता है—

कारण—(पूयमयता (**Pyaemia**)
(२) जीवाणुमयता (**Septicaemia**)

अधिकतर अस्थिमज्जाशोथ उपद्रवस्वरूप उत्पन्न होता है। यह रोग अधिकतर बच्चों में होता है। इसका आक्रमण अचानक होता है।

लक्षण—(१) शीतपूर्वज्वर यह १०३° से १०४° तक रहता है। (२) तीव्रताप।
(३) तीव्र पीडा—विशेषतः समीपस्थ संधियों में।
(४) अस्थि की लम्बाई की दिशा में पीडनाक्षमता (**Tenderness**)
(५) अर्धचेतनावस्था (**Semi–conciousness**)
(६) विषमयता होने पर जिह्वा मलिन रहती है, नाडी की गति तीव्र एवं मृदु रहती है।

---

१. अथ मज्जपरीपाको घोरः समुपजायते। सोऽस्थिमांसनिरोधेन द्वारं न लभते यदा॥
ततः स व्याधिना तेन ज्वलनेनेव दह्यते। अस्थिमज्जोष्मणा तेन शीर्यते दह्यमानवत्॥
विकारः शल्यभूतोऽयं क्लेशयेदातुरं चिरम्। अथास्य कर्मणा व्याधिर्द्वारं तु लभते यदा॥
ततो मेदःप्रभं स्निग्धं शुक्लं शीतमथो गुरु। भिन्नेऽस्थ्नि निःस्रवेत् पूयमेतदस्थिगतं विदुः॥
विद्रधिं शास्त्रकुशलाः सर्वदोषरुजावहम्॥ (सु. नि. ९)

भाषार्थ—(विद्रधि के अस्थ्याश्रित दोष की उपेक्षा करने पर) मज्जा का भी पाक होने लगता है। पक्व मज्जा को जब अस्थि और मांस द्वारा आवृत होने के कारण बाहर निकलने का मार्ग नहीं मिलता तब रोगी को आग से जलने के समान कष्ट होता है। उस मज्जा की उष्मा से अस्थि का भी विदाह होने लगता है और अन्ततः अस्थि भी गलने लगती है और यह शल्यभूत विकार रोगी को दीर्घकाल तक कष्ट देता रहता है। जब शस्त्रकर्म द्वारा अस्थि का भेदन कर मार्ग बना दिया जाता है तब मेद के समान चिकना, श्वेत, शीत और गुरु पूय का स्राव होता है। विद्वान् लोग इसे अस्थिगत विद्रधि कहते हैं, इसमें तीनों ही दोषों के लक्षण (त्रिदोषजविद्रधि के लक्षण) रहते हैं।

(७) अस्थि यदि उत्तान (Superficial) है तो सूजन स्पष्ट दिखाई देती है।

(८) कदाचित् तरंग-प्रतीति भी हो सकती है।

(९) रक्त में श्वेतकायाणुमयता (Leucocytosis) होती है।

(१०) यदि रोग अधिक दिन तक बना रहा तो हृदयावरणशोथ, सन्धिशोथ व सन्धियों में पूय का भर जाना जैसे उपद्रव होते हैं।

(११) विद्रधि बनने पर अस्थिमज्जा से एक अस्थि के समान टुकड़ा पृथक् हो जाता है। जिसे अंग्रेजी में सिक्वैस्ट्रम (Sequestrum) कहते हैं। शस्त्र-कर्म करने पर यह बाहर निकाल दिया जाता है।

समाप्तं चेदं विद्रधिनिदानम् ॥ ४० ॥

अथ व्रणशोथनिदानम्

व्रणशोथस्य भेदानाह—

एकदेशोत्थितः शोथो व्रणानां पूर्वलक्षणम्।
षड्विधः स्यात् पृथक्सर्वरक्तागन्तुनिमित्तजः ॥ १ ॥
शोथाः षडेते विज्ञेयाः प्रागुक्तैः शोथलक्षणैः।
विशेषः कथ्यते चैषां पक्वापक्वादिनिश्चये ॥ २ ॥

किसी सीमित स्थान में उत्पन्न होने वाला शोथ व्रणों का पूर्वरूप होता है। वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक, रक्तज तथा आगन्तुज भेद से वह छ प्रकार का होता है उसके लक्षण पूर्वोक्त शोथ के समान समझने चाहिये। इनके विशेष लक्षण आम, पक्व और पच्यमान के निश्चय के साथ आगे बताये जायेंगे ॥ १–२ ॥

प्रायेण चिकित्सासाधर्म्यात् भाविव्रणत्वसंबन्धतुल्यत्वाच्च व्रणशोथनिदानमाह–एकदेशोत्थित इत्यादि। षड्विध इति संख्याकथनं द्वन्द्वजनिषेधार्थम्। प्रागुक्तैरिति आमपक्वैषणीयोक्तैः, तत्र हि 'वातश्वयथुररुणः कृष्णो वा परुषो मृदुरनवस्थितः' (सु. सू. १७) इत्यादिना षट् शोथलक्षणान्युक्तानि। विशेषः कथ्यते चैषामिति तत्रानुक्तो विशेषः कथ्यत इत्यर्थः। पक्वापक्वादिनिश्चय इति। अत्रादिशब्देन पच्यमानस्य परिग्रहः ॥ १–२ ॥

विमर्श—शोथनिदान में शोथ, शोफ आदि शब्दों का बहुत कुछ विवेचन किया जा चुका है। इन्फ्लेमेशन (Inflammation) के लिये व्रणशोथ शब्द का प्रयोग किया जाता है। **'व्रणपूर्वः शोथः व्रणशोथः**, यहाँ मध्यमपदलोपी समास से पूर्व का लोप समझना चाहिये। अथवा **'व्रणस्य पूर्वरूपत्वेनोत्पन्नः शोथः व्रणशोथः'** आगन्तुज व्रण को छोड़कर जो शोथ नियम से व्रण के पूर्व में होता है उसे व्रणशोथ कहते हैं। वस्तुतः व्रणोत्पत्ति से पूर्व शोथ और विद्रधि का बनना आवश्यक है। विद्रधि के फूट जाने पर शरीर पर खुला हुआ घाव बन जाता है, उसको ही व्रण कहते हैं। आगन्तुज शोथ में उपर्युक्त परिभाषा की संगति नहीं लगती; क्योंकि उसमें पहिले तीक्ष्ण धार आदि शस्त्रों से व्रण बनता है, उसके बाद ही वहाँ शोथ की उत्पत्ति होती है। इसलिये वहाँ के

लिये **'व्रणस्य शोथः, व्रणे वा उत्पन्नः शोथः व्रणशोथः'** व्रण का शोथ या व्रण में उत्पन्न शोथ इस प्रकार की व्याख्या करना उचित है[1]।

वातादिभेदेन व्रणशोथस्य विशेषलक्षणान्याह—

विषमं पच्यते वातात् पित्तोत्थश्चाचिराच्चिरम् ।
कफजः पित्तवच्छोथो रक्तागन्तुसमुद्भवः ॥ ३ ॥

वायु से विषम पाक (शोथ के एक देश या आधे में) होता है, पित्तजन्य शोथ शीघ्रपाकी तथा कफजन्य शोथ चिरपाकी होता है। रक्तज तथा आगन्तुज व्रणशोथ के लक्षण पित्तज के समान ही होते हैं ॥ ३ ॥

वातादिभेदेन विशेषलक्षणमाह–विषममित्यादि। पित्तवदिति पित्तशोथवदचिरं पच्यते ॥

विमर्श—वात आदि के अतिरिक्त विकारी जीवाणु, अभिघात, अग्नि से जलना, रासायनिक पदार्थ तथा तीव्र अम्ल या क्षार से जल जाना भी शोथ के कारण हैं। शोथ किस प्रकार उत्पन्न होता है इसका वर्णन पीछे शोथनिदान में किया जा चुका है।

---

१. व्रण और शोथ में अन्तर है, दोनों एक नहीं हैं। प्राचीन शास्त्रों में शोथ, व्रणशोथ, विद्रधि और व्रण चारों का ही पृथक्-पृथक् वर्णन मिलता है और सभी भिन्न पदार्थ हैं। शोथ और व्रणशोथ का भेद शोथ निदान में वर्णित हो चुका है। विद्रधि और व्रणशोथ में आम-पक्वादि भेद एवं विभिन्न वातिकादि भेदों में भी प्रायः लक्षण-समानता देख कर यह भ्रम होता है कि अन्ततः दोनों ही एक हैं भेद केवल पक्वापक्वकृत है किन्तु यह विचार उचित नहीं है। पक्वशोथ मात्र को विद्रधि मानने से विद्रधि में भी पक्वापक्वता का विचार ही नहीं उठ सकता क्योंकि उसमें तो आरम्भ से ही पाक उपस्थित रहना चाहिये। **शोथ** सर्वगात्रगत या एकाङ्गगत होता है उसमें दोषों का संचय त्वचा और मांस के बीच में होता है। त्वचा और मांस अविकृत रहती हैं। अपचार या कारणान्तर से त्वचा आदि के भी दूषित होने पर उसका परिवर्तन व्रणशोथ में हो सकता है। इस प्रकार केवल त्वचा और मांस के बीच में सञ्चित दोषजन्य शोथ को आजकल 'ईडीमा' (Oedema) कहते हैं। किन्तु जिनमें धातुएँ भी आक्रान्त या दूषित होती हैं उन्हें व्रणशोथ और विद्रधि कहते हैं। इन दोनों में भी स्पष्ट अन्तर वर्णित है।

व्रणशोथ—जब दोष प्रकुपित होकर त्वचा और और मांस को विकृत कर एकदेशीय शोथ को उत्पन्न करते हैं जिसमें पाक, धातुओं का विनाश (अवचूर्णन) एवं व्रणोत्पत्ति की प्रवृत्ति रहती है उसे व्रणशोफ और आधुनिक शब्दों में इन्फ्लेमेशन (Inflammation) कहते हैं। सुश्रुत ने स्पष्ट कहा है—'शोफसमुत्थाना ग्रन्थिविद्रध्यलजीप्रभृतयः प्रायेण व्याधयोऽभिहिता अनेकाकृतयः, तैर्विलक्षणः पृथुर्ग्रथितः समो विषमो वा त्वङ्मांसस्थायी दोषसंघातः शरीरैकदेशसमुत्थितः शोफ इत्युच्यते' (सु. सू. १७) अतः 'एकदेशीय त्वचा-मांसगत दोषसञ्चय, जिसमें पाक और व्रणोत्पत्ति की प्रवृत्ति होती है उसे व्रणशोथ कहना चाहिये' तथा **'व्रणाय शोथो व्रणशोथः'** (प्रकृतिविकृतिभावे चतुर्थी) यह विग्रह मुझे उचित प्रतीत होता है। दोषकृत तथा कुछ अभिघातादि आगन्तु कारणों से भी पहिले शोथ की उत्पत्ति होती है बाद में उसके पकने और फूटने पर व्रणोत्पत्ति होती है अतएव कहा है—'एकदेशोत्थितः शोथो व्रणानां पूर्वलक्षणम्'। अभिघातादि कृत व्रणों का उल्लेख तो

आमव्रणशोथस्य लक्षणान्याह—

मन्दोष्मताऽल्पशोथत्वं काठिन्यं त्वक्सवर्णता ।
मन्दवेदनता चैतच्छोथानामामलक्षणम् ॥ ४ ॥

आम शोथ में उष्णता और सूजन कम होती है। शोथ कठिन, त्वचा के वर्ण का तथा मन्द वेदना वाला होता है ॥ ४ ॥

पच्यमान शोथं निरूपयति—

दह्यते दहनेनेव क्षारेणेव च पच्यते ।
पिपीलिकागणेनेव दश्यते छिद्यते तथा ॥ ५ ॥
भिद्यते चैव शस्त्रेण दण्डेनेव च ताड्यते ।
पीड्यते पाणिनेवान्तः सूचीभिरिव तुद्यते ॥ ६ ॥
सोषाचोषो विवर्णः स्यादङ्गुल्येवावघट्यते ।
आसने शयने स्थाने शान्तिं वृश्चिकविद्धवत् ॥ ७ ॥
न गच्छेदाततः शोथो भवेदाध्मातबस्तिवत् ।
ज्वरस्तृष्णाऽरुचिश्चैव पच्यमानस्य लक्षणम् ॥ ८ ॥

पच्यमान शोथ अग्नि से जलता हुआ तथा क्षार से पचता हुआ सा प्रतीत होता है। शोथस्थान पर प्रतीत होता है कि चीटियाँ काट रही हैं; शस्त्र से छेदन एवं भेदन तथा दण्ड से ताडन के समान पीड़ा होती है; ऐसा प्रतीत होता है कि कोई हाथ से दबा रहा है या सुई से वेध रहा है, दाह और आँच होती है, अंगुलियों से मलने के समान पीड़ा होती है। बिच्छू से काटे हुये के

आगे 'सद्योव्रणीय अध्याय' में किया गया है। अभिघातादि से सद्यः व्रणोत्पत्ति और शोथपूर्ण व्रणोत्पत्ति दोनों ही सम्भव हैं और दोनों ही एक दूसरे के उत्पादक होते हुए भी भिन्न हैं।

विद्रधि—इसमें और व्रणशोथ में बहुत कुछ सादृश्य होते हुए भी अन्तर है। विद्रधिकारक दोष गम्भीर धातुओं में होते हैं अत एव उन्हें 'अस्थिसमाश्रिताः' कहा गया है। वस्तुतः यहाँ अस्थि शब्द विशेषतः गम्भीर धातु का ही द्योतक है। स्वयं अस्थि भी विकृत हो सकती है किन्तु सर्वदा नहीं। व्रणशोथ में दोष उत्तान (त्वचा या श्लेष्मलत्वचा के समीप) होने के कारण पाक के बाद स्वतः व्रणोत्पत्ति की प्रवृत्ति और सम्भावना रहती है किन्तु विद्रधि प्रायः बिना पाटनादि शस्त्र कर्म किए व्रणयुक्त नहीं होती, भीतर ही भीतर धातुओं का विनाश करती रहती है और अस्थिपाक, मज्जपरीपाक तथा नाडीव्रण आदि का कारण होती है। आधुनिक शास्त्रों के अनुसार इसे Abscess कह सकते हैं।

व्रण—जब त्वचा या श्लेष्मलत्वचा के विदीर्ण हो जाने से उनसे आवृत धातुयें अनावृत हो जाती हैं तो उसे व्रण (Ulcer) कहते हैं। इनके प्रमुख दो प्रकार होते हैं (१) शोथपूर्वक व्रण-शारीरव्रण (२) शस्त्रादि-जनित सद्योव्रण। इनके भी विभिन्न भेदों का वर्णन आगे विस्तार से किया गया है। (सम्पादक)

समान रोगी बैठने, सोने तथा खड़े होने में भी चैन नहीं पाता। शोथ विस्तृत और मूत्रपूरित वस्ति के समान फूला हुआ रहता है। रोगी ज्वर, प्यास तथा अरुचि से पीड़ित रहता है ॥५-८॥

पच्यमानलक्षणमाह-दह्यत इत्यादि। पच्यमानशोथे पित्तलिङ्गान्येव भूयसा भवन्ति, विदाहस्य पित्तप्रकोपजत्वात्; विदाहश्चात्र दोषादीनामेव। तेन ज्वरतृष्णारुच्यादयोऽत्र पित्तलिङ्गानि। छिद्यत इति द्विधा क्रियत इव। भिद्यत इति विदार्यते। सोषाचोष इति उषा दाहः, चोषः पार्श्वस्थाग्निसंतापवद् व्यथा, ताभ्यां सह वर्तते यः स तथा ॥ ५-८ ॥

विमर्श--इस अवस्था में पूय की अत्यधिक वृद्धि होती है जिसका दबाव चारों ओर की धातुओं में स्थित वातनाडी के अग्रों पर पड़ने से विविध प्रकार की वेदनायें होती हैं। पूयोत्पत्ति यदि मृदु एवं पोले स्थान में होती है तो पूय का धातुओं पर कम दबाव होने से पीड़ा सौम्यस्वरूप की होती है किन्तु जब वही कड़े स्थान में होती है तो पीड़ा तीव्र स्वरूप (वृश्चिकदंश आदि के समान) की होती है। विकारी जीवाणुओं से उत्पन्न पाक का ज्वर एक विशिष्ट लक्षण है। ज्वर की उत्पत्ति जीवाणु विष के द्वारा उष्णतानियन्त्रक केन्द्र के उत्तेजित होने से होती है। ज्वर जाड़ा लगकर चढ़ता है और मलेरिया के समान पसीना देकर उतर जाता है। इस अवस्था में रोगी को कोष्ठबद्धता तथा भोजन में अरुचि रहती है। कोष्ठबद्धता के कारण जिह्वा मैली रहती है। मूत्र ज्वर के समान गहरे रङ्ग का गाढ़ा होता है। इस अवस्था में पित्त की विशेषता रहती है।

पक्वशोथस्य लक्षणमाह—

वेदनोपशमः शोथोऽलोहितोऽल्पो न चोन्नतः।
प्रादुर्भावो वलीनां च तोदः कण्डूर्मुहुर्मुहुः ॥ ९ ॥
उपद्रवाणां प्रशमो निम्नता स्फुटनं त्वचाम्।
बस्ताविवाम्बुसंचारः स्याच्छोथेऽङ्गुलिपीडिते ॥ १० ॥
पूयस्य पीडयत्येकमन्तमन्ते च पीडिते।
भक्ताकाङ्क्षा भवेच्चैतच्छोथानां पक्वलक्षणम् ॥ ११ ॥

दाहादि वेदनाओं एवं सूजन में कमी होना, लालिमा का अभाव, उभार में कमी, शोथ स्थान पर झुर्रियों का पड़ जाना, पुनः पुनः सूचिकावेधनवत् पीड़ा तथा खुजली, (पित्तजन्य ओष, चोष प्यास आदि) उपद्रवों की शान्ति, अंगुलि से दबाने पर विद्रधि का नीचे को दब जाना, त्वचा में दरार पड़ जाना, शोथ में अंगुलि से दबाने पर जलपूर्ण मशक के पानी की तरह गति प्रतीत होना और एक ओर दबाने पर पूय का दूसरी ओर के भाग पर दबाव पड़ना, रोगी को भोजन आदि करने की इच्छा उत्पन्न हो जाना, ये सब शोथ की पकावस्था के उक्षण हैं ॥ ९-११ ॥

पक्वलक्षणमाह-वेदनोपशम इत्यादि। दाहादिवेदनोपशान्तिः, विदाहोपशमेन पित्तस्याबलवत्त्वात्। तोदः कण्डूश्चात्र वातकफलिङ्गम्। प्रादुर्भावो वलीनामिति मांसशैथिल्याद्वलीसंभवः। उपद्रवाणां प्रशम इति पित्तकोपजनिता उषाचोषतृष्णारुच्यादयो रोगा एव उपद्रवास्तेषां प्रशमः निम्नता स्वरूपतः, अङ्गुलिपीडनाद्वा। स्फुटनं त्वचामिति किंचित्त्वगवदरणम्। बस्ताविवेत्यादि। बस्तिश्चर्मपुटकं, पूयस्येत्यत्र 'संचार' इति शेषः अयमर्थः-बस्तौ यथाऽम्बुसंचारस्तथा शोथेऽङ्गुलिपीडिते सति पूयस्य संचारः पीडयत्येकमन्तमन्ते च पीडित इति एकमन्तं देशम्, अन्ते अवयवे पीडिते पीडयत्यवगाहते, 'पूय' इति शेषः ॥

विमर्श—धातुओं के निर्जीव तथा दबाव कम होने से वेदना की शान्ति हो जाती है। त्वचा की रक्तिमा कम होना भी निर्जीवता एवं रक्तसंचार की कमी का ही लक्षण है। शोथ की पकावस्था में पूय त्वचा की ओर धीरे-धीरे बढ़कर उसे निर्जीव कर देता है जिससे वह झड़ने लगती है पूयोत्पत्ति बन्द हो जाने से भीतर का तनाव कम हो जाता है जिससे सूजन कम हो जाती है। अंगुलि से दबाने पर उसमें गड्ढा बन जाता है जो अंगुलि हटा लेने पर भर जाता है, सुश्रुत ने इसके लिये ही— **निम्नदर्शनमङ्गुल्याऽवपीडिते प्रत्युन्नमनम्** (Pitting on pressure) कहा है। अंगुलि से दबाने पर तरल पूय इधर-उधर हट जाता है, जिससे वहां गड्ढा बन जाता है और अङ्गुलि हटा लेने पर वह पुनः अपने स्थान पर आ जाता है जिससे गड्ढा नहीं रहता। जिस प्रकार मशक में जल का सञ्चरण होता है वैसे ही अङ्गुलि से दबाने पर पक्व शोथ में एक ओर दबाने से दूसरी ओर पूय की लहर सी प्रतीत होती है। इसे तरंग प्रतीति (Fluctuation) कहते हैं। किसी सीमित स्थान में द्रव संचित होने से इस प्रकार की प्रतीति मिलती है। जैसे-जलोदर। पूय यदि गहराई में हो तो इस परीक्षा के मिलने में कठिनाई होती है। इसके लिये विशेष सावधानी से परीक्षा करनी पड़ती है।

परिपाककाले सर्वदोषाणां सम्बन्धं दर्शयति—

नर्तेऽनिलाद्रुङ्न विना च पित्तं पाकः कफं चापि विना न पूयः।
तस्माद्धि सर्वान् परिपाककाले पचन्ति शोथांस्त्रय एव दोषाः ॥१२॥
(सु. सू. १७)

वायु के विना पीडा नहीं हो सकती, पित्त के बिना पाक और कफ के बिना पूय की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिये यह कहना उचित है कि पाक के समय तीनों दोष सब शोथों को पकाते हैं। अर्थात् सभी प्रकार के शोथ के पाक काल में तीनों ही दोष भाग लेते हैं॥ १२॥

एकदोषारब्धेऽपि शोथे पाककाले सर्वदोषसंबन्धमाह-नर्तेऽनिलाद्रुगित्यादि। रुग्रुजा तोदादिरूपा। सुश्रुते, **'त्रिभिरेतैः शोणितचतुर्थैश्च शरीरमिदं धार्यते'** (सु. सू. स्था. २१) **इति द्वितीयदर्शने शोणितप्राधान्याख्यापक्षमाश्रित्योक्तम्,-'कालान्तरेणाभ्युदितं तु पित्तं कृत्वा वशे वातकफौ प्रसह्य। पचत्यतः शोणितमेष पाको मतः परेषां विदुषां द्वितीयः'** (सु. सू. स्था. १७) **इति। अत्र दर्शने पित्तं विदाहकुपितं शोणितं दूष्यं कर्मभूतं पचति, वातकफौ वशे कृत्वा क्रोडीकृत्य, हीनार्थो वा वशेशब्दः, वातकफौ हीनौ कृत्वेत्यर्थः; शोणितं कर्तृभूतं वा, तेन पक्त्यनुकूलत्वाद्विवक्षितं; पूर्वदर्शने कफात् पूयः, अत्र दर्शने शोणितात् पूय इति विशेषः। गम्भीरपाके शोथे सकलामपच्यमानलक्षणानुदयादज्ञायमाने लक्षणान्तरमुक्तं** सुश्रुतेन। **तद्यथा-'कफजेषु खलु शोथेषु गम्भीरगतित्वादभिघातजेषु वा केषुचिदसमस्तं पक्वलक्षणं दृष्ट्वा पक्वमपक्वमिति भिषङ्मोहमुपैति, यत्र हि त्वक्सवर्णता शीतशोथताऽल्परुजताऽश्मवद्घनता च, न तत्र मोहमुपेयात्'** (सु. सू. स्था. १७) **इति। अस्यार्थः-यदा रागदाहादिवेदनासमुदयानन्तरं त्वक्सवर्णतादीनि भवन्ति तदा न मोहमज्ञानतामुपेयात् पक्वमेवेति निश्चिनुयात्। गदाधरेण तु त्वक्सवर्णतादीनि संशयहेतून्युक्तानि; यतस्तेन 'गम्भीरपाकित्वादन्तः पाको बहिः पुनस्त्वक्सावर्ण्यं, गम्भीरपाकित्वादेव बहिःशीतता, कफारब्धत्वान्मन्दरुजताऽश्मवच्च घनता'-इत्यभिधाय 'शेषं पक्वलक्षणैर्जानीयात्'-इत्युक्तम् ॥ १२ ॥**

---

१. 'सर्वे परिपाककाले पचन्ति शोथास्त्रिभिरेव दोषैः' इति वा पाठः।

विमर्श—पूयोत्पत्ति के विषय में सुश्रुत ने दो मत प्रदर्शित किये हैं। पहिले मत में कफ से पूय की उत्पत्ति मानी है और दूसरे में रक्त से—**'कालान्तरेणाभ्युदितं तु पित्तं कृत्वा वशे वातकफौ प्रसह्य। पचत्यतः शोणितमेव पाको मतः परेषां विदुषां द्वितीयः॥** (सु. सू. १७)

अर्थात्—'कालान्तर में प्रवृद्धपित्त वायु और कफ को दबाकर रक्त को पकाता है' ऐसा कुछ विद्वानों का पाक के सम्बन्ध में यह दूसरा मत है। सुश्रुतसंहिता की किसी-किसी प्रति में निम्नलिखित पाठ अधिक मिलता है—

द्रव्याणां चन्दनादीनां दग्धानां श्वेतता यथा। तद्वत् पित्तोष्मणा दग्धं रक्तं पूयमिहोच्यते॥

अर्थात्—जिस प्रकार जलने के बाद चन्दन आदि विविध वर्णों के द्रव्यों की राख श्वेत होती है उसी प्रकार पित्त से दग्ध रक्त परिवर्तित वर्ण का हो जाता है और उसे पूय कहते हैं।

इन दोनों मतों को ही दृष्टिकोण में रखते हुए श्रीकण्ठदत्त जी ने कहा है—**'पूर्वदर्शने कफात् पूयः, अत्र दर्शने शोणितात् पूयः'** वस्तुतः शोथस्थान पर पाक से उत्पन्न तरल को ही पूय कहते हैं। पाश्चात्यवैद्यक में इसके लिये 'पस' (Pus) शब्द का व्यवहार किया जाता है। पाक के लिये 'सपुरेशन' (Suppuration) कहा जाता है। शोथ की सम्प्राप्ति तथा पूय के रासायनिक एवं सूक्ष्मदर्शक परीक्षणों से पूय क्या है इसका प्रत्यक्ष ज्ञान किया जा सकता है। शरीर में पूयोत्पादक जीवाणु का प्रवेश होने पर शरीर की प्रतिक्रियास्वरूप जीवाणु और शरीर की कोषाओं में परस्पर युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। शरीर की कोषाओं में रक्त के श्वेतकण इस कार्य में विशेष भाग लेते हैं। यदि जीवाणु दुर्बल और श्वेतकण सबल होते हैं तो शोथ का शमन (Resolution) हो जाता है। जिस अवस्था में पूयजनक जीवाणु सबल होते हैं और श्वेत कण दुर्बल होते हैं तो पाकोत्पत्ति हो जाती है। इन दोनों के युद्ध में धातु की कोषायें, श्वेतकण तथा कुछ जीवाणुओं की मृत्यु होती है। ये ही पूय रूप में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार पूय निम्न घटकों से बना होता है—

(१) मृत धातुकोषायें। (२) मृत जीवाणु। (३) मृत श्वेतकण। (४) कुछ लाल कण। (५) जीवित जीवाणु। (इन पाँचों से ही पूय का घन भाग बनता है।)

(६) रक्तरस—यह पूय का तरल भाग है। पूय में ९० प्रतिशत तक इसकी मात्रा रहती है। पूय से एक प्रकार की दुर्गन्ध आती है। इसकी प्रतिक्रिया क्षारीय एवं सापेक्ष घनत्व १०३० होता है। कभी-कभी पूयजनक जीवाणु के अभाव में भी कुछ रासायनिक द्रव्य आदि असात्म्य पदाथ से पूय बनता है इसे शुद्ध पूय (Sterile Pus) कहते हैं। यथा—बीजवाहिनी विद्रधि (Pyosalpinx) एवं यकृत् विद्रधि।

विशेषतया निम्नलिखित जीवाणु पूयोत्पत्ति में भाग लेते हैं—

(१) माला गोलाणु (Streptococcus) (२) स्तबक गोलाणु (Staphylococcus)
(३) फुफ्फुस " (Pneumococcus) (४) मस्तिष्कावरण (Meningococcus)
(५) गुह्य गोलाणु (Gonococcus) (६) राजयक्ष्मादण्डाणु (Bacillus tuberculosis)
(७) आन्त्रिकज्वर का दण्डाणु (Bacillus typhosus) (८) बी० कोलाई (B. colli)

पक्व शोथ के लक्षण पीछे बताये जा चुके हैं किन्तु गम्भीर पाक वाले शोथ जिसमें आम, पच्यमान और पक्व लक्षण व्यक्त नहीं होते उसके लिये सुश्रुत ने दूसरा लक्षण बताया है—**'यत्र हि त्वक्सवर्णता, शीतशोथताऽल्परुजताऽश्मवद्घनता च न तत्र मोहमुपेयात्'** (सु. सू. अ. १७) जिस गम्भीर या कफज शोथ में राग, दाह, वेदना आदि के पश्चात् त्वचा के समान

वर्ण-दीख पड़े, शोथस्थान पहिले की अपेक्षा शीत हो, पीड़ा भी कम हो गई हो किन्तु पत्थर के समान कड़ापन हो तो भी भ्रम में न पड़ कर उसे पक्व शोथ ही समझना चाहिए।

अविनिःसृतस्य पूयस्य दोषमाह—

कक्षं समासाद्य यथैव वह्निर्वाय्वीरितः सन्दहति प्रसह्य। (सु. सू. १७)
तथैव पूयो ह्यविनिःसृतो हि मांसं सिराः स्नायु च खादतीह॥ १३॥

वायु से प्रेरित हुआ अग्नि जिस प्रकार तृण-समूह को प्राप्त होकर बड़ी तेजी से जला डालता है, वैसे ही न निकाला हुआ पूय भी समीपस्थ मांस, सिरा और स्नायु को नष्ट कर देता है॥ १३॥

अविनिःसृतस्य पूयस्य दोषमाह—कक्षमित्यादि। कक्षं समासाद्येति कक्षं तृणादिगहनम्॥ १३॥

विमर्श—पूय का विष धातुओं को बराबर नष्ट करता रहता है। इससे पूय गम्भीर धातुओं में प्रविष्ट हो जाता है और उसके जाने का मार्ग नाडी (Sinus) का रूप धारण कर लेता है। पूय का पूर्णतया निर्हरण न करना नाडीव्रण का मुख्य निदान है। कभी-कभी पूय रक्त के साथ विभिन्न दूरस्थ अंगों में पहुँच कर वहाँ नवीन विद्रधियों को उत्पन्न करता है। शरीर पर एक साथ अनेक विद्रधियाँ बन जाती हैं। इसे पूयमयता (Pyaemia) कहते हैं।

आमादिज्ञाने वैद्यत्वमाह—

आमं विदह्यमानं च सम्यक् पक्वं च यो भिषक्।
जानीयात् स भवेद्वैद्यः शेषास्तस्करवृत्तयः॥ १४॥

जो चिकित्सक शोथ की आम, पच्यमान और पक्व तीनों अवस्थाओं को भली प्रकार जानता है वही वस्तुतः वैद्य है, शेष सब चौरवृत्ति समझने चाहिये॥ १४॥

आमादीनामज्ञाने श्वपचत्वं प्राह—

यश्छिनत्त्याममज्ञानाद्यो वा पक्वमुपेक्षते।
श्वपचाविव मन्तव्यौ तावनिश्चितकारिणौ॥१५॥ (सु. सू. १७)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने व्रणशोथनिदानं समाप्तम्॥ ४१॥

जो चिकित्सक (अज्ञानवश) आम शोथ का छेदन कर देता है और जो पक्व शोथ की उपेक्षा करता है, अनिश्चित क्रिया करनेवाले उन दोनों को चाण्डाल के समान समझना चाहिये॥ १५॥

श्वपचाविव चाण्डालाविव, मन्तव्यौ ज्ञातव्यौ। शेषास्तस्करवृत्तय इति लोभमात्रप्रयुक्तत्वात्तस्करा इव शेषाः॥ १४–१५॥

इति श्रीकण्ठदत्तविरचितायां मधुकोशव्याख्यायां व्रणशोथनिदानं समाप्तम्॥ ४१॥

अथ शारीरव्रणनिदानम्

व्रणभेदं दर्शयति—

द्विधा व्रणः स विज्ञेयः शारीरागन्तुभेदतः ।
दोषैराद्यस्तयोरन्यः शस्त्रादिक्षतसंभवः ॥ १ ॥

शारीर और आगन्तु भेद से व्रण दो प्रकार का होता है। शारीर व्रण वात आदि दोषों से (व्रणशोथ निदान में वर्णित शोथपूर्वक) उत्पन्न होते हैं तथा आगन्तुक व्रण शस्त्र आदि के क्षत से बनते हैं ॥ १ ॥

वातिकव्रणलक्षणमाह—

स्तब्धः कठिनसंस्पर्शो मन्दस्रावो महारुजः ।
तुद्यते स्फुरति श्यावो व्रणो मारुतसंभवः ॥ २ ॥

वातिक व्रण स्तब्ध, कठिन स्पर्श वाला, अल्पस्रावयुक्त तथा तीव्र पीडा वाला होता है, सुई के चुभने जैसी पीडा तथा फड़कन होती है, व्रण का वर्ण श्याव होता है ॥ २ ॥

पैत्तिकं व्रणं लक्षयति—

तृष्णामोहज्वरक्लेददाहदुष्ट्यवदारणैः ।
व्रणं पित्तकृतं विद्याद्गन्धैः स्रावैश्च पूतिकैः ॥ ३ ॥

प्यासकी अधिकता, मूर्च्छा, ज्वर, क्लिन्नता, दाह, गन्दगी, चीरने जैसी पीडा या शीघ्र फटने की प्रवृत्ति, सड़ान की गन्ध और दुर्गन्धित स्राव को देखकर व्रण को पित्तजन्य समझना चाहिये ॥ ३ ॥

कफजं रक्तजं च व्रणं प्राह—

बहुपिच्छो गुरुः स्निग्धः स्तिमितो मन्दवेदनः ।
पाण्डुवर्णोऽल्पसंक्लेदश्चिरपाकी कफव्रणः ॥ ४ ॥
रक्तो रक्तस्रुती रक्तात्— (च. चि. १२)

कफजन्य व्रण अत्यधिक पिच्छिल, गुरु, चिकना, गीले चमड़े से ढका हुआ सा, अल्प पीडा वाला, पाण्डुवर्णका, अल्पक्लेदवाला तथा देर में पकनेवाला होता है। रक्तजन्य व्रण लाल वर्ण का और रक्तस्राव युक्त होता है ॥ ४ ॥

शोथानामनुपक्रान्तानां व्रणभावापत्तेर्व्रणनिदानमाह–द्विधेत्यादि। 'व्रण गात्रविचूर्णने–' इत्यस्माद्धातोर्व्रणस्य साधुत्वमुक्तम्। व्रणनिरुक्तिश्च सुश्रुतेन कृता। यथा–'वृणोति यस्माद्रूढेऽपि व्रणवस्तु न नश्यति। आदेहधारणाज्जन्तोर्व्रणस्तस्मान्निरुच्यते' (सु. सू. स्था. २१) इति। अन्य इत्यागन्तुः। आगन्तुव्रणे यद्यपि दोषस्तत्कालं तदात्वे न सञ्चयकोपप्रसरणशाली विकारकरणसमर्थः कल्पयितुं शक्यते, तथाऽपि सप्तरात्रं क्षतोष्मनिर्वापणाय मधुसर्पिरुपयोगात् शीतक्रियाविधानाच्च निजव्रणविलक्षणचिकित्सार्थं व्यपदिश्यते ॥ १–४ ॥

विमर्श—शारीर व्रण को निज या दोषजव्रण भी कहते हैं और यह शोथपूर्वक होता है अत एव कहा है **'एकदोषोत्थितः शोथो व्रणानां पूर्वलक्षणम्'** आगन्तु शस्त्रादि के कारण उत्पन्न

होता है (विस्तृत विवेचन पृष्ठ ९० पर देखें)। यहाँ आदि पद से क्षार, अम्ल तथा डाढवाले पशुओं का काटना आदि भी ले लेना चाहिये। चरकने भी कहा है—

निजः शरीरदोषोत्थ आगन्तुर्बाह्यहेतुजः। वधबन्धप्रपतनाद् दंष्ट्रादन्तनखक्षतात्॥
आगन्तवो व्रणास्तद्वद्विषस्पर्शाग्निशस्त्रजाः॥ (च. चि. २५)

आजकल व्रण के निम्नलिखित अतिरिक्त कारण मानते हैं—

(१) **आघात**—यान्त्रिक तथा विद्युत्-सम्बन्धी आघात, शय्याव्रण एवं 'क्ष' किरण (X-ray)

(२) **पूयजनक जीवाणु**—इसमें बी० कोलाई, स्ट्रेप्टो कोकस, स्टैफिलोकोकस तथा गोनोकोकस मुख्य हैं।

(३) **रक्तप्रवाह की कमी** (Defficient circulation)—मधुमेहजन्य व्रण इसी कारण से उत्पन्न होता है।

(४) **विशिष्ट रोग** (Specific diseases)—फिरंग तथा राजयक्ष्मा के कारण भी व्रण उत्पन्न होते हैं।

(५) घातक अर्बुद (Malignant tumour e. g. cancer and sarcoma)

व्रण किसे कहते हैं—

(१) **'व्रणयति इति व्रणः'** जो शारीरिक धातुओं का भंजन कर बनता है उसे व्रण कहते हैं। **'व्रण—गात्रविचूर्णने'** धातु से व्रण शब्द बनता है।

(२) **वृणोति यस्माद्रूढेऽपि व्रणवस्तु न नश्यति।**
आदेहधारणाज्जन्तोर्व्रणस्तस्मान्निरुच्यते॥ (सुश्रुतः)

यह भर जाने पर भी अपने स्थान को आच्छादित किए रहता है और उसका चिह्न जीवनपर्यन्त बना रहता है अतः इसे व्रण कहते हैं।

(३) त्वचा और श्लेष्मलकला के फट जाने के परिणाम विशेष को व्रण या घाव (Ulcer) कहते हैं—**'Destruction of the superficial tissues including skin or mucous membrane is called Ulceration'**

द्वन्द्वजं त्रिदोषजं च व्रणमाह—

—द्वित्रिजः स्यात्तदन्वयैः। (च. चि. १२)

रक्त के सम्बन्ध से एकदोषजव्रण द्विज और द्वन्द्वज तथा त्रिदोषज व्रण त्रिज कहलाते हैं। अथवा दोषों के सम्बन्धानुसार दो दोषों के लक्षण होने पर द्विज और तीनों के लक्षण होने पर त्रिज व्रण समझना चाहिए।

रक्तस्यैकैकस्मिन् दोषे द्वन्द्वे च प्रसरमाह-द्वित्रिजः स्यात्तदन्वयैरिति। रक्तान्वयैरेकैकदोषैर्द्वन्द्वैश्च; रक्तान्वितैरेकैकदोषैर्द्विजो व्रणः, रक्तान्वितैर्द्वन्द्वत्रयैस्त्रिजः; एवं दोषत्रयेऽपि रक्तसंबन्ध ऊहनीयः; एवं पञ्चदशधा प्रसरो दोषाणामुपगृहीतो भवति। अथवाऽयमर्थः-तदन्वयैर्दोषद्वन्द्वत्रयान्वयैः, तेन दोषद्वयान्वयेन द्विजो द्वन्द्वजो व्रणः, दोषत्रयान्वयेन त्रिजः सन्निपातजः॥

विमर्श—चरक ने वातिक, पैत्तिक तथा कफज व्रण का उल्लेख किया है। प्रकृतिसमसमवायारब्ध होने से द्वन्द्वज और त्रिदोषज का वर्णन नहीं किया। वैसे उन्होंने नानात्वभेद से व्रणों के बीस भेद माने हैं—

तौ द्वौ नानात्वभेदेन निरुक्ता विंशतिर्व्रणाः॥

द्वित्रिजः—साधारणतया व्रण के आठ भेद हैं—वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, रक्तज,

वातपित्तज, वातश्लेष्मज, पित्तश्लेष्मज। इनके साथ रक्त का सम्बन्ध होने से सात भेद और हो जाते हैं यथा—

द्विज—(१) वातरक्तज। (२) पित्तरक्तज। (३) श्लेष्मरक्तज।
त्रिज—(१) वातपित्तरक्तज। (२) वातश्लेष्मरक्तज।
(३) पित्तश्लेष्मरक्तज। (४) त्रिदोषरक्तज।

इस प्रकार ये पन्द्रहभेद हो जाते हैं।

चरक तथा सुश्रुत दोनों ने व्रण के आठ स्थान माने हैं—**'त्वङ्मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिकोष्ठमर्माणीत्यष्टौ व्रणवस्तूनि, अत्र सर्वव्रणसन्निवेशः'** (सुश्रुतः)। चरकने सन्धि के स्थान पर मेद माना है—

त्वक्सिरामांसमेदोऽस्थिस्नायुमर्मान्तराश्रयाः।
व्रणस्थानानि निर्दिष्टान्यष्टावेतानि संग्रहे॥ (च. चि. २७)

व्रणों का अर्वाचीन वर्गीकरण—

(१) **साधारणव्रण** (Non-specific ulcer)—प्रायः पूयजनक जीवाणु से इसकी उत्पत्ति होती है।

(२) **विशिष्टव्रण** (Specific ulcer)—फिरंगज, क्षयज तथा उपदंशज व्रण इस श्रेणी में आते हैं।

(३) **भेदकव्रण** (Perforating ulcer)—यह व्रण पोषण के अभाव से उत्पन्न होता है। व्रण पैर के अंगूठे के नीचे बनता है, नाडी तन्तुओं का नाश हो जाने से पीडा नहीं होती। पूय में बहुत दुर्गन्ध रहती है।

(४) **घातक अर्बुद** (Malignant tumour)

व्रण की अवस्थायें—प्रत्येक व्रण की तीन अवस्थायें होती हैं—

(१) **प्रसरण की अवस्था** (Stage of extension)—इसमें धातुओं का नाश हो कर व्रण फैलता है।

(२) **मध्यावस्था** (Intermediate stage)—मृत धातुओं का पृथक्करण तथा नवीन धातुओं की उत्पत्ति की तैयारी इस अवस्था में होती है।

(३) **रोपण की अवस्था** (Stage of repair)

व्रण विशेष का निदान—व्रण विशेष की निश्चिति के लिये निम्नलिखित शीर्षकों पर विशेष ध्यान देना चाहिये—

(१) **तल** (Base)—इसमें रोहण धातु की स्थिति तथा रङ्ग देखते हैं।

(२) **स्राव** (Discharge)—वह लसिकामय, पूयमय या पूय-रक्तमिश्रित हो सकता है। स्राव की गन्ध पर भी ध्यान देना आवश्यक है।

(३) **व्रणौष्ठ** (Edges)—ये नियमित, अनियमित, अवसन्नसुषिरपर्यन्त (Undermined) अन्तःसुषिर उद्वृत्तौष्ठ (Eleveted) हो सकते हैं।

(४) **व्रणान्त** (Margin)—व्रण के चारों ओर की धातु वृद्धियुक्त है या नहीं।

(५) **व्रणस्थान** (Seat of ulcer)—विशिष्ट रोगों के व्रण विशिष्ट स्थानों पर बनते हैं।

(६) **संख्या** (Number)—एक या अनेक, पृथक्-पृथक् अथवा मिले हुए (Confluent)

(७) **चारों ओर की धातु से सम्बन्ध** (Relation with surrounding tissues)—पृथक् या संसक्त।

कतिपय व्रणों का सापेक्ष-

व्रण–नाम	तल	स्राव	व्रणौष्ठ
साधारण व्रण	स्थूल, नीचे की धातुओं से संसक्त, अवस्था के अनुसार रोहण धातु की उपस्थिति या अनुपस्थिति	पूययुक्त किन्तु तृतीयावस्था में लसिकामय	तीक्ष्णधार शस्त्र से कटे हुए से (Sharped cut)
क्षयज व्रण	कोमल, रक्तहीन, रोहण धातु का सर्वथा अभाव तल पीताभ	पतला, क्षय-जनक जीवाणु युक्त	अवसन्न सुषिरपर्यन्त (Undermind) क्रमहीन तथा अन्तःसुषिर
फिरंगज व्रण या Hard chancre	कड़ा, मोटा पूतिवस्तु (Slough) से ढका हुआ, कुछ ऊपर उठा हुआ	पतला, लसिकामय	तीक्ष्णधार शस्त्र से कटे हुए नियमित व्रण, वृत्ताकार
उपदंशज व्रण (Soft chancre)	”	”	”
शय्या व्रण (Bed sores)	उत्तान(Superficial) नीचे की धातुओं से संसक्त रक्तवर्ण	पूययुक्त	”
भेदक व्रण (Perforating ulcer)	—	दुर्गन्धित पूययुक्त	—
कुटिलशिरीय व्रण Irritable ulcer	रोहण धातु अस्वस्थ	विषयुक्त रक्तस्राव	—
दुष्टव्रण (Malignant ulcer, cancer or sarcoma)	त्वचा से ऊपर उठा हुआ	—	उद्वृत्तोष्ठ (Elevated edges)

निश्चिति-सूचक कोष्ठक—

व्रणान्त	व्रणस्थान	संख्या	समीपस्थ धातुसे सम्बन्ध
चारों ओर की धातु शोथयुक्त	सर्वत्र	एक या अनेक	संसक्त
रक्तहीन पीले	ग्रीवा, सन्धिस्थान, पर्शुका व वक्षोऽस्थि(Sternum)	प्रायः एक	पृथक्; यह नाडीव्रण का रूप धारण कर लेता है
×	शिश्नमणि के ठीक पीछे, ओष्ठ, नख, मुख, स्तन तथा उदर का निम्न भाग	अनेक (Multiple) बादमें संयुक्त (Confluent)	पृथक्, दोनों अंगुलियों से पकड़ कर हिलाने से व्रण इधर उधर हिलता है
वंक्षण की लसग्रन्थियों में सूजन	शिश्न के अग्र चर्म के नीचे घाईमें, स्रावके लगने से व्रण अन्यत्र भी बन सकते हैं	अनेक (Multiple)	पृथक्
शोथयुक्त	अंसफलक का कोण (Angle of scapula) त्रिकास्थि, एडी का पिछला भाग	एक या अनेक	संसक्त
—	पैरके अंगूठे के नीचे मूलमें	एक	—
—	टांग के निम्न भाग में	एक या अनेक	—
—	त्वचा या श्लैष्मिक कला	एक	—

साध्यासाध्यतां विवेचयति—

त्वङ्मांसजः सुखे देशे तरुणस्यानुपद्रवः ॥ ५ ॥ (च. चि. १३)
धीमतोऽभिनवः काले सुखे साध्यः सुखं व्रणः ।
गुणैरन्यतमैर्हीनस्ततः कृच्छ्रो व्रणः स्मृतः ॥ ६ ॥
सर्वैर्विहीनो विज्ञेयस्त्वसाध्यो भूर्युपद्रवः ।

मर्मरहित स्थान में त्वचा और मांस में होने वाला विवेकशील युवा व्यक्ति का नवीन और उपद्रव रहित व्रण यदि हेमन्त या शिशिर जैसी सुखप्रद ऋतु में हो तो सुखसाध्य समझना चाहिये। इनमें से एक या दो गुण कम होने पर व्रण कृच्छ्रसाध्य और सब गुणों से हीन तथा बहुत से उपद्रवों से युक्त व्रण को असाध्य समझना चाहिये ॥ ५-६ ॥

साध्यत्वादिकमाह–त्वगित्यादि । सुखे देश इति मर्मरहिते देहावयवे । अनुपद्रव इति ज्वरतृष्णाद्युपद्रवरहितः । धीमत इति हिताहितज्ञस्य । काले सुखे इति हेमन्ते शिशिरे च । अन्यतमैरिति उक्तानां गुणानां मध्ये एकतमैर्गुणैः ॥ ५-६ ॥

विमर्श—व्रण के स्थान, रोगी की अवस्था, रोग का काल तथा उपद्रव की उपस्थिति या अनुपस्थिति के आधार पर साध्यासाध्यता का विवेचन किया गया है। साधारण अवस्था में उपद्रव रहित शुद्ध व्रण साधारण उपचार से समय पर स्वयं ही भर जाते हैं। यदि उनमें किसी प्रकार की दुष्टि हो गई है तो वे कृच्छ्रसाध्य या असाध्य हो जाते हैं। आधुनिक दृष्टि से दुष्टि से यहाँ सेप्टिक (Septic) या जीवाणुसंक्रमण समझना चाहिये। व्रण दुष्ट होने पर बहुत कठिनाई से भरता है। दुष्टि न होने पर व्रण प्रथम से द्वितीय और फिर तृतीय अवस्था में पहुँच कर रोपित हो जाता है। सुश्रुत ने इसी आशय से कहा है—**सर्व एव व्रणाः क्षिप्रं संरोहन्त्यात्मवतां सुभिषग्भिश्चोपक्रान्ताः, अनात्मवतामज्ञैश्चोपक्रान्ताः प्रदुष्यन्ति प्रवृद्धत्वाद् दोषाणाम्'।** (सु. सू. २२)

दुष्टव्रणलक्षणमाह—

पूतिः पूयातिदुष्टासृक्स्राव्युत्सङ्गी चिरस्थितिः ॥ ७ ॥
दुष्टो व्रणोऽतिगन्धादिः शुद्धलिङ्गविपर्ययः ।

दुर्गन्धित पूययुक्त अत्यधिक दुष्ट रक्त का स्राव कराने वाला, अन्दर से कोटरयुक्त, चिरकाल तक रहने वाला, अत्यधिक गन्ध, वर्ण, स्राव तथा वेदना से युक्त और शुद्ध व्रण के लक्षणों से विपरीत लक्षणों वाला व्रण दुष्टव्रण कहलाता है ॥ ७ ॥

दुष्टव्रणलिङ्गमाह–पूतिरित्यादि । पूयातिदुष्टासृक्स्रावीति पूययुक्तमतिदुष्टं रक्तं सततं स्रवतीत्यर्थः । उत्सङ्गी कोटरवान् । चिरस्थितिरित्यनेन बहुलदोषसंबन्धं दर्शयति । तथा-चोक्तम्, 'अनात्मवतामज्ञैश्चोपक्रान्ता व्रणाः प्रदुष्यन्ति, वृद्धत्वाद्दोषाणाम्' (सु. सू. स्था. २२) **इति । दुष्टव्रण इत्यत्र 'परिभावित' इति शेषः । अतिगन्धादिरिति आदिशब्देन वर्णस्राव-वेदनाकृतयो गृहीताः, अतिशब्देन च विशिष्यन्ते । शुद्धलिङ्गविपर्यय इति वक्ष्यमाणशुद्ध-लिङ्गविपरीतः पूतित्वादियोगादेव । 'पूतिपूयातिदुष्टासृक्स्रावी' इति क्वचित् पाठे पूतिशब्दः पूयदुष्टासृग्विशेषणम् ॥ ७ ॥**

विमर्श—पूयोत्पादक जीवाणु से दूषित व्रण को दुष्ट व्रण (Septic wound) कहते हैं।

सुश्रुत ने **'तत्रातिसंवृतोऽविवृतो'** से लेकर **'दुष्टशोणितास्रावी दीर्घकालानुबन्धी चेति'** तक दुष्टव्रण के लक्षण बताये हैं। तथा व्रण के दूषित होने के कारणों का भी उल्लेख निम्नलिखित शब्दों में किया है—**'अनात्मवतामज्ञैश्चोपक्रान्ताः प्रदुष्यन्ति, प्रवृद्धत्वाद्दोषाणाम्'** (सु. सू. २२)

शुद्धव्रणलक्षणमाह—

जिह्वातलाभोऽतिमृदुः श्लक्ष्णः स्निग्धोऽल्पवेदनः ॥ ८ ॥
सुव्यवस्थो निरास्रावः शुद्धो व्रण इति स्मृतः ।

जिह्वातल के समान अत्यधिक मृदु, श्लक्ष्ण तथा चिकना, अल्पवेदना वाला, नियमित (उन्नत मांस व कोटररहित) तथा अधिक स्रावविहीन व्रण शुद्धव्रण कहलाता है ॥ ८ ॥

शुद्धव्रणलक्षणमाह-जिह्वेत्यादि। जिह्वातलाभ इति जिह्वातलवदाभा प्रभा यस्य स तथा, तलशब्दः स्वरूपवचनः। जिह्वातलाभशब्दश्चात्र मृदुश्लक्ष्णस्निग्धशब्दैः प्रत्येकमभिसंबध्यते; तेन जिह्वातलाभो मृदुः श्लक्ष्णः स्निग्धश्चेत्याहुः। सुव्यवस्थ इति उत्सन्नोत्सङ्गित्वरहितः। निरास्राव इति दोषकृतस्रावरहितः। चरके तु पठ्यते—'नातिरक्तो नातिपाण्डुर्नातिस्रावो न चातिरुक्। न चोत्सन्नो न चोत्सङ्गी शुद्धो रोप्यः परं व्रणः' (च. चि. स्था. २५) इति, तद्दर्शनादत्र निरास्रावत्वं, दोषकृतस्रावहीनत्वं विगतवेदनत्वं च वाताद्युक्तवेदनारहितत्वम्। व्रणस्रावकृतवेदनायुक्तत्वं पुनरस्त्येव, अत एव रूढलिङ्गे अरुजमित्युक्तम् ॥ ८ ॥

विमर्श—निरास्रावः-अल्पस्राव से युक्त या दोषजन्य अल्प स्राव से युक्त। इस अवस्था में व्रण दोषों के प्रकोप से रहित होता है—**त्रिभिर्दोषैरनाक्रान्तः श्यावौष्ठः पिडकासमः।**
अवेदनो निरास्रावो व्रणः शुद्ध इहोच्यते॥ (सुश्रुतः)

इस अवस्था में व्रण के ओष्ठ रक्ताभ श्वेत रहते हैं। चरक ने तो स्पष्ट रूप से इसमें अल्पस्राव का उल्लेख किया है—**नातिरक्तो नातिपाण्डुर्नातिस्रावो न चातिरुक्।**
न चोत्सन्नो न चोत्सङ्गी शुद्धो रोप्यः परं व्रणः॥ (च. चि. २५)

रुह्यमाणव्रणलक्षणमाह—

कपोतवर्णप्रतिमा यस्यान्ताः क्लेदवर्जिताः ॥ ९ ॥
स्थिराश्च पिडकावन्तो रोहतीति तमादिशेत् । (सु. सू. २३)

जिस व्रण के किनारे कबूतर के (कृष्ण-श्वेत) वर्ण के एवं आर्द्रता रहित हों तथा जो व्रण स्थिर और पिडका से युक्त हो उसे समझना चाहिये कि यह भर रहा है ॥ ९ ॥

रुह्यमाणलक्षणमाह—कपोतेत्यादि। कपोतवर्णप्रतिमा इति पाण्डुधूसराः स्थिरा अदरणाः। 'चिपिटिकावर्णा' इति पाठान्तरे चिपिटिका मांसचेली, तद्वर्णाः ॥ ९ ॥

विमर्श—'स्थिराश्च पिडकावन्तो' के स्थान पर **'स्थिराश्चिपिटिकावर्णा'** ऐसा पाठ भी मिलता है। वहाँ मजबूत पतली मृदु त्वचा से युक्त ऐसा अर्थ करना चाहिये।

व्रणस्य सम्यग्रूढलक्षणं प्राह—

रूढवर्त्मानमग्रन्थिमशूनमरुजं व्रणम् ॥ १० ॥
त्वक्सवर्णं समतलं सम्यग्रूढं विनिर्दिशेत् । (सु. सू. २३)

१. 'चर्मवलीयुक्ताः-वियुज्यमानत्वात्त्वक्शोथचर्मवलीसम्भवः रोहं गच्छति व्रणे शुष्कसूक्ष्मा च या उच्चटिति त्वक्सा चर्मचेली। 'पिडकावन्त' इति पाठान्तरे पिडिका-मांसवली तद्वन्तः ॥ (इति क.)

जिस व्रण का गड्ढा भर गया हो, जिसमें गाँठें न हों, जो सूजन एवं पीड़ा से रहित हो, जिसका वर्ण त्वचा के समान हो गया हो तथा जो समतल हो उस व्रण को सम्यग् रूढ (अच्छी तरह से भरा हुआ) समझना चाहिये ॥ १० ॥

सम्यग्रूढलक्षणमाह—रूढवर्त्मानमित्यादि। रूढवर्त्मानमिति वर्त्म व्रणमार्गो व्रणवास्तु रूढो यस्य तम्। अन्तःपूयाभावादशूनमरुजं च। त्वक्सवर्णं त्वचा समानवर्णम्। समतलमिति समं तलेन जिह्वातलेन करतलेन वा, अग्रन्थिमित्यनेनोपर्युच्छूनताया निषेधः, समतलेन त्वधोनिम्नताया निषेधः ॥ १० ॥

विमर्श—व्रण बनने के समय से पूर्ण रोपण होने तक की अवस्था को तीन भागों में विभक्त किया गया है—

(१) प्रथम या दुष्ट अवस्था (Stage of ulceration or extension)-इसका वर्णन अभी **'पूतिः पूयातिदुष्टासृक्** इत्यादि श्लोक के द्वारा किया गया है इस अवस्था में निम्न लक्षण होते हैं—

(क) दोषों की प्रबलता (ख) धातुओं का अत्यधिक नाश (ग) व्रण में पूय तथा रक्त की उपस्थिति (घ) दुर्गन्धयुक्त स्राव (ङ) व्रणौष्ठ स्थूल एवं शोथयुक्त (च) व्रण के चारों ओर का भाग भी सुर्ख तथा शोथयुक्त रहता है, और वह नीचे की धातुओं से संसक्त रहता है।

(२) द्वितीय या शुद्ध अवस्था (Stage of transition) इसका वर्णन **'त्रिभिर्दोषैरनाक्रान्तः'** के द्वारा किया गया है। इसमें निम्न लक्षण पाये जाते हैं—

(क) दोषों का प्राबल्य कम (ख) धातुओं के नाश का अभाव

(ग) किञ्चित् लाल रंग का स्राव अल्पमात्रा में निकलता है।

(घ) पूय का निकलना पूर्णतया बन्द हो जाता है।

(ङ) तल से मांसाङ्कुर या पिडका (Granulation tissue) की उत्पत्ति जो उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।

(३) तृतीय या रोहण की अवस्था (Stage of repair)—इसमें ये लक्षण होते हैं—

(क) रोहण धातु या पिडकाओं (Granulation tissue) की अत्यधिक वृद्धि।

(ख) किनारों में कपोतवर्ण की उत्पत्ति। (ग) शोथ का पूर्णतया नाश।

(घ) तन्तुजाल (Fibrous tissue) की उत्पत्ति, इसके बाद रोहण धातु का ऊपरी भाग एक पतले से पर्त में बदल कर व्रणस्थान को ढक लेता है। इसे व्रणवस्तु या तन्तुजालक धातु (Fibrocicatical tissue) कहते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक उपद्रव रहित व्रण इन तीन अवस्थाओं को पार करता हुआ रोपित हो जाता है।

रोगोपद्रवरूपाणां व्रणानां कृच्छ्रसाध्यतामसाध्यतां चाह—

कुष्ठिनां विषजुष्टानां शोषिणां मधुमेहिनाम् ॥ ११ ॥
व्रणाः कृच्छ्रेण सिध्यन्ति येषां चापि व्रणे व्रणाः।
वसां मेदोऽथ मज्जानं मस्तुलुङ्गं च यः स्रवेत् ॥ १२ ॥
आगन्तुजो व्रणः सिद्ध्येन्न सिद्ध्येद्दोषसंभवः। (सु. सू. २३)

कुष्ठ, विष, राजयक्ष्मा तथा मधुमेह से पीड़ित रोगियों के व्रग कठिनता से रोपित होते हैं। जिनके व्रण में भी व्रग बनते हैं उन्हें भी कृच्छ्रसाध्य समझना चाहिये।

जिस व्रग से वसा, मेद, मज्जा और मस्तिष्क इनका स्राव हो, वह यदि आगन्तुक कारण से उत्पन्न हुआ है तो साध्य होता है। किन्तु यदि वह दोषों से उत्पन्न होता है तो असाध्य समझना चाहिये ॥ ११-१२ ॥

व्याधिविशेषेण व्रगस्य कृच्छ्रसाध्यत्वमाह–कुष्ठिनामित्यादि। कुष्ठे विशेषेणात्यन्तदोषदूषितरक्तादिदूष्यत्वेन सर्वदा दुष्टिरधिकेति कृच्छ्रसाध्यत्वम्। विषजुष्टानामिति दूषीविषार्तानाम्। शोषे मधुमेहे च धातुक्षयात्, व्रणे च रक्तस्रावादाहारसंयमनादधिका दुष्टिः। वसां मेदोऽथ मज्जानं मस्तुलुङ्गं च यः स्रवेदिति मज्जा अस्थिस्नेहः, मस्तुलुङ्गं घृतिका। न सिध्येद्दोषसंभव इति दोषैरतिदूषितानां वसादीनां स्रावस्य बहुव्यापत्तिकरत्वात् ॥ ११-१२ ॥

विमर्श–उपर्युक्त किसी भी रोग से पीड़ित रोगी का व्रग केवल स्थानिक उपचार से ठीक नहीं हो सकता। उसके लिये उन रोगों की विशिष्ट चिकित्सा करना परमावश्यक है। कुष्ठ में कुष्ठोत्पादक जीवाणु (Bacillus lepri) सम्पूर्ण शरीर की त्वचा, मांस, रक्त तथा लसिका को दूषित कर देता है। इस अवस्था में व्रग के साथ-साथ आन्तरिक चिकित्सा करना भी परमावश्यक है। राजयक्ष्मा में रोगी के पोषक रस एवं रक्त की उत्पत्ति नहीं होती, अतः पोषणाभाव से व्रग का रोपण भी नहीं होता। विषयुक्तावस्था में विष रोगी के व्रग के समीप की धातुओं का नाश रोपण की अपेक्षा अत्यधिक तीव्रता से करता है, इस लिये रोपण नहीं हो पाता। मधुमेह में मधुर स्वभाव ओज (Sugar) का क्षय मूत्र द्वारा निरन्तर होता रहता है। यह शरीर-पोषण के लिये अत्यन्त आवश्यक है। जब शरीर का ही पोषण पूर्णतया नहीं हो पाता तो व्रग का रोपण होना तो कठिन ही है। इसलिये यह आवश्यक है कि व्रगोपचार के साथ-साथ इन रोगों की विशिष्ट चिकित्सा भी की जाये।

अस्थिमज्जा में व्रण बनने पर मज्जा का तथा सिर में गम्भीर व्रग बनने से मस्तिष्क का स्राव हो सकता है। जिस अवस्था में यह आगन्तुक कारण (आघात) से होता है तो साध्य समझा जाता है। किन्तु जब निज कारण (शरीरस्थ दोषों के प्रकोप) से उत्पन्न होता है तो असाध्य समझना चाहिये। शल्यविज्ञान के द्वारा आगन्तुक की चिकित्सा करना सरल है निज की नहीं।

गन्धानुसारं व्रणस्यारिष्टलक्षणमाह–

मद्यागुर्वाज्यसुमनःपद्मचन्दनचम्पकैः ॥ १३ ॥
सगन्धा दिव्यगन्धाश्च मुमूर्षूणां व्रणाः स्मृताः ।

मद्य, अगर, घी, चमेली, रक्तकमल तथा चम्पा की गन्ध के समान गन्ध वाले एवं दिव्य या अद्भुत गन्धवाले व्रण असाध्य होते हैं ॥ १३ ॥

रिष्टरूपां गन्धविकृतिमाह–मद्यागुर्वाज्येत्यादि। सुमना जाती, सगन्धाः समानगन्धाः, दिव्यगन्धा अपरिकल्पिताद्भुतपारिजातादिगन्धाः ॥ १३ ॥

अन्यदसाध्यलक्षणमाह–

ये च मर्मस्वसंभूता भवन्त्यत्यर्थवेदनाः ॥ १४ ॥
दह्यन्ते चान्तरत्यर्थं बहिः शीताश्च ये व्रणाः ।
दह्यन्ते बहिरत्यर्थं भवन्त्यन्तश्च शीतलाः ॥ १५ ॥

प्राणमांसक्षयश्वासकासारोचकपीडिताः ।
प्रवृद्धपूयरुधिरा व्रणा येषां च मर्मसु ॥ १६ ॥
क्रियाभिः सम्यगारब्धा न सिध्यन्ति च ये व्रणाः ।
वर्जयेदपि तान् वैद्यः संरक्षन्नात्मनो यशः ॥ १७ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने शारीरव्रणनिदानं समाप्तम् ॥ ४२ ॥

मर्म स्थान पर उत्पन्न न होते हुए भी जिन व्रणों में अत्यधिक वेदना होती है, जो अन्दर से बहुत जलते हुए भी बाहर से शीतल बने रहते हैं, अथवा जिनमें बाहर दाह और अन्दर से शीतानुभूति होती है, जो बल-मांसक्षीण तथा श्वास, कास और अरुचि से पीडित रोगियों को होते हैं, जिनमें पूय और रक्त प्रचुर मात्रा में निकलता है, अथवा जिनको ये व्रण मर्म स्थान पर होते हैं, इसके अतिरिक्त उत्तम से उत्तम चिकित्सा करने पर भी जिन व्रणों का रोपण नहीं होता, ऐसे व्रणों की चिकित्सा अपने यश की इच्छा रखने वाले वैद्य को न करनी चाहिये ॥ १४-१७ ॥

ये च मर्मस्वसंभूता इति 'मर्मसु न जाता अपि भृशवेदनाः, मर्मजातत्वेन हि भृशवेदनावत्त्वं युक्तम् । प्राणमांसक्षय इति । प्राणक्षयेण शक्तिक्षयः, मांसक्षयेण चोपचयक्षयः । अनुक्तमप्यशेषं रिष्टं संगृह्णन्नाह—क्रियाभिरित्यादि ॥ १४-१७ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां शारीरव्रणनिदानं समाप्तम् ॥ ४२ ॥

विमर्श—सुश्रुत ने स्वयं अवदीर्यमाण व्रणों की साध्यासाध्यता, व्रणों की आकृति और तदनुसार साध्यासाध्यत्व, विभिन्न व्रणवस्तुओं एवं दोषों के अनुसार स्राव एवं वेदना के स्वरूप, रोगी की आयु, देश, काल, व्रण के स्थान, विविध रोगों से सम्बन्ध आदि कतिपय महत्त्व के विषयों के आधार पर व्रणों की साध्यता, कृच्छ्रसाध्यता, असाध्यता आदि का विशद विवेचन सूत्रस्थान अध्याय २२ और २३ में किया है उसका अवलोकन वहीं करना चाहिए ।

समाप्तं चेदं शारीरव्रणनिदानम् ।

अथ सद्योव्रणनिदानम्

सद्योव्रणस्योत्पादकहेतुमाह—

नानाधारमुखैः शस्त्रैर्नानास्थाननिपातितैः ।
भवन्ति नानाकृतयो व्रणास्तांस्तान्निबोध मे ॥ १ ॥

नाना प्रकार की धार एवं मुख वाले शस्त्रों के शरीर के विभिन्न भागों में लगने से विभिन्न आकृति के व्रण बनते हैं, उनका वर्णन आगे किया जाता है ॥ १ ॥

आकृतिभेदेन व्रणभेदान् प्राह—

छिन्नं भिन्नं तथा विद्धं क्षतं पिच्चितमेव च ।
घृष्टमाहुस्तथा षष्ठं तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ २ ॥ (सु. चि. २)

१. व्रणं श्वयथुरायासात् स च रागश्च जागरात् ।
तौ चतुष्कं दिवास्वापात् ताश्च मृत्युश्च मैथुनात् ॥ (इति ख.)

छिन्न, भिन्न, विद्ध, क्षत, पिच्चित तथा घृष्ट ये व्रण के छ भेद हैं, क्रमशः उनके लक्षण कहते हैं ॥

शारीरव्रणमभिधायागन्तुव्रणमाह–नानाधारमुखैरित्यादि । नाना धारा मुखानि च येषां तानि तथा । स्थानविशेषोऽपि शस्त्रनिपाततुल्यत्वेनाकृतिविशेषे,हेतुरित्यत उक्तं–नानास्थाननिपातितैरिति ॥ १–२ ॥

विमर्श—शस्त्र की धार व मुख जिस प्रकार का होगा उसी के अनुसार व्रण की आकृति भी बनती है । इसी के आधार पर व्रणों के छिन्न-भिन्न आदि भेद किये गये हैं । शस्त्र-प्रहार के कारण अकस्मात् उत्पन्न होने वाले व्रण को सद्योव्रण (Wounds) कहते हैं । शारीर व्रण और सद्योव्रण में अन्तर केवल उत्पादक हेतु का है । शारीर व्रण (Idiopathic ulcer) की उत्पत्ति अधिकतर आन्तरिक कारण अथवा बाह्य निमित्त (जीवाणु) से प्रकुपित दोषों से होती है इसमें उत्पादक हेतु किसी न किसी प्रकार शरीर के भीतर पहुँच कर शोथपूर्वक व्रण को उत्पन्न करता है । सद्योव्रण का हेतु शरीर के बाहर रह कर ही विकार उत्पन्न करता है । सद्योव्रण को शारीर व्रण का आगन्तुक भेद भी मान सकते हैं । इसीलिये श्रीकण्ठदत्तजी ने **'शारीरव्रणमभिधायागन्तुव्रणमाह—'** शारीर व्रण का वर्णन करने के उपरान्त अब आगन्तुक व्रण का वर्णन करते हैं, ऐसा कहा है । सद्योव्रण की परिभाषा आधुनिक विद्वान् निम्न प्रकार से देते हैं 'Wound' is a forcible break in continuity involving the skin or mucous membrane अर्थात् अभिघातादिजन्य हठात् उत्पन्न त्वचा या श्लेष्मल त्वचा के स्वाभाविक अनुबन्ध-विच्छेद को सद्योव्रण कहते हैं ।

छिन्नलक्षणं व्याचष्टे—

तिर्यक् छिन्न ऋजुर्वाऽपि यो व्रणस्त्वायतो भवेत् ।
गात्रस्य पातनं तच्च छिन्नमित्यभिधीयते ॥३॥(सु. चि. २)

जो व्रण तिरछा अथवा सीधा कटा और आयत (चौड़ा) होता है तथा जिसमें शरीर का अंग कटकर लटकने लगे या गिर जावे तो उसे छिन्न व्रण कहते हैं ॥ ३ ॥

छिन्नलक्षणमाह–तिर्यगित्यादि । तिर्यगिति तिर्यग्व्यवस्थितः । छिन्नश्छेदसंपन्नः । ऋजुरवक्रः । गात्रस्य पातनमिति । गात्रावयवस्य तदेकदेशरूपस्य वा गात्रस्य पातनम् ॥ ३ ॥

विमर्श—'छिदिर् द्वैधीकरणे' इस धातु से **'छिद्यते यत् तच्छिन्नम्'** जो कटकर अलग हो जाय, इस विग्रह में छिन्न शब्द बनता है । अंग दो टुकड़ों में विभक्त हो जाता है । एक भाग शरीर से लगा रहता है और दूसरा कटकर गिर जाता है । इसको आजकल ऐक्साइज्ड वूण्ड (Excised wound) कहते हैं । विद्रधि-भेदन आदि के लिए तीक्ष्ण चाकू आदि से जो नियमित चीरा लगाया जाता है अथवा तलवार आदि से चीरा लगाने जैसा ही जो व्रण बनता है और जिसमें त्वचा और प्रायः उसके नीचे की पेशी, सिरा, स्नायु आदि भी कट जाते हैं । किन्तु अङ्ग पृथक् नहीं होता है वह भी छिन्न व्रण ही है और इसको आजकल(Incised wound) कहते हैं । इसमें रक्तप्रवाह प्रायः बहुत तीव्र होता है ।

भिन्नलक्षणमाह—

शक्तिदन्तेषुखड्गाग्रविषाणैराशयो हतः ।
यत्किंचित् प्रस्रवेत्तद्धि भिन्नलक्षणमुच्यते ॥ ४ ॥ (सु. चि. २)

---

१. कुन्तेषु इत्यपि पाठः ।

शक्ति (नोकदार शस्त्रविशेष), दांत, बाण, तलवार के अग्रभाग एवं सींग के लगने से आशय पर्यन्त जो व्रण बनता है उसे भिन्न कहते हैं। इससे (भिन्न आशय के अनुसार) विभिन्न स्राव निकलते हैं ॥ ४ ॥

भिन्नलक्षणमाह-शक्तीत्यादि। विषाणं दन्तः शृङ्गं च। एतद्भिन्नलक्षणं पारिभाषिकं, तेन व्यध एवाशयदेशे भेद उच्यते, आशयदेशरहिते तु व्यधः। यत्किंचिदित्यादि। यस्य मूत्ररुधिरादेर्य आशयो भिन्नः स तत् प्रस्रवेत्, तेन बस्तिर्भिन्नो मूत्रं, रुधिराशयो रुधिरमिति ॥ ४ ॥

विमर्श—'भिदिर् विदारणे' इस धातु से भिन्न शब्द बनता है। **'भिद्यते यत् तद् भिन्नम्'** जिसमें नुकीला शस्त्र घुस कर किसी कोष्ठस्थ अङ्ग को विदीर्ण कर दे उसे भिन्न कहते हैं। उक्त व्युत्पत्ति के आधार पर आधुनिक ग्रन्थों में भिन्न का पर्यायवाची (Punctured wound) कहते हैं। इसमें बाहर से देखने से घाव छोटा होता है पर गहराई बहुत अधिक होती है अतः नाड़ी, धमनी आदि के अतिरिक्त कोष्ठस्थ फुफ्फुस, हृदय, आमाशय-आंत्र आदि अवयव भी विदीर्ण हो जाते हैं जिससे विदीर्ण आशयानुसार विविध प्रकार के स्राव निकलते हैं। भेदकशस्त्र के निकलते समय त्वचा बाहर की ओर खिंच आने से व्रण के ओष्ठ उभर आते हैं अतः उसे 'उत्तुण्डित' कहते हैं। गोली लगने से भी इसी प्रकार का व्रण बनता है किन्तु गोली के प्रवेश करने के स्थान पर त्वचा भीतर की ओर (निर्गत) दब जाती है और यदि गोली शरीर का भेदन करते हुए पार हो जाय तो उसके निर्गम स्थल पर व्रण 'उत्तण्डित' रहता है। इसीलिए आजकल इसे भिन्न व्रण का ही एक प्रकार होते हुए भी Gun shot wound कहते हैं। गोली के प्रवेश-स्थल पर व्रण सङ्कुचित होता है किन्तु ज्यों-ज्यों वह भीतर घुसती जाती है व्रण अधिक विस्तृत होता जाता है। भिन्न शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर उक्त लक्षण बताये गये हैं जो कि वस्तुतः पाये भी जाते हैं। किन्तु फिर भी प्रकृत में भिन्न शब्द पारिभाषिक है। इसका व्यवहार केवल आशयों के भेदक व्रण के लिये ही किया जाता है और विद्ध शब्द का व्यवहार आशय को छेद कर अन्यत्र वेधन होने पर ही किया जाता है जिसका वर्णन आगे आया है:—**सूक्ष्मास्यशल्याभिहतं यदङ्गं त्वाशयं विना'**। श्रीकण्ठदत्तजी ने कहा है—**'एतद्भिन्नलक्षणं पारिभाषिकं तेन व्यध एवाशय देशे भेद उच्यते, आशयदेशरहिते तु व्यधः'** ॥

यत् किंचित् प्रस्रवेत्—जिस आशय या कोष्ठस्थ अवयव का भेदन होगा उसके अनुसार स्राव होगा। जैसे—यदि आमाशय भिन्न हुआ है तो आमाशय रक्त से भर जायगा, अन्न-मिश्रित रक्त का वमन या स्राव होगा। मूत्राशय भिन्न होने पर मूत्र में रक्त आयेगा या मूत्रमिश्रित रक्त का स्राव व्रण से होगा। पक्वाशय-भेदन होने पर पीड़ा, भारीपन तथा नाभि के नीचे शीतलता होगी तथा व्रण से अन्नद्रव या मलमिश्रित रक्त का स्राव होगा।

प्रसङ्गतः कोष्ठलक्षणं तद्भेदे च लक्षणान्याह—

स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च।
हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥ ५ ॥
तस्मिन् भिन्ने रक्तपूर्णे ज्वरो दाहश्च जायते।
मूत्रमार्गगुदास्येभ्यो रक्तं घ्राणाच्च गच्छति ॥ ६ ॥
मूर्च्छा श्वासस्तृषाऽऽध्मानमभक्तच्छन्द एव च।

विण्मूत्रवातसङ्गश्च स्वेदास्रावोऽक्षिरक्तता ॥ ७ ॥
लोहगन्धित्वमास्यस्य गात्रदौर्गन्ध्यमेव च।
हृच्छूलं पार्श्वयोश्चापि विशेषं चात्र मे शृणु ॥ ८ ॥
आमाशयस्थे रुधिरे रुधिरं छर्दयत्यपि।
आध्मानमतिमात्रं च शूलं च भृशदारुणम् ॥ ९ ॥
पक्वाशयगते चापि रुजा गौरवमेव च।
अधः काये विशेषेण शीतता च भवेदिह ॥१०॥ (सु. चि. २)

आमाशय, अग्न्याशय या पच्यमानाशय, पक्वाशय, रक्ताशय (यकृत् और प्लीहा), हृदय, उण्डुक (Caecum) तथा फुफ्फुस को कोष्ठ कहते हैं। उसके भेदन हो जाने पर कोष्ठ रक्त से भर जाता है जिससे ज्वर और दाह उत्पन्न हो जाते हैं। मूत्रमार्ग, गुदा, मुख तथा नासिका से रक्त निकलता है। इनके अतिरिक्त मूर्च्छा, श्वासकृच्छ्रता, प्यास, आध्मान, अरुचि, मल एवं मूत्र का अवरोध, पसीना अधिक निकलना, आँखों में लाली, मुख से लोहे के समान गन्ध का आना, शरीर से दुर्गन्धि आना, हृदय तथा पसलियों में दर्द ये कोष्ठभेद के सामान्य लक्षण हैं। कोष्ठविशेष के भेदन होने पर उत्पन्न लक्षण आगे कहे जाते हैं। यथा-आमाशय में रक्त भर जाने पर रोगी रक्त वमन करता है, पेट अफर जाता है तथा तीव्र शूल होता है। पक्वाशय में रक्त भर जाने से पीड़ा, भारीपन और नीचे का अङ्ग ठण्डा प्रतीत होता है ॥ ५-१० ॥

यत्र भूयसामाशयानां स्थाने भेदव्यपदेशस्तमाह—स्थानानीत्यादि। आमस्य स्थानमामाशयः, अग्नेः पच्यमानाशयः, मलस्य पक्वाशयः, मूत्रस्य बस्तिः, रुधिरस्य यकृत्प्लीहानौ, हृत् हृदयं, उण्डुक इक्षुरसपाकमलवद्यः शोणितमलस्तज्ज उण्डुकः, स चान्त्रदेशे व्यवस्थित; पुरीषाधानमिति, फुफ्फुस इति हृदयस्य वामपार्श्वे (रक्ताधारः) 'फुफ्फुस' इति ख्यातः। मूत्रमार्गगुदास्येभ्यो रक्तं घ्राणाच्च गच्छतीति बस्त्यादौ भिन्ने मेहनगुदाभ्यां रक्तं निःसरति, आमाशयादिभेदे तु मुखघ्राणाभ्यां रक्तनिर्गमः। स्वेदास्राव इति स्वेदस्यात्यन्तस्रुतिः। पार्श्वयोश्चापीति शूलमिति संबन्धः। मे इत्यव्ययं मत्त इत्यर्थः। आमाशयस्थ इत्यादि आध्मानं रक्तावततत्वाद्वायोः। रुजा शूलम्। गौरवं रक्तबहुत्वात्। अधःकाये विशेषेण शीततेति व्याधिप्रभावात् ॥ ५-१० ॥

विमर्श—पक्वाशय और मलाशय में भेदन होने से रक्त गुदमार्ग से निकलता है। इसी प्रकार बस्ति में भेदन होने से मूत्रमार्ग द्वारा, आमाशय में भेदन होने से मुख एवं नासिका द्वारा रक्तस्राव होता है। फुफ्फुस-भेदन होने तथा अत्यधिक रक्तस्राव हो जाने से श्वासकृच्छ्रता, मूर्च्छा तथा प्यास के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। रक्तवमन होने के कारण मुख में लोहसदृश गन्ध आती है। यकृत्, प्लीहा, फुफ्फुस आदि के भेद के लक्षण सुश्रुतादि प्राचीन एवं अर्वाचीन ग्रन्थों में विस्तार से वर्णित हैं। विस्तारभय से उन सबका वर्णन यहाँ सम्भव नहीं है।

विद्धव्रणं लक्षयति—

सूक्ष्मास्यशल्याभिहतं यदङ्गं त्वाशयं विना। (सु. चि. २)
उत्तुण्डितं निर्गतं वा तद्विद्धमिति निर्दिशेत् ॥ ११ ॥

आशय के अतिरिक्त अङ्ग सूक्ष्म नुकीले मुख वाले शस्त्र के लगने से विद्ध हो जाते हैं. इससे उत्पन्न व्रण उत्तुण्डित (उभारयुक्त मुख वाला) अथवा निर्गत (दबे हुए मुख वाला) हो जाता है। इस प्रकार के व्रणों को विद्धव्रण कहते हैं ॥ ११ ॥

विद्धलक्षणमाह–सूक्ष्मास्यशल्येत्यादि। आशयं विनेति उक्तामाद्याशयं विना। उत्तुण्डितमनिर्गतशल्योपलक्षणं तेनानुत्तुण्डितमुत्तुण्डितं च विद्धं गृह्यते, निर्गतेन च निर्गतमुखं विद्धं सर्वथा निर्गतं च गृह्यते; तेन तन्त्रान्तरे 'विद्धमुत्तुण्डितमनुत्तुण्डितं भिन्नं निर्भिन्नम्–इति यच्चतुष्प्रकारमभिहितं तत् सर्वं संगृहीतम् ॥ ११ ॥

विमर्श—बाह्य आकृति की दृष्टि से भिन्न और विद्ध व्रण समान ही होते हैं, किन्तु आन्तरिक परिणाम के अनुसार इनमें भेद होता है। भिन्नव्रण आशय में ही होता है। विद्धव्रण आशय को छोड़ कर त्वचा, मांस एवं अस्थि आदि में होता है। डल्हण और श्रीकण्ठदत्त आदि टीकाकार जब तक अन्तःप्रविष्ट शस्त्र बाहर नहीं निकलता तब तक विद्ध व्रण को 'उत्तुण्डित' कहते हैं और निकलने पर उसे निर्गत कहते हैं किन्तु प्रत्यक्ष के आधार पर 'उत्तुण्डित' का अर्थ उभरे हुए मुख और 'निर्गत' का अर्थ दबे हुए मुख वाला करना उचित प्रतीत होता है इसी प्रकार तन्त्रान्तर में आगत 'भिन्न' का अर्थ केवल प्रविष्ट और 'निर्भिन्न' का अर्थ प्रविष्ट होकर निकला हुआ अर्थात् आर-पार हुआ करना उचित प्रतीत होता है। जैसे सूचीवेध और कर्णवेध। विद्ध व्रण भी आजकल के पङ्कचर्ड वूण्ड (Punctured wound) का ही एक प्रकार है। वास्तव में प्राचीनों ने भी इसे भिन्न का ही एक भेद माना है। जब आघात आशय तक पहुँच जाता है तो भिन्न और जब आशय तक नहीं पहुँचता तो विद्धव्रण कहलाता है। भिन्न व्रण का विमर्श भी (पृष्ठ १०८ पर) देखिए।

क्षतव्रणं प्राह—

नातिच्छिन्नं नातिभिन्नमुभयोर्लक्षणान्वितम्।
विषमं व्रणमङ्गे यत्तत् क्षतं त्वभिधीयते ॥१२॥ (सु. चि. २)

वह सद्योव्रण जो न अधिक कटा है और जो न अधिक विदीर्ण हुआ है तथा जो दोनों के लक्षणों से युक्त है, ऐसे विषम आकार के व्रण को क्षतव्रण कहते हैं ॥ १२ ॥

क्षतमाह—नातिच्छिन्नमित्यादि। नातिच्छिन्नमिति नावगाढच्छेदम्। नातिभिन्नमिति नातिविदीर्णाशयम्। उभयोर्लक्षणान्वितमिति स्तोकच्छेदस्तोकावदरणयोगादुभयलक्षणयुक्तम्। विषमं व्रणमङ्गे यदिति अङ्गवैषम्यकरं व्रणं यत्तत् क्षतम् ॥ १२ ॥

विमर्श—इस प्रकार का व्रण बिना धार वाले लाठी, पत्थर आदि के चोट से उत्पन्न होता है तथा इसकी लम्बाई, चौड़ाई, गहराई तथा व्रणोष्ठ की आकृति सभी विषम (अनियमित) होती हैं। डल्हण ने भी कहा है—**'क्षतादीनि तु पाषाणलगुडादिभिरपि स्युः'**। ऐसे चिथड़े सदृश व्रण को आजकल Lacerated wound कहते हैं। इसमें रक्तस्राव अधिक होता है **'क्षते वाऽसृगति स्रवेत्'** (सु. चि. २)। किन्तु कुछ विद्वान् इसे तीक्ष्णधारजनित मानते हैं एवं अर्वाचीन Incised wound से ही तुलना करते हैं।

पिच्चित व्रणमाह—

प्रहारपीडनाभ्यां तु यदङ्गं पृथुतां गतम्। (सु. चि. २)
सास्थि तत् पिच्चितं विद्यान्मज्जरक्तपरिप्लुतम् ॥ १३ ॥

प्रहार (लाठी, मुद्गर आदि से) और (किवाड़ आदि के बीच) दब जाने से यदि कोई अंग

चिपटा हो गया हो, अस्थि भी पिच्चित हो कुचल जाये और मज्जामिश्रित रक्त का स्राव होता हो तो उसे पिच्चित व्रण कहते हैं ॥ १३ ॥

पिच्चितलक्षणमाह-प्रहारेत्यादिना। प्रहारो मुद्गरादिना, पीडनं कपाटादिना। पृथुतामिति चिप्पिटताम्। मज्जरक्तपरिप्लुतमित्यनेन व्रणभावात् मज्जरक्तागमं दर्शयति। तेन यत् व्रणं पिच्चितं, तद्भग्नस्य तथा सद्योव्रणस्य च चिकित्साविषयम् ॥ १३ ॥

विमर्श—यह व्रण भी बिना धार के शस्त्रों के अभिघात या कोल्हू या अन्य मशीन में पिच जाने के कारण बनता है। इसमें रक्तवाहिनियों के पिस और दब जाने से रक्त स्राव बहुत कम होता है। त्वचा, मांस आदि धातुओं के छिलने से व्रग अनियमित होता है। इसमें पूयजनक जीवाणु के उपसर्ग एवं पाक आदि का बहुत भय होता है। इसका रोपण देर से होता है। यह व्रण भी पूर्वोक्त क्षत व्रग (Lacerated wound) का ही एक प्रकार है किन्तु इसमें अस्थि आदि गूढ अवयव भी पिसकर विचूर्ण हो जाते हैं और रक्तवाहिनियों के कुचल जाने से रक्तस्राव कम होता हैं। व्रग के चारो ओर तीव्र शोथ होता है जो कि पूर्वोक्त प्रकार से भिन्न है अतः इस प्रकार के व्रण को पिच्चित (Crushed or contuised wound) कहते हैं। कभी-कभी तो बाहर त्वचा में कोई व्रण नहीं बनता या सामान्यतया त्वचा छिल भर जाती है किन्तु आभ्यन्तर अवयवों में अत्यधिक विकृति होती है। अधस्त्वग्देश में रक्तसञ्चय होने से पीडा, शोथ तथा विवर्णता आदि लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं और इसे Coatuision कहते हैं। यदि रक्त को फैलने का स्थान नहीं मिलता तो एक अर्बुद के समान उभार बन जाता है जिसे Haematoma कहते हैं।

घृष्टव्रणमाह—

घर्षणादभिघाताद्वा यदङ्गं विगतत्वचम्।
उषास्रावान्वितं तच्च घृष्टमित्यभिधीयते ॥ १४ ॥ (सु. चि. २)

किसी वस्तु की रगड़ या दूसरे अभिघात से यदि अंग की त्वचा हट गई हो और उससे गरम-गरम स्राव निकलता हो तो उसे 'घृष्ट' व्रग कहते हैं ॥ १४ ॥

घृष्टलक्षणमाह-घर्षणादित्यादि। घर्षणात् कर्कशवस्त्रादिना। विगतत्वचमिति पाठं त्यक्त्वा विगतत्वचेति पाठः साधुः, विगतत्वचोपलक्षितमङ्गम्। उषा ऊष्मनिर्गमवद्व्यथा ॥

विमर्श—जब किसी रगड़ आदि के कारण केवल त्वचा छिल जाती है अर्थात् उपत्वचा मात्र विनष्ट होती है तो किञ्चित् रक्त या रक्तमिश्रित रक्तपीताभ तरल मात्र का स्राव होता है जिसे लोक में 'पंछा' कहते हैं। **'तत्र घृष्टं लसीकया, रक्तलेशेन वा युक्तम्'** (अ. हृ. उ. २६)। व्रग में जलन होती है। इस अवस्था को आजकल Abrasion कहते हैं। यह व्रण अधिक गम्भीर नहीं होता, यह सुश्रुतादि द्वारा वर्णित चिकित्सा क्रम से भी सिद्ध होता है। यथा—**घृष्टे रुजो निगृह्याशु चूर्णैरुपचरेद् व्रणम्।** (सु. चि. २)। यह गम्भीर होने पर क्षतव्रण (Lacerated wound) कहलाता है जिसका पहले वर्णन हो चुका है।

सशल्यव्रणस्य कोष्ठगतशल्यतालक्षणानि वर्णयति—

श्यावं सशोथं पिडकाचितं च मुहुर्मुहुः शोणितवाहिनं च।
मृदूद्गतं बुद्बुदतुल्यमांसं व्रणं सशल्यं सरुजं वदन्ति ॥ १५ ॥
त्वचोऽतीत्य सिरादीन् भित्त्वा वा परिहृत्य वा।

कोष्ठे प्रतिष्ठितं शल्यं कुर्यादुक्तानुपद्रवान् ॥१६॥ (सु. चि. २)

रक्त-श्वेतवर्ण के शोथयुक्त, पिडकाओं से व्याप्त बार-बार रक्तस्राव करानेवाले, कोमल उठे हुए बुद्बुद् के समान मांस वाले पीडायुक्त व्रण को देखकर समझना चाहिये कि इसमें शल्य उपस्थित है। त्वचा के सातों स्तरों को पार कर सिरा, मांस, स्नायु, अस्थि और सन्धियों का भेदन कर या नष्ट कर कोष्ठ में पहुँचा हुआ शल्य यदि न निकले तो प्रनष्टशल्यविज्ञानीय अध्याय में कहे गये आटोप, आनाह आदि उपद्रवों को करता है[1] ॥ १५-१६ ॥

कोष्ठभेदमाह—त्वच इत्यादि। त्वच इति सप्त त्वचः। सिरादीनीति मांसस्नाय्वस्थिसन्धीनि। परिहृत्य वेति परिहारपक्षेऽपि कोष्ठभेदस्य संगतत्वात्; सिराव्यधलिङ्गं चात्रैव 'सुरेन्द्रगोपप्रतिमम्'—इत्यादिना व्यक्तीभविष्यति। उक्तानिति प्रनष्टशल्यविज्ञानीये। तत्र ह्युक्तं,—'कोष्ठगते त्वाटोपानाहौ मूत्रपुरीषाहारदर्शनं व्रणमुखाद्भवति' (सु. सू. २६) इति ॥

कोष्ठगतशल्यस्यासाध्यलक्षणानि दर्शयति—

तत्रान्तर्लोहितं पाण्डुशीतपादकराननम् ।
शीतोच्छ्वासं रक्तनेत्रमानद्धं च विवर्जयेत् ॥ १७ ॥

जिस रोगी के कोष्ठ में रक्त भरा हुआ है, जिसके हाथ, पैर और मुख पीले और ठण्डे पड़ गये हैं, जिसको ठण्डा श्वास आता है तथा जिसके नेत्र लाल हो गये हैं और जो आनाह से पीडित है उसे असाध्य समझना चाहिये ॥ १७ ॥

असाध्यकोष्ठभेदलिङ्गमाह—तत्रेत्यादि। तत्र कोष्ठे। अन्तर्लोहितमिति अभ्यन्तरस्थितरक्तम्, अनिःसृतरक्तमिति यावत्। आनद्धमित्यानाहवन्तम् ॥ १७ ॥

विमर्श—आभ्यन्तर अवयवों में रक्तस्राव (Internal Haemorhage) होने पर यही लक्षण अर्वाचीन शास्त्रों में भी वर्णित है।

मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिगतक्षतानां सामान्यलक्षणमाह—

भ्रमः प्रलापः पतनं प्रमोहो विचेष्टनं ग्लानिरथोष्णता च ।
स्रस्ताङ्गता मूर्च्छनमूर्ध्ववातस्तीव्रा रुजो वातकृताश्च तास्ताः ॥ १८ ॥
मांसोदकाभं रुधिरं च गच्छेत् सर्वेन्द्रियार्थोपरमस्तथैव ।
दशार्धसंख्येष्वथ विक्षतेषु सामान्यतो मर्मसु लिङ्गमुक्तम् ॥ १९ ॥

मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि और सन्धिगत इन पाँचों प्रकार के मर्मों में होने वाले व्रणों में निम्न लक्षण होते हैं—भ्रम, प्रलाप, भूमि पर गिरना, मूर्च्छा, हाथ-पैर आदि अंगों से विरुद्ध चेष्टा करना (आक्षेपण), बल का क्षय, शरीर में उष्णता, अंगों में शिथिलता, इन्द्रियों की क्रियाशून्यता, ऊर्ध्ववात, एवं वातजन्य विभिन्न प्रकार की तीव्र वेदनायें होती हैं और मांस के धोवनसदृश रक्त का स्राव होता है। सम्पूर्ण इन्द्रियाँ अपना कार्य करने में असमर्थ हो जाती हैं ॥ १८-१९ ॥

मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिमर्मसु पञ्चसु क्षतेषु सामान्यलिङ्गमाह—भ्रम इत्यादि। विचेष्टनं विरुद्धचेष्टनं करचरणादिक्षेपादिकम्। ग्लानिर्बलक्षयः। स्रस्ताङ्गता अङ्गसन्धिविस्रंसवद्व्यथा। मूर्च्छनमिन्द्रियमोहः। इन्द्रियार्थोपरम इन्द्रियाणां स्वविषयेषु रूपादिषु उपरमो ग्रहणाशक्तिः। दशार्धसंख्येषु पञ्चसु ॥ १८-१९ ॥

---

१. कोष्ठगते त्वाटोपानाहौ मूत्रपुरीषाहारदर्शनं च व्रणमुखाद् भवति (सु. सू. २६)।

मर्मरहितानां सिरादीनां विद्धलक्षणमाह—

सुरेन्द्रगोपप्रतिमं प्रभूतं रक्तं स्रवेत्तत्क्षतजश्च वायुः ।
करोति रोगान्विविधान्यथोक्तान् सिरासु विद्धास्वथ वा क्षतासु ॥२०॥
कौब्ज्यं शरीरावयवावसादः क्रियास्वशक्तिस्तुमुला रुजश्च ।
चिराद्व्रणो रोहति यस्य चापि तं स्नायुविद्धं पुरुषं व्यवस्येत् ॥ २१ ॥
शोषाभिवृद्धिस्तुमुला रुजश्च बलक्षयः सर्वत एव शोथः ।
क्षतेषु सन्धिष्वचलाचलेषु स्यात् सर्वकर्मोपरमश्च लिङ्गम् ॥ २२ ॥
घोरा रुजो यस्य निशादिनेषु सर्वास्ववस्थासु च नैति शान्तिम् ।
भिषग्विपश्चिद्विदितार्थसूत्रस्तमस्थिविद्धं पुरुषं व्यवस्येत् ॥ २३ ॥

सिराओं के विद्ध या क्षत होने पर बीरबहूटी नामक लाल रंग के कीड़े के समान अत्यधिक रक्तस्राव होता है, क्षत (धातुनाश) से उत्पन्न हुआ वायु विविध प्रकार के विकारों को उत्पन्न करता है[1] । कुबड़ापन, शरीर के अंगों में अवसाद, क्रिया करने में असमर्थता, भयङ्कर पीडा तथा विलम्ब से व्रणरोपण ये लक्षण स्नायुविद्ध पुरुष में होते हैं । चल या अचल सन्धियों में क्षत होने पर शोथ की वृद्धि, तीव्र पीडा, बलहानि, सन्धि के चारों ओर शोथ तथा क्रियाओं का पूर्ण अभाव ये लक्षण होते हैं । जिसको दिन-रात भयङ्कर पीडा हो जो किसी भी अवस्था में शान्त न हो ऐसे रोगी को शास्त्रवेत्ता विद्वान् वैद्य अस्थिविद्धव्रण से पीडित समझे ॥ २०-२३ ॥

सिरादयो मर्मरूपाश्च सन्ति, तत्र पूर्वं मर्मरहितानां सिरादीनां विद्धलिङ्गमाह-सुरेन्द्रगोपेत्यादि । यथोक्तानिति शोणितवर्णनीयोक्तान् । तथा चोक्तं-'तदतिप्रवृत्तं शिरोऽभितापमान्ध्यमाक्षेपादींश्च करोति' (सु. सू. १४) इति । विद्धासु बाणादिना । क्षतासु खड्गादिना । कौब्ज्यं कुब्जता । तुमुला गहनाः । सन्धिष्वचलाचलेष्विति अचलेषु, निश्चेष्टेषु, चलेषु चेष्टावत्सु, सन्धयश्चलाचलभेदेन द्विविधाः । तथा च सुश्रुतः-'शाखासु हन्वोः कट्यां च चेष्टावन्तश्च सन्धयः । शेषास्तु सन्धयः सर्वे विज्ञातव्याः स्थिरा बुधैः' (सु. शा. ५) इति ।

विमर्श—रक्त का अधिक स्राव होने से वायु का प्रकोप हो जाता है **'धातुक्षयात् स्रुते रक्ते मन्दः संजायतेऽनलः । पवनश्च परं कोपं याति………**

कौब्ज्य—जिस अंग की स्नायु का वेधन होगा उसी अंग में वक्रता आ जाती है ।

क्रियास्वशक्तिः—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण तथा गमन ये क्रियायें अस्थि-कण्डराओं के आधीन हैं, उनमें क्षत होने से क्रियायें नहीं हो पातीं ।

मर्मरहितानां सिरादीनां विद्धलक्षणमभिधाय सिरादिमर्मविद्धलिङ्गमतिदेशयन्नाह—

यथास्वमेतानि विभावयेच्च लिङ्गानि मर्मस्वभिताडितेषु ।

मर्म स्थानों के अभिघात में उपर्युक्त लक्षण स्थान के अनुसार समझने चाहिये । तात्पर्य यह है कि जो लक्षण ऊपर के श्लोकों में सिरादि-वेध के बताये हैं वे ही सिराममर्म, स्नायुमर्म,

---

१. अत्यधिक रक्तस्राव के लक्षण सुश्रुत ने ये बताये हैं—तदतिप्रवृत्तं शिरोऽभितापमान्ध्यमाक्षेपादींश्च करोति' (सु. सू. अ. ६४)

सन्धिमर्म तथा अस्थिमर्म के अभिघात में होंगे साथ में भ्रम, प्रलाप आदि मर्म-सामान्यगत क्षत के लक्षण भी होंगे ॥

यथास्वमेतानीत्यादि। विभावयेच्चेति चकारो भिन्नक्रमे; तेन एतानि लिङ्गानि तथा सामान्यलिङ्गानि च जानीयादित्यर्थः ॥—

मांसमर्मणो विद्धलक्षणमाह—

पाण्डुर्विवर्णः स्पृशितं न वेत्ति यो मांसमर्मण्यभिपीडितः स्यात् ॥२४॥

(सु. सू. २५)

मांसमर्म के वेध होने पर रोगी पाण्डुवर्ण अथवा विवर्ण (Discolourised) हो जाता है और वह स्पर्श का ज्ञान नहीं कर सकता ॥ २४ ॥

अनुक्तमांसमर्मणो विद्धस्य लिङ्गमाह–पाण्डुर्विवर्ण इत्यादि। ननु, सिरादिविद्धलिङ्गवत् मांसविद्धलिङ्गमपि पूर्वं कुतो नोपदिष्टम् ? उच्यते, केवलमांसविद्धस्याबहुव्यापत्करत्वात् पूर्वमनुपादानम् ॥ २४ ॥

सर्वेषां व्रणानामुपद्रवान् वर्णयति—

विसर्पः पक्षघातश्च सिरास्तम्भोऽपतानकः ।
मोहोन्मादव्रणरुजो ज्वरस्तृष्णा हनुग्रहः ॥ २५ ॥
कासश्छर्दिरतीसारो हिक्का श्वासः सवेपथुः ।
षोडशोपद्रवाः प्रोक्ता व्रणानां व्रणचिन्तकैः ॥ २६ ॥ (च.चि. १३)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने सद्योव्रणनिदानं समाप्तम् ॥ ४३ ॥

विसर्प (Erysipelas), पक्षघात, सिराओं में जकड़ाहट, अपतानक, मूर्च्छा, उन्माद, व्रण की विभिन्न वेदनायें, ज्वर, प्यास, हनुग्रह, खाँसी, वमन, अतिसार, हिचकी, श्वास तथा कम्पन इन सोलह को व्रण विषय के विद्वानों ने व्रण का उपद्रव माना है ॥ २५–२६ ॥

सर्वव्रणानामुपद्रवानाह—विसर्प इत्यादि ॥ २५–२६ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां सद्योव्रणनिदानं समाप्तम् ॥ ४३ ॥

विमर्श—इनमें से कुछ उपद्रव अवान्तर उपसर्गजनित होते हैं जैसे विसर्प, अपतानक और हनुग्रह। तथा कुछ धातुक्षय, दौर्बल्य, पूयविषसञ्चार आदि के कारण होते हैं।

समाप्तं चेदं सद्योव्रणनिदानम् ॥ ४३ ॥

अथ भग्ननिदानम्

भग्नस्य द्वैविध्यं प्रतिपाद्य सन्धिभग्नस्य प्रकारान् निरूपयति—

भग्नं समासाद् द्विविधं हुताश ! काण्डे च सन्धौ च हि तत्र सन्धौ ।
उत्पिष्टविश्लिष्टविवर्तितं च तिर्यग्गतं क्षिप्तमधश्च षट्[1] च ॥ १ ॥

हे हुताश ! (अग्निवेश !) संक्षेप में भग्न के काण्डभग्न और सन्धिभग्न ये दो भेद होते हैं। उत्पिष्ट, विश्लिष्ट, विवर्तित, तिर्यक् क्षिप्त, क्षिप्त और अधःक्षिप्त ये सन्धिभग्न के छ प्रकार हैं ॥ १ ॥

---

१. 'षोढा' इति पा०।

आगन्तुसामान्याद्भग्ननिदानम्। द्विविधं हि भग्नं सव्रणमव्रणं च, तत्र सव्रणमभिधायाव्रणमाह—भग्नं समासादित्यादि। हुताश इति अग्निवेशसंबोधनं, चरके हुताशशब्देनाग्निवेशोऽभिधीयते, एकदेशेनापि समुदायप्रतीतेः। काण्डे च सन्धौ चेति सन्धिविच्छिन्नमेकं, द्वितीयं काण्डभग्नं; काण्डमस्थिकाण्डः, काण्डेन च नलककपालवलयतरुणरुचकानां ग्रहः, तत्र भग्नं काण्डे भग्नं; द्वयोरस्थ्नोः सन्धानं सन्धिः, तद्विश्लेषः सन्धिमुक्तम्। तत्र सन्धाविति। सन्धौ मुक्ते 'लिङ्गमभिधीयते' इति शेषः। ननु कथं सन्धिमुक्तं भग्नमुच्यते? अस्थ्नां हि भङ्गो युक्तः। उच्यते, अस्थिविश्लेषोऽत्र भङ्गोऽभिप्रेतः, स च काण्डभग्ने सन्धिमुक्ते चास्तीति न दोषः॥ १॥

विमर्श—साधारणतया भग्न से अस्थिभग्न (Fracture) का बोध होता है किन्तु यहाँ भग्न प्रकरण में अस्थिभग्न (Fracture) तथा सन्धिभग्न (Dislocation) इन दोनों प्रकार के भग्नों का वर्णन किया जायगा। इस प्रकार भग्न की आयुर्वेदीय परिभाषा निम्न रीति से की जा सकती है—अस्थि या अस्थियों का अपनी प्रकृत अवस्था में न रहना ही भग्न है। यह दो प्रकार का होता है—

(१) काण्डभग्न या अस्थि भग्न (Fracture)

(२) सन्धिभग्न (Dislocation)

पहले प्रकार में अस्थि टूट कर अपनी स्वाभाविक अवस्था में नहीं रह पाती। दूसरे प्रकार में अस्थि का एक सिरा जो दूसरी अस्थि के सिरे से लगा रहता है अपने स्थान से हट जाता है, इस प्रकार वह भी अपनी प्रकृत अवस्था को नष्ट कर देता है।

माधव के अनुसार प्रथम सन्धिभग्न (Dislocation) का ही वर्णन करना अभीष्ट है।

सन्धिभग्न (Dislocation)—

परिभाषा—'सन्धिनिर्मापक अस्थिभागों की स्थानच्युति ही सन्धिभग्न है। Dislocation is a condition of displacement of the ends of the bones which enter into the formation of a joint.'

अस्थियों के मिलने के स्थान को सन्धि कहते हैं। ये दो प्रकार की होती हैं—

(१) गतिशील (Movable) इनमें गति होती है—यथा स्कन्धसन्धि (Shoulder joint), श्रोणिसन्धि (Hip joint), कूर्परसन्धि (Elbow joint) तथा जानुसन्धि (Knee joint) इत्यादि।

(२) गतिविहीन (Immovable) यथा—शीर्षास्थिसन्धि, भगास्थिसन्धि (Symphysis pubis) तथा गुदास्थि-सन्धि (Sacrococcygeal joint) भी गतिविहीन सन्धियों में ही मानी जाती है, किन्तु प्रसव के समय एवं सद्यः प्रसवोत्तर काल में ये भी गतियुक्त (Movable) ही रहती हैं।

सन्धि की सामान्य रचना—

(१) **अस्थि भाग**—इनके मिलने से ही सन्धि बनती है।

(२) **संयोजकतरुणास्थि**—(Articular cartilage) या संयोजक चक्रिका (Articular disc) यह संयोजन में भाग लेने वाले दोनों ओर की अस्थियों के सिरों पर लगी रहती है।

(३) **श्लेष्मलकला** (Synovial membrane)—यह एक पतली सी झिल्ली है जो संयोजक तरुणास्थि पर चढ़ी रहती है। इससे एक प्रकार के पिच्छिल तरल का स्राव होता रहता है जो सन्धि में मशीन के तेल का काम करता है। इससे अस्थिभाग और संयोजक तरुणास्थि पर गतिजनित रगड़ का प्रभाव नहीं होता।

(४) **संयोजककोष** (Articular capsule)—यह एक कड़ा आवरण है जो सन्धिस्थान को चारों ओर से ढँके रहता है। इसके कारण किसी प्रकार का उपसर्ग बाहर से सन्धिगुहा (joint cavity) में नहीं पहुँच पाता।

(५) **स्नायु** (Ligaments) ये बन्धन हैं जो सन्धि को दृढ़ एवं स्थिर बनाते हैं।

(६) **पेशी** (Muscles) और कण्डराएँ (Tendons)—ये सन्धि को सुदृढ़ बनाने और गतिप्रदान करने में सहायक हैं।

सन्धिविश्लेष या सन्धिभग्न के कारण—

(१) **प्रधान कारण**—क—आघात, ख—पतन, ग—पीडन (मरोड़ना)।

(२) **सहायक कारण**—क—स्नायु की स्वाभाविक दुर्बलता, ख—पेशियों की दुर्बलता।

सन्धिभग्न (विश्लेष) के प्रकार—

(१) **उत्पिष्ट** (Farcture dislocation)—इस अवस्था में सन्धिविश्लेष के साथ-साथ भग्न (Fracture) भी हो जाता है। अथवा श्रीकण्ठदत्त के **'उत्पिष्टं द्वाभ्यामस्थिभ्यां सन्धौ घर्षणम्'** इस वर्णन के अनुसार संधि में भाग लेनेवाली अस्थियों के सिरों का संयोजक तरुणास्थि या चक्रिका के नष्ट हो जाने से आपस में रगड़ होना ही उत्पिष्ट भग्न कहलाता है।

(२) **विश्लिष्ट**—(Subluxation or incomplete dislocation)—इस अवस्था में वस्तुतः अस्थि अपने स्थान से नहीं हटती अपि तु मांसपेशी और स्नायु के खिंचाव से अस्थियाँ भी कुछ खिंच जाती हैं, वे सन्धिगुहा (Joint cavity) से बाहर नहीं निकलतीं।

(३) **विवर्तित** (Lateral displacement)—सन्धिविश्लेप होने पर अस्थि दायें या बायें बाहर की ओर को हट जाती है।

(४) **तिर्यग्गत या तिर्यक्क्षिप्त** (Complete dislocation)—सन्धिविश्लेष पूर्ण होता है।

(५) **क्षिप्त या अतिक्षिप्त** (Complicated dislocation)—इस अवस्था में मांस, सिरा आदि को भी क्षति पहुँचती है तथा सन्धिगत अस्थियाँ एक दूसरे पर चढ़ जाती हैं।

(६) **अधःक्षिप्त या अवक्षिप्त** (Downward displacement)—सन्धिविश्लेष होने पर नीचे की अस्थि का सिरा बहुत नीचे हट जाता है।

इनके अतिरिक्त प्रकारान्तर से सन्धिभग्न के दो भेद और होते हैं—

(१) सव्रण—Compound. (२) अव्रण—Simple पहले में व्रण उत्पन्न होने से सन्धि का सम्बन्ध साक्षात् वायु से हो जाता है। इससे उसमें उपसर्ग होने का भय रहता है।

सन्धिभग्नस्य सामान्यलक्षणान्याह—

प्रसारणाकुञ्चनवर्तनोग्रा रुक् स्पर्शविद्वेषणमेतदुक्तम्।
सामान्यतः सन्धिगतस्य लिङ्गम्—

फैलाने, सिकोड़ने तथा घुमाने (या स्थिर रहने) में तीव्र पीडा तथा स्पर्शासहता ये संधिभग्न के सामान्य लक्षण हैं।

सन्धिभग्नस्य सामान्यलिङ्गमाह—प्रसारणेत्यादि। प्रसारणाकुञ्चनवर्तनोग्रा रुगिति। प्रसारणादिषु उग्रा रुक्। वर्तनं निष्क्रियतयाऽवस्थानम्॥

विमर्श—जिस सन्धि का विश्लेष हुआ है वह किसी भी प्रकार की क्रिया करने में पूर्णतया असमर्थ रहती है। इन लक्षणों के अतिरिक्त निम्नलक्षण भी पाये जाते हैं—

(१) अंग के आकार की विकृति (Deformity) (२) सन्धिस्थान पर गड्ढा बन जाता है।
(३) अन्यत्र अप्राकृत उभार दिखाई पड़ता है। (४) शोथ।

(५) पीडा यह भग्न की अपेक्षा अधिक होती है । (६) स्तब्धता (Shock)

विशेषसन्धिविश्लेष व उनके लक्षण—

हनुसन्धिविश्लेष (Dislocation of tempromandibular joint)—

कारण—(१) मुख खुला रहने पर चिबुक पर आघात लगाना ।

(२) स्नायु (Ligament) की स्वाभाविक दुर्बलता ।

(३) मुख को अधिक फाड़कर जिह्वा-निर्लेखन करना ।

(४) शुष्क और कड़े पदार्थों का अधिक सेवन ।

इसका वर्णन पीछे वातव्याधि निदान में हनुग्रह के नाम से किया जा चुका है—

जिह्वानिर्लेखनाच्छुष्कभक्षणादभिघाततः । कुपितो हनुमूलस्थः स्रंसयित्वाऽनिलो हनू ॥

इसके दो रूप हैं—

करोति विवृतास्यत्वमथवा संवृतास्यताम् । हनुग्रहः स तेन स्यात् कृच्छ्राच्चर्वणभाषणम् ॥

१-विवृतास्यता—मुख का खुला रह जाना । यह अवस्था हनुकूट के पुरोविश्लेष (Anterior displacement) से होती है ।

२-संवृतास्यता—मुख का पूर्णतया बन्द हो जाना यह अवस्था उसके पश्चात् विश्लेष (Posterior displacement) से होता है । इन दोनों प्रकारों में विवृतास्यता अधिक होती है ।

लक्षण—(१) उपर्युक्त दो (विवृत और संवृतास्यता) इसके मुख्य लक्षण हैं—

विश्लेष की अवस्था के अनुसार मुख खुला या बन्द रह जायगा ।

(२) सन्धिस्थल पर गड्ढा बन जाता है ।

(३) चर्वण और भाषण में कठिनाई होती है ।

अक्षकास्थिविश्लेष (Displacement of clavicular joint)—

(१) वक्षकीय भाग का विश्लेष—(Displacement of sterno-clavicular joint)

यह बहुत कम होता है । अक्षक के पार्श्वीय भाग में सामने से आघात लगने पर वक्षीय भाग का विश्लेष सामने की ओर हो जाता है ।

(२) अंसभाग का विश्लेष (Displacement of coraco-clavicular jont)—

पीछे से आघात लगने अथवा कन्धे के बाह्य भाग के बल गिरने से इस सन्धि का विश्लेष होता है । इससे अंसफलक (Scapula) नीचे की ओर और अक्षक ऊपर की ओर सरक जाता है ।

अंससन्धि का विश्लेष—(Dislocation of the shoulder joint)

इस सन्धि का विश्लेष बहुत अधिक होता है । बच्चों में विशेष पाया जाता है । इसके निम्न कारण हैं—

(१) **प्रधान कारण**—आघात या झटका । बच्चों की बाहु पकड़ कर एक दम ऊपर उठाना ।

(२) सहायक या स्वाभाविक कारण—

(क) अंसपीठ की गहराई का कम होना (Shallow glenoid cavity)

(ख) प्रगण्डास्थि के सिर का बड़ा होना ।

(ग) सन्धिकोष (Articular capsule) नीचे के भाग में दुर्बल और ढीला होता है । प्रगण्डास्थि का सिर इसे फाड़कर सामने या पीछे की ओर निकल जाता है ।

लक्षण—(१) प्रगण्डास्थि के सिर (Head of the humerus) की अन्यत्र प्रतीति ।

(२) अंस का लटक जाना ।

(३) रोगी विकृत हाथ से दूसरी ओर के कन्धे को नहीं छू सकता ।

(४) सन्धिस्थान में तीव्र पीडा व स्पर्शासहता ।

(५) यदि अस्थि-सिर अंसपीठ (Glenoid cavity) के नीचे आ गया है तो बाहु लम्बी हो जायगी।

कूर्पर-सन्धिविश्लेष (Dislocation of elbow joint)—

यह बहुत कम होता है—स्थानच्युति के अनुसार इसके तीन भेद हैं—

(१) पुरोविश्लेष (Anterior displacement) कुहनी के बल गिरना तथा अग्रबाहु (Forarm) की आकुञ्चित अवस्था में कुहनी पर पीछे से आघात लगने से यह विश्लेष होता है। इससे कूर्परकूट (Olecranon process) नीचे और आगे की ओर चला जाता है। कभी-कभी त्रिशिरस्का पेशी (जिसका इस पर निवेश है) के कर्षण से कूर्परकूट का भग्न भी हो जाता है। यदि भग्न नहीं हुआ है तो पेशीसूत्र का क्षत होने से उपर्युक्त स्थानच्युति होती है।

लक्षण—(क) अग्रबाहु की लम्बाई अधिक हो जाती है।

(ख) कुहनी पीछे चपटी हो जाती है।

(२) पश्चाद्विश्लेष (Posterior displacement) अधिकतर यही होता है। इसके निम्न कारण हैं—

(क) हाथ के बल गिरने से सन्धि का अतिप्रसार।

(ख) प्रगण्डास्थि के निम्न भाग पर पीछे से आघात।

इन कारणों से कूर्परकूट कूर्परखात से निकल कर पीछे ऊपर की ओर चढ़ जाता है। इससे कूर्पर प्रदेश में अत्यधिक उभार प्रतीत होता है।

(३) बहिःप्रकोष्ठास्थि (Radius) विश्लेष—हाथ के बल गिरना तथा कूर्पर पर आघात ये इसके कारण हैं। प्रगण्डास्थि के नीचे के भाग में सामने की ओर उभार प्रतीत होता है।

मणिबन्ध-विश्लेष (Dislocation of the wrist joint) इसके भी दो भेद हैं—

(१) पुरोविश्लेष (Anteri r displacemant —यह हाथ के पीछे मुड़े रहने पर मणिबन्ध पर आघात लगने से होता है। इससे मणिबन्ध की अस्थियाँ आगे की ओर उभर आती हैं और हाथ आगे की ओर को लटक जाता है।

(२) पश्चाद् विश्लेष (Posterior displacement)—यह मणिबन्ध पर तीव्र आघात लगने से होता है। इससे मणिबन्ध की अस्थियाँ पीछे चली जाती हैं और सामने प्रकोष्ठास्थियों के उभार दिखाई पड़ते हैं।

श्रोणिसन्धि (Hip joint) का विश्लेष—

शरीर में यह सबसे बड़ी और दृढ़ सन्धि है। इसका विश्लेषण कम होता है। इसके दो भेद हैं—

(१) पुरोविश्लेष (Anterior displacement)

(२) पश्चाद्विश्लेष (Posterior ")

पुरोविश्लेष—टाँगें फैलाकर और झुककर खड़े होने पर यदि पीठ पर कोई भार गिर पड़े तो यह विश्लेष होता है। इसकी दो दिशायें हो सकती हैं—

obturator (१) **गवाक्षविश्लेष**—ऊर्वस्थि का सिर सन्धिकोष (Capsule) को फाड़कर नीचे और सामने की ओर गवाक्ष (Obturator foramen) के पास पहुँच जाता है। इसके निम्न लक्षण होते हैं—

(क) नितम्ब में गढा बन जाता है। (ख) ऊरु की लम्बाई बढ़ जाती है।

(ग) ऊरु (जांघ) बाहर की ओर मुड़ जाता है। (घ) पाँव की एड़ी उठी हुई और पीछे हो जाती है।

(२) भगास्थि-विश्लेष (Pubic dislocation) इसमें ऊर्वस्थि का सिर और भी आगे बढ़कर भगास्थि के समीप पहुँच जाता है। इससे ये लक्षण होते हैं—

(क) अंग की लम्बाई कम हो जाती है।

(ख) ऊरुभाग सामने की ओर को झुका हुआ और बाहर को घूमा रहता है।

पश्चाद्विश्लेष—(Posterior displacement)—

ऊँचे स्थान से नितम्ब के बल गिरने तथा आगे झुक कर खड़े होने पर पीठ पर आघात लगने से इस प्रकार का विश्लेष होता है। विश्लेष की श्रेणी के अनुसार इसके दो भेद हैं—

(१) जघनास्थि विश्लेष (Illiac dislocation) इसमें ऊर्वस्थि का सिर ऊपर चढ़ कर जघनास्थि के पास पहुँच जाता है। फिर सिर नीचे मुड़ जाता है और दोनों शिखरक (Greater and lesser trochanters) सामने की ओर आ जाते हैं। इस स्थानच्युति के परिणामस्वरूप निम्न लक्षण होते हैं—

(क) विकृत ऊरु स्वस्थ ऊरु की ओर खिंच जाता है।

(ख) ऊपर और भीतर की ओर को घूम जाता है।

(ग) लम्बाई कम हो जाती है।

(घ) विकृत पाँव का अँगूठा दूसरे पैर के पृष्ठ पर चढ़ जाता है।

(२) गृध्रसीद्वार विश्लेष (Sciatic dislocation)—इसमें ऊर्वस्थि का सिर गृध्रसीद्वार पर ही रुक जाता है। लक्षण पूर्ववत् ही होते हैं। ऊरु की लम्बाई पूर्व की अपेक्षा कुछ अधिक रहेगी।

जान्वस्थिविश्लेष (Dislocation of Patella)—यह बहुत कम होता है। इसका कारण पार्श्व से आघात लगना है। बाहर, भीतर या नीचे की ओर को जानुकपालकी स्थानच्युति होती है।

जानुसन्धिविश्लेष (Dislocation of the knee joint)—यहाँ की स्नायु (Ligaments) बहुत दृढ होते हैं अतः यह बहुत कम होता है। पीछे से तीव्र आघात लगने पर जंघास्थि जान्वस्थि सहित आगे को हट जाती है।

लक्षण—(१) ऊपर की ओर गढा बन जाता है।

(२) पीछे ऊर्ध्वस्थि के अर्बुदों के उभार प्रतीत होते हैं।

(३) कभी-कभी त्वग्विदारण भी हो जाता है।

गुल्फसन्धि का विश्लेष (Dislocation of the ankle joint)—

पैर सामने की ओर अधिक मुड़ जाने से पीछे के दोनों बन्धन (Ligaments) टूट जाते हैं जिससे निम्न लक्षण होते हैं—

(१) पाँव की लम्बाई कम हो जाती है। (२) गुल्फ सामने उभर आते हैं।

(३) पर्ष्णि (Calcaneous) पीछे बढ़ी रहती है।

यदि पैर नीचे की ओर मुड़ा है तो विश्लेष सामने की ओर होता है और उसके निम्न लक्षण हैं—

(१) एड़ी की ऊँचाई कम हो जाती है। (२) पैर की लम्बाई बढ़ जाती है।

(३) कूर्चशिर आगे आ जाता है। (४) गुल्फास्थियाँ पीछे हट जाती हैं।

उत्पिष्टादिविशेषसन्धिविश्लेषमाह—

—उत्पिष्टसन्धेः श्वयथुः समन्तात् ॥ २ ॥

विशेषतो रात्रिभवा रुजा च विश्लिष्टजे तौ च रुजा च नित्यम्।

विवर्तिते पार्श्वरुजश्च तीव्रास्तिर्यग्गते तीव्ररुजो भवन्ति ॥ ३ ॥

क्षिप्तेऽति शूलं विषमत्वमस्थ्नोः क्षिप्ते त्वधो रुग्विघटश्च सन्धेः ।

उत्पिष्ट नामक सन्धिविश्लेष में सन्धि के चारों ओर सूजन तथा रात्रि में विशेष वेदना होती है। विश्लिष्ट में पूर्वोक्त दोनों लक्षण तथा सदा पीडा की उपस्थिति रहती है (किन्तु शोथ कम होता है)। विवर्तित में सन्धिपार्श्वों में तीव्र पीडा होती है। तिर्यक् क्षिप्त में भी तीव्र पीडा होती है। अतिक्षिप्त में दोनों अस्थियाँ एक दूसरे पर चढ़ जाने से वैषम्य और शूल होता है। अधःक्षिप्त में तीव्र पीडा होती है और अस्थियाँ दूर हो जाती हैं ॥ २-३ ॥

उत्पिष्टादिलिङ्गमाह—उत्पिष्टसन्धेरित्यादि। उत्पिष्टं द्वाभ्यामस्थिभ्यां सन्धौ घर्षणम्। श्वयथुः समन्तादिति। उभयभागे शोथः, उभयतः सन्ध्यस्थ्नोर्घर्षितत्वात्। विशेषतो रात्रिभवा रुजा चेति। अभिघातकुपित एव रात्रौ शैत्येनात्यन्तं वृद्धो वायुः रुजां करोति। अत्र चूर्णितत्वेन मार्गावरणाद्वातकोप इत्यर्थः। विश्लिष्टज इति। विश्लिष्टजाते सन्धिमुक्ते, विश्लिष्टं मनाक् सन्धिविश्लेषः शिथिलतामात्रं, विश्लिष्टमिति भावे क्तः। तौ चेति। विश्लिष्टे रात्रिरुजासमन्ताच्छोथौ; समन्ताच्छोथोऽप्यत्राल्पो बोध्यः, सन्धेरनभि(ति)घातात्। सन्धिविक्रियया अस्थ्नोरपसृतत्वान्मध्यनिम्नत्वम्, 'उत्पिष्टमथ विश्लिष्टं सन्धिं वैद्यो न घट्टयेत्' (सु. चि. स्था. २) इति वचनात्; मनाग्विक्रियया वा। रुजा च नित्यमिति। सर्वदा रुजा बलवती भवतीत्युत्पिष्टाद्विशेषः। विवर्तिते इति। 'सन्धौ' इति शेषः, विवर्तिते विपरीतं वर्तिते, विवर्तनं सन्धौ द्वयोरस्थ्नोर्विवृतिर्विभ्रमणमनार्जवता। पार्श्वरुजश्च तीव्रा इति। आभ्यन्तरसन्धिस्थानयोः पार्श्वसन्ध्यस्थ्नोः पार्श्वगमनत्वात्तीव्राः पार्श्वरुजः। तिर्यग्गत इति। तिर्यक्क्षिप्ते। अत्र ह्येकं सन्ध्यस्थि सस्थिस्थानं त्यक्त्वा तिर्यग्याति। क्षिप्तेऽतीति। अतिक्षिप्ते; 'ऊर्ध्वम्' इति शेषः। अत्र ह्येकास्थिविक्रियया उभयास्थिविक्रियया वा द्वयोरप्यस्थ्नोः परस्परातिक्रमणं दूरगमनं वा; विश्लिष्टे तु मनाक् शिथिलतामात्रम्; अधःक्षिप्ते तु किञ्चिदधोगमनमिति विशेषः। 'विषमाश्च सक्थ्नोः' इति पाठे तु 'रुज' इति शेषः। क्षिप्ते त्वधोरुग्विघटश्च सन्धेरिति। अधःक्षिप्ते रुक् रुजा सन्धेर्विघटश्च विघट्टनम् विरुद्धचेष्टा। 'विघटस्य' इति पाठान्तरे विघटितस्य सन्धेरित्यर्थः। अत्र अधोऽस्थिगमनम्। अधः क्षिप्तवदूर्ध्वं क्षिप्तस्याप्यभिधाने प्राप्ते, अनुक्तिरतिक्षिप्तेऽवरोधात्॥ २-३ ॥

विमर्श—इन भेदों का अर्वाचीन स्पष्टीकरण पहले श्लोक की व्याख्या में विशदरूप में वर्णित है।

काण्डभग्नं वर्णयति—

काण्डे त्वतः कर्कटकाश्वकर्णविचूर्णितं पिच्चितमस्थिछल्लिका ॥ ४ ॥
काण्डेषु भग्नं ह्यतिपातितं च मज्जागतं च स्फुटितं च वक्रम् ।
छिन्नं द्विधा द्वादशधाऽपि काण्डे स्रस्ताङ्गता शोथरुजाऽतिवृद्धिः ॥ ५ ॥
सम्पीड्यमाने भवतीह शब्दः स्पर्शासहं स्पन्दनतोदशूलाः ।
सर्वास्ववस्थासु न शर्मलाभो भग्नस्य काण्डे खलु चिह्नमेतत् ॥ ६ ॥

कर्कट, अश्वकर्ण, विचूर्णित, पिच्चित, अस्थिछल्लिका, काण्डभग्न, अतिपातित, मज्जागत, स्फुटित, वक्र, छिन्न (अल्प और बहु विदीर्ण या पाटित) ये बारह काण्डभग्न के भेद हैं। अङ्गों की

---

१. 'विषमा रुगस्थ्नोः' इति पा०। २. 'रात्रिघूर्णितत्वेन' इति क.।

शिथिलता, सूजन, पीडा की वृद्धि, भग्नध्वनि, स्पर्शासहिष्णुता, स्पन्दन, तोद, शूल तथा किसी भी अवस्था में आराम का न मिलना ये भग्न के सामान्य लक्षण हैं ॥ ४-६ ॥

अतः परं काण्डे भग्नमभिधीयते—काण्डे त्वत इत्यादि। काण्डे इत्यत्र भग्नमिति शेषः। अत इति। अतः परम्। कर्कटकेति। उभयोः पार्श्वयोर्निपीडनेनाहतावनतम्, अत एव मध्ये ग्रन्थिरिवोन्नतं, कर्कटतुल्यत्वात् कर्कटकम्। अश्वकर्णेति। अश्वकर्णवत् विपुलास्थिनिर्गमादश्वकर्णम्। विचूर्णितमिति क्षुण्णमस्थि, तच्च शब्दस्पर्शाभ्यामवगन्तव्यम्। पिच्चितमिति यन्त्रितं बहुशोथम्। अस्थिछल्लिकेति। छल्लं वल्कलं तदत्रास्तीत्यस्थिछल्लिका, अत्र मत्वर्थीयष्ठिकन्। अत्र तु आ न भवति, वृद्धेरनित्यत्वात्। एषा पार्श्वगतस्तोकास्थि अवयवविश्लेषाद्भवति। 'अस्थिछल्लितम्' इति वा पाठः। छल्लमस्य सञ्जातमिति छल्लितम्। काण्डेषु भग्नमित्यनेन काण्डभग्नमभिधीयते, प्रसारणे कम्पमानं काण्डभग्नम्। यद्यपि काण्डभग्नं सर्वमेव कर्कटादि, तथाऽपि विशिष्टे काण्डभग्ने काण्डभग्नसंज्ञेयं बोद्धव्या। यथा जाङ्गलशब्दो जाङ्गलाद्यष्टविधमांसवर्गे सामान्ये विशेषे पुनरेणादावेव च वर्तते। अतिपातितमिति अस्थि निःशेषतश्छिन्नमतिपातितम्। मज्जागतमिति अस्थ्यवयवोऽस्थिमध्यमनुप्रविश्य मज्जानं निःसारयतीति मज्जागतम्। स्फुटितं स्तोकं बहुधा विदीर्णं शूकपूर्णमिव वेदनावत्। वक्रमिति अविमुक्तास्थि कुब्जीभूतं वक्रम्। वक्रताऽपि भग्नत्वं ज्ञेयम्। छिन्नं द्विधेति एकमणुविदीर्णं, बहुविदीर्णमन्यत्; एकतरपार्श्वलग्नम् एकं विदीर्णं संलग्नम् अपरं विदीर्णं द्विधाभूतम्; अन्यस्तु विपुलैकविदरणमित्याह; सुश्रुते एतत् पाटितसंज्ञम्। काण्डे भग्नस्य द्वादशविधत्वं नियमयति–काण्ड इति। अत्र भग्नमिति शेषः। अपिशब्दोऽत्र भिन्नक्रमः, स चावधारणार्थं, तेन छिन्नमित्यत्र संबध्यते। छिन्नमेव द्विधा, न कर्कटादि ॥ ४-६ ॥

विमर्श—सामान्यतः अस्थि के टूटने को काण्डभग्न कहते हैं। इसके लिये आजकल फ्रैक्चरी (Fracture) शब्द का व्यवहार किया जाता है। अस्थि के भग्न के एक विशेष प्रकार को भी काण्ड भग्न कहते हैं, जिसका वर्णन आगे किया गया है।

भग्न के कारण—

(१) प्रधान कारण—अभिघात-यह गिरने, दबने आदि से हो सकता है—**पतनपीडनप्रहाराक्षेपणव्यालमृगदशनप्रभृतिभिरभिघातविशेषैरनेकविधमस्थ्नां भङ्गमुपदिशन्ति'**

(सु० नि० १५)

(२) सहायक कारण—(क) **आयु**—साहस का काम करने वालों में अधिक होता है। इस प्रकार यह युवा व्यक्तियों में अधिक पाया जाता है, बालक और वृद्धों में कम, बाल्यावस्था में कोमल होने के कारण अस्थि मुड़ जाती है उसका पूर्ण भग्न नहीं होता। युवाओं में पूर्ण भग्न होता है।

(ख) लिंग (Sex)—पुरुष अधिक साहस के कार्य करते हैं अतः स्त्रियों की अपेक्षा उनमें यह अधिक होता है।

(ग) **रोग**—यथा-फक्क रोग (Ricket), अस्थिभङ्गुरता (Fragilitas ossium), अस्थ्यर्बुद, अस्थिक्षय, पक्षाघात।

भग्न के प्रकार—सर्वप्रथम इसके दो भेद किये जाते हैं—

(१) **साधारण** (Simple) इसे अव्रण भग्न भी कहते हैं। इसमें अस्थि टूट जाती है, किन्तु ऊपर की त्वचा विदीर्ण नहीं होती।

१. अत्र मत्वर्थीयष्ठन् यत्तु गलांशेत्यर्थान्न भवति इति क.। २. बन्धनम् तत् इति क.।
३. विलेशयादौ इति क.।

(२) **संयुक्त** (Compound) इसे सव्रण भग्न भी कहा जाता है। इसमें अस्थि टूटने के साथ-साथ त्वचा भी विदीर्ण हो जाती है और खुला घाव बन जाता है।

प्रकारान्तर से भग्न के पुनः **पूर्ण** (Complete) और **अपूर्ण** (Incomplete) ये दो भेद किये जाते हैं।

पूर्ण भग्न—यह साधारण और संयुक्त दोनों प्रकार के भग्नों में हो सकता है। इसमें अस्थि पूरी तरह से टूट जाती है। पूर्ण भग्न अधिकतर युवा पुरुषों की लम्बी अस्थियों में होते हैं। इसके निम्न भेद हैं—

(१) **काण्डभग्न** (Transverse fracture)—इसमें अस्थि चौड़ाई की दिशा में पूर्णतया टूट जाती है। **'वेल्लते प्रकम्पमानं काण्डभग्नम्'** (सु०) यह हिलाने से काँपता है।

(२) **अश्वकर्ण या तिर्यक्** (Oblique fracture)—इसमें भग्न की रेखा तिरछी होती है। **'अश्वकर्णवदुद्गतमश्वकर्णकम्'** (सु०)।

(३) **अस्थिच्छल्लित** या अनुदैर्घ्यभग्न (Longitudinal fracture) इसमें अस्थि लम्बाई की दिशा में टूटती है। इस प्रकार का भग्न बन्दूक की गोली से होता है। **पार्श्वयोरस्थिहीनोद्गतमस्थिच्छल्लितम्'** (सु०)। मधुकोशकार ने कहा है-**अस्थिछल्लिकेति छल्लं वल्कलं तदत्रास्तीत्यस्थिछल्लिका, एषा पार्श्वगतस्तोकास्थि अवयवविश्लेषाद्भवति'** छल्ल का अर्थ वल्कल है, पेड़ की छाल के समान लम्बाई की दिशा में पार्श्व से अस्थि का टुकड़ा टूट कर अलग हो जाता है।

(४) **चूर्णित भग्न** (Comminuted fracture) इसमें अस्थि छोटे-छोटे टुकड़ों में टूट जाती है। **'स्पृश्यमानं शब्दवच्चूर्णितमवगच्छेत्'** (सु० नि० १५)

(५) **मज्जानुगत भग्न** (Impacted fracture)—कभी-कभी टूटी हुई अस्थि का एक भाग दूसरे भाग में प्रविष्ट हो जाता है। **'अस्थ्यवयवोऽस्थिमध्यमनुप्रविश्य मज्जानमुन्नह्यतीति मज्जानुगतम्'** (सु०)

(६) **पिच्चित भग्न** (Complicated fracture)—कुचलने के कारण हुए भग्न के साथ प्रायः पेशी, रक्तवाहिनी तथा नाडी की भी हानि होती है, उसे पिच्चित भग्न कहते हैं। **'पिच्चितं पृथुलं गतमनल्पशोफम्'।** (सु० नि० १५)

(७) **अतिपातित या बहुभग्न** (Multiple fracture)-कभी-कभी अस्थि अनेक स्थानों से टूट जाती है जिससे बीच का भाग अस्थि से पूर्णतया पृथक् हो जाता है और भग्नास्थि के किनारे एक दूसरे से बहुत दूर हो जाते हैं। **अस्थि निःशेषतश्छिन्नमतिपातितम्** (सु० नि० १५)

अपूर्णभग्न (Incomplete fracture)—इसमें अस्थि पूर्णतया नहीं टूटती इसके निम्न प्रकार हैं—

(क) **वक्र** (Green-stick fracture)—बच्चों की अस्थियाँ बहुत कोमल होती हैं अतः उनमें यह भग्न अधिक होता है। अस्थि हरी छड़ी या दन्तधावन के समान टूटती है। इसका एक पार्श्व टूट जाता है और दूसरा पूरी तरह से जुड़ा रहता है। इसका प्रत्यक्ष हरी टहनी को मोड़ कर किया जा सकता है। **'आभुग्नमविमुक्तास्थि वक्रम्'** (सु०) कुछ मुड़ा हुआ जिसमें अस्थि भाग एक दूसरे से अलग न हो उसे वक्र कहते हैं।

(ख) **अवनतभग्न** (Depressed fracture)—इस प्रकार का भग्न कपालास्थियों में पाया जाता है। अस्थि के दो स्तर होते हैं। इनमें कभी-कभी ऊपर का ही स्तर टूटता है और कभी-कभी अस्थि नीचे को दब जाती है।

(ग) **पाटित या स्फुटित भग्न** (Fissured fracture)—इसमें भी अस्थि पूरी तरह नहीं टूटती उसमें केवल दरारें पड़ जाती हैं। **'पाटितमणुबहुविदारितं वेदनावच्च, शूकपूर्णमिवाध्मातं विपुलं विस्फुटीकृतं स्फुटितमिति'** (सु०)।

(घ) **कर्कटक भग्न** (Subperiosteal fracture)—इसमें केवल अस्थि टूटती है किन्तु अस्थ्यावरण पूर्णतया बच कर भग्न को ढके रहता है। **संमूढमुभयतोऽस्थिमध्येभग्नं ग्रन्थिरिवोन्नतम् कर्कटकम्** (सु. नि. १५)।

(ङ) **छिन्न**—इसमें भी अस्थिका एक पार्श्व टूटने से बचजाता है। **'अन्यतरपार्श्वावशिष्टंछिन्नम्'** माधव और मधुकोषकार ने छिन्न के दो प्रकार **(छिन्नं द्विधेति एकमणुविदीर्णं, बहुविदीर्णमन्यत् एकं विदीर्णं संलग्नम् अपरं द्विधाभूतम्)** बतलाए हैं किन्तु सुश्रुतने बहुविदीर्ण को 'पाटित' संज्ञा दी है। **पाटितमणुबहुविदारितम् वेदनावच्च** (सु. नि. १५), वस्तुतः यह स्फुटित के ही भेद हैं।

भग्न के स्थानीय लक्षण—(१) अभिघात के चिह्न मिल सकते हैं।

(२) शोथ या श्वयथुबाहुल्य (Inflammation)—यह धातुभञ्जन के प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न होता है।

(३) स्पन्दन—रक्तप्रवाह बढ़ जाने के कारण स्पन्दन मिलता है।

(४) स्पर्शासहत्व (Tenderness)

(५) भग्नध्वनि—**'अवपीड्यमाने शब्दः'** (Crepitus) हाथ से पकड़ कर हिलाने से कड़-कड़ ध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है।

(६) विवर्तनासहत्व (घुमाने में कष्ट) (७) वेदना (Pain)

(८) अकर्मण्यता (Loss of function)

(९) स्रस्ताङ्गता-भग्न अङ्ग में शैथिल्य तथा अस्वाभाविक गतियाँ (Abnormal movements)

(१०) लम्बाई में कमी (Shortness of the fractured part)-यह शाखा की अस्थियों में पाया जाता है। परीक्षा करते समय स्वस्थ अङ्ग के साथ भग्न अङ्ग की लम्बाई की तुलना करना आवश्यक है। दोनों अङ्गों के समान स्थानों से लम्बाई नापनी चाहिये।

पीडायुक्त लक्षण वातनाडियों पर दबाव पड़ने से होते हैं।

सार्वदेहिक लक्षण या उपद्रव—

(१) **स्तब्धता या घात** (Shock)—इसके कारण रोगी के सर्वांग में शीतस्वेद की प्रवृत्ति रक्तदाब की कमी, नाडी की दुर्बलता तथा तीव्रता, मूर्च्छा, पाण्डुता, बेचैनी तथा गम्भीर श्वास (Shallow respiration) ये लक्षण होते हैं। स्तब्धता अधिकतर हीनसत्त्व (Nervous) व्यक्तियों में पाई जाती है। इसके अतिरिक्त आघात की तीव्रता, मर्मस्थानीय आघात तथा वेदना की अधिकता भी स्तब्धता के कारण हैं।

(२) **भग्नज्वर** (Fracture fever) यह भग्न के दूसरे दिन चढ़ता है और २-३ दिन के बाद उतर जाता है। यदि किसी पूयजनक जीवाणु का उपसर्ग नहीं हुआ हो तो ज्वर १००° से अधिक नहीं होता।

(३) **सकम्पोन्माद** (Delirium tremor)-यह मद्य के अभ्यासी और दुर्बल रोगियों में अधिक होता है। यह लक्षण भी प्रायः तीसरे दिन ही प्रारम्भ होता है। इसके निम्न लक्षण हैं—

(क) निद्रानाश (Insomnia) (ख) उन्माद के लक्षण (ग) भयङ्कर स्वप्नों का दिखाई देना (घ) भय के कारण शय्या से या मकान से कूद पड़ना (ङ) शरीर में कम्पन होना

(च) उन्माद की अवस्था समाप्त होने पर रोगी संन्यस्तावस्था में चला जाता है और अन्ततो गत्वा इसी से उसकी मृत्यु भी हो जाती है।

(४) **वसाजन्य रक्तावरोध** (Fat embolism)-भग्न के कारण वसामय धातुओं के विदीर्ण होने से वसा के कण पृथक् होकर रक्तप्रवाह में चले जाते हैं। इसके दो परिणाम मुख्य हैं—

(क) यदि ये फुफ्फुस में चले जायें तो श्वासावरोध हो जाता है।

(ख) यदि मस्तिष्क में पहुँच जायें तो मूर्च्छा हो सकती है। दोनों ही मृत्यु के कारण बनते हैं।

(५) **रक्तस्राव** (Haemorrhage)—यह कपालास्थियों के भग्न में अधिकतर होता है। इसके निम्न लक्षण हैं—

१. रक्तदाब कम हो जाता है। २. पाण्डुता। ३. तापक्रम साधारण से कम हो जाता है। ४. करोटिमूल (Base of the skull) में भग्न होने से रक्त आमाशय में चला जाता है जिससे वमन हो सकता है। ५. मूर्च्छा आ जाती है।

(६) **धमनी, नाडी या मांसपेशी की हानि**—यह संयुक्त भग्न में होती है।

भग्नस्य भेदान्तरसम्भवमप्याह—

भग्नं तु काण्डे बहुधा प्रयाति समासतो नामभिरेव तुल्यम् ॥ ७ ॥

काण्डभग्न के और भी अधिक भेद किये जा सकते हैं। किन्तु संक्षेप में वे इन्हीं या अपने नामों के समान ही होते हैं ॥ ७ ॥

काण्डे भग्नस्य द्वादशप्रकारादप्यधिकत्वमाह—भग्नमित्यादि। समासतो नामभिरेव तुल्यमिति। संक्षेपतो नामानुरूपमेतदवगन्तव्यमित्यर्थः ॥ ७ ॥

भग्नस्य कष्टसाध्यतां निरूपयति—

अल्पाशिनोऽनात्मवतो जन्तोर्वातात्मकस्य च।
उपद्रवैर्वा जुष्टस्य भग्नं कृच्छ्रेण सिध्यति ॥ ८ ॥ (सु. चि. ३)

कम या पुष्टिरहित भोजन करने वाले, असंयमी या अपथ्यसेवी, वातप्रकृति एवं (पूर्वोक्त स्तब्धता आदि तथा ज्वर आध्मान, मूत्र और मल का अवरोध आदि) उपद्रवों से युक्त रोगी का भग्न कठिनता से ठीक होता है ॥ ८ ॥

कष्टसाध्यतामाह—अल्पेत्यादि। वातात्मकस्येति। वातप्रकृतेः। उपद्रवैरिति। उपद्रवा ज्वराध्मानमूत्रपुरीषसङ्गादयः ॥ ८ ॥

असाध्यतां वर्णयति—

भिन्नं कपालं कट्यां तु सन्धिमुक्तं तथा च्युतम्।
जघनं प्रतिपिष्टं च वर्जयेद्धि विचक्षणः ॥ ९ ॥
असंश्लिष्टकपालं च ललाटे चूर्णितं च यत्।
भग्नं स्तनान्तरे पृष्ठे शङ्खे मूर्ध्नि च वर्जयेत् ॥ १० ॥

कपाल और कटि के भिन्न, सन्धिमुक्त तथा च्युत या अधःक्षिप्त और जघनसन्धि के उत्पिष्ट भग्न असाध्य होते हैं। मस्तक का सन्धिविश्लेष एवं चूर्णित तथा स्तन के मध्य, पृष्ठ, शंख तथा सिर के भग्न को भी असाध्य समझ कर छोड़ देना चाहिये ॥ ९-१० ॥

असाध्यतामाह—भिन्नं कपालमित्यादि। भग्नमिति वाच्ये भिन्नमिति यत् कृतं तत् कपालानां प्रायशो भेदात्। अत एवोक्तं-'कपालानि विभज्यन्ते' (सु. शा. अ. ५) **इति।**

ननु, कट्यस्थनः कपालसंज्ञाया अभावात् कथमुच्यते भिन्नं कपालं कट्यामिति ? यदुक्तं सुश्रुते-'जानुनितम्बांसगण्डतालुशङ्खवङ्क्षणशिरःसु कपालानि' (सु. शा. अ. ५) इति; उच्यते, नितम्बग्रहणेन तत्र कटीग्रहणाददोषः; अथवा सर्वं कपालसंज्ञितमस्थिभिन्नं, तथा कट्यां चास्थिभिन्नं वर्जयेत्। असंश्लिष्टकपालं चेति तु नियमार्थं; तेन ललाटे कपाल-स्यासंश्लिष्टस्यासाध्यत्वं, नान्यथा भिन्नस्येति। भिन्नं कपालमिति काण्डभग्नमेतत्। सन्धिमुक्तमिति नानाविधमपि सन्धिमुक्तं कट्यां न सिध्यतीति। च्युतमिति अधः क्षिप्तं, अन्यस्तु विश्लिष्टमाह; अथवा कट्यां सन्धिमुक्तं च्युतलक्षणं न सर्वम्। जघनं प्रतिपिष्टं चेति जघनस्थाने पिष्टमुत्पिष्टमेतत्तथा च्युतमिति च। सन्धिमुक्तं पुनर्विशेषार्थ-मुक्तं, विशेषाभिधानादन्यस्य कटीसन्धिमुक्तस्य कदाचित् साध्यता सूच्यते, अत एव चिकित्सिते 'ततः स्थानस्थिते सन्धौ' (सु. चि. अ. ३) इति वक्ष्यति। असंश्लिष्टकपालं च ललाटे चूर्णितं च यदिति यथा अविद्यमानसंश्लेषं यत् कपालं, तथा ललाटे चूर्णितं च यत् विघटितसन्धि तदसाध्यम्। भग्नमिति सामान्येन सन्धिमुक्तं काण्डभग्नं गृह्यते। अन्ये तु भग्नमित्यनेन काण्डभग्नविशेषं 'प्रसारणे कम्पमानम्' इत्यनेनोक्तं वदन्ति। उक्तं च भालुकिना-'शङ्खे मूर्ध्नि स्तनान्तरे वा काण्डेभग्नं मरणाय'-इति। स्तनान्तरे उरसि, मूर्ध्नि चूडास्थाने॥ ९-१०॥

विमर्श—कपालास्थियाँ प्रायः भिन्न होती हैं अतः भग्न के लिये भिन्न शब्द का प्रयोग किया गया है। यद्यपि सुश्रुत ने कटि की अस्थियों के लिये कपाल शब्द का प्रयोग नहीं किया तथापि **'जानुनितम्बांसगण्डतालुशङ्खवङ्क्षणशिरःसु कपालानि'** में नितम्ब शब्द से कटि का ग्रहण करने पर दोष नहीं रहता। अथवा कपालास्थि और कटि की अस्थि का भग्न यह अर्थ करने पर भी दोष की सम्भावना नहीं है।

सुश्रुत ने निदानस्थान में भग्न प्रकार, रोगी की आयु व साधारण दशा के आधार पर कृच्छ्र-साध्यता बताई है—**तेषु चूर्णितछिन्नातिपातितमज्जानुगतानि कृच्छ्रसाध्यानि, कृशवृद्धबालानां क्षतक्षीणकुष्ठश्वासिनां सन्ध्युपगतं च'।**

(१) चूर्णित (Comminuted) (२) छिन्न (Fissured)

(३) अतिपातित-जिसमें बीच का टुकड़ा निकल जाने से स्थानच्युति अधिक हुई है।

(४) मज्जानुगत (Impacted)

ये भग्न प्रकार की दृष्टि से कृच्छ्रसाध्य हैं। इनके अतिरिक्त वृद्ध, बालक, कृश, क्षत, क्षीण, कुष्ठ तथा श्वास से पीडित रोगी एवं सन्धिसमीपवर्ती भग्न भी कृच्छ्रसाध्य होते हैं।

प्रकारान्तरेणाऽसाध्यतां वर्णयति—

सम्यक् सन्धितमप्यस्थि दुर्निक्षेपनिबन्धनात्।
संक्षोभाद्वाऽपि यद्गच्छेद्विक्रियां तच्च वर्जयेत्॥ ११॥

अच्छी प्रकार से सन्धान की हुई जो अस्थि अनुचित रूप में रखने, बन्धन करने अथवा हिलने से विकृत हो जाती है उसे भी असाध्य समझना चाहिये॥ ११॥

सर्वेषामनवधानतोऽसाध्यत्वमाह—सम्यगित्यादि। सन्धितं संयमितम्। दुर्निक्षेपनि-बन्धनादिति दुःस्थापनात्तथा दुष्टबन्धनात्। संक्षोभाद्वेति अभिघातभयादिसंक्षोभात्। अय-मर्थः-सम्यक् संयमितमपि दुःस्थापनात्, सुन्यस्तमपि दुष्टबन्धनात्, सुन्यस्तं सुबद्धमपि संक्षोभाद्विकृतमसाध्यम्॥ ११॥

(१) **दुर्न्यास**—(Incorrect alinement) अस्थियाँ एक दूसरे की सीध में न आवें तो वे जुड़ नहीं सकतीं।

(२) **दुर्निबन्धन**—उचित कुशा (Splint) न लगाने या अनुचित बन्धन से भी अस्थि नहीं जुड़ती।

(३) **संक्षोभ**—अच्छी तरह से जोड़ देने पर भी यदि वह हिलती रहे तब भी जुड़ना असम्भव है। अस्थिसन्धान के पश्चात् भग्नस्थान पर नवीन अस्थि बननी प्रारम्भ हो जाती है। प्रारम्भ में मृदु भाग (Soft callus) बनता है। इस समय हिलाने-डुलाने से वह मृदु धातु नष्ट हो जाती है जिससे अस्थि नहीं जुड़ने पाती। सन्धि भी उक्त कारण से स्थिर नहीं रह सकती।

सुश्रुत ने 'दुर्न्यास, दुर्निबन्धन तथा संक्षोभ के अतिरिक्त भग्न के पूर्व अस्थि की स्वाभाविक विकृति को भी असाध्य लक्षण माना है **'आदितो यच्च दुर्जातमस्थि सन्धिस्थापि वा'**। ये प्रारम्भिक विकृतियाँ दो प्रकार की हो सकती हैं—

(१) अस्थि के निजी विकार—यथा

(क) अस्थिवक्रता (Ricket) (ख) अस्थिभंगुरता (Fragilitas ossium)

(ग) अस्थि के अर्बुद।

(२) सार्वदेहिक विकृतिजन्य अस्थिविकृति—यथा—

(क) पक्षाघात (Paralysis) (ख) मस्तिष्कगत फिरंग (Syphilis of the brain)

उपर्युक्त विकृतियों के रहने पर यदि भग्न हो जाता है तो सन्धान करने पर भी अस्थि का जुड़ना असम्भव हो जाता है।

इन कारणों के अतिरिक्त निम्न कारण और भी हैं—

(१) शरीर की स्वाभाविक दुर्बलता।

(२) अस्थिभागों के मध्य में पेशीतन्तु या स्नायु का आ जाना।

(३) अस्थिपोषक रक्तवाहिनी (Nutrient artery) का विनाश।

निदानस्थान में बालकों के भग्न को कृच्छ्रसाध्य बताया है। इसका कारण केवल यही हो सकता है कि वे सन्धान कठिनता से करने देते हैं। वैसे सन्धान होने पर उनकी अस्थि बड़ों की अपेक्षा जल्दी जुड़ती है। इसीलिये सुश्रुत ने चिकित्सा स्थान में यह कह दिया है **'प्रथमे वयसि त्वेवं भग्नं सुकरमादिशेत्'**। अर्थात् बाल्यावस्था के भग्न सुसाध्य होते हैं।

अस्थिविशेषानुसारं भग्नविशेषमाह—

तरुणास्थीनि नम्यन्ते भिद्यन्ते नलकानि च।
कपालानि विभज्यन्ते स्फुटन्ति रुचकानि च ॥ १२ ॥

(सु. नि. १५)

तरुणास्थियाँ (Cartilages) लच जाती हैं, नलकास्थियाँ (Long bones) टूट जाती हैं, कपालास्थियाँ (Flat bones) भिन्न या विदीर्ण हो जाती हैं तथा रुचक या दाँत एवं वलयास्थियाँ फूट जाती हैं ॥ १२ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने भग्ननिदानं समाप्तम् ॥ ४४ ॥

अस्थिविशेषे भग्नविशेषमाह—तरुणास्थीनीत्यादि। नम्यन्ते वक्रीभवन्ति, तेनात्र वक्रलक्षणं भग्नम्। घ्राणकर्णाक्षिपुटेषु तरुणं कोमलमस्थि। भिद्यन्ते नलकानि चेति अस्थ्यन्तरानुप्रवेशाद्भिद्यन्ते अतिपातितलक्षणेन च भग्नेन नलकानि युज्यन्ते; अन्ये तु द्वादशविधमपि भग्नमत्रेच्छन्ति। कपालानि विभज्यन्त इति कपालेषु विदरणलक्षणो भङ्गः।

'विभिद्यन्ते' इति पाठान्तरम्, अर्थस्तु स एव। रुचकानि दन्ताः, तेषु स्फुटितलक्षणो भङ्गः। अस्थीनि पञ्चविधानि तरुणनलककपालवलयरुचकभेदात्। रुचकानि चेति चकाराद्वलयान्यपि स्फुटितानि भवन्तीति। एतत् सुश्रुते स्फुटितं भग्नम् ॥ १२ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां भग्ननिदानं समाप्तम् ॥ ४४ ॥

विमर्श—तरुणास्थीनि—तरुणास्थि तथा बच्चों की अस्थियों में वक्र (Green-stick) भग्न होता है। नलकास्थियों में अन्य सभी प्रकार के भग्न हो सकते हैं।

प्रमुखविशेष अस्थियों के भग्न—

कपालास्थि भग्न—इसमें प्रायः अवनत भग्न (Depressed fracture) होते हैं। इसके कारण लाठी आदि का प्रहार है।

करोटि के भग्न—इसके तीन भाग हैं—

(१) पूर्वखात के भग्न (Fracture of the anterior fossa)

(२) मध्यखात के भग्न (Fracture of the middle fossa)

(३) पश्चात् खात के भग्न (Fracture of the posterior fossa)

ये सभी भग्न बहुत भयंकर होते हैं इससे सुषुम्नाशीर्ष (Medalla), उष्णीषक (Pons) तथा मस्तिष्कतल (Base of the brain) में क्षत हो सकते हैं।

लक्षण—रक्तस्राव—पूर्वखात के भग्न में नासिका से रक्त-प्रवृत्ति होती है। यह रक्त झर्झरास्थि (Ethmoid bone) के चालनी पटल (Cribriform plate) से होकर आता है। यदि भग्न जतूकास्थि (Sphenoid bone) के अक्षिगोलक की ऊपरी दीवार बनाने वाले भाग में होता है तो नेत्रकला (Conjunctiva) में रक्तस्राव के लक्षण दिखाई पड़ते हैं।

मध्यखात के भग्न में कर्णपटह फट जाता है, इससे कान से रक्तस्राव होता है। यह शंखास्थि के भग्न के कारण होता है।

पश्चात् खात के भग्न में रक्त बाहर नहीं निकलता, अपितु कर्णमूल में एकत्रित हो जाता है और त्वचा में उभार उत्पन्न करता है जिससे किसी बाह्य आघात के अभाव में पश्चात् खात के भग्न का अनुमान लगाया जा सकता है।

नाडीक्षत के लक्षण—भग्न के कारण जिस नाडी का क्षत हो जाता है उसकी क्रिया अवरुद्ध या मन्द होने से नाडी विशेष के क्षत का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। यथा—यदि आघात के बाद रोगी में बधिरता के लक्षण दिखाई दें तो श्रुतिनाडी के क्षत का और यदि देखने की शक्ति नष्ट हो जाये तो दृष्टि नाडी के क्षत का अनुमान लगाना सरल है।

अक्षक का भग्न (Fracture of the clavicle)

कारण—(१) हाथ के बल गिरना, (२) कन्धे के बल गिरना, (३) प्रत्यक्ष आघात। भग्न के परिणामस्वरूप वहाँ की रक्तवाहिनी (Subclavian artery) तथा बाहवीय नाडीजाल (Brachial plexus) का भी क्षत हो सकता है।

भग्न प्रधानतया दो स्थानों पर हो सकता है—

(१) **अक्षक के मध्य तृतीयांश** (Middle third) **का भग्न**—इसका कारण बाह्य आघात है। अस्थि का आन्तरिक भाग उरःकर्णमूलिका (Sternocleidomastoideus) पेशी के खिंचाव के कारण ऊपर की ओर खिंच जाता है। बाह्यभाग उरच्छदा बृहती (Pectoralis major) के आकर्षण के कारण नीचे, आगे और मध्यरेखा की ओर चला जाता है।

(२) **अंसकूट भाग** (Lateral third) **का भग्न**—भग्न भाग नीचे झुक जाता है, कन्धा भीतर की ओर चला जाता है।

इनके अतिरिक्त वक्षकीय भाग का भी कभी-कभी भग्न होता है। किन्तु इसकी सम्भावना बहुत कम होती है।

प्रगण्डास्थि (Humerus) **के भग्न**—इस अस्थि के तीन भाग हैं—

(१) ऊर्ध्वभाग (Upper end), (२) अधोभाग (Lower end)

(३) गात्र (Shoft या body)—यह उपर्युक्त दोनों भागों के मध्य का भाग है।

अस्थि के इन विभागों के अनुसार ही भग्न के विभाग किये जाते हैं।

(१) ऊर्ध्वभाग के भग्न—इसके तीन भाग हैं—

(क) **शारीर ग्रीवा** (Anatomical neck) **का भग्न**—यह कन्धे के बल गिरने से होता है। इससे अस्थि के नीचे का भाग ऊपर और अन्दर की ओर चला जाता है। रक्त के एकत्रित हो जाने से शोथ तथा तीव्र पीडा होती है। शाखा की लम्बाई कम हो जाती है।

(ख) **शल्यग्रीवा** (Surgical neck) **का भग्न**—कुहनी या कन्धे के बल गिरने से इसका भग्न होता है।

(ग) **पिण्डकों का भग्न** (Fracture of the tubercles)—यह बहुत कम होता है। इसका कारण तीव्र आघात है।

प्रगण्डास्थि के गात्र का भग्न—कुहनी के बल गिरना तथा बाह्य आघात इसके कारण हैं।

अन्तःप्रकोष्ठास्थि के भग्न (Fracture of the ulna)

(१) **कूर्परकूट** (Olecranon process) का भग्न।

इसका कारण कुहनी के बल गिरना है। कूर्परकूट त्रिशिरस्का पेशी (Triceps) से खिंचकर ऊपर चला जाता है।

(२) **गात्र का भग्न**—यह ऊपर के भाग में अधिक होता है। उत्तान होने के कारण प्रायः संयुक्त (Compound) प्रकार का होता है। यदि साथ में बहिःप्रकोष्ठास्थि का भग्न नहीं होता तो स्थानच्युति नहीं होती।

बहिःप्रकोष्ठास्थि (Radius) **के भग्न—**

(१) **सिर का भग्न।**

(२) **गात्र का भग्न**—यह हाथ के बल गिरने से होता है। यदि भग्न करविवर्तिनी दीर्घा (Supinator) पेशी के ऊपर हो तो अस्थि का ऊपरी भाग बाहर तथा सामने की ओर चला जाता है और नीचे का भाग अन्तःप्रकोष्ठास्थि की ओर खिसक जाता है। यदि पेशी के नीचे होता है तो ऊपरी भाग आगे और भीतर तथा नीचे का भाग अन्तःप्रकोष्ठास्थि की ओर चला जाता है। भग्न के अन्य सामान्य लक्षण मिलेंगे।

(३) **अधोभाग का भग्न** (Colle's fracture)—हथेली के बल गिरने से मणिबन्ध सन्धि के लगभग आधी या पौन इञ्च ऊपर होता है। इससे नीचे का भाग पीछे और ऊपर की ओर चला जाता है, ऊपर का भाग अन्तःप्रकोष्ठास्थि की ओर खिंच जाता है।

कभी-कभी अग्रबाहु की दोनों अस्थियाँ टूट जाती हैं। इसे अग्रबाहु भग्न (Radio-ulnar-fracture) कहते हैं। इसका कारण आघात ही है।

निम्नशाखा के भग्न—

श्रोणिचक्र के भग्न—इसका कारण श्रोणि पर प्रत्यक्ष तीव्र आघात है। भग्न अवनत

(Depressed) प्रकार का होता है। नितम्बास्थि (Illium) का भग्न अधिक होता है। भग्न के सामान्य लक्षणों के अतिरिक्त श्रोणिगुहान्तर्गत मूत्राशय या गर्भाशय के क्षत के लक्षण भी मिल सकते हैं।

ऊर्वस्थि (Femur) **के भग्न**—इस अस्थि के भी प्रगण्डास्थि के समान तीन भाग हैं।

(१) ऊर्ध्वभाग के भग्न—

(क) **सिर** (Head) का भग्न—इसके होने पर सन्धिविच्युति हो जाती है।

(ख) **ग्रीवा** (Neck) का भग्न—यह दो प्रकार का होता है—

(१) कोषान्तरीय (Intra-capsular)   (२) बहिःकोषीय (Extracapsular)

कोषान्तरीय (Iutra-capsular) ग्रीवा का कुछ भाग सन्धिकोष के अन्दर और कुछ बाहर की ओर रहता है। अन्दर वाले भाग को कोषान्तरीय कहते हैं। कोषान्तरीय भग्न वृद्धों में अधिक होता है; क्योंकि उनमें यह स्थान बहुत दुर्बल हो जाता है। साधारण पैर फिसलने से यह भग्न हो जाता है। इस भग्न में नीचे का भाग ऊपर और पीछे चला जाता है। अंग की १-३ इञ्च लम्बाई कम हो जाती है।

बहिःकोषीय भग्न (Extra-capsular fracture)—यह नितम्ब के बल गिरने से होता है और प्रायः मज्जानुगत (Impacted) स्वरूप का होता है। इसमें आघात के चिह्न, जंघा का बाह्य विवर्तन तथा अंग की लम्बाई कम होना ये लक्षण मिलते हैं।

(ग) कभी-कभी शिखरकों (Greater and lesser trochanters) का भी तीव्र आघात से भग्न हो जाता है।

(२) **गात्र** (Body) **का भग्न**—यह निम्न भाग में अधिक होता है। इसका कारण बाह्य आघात है। इससे नीचे का भाग ऊपर पीछे की ओर तथा ऊपर का भाग सामने और नीचे की ओर चला जाता है।

जान्वस्थि का भग्न (Fracture of the patella) इसके दो कारण हैं—

(१) पेशियों का कर्षण।   (२) प्रत्यक्ष आघात।

भग्न होने पर पेशी-कर्षण से अस्थि दो भागों में विभक्त हो जाती है। दोनों भाग क्रमशः ऊपर और नीचे चले जाते हैं। ऊरुप्रसारिणी चतुरस्रा (Quadriceps femoris) के तन्तु यदि कम टूटे हैं तो अस्थि के दोनों भागों के मध्य का स्थान एक इञ्च के लगभग होगा अन्यथा तन्तुनाश की अधिकता के अनुसार यह ३-४ इञ्च तक भी हो सकता है।

लक्षण—शोथ, पीड़ा तथा चलने में असमर्थता ये लक्षण होते हैं।

अन्तर्जंघास्थि के भग्न (Fracture of the tibia)

(१) **ऊर्ध्व प्रान्त का भग्न**—इसका कारण प्रत्यक्ष आघात है। अस्थि की स्थानच्युति प्रायः नहीं होती।

(२) **गात्र का भग्न**—प्रायः इसके साथ बहिर्जंघास्थि का भी भग्न होता है। गात्र के निचले भाग में प्रायः संयुक्त भग्न होता है; क्योंकि वहाँ यह अस्थि उत्तान (केवल त्वचा से ढँकी) रहती है। स्थानच्युति प्रायः नहीं होती।

बहिर्जंघास्थि का भग्न (Fracture of the febula) यह अस्थि बहुत गहरी रहती है अतः इसका भग्न बहुत कम होता है।

उपर्युक्त अस्थियों के शेष भग्नों तथा अन्य अस्थियों के भग्नों के विस्तृत ज्ञान के लिए अर्वाचीन शल्यतन्त्र का कोई ग्रन्थ देखें।

समाप्तं चेदं भग्ननिदानम्

अथ नाडीव्रणनिदानम्

नाडीव्रणस्य हेतुं सम्प्राप्तिं चाह—

यः शोथमाममतिपक्वमुपेक्षतेऽज्ञो
यो वा व्रणं प्रचुरपूयमसाधुवृत्तः ।
अभ्यन्तरं प्रविशति प्रविदार्य तस्य
स्थानानि पूर्वविहितानि ततः स पूयः ॥ १ ॥

जो उचित क्रिया न करनेवाला मूर्ख वैद्य पूर्णपक्व शोथ की चिकित्सा आम (कच्चा) समझकर नहीं करता या पूय से परिपूर्ण व्रण का उचित शोधनादि नहीं करता तो वह पूय सुश्रुत के व्रणास्रावविज्ञानीय अध्याय में बताये गये त्वचा, मांस आदि आठ व्रणस्थानों का भेदन कर अन्दर की धातुओं में प्रवेश कर जाता है । (इससे नाडीव्रण बनता है) ॥ १ ॥

भग्नस्यापि व्रणस्योपेक्षया नाडी भवति, अतोऽनन्तरं नाडीमाह—यः शोथमित्यादि । उपेक्षत इति पीडनशोधनादिकं न करोति । प्रचुरपूयमित्यनेन गम्भीरपाकित्वमुक्तम् । असाधुवृत्तोऽहिताहाराचारः । स्थानानि पूर्वविहितानीति व्रणास्रावविज्ञानीयोक्तानि त्वङ्मांससिरास्नायुसन्ध्यस्थिकोष्ठमर्माणि ॥ १ ॥

सम्प्राप्त्यनुसारं नाडीव्रणस्य निरुक्तिं प्राह—

तस्यातिमात्रगमनाद्गतिरिष्यते तु
नाडीव यद्वहति तेन मता तु नाडी ।

पूय के अधिक गमन करने के कारण उसे गति कहते हैं, या नाडी या नाली के समान पूय का वहन करने के कारण उसे नाडीव्रण कहते हैं ॥

तस्येति पूयस्य । नाडीवेति अन्तःशुषिरलतादिनाडीवत् ।

विमर्श—पक्व शोथ की उपेक्षा करने से नाडीव्रण की उत्पत्ति होती है । आमशोथ का छेदन और पक्व की उपेक्षा करने वाले वैद्य के लिये सुश्रुत ने बड़े कड़े शब्दों का व्यवहार किया है—

यश्छिनत्त्याममज्ञानाद्यश्च पक्वमुपेक्षते । श्वपचाविव मन्तव्यौ तावनिश्चितकारिणौ ॥

नाडी की उत्पत्ति के विषय में सुश्रुत ने आमपक्वैषणीय अध्याय में भी पक्व शोथ की उपेक्षा को ही इसका कारण बताया है—

'स यदा भयमोहाभ्यां पक्वमप्यपक्वमिति मन्यमानश्चिरमुपेक्षते व्याधिं वैद्यस्तदा गम्भीरानुगतो द्वारमलभमानः पूयः स्वाश्रयमवदार्योत्सङ्गं महान्तमवकाशं कृत्वा नाडीं जनयित्वा कृच्छ्रसाध्यो भवत्यसाध्यो वा' (सु० सू० १७) ।

'नाडीव यद्वहति तेन मता तु नाडी' अर्थात् नलिका के समान पूय का लम्बा मार्ग ही नाडी है । आधुनिक दृष्टि से इसे साइनस (Sinus) या फिस्चुला (Fistula) कह सकते हैं ।

(१) **साइनस**—जिस नाडी का मुख केवल एक ओर ही खुलता है उसे साइनस कहते हैं ।

(२) **फिस्चुला**—दो आशयों अथवा आशय और बाह्यत्वचा से सम्बन्ध रखने वाली नाड़ी या पूयनलिका को फिस्चुला कहते हैं । यथा भगन्दर, वस्तिमलाशय नाडी (Recto-Vesical fistula), वस्तियोनि नाडी (Vesico-Veginal fistula) । भगन्दर (Fistula in-ano) भी एक प्रकार का नाडीव्रण ही है, किन्तु भेद केवल इतना ही है कि (१) भगन्दर के नाडीव्रण का

सम्बन्ध एक ओर या दोनों ओर आशयों से अवश्य होता है। नाडीव्रण आशयरहित स्थान (मांस, अस्थि आदि) में भी हो सकता है। (२) भगन्दर शब्द गुदा के फिस्चुला के लिये ही रूढ हो गया है। सुश्रुत ने वर्णन भी गुद भगन्दर का ही किया है। शरीर के किसी भी भाग में होने वाले फिस्चुला को नाडीव्रण कह सकते हैं। इस प्रकार नाडीव्रण एक सामान्य शब्द है जो साइनस और फिस्चुला दोनों के लिये प्रयोग किया जा सकता है। भगन्दर शब्द केवल गुदा के फिस्चुला के लिये ही प्रयोग किया जाता है।

कारणभेदेन नाडीव्रणस्य भेदमाचष्टे—

दोषैस्त्रिभिर्भवति सा पृथगेकशश्च
समूर्च्छितैरपि च शल्यनिमित्ततोऽन्या ॥ २ ॥ (सु. नि. १०)

वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक तथा शल्यज भेद से नाडीव्रण पाँच प्रकार का होता है॥२॥

तासां कालान्तरसंभवेन दोषानुबन्धेन संख्यामाह—दोषैस्त्रिभिरित्यादि। दोषैः पृथक् तिस्रः। एकशश्च संमूर्च्छितैरिति प्रत्येकं वृद्ध्या मिश्रीभूतैस्त्रिभिश्चतुर्थी; कातिकस्तु **संन्निपतितैरित्यध्याहार्य एकशश्च सन्निपतितैरन्या। संमूर्च्छितैः संश्लिष्टैरपरास्तिस्रः। अत एवोक्तं** सुश्रुते—**'दोषद्वयाभिहितलक्षणदर्शनेन तिस्रो गतीर्व्यतिकरप्रभवास्तु विद्यात्'** (सु. चि. अ. ५) **इति। व्यतिकरप्रभवा द्वन्द्वप्रभवाः; अपिचकारौ सार्थकावित्याहुः। न चोक्तपञ्चसंख्याहानिः; अस्मिन् पक्षेऽतिदेशेनोक्तयोर्द्वन्द्वसन्निपातयोः सर्वत्रागणनात्। शल्यनिमित्ततोऽन्येति आगन्तुरपरेत्यर्थः। इति पञ्च नाड्यः ॥ २ ॥**

विमर्श—सुश्रुत ने द्वन्द्वज नाडी का भी उल्लेख किया है—**दोषद्वयाभिहितलक्षणदर्शनेन तिस्रो गतीर्व्यतिकरप्रभवास्तु विद्यात्।** (सु० चि० ५) शल्यज नाडी को आगन्तुज भी कह सकते हैं। कुछ लोग **'संमूर्च्छितैः'** का अर्थ मिश्रित अर्थात् द्वन्द्व और सन्निपात करते हैं। किन्तु द्वन्द्वज प्रकृति समसमवायारब्ध होने से विशेष महत्त्व के नहीं होते अतः उनकी पृथक् गणना नहीं की जाती। अतएव सुश्रुत ने भी केवल नामोल्लेख मात्र ही कर दिया है।

नाडीव्रण के कारण—

(१) पाकस्थान में असात्म्य पदार्थ की उपस्थिति यथा, रेशम, तांत, तार, हड्डी, रबड़ या अन्य वस्तुयें।

(२) शोधन का अभाव।

(३) व्रण से उत्तेजक (Irritating) स्रावों का निकलना यथा, मल, अत्यधिक अम्लमूत्र या अम्लपूय।

(४) व्रण की दीवार में सौत्रिकतन्तु (Fibrous tissues) की उत्पत्ति। इससे रोहण धातु की वृद्धि नहीं हो पाती अतः व्रण भी नहीं भरता। इसीलिये चिकित्सा में इसके लेखन के लिये क्षारसूत्र जैसे प्रयोग बताये गये हैं।

(५) पूय का पूर्णतया निर्हरण न करना। विद्रधि में कभी कभी अनेक उत्सङ्ग (Pus pockets) होते हैं। प्रत्येक एक पतली दीवार के द्वारा एक दूसरे से पृथक् रहता है। यदि अज्ञान या असावधानी के कारण व्रण में अङ्गुलि या अन्य यन्त्र डालकर इन दीवारों को नहीं तोड़ा गया तो कुछ पूय उत्सङ्ग में अवशिष्ट रह जाता है और यही फिर आन्तरिक धातुओं में प्रविष्ट होकर नाडीव्रण की उत्पत्ति करता है। इसीलिये प्रशस्तव्रण के लिये सुश्रुत ने अन्य विशेषणों के साथ **'निराश्रयः'** (उत्सङ्गरहित) यह विशेषण भी दिया है—

आयतश्च विशालश्च सुविभक्तो निराश्रयः। प्राप्तकालकृतश्चापि व्रणः कर्मणि शस्यते॥

(६) पाकस्थान को पूर्ण विश्राम का अभाव—विश्राम न मिलने से धातुनाश तथा पूय की उत्पत्ति निरन्तर होती रहती है और यही पूय आगे चलकर नाडीव्रण बनाता है।

(७) **विशिष्टरोग** (Specific diseases)—यथा राजयक्ष्मा।

(८) साधारण स्वास्थ्य की विकृति या शारीरिक दुर्बलता। इससे भी रोहण धातु वृद्धि नहीं कर पाती।

वातजां नाडीं प्राह—

तत्रानिलात् परुषसूक्ष्ममुखी सशूला
फेनानुविद्धमधिकं स्रवति क्षपासु।

वातज नाडी खुरदरी, सूक्ष्म मुखवाली तथा शूलयुक्त होती है। इससे फेनयुक्त स्राव विशेषतः रात्रि में अधिक होता है॥

वातजामाह—तत्रेत्यादि। अधिकं स्रवति क्षपास्विति शैत्येन वाते वृद्धे रात्रावधिकं स्रवणम्।

पित्तजां नाडीं लक्षयति—

पित्तात्तृषाज्वरकरी परिदाहयुक्ता
पीतं स्रवत्यधिकमुष्णमहःसु चापि॥ ३॥

पैत्तिक नाडी में रोगी प्यास, ज्वर तथा जलन से युक्त होता है और व्रण से गरम-गरम स्राव विशेषतः दिन में अधिक मात्रा में निकलता है॥ ३॥

पित्तजामाह—पित्तादित्यादि। अधिकमुष्णमहःसु चेति दिवा औष्ण्येन पित्तकोपात्॥३॥

श्लैष्मिकीं नाडीमाह—

ज्ञेया कफाद्बहुघनार्जुनपिच्छिलास्रा
स्तब्धा सकण्डुररुजा रजनीप्रवृद्धा।

कफज नाडी से बहुत गाढ़ा, सफेद और चिपचिपा स्राव निकलता है। व्रण जकड़ा हुआ, खुजली एवं अल्प पीडा से युक्त और रात्रि में बढ़ने (अधिकस्राव) वाला होता है॥

कफजामाह—ज्ञेयेत्यादि। बहुघनार्जुनपिच्छिलास्रेति। अत्रार्जुनः श्वेतः, घनः सान्द्रः, आस्रशब्द आस्रावशब्दैकदेशपाठः, पदेऽपि पदैकदेशप्रयोगात्। यथा 'जे प्रोष्ठपदानाम्'—इत्यत्र जे इत्यनेनैव जात इत्युच्यते। पिच्छिलास्रुरिति पाठेऽप्ययमेवार्थः। आस्रुशब्दः संपदादिषु पाठात् क्विबन्तः; तुगभावस्त्वागमानित्यत्वात्॥

त्रिदोषजां नाडीं व्याचष्टे—

दाहज्वरश्वसनमूर्च्छनवक्त्रशोषा
यस्यां भवन्त्यभिहितानि च लक्षणानि॥ ४॥
तामादिशेत्पवनपित्तकफप्रकोपाद्-
घोरामसुक्षयकरीमिव कालरात्रिम्।

जिस नाडीव्रण में दाह, ज्वर, श्वासकृच्छ्रता, मूर्च्छा, मुखशोष तथा वात आदि तीनों दोषों के लक्षण मिलते हैं उसे त्रिदोषज और प्राणों का नाश करने वाली भयंकर कालरात्रि के समान समझना चाहिये ॥ ४ ॥

त्रिदोषजामाह—दाहेत्यादि। अभिहितानीति प्रत्येकं वातादिजनाडीकथितानि। असुक्षयकरीमिति मारणात्मिकां, कालरात्रिं मरणकारिणीं यमभगिनीमिव। 'गतिं त्वसुहराम्' इति पाठान्तरम् ॥ ४ ॥

शल्यनिमित्तां नाडीं प्राह—

नष्टं कथंचिदनुमार्गमुदीरितेषु
स्थानेषु शल्यमचिरेण गतिं करोति ॥ ५ ॥
सा फेनिलं मथितमुष्णमसृग्विमिश्रं
स्रावं करोति सहसा सरुजा च नित्यम् ।

त्वचा आदि आठ व्रण स्थानों में किसी प्रकार पहुंच कर छिपा हुआ शल्य मार्ग बनाकर गति करते हुए शीघ्र ही नाडीव्रण को उत्पन्न कर देता है। उससे झागदार, बिलोये हुये तक्र के समान, गरम और रक्तमिश्रित स्राव अकस्मात् निकलता है तथा सदा पीडा रहती है ॥ ५ ॥

शल्यनिमित्तामाह—नष्टमित्यादि। नष्टमदृश्यमानम्। कथंचिदिति वेगक्षयादिकारणानामनियमार्थमुक्तम्। अनुमार्गं मार्गं लक्षीकृत्य। केचित् 'अणुमार्गम्' इति पठित्वा शल्यविशेषणतया योजयन्ति। किंत्वस्मिन् पक्षेऽणुमार्गत्वेनैव शल्यस्यादर्शने प्रयुक्ते कथंचिदिति निरर्थकं स्यात्। उदीरितेष्विति त्वगादिषु। फेनिलं फेनवन्तम्। मथितमुन्मथितम्। उष्णमुष्णस्पर्शम्। एते च धर्माः प्रसारणाकुञ्चनादौ चलता शल्येन मांसादिक्षोभेण भवन्ति ॥५॥

विमर्श—उदीरितेषु स्थानेषु-कहे गये व्रण स्थान। सुश्रुत के व्रणास्राव विज्ञानीय अध्याय में आठ व्रणस्थान बताये हैं—**'त्वङ्मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिकोष्ठमर्माणीत्यष्टौ व्रणवस्तूनि। अत्र सर्वव्रणानां सन्निवेशः'।**

साध्यासाध्यतामाह—

नाडी त्रिदोषप्रभवा न सिध्ये
च्छेषाश्चतस्रः खलु यत्नसाध्याः ॥ ६ ॥

त्रिदोषज नाडी असाध्य होती है। शेष चार प्रयत्न (उचित चिकित्सा) करने पर साध्य हो जाती हैं ॥ ६ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने नाडीव्रणनिदानं समाप्तम् ॥ ४५ ॥

असाध्यत्वादिकमाह—नाडीत्यादि। ननु, नाडी त्रिदोषप्रभवा न सिध्येदिति पुनरुक्तं असुक्षयकरीमित्यनेनैवासाध्यत्वस्योक्तत्वात्। नैवम्, अयं ग्रन्थः सुश्रुतेन निदानस्थानोक्तमेव त्रिदोषनाड्या असाध्यत्वमनूद्य तदन्यासां शेषत्वनिश्चयेन यत्नसाध्यत्वप्रतिपादनाय चिकित्सिते पठितः, स एवात्र माधवकरेण लिखित इत्यदोषः ॥ ६ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तविरचितायां मधुकोशव्याख्यायां नाडीव्रणनिदानं समाप्तम् ॥ ४५ ॥

अथ भगन्दरनिदानम्

भगन्दरस्य सामान्यं रूपं संख्याञ्चाह—

गुदस्य द्व्यङ्गुले क्षेत्रे पार्श्वतः पिडकाऽऽर्तिकृत् ।
भिन्ना भगन्दरो ज्ञेयः स च पञ्चविधो मतः ॥ १ ॥

गुदा के चारों ओर दो अंगुल के स्थान में होनेवाली पीडायुक्त फुन्सी फूट जाने पर भगन्दर कहलाती है, वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक तथा आगन्तुज भेद से भगन्दर पांच प्रकार का होता है ॥ १ ॥

नाडीविशेषत्वात् संख्यासाम्याच्च भगन्दरनिदानम् । भगन्दरपूर्वरूपपिडकामाह—गुदस्येत्यादि । क्षेत्रे देशे । सैव भिन्ना भगन्दरः । निरुक्तिरस्य सुश्रुतेन **कृता । तद्यथा–'गुदभगबस्तिप्रदेशदारणात् भगन्दराः'** (सु. नि. अ. ४) **इति । भगशब्दो गुदाद्युपलक्षणम् ।** भोजेऽप्युक्तं–**'भगं परिसमन्ताच्च गुदं वस्तिं तथैव च । भगवद्दारयेद्यस्मात्तस्माज्ज्ञेयो भगन्दरः' इति । पूर्वरूपं त्वस्य**[१] सुश्रुते **पठ्यते; यथा–'कटीकपालवेदना गुदकण्डुर्दाहः शोथश्च गुदस्य भवति'** (सु. नि. अ. ४) **इति । एतत् सामान्यं पूर्वरूपम् । कटीकपालमत्र कटीफलकम् । पञ्चविध इति संख्याकथनं रक्तजद्वन्द्वजभगन्दरसंभावनानिरासार्थम् ॥ १ ॥**

विमर्श—भगन्दर भी एक प्रकार का नाडी व्रण ही है, किन्तु कुछ भेद होने के कारण इसका वर्णन पृथक् किया गया है (देखिए पृ० १३०) । गुदा के पास की फूटी हुई पिडका को भगन्दर कहते हैं । गुदा के चारों ओर का भाग अधिक पोला होता है । यहाँ जब कोई पिडका उत्पन्न होती है और पकती है तो उसका पूय अवरोध कम होने के कारण त्वचा से भी मृदुतर पीले स्थान की धातुओं की ओर गमन करता है । पककर फूटने पर भी पूय का पूर्ण निर्हरण नहीं होता और नाडीव्रण बन जाता है सुश्रुत ने इसकी निम्नलिखित परिभाषा बताई है—**'ते तु भगगुदवस्तिप्रदेशदारणाच्च भगन्दरा इत्युच्यन्ते, अपक्वाः पिडकाः, पक्वास्तु भगन्दराः'** (सु० नि० ४) भग, गुद और वस्तिप्रदेश का दारण करने के कारण इन्हें भगन्दर कहते हैं । अपक्वावस्था को पिडका और पक्वावस्था को भगन्दर कहते हैं । इसके अतिरिक्त भोज ने भी यही लक्षण बताया है—

'भगं परिसमन्ताच्च गुदं वस्तिं तथैव च । भगवद्दारयेद्यस्मात्तस्माज्ज्ञेयो भगन्दरः ॥

भग, गुद तथा वस्ति के चारों ओर के प्रदेश में भग के समान दारण करनेवाले रोग को भगन्दर कहते हैं ।

आधुनिक परिभाषा—किसी आशय से सम्बन्ध रखनेवाले अथवा दो आशयों को मिलाने वाले नाडीव्रण को भगन्दर (Fistula) कहते हैं । इस प्रकार गुद में होने वाले को गुदन्दर और वस्ति में होने वाले को वस्तिन्दर न कह कर भग के समान दारण करने के कारण भगन्दर ही कहते हैं, इस परिभाषा के अनुसार भगन्दर एक सामान्य शब्द है जो उस प्रदेश की नाडीरूप विदीर्ण पिडकाओं के लिये प्रयुक्त होता है । इस प्रकार यद्यपि उक्त व्याख्या के अनुसार गुद और वस्ति से सम्बन्धित सभी इस प्रकार के विकारों का ग्रहण हो जाता है तथापि यह संज्ञा गुदसम्बन्धी नाडीव्रण के लिये रूढ हो गई है, सुश्रुत और माधव ने उसी का वर्णन किया है । आजकल इसे फिस्चुला इनएनो (Fistula-in-ano) कहते हैं ।

---

१. कटीकपालनिस्तोद-दाहकण्डू रुजादयः । भवन्ति पूर्वरूपाणि भविष्यति भगन्दरे ॥ इति ख. ।

पञ्चविधो मतः—'वातपित्तश्लेष्मसन्निपातागन्तुनिमित्ताः शतपोनकोष्ट्रग्रीवपरिस्राविशम्बुकावर्तोन्मार्गिणो यथासंख्यं पञ्च भगन्दरा भवन्ति' (सु० नि०)

(१) वातिक या शतपोनक, (२) पैत्तिक या उष्ट्रग्रीव, (३) श्लैष्मिक या परिस्रावी, (४) सान्निपातिक या शम्बूकावर्त, (५) आगन्तुज या उन्मार्गी ।

इन पाँच भेदों के अतिरिक्त वाग्भट ने तीन भेद और बताये हैं, इस प्रकार उन्होंने तीन द्वन्द्वज को मिलाकर कुल आठ भेद माने हैं—**'दोषैः पृथग्द्वयैः सर्वैरागन्तुः सोऽष्टमः स्मृतः'** इन तीनों के लिये उन्होंने विशेष नाम भी दिये हैं—

(१) वातपित्तज—परिक्षेपी[1] (२) वातकफज—ऋजु[2] (३) पित्तकफज—अर्शोभगन्दर[3] ।

सुश्रुत ने भगन्दर की उत्पत्ति के पूर्व भी कुछ लक्षण बताये हैं—**'कटीकपालवेदनागुदकण्डूर्दाहः शोथश्च गुदस्य भवति'** ।

आधुनिक दृष्टि से स्थान और आकृति के अनुसार अनेक भेद किये हुए मिलते हैं फिर भी तीन भेद प्रधान हैं—

(१) **पूर्ण या द्विमुख** (Complete)—इसका एक मुख भीतर मलाशय में और दूसरा गुदौष्ठ (Anus) के समीप त्वचा पर खुलता है ।

(२) **अन्तर्मुख या अर्वाचीन** (Blind internal or incomplete fistula) इसमें एक ही मुख होता है जो मलाशय में खुला रहता है । चिकित्सा करने के लिये दूसरा मुख बनाना पड़ता है ।

(३) **बहिर्मुख या पराचीन** (Blind ~~in~~ Externalternal or incomplete fistula)—इसका मुख केवल त्वचा पर ही खुला रहता है ।

सुश्रुत ने भी चिकित्सा स्थान में चिकित्सा की दृष्टि से अन्तर्मुख (अर्वाचीन) और बहिर्मुख (पराचीन) दो ही भेद किये हैं ।

वातिक (शतपोनक) भगन्दरं वर्णयति—

कषायरूक्षैस्त्वतिकोपितोऽनिलस्त्वपानदेशे पिडकां करोति याम् ।
उपेक्षणात् पाकमुपैति दारुणं रुजा च भिन्नाऽरुणफेनवाहिनी ॥२॥
तत्रागमो मूत्रपुरीषरेतसां व्रणैरनेकैः शतपोनकं वदेत् ।

कषाय और रूक्ष पदार्थों के सेवन से अत्यधिक प्रकुपित हुआ वायु गुदप्रदेश में एक पिडका को उत्पन्न कर देता है जो उपेक्षा करने पर पक जाती है, उसमें भयङ्कर पीडा होती है, फूटने पर उससे गुलाबी रंग का फेनयुक्त स्राव निकलता है । इसके अनेक मुख वाले व्रणों से मूत्र, मल तथा शुक्र निकलता है । अतः इसे शतपोनक कहते हैं ॥ २ ॥

---

१. वातपित्तात्परिक्षेपी परिक्षिप्य गुदं गतिः । जायते परितस्तत्र प्राकारं परिखेव च ॥

२. ऋजुर्वातकफादृज्व्या गुदो गत्या विदार्यते ।

३. कफपित्ते तु पूर्वोत्थं दुर्नामाश्रित्य कुप्यतः । अर्शोमूले ततः शोफः कण्डूदाहादिमान् भवेत् ॥ स शीघ्रं पक्वभिन्नोऽस्य क्लेदयन्मूलमर्शसः । स्रवत्यजस्रं गतिभिरयमर्शोभगन्दरः ॥ (अ. सं. उ. २८)

वस्तुतः इन तीनों का समावेश पूर्वोक्त पांच भेदों में ही हो जाता है । केवल अर्शोभगन्दर में इतना अन्तर अवश्य होता है कि पिडका अलग से न बन कर अर्श ही शोथ एवं पाक युक्त होकर पिडकारूप में परिणत हो जाता है और अन्ततः पूर्वोक्त प्रकार से ही भगन्दर बन जाता है । **(सम्पादक)**

शतपोनकमाह—कषायेत्यादि। अपानदेश इति गुददेशे। उपेक्षणादिति विम्लापनाद्यकरणात्। रुजा च भिन्नेति रुजा रुजान्विता, अर्शआदेराकृतिगणत्वादच्, भिन्ना विदीर्णा। व्रणैरनेकैः शतपोनकं वदेदिति शतपोनकतुल्यत्वात् शतपोनकः; शतपोनकश्चालनिका, सहस्रधारेत्यन्ये; किंवा शतपोनकः शूकदोषे पठितो विकारः 'छिद्रैरणुमुखैः' इत्यादिना, किंतु यदि शूकदोषपठितशतपोनकतुल्यत्वमस्य तदा छिद्रैरणुमुखैरित्यादिनिमित्तस्योभयत्र पठितत्वात् किं तत्सादृश्यप्रवृत्तेयं संज्ञा, सा वा एतत्सादृश्यप्रवृत्तेति दुर्विज्ञानात्तत्रापि चालनिकातुल्यत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तमिति मन्यमानेन जेज्जटेन चालनिकातुल्यत्वमत्र वर्णितम्। शतपोनकवदनेकमुखत्वे वातिकभगन्दरस्वभाव एव हेतुः॥ २॥

विमर्श-शतपोनक-जब पूय कई दिशाओं में फैलकर और शाखायुक्त होकर अनेक नाडीव्रणों को उत्पन्न करता है तो उसे शतपोनक या मल्टीपुल फिस्चुली (Multiple fistulae) कहते हैं।

पैत्तिक (उष्ट्रग्रीव) भगन्दरमाह—

प्रकोपणैः पित्तमतिप्रकोपितं
करोति रक्तां पिडकां गुदाश्रिताम्॥ ३॥
तदाऽऽशुपाकाहिमपूतिवाहिनीं
भगन्दरं तूष्ट्रशिरोधरं वदेत्॥ ४॥

अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित हुआ पित्त गुदा के समीप लालवर्ण की पिडका उत्पन्न कर देता है इस जल्दी पकने वाली तथा उष्ण और दुर्गन्धित स्राव का वहन करनेवाली पिडका को उष्ट्रग्रीव भगन्दर कहते हैं। (इसका आकार ऊँट की गर्दन के समान होता है अतः इसे उष्ट्रग्रीव कहते हैं)॥ ३-४॥

उष्ट्रग्रीवलक्षणमाह-प्रकोपणैरित्यादि। तदाशुपाकाहिमपूतिवाहिनीमिति तदेति तत्काले पित्तजत्वेनाशुपाका च सा अहिमपूतिवाहिनी उष्णपूतिवाहिनी च सा आशुपाकाहिमपूतिवाहिनी ताम्। अत्र पिडकावस्थागतगलवक्रत्वेनोष्ट्रग्रीवाकारत्वं, तेनोष्ट्रग्रीवसंज्ञा॥ ३-४॥

कफजं (परिस्राविणं) भगन्दरं प्राह—

कण्डूयनो घनस्रावी कठिनो मन्दवेदनः।
श्वेतावभासः कफजः परिस्रावी भगन्दरः॥ ५॥

खुजली युक्त, गाढ़ा स्राव करने वाले, कठिन, मन्दपीडायुक्त तथा सफेद रंग वाले भगन्दर को परिस्रावी कहते हैं। (इससे निरन्तर घनस्राव निकलता रहता है अतः इसे परिस्रावी कहते हैं)॥

परिस्राविणमाह—कण्डूयन इत्यादि। परिस्रावी कफजः, स च घनस्रावयोगात् परिस्रावी॥ ५॥

सन्निपातजं (शम्बूकावर्त) भगन्दरमाह—

बहुवर्णरुजास्रावा पिडका गोस्तनोपमा।
शम्बूकावर्तवन्नाडी शम्बूकावर्तको मतः॥ ६॥

अनेक प्रकार के रङ्ग, पीडा और स्रावों से युक्त गाय के थन के समान पिडका जब शम्बूकावर्त (घोंघे के आवर्त या नदी की भंवर) के समान (अनेक पीडाओं से युक्त) नाडी का रूप धारण करलेती है तो उसे शम्बूकावर्त भगन्दर कहते हैं॥ ६॥

सन्निपातजं शम्बूकावर्तमाह—बहुवर्णरुजास्रावेत्यादि। प्रत्येकदोषजभगन्दरपठितवर्णवेदनाः स्रावाश्च। शम्बूकावर्तवत् पूर्णनद्याः शम्बूकावर्तवदावर्तनं वेदना दोषगतिविशेषाद्भवन्तीति शम्बूकावर्तः। तथा च भोजः-'नदीनां परिपूर्णानां शम्बूकावर्तका यथा। समुत्तिष्ठन्ति वेगेन तोयवेगसमीरिताः' इति ॥ ६ ॥

विमर्श—इसमें सब दोषों की पिडकाओं के रङ्ग, वेदना तथा स्राव पाये जाते हैं।

शम्बूकावर्तवन्नाडी—

'नदीनां परिपूर्णानां शम्बूकावर्तका यथा। समुत्तिष्ठन्ति वेगेन तोयवेगसमीरिताः॥'

इस प्रकार की वेदनाओं को 'बोरिंग पेन' (Boring pain) कहते हैं। जब भगन्दर या नाडीव्रण टेढ़े-मेढ़े मार्ग से फैलता है किन्तु अनेक शाखाओं में विभक्त न होकर एक ही रहता है तब उसे शम्बूकावर्त कह सकते हैं। कुछ लोग गुदा के चारों ओर एक परिखारूप में व्याप्त भगन्दर जिसको वाग्भट ने परिक्षेपी नाम दिया है उसी का ग्रहण शम्बूकावर्त से करते हैं। आधुनिक शल्यविद् इसे (Horse shoe fistula) कहते हैं।

आगन्तुजं (उन्मार्गिणं) भगन्दरमाह—

क्षताद्गतिः पायुगता विवर्धते
ह्युपेक्षणात् स्युः क्रिमयो विदार्य ते।
प्रकुर्वते मार्गमनेकधा मुखै-
र्व्रणैस्तदुन्मार्गि भगन्दरं वदेत् ॥ ७ ॥

किसी शल्य के अभिघात से गुदागत नाडी बढ़ती जाती है और उपेक्षा करने से उसमें क्रिमि पड़ जाते हैं। वे क्रिमि मार्ग को विदीर्ण करके उसे अनेक प्रकार के मुखों से युक्त बना देते हैं, उसे उन्मार्गी कहते हैं ॥ ७ ॥

उन्मार्गिभगन्दरमागन्तुमाह—क्षताद्गतिरित्यादि। क्षतादिति कण्टकादिघातात्। विदार्य त इति ते क्रिमयो विदार्य मार्गं प्रकुर्वत इति योजना। अनेकधा मुखैरनेकमुखैः। अन्नोन्मार्गेण क्रिमिकृतविमार्गेण पुरीषादिगमनादुन्मार्गिसंज्ञा ज्ञेया। तन्त्रान्तरे त्वर्शोभगन्दरः पठितः। तद्यथा, 'कफपित्ते तु पूर्वोत्थे दुर्नामाश्रित्य कुप्यतः। अर्शोमूले ततः शोथः कण्डूदाहार्तिमान् भवेत्॥ स शीघ्रं पक्वभिन्नोऽस्य क्लेदयन् मूलमर्शसः। स्रवत्यजस्रं गतिभिरयमर्शोभगन्दरः' इति। अयमन्यतमस्मिन् शतपोनकादीनां दोषलक्षणदर्शनादन्तर्भाव्यः॥७॥

विमर्श—क्रिमियों द्वारा बनाये गये विकृतमार्ग से पुरीष-मूत्र आदि का क्षरण होता है अतः इसे उन्मार्गी कहते हैं। सुश्रुत ने इसका वर्णन अधिक स्पष्टरूप से किया है। जब कोई शल्य (अस्थिशल्य) या अन्य इसी प्रकार का पदार्थ गुदा में पहुँच जाता है तो वहाँ क्षत उत्पन्न करके उन्मार्गी भगन्दर को उत्पन्न करता है। इस भगन्दर में भी अनेक मुख होते हैं। वस्तुतः आगन्तुकारणजनित होने मात्र से इसे पृथक् मानते हैं। दोष-सम्बन्ध या आकृतिभेद से इसका भी पूर्वोक्त दोषजभेदों में समावेश सम्भव है तथा दोषजों में भी उपेक्षा या अपचार से क्रिमिसम्बन्ध भी हो सकता है। कुछ आचार्यों ने इसे 'अर्शोभगन्दर' कहा है। वस्तुतः अर्श में पाक होकर भगन्दर की उत्पत्ति होने की सम्भावना रहती ही है। और इस प्रकार उत्पन्न भगन्दर को ही 'अर्शोभगन्दर' कहना उचित है और परिणामतः उसका भी समावेश पूर्वोक्त दोषज भगन्दरों में ही हो जाता है।

साध्यासाध्यतामाह—

घोराः साधयितुं दुःखाः सर्व एव भगन्दराः ।
तेष्वसाध्यस्त्रिदोषोत्थः क्षतजश्च विशेषतः ॥ ८ ॥ (सु. नि. ४)

सभी भगन्दर दुःख देने वाले और कष्टसाध्य होते हैं। उनमें भी त्रिदोषज और क्षतज (आगन्तुज) विशेष रूप से असाध्य होते हैं ॥ ८ ॥

प्रतीकारप्रयत्नायाह—घोरा इत्यादि । दुःखा इति दुःखप्रदाः । क्षतजश्च विशेषत इति क्षतजोऽपि विशेषमनेकव्रणयोगं क्रमिसंभवादिकं च वीक्ष्यासाध्यः, अत एव चिकित्सतेऽसाध्यतां प्रतिज्ञाय क्रियां वक्ष्यति । विशेषत इति ल्यब्लोपे पञ्चमी विशेषतोऽतिशयादसाध्य इत्यर्थः, यापनार्थं क्रियाविधिरिति । क्वचित् 'क्षतजश्च भगन्दरः' इति पाठः । क्षतजो विशेषतः साधुयितुं घोरोऽसाध्य एव, स्रावरूपविशेषस्य युक्तत्वादिति गदाधरः ॥ ८ ॥

वातमूत्रपुरीषाणि क्रिमयः शुक्रमेव च ।
भगन्दरात् स्रवन्तस्तु नाशयन्ति तमातुरम् ॥ ९ ॥ (सु. नि. ३३)

जिन भगन्दरों से वायु, मूत्र, मल, कृमि और शुक्र का स्राव होने लगता है वे रोगी के प्राणों का नाश कर देते हैं ॥ ९ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने भगन्दरनिदानं समाप्तम् ॥ ४६ ॥

अवस्थायामसाध्यतामाह—वातमूत्रपुरीषाणीत्यादि । भगन्दरात्स्रवन्त इत्यत्र 'अमी विशेषा' इति शेषः ॥ ९ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां भगन्दरनिदानं समाप्तम् ॥ ४६ ॥

विमर्श—साधारणतया सभी भगन्दर कृच्छ्रसाध्य हैं । किन्तु ये असाध्य होते हैं—

(१) त्रिदोषज (शम्बूकावर्त)

(२) स्थान के अनुसार प्रवाहणी वलि और सेवनी का भगन्दर ।

(३) आगन्तुज (उन्मार्गी) भगन्दर ।

(४) भीरु और सुकुमार रोगियों का शतपोनक भगन्दर ।

(५) फुफ्फुस और आंत्र के राजयक्ष्मा के रोगियों में होने वाला भगन्दर भी असाध्य होता है, इसका कारण प्राणशक्ति की हीनता है ।

सभी कृच्छ्रसाध्य होते हैं इसके निम्न कारण हैं—

(१) अशुद्ध स्थान होने से पुनः पुनः जीवाणुसंक्रमण का भय रहता है ।

(२) नाडी-मार्गों में सौत्रिकतन्तुओं की अधिकता ।

(३) विकृत अंग को पूर्ण विश्राम का अभाव ।

समाप्तं चेदं भगन्दरनिदानम्

---

१. व्रणयोगात् ।

अथोपदंशनिदानम्

उपदंशस्य निदानमाह—

हस्ताभिघातान्नखदन्तपातादधावनाद्रत्यतिसेवनाद्वा ।
योनिप्रदोषाच्च भवन्ति शिश्ने पञ्चोपदंशा विविधापचारैः ॥ १ ॥

हाथों से शिश्न का मर्दन करने से, नाखून अथवा दांत के लगने से, शिश्न का शोधन न करने तथा मैथुन अधिक करने से, दुष्ट योनि के संसर्ग तथा अन्य अनेक कुपथ्य करने से लिंग में पाँच प्रकार के उपदंश होते हैं ॥ १ ॥

स्थानप्रत्यासत्तेरुपदंशनिदानमाह–हस्तेत्यादि। नखदन्तपातादिति बलवदनुरागोदयान्नखदन्तच्छेदस्थानत्वेनानुक्तेऽपि मेहने नखदन्तपातः; यदुक्तं कामशास्त्रे—**'शास्त्रस्य विषयस्तावद्यावन्मन्दरसा नराः। प्रवृत्ते रतिचक्रे तु न शास्त्रं नापि च क्रमः'** (का. सू. सां. अ. २) **इति। कलहादिवशाद्वा मेहने नखदन्तपातः। अधावनादप्रक्षालनात्। रत्यतिसेवनादिति व्यवायस्यात्यन्तसेवनात्। योनिप्रदोषादिति दीर्घकर्कशरोमादियोगाद्योनिदुष्टेः। शिश्ने मेहने। विविधापचारैरिति अशुद्धसलिलप्रक्षालनब्रह्मचारिणीगमनादिभिः। उपदंशसंज्ञा च दंशनोपाधिमन्तरेणापि रूढा बोद्धव्या। यद्यप्यभिघातक्षते मेहने उपदंश आगन्तुः षष्ठः संभाव्यते, तथाऽपि तस्य दोषलिङ्गयुक्ततया दोषज एवान्तर्भावः ॥ १ ॥**

विमर्श—दुष्ट योनि के संसर्ग से उत्पन्न होने वाले रोगों को मैथुनजन्य रोग (Venereal disease) कहते हैं। चरक ने इसका वर्णन ध्वजभंग के नाम से किया है[1]। सुश्रुत में इसका वर्णन उपदंश नाम से ही मिलता है। उनके अनुसार इसकी उत्पत्ति के तीन मुख्य कारण कहे जा सकते हैं—

(१) मैथुन—केवल मैथुन करने से यह रोग नहीं होता अपितु रजस्वला, दीर्घरोमवाली या कर्कश रोमवाली, अशुद्धयोनि एवं योनिरोग (उपदंश) से पीडित स्त्री के साथ मैथुन करने से उपदंश की उत्पत्ति होती है **'तत्रातिमैथुनादतिब्रह्मचर्याद्वा तथा अतिब्रह्मचारिणीं चिरोत्सृष्टां, रजस्वलां, दीर्घरोमां, कर्कशरोमां, संकीर्णरोमां, निगूढरोमामल्पद्वारां महाद्वारामप्रियामकामामचौक्ष्यसलिलप्रक्षालितयोनिं योनिरोगोपसृष्टां स्वभावतो वा दुष्टयोनिं वियोनिं वा नारीमत्यर्थमुपसेवमानस्य;** (सु० नि० १२।) इसका वर्णन माधव ने अति संक्षेप में अधावन (प्रक्षालन न करना), अतिमैथुन तथा योनिदोष शब्दों के द्वारा किया है।

(२) क्षत—नाखून, दाँत, विषयुक्त शूक (लिंगवर्धक) योग, बन्धन आदि से क्षत हो सकता है। **'करजदशनविषशूकनिपातनाद्बन्धनाद्धस्ताभिघातात् मेढ्रमागत्य प्रकुपिता दोषाः क्षते अक्षते वा श्वयथुमुपजनयन्ति'**। उपदंश उत्पन्न होने के लिये क्षत का होना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि इसके द्वारा उपसर्गकारी जीवाणु शरीर में प्रविष्ट होता है। यह क्षत मैथुन

---

१. दीर्घरोमां चिरोत्सृष्टां तथैव च रजस्वलाम्। दुर्गन्धां दुष्टयोनिं च तथैव च परिस्रुताम् ॥
ईदृशीं प्रमदां मोहाद्यो गच्छेत् कामहर्षितः। चतुष्पदाभिगमनाच्छेफसश्चाभिघाततः ॥
अधावनाद्वा मेढ्रस्य शस्त्रदन्तनखक्षतात्। काष्ठप्रहारनिष्पेषाच्छूकानां चातिसेवनात् ॥
रेतसश्च प्रतीघाताद् ध्वजभङ्गः प्रवर्तते। श्वयथुर्वेदना मेढे रागश्चैवोपलक्ष्यते।
स्फोटाश्च तीव्रा जायन्ते लिङ्गपाको भवत्यपि। मांसवृद्धिर्भवेच्चास्य व्रणाः क्षिप्रं भवन्त्यपि ॥
(च० चि० ३०)

एवं नख आदि के द्वारा होता है। कभी-कभी क्षत विद्यमान होते हुए भी अदृश्य रहता है अतएव उसके लिये 'अक्षते' ऐसा भी कहा है। अक्षते का अर्थ वहाँ क्षत का न दीखना ही समझना चाहिये अभाव नहीं; क्योंकि विना क्षत के जीवाणु-संक्रमण नहीं हो सकता।

(३) वेगविधारण—शुक्र एवं मूत्र के वेग को धारण करना भी इसमें सहायक कारण है।

आधुनिक विद्वान् इस रोग को साफ्ट शैंकर (Soft chancre) कहते हैं। इसके दो प्रकार के कारण हैं—

(१) प्रधान कारण—वेसिलस आफ ड्यूक्रे (Bacillus of ducrey) इस रोग का उत्पादक कारण है। सन् १८८९ में ड्यूक्रे नामक विद्वान् ने सर्वप्रथम इसका पता लगाया था।

(२) सहायक कारण—ये दो हैं—

(क) उपसृष्टयोनि स्त्री से मैथुन (ख) क्षत

उपदंशपीडित व्यक्ति के साथ मैथुन करने से जो क्षत होता है उसके द्वारा जीवाणु प्रविष्ट होकर उपदंश उत्पन्न करता है। इस रोग का संचयकाल (जीवाणु-संक्रमण से लेकर लक्षणोत्पत्ति पर्यन्त का काल) तीन से सात दिन है। उपदंश-पीडित स्त्री से मैथुन करने से पुरुष को और उससे पीडित पुरुष से मैथुन करने वाली स्त्री दोनों को उपदंश होता है—

'स्त्रीणां पुंसां च जायन्ते उपदंशाश्च दारुणाः'

उपदंश (Soft chancre) **के सामान्य लक्षण—**

(१) संचयकाल (लगभग ४-५ दिन) के पश्चात् जननेन्द्रिय पर स्फोट उत्पन्न हो जाता है।

(२) इसके फूटने पर व्रण बन जाता है जिसकी निम्न विशेषतायें होती हैं—

(क) किनारे साफ कटे हुए (Sharply cut) होते हैं।

(ख) व्रण मृदु (Soft) होते हैं इसीलिये इसे 'सॉफ्ट शैंकर' कहते हैं।

(ग) गाढा पीला रक्तयुक्त स्राव निकलता है। यह विषैला होता है, जहाँ लगता है वहाँ व्रण बना देता है।

(घ) यह सदा जननेन्द्रिय पर होता है। पुरुषों में शिश्नमणि (Glans penis) की त्वचा (Prepuse) का बाह्य भाग, सीवनी (Raphe) तथा मणि के आन्तरिक मूत्रमार्ग में इसके व्रण बनते हैं। स्त्रियों की भगशिश्निका (Clitoris) तथा लघुभगौष्ठ (Labia minora) पर इसके व्रण बनते हैं।

(ङ) **विसर्पी**—स्राव के लगने से समीप के अंगों में फैलने की प्रवृत्ति भी इसमें होती है। अनेक व्रण परस्पर मिलकर एक बड़ा व्रण भी बना सकते हैं।

(३) वंक्षणग्रन्थि-शोथ (Inflammation of the Inguinal glands) व्रण की ओर की ग्रन्थियाँ ही सूजती हैं। इनमें स्पर्शासहता (Tenderness) रहती है।

(४) व्रण के समीप का स्थान रक्तिमामय रहता है।

परिणाम—यदि स्वच्छता रखी जाय तो तीन सप्ताह में व्रण का रोपण हो जाता है। अन्यथा व्रणोत्पत्ति का क्रम निरन्तर चलता रहता है। वंक्षण की ग्रन्थियाँ भी पक कर फूटती रहती हैं। कभी-कभी समस्त शिश्न ही शोथयुक्त हो जाता है और शिश्नमणि-त्वचा आदि गलकर गिरने लगते हैं इसीलिये माधव ने कहा है—

संजातमात्रे न करोति मूढः क्रियां नरो यो विषये प्रसक्तः।
कालेन शोथक्रिमिदाहपाकैर्विशीर्णशिश्नो म्रियते च तेन॥

इसमें सार्वदैहिक लक्षण नहीं होते। (परिशिष्ट भी देखिए)

दोषानुसारमुपदंशस्य लक्षणान्याह—

सतोदभेदैः स्फुरणैः सकृष्णैः स्फोटैर्व्यवस्येत् पवनोपदंशम् ।
पीतैर्बहुक्लेदयुतैः सदाहैः पित्तेन—

वातिक उपदंश में सूई के चुभने जैसी पीडा, भेदन तथा फड़कन होती है; स्फोटों का रंग काला होता है। पैत्तिक उपदंश के स्फोट पीले, क्लेद तथा जलनयुक्त होते हैं।

पैत्तिकमाह—पीतैरित्यादि। स्फोटैरित्यनुसंयोजनीयम्। एवमुत्तरत्रापि ॥

रक्तात् पिशिताबभासैः ॥ २ ॥

स्फोटैः सकृष्णै रुधिरं स्रवन्तं रक्तात्मकं पित्तसमानलिङ्गम् ।
सकण्डुरैः शोथयुतैर्महद्भिः शुक्लैर्घनैः स्रावयुतैः कफेन ॥ ३ ॥

मांस के समान अथवा कृष्णवर्ण के तथा रक्तस्राव कराने वाले स्फोटों से युक्त उपदंश को रक्तज समझना चाहिये। इसके अन्य लक्षण पैत्तिक के समान होते हैं। खुजली और शोथ से युक्त बड़े सफेद वर्ण के एवं घन स्राव करानेवाले स्फोटों से युक्त उपदंश को कफज समझना चाहिये ॥ २-३ ॥

रक्तजमाह—रक्तादित्यादि। रक्तात् पिशिताबभासैरिति मांसवत्ताम्रैः स्फोटैः रक्ताच्छोणितादुपदंशं व्यवस्येत्। 'रक्तैः' इति पाठान्तरे रक्तैः शोणितैः ॥ २-३ ॥

नानाविधस्रावरुजोपपन्नमसाध्यमाहुस्त्रिमलोपदंशम् ।

त्रिदोषज उपदंश में विविध प्रकार के स्राव तथा पीडायें होती हैं, उसे असाध्य समझना चाहिये ॥

सन्निपातजमाह—नानाविधेत्यादि। नानाविधस्रावरुजोपपन्नमिति प्रत्येकदोषोक्तस्राववेदनायुक्तम्। त्रिमलोपदंशमिति त्रिदोषोपदंशम् ॥

विमर्श—सुश्रुत ने रक्तज को याप्य बताया है—**'रक्तजे कृष्णस्फोटप्रादुर्भावोऽत्यर्थमसृक्प्रवृत्तिः पित्तलिङ्गान्यत्यर्थं ज्वरदाहौ शोषश्च याप्यश्चैव कदाचित्'**। तथा त्रिदोषज उपदंश में कृमियों की उत्पत्ति भी बताया है—**'सर्वजे सर्वलिङ्गदर्शनमवदरणं शेफसः कृमिप्रादुर्भावो मरणं चेति'** (सु. नि. १२)

असाध्यतां निरूपयति—

विशीर्णमांसं कृमिभिः प्रजग्धं मुष्कावशेषं परिवर्जयेच्च ॥ ४ ॥

जिस रोगी के शिश्न का मांस कटकर गिरने लगा हो, या कृमियों से खा लिया गया हो और इसीलिये जिसमें केवल अण्डकोष ही शेष रह गये हों उसे असाध्य समझना चाहिये ॥ ४ ॥

असाध्यतामाह—विशीर्णेत्यादि। मुष्कावशेषमिति विशीर्णसमस्तमेहनमांसत्वेनावशिष्टफलकोषमात्रम् ॥ ४ ॥

विमर्श—सुश्रुत ने ये ही लक्षण त्रिदोषज के बताये हैं। रोग की उपेक्षा करने पर भी आगे चलकर यही दशा उत्पन्न हो जाती है।

चिकित्साऽभावे परिणाममाह—

संजातमात्रे न करोति मूढः क्रियां नरो यो विषये प्रसक्तः ।
कालेन शोथक्रिमिदाहपाकैर्विशीर्णशिश्नो म्रियते स तेन ॥ ५ ॥

रोग उत्पन्न होते ही जो मूर्ख रोगी विषयासक्त होने के कारण चिकित्सा नहीं कराता; कुछ समय के पश्चात् उसका शिश्न शोथ, कृमि, दाह और पाक के उपरान्त नष्ट होकर गिर जाता है जिससे रोगी की मृत्यु तक हो जाती है ॥ ५ ॥

उपक्रमे चिकित्साकरणार्थमाह—संजातेत्यादि। विषये प्रसक्त इति अतिव्यवायरतः; कालेन चिरकालेन ॥ ५ ॥

लिङ्गसदेशत्वाल्लिङ्गार्शो लिङ्गवर्तिं वा प्राह—

अङ्कुरैरिव सङ्घातैरुपर्युपरि संस्थितैः।
क्रमेण जायते वर्तिस्ताम्रचूडशिखोपमा ॥ ६ ॥
कोषस्याभ्यन्तरे सन्धौ सर्वसन्धिगताऽपि वा।
(सवेदना पिच्छिला च दुश्चिकित्स्या त्रिदोषजा।)
लिङ्गवर्तिरभिख्याता लिङ्गार्श इति चापरे ॥ ७ ॥

अंकुरों के समान लम्बे क्रमशः एक दूसरे के ऊपर स्थित मांस के प्रवर्धनों से क्रमशः कोष (शिश्न-चर्म या Prepuse) के अन्दर शिश्नमणि के छिद्र के पास अथवा सम्पूर्ण छिद्र पर मुर्गे की चोटी के समान एक वर्ति-सी उत्पन्न होती है। यह त्रिदोषज होती है। इसमें पीडा, पिच्छिलता पायी जाती है। इसे कृच्छ्रसाध्य समझना चाहिये। कोई लोग इसे लिंगवर्ति और कोई लिंगार्श कहते हैं ॥ ६-७ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने उपदंशनिदानं समाप्तम् ॥ ४७ ॥

एकस्थानत्वेनात्र लिङ्गार्शं आह—अङ्कुरैरित्यादि। अङ्कुरैरङ्कुरसदृशैरीषद्दीर्घैः, संघातैर्मांसप्रतानैः, 'संजातैः' इति पाठे 'मांसैः' इति शेषः। ताम्रचूडशिखोपमेति ताम्रचूडः कुक्कुटः, तच्चूडातुल्या। सन्धाविति मेढ्रन्ध्रसन्धौ, सर्वसन्धिगतेत्यनेन सर्वसन्धेरुक्तत्वात्। एषा त्रिदोषजा; अत एव 'सवेदना पिच्छिला च दुश्चिकित्स्या त्रिदोषजा' इति क्वचित् पाठः। सुश्रुते क्वचित् स्त्रीणामप्युपदंशः पठ्यते। यथा, 'मेढ्रसंधौ व्रणाः केचित् केचित् सर्वाश्रयास्तथा। कुलत्थाकृतयः केचित् केचित् पद्मदलोपमाः॥ रुजादाहार्तिबहुलाः कृष्णास्तोदसमन्विताः। शीघ्रं केचिद्विसर्पन्ति शनैः केचित्तथाऽपरे। स्त्रीणां पुंसां च जायन्ते उपदंशाः सुदारुणाः' इति। किंतु समानतन्त्रेष्वदर्शनादेतदनार्षमाहुः ॥ ६-७ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायामुपदंशनिदानं समाप्तम् ॥ ४७ ॥

विमर्श—लिंगार्श को आजकल वार्ट (Wart) कहते हैं। शिश्न पर होने वाला यह एक प्रकार का अर्बुद है। सुश्रुत ने इसका वर्णन अर्श के प्रकरण में ही किया है और वहाँ इसे लिंगार्श नाम दिया गया है—**'प्रकुपितास्तु दोषा मेढ्रमभिप्रपन्ना मांसशोणिते प्रदूष्य कण्डूं जनयन्ति, ततः कण्डूयनात् क्षतं समुपजायते, तस्मिंश्च क्षते दुष्टमांसजाः प्ररोहाः पिच्छिलरुधिरस्राविणो जायन्ते कूर्चकिनोऽभ्यन्तरमुपरिष्टाद्वा ते तु शेफो विनाशयन्त्युपघ्नन्ति च पुंस्त्वम्'**। इसी प्रकार स्त्रियों की योनि में भी इसकी उत्पत्ति होती है—**योनिमभिप्रपन्नाः सुकुमारान्, दुर्गन्धान् पिच्छिलरुधिरस्राविणश्छत्राकारान् करीराञ्जनयन्ति ते तु योनिमुपघ्नन्त्यार्तवं च'** (सु. नि. २) इस लिंगार्श के अन्तर्गत पाश्चात्त्य-सम्मत पेपिलोमा, वार्ट, कण्डाइलोमा (Condyloma), ग्रेनुलोमा (Granuloma) और पालीपस सबका अन्तर्भाव हो जाता है।

उपदंश रोग पुरुषों और स्त्रियों में भी होता है अथवा नहीं इस सम्बन्ध में मतभेद है। सुश्रुत ने तो स्पष्टतया कहा है **'स्त्रीणां पुंसां च जायन्ते उपदंशाः सुदारुणाः'** किन्तु मधुकोषकार ने इस पाठ को ही प्रक्षिप्त या अनार्ष माना है। कुछ अर्वाचीन टीकाकारों ने भी श्रीकण्ठदत्त का ही अनुकरण किया है। किन्तु यह उनका भ्रम है। वस्तुतः यह रोग स्त्री और पुरुष दोनों में ही होता है जैसा कि प्रथम श्लोक के विमर्श में स्पष्ट वर्णित है। केवल स्त्री और पुरुष-जननेन्द्रियों में अन्तर होने से रोग के स्थान और कभी-कभी लक्षणों में भी कुछ अन्तर होता ही है। इसी प्रकार इसे अर्वाचीन फिरंग (Syphilis) समझना भी भ्रमपूर्ण है। यदि दोनों एक ही होते तो भावमिश्र को इसका अलग उल्लेख करने की आवश्यकता न अनुभूत होती तथा फिरंग के समान उपदंश के भी सार्वदैहिक लक्षण वर्णित मिलते। फिरंग रोग का विशद वर्णन आगे किया जा रहा है।

उपदंश के अतिरिक्त निम्न रोग भी मैथुनजन्य होते हैं—

(१) फिरंग (Syphilis), (२) औपसर्गिक पूयमेह (Gonorrhoea)

(३) गुह्यवंक्षणीय कणार्बुद (Granuloma genito-inguinale)

(४) ब्रध्न या बद (climatic bubo or lympho-granuloma)

फिरंग (Syphilis)—यह एक मैथुनजन्य संक्रामक रोग है। आयुर्वेदिक वाङ्मय में इसका वर्णन सर्वप्रथम भावप्रकाश-कार ने किया है उसका अविकल वर्णन यहाँ दिया जाता है—

फिरंगसंज्ञके देशे बाहुल्येनैव यद्भवेत् । तस्मात् फिरंग इत्युक्तो व्याधिर्व्याधिविशारदैः ॥

फिरंग नामक देश में अधिकतर होता है इसीलिये उसे भी फिरंग कहा जाता है।

गन्धरोगः फिरंगोऽयं जायते देहिनां ध्रुवम् । फिरंगिनोऽङ्गसंसर्गात् फिरंगिण्याः प्रसंगतः ॥

यह एक संक्रामक (Infectious disease) है जो फिरंग-पीडित पुरुष के संसर्ग से स्त्री को अथवा फिरंगपीडित स्त्री के संसर्ग से पुरुष को होता है।

व्याधिरागन्तुजो ह्येष दोषाणामत्र संक्रमः । भवेत्तल्लक्षयेत्तेषां लक्षणैर्भिषजां वरः ॥

यह रोग बाह्यजीवाणुजन्य होने के कारण आगन्तुज होता है किन्तु उसमें दोषों का संक्रमण हो जाने से उन-उन दोषों के लक्षणों को भी वैद्य को ध्यानपूर्वक देखना चाहिये। (आयुर्वेदिक सिद्धान्त के अनुसार आगन्तुक व्याधि उत्पन्न होने के पश्चात् दोषों से सम्बन्धित हो जाती है **'आगन्तुर्हि व्यथापूर्वं समुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यमापादयति'** (च. सू. २०))

'फिरंगस्त्रिविधो ज्ञेयो बाह्य आभ्यन्तरस्तथा । बहिरन्तर्भवश्चापि तेषां लिंगानि च ब्रुवे ॥'

फिरंग रोग बाह्य, आभ्यन्तर तथा उभयविध (बाह्याभ्यन्तर) भेद से तीन प्रकार का होता है उसके लक्षण आगे कहे जाते हैं।

तत्र बाह्यः फिरंगः स्याद्विस्फोटसदृशोऽल्परुक् । स्फुटितो व्रणवद्वैद्यैः सुखसाध्योऽपि सो मतः ॥

बाह्य फिरंग में फोड़े से निकलते हैं जिनमें पीडा कम होती है फूटने पर वैद्यों ने इसे व्रण के समान सुखसाध्य माना है।

सन्धिष्वाभ्यन्तरः स स्यादामवात इव व्यथाम् । शोफं च जनयेदेव कष्टसाध्यो बुधैः स्मृतः ॥

सन्धिगत फिरंग आभ्यन्तर कहलाता है, वह आमवात के समान पीडायुक्त शोफ को उत्पन्न कर देता है। विद्वानों ने इसे कष्टसाध्य माना है।

फिरंग के उपक्रम—

कार्श्यं बलक्षयो नासाभङ्गो वह्नेश्च मन्दता । अस्थिशोषोऽस्थिवक्रत्वं फिरंगोपद्रवा अमी ॥

कृशता, बलहानि, नासाभङ्ग (नासावंश का नीचे झुक जाना), अग्निमान्द्य, अस्थिशोष तथा अस्थिवक्रता (Ricket) ये फिरंग के उपद्रव हैं।

साध्यासाध्यता—

बहिर्भवो भवेत्साध्यो नवीनो निरुपद्रवः। आभ्यन्तरस्तु कष्टेन साध्यः स्यादयमामयः। बहिरन्तर्भवश्चापि क्षीणस्योपद्रवैः पुनः। व्याप्तो व्याधिरसाध्योऽयमित्याहुर्मुनयः पुरा।

उपद्रवरहित नवीन बाह्य फिरंग साध्य होता है। आभ्यन्तर कष्टसाध्य है। क्षीण रोगी का उपद्रवयुक्त बाह्य या आभ्यन्तर प्रकार का फिरंग असाध्य होता है।

अर्वाचीन दृष्ट्या फिरंग के कारणों को दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) **प्रधान कारण**—ट्रिपोनिमा पैलिडम (Treponema palidum) इसका प्रधान कारण है। यह लालकण के समान किन्तु लम्बा और कुण्डलित होता है। यह शिश्न की क्षत-त्वचा से प्रविष्ट होता है।

(२) **सहायक कारण**—मैथुन या वंशपरम्परा इसके सहायक कारण हैं। वंशपरम्परा से सहज फिरंग होता है। इसका कारण सन्तानोत्पादक बीज का फिरंग से प्रभावित होना है।

२ से ६ सप्ताह इस रोग का संचयकाल है।

लक्षणों तथा समय की दृष्टि से इसे तीन अवस्थाओं में विभक्त कर सकते हैं—

(१) प्रथमावस्था (First stage)—यह भावप्रकाश का बाह्य भेद है, इसमें केवल स्थानीय लक्षण ही पाये जाते हैं। साधारणतया उपसर्ग के पश्चात् तीसरे सप्ताह में शिश्न पर दाना निकल कर यह रोग प्रारम्भ होता है। फिर दाना फूट कर व्रण का रूप धारण कर लेता है। व्रण के निम्न लक्षण होते हैं—

१. पुरुषों में शिश्नाग्रचर्म (Prepuse) के भीतर और स्त्रियों में बृहद्भगोष्ठ (Labia majora) के भीतर व्रण बनता है।

२. यह संख्या में प्रायः एक होता है।

३. आकार में गोल तथा स्पर्श में कड़ा होता है। इसीलिये इन्हें हार्ड शैंकर (Hard chancre) कहते हैं।

४. व्रण से लसिकामय स्राव होता है जिसमें जीवाणुओं की उपस्थिति पायी जाती है।

५. कभी-कभी स्राव लगने से ओष्ठ, स्तन, अँगुली तथा जिह्वा पर भी दाने पड़ जाते हैं।

लसिकामय स्राव की सूक्ष्मदर्शक से परीक्षा करने पर तथा रक्त की वाशरमैन प्रतिक्रिया (Wasserman reaction) के द्वारा इस रोग का निदान किया जा सकता है। दूसरी परीक्षा प्राथमिक व्रण के दो-तीन सप्ताह बाद उपयोगी होती है।

(२) **द्वितीय अवस्था** (Second stage)—इस अवस्था में विष समस्त शरीर में फैलकर विविध विकार उत्पन्न करता है। प्राथमिक व्रण उत्पन्न होने के तीन से आठ सप्ताह के भीतर लक्षण प्रारम्भ हो जाते हैं और दो वर्ष तक यह अवस्था रहती है। चिकित्सा न करने पर दुर्बल रोगियों में लक्षण भयंकरस्वरूप के होते हैं। इस अवस्था में शरीर की त्वचा पर दाने निकलने लगते हैं। इनकी निम्न विशेषतायें हैं—

(क) ये वर्ण और आकार में समान नहीं होते।

(ख) शरीर के दोनों ओर समान स्थानों पर निकलते हैं।

(ग) ये स्वयं ठीक हो जाते हैं और उनके स्थान पर लाल धब्बे पड़ जाते हैं।

(घ) इनमें कण्डू या पीडा नहीं होती।

(ङ) बाह्य त्वचा की भाँति ओष्ठ, जिह्वा, तालु तथा कपोल की श्लेष्मलकला पर भी छाले पड़ते हैं। ये छाले गोल, राख के वर्ण के तथा साफ कटे हुए किनारेवाले होते हैं।

(च) जहाँ त्वचा सदा गीली रहती है और जहाँ त्वचा तथा श्लेष्मलकला परस्पर मिलती है (जैसे-गुदा और भगोष्ठ) वहाँ भी बड़ा छाला बन जाता है जिसे कन्डाइलोमा (Condyloma) कहते हैं।

(छ) कक्षा, कुहनी, ग्रीवा तथा वंक्षण की लसग्रन्थियाँ फूल जाती हैं।

इन लक्षणों के अतिरिक्त कुछ सार्वदैहिक लक्षण भी होते हैं जैसे—

१. ज्वर (Fever)
२. शिरःशूल (Headache)
३. सन्धिशूल जो रात्रि में अधिक होता है।
४. पाण्डुता तथा दुर्बलता।
५. कनीनिका-प्रकोप (Iritis)
६. बाल गिरने लगते हैं।

(३) **तृतीय अवस्था** (Tertiary stage)—व्रण की अवस्था के ६ मास पश्चात् इस अवस्था का प्रारम्भ हो सकता है। साधारणतया दो-तीन साल बाद यह अवस्था प्रारम्भ होती है। त्वचा, उपत्वचा, लसग्रन्थि, अस्थ्यावरण, अस्थि, पेशी, यकृत्, प्लीहा तथा वृषण ग्रन्थियों आदि शरीर के विभिन्न भागों में ग्रन्थियाँ बनने लगती हैं जिन्हें गमा (Gumma) या गोन्दार्बुद कहते हैं।

गमा के लक्षण—

(१) त्वचा के समीप होने पर फटने से सूखा श्वेत पदार्थ निकलता है।
(२) सड़ने पर फूटने से गोंद के समान स्राव निकलता है।
(३) नासाभंग (Spindle nose) यह नासा के गमा के कारण होता है।
(४) तालुविदार (Perforated palate)
(५) पक्षाघात या पङ्गुत्व—मस्तिष्क या सुषुम्ना के गमा के कारण।
(६) श्रुति तथा दृष्टिनाश—इन नाडियों के गमा से।
(७) जिह्वा-विदार।
(८) रक्तवाहिनी की दीवार मोटी हो जाने से रक्तदाब बढ़ जाता है।

कभी-कभी चतुर्थावस्था भी होती है—इसका प्रभाव मस्तिष्क-संस्थान पर विशेष पड़ता है। इसे नाडीसंस्थानीय फिरंग (Neuro-syphilis) कहते हैं। इससे फिरंगी खंजता (Tabes dorsalis) और फिरंगज सर्वांगघात युक्त उन्माद (General paralysis of insane or G. P. I.) रोग उत्पन्न होते हैं। (परिशिष्ट भी देखिए।)

फिरंगज व्रण तथा उपदंशज व्रण में अन्तर

फिरंगज व्रण	उपदंशज व्रण
(१) मैथुन के पश्चात् तीसरे सप्ताह दाना निकलता है।	(१) तीसरे या चौथे दिन दाना प्रारम्भ होता है।
(२) यह साधारणतया एक होता है।	(२) साधारणतया दाने अनेक होते हैं।
(३) व्रण तरुणास्थि के समान कठिन होता है।	(३) व्रण मृदु होता है।
(४) लसिकामय स्राव होता है, दाह नहीं होता।	(४) दाह होता है, स्राव रक्त और पूयमय होता है।
(५) किनारे साफ व पोले नहीं होते और न तो ऊँचे उठे होते हैं।	(५) व्रण के किनारे साफ कटे हुए पोले तथा उठे हुए होते हैं।
(६) पीडा नहीं होती।	(६) व्रण में अत्यधिक पीडा होती है।

फिरंगज व्रण	उपदंशज व्रण
(७) स्राव में ट्रिपोनिमा पैलिडा नामक जीवाणु मिलता है।	(७) इसके स्राव में बेसिलस ब्यूक्रे मिलता है।
(८) व्रण के दोनों ओर की वंक्षण-ग्रन्थियाँ फूलती हैं।	(८) केवल व्रग की दिशा की वंक्षण-ग्रन्थियाँ फूलती हैं।
(९) उपेक्षा से भी स्थानिक लक्षण शान्त हो जाते हैं, किन्तु सार्वदैहिक लक्षण व्यक्त होते हैं।	(९) उपेक्षा से स्थानीय धातुओं का अधिक नाश होता है। सार्वदैहिक लक्षण नहीं होते।
(१०) स्राव को सुई द्वारा प्रविष्ट करने पर समान व्रण पैदा नहीं होता।	(१०) इसमें समान व्रण पैदा हो जाता है।

औपसर्गिक पूयमेह या सुजाक (Gonorrhoea)—

यह भी एक मैथुनजन्य व्याधि है। इस रोग का कारण गोनोकोकस (Gonococcus) नामक जीवाणु है। पूयमेह के रोग से पीडित व्यक्ति के संसर्ग से यह जीवाणु प्रविष्ट होकर मूत्रमार्ग में शोथ उत्पन्न कर देता है। मैथुन के लगभग आठ दिन पश्चात् लक्षण प्रारम्भ हो जाते हैं। इसके निम्न लक्षण हैं—

(१) मूत्र-मार्ग में सूजन लाली तथा जलन होती है।
(२) मूत्र त्यागने में पीडा।
(३) मूत्र द्वारा रक्त मिला स्राव निकलता है।
(४) कटि भाग में भारीपन, मलावरोध तथा ज्वर ये लक्षण होते हैं।

चिकित्सा न करने पर तीन-चार सप्ताह में रोग की तीव्र अवस्था समाप्त हो जाती है और रोग पुराणस्वरूप धारण कर लेता है। इस प्रकार रोग ऊपर एवं अन्दर की ओर बढ़ कर पौरुष-ग्रन्थि, वस्ति आदि में शोथ उत्पन्न करता है। इसका जीवाणु रक्त में प्रविष्ट होकर सन्धि और हृदय में भी शोथ उत्पन्न करता है। पूयमेह वातरक्त या गठिया का प्रधान कारण है। मूत्रमार्ग में व्रणरोपण होने के पश्चात् संकोच हो जाता है जिसे शिश्न-सांकोच्य (Stricture of urethra) कहते हैं। इसके कारण कभी-कभी मूत्रमार्ग पूर्णतया बन्द हो जाता है जिससे मूत्र-त्याग में बहुत कष्ट होता है। स्त्रियों में यह फैलकर गर्भाशय, बीजवाहिनी, बीजकोश (Ovary) तथा उदर में भी पहुँच जाता है। इससे उन अंगों में शोथ हो जाता है। उदर में पहुँचने पर उदरावरणशोथ (Peritonitis) हो सकता है। यदि गर्भवती स्त्री पूयमेह से पीडित हो तो प्रसव के समय शिशु की आँखों में पूय लगने से अभिष्यन्द पैदा हो जाता है इसे नवजात नेत्राभिष्यन्द (Opthalmia neonatorum) कहते हैं। प्रसूति-पूर्व स्त्री को पूयमेह से मुक्त करा देना आवश्यक है। नवजात शिशु की आँखें साफ करके सिल्वर नाइट्रेट के २ प्रतिशत घोल की दो बूँदें डाल देनी चाहिये। इससे बच्चे की आँखें खराब नहीं हो पातीं।

समाप्तं चेदमुपदंशनिदानम्

अथ शूकदोषनिदानम्

शूकदोषव्याधेर्निदानमाह—

अक्रमाच्छेफसो वृद्धिं योऽभिवाञ्छति मूढधीः ।
व्याधयस्तस्य जायन्ते दश चाष्टौ च शूकजाः ॥ १ ॥

जो मूर्ख व्यक्ति विधि को छोड़ कर लिंग की वृद्धि चाहता है उसको अठारह प्रकार की शूकजन्य व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं ॥ १ ॥

समानस्थानत्वाच्छूकदोषनिदानमाह—अक्रमादित्यादि । शूको जलशूकः, स तु विषजन्तुर्जलमलोद्भवः सशूकः, तथा शूकप्रधानो लिङ्गवृद्धिकरो वात्स्यायनाद्युक्तो योगः शूक उच्यते; तस्य दोषो वैकृतमसम्यक्करणात्, ततो वा दोषो वातादिः, तत्कृतो वा विकारः, 'दोषा अपि व्याध्याख्या लभ्यन्ते' इत्यागमात्; अत एव शूकदोषविवरणे शूकदोषनिमित्ता व्याधय एव बोद्धव्याः । एवं च यदत्र 'कुम्भिका रक्तपित्तोत्था' इत्यादिकारणान्तरोपवर्णनं तत् शूककृतरक्तपित्तादिरूपं ज्ञेयम् । अन्ये त्वादिशब्दलोपात् शूकादिदोषनिदानमाहुः । आदिशब्देन दुष्टयोनिगूढान्तर्लोमदुर्भगागमनादि गृह्यते; तन्न मनोहरं, 'वृद्धिं योऽभिवाञ्छति' इत्यनेन विशेषणेन दुष्टयोन्यादेरयोग्यस्य ग्रहीतुमनर्हत्वात् । अन्ये तु दुष्टयोन्यादीन्युपदंशहेतुत्वेनोक्तत्वान्नानुमन्यन्ते; तदनैकान्तिकम्, एकजातीयहेतूनामनेकरोगकरणदर्शनात् । अक्रमादित्यनुचितवृद्धिक्रमात्; अनुचिता च वृद्धिर्भूरिविकारकरजलशूकयोगानामवचारणात्, जलशूकयोगानां वात्स्यायनादौ **विस्तरः । यथा-भल्लातकास्थिजलशूकमथाब्जपत्रमन्तर्विदह्य मतिमान् सह सैन्धवेन । एतद्विरूढबृहतीफलतोयपिष्टमालेपनं महिषविड्विमलीकृतेऽङ्गे॥स्थूलं महत्तरतुरङ्गमतुल्यमाशु शेफं करोत्यभिमतं न हि संशयोऽस्ति' इत्यादि । यच्च जलशूकरहितमश्वगन्धादितैलं तदुचितमेव लिङ्गवर्धनम् । यदुक्तम्-अश्वगन्धावरीकुष्ठमांसीसिंहीफलान्वितम् । चतुर्गुणेन दुग्धेन तिलतैलं विपाचयेत् ॥ स्तनलिङ्गकर्णपालिवर्धनं म्रक्षणादिदम्' इति ।** गदाधरस्त्वाह **लिङ्गवृद्धिरेव कामपरायणनिन्दितपुरुषैः क्रियमाणा अक्रमः । दश चाष्टौ चेत्यष्टादश; संख्येयनिर्देशादेव लब्धायां संख्यायां पुनस्तदुक्तिः संमूढपिडकादौ द्वित्वशङ्कानिरासार्थम् ॥ १ ॥**

विमर्श—जल के मल से उत्पन्न होने वाले एक विषैले जन्तु का नाम शूक है । इससे बनने वाले शिश्नवर्धक योग को भी शूक ही कह दिया जाता है । जिन पुरुषों का लिंग इतना छोटा होता है कि वे मैथुन का आनन्द प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं उनके लिंग को बढ़ाने वाले कतिपय योग वात्स्यायन कामसूत्र आदि में मिलते हैं, उन योगों में शूक की प्रधानता रहती है अतः उनको भी शूक कहा जाता है ।

भल्लातकास्थिजलशूकमथाब्जपत्रमन्तर्विदह्य मतिमान् सह सैन्धवेन ।
एतद्विरूढबृहतीफलतोयपिष्टमालेपनं महिषविड्विमलीकृतेऽङ्गे ।
स्थूलं महत्तरतुरङ्गमतुल्यमाशु शेफं करोत्यभिमतं नहि संशयोऽस्ति ॥ (वात्स्यायन)

अर्थात् भिलावे की गुठली, जलशूक, कमलपत्र और सेंधा नमक को अन्तर्धूम भस्म कर उसे पके हुए कटेरी के फल के रसों से पीसकर, भैंस के गोबर से साफ किए हुए शिश्न पर लेप करने से शिश्न मोटा, लम्बा और दृढ होता है ।

शूकजन्य विकार को शूकदोष कहते हैं । ये विकार अठारह हैं जिनका वर्णन सुश्रुत ने भी किया है—**'लिंगवृद्धिमिच्छतामक्रमप्रवृत्तानां शूकदोषनिमित्ता दश चाष्टौ व्याधयो जायन्ते**

तद्यथा-सर्षपिका, अष्ठीलिका, ग्रथितं, कुम्भीका, अलजी, मृदितम्, सम्मूढपिडका, अवमन्थः, पुष्करिका, स्पर्शहानिः, उत्तमा, शतपोनकः, त्वक्पाकः, शोणितार्बुदम्, मांसपाकः, मांसार्बुदम्, विद्रधिः, तिलकालकश्चेति' (सु. नि. १४)

सर्षपिकाख्यं शूकदोषं प्राह—

गौरसर्षपसंस्थाना शूकदुर्भुग्नहेतुका ।
पिडका श्लेष्मवाताभ्यां ज्ञेया सर्षपिका तु सा ॥ २ ॥

शूक योगों के दुरुपयोग से उत्पन्न कफवातजन्य सफेद सरसों के बराबर की पिडिका को सर्षपिका कहते हैं । सुश्रुत इसे कफरक्तज मानते हैं ॥ २ ॥

सर्षपिकामाह-गौरेत्यादि । शूकदुर्भुग्नहेतुकेति दुर्भुग्नशूकहेतुकेत्यर्थः । पिडकादिषु उभयवचनमिति (?) परनिपातः । दुर्भुग्नो दुरवचारितः । 'शूकदुर्भंगहेतुका' इति पाठान्तरे शूकनिमित्ता दुष्टयोनिनिमित्ता चेत्यर्थः ॥ २ ॥

विमर्श—सर्षपिका का प्रमेह पिडिकाओं में भी पाठ आया है पर ये दोनों आपस में बिल्कुल भिन्न हैं । मेहजन्य पिडिका मधुमेह एवं दुष्ट मेद के कारण होती है । दोष मेहानुसार होता है और सन्धि-मर्म या मांसल स्थानों में उसका अवस्थान होता है । यहाँ पर यह शूकदोष के कारण होती है—इसके दोष स्थिर होते हैं, और यह मेढ़ में ही होती है । सुश्रुत ने इसे कफरक्तज माना है ।

गौरसर्षपतुल्या तु शूकदुर्भुग्नहेतुका। पिडिकाकफरक्ताभ्यां ज्ञेया सर्षपिका बुधैः ॥ (सु.नि.१४)

इस श्लोक में अनेक पाठभेद भी मिलते हैं । 'शूकदुर्भंगहेतुका' यह पाठ मानने पर 'शूक और दुर्भंग (दूषित योनि) के कारण उत्पन्न' यह अर्थ किया जाता है ।

अष्ठीलिकासंज्ञं शूकदोषं व्याचष्टे—

कठिना विषमैर्भुग्नैर्वायुनाऽष्ठीलिका भवेत् ।

अप्रशस्त या अयोग्य शूकों के प्रयोग से वायु के प्रकोप होने पर जो कठिन पिडिका उत्पन्न होती है उसे अष्ठीलिका कहते हैं ।

अष्ठीलिकामाह-कठिनेत्यादि । विषमैर्भुग्नैरिति वक्ष्यमाणशूकैरित्यनेन संबध्यते । विषमैरित्यप्रशस्तैः । अष्ठीलिका लोहकारस्य भाण्डीविशेषः, तत्तुल्यत्वादष्ठीलिका ॥

ग्रथितं शूकदोषमाह—

शूकैर्यत् पूरितं शश्वद् ग्रथितं नाम तत् कफात् ॥ ३ ॥

जो सदा शूकों से पूर्ण गांठ के समान प्रतीत हो वह कफजन्य ग्रथित नाम का शूकदोष है ॥३॥

ग्रथितमाह—शूकैरित्यादि । शूकैर्यत् पूरितं शश्वद्ग्रथितमिति शूकैः सर्वदा पूरितं लिङ्गं यद् ग्रन्थिलं तद् ग्रथितमित्यर्थः, ग्रन्थितुल्यत्वाद् ग्रथितसंज्ञा ॥ ३ ॥

कुम्भिकां प्राह—

कुम्भिका रक्तपित्तोत्था जाम्बवास्थिनिभाऽशुभा ।

रक्त और पित्त के प्रकोप से उत्पन्न जामुन की गुठली के समान और काली पिडका कुम्भिका कहलाती है ॥

कुम्भिकामाह-कुम्भिकेत्यादि । कुम्भी कुम्भीडुलता, तस्याः फलं कुम्भी; तद्धितस्य लुक्; इवे प्रतिकृतौ इति कन्, कुम्भीफलवत् कुम्भिका । अशुभेति शुभं शुक्लं तद्विरोधे नञ्, कृष्णेत्यर्थः । 'आशुजा' इति पाठान्तरम् ॥

अलजीमाह—

तुल्यजां त्वलजीं विद्याद्यथाप्रोक्तां विचक्षणः ॥ ४ ॥

प्रमेहपिडका की अलजी के समान ही इस अलजी के भी हेतु और लक्षण होते हैं ॥ ४ ॥

अलजीमाह-तुल्यजामित्यादि । तुल्यजामिति प्रमेहपिडिका अलजी तत्तुल्यसंभवा-सा च रक्ताऽसिता स्फोटचिता । तुल्यत्वमेव विवृणोति—यथाप्रोक्तामिति, अलजी यथा प्रोक्ता यादृशलक्षणा तथेयमपीत्यर्थः । एषा च कारणचिकित्साभेदात् प्रमेहं विना लिङ्ग एव संभवाच्च ततः पृथग्भूता ज्ञेया ॥ ४ ॥

विमर्श—अलजी भी प्रमेहपिडिकाओं में कही गयी है पर वह प्रमेहजन्य या मेदोदोष से होती है और यह शूक दोष में पठित अलजी भी मेहोक्त के समान ही है । हाँ ! यदि मेहजन्य-पिडिका लिंग में हो जाये जैसा कि संभव भी है तो उसे प्रमेहपिडिका कहेंगे या शूकदोषजन्य पिडिका । इसका उत्तर यह है कि यदि निदान में शूकदोष नहीं है तो वह पिडिका प्रमेह या मेदोदोषजन्य मानी जायेगी । किन्तु शूकदोषजन्य अलजी केवल लिंग में ही होती है, अन्यत्र नहीं ।

मृदितं निरूपयति—

मृदितं पीडितं यच्च संरब्धं वातकोपतः ।

शूकप्रयोग के उपरान्त मर्दन करने से वात-प्रकोप के कारण शिश्न में सूजन आ जाती है उसे मृदित कहते हैं ॥

मृदितमाह-मृदितमित्यादि । पीडितमिति अधिकृतत्वात् शूकपातानन्तरं पीडितमिति ज्ञेयं, पीडितं 'लिङ्गम्' इति शेषः, संरब्धं सशोथम् ॥

संमूढपिडकां प्राह—

पाणिभ्यां भृशसंमूढे संमूढपिडका भवेत् ॥ ५ ॥

शूकप्रयोग के पश्चात् हाथों से खूब मसलने के कारण उत्पन्न पिडका को संमूढपिडका कहते हैं ॥

संमूढपिडकामाह-पाणिभ्यामित्यादि । पाणिभ्यां भृशसंमूढे इत्यधिकारात् पातितशूके लिङ्गे पाणिभ्यां भृशसंमूढे पिच्चितावनते, अत्रापि 'वातकोपात्' इत्यनुवर्तते ॥ ५ ॥

विमर्श—इसमें पिच्चित व्रण बनने के पश्चात् पिडका बनती है, और मृदित में केवल वायु के प्रकोप से शोथ होता है यही इन दोनों में भेद है ।

अधिमन्थं प्राह—

दीर्घा बह्वयश्च पिडका दीर्यन्ते मध्यतस्तु याः ।
सोऽधिमन्थः कफासृग्भ्यां वेदनारोमहर्षकृत् ॥ ६ ॥

जिसमें बहुत-सी और बड़ी फुंसियाँ हों जो मध्य से फट जाती हैं और जिसमें वेदना और रोमहर्ष होता है वह कफ और रक्त से उत्पन्न अधिमन्थ नामक शूकदोष है ॥ ६ ॥

अधिमन्थमाह-दीर्घा इत्यादि । कफासृग्भ्यामिति शूकपातकृताभ्याम् । एवमन्यत्रापि सामान्येन शूकदोषाभिहिते शूकपातोऽनुक्तोऽपि ज्ञेयः । वेदनारोमहर्षकृदिति वेदनया रोम-हर्षं करोति ॥ ६ ॥

विमर्श—सुश्रुत ने इसके लिये अवमन्थ शब्द का प्रयोग किया है । अधिमन्थ एक नेत्र रोग भी है जो कि सर्वगत है । वह नेत्रोद्देजक कारणों से होता है और यह शूकदोष से और लिंग में ।

पुष्करिकामाह—

पिडका पिडकाव्याप्ता पित्तशोणितसंभवा ।
पद्मकर्णिकसंस्थाना ज्ञेया पुष्करिका तु सा ॥ ७ ॥

अनेक पिडकाओं से व्याप्त पित्त और रक्त से उत्पन्न कमलकर्णिका के आकार की पिडका पुष्करिका कहलाती है ॥ ७ ॥

पुष्करिकामाह-पिडकेत्यादि ॥ ७ ॥

स्पर्शहानिं प्राह—

स्पर्शहानिं तु जनयेच्छोणितं शूकदूषितम् ।

शूक से दूषित रक्त स्पर्शहानि कराता है अर्थात् रक्तदूषित होकर स्पर्शज्ञान में कमी कर देता है ॥

स्पर्शहानिमाह-स्पर्शहानिं त्वित्यादि ॥—

उत्तमामाह—

मुद्गमाषोपमा रक्ता रक्तपित्तोद्भवा तु या ॥ ८ ॥
व्याधिरेषोत्तमा नाम शूकाजीर्णनिमित्तजा ।

आकार में मूँग या उड़द के समान लालवर्ण की रक्तपित्तजजन्य पिडका जो शूकाजीर्ण अर्थात् पुनः पुनः शूक-प्रयोग से उत्पन्न होती है वह उत्तमा कहलाती है ॥ ८ ॥

उत्तमामाह—मुद्गमाषेत्यादिना । एषोत्तमा व्याधिः शूकाजीर्णनिमित्तजा भवति, शूकाजीर्णं पुनः पुनर्दुरवचारितशूकविकृतिरूपमेव । व्याधिरेषोत्तमो नामेति पाठान्तरे एषोत्तम इति निर्देशः पूर्वत्रासिद्धविधेरनित्यत्वात् साधुः ॥ ८ ॥

शतपोनकमाह—

छिद्रैरणुमुखैर्लिङ्गं चितं यस्य समन्ततः ॥ ९ ॥
वातशोणितजो व्याधिः स ज्ञेयः शतपोनकः ।

जिसमें पुरुष का लिंग छोटे-छोटे मुखवाले (चलनी के समान) अनेक छिद्रों से व्याप्त रहता है उस वातरक्तज व्याधि को शतपोनक कहते हैं ॥ ९ ॥

शतपोनकमाह—छिद्रैरणुमुखैरित्यादिना । छिद्रैरिति दुरवचारितशूकदोषजनितवातशोणितजैः चितमुपचितम्, अत एव चिकित्सायां लेखनोपदेशः । शतपोनकश्चालनिका, तत्तुल्यत्वात् शतपोनकः ॥ ९ ॥

त्वक्पाकं लक्षयति—

वातपित्तकृतो ज्ञेयस्त्वक्पाको ज्वरदाहकृत् ॥ १० ॥

वात और पित्त से उत्पन्न ज्वर एवं दाह से युक्त शूकदोष को त्वक्पाक जानना चाहिये ॥१०॥

त्वक्पाकमाह—वातपित्तकृत इत्यादि । शूकदोषेषु क्वचित् कस्यचिद्दोषस्याभिधानं शूकविशेषादाहाराचारभेदाच्च समर्थनीयम् ॥ १० ॥

विमर्श—सुश्रुत ने इसे पित्तरक्तज माना है। कहीं-कहीं 'वातपित्तकृतः' यह पाठ भी समुपलब्ध होता है। इस प्रकार आहार-विहार के अनुसार दोषभेद होना असंभव नहीं है।

शोणितार्बुदं प्राह—

कृष्णैः स्फोटैः सरक्ताभिः पिडकाभिर्निपीडितम्।
यस्य वास्तुरुजश्चोग्रा ज्ञेयं तच्छोणितार्बुदम् ॥ ११ ॥

जिस रोगी का लिंग काले रंग के फफोलों और रक्तवर्ण की पिडकाओं से पीडित रहता है और जिसके व्रणस्थान पर भयंकर पीडा होती है वह शोणितार्बुद होता है ॥ ११ ॥

शोणितार्बुदमाह—कृष्णैः स्फोटैरित्यादिना। पिडकाभिरिति स्वल्पाभिर्निपीडितं लिङ्गमिति बोद्धव्यम्। यस्य वास्तुरुज इति वास्तु व्रणाधिष्ठानं, तत्र रुजः, अगाधोच्छ्रितमांसशोथत्वात्। 'वस्तिरुजश्चोग्रा' इति पाठान्तरम्। अर्बुदं दुरवचारितशूकजशोणितकृतम् ॥ ११ ॥

विमर्श—वास्तु के स्थान पर सुश्रुत ने वस्ति में पीडा का निर्देश किया है।

मांसार्बुदमाह—

मांसदोषेण जानीयादर्बुदं मांससंभवम्।

शूक-प्रयोग के कारण मांसदुष्टि होने से मांसार्बुद की उत्पत्ति होती है।

मांसार्बुदमाह—मांसदोषेणेत्यादि। मांसदोषेणेति शूकपातानन्तरं प्रहारादिना कृतेन मांसदोषेण।

मांसपाकं प्राह—

शीर्यन्ते यस्य मांसानि यस्य सर्वाश्च वेदनाः ॥ १२ ॥
विद्यात्तं मांसपाकं तु सर्वदोषकृतं भिषक्।

जिसका मांस गलने लगा हो और जिसको सब दोषों की वेदनायें होती हों वैद्य उसे सर्वदोषजन्य मांसपाक से पीडित समझें ॥ १२ ॥

मांसपाकमाह—शीर्यन्ते यस्येत्यादि। शीर्यन्ते गलन्ति, सर्वाश्च वेदना इति वातपित्तकफजाः ॥ १२ ॥

विद्रधिं विवेचयति—

विद्रधिं सन्निपातेन यथोक्तमिति निर्दिशेत् ॥ १३ ॥

नाना प्रकार के रंग, पीडा और स्राव वाली सन्निपातजन्य पिडका को विद्रधि समझना चाहिये।

विद्रधिमाह—विद्रधिमित्यादि। सन्निपातेन यथोक्तमिति 'नानावर्णरुजास्रावाः' इत्यादिना सन्निपातजविद्रधिलक्षणं विद्रधिमिह जानीयादित्यर्थः ॥ १३ ॥

तिलकालकमाह—

कृष्णानि चित्राण्यथवा शूकानि सविषाणि वा।
पातितानि पचन्त्याशु मेढ्रं निरवशेषतः ॥ १४ ॥
कालानि भूत्वा मांसानि शीर्यन्ते यस्य देहिनः।
सन्निपातसमुत्थांस्तु तान् विद्यात्तिलकालकान् ॥ १५ ॥

काले अथवा कबरे अति विषयुक्त शूक प्रयोग करने पर सम्पूर्ण शिश्न को पका देते हैं। इससे जिस रोगी का मांस कृष्ण वर्ण का होकर गलकर गिरने लगता है। उस सन्निपातजन्य व्याधि को तिलकालक कहते हैं ॥ १४-१५ ॥

तिलकालकमाह—कृष्णानीत्यादि । चित्राणीति नानावर्णानि । सविषाणीति शूकानां सविषत्वेऽपि विशेषार्थमुक्तम् । कालानीति कृष्णानि, कृष्णतिलतुल्यत्वात्तिलकालकसंज्ञा । शीर्यन्ते गलन्ति ॥ १४-१५ ॥

शूकदोषस्यासाध्यतां ग्राह—

तत्र मांसार्बुदं यच्च मांसपाकश्च यः स्मृतः । (सु. नि. १४)
विद्रधिश्च न सिद्ध्यन्ति ये च स्युस्तिलकालकाः ॥ १६ ॥

मांसार्बुद, मांसपाक, विद्रधि तथा तिलकालक नाम के शूकदोष असाध्य होते हैं ॥ १६ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने शूकदोषनिदानं समाप्तम् ॥ ४८ ॥

शूकदोषेष्वसाध्यानाह-तत्र मांसार्बुदमित्यादि । यच्चेति चकारोऽयं भिन्नक्रमः, स च न सिध्यतीत्यनन्तरं द्रष्टव्यः, तेन साध्यताऽप्येषामचिरत्वादिना भवति, अत एव प्रत्याख्याय चिकित्साविधानमुपपन्नमिति गदाधरः । **दुर्ज्ञानात् साध्ये एवासाध्यतारोपादसंपूर्णावस्थायामसाध्येऽपि क्रियासिद्धेश्च मा निवर्ततां भिषगिति प्रत्याख्याय चिकित्सां कारुणिकतया आचार्य उपदिशतीति मन्तव्यम् ॥ १६ ॥**

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां शूकदोषनिदानं समाप्तम् ॥ ४८ ॥

विमर्श—वाग्भट आदि ने शूकदोषों का उल्लेख गुह्य रोगों में किया है तथा चरक-सुश्रुतादि प्राचीन आचार्यों द्वारा शूकदोष से भिन्न वर्गों में पठित कतिपय रोगों जैसे—लिङ्गार्श, निवृत्त, अवपाटिका, निरुद्धमणि, निरुद्धप्रकश और परिवर्तिका आदि रोग जिनका उल्लेख चरक और सुश्रुत में अर्श, उपदंश और क्षुद्र रोगों में है उनका भी समावेश कर अठारह के स्थान पर चौबीस भेद माने हैं । दोनों ही पक्ष विभिन्न दृष्टिकोणों से उचित ही हैं । एक ही रोग विभिन्न अवस्थाओं में विशिष्ट लक्षण-सम्पन्न होकर मूल रोग से भिन्न प्रतीत होने लगता है तब उसे भिन्न संज्ञा भी दी जा सकती है । यथा शिश्नाग्रत्वचा के बहिश्छिद्र सूक्ष्म होने के कारण शिश्नमणि के न खुलने को सुश्रुतादि ने निरुद्धप्रकश तथा उसी शिश्नाग्र त्वचा में क्षोभ, शोथ आदि होकर मणि से उसके संसक्त हो जाने को वाग्भटादि आचार्यों ने निरुद्धमणि संज्ञा दी है किन्तु शार्ङ्गधर-संहिता आदि में दोनों ही का पृथक्-पृथक् उल्लेख है । इसी प्रकार कोई एक रोग किसी कारण विशेष से तथा विभिन्न कारणों से भी होता है । जैसे—तिलकालक को सुश्रुत ने शूकदोषजन्य एवं क्षुद्ररोग भी माना है । वाग्भटोक्त निवृत्त रोग कफानुबन्धी परिवर्तिका रोग में समाविष्ट होने से सुश्रुतादि ने उसका पृथक् उल्लेख नहीं किया है ।

इससे यह भी प्रमाणित होता है कि मूलतः शूकजनित होने के कारण एक होते हुए भी द्रव्यान्तर संयोगजनित विभिन्न दोषों के तारतम्य, रोग के स्वल्प या अधिक विस्तार आदि के कारण विभिन्न लक्षण युक्त विकार उत्पन्न हो सकते हैं और उनके विशिष्ट लक्षणों के आधार पर उनको विशेष संज्ञा भी प्राप्त होती है ।

समाप्तं चेदं शूकदोषनिदानम्

अथ कुष्ठनिदानम्

कुष्ठस्य निदानसम्प्राप्तिपूर्वकं संख्यामाह—

विरोधीन्यन्नपानानि द्रवस्निग्धगुरूणि च ।
भजतामागतां छर्दिं वेगांश्चान्यान् प्रतिघ्नताम् ॥ १ ॥
व्यायाममतिसन्तापमतिभुक्त्वा निषेविणाम् ।
घर्मश्रमभयार्तानां द्रुतं शीताम्बुसेविनाम् ॥ २ ॥
अजीर्णाध्यशिनां चैव पञ्चकर्मापचारिणाम् ।
नवान्नदधिमत्स्यातिलवणाम्लनिषेविणाम् ॥ ३ ॥
माषमूलकपिष्टान्नतिलक्षीरगुडाशिनाम् ।
व्यवायं चाप्यजीर्णेऽन्ने निद्रां च भजतां दिवा ॥ ४ ॥
विप्रान् गुरून् धर्षयतां पापं कर्म च कुर्वताम् ।
वातादयस्त्रयो दुष्टास्त्वग्रक्तं मांसमम्बु च ॥ ५ ॥
दूषयन्ति स कुष्ठानां सप्तको द्रव्यसंग्रहः ।
अतः कुष्ठानि जायन्ते सप्त चैकादशैव च ॥ ६ ॥ (च. चि. ७)

विरुद्ध अन्न-पान व द्रव और स्नेह बहुल गरिष्ठ पदार्थों के सेवन करने वाले, उपस्थित वमन व अन्य वेगों को रोकने वाले, अत्यधिक भोजन करने के उपरान्त व्यायाम करने वाले व अत्यधिक सन्ताप (अग्नि) का सेवन करने वाले, धूप, परिश्रम तथा भय से पीडितावस्था में बिना विश्राम किए ठण्डा पानी सेवन करने वाले, अपक्व पदार्थों का भोजन करने वाले व अध्यशन करने वाले, पञ्चकर्म में कुपथ्य करने वाले, नवीन अन्न, दही, मछली, लवण व अत्यन्त खट्टे पदार्थों का अत्यधिक सेवन करने वाले, उड़द, आलू, पिट्ठी के बने पदार्थ, तिल, दूध तथा गुड़ आदि का एक साथ सेवन करने वाले भोजन का परिपाक न होने पर भी मैथुन करने व दिन में सोने वाले, ब्राह्मण तथा माता-पिता और आचार्य का तिरस्कार एवं नीच कर्म करने वाले व्यक्तियों में वात, पित्त और कफ ये तीनों दोष कुपित होकर त्वचा, रक्त, मांस और शरीरस्थ जलीय धातु को दूषित कर देते हैं। ये ही सात सब कुष्ठों के उत्पादक कारण हैं। इस प्रकार अठारह प्रकार के कुष्ठ उत्पन्न हो जाते हैं ॥ १–६ ॥

अष्टादशसंख्यारूपेण तुल्यत्वात् कुष्ठनिदानमुच्यते। विशेषेण कुष्ठजनकं निदानमाह—विरोधीनीत्यादि। विरोधीनि 'न मत्स्यान् पयसाऽभ्यवहरेत्' (च. सू. स्था. २६) इत्यादिनोक्तानि। भजतामिति पूर्वेण संबध्यते। आगतामिति उपस्थितवेगाम्। वेगांश्चान्यानिति मूत्रपुरीषादिवेगान्। व्यायाममतिसन्तापमतिभुक्त्वेति भुक्त्वा व्यायाममतियुज्य सन्तापमतियुज्य निषेविणामिति एतयोरेव सेवनशीलानां, निषेविणामित्यनेन सह प्रथमतः सम्बन्धे कृद्योगलक्षणा षष्ठी स्यात्, ततश्च व्यायामस्यातिसन्तापस्यातिनिषेविणामिति प्रयोगः प्रसज्येत। 'शीतोष्णलङ्घनाहारान् क्रमं मुक्त्वा निषेविणाम्' इति पाठान्तरे शीतो-

ष्णादीनां यदा येन क्रमेण सेव्यत्वमुक्तं, तद्वैपरीत्येन तान् सेव्यमानानां; शीतोष्णलङ्घनाहारानित्यनन्तरं प्रतीति द्रष्टव्यं, तेन शीतोष्णादीन् प्रति यः क्रमस्तं मुक्त्वा एतेषामेव निषेविणाम्। घर्मश्रमभयार्तानामिति घर्मादिभिरार्तत्वे सति द्रुतमविश्रम्य शीताम्बुसेविनाम्। घर्म आतपः। अजीर्णाध्यशिनामिति अजीर्णसाममन्नम्, अपक्वमिति यावत्, तद्भुञ्जानानाम्; अध्यशिनामाहारे एवापरिणते भुञ्जानानाम्। अशिनामिति अजीर्णाधिशब्दाभ्यां सह सम्बध्यते। पञ्चकर्मापचारिणामिति पञ्चकर्मणि क्रियमाणेऽपचारिणाम्। नवान्नदधिमत्स्यानीति अतिशब्दो नवान्नादिभिः सर्वैः सम्बध्यते। व्यवायं चाप्यजीर्ण इति विदग्धादिरूपे अजीर्णे। धर्षयतामिति अभिभवताम्। पापं कर्म च कुर्वतामित्यनेनैव विप्रादिधर्षणे लब्धे पुनस्तद्वचनं विशेषार्थम्। दोषदूष्यसंग्रहमाह–वातादय इत्यादिना वातादीनां त्रित्वे प्रतीतेऽपि त्रय इति वचनं सर्वकुष्ठेषु मिलितानामेव त्रयाणां दुष्टिप्रदर्शनार्थम्। द्रव्यसंग्रह इति द्रव्यमारम्भकं कारणमुच्यते; यथा–'रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा' (च. सू. १) इति। अर्थलब्धमपि सप्तकमिति पदं सर्वत्र सप्तकनियमार्थं पुनरुक्तम्। ननु, विसर्पाणां समुत्पादे एतावत्येव सामग्री, यदुक्तं–'रक्तं लसीका त्वङ्मांसं दूष्यं दोषास्त्रयो मलाः। विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्त धातवः' (च. चि. २१) इति। इति लसीकया च तत्रोदकमुच्यते, तत् किंनिबन्धनः कुष्ठविसर्पयोर्भेदः? उच्यते, कुष्ठं चिरक्रियैः स्थिरैरप्रबलरक्तपित्तैर्दोषैर्जन्यते, विसर्पस्त्वचिरविसर्पणशीलैः प्रबलरक्तपित्तैः, कुष्ठे गुरुप्रधर्षणपरद्रव्यापहारादयो निमित्तं न विसर्पे। अन्ये त्वाहुः–विसर्पा वातादिभिरेकैकशोऽपि भवन्ति, यदुक्तं–'पृथक् त्रयस्त्रिभिश्चैको विसर्पा द्वन्द्वजास्त्रयः' (च. चि. २१) इति, कुष्ठं तु त्रिदोषजमेवेति। किं त्वेतत्समाधानं त्रिदोषत्वेऽपि विसर्पाणामेकदोषजकुष्ठवदेकदोषजत्वकीर्तनं सङ्गतमिति न मनोहरम्। अतः कुष्ठानीति अत इत्यस्मात् दोषदूष्यसमुदायात्। सप्त चैकादशैव चेति विच्छेदपाठेन सप्तानां महाकुष्ठत्वमेकादशानां क्षुद्रत्वमिति बोधयति ॥ १–६ ॥

विमर्श—**'कुष्णातीति कुष्ठम्'** शरीर की त्वचा आदि धातुओं का नाश करने के कारण इस रोग को कुष्ठ कहते हैं। आयुर्वेद में कुष्ठ शब्द से त्वचा के दाद, खुजली जैसे साधारण रोग तथा कोढ़ दोनों का ग्रहण किया जाता है। इन दोनों में भेद प्रदर्शित करने के लिये क्षुद्रकुष्ठ और महाकुष्ठ दो नाम बताये गये हैं। क्षुद्रकुष्ठ ग्यारह प्रकार का और महाकुष्ठ सात प्रकार का होता है। क्षुद्र कुष्ठ के लिये आजकल त्वग्रोग (Deseases of the skin) तथा महाकुष्ठ के लिये लेप्रोसी (Leprosy) कहते हैं। सुश्रुत ने भी कुष्ठोत्पत्ति के लिये उपर्युक्त हेतु ही बताये हैं। इन हेतुओं से प्रकुपित हुए पित्त और कफ प्रकुपित वायु के साथ तिर्यग्गामिनी सिराओं के द्वारा बाह्यरोगमार्ग[1] में चारों ओर फैल जाते हैं। जिस जिस स्थान पर ये दोष पहुंचते हैं वहां मण्डलों की उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार त्वचा में फैले हुए दोष प्रतिकार न करने पर बढ़कर आन्तरिक धातुओं में प्रविष्ट हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि प्रथम त्वचा में ही कुष्ठ के लक्षण उत्पन्न होते हैं और कालान्तर में दोष आन्तरिक धातुओं में प्रविष्ट होने लगता है। 'वातादयः' से तीनों दोषों का बोध हो जाने पर 'त्रयः' का प्रयोग इस बात को विशिष्ट रूप से द्योतित करता है कि सभी कुष्ठ संमिलित कारणों एवं दोषों से होते हैं।

सापेक्षनिदानः—विसर्प में भी द्रव्यसप्तक को ही कारण माना है यथा—**'रक्तं लसीका**

---

१. 'तत्र शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक् च, स बाह्यो रोगमार्गः'।

त्वक् मांसं दूष्यं दोषास्त्रयो मलाः । विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्त धातवः' फिर विसर्प और कुष्ठ में भेद क्या है ?

उत्तर—(१) कुष्ठ चिर क्रिया वाले, स्थिर एवं निर्बल रक्त पित्त वाले दोषों से होता है। और विसर्प अचिरकारी विसर्पणशील प्रबल रक्तपित्त वाले दोषों से होता है। (२) कुष्ठ के गुरु की अवज्ञा आदि पापकर्म कारण है पर विसर्प में ऐसा कुछ नहीं। (३) विसर्प वातादि एक एक दोष से भी होता है कुष्ठ त्रिदोषज ही होता है। पर श्रीकण्ठदत्त एवं अन्य कुछ आचार्य इस समाधान को नहीं मानते क्योंकि त्रिदोषज विसर्प की भी त्रिदोषज होते हुए भी एकदोषज कुष्ठ के समान, प्रधानतावश एक दोष से उत्पत्ति मानी जा सकती है।

कुष्ठ एक विशिष्ट जीवाणुजन्य रोग है जो त्वचा, श्लैष्मिककला, वातनाडी, अस्थि तथा आन्तरिक अङ्गों (विशेषतया यकृत् और प्लीहा) में होता है। इसके निम्न कारण हैं—

(१) प्रधान कारण—कुष्ठ का दण्डाणु (**Bacillus leprae**) इस रोग का प्रधान कारण है।

(२) सहायक कारण—इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण विरुद्ध आहार-विहार (यथा मछली, नवान्न, नवदधि, अध्यशन आदि) और दुर्बलता उत्पन्न करने वाले रोग (यथा विषमज्वर, कालाज़ार, फिरंग तथा अंकुश मुखकृमि) आ जाते हैं। म्यूर सदृश कुछ आधुनिक विद्वान् भी मछली-सेवन का कुष्ठ से सम्बन्ध बताते हैं। उनका कहना है कि दूषित मछली का सेवन कुष्ठोत्पत्ति का सहायक कारण है किन्तु उससे पूर्व शरीर में कुष्ठोत्पादक जीवाणु की उपस्थिति अनिवार्य है। उसके बिना केवल इससे कुष्ठ की उत्पत्ति नहीं हो सकती। दो साल से दस साल या इससे भी अधिक काल तक इस रोग का सञ्चय-काल (Incubation period) है।

चरक त्रिदोष, त्वचा, रक्त, मांस एवं जलीय धातु की एक साथ दुष्टि होने से कुष्ठ की उत्पत्ति मानते हैं। किन्तु सुश्रुत का मत है कि त्रिदोष प्रकुपित हो कर प्रथम त्वचा में लक्षण उत्पन्न करता है और उपेक्षा करने पर पश्चात् रक्त आदि धातुओं में भी अन्दर प्रविष्ट हो जाता है।

कुष्ठस्य सप्त प्रकारानाह—

कुष्ठानि सप्तधा दोषैः पृथग्द्वन्द्वैः समागतैः ।
सर्वेष्वपि त्रिदोषेषु व्यपदेशोऽधिकत्वतः ॥ ७ ॥ (वा. नि. १४)

वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, वातपित्तज, वातकफज, पित्तकफज तथा सन्निपातज भेद से कुष्ठ सात प्रकार के होते हैं। सभी कुष्ठ त्रिदोषज होते हैं किन्तु दोषों की उल्वणता या अधिकता के आधार पर वातिक आदि व्यवहार किया जाता है ॥ ७ ॥

कुष्ठानां त्रिदोषजत्वेऽप्युल्बणदोषेण सप्तप्रकारतामाह-कुष्ठानीत्यादि। दोषैः पृथक् त्रयः, द्वन्द्वैस्त्रयः समागतैः सन्निपातैरेक इति सप्तत्वम्। व्यपदेशोऽधिकत्वत इति यथा-वातेन कुष्ठं कापालमित्यादि ॥ ७ ॥

विमर्श—इन सातों को महाकुष्ठ (Leprosy) कहते हैं। सुश्रुतने भी महाकुष्ठ सात ही माने हैं **'सप्त महाकुष्ठानि'**। माधव ने आगे ग्यारह क्षुद्रकुष्ठों का वर्णन किया है। सुश्रुत का भी यही मत है। **'एकादश क्षुद्रकुष्ठानि'** ये त्वचा के सामान्य रोग हैं। इस प्रकार आयुर्वेद में अठारह प्रकार के कुष्ठों का वर्णन मिलता है। चरक ने तो इनकी असंख्यता भी बताई है; क्योंकि त्वचा के रोगों की संख्या का निश्चय नहीं किया जा सकता—**'स सप्तविधोऽष्टादशविधोऽसंख्येयविधो वा भवति'**।

कुष्ठस्य पूर्वरूपाण्याह—

अतिश्लक्ष्णखरस्पर्शस्वेदास्वेदविवर्णताः ।
दाहः कण्डूस्त्वचि स्वापस्तोदः कोठोन्नतिर्भ्रमः ॥ ८ ॥
व्रणानामधिकं शूलं शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिः ।
रूढानामपि रूक्षत्वं निमित्तेऽल्पेऽतिकोपनम् ॥ ९ ॥
रोमहर्षोऽसृजः कार्ष्ण्यं कुष्ठलक्षणमग्रजम् । (वा. नि. १४)

त्वचा का स्पर्श अत्यधिक चिकना या अत्यधिक रूक्ष होना, अत्यधिक स्वेद अथवा स्वेद का पूर्णतया अवरोध, त्वचा में विवर्णता जलन, खुजली, सुप्ति या संज्ञाहीनता कभी-कभी सुई के चुभने के समान पीडा (Sensation of pins and needles), त्वचा पर चकत्तों (Patches) की उत्पत्ति, भ्रम (Vertigo), व्रणों की शीघ्र उत्पत्ति, देर तक स्थिति और उनमें अत्यधिक पीडा का होना, व्रणों का रोपण होने पर भी रूक्षता, साधारण कारण भी उपस्थित हो जाने पर उनकी अत्यधिक वृद्धि, रोमहर्ष तथा रक्त का काला पड़ जाना ये कुष्ठ के पूर्वरूप हैं ॥ ८-९ ॥

पूर्वरूपमाह-अतिश्लक्ष्णेत्यादिना । अतिश्लक्ष्णोऽतिमसृणः । खरो रूपः (खरः कर्कशः), अतिश्लक्ष्णो वा खरो वा स्पर्शः । स्वेदास्वेदौ स्वेदवहस्रोतोऽवरोधानवरोधकृतौ । स्वापः स्पर्शाज्ञानम् । कोठोन्नतिः वरटीदष्टसंकाशः शोथः कोठः, तस्योन्नतिः । शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिश्च व्रणानामेव । निमित्तेऽल्पेऽतिकोपनमिति अन्यथाऽपि दुष्टशोणितत्वाद्व्रणानां देहगतानामल्पेऽपि हेतौ कोपः । कुष्ठलक्षणमग्रजमिति कुष्ठानां पूर्वरूपमित्यर्थः ॥ ८-९ ॥

विमर्श—आधुनिक मत से भी कुष्ठ से पूर्व कुछ लक्षण होते हैं जिन्हें कुष्ठ के पूर्वरूप (Stage of prodromata) कहते हैं । ये एक से दो वर्ष तक रहते हैं । साधारण स्वास्थ्य की हानि के साथ इन लक्षणों का प्रारम्भ होता है । पुनः पुनः ज्वर का आना, दुर्बलतावृद्धि, बुभुक्षानाश, स्वेद की अधिकता (विशेषतया धड़ पर), पेशियों में पीडा, अधिकस्पर्शता (Hypersthesia), तोद (Sensation of pins and needles) ये लक्षण होते हैं । कभी-कभी नासिका से रक्त-स्राव होता है । इसके बाद त्वचा पर छोटे या बड़े कोठ या ददोरे (Patches) बनने लगते हैं । रोगी को सरसराहट (Tingling) और दाह (Burning) का अनुभव होता है । ये लक्षण अधिकतर नासिका, भ्रुकुटि, कान, कपोल तथा शाखा और हाथों की प्रसारक पेशियों की ओर, नितम्ब तथा धड़ में होते हैं । त्वचा सूखी और फटी हुई प्रतीत होती है । बाल (विशेषतया भ्रुकुटि के) गिर जाते हैं । सुश्रुत ने भी ये ही लक्षण माने हैं—**'तस्य पूर्वरूपाणि-त्वक्पारुष्यमकस्माद्रोमहर्षः कण्डूः स्वेदबाहुल्यमस्वेदनं वाऽङ्गप्रदेशानां स्वापः क्षतविसर्पणमसृजः कृष्णता चेति'** (सु० नि० ७) ।

सप्तमहाकुष्ठानां लक्षणान्याह—

कृष्णारुणकपालाभं यद्रूक्षं परुषं तनु ॥ १० ॥
कापालं तोदबहुलं तत्कुष्ठं विषमं स्मृतम् ।
रुग्दाहरागकण्डूभिः परीतं रोमपिञ्जरम् ॥ ११ ॥
उदुम्बरफलाभासं कुष्ठमौदुम्बरं वदेत् ।

श्वेतं रक्तं स्थिरं स्त्यानं स्निग्धमुत्सन्नमण्डलम् ॥ १२ ॥
कृच्छ्रमन्योन्यसंयुक्तं कुष्ठं मण्डलमुच्यते ।
कर्कशं रक्तपर्यन्तमन्तःश्यावं सवेदनम् ॥ १३ ॥
यदृष्यजिह्वसंस्थानमृष्यजिह्वं तदुच्यते ।
सश्वेतं रक्तपर्यन्तं पुण्डरीकदलोपमम् ॥ १४ ॥
सोत्सेधं च सरागं च पुण्डरीकं तदुच्यते ।
श्वेतं ताम्रं तनु च यद्रजो घृष्टं विमुञ्चति ॥ १५ ॥
प्रायश्चोरसि तत् सिध्ममलाबुकुसुमोपमम् ।
यत्काकणन्तिकावर्णं सपाकं तीव्रवेदनम् ॥ १६ ॥
त्रिदोषलिङ्गं तत्कुष्ठं काकणं नैव सिध्यति । (च. चि. ७)

काले और लालवर्ण के कपाल (खप्पड़) के समान रूक्ष, कठिन, अल्प त्वचा वाले एवं तोदयुक्त कुष्ठ को कापाल कहते हैं, यह विषम अर्थात् कृच्छ्रसाध्य या विषमाकृति होता है। पीड़ा, जलन, राग (रक्तता) और खुजली से युक्त, कपिलवर्ण के रोमवाले और गूलर के फल के समान कुष्ठ को औदुम्बर कहते हैं। सफेद या रक्तवर्ण के स्थिर; आर्द्र, चिकने, उठे हुए चकत्ते वाले और एक दूसरे मण्डल से संयुक्त कुष्ठ को मण्डल कुष्ठ कहते हैं, यह भी कृच्छ्रसाध्य होता है। कठोर, किनारों पर लाल, बीच में श्याव, वेदनायुक्त तथा ऋष्य (हरिण विशेष जिसे रोझ भी कहते हैं) की जिह्वा के आकार का कुष्ठ ऋष्यजिह्व कहलाता है। सफेद व लाल किनारे वाले, रक्तकमलसदृश, उन्नत और मध्य में श्वेतरक्त कुष्ठ को पुण्डरीक कहते हैं। जो कुष्ठ सफेद या ताम्रवर्ण का होता है और रगड़ने से जिससे धूलि निकलती है, जो लौकी के फूल के समान होता है उसे सिध्म कुष्ठ कहते हैं; यह प्रायः छाती पर होता है। जो घुंघची के वर्ण का (मध्य में कृष्ण और इधर-उधर लाल या मध्य में लाल और चारों ओर काला) पाकयुक्त, तीव्र वेदनावाला और त्रिदोष के लक्षणों से युक्त होता है उसे काकण कहते हैं। यह असाध्य होता है ॥ १०-१६ ॥

सप्तमहाकुष्ठानां लक्षणमाह-कृष्णारुणकपालाभमित्यादि । कृष्णारुणकपालाभं कृष्णारुणकपालवर्णं, कपालं खर्परशकलम् । परुषं खरस्पर्शम् । तनु तनुत्वक्, विषमं दुश्चिकित्स्यम् । औदुम्बरमाह-रुगित्यादि रोमपिञ्जरमिति रोमभिः पिञ्जरं कपिलरोममित्यर्थः । मंडलकुष्ठमाह, श्वेतेत्यादि स्थिरं कठिनं स्त्यानमार्द्रं सजलं वा । उत्सन्नमण्डलमुद्गतमण्डलम् । कृच्छ्रं कृच्छ्रसाध्यम् । अन्योन्यसंयुक्तमिति अपरापरैर्मिलितम् । ऋष्यजिह्वमाह, कर्कशमित्यादि ऋष्यजिह्वासंस्थानमिति ऋष्यो नीलाण्डो हरिणः, रोझु इति प्रसिद्धः तस्य जिह्वाकारम् । पुण्डरीकमाह सश्वेतमित्यादि । पुण्डरीकदलोपममिति पुण्डरीकं रक्तपद्मं तत्पत्रोपमं, तेन सश्वेतं रक्तपर्यन्तम् । सरागमिति सलोहितं, मध्ये श्वेतलोहितमित्यर्थः । सिध्मलक्षणमाह-श्वेतमित्यादि, श्वेतं ताम्रमिति श्वेतलोहितात्मकम् । प्रायश्चोरसीत्युरसि तद्बाहुल्येन भवति, कफप्रधानत्वात् । प्रायोग्रहणादन्यत्रापि भवति । काकणमाह-यदित्यादि यत् काकणन्तिकावर्णमिति काकणन्तिका गुञ्जा गुञ्जासवर्णत्वेन च मध्ये कृष्णमन्ते रक्तं अथवा मध्ये रक्तमन्ते कृष्णम् । कुष्ठत्वेनैव त्रिदोषलक्षणत्वे सिद्धे त्रिदोषलिङ्गमिति पुनरुक्तं

प्रबलदोषत्रयलिङ्गत्वोपदर्शनार्थम् । इति सप्तमहाकुष्ठानि । महत्त्वं चैषां शीघ्रमुत्तरोत्तरधात्ववगाहनबहुदोषजत्वक्रियाभूयस्त्वयोगात् ॥ १०-१६ ॥

विमर्श—चरक, सुश्रुत और वाग्भट में कुष्ठों के नामों में कुछ भिन्नता पाई जाती है। सुश्रुत ने अरुण कुष्ठ माना है उसका वर्णन चरक और वाग्भट में नहीं मिलता। इसके बदले मण्डल मिलता है जो सुश्रुत में नहीं है। चरक ने दद्रु को क्षुद्र कुष्ठों में माना है जब कि सुश्रुत उसे महाकुष्ठ में मानते हैं। वाग्भट और चरक के मन्तव्य में केवल इतना अन्तर है कि वाग्भट दद्रु को महाकुष्ठ और सिध्म को क्षुद्र कुष्ठों में गिनते हैं। वस्तुतः काली और गम्भीर दद्रु को वाग्भट और सुश्रुत ने महाकुष्ठ तथा अगम्भीर दद्रु को चरक ने क्षुद्र कुष्ठ माना है। इसी प्रकार गम्भीर सिध्म को चरक ने महाकुष्ठ और उत्तान तथा सौम्य सिध्मपुष्पिका को सुश्रुत और वाग्भट ने क्षुद्रकुष्ठ माना है।

एकादश क्षुद्रकुष्ठान्याह—

अस्वेदनं महावास्तु यन्मत्स्यशकलोपमम् ॥ १७ ॥
तदेककुष्ठं, चर्माख्यं बहलं हस्तिचर्मवत् ।
श्यावं किणखरस्पर्शं परुषं किटिभं स्मृतम् ॥ १८ ॥
वैपादिकं पाणिपादस्फुटनं तीव्रवेदनम् ।
कण्डूमद्भिः सरागैश्च गण्डैरलसकं चितम् ॥ १९ ॥
सकण्डूरागपिडकं दद्रुमण्डलमुद्गतम् ।
रक्तं सशूलं कण्डूमत् सस्फोटं यद्दलत्यपि ।
तच्चर्मदलमाख्यातं संस्पर्शासहमुच्यते ॥ २० ॥
सूक्ष्मा बह्वयः पिडकाः स्राववत्यः
पामेत्युक्ताः कण्डुमत्यः सदाहाः ।
सैव स्फोटैस्तीव्रदाहैरुपेता
ज्ञेया पाण्योः कच्छुरुग्रा स्फिचोश्च ॥ २१ ॥
स्फोटाः श्यावारुणाभासा विस्फोटाः स्युस्तनुत्वचः ।
रक्तं श्यावं सदाहार्ति शतारुः स्याद्बहुव्रणम् ॥ २२ ॥
सकण्डूः पिडका श्यावा बहुस्रावा विचर्चिका । (च. चि. ७)

जिसमें स्वेद न आये, जो बहुत विस्तृत हो तथा जो मछली की त्वचा के सदृश (काला लाल) हो उसे **एककुष्ठ** समझना चाहिये। जिसमें त्वचा हाथी के चमड़े के समान मोटी हो जाये उसे **चर्म** कुष्ठ कहते हैं। जो श्याव (स्निग्ध कृष्ण) वर्ण का व्रण स्थान के समान खुरदरे स्पर्शवाला और कठोर होता है उसे **किटिभ** कहते हैं। तीव्र वेदना युक्त हाथ और पैरों के फटने को **वैपादिक** कहते हैं। **अलसक** कुष्ठ खुजली युक्त रक्तवर्ण के फोड़ों से युक्त होता है। खुजली सहित लालवर्ण की पिडकाओं से युक्त उभड़े हुए मण्डल को **दद्रु** कहते हैं। रक्तवर्ण का, शूल, खुजली तथा

स्फोटों से युक्त **चर्मदल** नाम का कुष्ठ होता है। यह फट कर झड़ने वाला एवं स्पर्श को न सह सकने वाला है, छोटी-छोटी बहुत सी पिडकायें जिनसे स्राव निकलता रहता है और जो खुजली और जलन से युक्त होती हैं उन्हें **पामा** कहते हैं। ये पिडकायें ही जब तीव्र दाहयुक्त फफोलों के साथ हाथ और नितम्ब प्रदेश में होती हैं तो उसे **कच्छू** कहते हैं। श्याव या रक्तवर्ण पतली त्वचा युक्त स्फोटों (फफोलों) को **विस्फोट** कहते हैं। रक्त श्याव वर्ण के दाहयुक्त एवं बहुत-व्रणवाले कुष्ठ को **शतारु** कहते हैं। खुजली से युक्त श्याववर्ण की बहुत स्राव वाली पिडकाओं के मण्डल को **विचर्चिका** कहते हैं॥ १७-२२॥

अतः परमेकादशक्षुद्रकुष्ठान्युच्यन्ते-अस्वेदनमित्यादि। महावास्तु महास्थानम्। मत्स्यशकलोपममिति मत्स्यस्य त्वक्सदृशम्। चर्माख्यं चर्मकुष्ठम्। बहलमपत्तलम्। किटिभमाह-श्यावमित्यादि, किणखरस्पर्शमिति किणो व्रणस्थानम्। परुषं रूक्षम्। वैपादिकमिति विपादिकायाः स्वार्थेऽण्। अलसकमाह-कण्डूमद्भिरित्यादि। गण्डैरिति स्फोटैः। दद्रुमण्डलमाह-कण्डिवत्यादि। दद्रुमण्डलमिति मण्डलरूपतयोत्पादाद्दद्रुमण्डलमिति कीर्तनम्। ननु, कथमस्य चरके क्षुद्रत्वेनाभिधानं, सुश्रुते महाकुष्ठे दद्रोरुक्तत्वात्; तथा सिध्म चरके महाकुष्ठे, सुश्रुते क्षुद्रकुष्ठे दर्शितम्। उच्यते-असिता दद्रुरवगाढमूला सुश्रुते महाकुष्ठम्, असितेतरदद्रुश्चरकेऽनवगाढमूला क्षुद्रकुष्ठं, सुश्रुते असितेतरदद्रुर्वा विसर्पकुष्ठेऽन्तर्भावः, विसर्पणयोगात्; तथाऽवगाढं सिध्म चरके महाकुष्ठं, सिध्मपुष्पिका तु त्वङ्मात्रगता सुश्रुते क्षुद्रकुष्ठम्; असितदद्रौ असितसिध्मनोऽवरोध इति गदाधरः। जेज्जटस्त्वाह-चरकोक्तं सिध्मैव सुश्रुते दद्रुशब्दाभिहितं, नामभेदः केवलं परं न वस्तुभेदः, सन्ति ह्यर्थान्तराणि समानशब्दाभिहितानीत्यविरोधः। किंत्वियमसाध्वी व्याख्या, लक्षणवैलक्षण्यात्; किंच चरकसुश्रुतयोः कुष्ठं प्रति बहुप्रकारो विरोधः, तथाहि-सुश्रुतोक्तमरुणं न चरके पठ्यते, मण्डलं चरकोक्तं न सुश्रुते, क्षुद्रकुष्ठे चरकोक्तचर्माख्यालसकशतारुप्रभृतीनि न सुश्रुते, सुश्रुतोक्तक्षुद्रकुष्ठारकसादयश्च न चरके; तस्मादयं समाधिरुचितः-कुष्ठानामसंख्येयत्वमिति केचित् चरके केचित् सुश्रुते कुष्ठप्रकारा उच्यन्ते। उक्तं हि चरके-कुष्ठं सप्तविधम्, अष्टादशविधम्, असंख्येयं वा' (च. नि. स्था. ५) इति। चर्मदलमाह-रक्तमित्यादि। यद्दलत्यपीति गलति विदीर्यते। शतारुमाह-रक्तेत्यादि। शतारुरिति बहुव्रणयोगान्वितं नाम। विचर्चिकामाह-सकण्डिवत्यादि। 'सकण्डूः पिडका श्यावा बहुस्रावा विचर्चिके'ति अत्र कफकार्यं कण्डूः, बहुस्रावत्वं पित्तात्, श्यावत्वं वातात्, एवं सर्वत्र दोषत्रयलिङ्गमूह्यम्। ननु, एककुष्ठमारभ्य विचर्चिकापर्यन्तेन द्वादशक्षुद्रकुष्ठानि भवन्ति, तत्कथमेकादश इति? उच्यते, विचर्चिकैव पादयोर्भवन्ती विदारणयोगाद्विपादिका भवति, तेन न संख्यातिरेकः। तथा च भोजः, 'दोषाः प्रदूष्य त्वङ्मांसं पाणिपादसमाश्रिताः। पिडकां जनयन्त्याशु दाहकण्डूसमन्विताम्॥ दाल्यते त्वक् खरा रूक्षा पाण्योर्ज्ञेया विचर्चिका। पादे विपादिका ज्ञेया स्थानान्यत्वाद्विचर्चिका' इति गदाधरः। अन्ये त्वाहुः-सैव स्फोटैस्तीव्रदाहैरित्यभिधानेन पामैव तीव्रदाहबृहत्स्फोटयुक्ता कच्छूर्न ततो भिन्नेति॥ १७-२२॥

विमर्शः—क्षुद्र कुष्ठों के विषय में भी चरक और सुश्रुत के मन्तव्य में अन्तर है। सुश्रुत ने चर्मकुष्ठ, वैपादिक, अलसक, कच्छू, विस्फोट तथा शतारु का वर्णन नहीं किया अपितु इनके स्थान पर स्थूलारुष्क, परिसर्प, रकसा, विसर्प महाकुष्ठ और सिध्म का वर्णन किया है। दद्रु का वर्णन सुश्रुत ने महाकुष्ठ में और चरक ने सिध्म का वर्णन महाकुष्ठ में किया है। इसी प्रकार शङ्का होती है कि एक कुष्ठ से लेकर विचर्चिका पर्यन्त बारह भेद होते हैं फिर क्षुद्र कुष्ठ ग्यारह क्यों बताये?

इसके लिए गदाधर जी का कहना है कि विचर्चिका ही जब पैरों में होती है तो उसे विपादिका कहते हैं। आचार्य भोज ने कहा भी है—प्रकुपित दोष हाथ और पैरों की त्वचा को दूषित कर दाह और खुजली से युक्त पिडका को उत्पन्न कर देते हैं। इससे त्वचा में दलनवत् पीडा होती है, वह खुरदरी और रूक्ष हो जाती है उसे हाथों में होने पर विचर्चिका और पैरों में होने पर विपादिका कहते हैं।[1] दूसरे विद्वानों का कहना है कि पामा और कच्छू के एक होने से बारहवां भेद नहीं होता। यही पक्ष उचित प्रतीत होता है; क्योंकि चरक ने स्वयं पामा का वर्णन करने के उपरान्त कच्छू को पामा का ही एक भेद स्वीकार किया है—**सैव स्फोटैस्तीव्रदाहैरुपेता ज्ञेया पाण्योः कच्छुरुग्रा स्फिचोश्च।**

दद्रु को आजकल रिंगवर्म (Ringworm) या टीनिया (Tinea) कहते हैं। फङ्गस श्रेणी के एक कृमि द्वारा इसकी उत्पत्ति होती है। सुश्रुतोक्त सिध्म को आजकल पिटिरियासिस वर्सिकलर (Pityriasis versicolor) कहते हैं। इसका कारण भी फङ्गस जाति का ही कृमि है जिसे माइक्रोस्पोरन फरफर (Microsporan furfur) कहते हैं। शेष कुष्ठों के लिये निम्न नाम दिये जा सकते हैं—

(१) एककुष्ठ (Erythrodermias)
(२) चर्मकुष्ठ (Xerodermia Pigmentosa)
(३) किटिभ (Psoriasis)
(४) वैपादिक (Rhagades)
(५) अलसक (Lichen)
(६) चर्मदल (Excoriation)
(७) पामा तथा —
(८) कच्छू (Scabies)
(९) विस्फोट (Bullæ)
(१०) शतारु (Erythemas)
(११) विचर्चिका (Eczema)

दोषानुसारं कुष्ठलक्षणं निरूपयति—

खरं श्यावारुणं रूक्षं वातात्कुष्ठं सवेदनम् ॥ २३ ॥
पित्तात्प्रक्वथितं दाहरागस्रावान्वितं मतम्।
कफात्क्लेदि घनं स्निग्धं सकण्डूशैत्यगौरवम् ॥ २४ ॥
द्विलिङ्गं द्वन्द्वजं कुष्ठं त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम्।

वातिक कुष्ठ खुरदरा, श्याव अथवा अरुणवर्ण का रूक्ष और पीडायुक्त होता है। पैत्तिक कुष्ठ में उबलते हुए जल के समान पीडा, जलन, लाली तथा स्राव होता है। कफज कुष्ठ क्लेदयुक्त, घन, चिकना, खुजली, शीतलता तथा गौरव से युक्त होता है। द्वन्द्वज कुष्ठ दो दोषों के लक्षणों वाला और सान्निपातिक तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त होता है ॥ २३-२४ ॥

दोषत्रयनियतं कुष्ठलिङ्गमाह-खरं श्यावारुणमित्यादि। श्यावारुणमिति श्यावं वा अरुणं वा भवति। चरके कुष्ठमधिकृत्य दोषविशेषकुष्ठजनकहेतूनां परस्परं ज्ञाप्यज्ञापकत्वमुक्तं, यथा-'कुष्ठविशेषैर्दोषा दोषविशेषैः पुनश्च कुष्ठानि। ज्ञायन्ते ते हेतुं हेतुस्तांश्च प्रकाशयति' (च. चि. स्था. ७) इति ॥ २३-२४ ॥

विमर्श—कुष्ठ से यहाँ महाकुष्ठ का ग्रहण किया जाता है। पाश्चात्त्य विद्वान् लक्षण और विकृति के अनुसार कुष्ठ के तीन भेद करते हैं—

(१) ग्रन्थिकुष्ठ (Nodular or lepromatous type) प्रथम ग्रन्थियाँ कपिलवर्ण की या

१. **दोषाः प्रदूष्य त्वङ्मांसम्** आदि मूल श्लोक मधुकोष में देखें।

गहरे लाल रङ्ग की होती हैं। आकार में ये विभिन्न प्रकार की होती हैं। कभी-कभी कई ग्रन्थियाँ मिलकर एक बड़ा धब्बा बना लेती हैं। संज्ञावाही नाड्यग्रों के नष्ट होने पर ये स्थान संज्ञाहीन और लोमरहित हो जाते हैं। ये ग्रन्थियां चेहरे पर विशेषतया मस्तक, भ्रुकुटि, कपोल तथा कर्णपाली में पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त हाथ, कलाई, भुजा, ऊरु तथा कटिप्रदेश के बाह्यतल पर भी ये ग्रन्थियां होती हैं। इससे रोगी की त्वचा मोटी और चेहरे की आकृति बहुत खराब हो जाती है। ग्रन्थियों के फूटने से व्रण बन जाते हैं। यह रोग मुख, गले, नासिका और नेत्रों में भी पाया जाता है। गले में होने पर स्वरभङ्ग और नासा में होने से नासाभङ्ग हो जाता है। आँखें लाल रहती हैं।

(२) नाडीकुष्ठ (Nervous variety)—इसमें कुष्ठ के जीवाणु का नाडी पर प्रभाव हो जाता है जिससे संज्ञाहीनता, स्वेदाभाव, सरसराहट, चुनचुनाहट आदि लक्षण होते हैं। प्राचीन दृष्टि से इसे वातिक कुष्ठ कह सकते हैं।

(३) मिश्रप्रकार (Mixed variety)—इसमें दोनों प्रकार के कुष्ठों के लक्षण मिले रहते हैं। इस प्रकार के रोगी ही अधिक मिलते हैं। इसमें ग्रन्थियाँ बन जाती हैं तथा नाडियाँ मोटी पड़ जाती हैं।

सप्तधातुगतकुष्ठलक्षणमाह—

त्वक्स्थे वैवर्ण्यमङ्गेषु कुष्ठे रौक्ष्यं च जायते ॥ २५ ॥
त्वक्स्वापो रोमहर्षश्च स्वेदस्यातिप्रवर्तनम् ।
कण्डूर्विपूयकश्चैव कुष्ठे शोणितसंश्रिते ॥ २६ ॥
बाहुल्यं वक्त्रशोषश्च कार्कश्यं पिडकोद्गमः ।
तोदः स्फोटः स्थिरत्वं च कुष्ठे मांससमाश्रिते ॥ २७ ॥
कौण्यं गतिक्षयोऽङ्गानां संभेदः क्षतसर्पणम् ।
मेदःस्थानगते लिङ्गं प्रागुक्तानि तथैव च ॥ २८ ॥
नासाभङ्गोऽक्षिरागश्च क्षतेषु क्रिमिसंभवः ।
स्वरोपघातश्च भवेदस्थिमज्जसमाश्रिते ॥ २९ ॥
दम्पत्योः कुष्ठबाहुल्याद् दुष्टशोणितशुक्रयोः ।
यदपत्यं तयोर्जातं ज्ञेयं तदपि कुष्ठितम् ॥ ३० ॥ (सु. नि. ५)

कुष्ठ के त्वचागत होने से वर्ण में परिवर्तन, त्वचा में रूक्षता, सुन्नता, रोमहर्ष तथा स्वेद की अत्यधिक प्रवृत्ति होती है। रक्तगत कुष्ठ होने पर खुजली तथा कुष्ठस्थान पर दुर्गन्धित पूय की विशेषता रहती है। कुष्ठ के मांसाश्रित होने पर स्थूलता, मुख का सूखना, कर्कशता (कठोरता), पिडकाओं की उत्पत्ति, सुई के चुभने जैसी पीडा, फोड़ों की उत्पत्ति तथा स्थिरता ये लक्षण होते हैं। मेद में कुष्ठ पहुंचने पर अंगुलि आदि का गलकर गिरना, गति करने में असमर्थता, अंगों में पीडा, घाव का फैलना तथा पूर्व धातुगत कुष्ठों के लक्षण पाये जाते हैं। अस्थि और मज्जा में कुष्ठ पहुंच जाने पर नासिका का गलकर बैठ जाना, आंखों में लाली, घावों में कीड़ों का पड़ना तथा स्वरनाश ये लक्षण होते हैं। कुष्ठी स्त्री और पुरुष के कुष्ठ से दूषित रज और वीर्य के संयोग से जो सन्तान उत्पन्न होती है वह भी कुष्ठी ही होती है। इसको कुष्ठित कहते हैं ॥ २५-३० ॥

इदानीमुत्तरोत्तरसप्तधातुगतकुष्ठस्य लक्षणं क्रमेणाह–त्वक्स्थे वैवर्ण्यमित्यादि। त्वक्शब्देनात्र रसोऽभिधीयते, धातुप्रस्तावात्; त्वक्शब्देन रसस्याभिधानं तात्स्थ्यात्; जेज्जटस्तु त्वचमेवाह। बाह्यायास्त्वचश्चरके उदकधरत्वेनोक्ते रसग्रहणस्यानर्हत्वाद्द्वितीयाऽसृग्धराऽत्रोक्ता, उदकाच्च रसो भिन्नः, तथा ह्युक्तम्–'उदकं दशाञ्जलिमितं, रसो नवाञ्जलिमितः' (च. चि. स्था. ७) इति। रसं विहाय रक्ताद्युक्तिश्च प्रागेव रसं क्रोडीकृत्य तिर्यक्सिरागतैर्दोषैः कुष्ठजननात्, सिरासु रक्तव्यवस्थितेश्चेति तस्याशयः। साक्षाद्रस इत्यनभिधानाद्वृहत्कुष्ठं रसगतं न भवतीति नाशङ्कनीयम्। यतः सुश्रुतेनैवोक्तं–'तेषां तु महत्त्वं सर्वधात्वनुसारित्वात्' (सु. नि. स्था. ५) इति, सर्वशब्देन च रसस्यापि ग्रहणम्। भोजेऽप्युक्तं–'प्रदुष्टाः प्रच्युता दोषा रसासृङ्मांससंश्रिताः। कुष्ठानि जनयन्त्याशु शरीरेषु शरीरिणाम्' इति। 'त्वक्स्रावो रोमहर्षश्च स्वेदस्यातिप्रवर्तनम्' इत्येतत् केचिच्छोणितगतस्यैव लिङ्गं मन्यन्ते, अन्ये रसगतस्येति। इह रौक्ष्यं स्वेदातिप्रवृत्तिर्लोमहर्षश्च कुष्ठारम्भकदोषैः स्वेदवहस्रोतोदुष्ट्या भवति। यदुक्तं–' स्वेदवाहिषु दुष्टेषु पारुष्यं रोमहर्षणम्। अतिस्वेदनमस्वेदः परिदाहश्च जायते' इति। विपूयक इति विशेषेण पूययोगित्वम्। कौण्यं करभङ्गः। अङ्गानां संभेद इति अङ्गानां भङ्गः। प्रागुक्तानि तथैव चेति रसरक्तमांसधातुगतकुष्ठलिङ्गानीत्यर्थः; एतच्चैकत्राभिहितमपि क्रमेण परापरधातुदुष्टौ पूर्वपूर्वधातुदुष्टिलिङ्गख्यापनपरं, न्यायस्य समानत्वात्। यदुच्यते–'समानेष्वर्थेष्वेकत्राभिहितो विधिरन्यत्राप्यासंजनीयः' इति। शुक्रगतकुष्ठलिङ्गमाह–दम्पत्योरित्यादि। कुष्ठं शुक्रगतमपत्येन व्यज्यत इत्यर्थः। अत्र शुक्रदुष्टिलक्षणप्रस्तावेन तत्तुल्यकार्या स्त्रीगताऽऽर्तवदुष्टिरप्युक्ता। तदपीत्यपिशब्दात् पूर्वोक्तान्यपि रसादिमज्जान्तर्गतकुष्ठलिङ्गानि भवन्ति। कुष्ठितमिति संजातं कुष्ठमस्येति तारकादित्वादितच्। अत्र दुष्टं शुक्रमार्तवं वा सर्वथा बीजत्वानुपघातादपत्यजनकं, परन्तु विकृतं जनयतीति द्रष्टव्यम्॥ २५–३०॥

विमर्श—त्वचा से त्वचागत रस धातु का ग्रहण किया जाता है। 'त्वक्स्वाप' इत्यादि लक्षण को कुछ लोग शोणितगत कुष्ठ का लक्षण मानते हैं। कुष्ठोत्पादक दोष से स्वेदवाही स्रोतों के दुष्ट हो जाने से स्वेद की अतिप्रवृत्ति, त्वचा में रूक्षता तथा रोमहर्ष ये लक्षण होते हैं।

कुष्ठोत्पादक जीवाणु से पुरुष और स्त्री बीज के उपसृष्ट हो जाने से सन्तान भी कुष्ठी होती है; क्योंकि चरक ने यह माना है कि बीज-दोष से माता-पिता के रोग सन्तानों में संक्रान्त होते हैं[1]। अर्वाचीन ग्रंथों में कुष्ठ के लिये साधारणतया यह बताया गया है कि यह कुष्ठी माता-पिता के निकट सम्पर्क में रहने से होता है। यदि नवजात शिशु को कुष्ठी माता-पिता से पृथक् कर दिया जाय तो बच्चे में उसके होने की सम्भावना बहुत कम हो जाती है। इसीलिये कुष्ठित का अर्थ संजातकुष्ठ न करके कुष्ठप्रकृति करना चाहिये। कुष्ठी माता-पिता की सन्तान उत्पन्न होते ही कुष्ठी नहीं होती अपितु घनिष्ठ सम्बन्ध रहने पर कालान्तर में होती है। इतना अवश्य है कि अन्यों की अपेक्षा कुष्ठी माता-पिता की सन्तान में इसके होने की अधिक सम्भावना होती है। प्रमेह-निदान में **'जातः प्रमेही'** इत्यादि श्लोक की व्याख्या में विजयरक्षित ने कहा है—**'नहि प्रमेहिनो जात इत्येतावता उत्पन्नमात्र एव प्रमेही भवति किं तर्हि कालवशेन दुष्टेरभिव्यक्त्या यथा कुष्ठिजातस्य कुष्ठम्'**। अर्थात् प्रमेही से उत्पन्न सन्तान उत्पन्न होते

---

१. यस्य यस्य ह्यङ्गावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति तस्य तस्याङ्गावयवस्य विकृतिरुपजायते नोपजायते चानुपतापात्॥ (चरक शा.)

ही प्रमेही नहीं होती अपितु अनुकूल परिस्थिति प्राप्त करने पर ही उसकी अभिव्यक्ति होती है, जैसे कुष्ठी माता-पिता की सन्तान उनके घनिष्ठ सम्पर्क में रहने के कुछ काल उपरान्त कुष्ठ से पीडित होती है। आधुनिक विद्वान् भी इसी मत के पोषक हैं।

दोषधातुभेदेन साध्यासाध्यतां विवेचयति—

साध्यं त्वग्रक्तमांसस्थं वातश्लेष्माधिकं च यत् ।
मेदसि द्वन्द्वजं याप्यं वर्ज्यं मज्जास्थिसंश्रितम् ॥३१॥ (सु. नि. ५)
क्रिमितृड्दाहमन्दाग्निसंयुक्तं यत्त्रिदोषजम् ।
प्रभिन्नं प्रस्रुताङ्गं च रक्तनेत्रं हतस्वरम् ॥ ३२ ॥
पञ्चकर्मगुणातीतं कुष्ठं हन्तीह मानवम् । (सु. सू. ३३)

त्वचा, रक्त और मांस में स्थित तथा वात एवं कफ की अधिकता से होने वाला कुष्ठ साध्य होता है। मेदोगत कुष्ठ यदि द्वन्द्वज हो तो याप्य होता है। अस्थि और मज्जा में होने वाला कुष्ठ असाध्य होता है। जिस कुष्ठ में कीड़े पड़ गये हों और रोगी प्यास, जलन एवं मन्दाग्नि से पीडित हो वह तथा त्रिदोषज कुष्ठ असाध्य होता है। जिसका शरीर फट गया हो, जिसके अंग सड़ने लगे हों, जिसके नेत्र लाल हों, जिसके बोलने की शक्ति भी नष्ट हो गई हो और जो पञ्चकर्म गुणातीत हो वह भी असाध्य होता है ॥ ३१-३२ ॥

साध्यादिभेदमाह-साध्यं त्वग्रक्तमांसस्थमित्यादि। वातश्लेष्माधिकं च यदिति एककुष्ठकिटिभादिवर्ज्यम्। मज्जास्थिसंश्रितमिति अत्र मज्जास्थिप्रत्यासत्त्या शुक्रगतस्याप्यसाध्यत्वं बोद्धव्यम्। प्रभिन्नमिति विदीर्णम्। पञ्चकर्मगुणातीतमिति पूर्वरूपक्रियया सह रसादिधातूनां चतुर्णां क्रियाकलापाः पञ्चकर्माणि, तेषां गुणा वीर्याणि, तान्यतीतो यः स तथा, अस्थिमज्जागत इत्यर्थः, ताश्च क्रियाः पूर्वरूपे शोधनमुभयतः; त्वक्प्राप्ते शोधनालेपनादि, रक्तप्राप्ते शोधनालेपनकषायपानशोणितावसेकादि, एवं मांसमेदसोरपि द्रष्टव्यमिति। अथवा पञ्चकर्माणि वमनादीनि[1] तेषां गुणाः फलानि, तान्यतीतः ॥ ३१-३२ ॥

विमर्श—पञ्चकर्म गुणातीत के कई अर्थ मिलते हैं।

(१) विजयरक्षित जी का कहना है कि कुष्ठ के पूर्वरूपों की चिकित्सा और रस, रक्त, मांस और मेद इन चार की चिकित्सा को मिलाकर पञ्चकर्म कहते हैं। इन पांचों से जो परे हो उसे 'पञ्चकर्मगुणातीत' कहते हैं। तात्पर्य यह कि इनसे परे अस्थि और मज्जागत कुष्ठ असाध्य होता है।

(२) वमनविरेचन, आस्थापन, अनुवासन और शिरोविरेचन इन पंचकर्मों से असाध्य को भी पंचकर्मगुणातीत कह सकते हैं।

विभिन्नकुष्ठेषु दोषोल्बणतां प्राह—

वातेन कुष्ठं कापालं पित्तेनौदुम्बरं कफात् ॥ ३३ ॥
मण्डलाख्यं विचर्चीं च ऋष्याख्यं वातपित्तजम् ।
चर्मैककुष्ठं किटिभं सिध्मालसविपादिकाः ॥ ३४ ॥

१. यदुक्तं—कुष्ठेषु चैव सर्वेषु पञ्चकर्माणि कारयेत्। पक्षे पक्षे च वमनं मासि मासि विरेचनम् ॥ षण्मासेन शिरामोक्षो नस्यं सप्तदिनान्तरमिति इति क.।

वातश्लेष्मोद्भवाः श्लेष्मपित्ताद्दद्रुशतारुषी ।
पुण्डरीकं सविस्फोटं पामा चर्मदलं तथा ॥ ३५ ॥
सर्वैः स्यात्काकणं पूर्वत्रिकं दद्रु सकाकणम् ।
पुण्डरीकर्ष्यजिह्वे च महाकुष्ठानि सप्त तु ॥ ३६ ॥

वात से कापाल, पित्त से औदुम्बर तथा कफ से मण्डल कुष्ठ होते हैं। विचर्चिका और ऋष्यजिह्व नामक कुष्ठ वातपित्तज होते हैं। चर्मकुष्ठ, एककुष्ठ, किटिभ, सिध्म, अलस तथा विपादिका वातकफज होते हैं। दद्रु, शतारु, पुण्डरीक, विस्फोट, पामा तथा चर्मदल नामक कुष्ठ कफपित्तजन्य होते हैं। काकण कुष्ठ सब दोषों के प्रकोप से उत्पन्न होता है। पहिले तीन (कापाल, औदुम्बर, मण्डल), दद्रु, काकण, पुण्डरीक तथा ऋष्यजिह्व ये सात महाकुष्ठ कहलाते हैं। (शेष सब क्षुद्र कुष्ठ हैं)॥३३-३६॥

कुष्ठेषु चिकित्सार्थं प्रधानं दोषमाह-वातेन कुष्ठं कापालमित्यादि। विचर्च्यपि कफात्तथेति श्लेष्मपित्तात्, तेन दद्रुप्रभृति चर्मदलान्तं श्लेष्मपित्तजमित्यर्थः। पूर्वत्रिकमिति कापालोदुम्बरमण्डलाख्यम्, अतः सप्तमहाकुष्ठादन्यत् क्षुद्रकुष्ठम् ॥ ३३-३६ ॥

त्वग्दोषसामान्यात् किलासमाह—

कुष्ठैकसम्भवं श्वित्रं किलासं वारुणं भवेत् ।
निर्दिष्टमपरिस्रावि त्रिधातूद्भवसंश्रयम् ॥ ३७ ॥
वाताद्रूक्षारुणं पित्तात्ताम्रं कमलपत्रवत् ।
सदाहं रोमविध्वंसि कफाच्छ्वेतं घनं गुरु ॥ ३८ ॥
सकण्डुरं क्रमाद्रक्तमांसमेदःसु चादिशेत् ।
वर्णेनैवेदृगुभयं कृच्छ्रं तच्चोत्तरोत्तरम् ॥ ३९ ॥ (वा. नि. १४)

श्वित्र, किलास तथा वारुण के उत्पादक कारण कुष्ठ के समान ही हैं। यह स्रावरहित होते हैं एवं वातादि तीनों दोषों से रक्त, मांस और मेद धातु में आश्रित हो कर उत्पन्न होते हैं। वातिक किलास रूक्ष और अरुण वर्ण का, पैत्तिक कमलपत्र के समान ताम्र वर्ण का दाहयुक्त और रोमों को नष्ट करनेवाला होता है। कफज सफेद घन, भारी और खुजली युक्त होता है। इसी प्रकार अरुण, ताम्र और सफेद वर्ण का किलास क्रमशः रक्त, मांस और मेद धातु में होता है। व्रण एवं दोष इन दो कारणों से उत्पन्न होनेवाला किलास उत्तरोत्तर गम्भीर धातु में कृच्छ्रसाध्य होता है ॥ ३७-३९ ॥

त्वग्दुष्टितुल्यत्वादत्रैव किलासमाह-कुष्ठैकसंभवमित्यादि। कुष्ठेन सह एकं समानं विरुद्धाशनपापकर्मादिसम्भवो निदानं यस्य तत्तथा, कुष्ठेन सह समानचिकित्सितत्वं च बोद्धव्यं, 'कुर्याच्चास्मै कुष्ठोक्तं विधानम्' इति वचनात्। चरके त्वस्य हेतुविशेषोऽपि पठ्यते, यथा—'वचांस्यतथ्यानि कृतघ्नभावो निन्दा गुरूणां गुरुधर्षणं च। पापक्रिया पूर्वकृतं च कर्म हेतुः किलासस्य विरोधि चान्नम्' (च. चि. ७) इति। किलासमेव मांसमेदःसमाश्रयणयोगत्वादरुणं श्वित्रं च भण्यते, त्वग्गतमेव किलासं, तस्य लक्षणं निर्दिष्टमपरिस्रावीति। स्रावो हि रक्तादिदुष्ट्या भवति, तेनास्य त्वग्गतत्वेन स्रावाभावः। उक्तं च—'त्वग्गतं च यदस्रावि तत् किलासं प्रकीर्तितम्' इति। त्रिधातूद्भवसंश्रयमिति त्रिधातुस्त्रयो दोषास्तथा रक्तमांसमेदांसि संश्रयोऽधिष्ठानं यस्य तत्तथा; अथवा त्रिधातुः रक्त-

मांसमेदांसि उद्भवाय संश्रयो यस्य तत्तथा; दोषास्तु सर्वसाधारणत्वाद्गम्यन्त एव । ननु, यदि धातुत्रयाश्रितं किलासं, तत्कथं 'यदा त्वचमतिक्रम्य तद्धातूनवगाहते । हित्वा किलाससंज्ञां च कुष्ठसंज्ञां लभेत्तदा' इति विश्वामित्रवचनं किलाससंज्ञाप्रतिक्षेपकं न विरुध्यते ? तथा 'त्वग्गतमेव किलासम्' (सु. नि. ५) इति सुश्रुतावधारणं विरुद्धम् ? उच्यते, विश्वामित्रवचनस्य तावदयमर्थः प्रत्येतव्यः—यदोक्तरक्तादिगतसमस्तकुष्ठलक्षणजनकतया धातूनवगाहते तदा न तत् किलासं, किं तर्हि कुष्ठजनकहेत्वन्तरबृंहितदोषोपप्लवाद् धातून् दूषयेत्, तथा हेतुलक्ष्यलक्षणमरुणादिकुष्ठं तत्; अन्यदितररक्तादिगतकुष्ठलिङ्गव्यतिरिक्तमुत्पादसमकालभाविरक्तताम्रादिवर्णतामात्रकारकं रक्तादिगतदोषजन्यं किलासमेव, अन्यथा रक्तादिगतकिलासलक्षणेन चरकोक्तेन विरोधः स्यात्। स यदाह—'दोषे रक्ताश्रिते रक्तं ताम्रं मांससमाश्रिते । श्वेतं मेदःस्थिते श्वित्रं गुरु तच्चोत्तरोत्तरम् ॥' (च. चि. ७)' इति चरके हि किलासस्यैव धातुत्रयसंबन्धकृतवर्णेन दारुणादिसंज्ञान्तरमात्रं कृतं, सुश्रुतेऽपि त्वग्गतमेवेत्यनेन रक्तादिदुष्ट्या विशिष्टरक्तादिगतमहाकुष्ठलिङ्गरहितत्वं, तथा क्षुद्रकुष्ठवद्युगपद्रक्तलसीकात्वङ्मांससंदूषकत्वविरहः ख्याप्यते; अथवा एवकारोऽयोगव्यवच्छेदे, यथा—नीलं सरोजं भवत्येवेति। उक्तप्रकारेण धातुत्रयमात्रगतत्वेनैकदोषजत्वेन चास्य कुष्ठाद्भेदः; 'श्वित्रसंज्ञां लभेत्तदा' इति जेज्जटपाठे तु श्वित्रसंज्ञामात्रव्यवहारः किलासस्य, न पुनरर्थभेदः कश्चिदिति । भालुकिना तु धातुभेदेन किलासस्य संज्ञान्तरं दर्शितं—'वारुणं तत्तु विज्ञेयं मांसधातुसमाश्रयम् । मेदःश्रितं भवेच्छ्वित्रं दारुणं रक्तसंश्रवम्' इति । तथा चरकेऽपि - 'दारुणं वारुणं श्वित्रं किलासं नामभिस्त्रिभिः' (च. चि. ७) इति । तेनेहापि तथा बोद्धव्यम् । क्रमाद्रक्तमांसमेदःसु चादिशेद्वर्णैनैवेद्गुभयमिति ईदृशमेव वर्णेनारुणं ताम्रं श्वेतं च किलासं रक्तमांसमेदःसु यथाक्रमेणादिशेत् । उभयमिति व्रणजं दोषजं च तच्छ्वित्रं भवति, तथाच भोजः—'श्वित्रं तु द्विविधं विद्याद्दोषजं व्रणजं तथा । तत्र मिथ्योपचाराद्धि व्रणस्य व्रणजं स्मृतम् ॥ दोषजं च द्विधा प्रोक्तमात्मजं परजं तथा । परसंस्कारसंस्पर्शाद्यत्तत् परजमुच्यते । तदात्मजं विजानीयाद्यद्देहेष्वनिलादिजम्' ॥ इति । रक्तादिधातुत्रयगतस्य च किलासस्य दूष्यप्रभावाद्यस्य कस्यापि दोषस्य संबन्धनियता एवारुणादयो वर्णा बोद्धव्याः, यदि तु तत्र दोषनियतो वर्णः कल्प्यते तदा वर्णातिदेशो व्यर्थः स्यात्, वाताद्रूक्षारुणमित्यादिनैव सिद्धत्वात् । यद्येवं दोषेणात्र वर्णाभिधानं विफलं? निर्विषयत्वात्; नैवं, त्वङ्मात्रगते किलासे दोषवर्णस्य चरितार्थत्वात् । हन्त तर्हि कथं रक्तादिगतत्वमस्य निश्चेतव्यं? त्वग्गते स्वभावेनारुणादिवर्णस्य सद्भावेन सन्दिग्धत्वात् । उच्यते, क्रमेणारुणादिवर्णोत्पादाद्रक्तादिगतत्वं निश्चेतव्यम्, उत्पत्तिमात्रे त्वरुणादियोगात्त्वग्गतत्वमिति ॥

विमर्श—कुष्ठ के जो उत्पादक कारण बताये गये हैं वे किलास को भी उत्पन्न करते हैं । इनके अतिरिक्त चरक ने कुछ विशेष कारण भी बताये हैं—

'वचांस्यतथ्यानि कृतघ्नभावो निन्दा गुरूणां गुरुधर्षणं च ।
पापक्रिया पूर्वकृतं च कर्म हेतुः किलासस्य विरोधि चान्नम्' ॥

किलास को दारुण, वारुण और श्वित्र भी कहते हैं । चरक ने कहा भी है—**'दारुणं वारुणं श्वित्रं किलासं नामभिस्त्रिभिः'** । इसको आम बोल-चाल में सफेद कोढ़ (Leucoderma) कहते हैं । व्रणज और दोषज इसके दो भेद हैं । दोषज भी आत्मज और परज भेद से दो प्रकार का होता है । इससे किसी प्रकार का स्राव नहीं होता। स्राव के लिये रक्त आदि धातु की दुष्टि आवश्यक हैं। इसमें केवल त्वचा की ही विकृति होती है । सुश्रुत ने कहा भी है—**'त्वग्गतमेव किलासम्'** । विश्वामित्र

ने भी कहा है—'जब त्वचा को पार कर किलास गम्भीर धातुओं में पहुँचता है तब उसे कुष्ठ ही कहना चाहिए'। इन वचनों का **'त्रिधातूद्भवसंश्रयम्'** अर्थात् तीनों दोष कारण और तीन धातु (रक्त, मांस और मेद) आश्रय होते हैं—इस वचन से विरोध नहीं समझना चाहिए क्योंकि रक्त, मांस या मेद में भी दोष आश्रित होने पर व्याधिस्वभावात् विकृति त्वचा में ही होती है और जब अपचार से दोषवृद्धि होकर रक्तादि भी विकृत हो जाते हैं तब उसे लक्षणानुसार अरुण आदि कुष्ठ ही कहेंगे न कि किलास। इसी का विवेचन मधुकोपकार ने विस्तार से किया है।

इसी प्रकार वर्ण के सम्बन्ध में भी एक सन्देह होता है। वात, पित्त और कफ के कारण तथा रक्त, मांस और मेद में दोष आश्रित होने पर भी क्रमशः अरुण, ताम्र और श्वेत वर्ण होना बताया गया है उसमें दोष और धातु में किसे महत्त्व देना चाहिये? अर्थात् त्वचा का वर्ण अरुण होने पर उसे वातकृत मानना चाहिए या रक्ताश्रित दोषकृत? तथा रक्तगत पित्त या कफ दोष होने पर क्रमशः ताम्र या श्वेत वर्ण होगा या रक्ताश्रित होने के कारण अरुण वर्ण? इसका उत्तर प्राचीन टीकाकारों ने यही दिया है कि त्वचा मात्र में आरम्भ में उत्पन्न वर्ण को दोषकृत एवं उत्तरोत्तर गम्भीर धातुगत दोष के कारण उत्पन्न वर्ण को धातुकृत समझना चाहिए तथा रक्तादि धातुओं में किसी भी दोष के होने पर वर्ण धातु के अनुसार ही होगा।

अष्टांगसंग्रह में श्वित्र को बाह्य संज्ञा प्रदान की है—**'श्वित्रमस्माच्च कुष्ठं बाह्यमुदाहृतम्'**। वस्तुतः किलास या श्वित्र में आन्तरिक विकृति न होकर बाह्य विकृति ही होती है। त्वचा के बाह्य-स्तर में मेलेनिन (Melanin) नामक एक रङ्ग द्रव्य रहता है। यही त्वचा को रङ्ग प्रदान करता है। यह त्वचा की उष्णता से रक्षा करता है। उष्ण प्रदेश के निवासियों की त्वचा में इसकी प्रचुरता रहती है। अत एव उनकी त्वचा अधिक काली होती है। किलास रोग में त्वचा में इस रङ्ग द्रव्य का अभाव हो जाता है जिससे त्वचा का वर्ण सफेद हो जाता है। इससे त्वचा की मृदुता नष्ट हो जाती है। यह रोग शरीर में बहुत धीरे-धीरे फैलता है। कभी-कभी शरीर की सारी त्वचा सफेद हो जाती है; बीच-बीच में कुछ काले धब्बे रह जाते हैं। यह रोग औपसर्गिक नहीं है अतः रोगी से घृणा करने की आवश्यकता नहीं है।

कुष्ठ और किलास में भेद

कुष्ठ	किलास
(१) यह कृमिजन्य होता है।	(१) इसमें कृमि का कुछ सम्बन्ध नहीं है।
(२) यह संक्रामक है।	(२) यह संक्रामक नहीं है।
(३) इससे शरीर की धातुओं का नाश होता है	(३) इससे शरीर की धातुओं का नाश नहीं होता है
(४) यह त्रिदोषज है।	(४) यह एकदोषज भी होता है।
(५) यह सप्तधातुगत होता है।	(५) यह केवल त्वचा, रक्त, मांस और मेद में ही होता है

किलासस्य साध्यासाध्यतां प्राह—

अशुक्लरोमाऽबहुलमसंश्लिष्टमथो नवम्।
अनग्निदग्धजं साध्यं श्वित्रं वर्ज्यमतोऽन्यथा॥ ४०॥
गुह्यपाणितलौष्ठेषु जातमप्यचिरन्तनम्।
वर्जनीयं विशेषेण किलासं सिद्धिमिच्छता॥ ४१॥

जिसमें बाल सफेद न हुए हों (काले हों), जो थोड़ा, एक दूसरे से न मिला हुआ, नवीन और

आग से जलने से उत्पन्न न हुआ हो वह किलास साध्य होता है। इसके विपरीत लक्षणों से युक्त होने पर असाध्य होता है। गुह्यस्थान, हाथ, पैर के तलुवे और ओष्ठ में होने वाले नवीन किलास की भी सिद्धि की कामना करनेवाले वैद्य को चिकित्सा न करनी चाहिये ॥ ४०-४१ ॥

तस्य साध्यत्वमसाध्यत्वं चाह—अशुक्लेत्यादि। अशुक्लरोम कृष्णरोम, अबहुलं तनु, असंश्लिष्टं परस्परमसंयुक्तम्। अनग्निदग्धजम् अग्निदग्धजं यन्न भवति, एतत् साध्यम्। अतोऽन्यथा अतोऽन्यथोक्तसर्वप्रकारमसाध्यं, चरकेऽप्येवंविधस्यासाध्यत्वमुक्तम्। यथा—'यच्छुक्लरोम बहुलं यत् संलग्नं परस्परम्। यच्च वर्षगणोपेतं तच्छ्वित्रं नैव सिध्यति'[1] (च. चि. ७) इति। गुह्यपाणितलौष्ठेष्विति तलमत्र पादतलं सुश्रुते 'अन्ते जातम्' इति सामान्येन-निर्देशात् ॥ ४०-४१ ॥

कुष्ठस्य संक्रामकतां प्राह—

प्रसङ्गाद्गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात्।
एकशय्यासनाच्चैव वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ॥ ४२ ॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च।
औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥ ४३ ॥ (सु. नि. ५)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने कुष्ठनिदानं समाप्तम् ॥ ४९ ॥

कुष्ठादि रोगों से पीडित रोगी के साथ मैथुन करने या निरन्तर सम्पर्क से, शरीर के स्पर्श से, श्वास से, साथ में भोजन करने से, एक शय्या पर सोने से, रोगी के पहिने वस्त्र और माला के धारण करने से कुष्ठ, ज्वर, राजयक्ष्मा, नेत्राभिष्यन्द तथा अन्य औपसर्गिक रोग एक मनुष्य से दूसरे पर संक्रान्त हो जाते हैं ॥ ४२-४३ ॥

कुष्ठस्य संसर्गजप्रसङ्गेन सर्वानेव संसर्गजान् रोगानाह-प्रसङ्गादित्यादि। प्रसङ्गो मैथुनम्,
अथवा प्रसङ्गः सातत्यं, तेन कृतात् गात्रसंस्पर्शादेः। औपसर्गिकरोगा[2] इति औपसर्गिकाः
पापरोगादयो भूतोपसर्गजाश्च। संक्रामन्ति आविशन्ति। रोगसंक्रान्तिश्च कुष्ठिप्रभृतिपापिज-
नसंसर्गेण पापसंक्रान्तेर्विकारप्रभावाद्वा बोद्धव्या ॥ ४२-४३ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां कुष्ठनिदानं समाप्तम् ॥ ४९ ॥

विमर्श—मसूरिका, रोमान्तिका, विसर्प, उपदंश, खुजली आदि औपसर्गिक रोग हैं—

मसूरिकाश्च रोमान्त्यो ग्रन्थिवीसर्प एव च। उपदंशश्च कण्ड्वाद्या औपसर्गिकसंज्ञकाः ॥

ये नाम उदाहरण मात्र हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक रोग औपसर्गिक हैं। इन रोगों के उपसर्ग मार्ग भी भिन्न-भिन्न होते हैं। कुछ रोग छूने पर त्वचा द्वारा, कुछ श्वास द्वारा और कुछ अन्नपान के साथ मुख द्वारा एक दूसरे में फैलते हैं। आयुर्वेद ने कुछ रोगों की संक्रामता देखने से भी मानी है—

त्वगग्निरोगापस्मारराजयक्ष्ममसूरिकाः। दर्शनात् स्पर्शनाद् दानात् संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥

जीवाणुओं से उत्पन्न होने वाले अथवा एक मनुष्य या मनुष्येतर प्राणी से दूसरे मनुष्य को होने वाले रोग औपसर्गिक कहलाते हैं। इसके मुख्यतया तीन मार्ग हैं—

---

१. 'यत्परस्परतोऽभिन्नं बहु यद्रक्तलोमवत्' इति वर्तमानचरकप्रतिलिपिषु पाठः।

२. 'औपसर्गिकरोगाः शीतलिकादयः' इति डल्हणः।

(१) त्वचा (Skin), उपदंश, फिरंग, धनुस्तम्भ, विसर्प तथा मसूरिका इनका त्वचा द्वारा संक्रमण होता है।

(२) श्वास-प्रश्वास—राजयक्ष्मा, इन्फ्लुयेन्जा, प्रतिश्याय, रोमान्तिका, कुकुर खांसी, निमोनियाँ तथा रोहिणी का उपसर्ग इस मार्ग से होता है।

(३) मुख—खाद्य-पेय के द्वारा भी कुछ रोगों का उपसर्ग होता है यथा—आन्त्रिक ज्वर (Typhoid), अतिसार, विसूचिका। इनके अतिरिक्त कुछ रोग कीड़ों के द्वारा भी फैलते हैं। यथा पिस्सू से प्लेग, मच्छर से मलेरिया व श्लीपद ज्वर एवं एक भुनगे के दंश से कालाजार फैलता है। इन सबका समावेश त्वचा मार्ग में ही किया जाता है।

कुष्ठी की नासिका के मल तथा फोड़े-फुन्सियों के पूय में कुष्ठ के जीवाणु रहते हैं। ऐसे रोगी के साथ बैठने, उसके वस्त्र और पात्रों का उपयोग करने से दूसरे व्यक्ति में रोग का संक्रमण हो जाता है।

समाप्तं चेदं कुष्ठनिदानम्

अथ शीतपित्तोदर्दकोठनिदानम्

त्रयाणां सामान्यनिदानं प्राह—

शीतमारुतसंस्पर्शात्प्रदुष्टौ कफमारुतौ।
पित्तेन सह सम्भूय बहिरन्तर्विसर्पतः॥ १॥

ठण्डी हवा के स्पर्श से कफ और वायु प्रकुपित होकर [अपने हेतु से प्रकुपित] पित्त के साथ मिलकर बाहर त्वचा तथा आन्तरिक रक्त आदि धातुओं में फैलकर [शीतपित्त, उदर्द और कोठ रोगों को उत्पन्न करते हैं]॥ १॥

त्वग्दुष्टिदोषत्रयजन्यत्वसामान्यात् कुष्ठानन्तरं शीतपित्तोदर्दादिनिदानम्। तस्य दोषत्रयजन्यत्वमाह—शीतमारुतसंस्पर्शादित्यादि। पित्तेन सह संभूयेति स्वहेतूपचितेन पित्तेन संभूय मिलित्वा। बहिरन्तरिति बहिस्त्वचि, अन्तः शोणितादौ, विसर्पतः प्रसरतः॥ १॥

विमर्श—शीतपित्त को आजकल अर्टिकेरिया (Urticaria) कहते हैं। यह त्रिदोषज होता है। दोषोल्बणता के भेद से उदर्द और कोठ भी इसी के भेद हैं। यह रोग शरीर में एक साथ गर्मी और सर्दी का प्रभाव होने से होता है। आधुनिक विद्वान् इसका कारण एक प्रकार की अनूर्जता (Alergy) को मानते हैं जो किसी असात्म्य-प्रोभूजिन (Unsuitable protien) के सेवन से उत्पन्न होती है। इसमें विकृत मत्स्य, मांस, अण्डा, कृमिदंश, संखिया और किनीन के योग तथा अंकुशमुख कृमि या गण्डूपदकृमि का उपसर्ग (Ancylostomiasis or ascariasis) मुख्य हैं।

पूर्वरूपलक्षणान्याह—

पिपासाऽरुचिहृल्लासदेहसादाङ्गगौरवम्।
रक्तलोचनता तेषां पूर्वरूपस्य लक्षणम्॥ २॥

प्यास, अरुचि, मिचली, शरीर का गिरा रहना, अंगों में भारीपन तथा आंखों का लाल होना ये इनके पूर्वरूप हैं॥ २॥

पूर्वरूपमाह—पिपासेत्यादि। रक्तलोचनता प्रभावात्। पूर्वरूपस्य लक्षणमिति पूर्वरूपस्य स्वरूपमित्यर्थः; न तु लक्षणमत्र लिङ्गं, पिपासादिव्यतिरिक्तस्य पूर्वरूपस्याभावात्॥२॥

विमर्श—प्यास तथा आँखों की लाली पित्त के कारण तथा अरुचि और मिचली कफ के कारण होती है।

उदर्दस्य लक्षणमाह—

वरटीदष्टसंस्थानः शोथः संजायते बहिः।
सकण्डूस्तोदबहुलश्छर्दिज्वरविदाहवान्॥ ३॥
उदर्दमिति तं विद्याच्छीतपित्तमथापरे।
वाताधिकं शीतपित्तमुदर्दस्तु कफाधिकः॥ ४॥

त्वचा पर भिड़ या ततैये के काटने से उत्पन्न सूजन के समान जो शोथ उत्पन्न हो जाता है तथा जिसमें खुजली, सुई के चुभने जैसी पीडा की अधिकता, वमन, ज्वर तथा जलन होती है उसे कुछ विद्वान् उदर्द और कुछ शीतपित्त कहते हैं। वस्तुतः शीतपित्त में वायु की और उदर्द में कफ की अधिकता रहती है॥ ३-४॥

उदर्दलक्षणमाह—वरटीत्यादि। सकण्डूस्तोदबहुलश्छर्दिज्वरविदाहवानिति अत्र कण्डूः कफात्, तोदो वातात्, छर्दिज्वरविदाहाः पित्तादिति दोषत्रयलिङ्गम्। अनयोः शीतपित्तोदर्दयोः समानसंस्थानत्वेऽपि वाताधिकं शीतपित्तं, कफाधिक उदर्दः॥ ३-४॥

विमर्श—ज्वर के साथ त्वचा पर ददोरे पड़ जाते हैं। वायु की अधिकता के कारण शीतपित्त में चुभन-सी होती है और उदर्द में कफ की अधिकता के कारण खुजली और वमन के लक्षण होते हैं। इसमें कभी-कभी अतिसार की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। यह तीव्र और पुराण दो प्रकार का होता है। तीव्र के लक्षण शीघ्र ही एक दो दिन में नष्ट हो जाते हैं, किन्तु पुराण के लक्षण सप्ताहों और कभी-कभी महीनों तक भी चलते रहते हैं। त्वचा पर खुजली युक्त ददोरों की उत्पत्ति इस रोग का निर्णायक लक्षण है।

उदर्दस्यैव धर्मान्तरं निरूपयति—

सोत्सङ्गैश्च सरागैश्च कण्डूमद्भिश्च मण्डलैः।
शैशिरः कफजो व्याधिरुदर्द इति कीर्तितः॥ ५॥

उत्संग युक्त (मध्य में निम्न), रक्तवर्ण के खुजली युक्त चकत्तों के साथ शिशिर ऋतु में होने वाला कफज रोग उदर्द कहलाता है॥ ५॥

उदर्दस्य धर्मान्तरमाह-सोत्सङ्गैरित्यादि। उत्सङ्गैर्मध्यनिम्नैः शैशिर इति शिशिरसंभवः।

कोठं विवेचयति—

असम्यग्वमनोदीर्णपित्तश्लेष्मान्ननिग्रहैः।
मण्डलानि सकण्डूनि रागवन्ति बहूनि च।
उत्कोठः सानुबन्धश्च कोठ इत्यभिधीयते॥ ६॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने शीतपित्तोदर्दकोठनिदानं समाप्तम्।

वमन के अयोग अथवा मिथ्या योग तथा निकलते हुए पित्त, कफ और अन्न के वेग को धारण करने से खुजली युक्त लालवर्ण के अनेक चकत्ते पड़ जाते हैं जिन्हें कोठ और बार-बार होने पर उत्कोठ कहते हैं ॥ ६ ॥

त्वग्दुष्टिसाम्यादत्रैव कोठोऽभिधीयते—असम्यग्वमनेत्यादि। असम्यक्त्वं वमनस्यायोगमिथ्यायोगादिना, तथोदीर्णानां पित्तश्लेष्मान्नानां निग्रहो वेगविधारणं, तैर्मण्डलानि जायन्ते, स कोठः; अथवाऽयमर्थः—असम्यग्वमनोदीर्णौ पित्तश्लेष्माणौ, तथाऽन्ननिग्रह उपस्थितवेगस्यान्नस्य निग्रहश्छर्दिनिग्रह इति यावत्, तैर्हेतुभिर्भवन्ति। वमनस्य चासम्यक्त्वमयोगमिथ्यायोगाभ्यां ज्ञेयम्, अतियोगस्य तु पित्तश्लेष्मकोठाकरत्वात्। एतेन हेतुलक्षणभेदाद्भिन्नः कोठ उदर्दात्। कोठो निरनुबन्धः। तथा चोक्तं,–'क्षणिकोत्पादविनाशः कोठ इति निगद्यते तज्ज्ञैः' इति। सानुबन्ध उत्कोठोऽभिधीयते। सानुबन्धता च पुनः पुनर्भवनेन ॥ ६ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां शीतपित्तोदर्दकोठनिदानं समाप्तम् ॥ ५० ॥

विमर्श—उत्पादक कारण तथा लक्षणों की भिन्नता के कारण कोठ का वर्णन पृथक् किया गया है। अस्थायी कारणों से किञ्चित् काल तक रहने वाले को कोठ और चिरकारी दोषों से उत्पन्न बार-बार होने वाले को उत्कोठ कहते हैं।

समाप्तं चेदं शीतपित्तनिदानम्

अथाम्लपित्तनिदानम्

निदानप्रतिपादनपूर्वकमम्लपित्तस्य स्वरूपमाह—

विरुद्धदुष्टाम्लविदाहिपित्तप्रकोपिपानान्नभुजो विदग्धम्।
पित्तं स्वहेतूपचितं पुरा यत्तदम्लपित्तं प्रवदन्ति सन्तः ॥ १ ॥

वर्षा ऋतु आदि के प्रभाव से पहिले से ही सञ्चित पित्त जब विरुद्ध भोजन, विकृत भोजन, अत्यधिक अम्ल, विदाही तथा पित्त प्रकोपक भोजन और पान करने वाले व्यक्ति में विदग्ध (अधिक अम्ल) हो जाता है तो उसे अम्लपित्त कहते हैं ॥ १ ॥

कोठहेतौ पित्तश्लेष्मोल्लेखात् पित्तश्लेष्ममिलितरूपस्याम्लपित्तस्य निदानम्। निदानपूर्वकमम्लपित्तस्य स्वरूपमाह—विरुद्धेत्यादि। विरुद्धं क्षीरमत्स्यादि, दुष्टं व्यापन्नमन्नं, विदाहिस्थाने विदग्धेति पाठान्तरे विदग्धं भर्जितं; पित्तप्रकोपिपानान्नभुज इति पित्तप्रकोपि पानं तक्रसुरादि, अन्नमाशुधान्यमाषादि; पित्तप्रकोपिपानान्नग्रहणेनैवाम्लविदाहिनो ग्रहणे सिद्धे तदभिधानं विशेषार्थं, 'पित्तप्रकोपणाद्यन्नभुज' इति पाठान्तरे आदिशब्दात् कफादिप्रकोपणमन्नं गृह्यते। एवंविधपानान्नमुपभुञ्जानस्य विदग्धं कुपितं, स्वहेतूपचितं पुरा यदिति वर्षासु जलौषधिगतविदाहादिभिः स्वहेतुभिरुपचितं संचयमापन्नम्। यदुक्तं—'वर्षास्वम्लविपाकित्वादद्भिरोषधिभिस्तथा' (च. चि. ३) इति। विदाहाद्यम्लगुणोद्रिक्तं पित्तमम्लपित्तम्।

विमर्श—प्राकृत और विदग्ध भेद से पित्त दो प्रकार का होता है। सुश्रुत ने प्राकृत या अविकृत पित्त का रस कटु और विकृत या विदग्ध पित्त का रस अम्ल माना है। जब विदग्ध पित्त की वृद्धि हो जाती है तो उसे अम्लपित्त कहते हैं। 'अम्लं-विदग्धं च तत् पित्तम् अम्लपित्तम्।' इसे आजकल हाइपर एसिडिटी (Hyper acidity) कहते हैं। इसके निम्न कारण हैं—

(१) आमाशय और पच्यमानाशय के व्रण (Gastroduodenal ulcer)

(२) अत्यधिक धूम्रपान (Excessive smoking)

(३) किण्वीकरणजन्य अम्ल-प्राङ्गोदीय (Carbohydrate) का पाचन ठीक न होने से शर्करा का किण्वीकरण (Fermentation) हो जाता है। इससे अम्ल उत्पन्न होकर अम्लपित्त उत्पन्न करता है।

अम्लपित्तस्य लक्षणान्याह—

अविपाकक्लमोत्क्लेशतिक्ताम्लोद्गारगौरवैः ।
हृत्कण्ठदाहारुचिभिश्चाम्लपित्तं वदेद्भिषक् ॥ २ ॥

भोजन का न पचना, विना परिश्रम के थकावट, मिचली, कड़वी या खट्टी डकार, शरीर में भारीपन, हृदय प्रदेश तथा गले में जलन और अरुचि इन लक्षणों को देखकर अम्लपित्त समझना चाहिये ॥ २ ॥

तस्य लिङ्गमाह—अविपाकेत्यादि । अविपाक इत्याहारापाकः, क्लमोऽनायासजः श्रमः । अम्लपित्ते पित्तं प्रधानं, वातकफावप्यत्रानुगौ गौरवोद्गारकम्पादिना ज्ञेयौ ॥ २ ॥

अम्लपित्तस्याधोगतिं प्राह—

तृड्दाहमूर्च्छाभ्रममोहकारि प्रयात्यधो वा विविधप्रकारम् ।
हृल्लासकोठानलसादहर्षस्वेदाङ्गपीतत्वकरं कदाचित् ॥३॥

प्यास, जलन, मूर्च्छा, भ्रम और मोह को करने वाला, हरे, पीले, काले या रक्तवर्ण आदि विविध प्रकार का वह अम्लपित्त कभी-कभी गुदमार्ग से भी निकलता है और मिचली, शरीर पर ददोरे पड़ना, अग्निमान्द्य, रोमहर्ष, स्वेद तथा अङ्गों का पीलापन ये लक्षण होवे हैं ॥ ३ ॥

तस्य कदाचिदधऊर्ध्वगमनभेदाद्वि (द्वि) विधस्याधोगतिं तावदाह—तृड्दाहेत्यादि । मूर्च्छा सर्वथा ज्ञानशून्यत्वं, मोहो विपरीतज्ञानम् । प्रयात्यधो वेत्यत्र वाशब्दो भाव्यूर्ध्वगमनापेक्षया । विविधप्रकारमिति हरित्पीतकृष्णरक्तादिबहुवर्णत्वदुर्गन्धित्वयोगान्नानाविधम् । कदाचिदिति न सर्वकालम् ॥ ३ ॥

विमर्श—रक्तपित्त के समान अम्लपित्त ऊर्ध्वग और अधोग भेद से दो प्रकार का होता है। अधोगामी अम्लपित्त में पित्त की ही विशेषता रहती है। कदाचित् शब्द से यह स्पष्ट है कि अधोगामी अम्लपित्त बहुत कम होता है।

ऊर्ध्वगमम्लपित्तं निरूपयति—

वान्तं हरित्पीतकनीलकृष्णमारक्तरक्ताभमतीव चाम्लम् ।
मांसोदकाभं त्वतिपिच्छिलाच्छं श्लेष्मानुजातं विविधं रसेन ॥ ४ ॥
भुक्ते विदग्धे त्वथवाऽप्यभुक्ते करोति तिक्ताम्लवमिं कदाचित् ।
उद्गारमेवंविधमेव कण्ठहृत्कुक्षिदाहं शिरसो रुजं च ॥ ५ ॥
करचरणदाहमौष्ण्यं महतीमरुचिं ज्वरं च कफपित्तम् ।
जनयति कण्डूमण्डलपिडकाशतनिचितगात्ररोगचयम् ॥ ६ ॥

कफ के अनुबन्ध वाले अम्लपित्त का वमन हरे, पीले, नीले, काले, हलके या गहरे लाल रङ्ग

का बहुत खट्टा, मांस के धोवन के सदृश, अत्यधिक चिपचिपा, स्वच्छ कफयुक्त और लवण, कटु तथा तिक्त भेद से रस में विविध प्रकार का होता है। भोजन का विकृत पाक होने पर या कभी भोजन न करने पर भी रोगी कड़वा और खट्टा वमन करता है। रोगी को इन्हीं रसों की डकारें आती हैं और गले, हृदय प्रदेश तथा उदर में जलन होती है। रोगी शिरोवेदना से पीड़ित रहता है। यह कफानुबन्धी अम्लपित्त हाथ और पैरों में जलन तथा उष्णता, भयङ्कर अरुचि तथा ज्वर को उत्पन्न करता है। रोगी का शरीर खुजली, मण्डल, असंख्य पिडकाएँ तथा अविपाक और उत्क्लेश आदि लक्षणों से व्याप्त रहता है ॥ ४-६ ॥

ऊर्ध्वगतिमाह—वान्तमित्यादि। नीलं स्निग्धकृष्णं, कृष्णं मर्दनाञ्जनवद्रूक्षकृष्णं, आरक्तमीषल्लोहितं, रक्तमन्तर्लोहितम्। मांसोदकाभमिति मांसधावनतोयाभं कृष्णलोहितमित्यर्थः। विविधं रसेनेति रसेन लवणकटुतिक्ताख्येन नानारूपम्। करोति तिक्ताम्लवमिमिति तिक्तस्य अम्लस्य वा वमिं वान्तिं करोति। उद्गारमेवंविधमेवेति अत्र करोतीति संबध्यते, एवंविधमिति अम्लतिक्तम्। कण्ठहृत्कुक्षिदाहं शिरसो रुजं चेति अत्रापि करोतीति संबध्यते। करचरणेत्यादि कण्डूमण्डलपिडकाशतनिचितगात्ररोगचयमिति कण्ड्वादिनिचितगात्रं च रोगचयं चेति द्वन्द्वः, तेन कण्ड्वादिनिचितगात्रं रोगचयं च करोतीत्यर्थः, रोगचयोऽविपाकोत्क्लेशादिः॥

साध्यासाध्यतां निरूपयति—

रोगोऽयमम्लपित्ताख्यो यत्नात् संसाध्यते नवः।
चिरोत्थितो भवेद्याप्यः कृच्छ्रसाध्यः स कस्यचित् ॥ ७ ॥

नवीन अम्लपित्त यत्न करने पर साध्य होता है। पुराना होने पर वह याप्य और किसी किसी में (नियमित और हित आहार विहार करने पर) कृच्छ्रसाध्य होता है ॥ ७ ॥

साध्यत्वादिकमाह—रोग इत्यादि। कृच्छ्रसाध्यःस कस्यचिदिति हिताहाराचारशीलिनः कस्यचिच्चिरोत्थितोऽपि कृच्छ्रसाध्यः ॥ ७ ॥

अम्लपित्ते संसर्गमाह—

सानिलं सानिलकफं सकफं तच्च लक्षयेत्।
दोषलिङ्गेन मतिमान् भिषङ्मोहकरं हि तत् ॥ ८ ॥
कम्पप्रलापमूर्च्छाचिमिचिमिगात्रावसादशूलानि।
तमसो दर्शनविभ्रमविमोहहर्षाण्यनिलकोपात् ॥ ९ ॥
कफनिष्ठीवनगौरवजडतारुचिशीतसादवमिलेपाः।
दहनबलसादकण्डूनिद्राश्चिह्नं कफानुगते ॥ १० ॥
उभयमिदमेव चिह्नं मारुतकफसंभवे भवत्यम्ले।
(तिक्ताम्लकटूद्गारहृत्कुक्षिकण्ठदाहकृत् ॥ ११ ॥)
भ्रमो मूर्च्छारुचिश्छर्दिरालस्यं च शिरोरुजा।
प्रसेको मुखमाधुर्यं श्लेष्मपित्तस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽम्लपित्तनिदानं समाप्तम् ॥ ५१ ॥

वात और कफ के लक्षणों को देखकर अम्लपित्त को वाताधिक, वातकफाधिक तथा केवल कफाधिक भेद से तीन प्रकार का समझना चाहिये। इसका निदान करने में चिकित्सक धोखा खा जाते हैं। वाताधिक अम्लपित्त में कम्पन, प्रलाप, मूर्च्छा, शरीर में चुनचुनाहट, अङ्गों में शिथिलता, शूल, आँखों के आगे अँधेरा छाना, विपरीत ज्ञान, फटना तथा अकारण ही हर्ष या रोमहर्ष ये लक्षण होते हैं। कफाधिक अम्लपित्त में मुख से कफ गिरना, शरीर में भारीपन, निष्क्रियता, अरुचि, शीत, शिथिलता, वमन, मुख का कफ से लिप्त रहना, अग्नि की मन्दता, खुजली तथा निद्रा ये लक्षण होते हैं। वातकफाधिक अम्लपित्त में इन दोनों के मिले हुए लक्षण होते हैं। कड़वी, खट्टी और चटपटी डकारों का आना, हृदयप्रदेश, उदर तथा गले में जलन होना, भ्रम, मूर्च्छा, अरुचि, वमन, आलस्य, सिर में पीड़ा, लालास्राव तथा मुख का मीठा रहना ये भी कफाधिक अम्लपित्त के लक्षण हैं ॥ ८-१२ ॥

तत्रैव केवलानिलकफानिलकफमात्राणां संसर्गमाह—सानिलमित्यादि। भिषङ्मोहकरमिति तस्योर्ध्वाधःप्रवर्तमानत्वेन छर्द्यतीसाराभ्यां सकाशाद्भेदस्य दुर्ज्ञेयत्वाद्वैद्यमोहकरत्वम्। कफेत्यादि, सादवमिलेपा इत्यत्र सादोऽङ्गसादः, लेपः श्लेष्मलिप्तास्यता। दहनबलसादेति सादशब्दो दहनबलाभ्यां संबध्यते ॥ ८-१२ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायामम्लपित्तनिदानं समाप्तम् ॥ ५१ ॥

अथ विसर्पनिदानम्

विसर्पस्य निदानपूर्विकां सख्यां निरुक्तिञ्चाह—

लवणाम्लकटूष्णादिसंसेवाद्दोषकोपतः ।
विसर्पः सप्तधा ज्ञेयः सर्वतः परिसर्पणात् ॥ १ ॥
पृथक् त्रयस्त्रिभिश्चैको विसर्पा द्वन्द्वजास्त्रयः ।
वातिकः पैत्तिकश्चैव कफजः सान्निपातिकः ॥ २ ॥
चत्वार एते वीसर्पा वक्ष्यन्ते द्वन्द्वजास्त्रयः ।
आग्नेयो वातपित्ताभ्यां ग्रन्थ्याख्यः कफवातजः ॥ ३ ॥
यस्तु कर्दमको घोरः स पित्तकफसंभवः । (च. चि. ११)

लवण, अम्ल और कटुरस प्रधान तथा उष्ण, तीक्ष्ण पदार्थों के सतत सेवन से प्रकुपित हुए दोष सात प्रकार के विसर्प को उत्पन्न करते हैं। सारे शरीर में फैलने की प्रवृत्ति होने से इसे विसर्प कहते हैं। एक-एक दोषों से तीन, तीनों दोषों से एक और द्वन्द्व तीन अर्थात् वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक, वातपित्तज, वातकफज तथा पित्तकफज भेद से ये सात प्रकार के होते हैं। वातपित्तज को आग्नेय, कफवातज को ग्रन्थि तथा पित्तकफज भयङ्कर विसर्प को कर्दमक भी कहते हैं ॥

अम्लपित्तसंभवच्छर्दिवेगविधारणाद्रक्तदुष्टौ सत्यां विसर्पोत्पत्तेर्हेतुसाम्यात्तदनन्तरं विसर्पनिदानम्। छर्दिवेगविघातस्य रक्तदूषकत्वे चरकवचनं यथा,–'छर्दिवेगप्रतीघातात् काले

चानवसेचनात्[1] । शरत्कालप्रभावाच्च शोणितं संप्रदुष्यति' (च. सू. २४) इति । तस्य निदानपूर्विकां संख्यां निरुक्तिं चाह—लवणाम्लेत्यादि । 'विसर्पो न ह्यसंसृष्टो रक्तपित्तेन लक्ष्यते' इति वचनात् लवणाम्लादिकं विशेषेण रक्तपित्तनिदानमुक्तम् । संसेवया सततसेवया दोषकोपः संसेवाद्दोषकोपस्ततः । अत्र आदिग्रहणाच्चरकोक्तानां हरितशाकशिण्डाकीप्रभृतीनां ग्रहणम् । सप्तधेति उल्वणैकैकदोषजास्त्रयः, सन्निपातज एकः, त्रयो द्वन्द्वजाः, इति सप्तप्रकारत्वमुक्तम् । सर्वतः परिसर्पणादिति सर्वतः परिसर्पणात् परिसर्पः, विविधं सर्पणाद्विसर्पः । यदुक्तं चरके, 'विविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन स स्मृतः । परिसर्पोऽथवा नाम्ना सर्वतः परिसर्पणात्' (च. चि. २१) इति ॥ १–३ ॥

विमर्श—विसर्प की निरुक्ति—'सर्वतो विसर्पणाद् विसर्पः' सर्वाङ्ग में फैलने की प्रवृत्ति वाले रोग को विसर्प कहते हैं ।

विविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन स स्मृतः ।
परिसर्पोऽथवा नाम्ना सर्वतः परिसर्पणात् ॥ (चरकः)

त्वचा के अतिरिक्त यह श्लेष्मलकला, हृदयावरण, फुफ्फुसावरण, मस्तिष्कावरण, मस्तिष्क जैसे शरीर के आन्तरिक अङ्गों तथा रक्त में भी प्रविष्ट हो जाता है । इन अंगों में होने वाला विसर्प असाध्य होता है । विसर्प का दूसरा नाम परिसर्प भी है । सुश्रुत ने वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक तथा क्षतज भेद से पाँच प्रकार का ही विसर्प माना है । वस्तुतः यह सदैव त्रिदोषज होता है केवल उल्वणता के अनुसार वातिक आदि भेद वर्णित है ।

विसर्पस्य हेतूनाह—

रक्तं लसीका त्वङ्मांसं दूष्यं दोषास्त्रयो मलाः ॥ ४ ॥
विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्त धातवः । (च. चि. ११)

रक्त, लसिका, त्वचा तथा मांस ये दूष्य और वात, पित्त तथा कफ ये तीन दोष मिलकर सात धातुएँ विसर्प की उत्पत्ति कराती हैं ॥ ४ ॥

विमर्श—चार दूष्य तथा तीन दोष ये सात विसर्प के कारण हैं ।

त्वङ्मांसशोणितगताः कुपितास्तु दोषाः सर्वाङ्गसारिणमिहास्थितमात्मलिङ्गम् ।
कुर्वन्ति विस्तृतमनुन्नतमाशु शोफं तं सर्वतो विसरणाच्च विसर्पमाहुः ॥ (सुश्रुतः)

यहाँ त्वचा से उसमें रहने वाली लसिका का भी ग्रहण हो जाता है । उक्त श्लोक के द्वारा विसर्प की निरुक्ति तथा विशिष्ट लक्षणों का निर्देश संक्षेप में कर दिया गया है ।

विसर्प की विशेषतायें—

(१) त्वचा या श्लेष्मलकला से शोथ का प्रारम्भ ।

(२) सर्वांग में फैलने की प्रवृत्ति (सर्वांगसारी) ।

(३) उत्पत्तिस्थान में स्थायी रूप से रहना जिसे सुश्रुत ने **अस्थिर** कहा है ।

(४) अनुन्नतशोफ—विद्रधि, ग्रन्थि और अर्बुद के सदृश उभार इसमें नहीं होता ।

ये चार विसर्प के मुख्य निर्णायक लक्षण हैं । विसर्प को आजकल एरिसिपेलास (Erysipelas) कहते हैं ।

विसर्प के कारण –इसके दो भेद हैं—

(१) **सहायक कारण**—चिरकालीनमेह, विषमाग्नि, मद्यसेवन, सीलनयुक्त स्थानों में निवास तथा दूषित वायु का सेवन । इनसे शरीर की स्वाभाविक रोगप्रतिरोधक्षमता कम हो जाती है ।

---

१. 'वातसेवनात्' इति क. ।

(२) **प्रधान कारण**—विसर्पजनक माला गोलाणु (Streptococcus erysipelatis) इसका प्रधान कारण है। इसका प्रवेश शरीर में त्वचा या श्लेष्मलकला के क्षत से होता है।

साधारणतया विसर्प के दो भेद कर सकते हैं—

(१) दोषज (Idiopathic)—इसमें पूर्वोक्त सात प्रकार के विसर्पों का ग्रहण किया जाता है। इसमें क्षत का पता नहीं चलता।

(२) क्षतज (Traumatic)—इसमें क्षत की स्पष्ट प्रतीति होती है। जीवाणु क्षत की अतिसूक्ष्म दरारों से भी प्रविष्ट हो सकते हैं। त्वचा में प्रविष्ट हो जाने पर वहाँ इनका पोषण होता है और लसवाहिनियों के द्वारा समीपस्थ धातुओं में फैलकर शोथ उत्पन्न करते हैं। इसी तरह आस-पास की धातुओं में इसका प्रसार होता है।

वातिकादिविसर्पं लक्षयति—

तत्र वातात् स वीसर्पो वातज्वरसमव्यथः ॥ ५ ॥
शोथस्फुरणनिस्तोदभेदायासार्तिहर्षवान् ।
पित्ताद्द्रुतगतिः पित्तज्वरलिङ्गोऽतिलोहितः ॥ ६ ॥
कफात् कण्डूयुतः स्निग्धः कफज्वरसमानरुक् ।
सन्निपातसमुत्थश्च सर्वलिङ्गसमन्वितः ॥ ७ ॥ (वा. नि. १३)

वातिक विसर्प में वातज्वर के समान वेदना, शोथ, फडकन, सुई के चुभने जैसी पीडा, भेदन, थकावट तथा रोमहर्ष ये लक्षण होते हैं। पित्तज विसर्प बहुत जल्दी बढ़ता है, पित्तज्वर के समान लक्षण और गहरे लालवर्ण से युक्त होता है। कफज विसर्प में खुजली, स्निग्धता तथा कफज्वर के समान पीडा होती है। सन्निपातज विसर्प सब दोषों के लक्षणों से युक्त होता है ॥ ५-७ ॥

सर्वेषामेव रक्तादिदूष्यचतुष्टयदोषत्रयजन्यत्वमाह—रक्तमित्यादि। विसर्पस्य समानसामग्रीकत्वेऽपि कुष्ठाद्भेदः कुष्ठाध्याये एव निरूपितः। दोषशब्देनैव वातादिग्रहणे सिद्धे मला इति यत् कृतं, तदत्यर्थंदुष्टया शरीरमलिनीकरणत्वं दोषाणां प्रतिपादयितुम्। सन्निपातजेऽसाध्यत्वमपि 'सर्वात्मकः क्षतकृतश्च न सिद्धिमेति' (सु. नि. १०) इति वचनात्। तेन विकृतिविषमसमवेतत्वमस्य। चरके त्वन्तर्जबहिर्जभेदेन विसर्पः पठितः। यदाह— 'मर्मोपघातात् संमोहादयनानां विघट्टनात्। तृष्णातियोगाद्वेगानां विषमं च प्रवर्तनात् ॥ विद्याद्विसर्पमन्तर्जमाशु चाग्निबलक्षयात्। अतो विपर्ययाद्बाह्यमन्यं विद्यात् स्वलक्षणैः' (च. चि. २१) इति ॥ ४ ॥

विमर्श—चरक ने बाह्य और आभ्यन्तर भेद से विसर्प दो प्रकार का माना है और उसके लक्षण भी बताये हैं—

मर्मोपघातात् संमोहादयनानां विघट्टनात्। तृष्णातियोगाद्वेगानां विषमं च प्रवर्तनात् ॥
विद्याद्विसर्पमन्तर्जमाशु चाग्निबलक्षयात्। अतो विपर्ययाद्बाह्यमन्यं विद्यात् स्वलक्षणैः ॥

सुस्ती, शिरःशूल, बुभुक्षानाश तथा ज्वर ये विसर्प के पूर्वरूप हैं। इसके बाद क्षतस्थान पर अनुन्नत शोफ, लालिमा, दाह, पीडा तथा फैलने की प्रवृत्ति ये लक्षण होते हैं। पूयोत्पादन इसमें नहीं होता, फफोले पड़ते हैं जिनसे जलीय स्राव निकलता है।

विसर्प और कुष्ठ की सामग्री समान होने पर भी दोनों में भेदका कारण कुष्ठ प्रकरण में कहा जा चुका है। दोष शब्द से वातादिक का ग्रहण हो जाता है, फिर भी मल शब्दका प्रयोग दोषों की

अत्यन्त दुष्टि या शरीर की मलिनता दिखलाने के लिए किया गया है। सन्निपातज और क्षतज विसर्प असाध्य होता है। 'सर्वात्मकः क्षतकृतश्च न सिद्धिमेति।' (सु. नि. १०) क्योंकि यह विकृति विषमसमवाय से होता है और प्रकृत सम समवाय से होने वाले तो साध्य होते ही हैं।

आग्नेयविसर्पं निरूपयति—

वातपित्ताज्ज्वरच्छर्दिमूर्च्छातीसारतृड्भ्रमैः ।
ग्रन्थिभेदाग्निसदनतमकारोचकैर्युतः ॥ ८ ॥
करोति सर्वमङ्गं च दीप्ताङ्गारावकीर्णवत् ।
यं यं देशं विसर्पश्च विसर्पति भवेत् स सः ॥ ९ ॥
शान्ताङ्गारासितो नीलो रक्तो वाऽऽशु च चीयते ।
अग्निदग्ध इव स्फोटैः शीघ्रगत्वाद्द्रुतं च सः ॥ १० ॥
मर्मानुसारी वीसर्पः स्याद्वातोऽतिबलस्ततः ।
व्यथतेऽङ्गं हरेत्संज्ञां निद्रां च श्वासमीरयेत् ॥ ११ ॥
हिक्कां च स गतोऽवस्थामीदृशीं लभते न ना ।
क्वचिच्छर्मारतिग्रस्तो भूमिशय्यासनादिषु ॥ १२ ॥
चेष्टमानस्ततः क्लिष्टो मनोदेहप्रमोहवान् ।
दुष्प्रबोधोऽश्नुते निद्रां सोऽग्निवीसर्प उच्यते ॥ १३ ॥
(वा. नि. १३)

ज्वर, वमन, मूर्च्छा, अतिसार, प्यास, भ्रम (चक्कर), ग्रंथियों या संधियों में फटने जैसी पीड़ा अग्निमान्द्य, तमकश्वास तथा अरुचि से युक्त वातपित्तज विसर्प में सम्पूर्ण शरीर जलते हुए अंगारे से झुलसे के समान हो जाता है। जिस-जिस स्थान पर विसर्प हो जाता है वह बुझे हुए अंगारे के समान काला, नीला या लाल होकर शीघ्र ही अग्नि से जलने के समान फफोलों से व्याप्त हो जाता है। शीघ्रगामी होने से वह जल्दी ही मर्मस्थान में प्रवेश कर जाता है जिससे वायु अत्यधिक प्रकुपित होकर अंगों को पीडित करता है और संज्ञा (होश) तथा निद्रा को नष्ट कर देता है, हिक्का और श्वास को उत्पन्न करता है। इस प्रकार की अवस्था को प्राप्त हुआ वह रोगी कहीं भी शान्ति प्राप्त नहीं करता। इस प्रकार बेचैनी से पीडित रोगी भूमि पर बार-बार लेटने व बैठने की चेष्टा करता हुआ बहुत दुखी होकर मूर्च्छित होकर मरणरूप निद्रा को भी प्राप्त हो जाता है। इसको अग्निविसर्प कहते हैं। ८-१३।

आग्नेयविसर्पमाह—वातपित्तादित्यादि। दीप्ताङ्गारावकीर्णवदिति ज्वलदङ्गारेणैव व्याप्तमङ्गं मन्यते। शान्ताङ्गारासित इति निर्वाणाङ्गारवत् कृष्णवर्णः स देशो भवति। नीलो रक्तो वेति स देशः स्निग्धनीलो रक्तो वा भवति। अग्निदग्ध इवेति अग्निदग्धदेश इव। शीघ्रगत्वादिति शीघ्रकारित्वात्। मर्मानुसारी हृदयाद्यनुसारी। व्यथतेऽङ्गमित्यत्रान्तर्भावितो ण्यर्थः, तेन व्यथयतीत्यर्थः। निद्रां चेत्यत्र हरेदिति संबध्यते। शर्म सुखम्। दुष्प्रबोधोऽश्नुते निद्रामिति निद्रां मरणरूपां प्राप्नोति॥ ८-१३॥

विमर्श—आग्नेय विसर्प वात पित्तज होता है। इसे आजकल एरिसिपेलास वेसिकुलोजम (Erysipelas vesiculosum) कहते हैं। सुश्रुत ने इसका वर्णन नहीं किया है। डाक्टर घाणेकर जी के अनुसार इसे सुश्रुत के वातिक विसर्प में समाविष्ट किया जा सकता है।

ग्रन्थिविसर्पं प्राह—

कफेन रुद्धः पवनो भित्त्वा तं बहुधा कफम् ।
रक्तं वा वृद्धरक्तस्य त्वक्सिरास्नायुमांसगम् ॥ १४ ॥
दूषयित्वा तु दीर्घाणुवृत्तस्थूलखरात्मनाम् ।
ग्रन्थीनां कुरुते मालां सरक्तां तीव्ररुग्ज्वराम् ॥ १५ ॥
श्वासकासातिसारास्यशोषहिक्कावमिभ्रमैः ।
मोहवैवर्ण्यमूर्च्छाङ्गभङ्गाग्निसदनैर्युताम् ॥ १६ ॥
इत्ययं ग्रन्थिवीसर्पः कफमारुतकोपजः । (वा. नि. १३)

(स्वकारण से प्रकुपित) कफ से अवरुद्ध हुआ वायु कफ को खूब फैलाकर अथवा जिस व्यक्ति का रक्त बढ़ा हुआ है उसके त्वचा, सिरा, स्नायु और मांस में रहने वाले रक्त को दूषित कर लम्बी, छोटी, गोल अथवा मोटी और कठोर ग्रन्थियों की माला को उत्पन्न करता है। इन ग्रन्थियों का रंग लाल होता है तथा साथ में पीडा और ज्वर भी रहता हैं। इन लक्षणों के अतिरिक्त श्वास, खांसी, अतिसार, मुख का सूखना, हिचकी, वमन तथा भ्रम ये लक्षण भी होते हैं। मूढता, विवर्णता, मूर्च्छा, अंगों का टूटना तथा अग्नि की मन्दता इन लक्षणों से युक्त ग्रन्थियों की माला को ग्रन्थि विसर्प कहते हैं। यह कफ और वायु के कोप से उत्पन्न होता है ॥ १४-१६ ॥

ग्रन्थिविसर्पमाह—कफेन रुद्ध इत्यादि। कफेनेति स्वहेतुकुपितेन, पवनः स्वहेतुकुपितः, तेन कफमारुतजत्वमस्योपपन्नं भवति। भित्त्वा तं बहुधा कफमिति कफं विस्तार्य। रक्तं वेति दूषयित्वेत्यनेन वक्ष्यमाणेन संबध्यते। दीर्घाणुवृत्तस्थूलखरात्मनामिति वृत्तं वर्तुलं; स्थूलमुच्छूनं, खरं कठिनं, एवंरूपाणां ग्रन्थीनां मालां करोति, अयं च ग्रन्थिविसर्प सुश्रुतेऽपचीसंज्ञया पठ्यते ॥ १४-१६ ॥

विमर्श—इसमें शरीर पर अनेक गांठें निकल आती हैं अतः इसे ग्रन्थि विसर्प कहते हैं। इसमें छाले नहीं पड़ते अपितु ग्रन्थि के समान छोटी-छोटी फुन्सियाँ हो जाती हैं। इसे एरिसिपिलास पुसच्युलोजम (Erysipelas Pustulosum) कह सकते हैं। चक्रपाणिदत्त और विजयरक्षितजी का कहना है कि सुश्रुतोक्त अपची ही ग्रन्थि विसर्प है—'**अयं च ग्रन्थिविसर्पः सुश्रुतेऽपचीसंज्ञया पठ्यते**'। वस्तुतः इन दोनों में नाम के अतिरिक्त कोई समानता नहीं है।

कर्दमविसर्पं लक्षयति—

कफपित्ताज्ज्वरः स्तम्भो निद्रा तन्द्रा शिरोरुजा ॥ १७ ॥
अङ्गावसादविक्षेपौ प्रलेपारोचकभ्रमाः ।
मूर्च्छाग्निहानिर्भेदोऽस्थ्नां पिपासेन्द्रियगौरवम् ॥ १८ ॥
आमोपवेशनं लेपः स्रोतसां स च सर्पति ।

प्रायेणामाशयं गृह्णन्नेकदेशं न चातिरुक् ॥ १९ ॥
पिडकैरवकीर्णोऽतिपीतलोहितपाण्डुरैः ।
स्निग्धोऽसितो मेचकाभो मलिनः शोथवान् गुरुः ॥ २० ॥
गम्भीरपाकः प्राज्योष्मा स्पृष्टः क्लिन्नोऽवदीर्यते ।
पङ्कवच्छीर्णमांसश्च स्पष्टस्नायुसिरागणः ॥ २१ ॥
शवगन्धी च वीसर्पः कर्दमाख्यमुशन्ति तम् । (वा. नि. १३)

कफपित्तजन्य विसर्प में ज्वर, अंगों की स्तब्धता, निद्रा, तन्द्रा, शिरःशूल, अंगों में शिथिलता तथा अंगों का इतस्ततः फेंकना, अंगों पर प्रलेप की प्रतीति, अरुचि, भ्रम, मूर्च्छा, अग्निनाश, अस्थियों में टूटने जैसी पीडा, प्यास, इन्द्रियों में भारीपन, आम मल का त्याग, स्रोतों में लेप (अवरोध) होता है। वह विसर्प प्रायः आमाशय में और एकदेश व्यापी होता है तथा पीडा अधिक नहीं होती। अत्यधिक पीले, लाल व धूसर वर्ण की पिडकाओं से यह व्याप्त रहता है। यह चिकना काला, अञ्जन के समान कृष्ण, मैला, सूजनयुक्त, भारी, अन्तःपाक वाला तथा अत्यधिक उष्ण होता है। क्लेदयुक्त होने से छूते ही फट जाता है और मांस के झरने से कीचड़ के समान हो जाता है और स्नायु तथा सिरायें स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। इसमें शव के समान दुर्गन्धि आती है। इस प्रकार के विसर्प को **कर्दम विसर्प** कहते हैं ॥ १७-२१ ॥

कर्दमविसर्पमाह-कफपित्तादित्यादि। स्तम्भ इति गात्रस्य स्तब्धता, आमोपवेशनमामस्य वर्चसस्त्यजनम्। स च सर्पति प्रायेणामाशयं गृह्णन्नेकदेशमिति कफपित्तयोरामाशयस्थत्वात् प्रायेणामाशये भवन्नेकदेशव्यापी भवतीत्यर्थः। पिडकैरिति पिडकाभिः, मलिन इति मलदिग्धः। गम्भीरपाक इत्यन्तःपाकः, प्राज्योष्मा प्रचुरोष्मा। स्पष्टस्नायुसिरागण इति पूतिमांसगलनेन स्नाय्वादीनां स्पष्टता। कर्दमाख्यमुशन्ति तमिति तं कर्दमसारूप्यात् कर्दमाख्यमिच्छन्ति ॥

विमर्श—यह कफपित्तज विसर्प है। इसमें त्वचा के साथ त्वचा के नीचे की धातुओं में भी गम्भीर पाक होता है जिससे उनके दूषित भाग गल कर गिरने लगते हैं। विकृत स्थान कीचड़ के समान हो जाता है अतः इसे कर्दम कहा जाता है। आजकल इसे सैल्युलो क्यूटेनियस एरिसिपिलास (Cellulo-cutaneous erysipelas or E. gangrinosum) कहते हैं।

क्षतविसर्पं तदुपद्रवं च निरूपयति—

बाह्यहेतोः क्षतात् क्रुद्धः सरक्तं पित्तमीरयन् ॥ २२ ॥ (वा. नि. १३)
वीसर्पं मारुतः कुर्यात्कुलत्थसदृशैश्चितम् ।
स्फोटैः शोथज्वररुजादाहाढ्यं श्यावशोणितम् ॥ २३ ॥
ज्वरातिसारौ वमथुस्त्वङ्मांसदरणं क्लमः । (सु. नि. १०)
अरोचकाविपाकौ च विसर्पाणामुपद्रवाः ॥ २४ ॥

बाह्य हेतुज क्षत से प्रकुपित वायु रक्त सहित पित्त को प्रेरित करके कुलथी के समान छालों से व्याप्त, सूजन, ज्वर, पीडा तथा जलन से युक्त श्याव या रक्तवर्ण के विसर्प को उत्पन्न करता

है । इसमें ज्वर, अतिसार, वमन, त्वचा तथा मांस का फटना, क्लम, अरुचि तथा भोजन का ठीक-ठीक न पचना यह विसर्प के उपद्रव हैं ॥ २२-२४ ॥

क्षतविसर्पमाह—बाह्यहेतोरित्यादि। अयं च पित्तजे विसर्पेऽन्तर्भावनीयः, तेन न संख्याधिक्यम् । तथाच भोजः—'शस्त्रप्रहारैस्तैस्तैस्तु व्याडदन्तनखैरपि । क्षते वाऽप्यथवा भग्ने बहुदोषस्य देहिनः। रक्तं पित्तं च कुपितं व्रणमाशु प्रपद्यते। कुरुतस्ते समेते तु व्रणशोथं सुदारुणम् । आचितं तनुविस्फोटैः कृष्णैः पीतकसन्निभैः । पित्तवीसर्पवल्लिङ्गं तस्य शेषं विनिर्दिशेत्' इति ॥ २२-२४ ॥

विमर्श—किसी शस्त्र के आघात से क्षत हो जाने पर, शस्त्रक्रिया करने पर, बालक का नाडी छेद करने तथा मसूरिका का टीका लगाने आदि कारणों से उत्पन्न क्षत होने पर क्षतज विसर्प हो सकता है । चरक ने क्षतज विसर्प का स्वतन्त्र वर्णन नहीं किया है । आधुनिक विद्वान् सब विसर्पों को क्षतज ही मानते हैं । प्राचीन ग्रन्थों में निज तथा आगन्तुज दोनों भेद माने जाते हैं; क्योंकि कभी-कभी क्षत का इतिहास न मिलने पर भी विसर्प पाया जाता है ।

साध्यासाध्यतां प्राह—

सिध्यन्ति वातकफपित्तकृता विसर्पाः
सर्वात्मकः क्षतकृतश्च न सिद्धिमेति ।
पित्तात्मकोऽञ्जनवपुश्च भवेदसाध्यः
कृच्छ्राश्च मर्मसु भवन्ति हि सर्व एव ॥ २५ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने विसर्पनिदानं समाप्तम् ॥ ५२ ॥

वातज, पित्तज और कफज विसर्प साध्य होते हैं । सन्निपातज और क्षतज असाध्य होते हैं । पित्तज विसर्प जिसमें रोगी का शरीर अंजन के समान काला हो जाता है वह असाध्य होता है । मर्मस्थानों में होने वाले सभी विसर्प कृच्छ्रसाध्य या असाध्य होते हैं ॥ २५ ॥

साध्यत्वादिकमाह—सिध्यन्तीत्यादि । पित्तात्मकोऽञ्जनवपुरिति अत्यन्तमुद्रिक्तपित्तोऽञ्जनसमवर्णतनुः, अग्निविसर्पाख्यो न साध्य इति व्याख्यानयन्ति । कृच्छ्राश्च मर्मस्विति असाध्यत्वेन कृच्छ्रत्वं बोद्धव्यम् । यदाह । भोजः—'वर्ज्यस्तु क्षतजस्तेषां सन्निपातात्तु यो भवेत् । भिषजा जानता त्याज्याः सर्व एव तु मर्मजाः' इति ॥ २५ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां विसर्पनिदानं समाप्तम् ॥ ५२ ॥

अथ विस्फोटनिदानम्

विस्फोटस्य निदानपूर्विकां सम्प्राप्तिं प्राह—

कट्वम्लतीक्ष्णोष्णविदाहिरूक्षक्षारैरजीर्णाध्यशनातपैश्च ।
तथर्तुदोषेण विपर्ययेण कुप्यन्ति दोषाः पवनादयस्तु ॥ १ ॥
त्वचमाश्रित्य ते रक्तमांसास्थीनि प्रदूष्य च ।

---

१. 'व्याल' इति पाठान्तरम् ।

घोरान् कुर्वन्ति विस्फोटान् सर्वान् ज्वरपुरःसरान् ॥ २ ॥

चरपरे, खट्टे, तीक्ष्ण, उष्ण, विदाही, रूखे तथा खारे पदार्थों के सेवन से, अजीर्ण, अध्यशन तथा धूप से, ऋतु के दोष (शीत उष्ण आदि के अतियोग) से या ऋतु के विपरीत स्वभाव से वात आदि दोष प्रकुपित हो जाते हैं और वे त्वचा में आश्रित होकर तथा रक्त, मांस और अस्थियों को दूषित करके ज्वरपूर्वक विविध भयङ्कर विस्फोटों को उत्पन्न करते हैं ॥ १-२ ॥

प्रायेण दोषदूष्यचिकित्सासाम्याद्विस्फोटनिदानमाह—कट्वित्यादि । अजीर्णाध्यशनातपैश्चेति । अजीर्णाशनमपक्वद्रव्यस्याशनं, अध्यशनमजीर्णे भोजनं, अथवा अजीर्णं स्वरूपतो हेतुरध्यशनं च । ऋतुदोषेणेति शीतोष्णादीनामतियोगेन । विपर्ययेणेति ऋतुविपर्ययश्च ऋतुस्वभावस्यान्यथाभावः । एभिर्हेतुभिर्यथासंभवं प्रत्येकं दोषत्रयप्रकोपो बोद्धव्यः । ज्वरपुरःसरानित्यनेन ज्वरस्य पूर्वरूपतां दर्शयति ॥ १-२ ॥

विमर्श—विस्फोट से कुछ लोग चेचक (Small-pox) का ग्रहण करते हैं; क्योंकि उसमें भी विस्फोट होते हैं । किन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि चेचक के अतिरिक्त अन्यत्र भी विस्फोट पाये जाते हैं । इसके अतिरिक्त ये कभी किसी विशिष्ट अङ्ग में और कभी सर्वांग में भी होते है **'क्वचित् सर्वत्र वा देहे'** । चेचक सर्वत्र ही होता है । विस्फोटक में पूर्वरूप नहीं वर्णित हैं किन्तु चेचक में पूर्वरूप निश्चय मिलते हैं जो मसूरिका के पूर्वरूप से पूर्णतया मिलते हैं । सुश्रुत ने इसका वर्णन क्षुद्र रोगों में किया है । इसके लिये आजकल बुल्लस इरप्सन (Bullous eruption) शब्द का उपयोग होता है । यह कई कारणों से होते हैं । विभिन्न ऋतुओं में शीतोष्णादि सम्पर्क से दुर्बल त्वचा में पूयजनक जीवाणु के उपसर्ग होने पर शरीर के एक देश में या समस्त शरीर में फफोले पड़ जाते हैं । प्रायः इनमें गाढ़ी पूय पड़ जाती है और एक के बाद दूसरे उत्पन्न होते रहते हैं और कभी-कभी पतला स्राव मात्र निकलता है । इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण स्तवक गोलाणूपसर्ग (Staphylo coccal infection or impetigo contagiosa) है ।

विस्फोटस्य स्वरूपमभिधाय वातादिभेदेन तस्य लक्षणानि निरूपयति—

अग्निदग्धनिभाः स्फोटाः सज्वरा रक्तपित्तजाः ।
क्वचित् सर्वत्र वा देहे विस्फोटा इति ते स्मृताः ॥ ३ ॥

शिरोरुक्शूलभूयिष्ठं ज्वरस्तृट् पर्वभेदनम् । (सु. नि. १३)
सकृष्णवर्णता चेति वातविस्फोटलक्षणम् ॥ ४ ॥
ज्वरदाहरुजास्रावपाकतृष्णाभिरन्वितम् ।
पीतलोहितवर्णं च पित्तविस्फोटलक्षणम् ॥ ५ ॥
छर्द्यरोचकजाड्यानि कण्डूकाठिन्यपाण्डुताः ।
अवेदनश्चिरात्पाकी स विस्फोटः कफात्मकः ॥ ६ ॥

वातपित्तकृतो यस्तु कुरुते तीव्रवेदनाम् ।
कण्डूस्तैमित्यगुरुभिर्जानीयात्कफवातिकम् ॥ ७ ॥

कण्डूर्दाहो ज्वरश्छर्दिरेतैस्तु कफपैत्तिकः ।

रक्तपित्त के प्रकोप से अग्नि से जले हुए के समान जो ज्वर सहित छाले शरीर के किसी एक भाग या सर्वांग में उत्पन्न होते हैं उन्हें विस्फोट कहते हैं ।

सिर में पीड़ा, शरीर में शूल की अधिकता, ज्वर, प्यास, सन्धियों में भेदनवत् पीड़ा, तथा स्फोटों का काला होना ये वातिक विस्फोट के लक्षण हैं। ज्वर, दाह, पीड़ा, स्राव, पकने की प्रकृति तथा प्यास से युक्त पीले लाल रङ्ग के विस्फोट पैत्तिक कहलाते हैं। कफज विस्फोट में वमन, अरुचि, जड़ता, खुजली, कठोरता तथा पाण्डुता ये लक्षण होते हैं तथा रोगी को प्रायः वेदना नहीं होती और विस्फोट देर में पकता है। वातपित्तजन्य विस्फोट में तीव्र वेदना होती है। खुजली, स्तिमितता (गीले चमड़े से आवृत होने के समान प्रतीति) तथा भारीपन इन लक्षणों से वातकफज स्फोट समझने चाहिये। खुजली, दाह, वमन तथा ज्वर को देखकर पित्तकफज विस्फोट समझना चाहिये ॥ ३-७ ॥

विस्फोटस्वरूपमाह—अग्निदग्धनिभा इत्यादि। रक्तपित्तजा इति सर्वत्रैव विस्फोटे रक्तपित्तयोरव्यभिचारित्वं, यथा शूले वातस्य; वातानुबन्धोऽप्यत्र बोद्धव्यः। यदाह भोजः— 'यदा रक्तं च पित्तं च वातेनानुगतं त्वचि। अग्निदग्धनिभान् स्फोटान् कुरुतः सर्वदेहगान्। सज्वरान् सपरीदाहान् विद्याद्विस्फोटकांस्तु तान् इति ॥ ३-७ ॥

विमर्श—सभी विस्फोटों की उत्पत्ति में रक्त और पित्त अनिवार्य रूप से रहते हैं। उनके साथ वात का अनुबन्ध भी रहता है। आचार्य भोज ने कहा है—रक्त और पित्त वायु से मिलकर त्वचा पर आग के जलने से उत्पन्न फफोलों के समान सारे शरीर में ज्वर और दाह से युक्त स्फोटों को उत्पन्न कर देते हैं उन्हें विस्फोट कहते हैं।

सान्निपातिकविस्फोटलक्षणमाह—

मध्ये निम्नोन्नतोऽन्ते च कठिनोऽल्पप्रपाकवान् ॥ ८ ॥
दाहरागतृषामोहच्छर्दिमूर्च्छारुजाज्वराः ।
प्रलापो वेपथुस्तन्द्रा सोऽसाध्यः स्यात्त्रिदोषजः ॥ ९ ॥

त्रिदोषज विस्फोट मध्य में दबा हुआ, किनारों पर उठा हुआ, कठिन और कम पकने वाला होता है। इसमें जलन, लाली, प्यास, मूढ़ता, वमन, मूर्च्छा, पीड़ा, ज्वर, प्रलाप, कम्पन तथा तन्द्रा ये लक्षण होते हैं। इसे असाध्य समझना चाहिये ॥ ८-९ ॥

सान्निपातिकलक्षणमाह—मध्य इत्यादि। मध्ये निम्नोन्नतोऽन्ते चेति मध्ये निम्नोऽन्ते चोन्नत इत्यर्थः। निम्नोन्नत इति प्रयोगोऽसिद्धस्यानित्यत्वेन। एवं संपूर्णलक्षणो यस्त्रिदोषजः सोऽसाध्यः ॥ ८-९ ॥

रक्तजविस्फोटलक्षणं निरूपयति—

रक्ता रक्तसमुत्थाना गुञ्जाविद्रुमसन्निभाः ।
वेदितव्यास्तु रक्तेन पैत्तिकेन च हेतुना ॥ १० ॥
न ते सिद्धिं समायान्ति सिद्धैर्योगशतैरपि ।
एकदोषोत्थितः साध्यः कृच्छ्रसाध्यो द्विदोषजः ॥

सर्वदोषोत्थितो घोरस्त्वसाध्यो भूर्युपद्रवः ॥ ११ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने विस्फोटनिदानं समाप्तम् ॥ ५३ ॥

रक्तजन्य विस्फोट गुञ्जा या प्रवाल के समान रक्तवर्ण के होते हैं। वे पित्त प्रकोपक कारणों से दूषित रक्त से उत्पन्न होते हैं। वे सैकड़ों सिद्ध योगों से भी साध्य नहीं होते।

एकदोषज विस्फोट साध्य, द्विदोषज याप्य तथा अनेक उपद्रवों से युक्त अतिकष्टप्रद त्रिदोषज विस्फोट असाध्य होता है (कुछ लोग 'रक्तसमुत्थानाः' का अर्थ वमनादि के साथ रक्तस्राव होना करते हैं। यह प्रत्यक्ष संगत भी है)॥ १०-११ ॥

रक्तजलक्षणमाह—रक्ता इत्यादि। रक्तसमुत्थाना इति लक्ष्यपदं, वेदितव्यास्तु रक्तेनेति लक्षणपदं, यथा अश्मरीहेतु तत्पूर्वमिति; अयमर्थः—रक्तसमुत्थानाश्च विस्फोटा भवन्ति ते च कथं विज्ञेया इत्यत उक्तं वेदितव्यास्तु रक्तेनेति; अथवा रक्तसमुत्थाना इति रक्तं समुत्थापयन्तीति निरुच्य रक्तच्छर्दनमभिमतमाचार्यस्य, वेदितव्यास्तु रक्तेनेति पदस्य कारणद्योतकस्याव्यवस्थानात्। घोरोऽत्यन्तदुःखदः। भूर्युपद्रव इति अत्र विसर्पोक्त एवोपद्रवो ज्ञेयः ॥ १०-११ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां विस्फोटनिदानं समाप्तम् ॥ ५३ ॥

अथ मसूरिकानिदानम्

मसूरिकाया निदानं पूर्वरूपञ्चाह—

कट्वम्ललवणक्षारविरुद्धाध्यशनाशनैः ।
दुष्टनिष्पावशाकाद्यैः प्रदुष्टपवनोदकैः ॥ १ ॥
क्रूरग्रहेक्षणाच्चापि देशे दोषाः समुद्धताः ।
जनयन्ति शरीरेऽस्मिन् दुष्टरक्तेन सङ्गताः ॥ २ ॥
मसूराकृतिसंस्थानाः पिडकाः स्युर्मसूरिकाः ।
तासां पूर्वं ज्वरः कण्डूर्गात्रभङ्गोऽरतिर्भ्रमः ॥ ३ ॥
त्वचि शोथः सवैवर्ण्यो नेत्ररागश्च जायते ।

निदान—चरपरे, खट्टे, नमकीन और क्षार के सेवन से, विरुद्ध भोजन और अध्यशन करने से, दुष्ट अन्न, मटर, शाक, गन्दे जल व वायु से तथा शनैश्चर आदि क्रूर ग्रहों के प्रकोप से देश भर में प्रकुपित हुए दोष दूषित रक्त के साथ मिलकर जो मसूर की आकृति के समान पिडकाओं को सारे शरीर में उत्पन्न करते हैं उन्हें मसूरिका कहते हैं।

पूर्वरूप—ज्वर, खुजली, अंगों का टूटना, काम में मन न लगना, चक्कर आना, त्वचा में सूजन व विवर्णता तथा नेत्रों का लाल होना ये मसूरिका के पूर्वरूप हैं ॥ १-३ ॥

विस्फोटप्रभेदत्वात् प्रायेण तुल्यनिदानत्वाच्च मसूरिकानिदानम्। तस्य निदानपूर्विकां संप्राप्तिमाह—कट्वम्लेत्यादि। विरुद्धाध्यशनाशनैरिति विरुद्धैरन्नैरध्यशनैश्च, 'विरुद्धाध्यशनेन तु' इति पाठो वा। दुष्टनिष्पावशाकाद्यैरिति दुष्टं व्यापन्नमन्नं, निष्पावः शिम्बिबीजं, आद्य-

शब्दान्मध्वालुकादिग्रहणम्। प्रदुष्टपवनोदकैरिति विषकुसुमादिसंस्पर्शात् प्रदुष्टः पवनस्तथोदकं च तैः। क्रूरग्रहेक्षणाच्चेति शनैश्चरादयो देशक्षोभकराः क्रूरग्रहास्तेषामीक्षणात्। दुष्टरक्तेन सङ्गता इत्यनेन रक्तस्य कट्वम्लादिभिर्हेतुभिर्विशेषेण कोपं दर्शयति। अत एवोक्तं तन्त्रान्तरे—'पित्तं शोणितसंसृष्टं यदा दूषयति त्वचम्। तदा करोति पिडकाः सर्वगात्रेषु देहिनाम्॥ मसूरमुद्गमाषाणां तुल्याः कोलोपमा अपि। मसूरिकास्तु ता ज्ञेयाः पित्तरक्ताधिका बुधैः' इति॥ १–२॥

विमर्श—आयुर्वेदशास्त्र से ज्योतिष भी सम्बन्धित है अतः क्रूरग्रह की दृष्टि का भी विचार किया गया है। जब शनि देश या रोगी के चौथे, आठवें या बारहवें घर में जाता है तब यह रोग होते देखा गया है। ऐसा कुछ ज्योतिषविशारदों का मत है[1]।

दुष्ट रक्त से तात्पर्य कटु अम्ल एवं लवणादिक पदार्थों से प्रकुपित रक्त से है। इसीलिए अन्य तन्त्रकारों ने भी कहा है कि—रक्त से सम्बन्धित हुआ पित्त जब त्वचा को दूषित कर देता है तो सम्पूर्ण शरीर पर पिडिकाएँ निकल आती हैं। ये पिडिकाएँ आकृति में मसूर, मूंग, उड़द या बदरीफल के समान होती हैं इन्हीं को मसूरिका कहते हैं। इनमें पित्त और रक्त की अधिकता होती है। (मूलपाठ मधुकोष में देखें।)

मसूरिका को आजकल चेचक या शीतला (Small-pox) कहते हैं। प्राचीन आयुर्वेदिक वाङ्मय में इसका वर्णन अतिसंक्षेप में किया हुआ मिलता है। इससे स्पष्ट है कि उस समय यह रोग बहुत कम और सौम्यस्वरूप का होता था। सुश्रुत ने तो इसे क्षुद्र रोग (छोटा रोग) मानकर केवल एक ही श्लोक से इसका पूर्ण वर्णन कर दिया है—

दाहज्वररुजावन्तस्तीव्राः स्फोटाः सपीतकाः। गात्रेषु वदने चान्तर्विज्ञेयास्ता मसूरिकाः॥

आजकल इसका भयङ्कर रूप मिलता है। सर्वप्रथम माधव ने इसका विस्तृत वर्णन किया है। इसके बाद भावप्रकाश में शीतला नाम से इसका विस्तृत वर्णन मिलता है। भावप्रकाश में जो शीतला स्तोत्र दिया गया है उससे इस रोग की भयंकरता व दुःसाध्यता स्पष्ट प्रतीत होती है—**'न मन्त्रं नौषधं तस्य पापरोगस्य विद्यते'**। इससे यह स्पष्ट है कि भारतवर्ष में माधव काल से इसकी उग्रता क्रमशः परिवर्धित होती गयी। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि पाश्चात्य सभ्यता के पूर्ण विकास के काफी पहिले हमें इस रोग का पूर्ण ज्ञान था। आज भी भारत में इसका उग्र रूप देखने को मिलता है।

मसूरिका एक तीव्र संक्रामक जानपदिक रोग है, यह बात माधव के **'देशे दोषाः समुद्धताः'** से स्पष्ट है। माधव ने इसके जो कारण बताये हैं वे सब सहायक कारण हैं। मुख्य उत्पादक हेतु का ज्ञान आज तक भी ठीक-ठीक नहीं है। किन्तु फिर भी इतना निश्चित हो चुका है कि किसी अति सूक्ष्म जीवाणु या विषाणु (Virus) के द्वारा इसकी उत्पत्ति होती है। इसके स्वरूप का ठीक-ठीक ज्ञान अभी तक नहीं है। खुरण्ड और पूय में विषाणुओं का निवास होता है। माधव के क्रूर ग्रहेक्षण से भी स्पष्ट है कि इस रोग का उत्पादक कारण अदृष्ट है।

साधारणतया सभी अवस्था के व्यक्तियों में यह रोग हो सकता है किन्तु बाल्यावस्था इसके बहुत अनुकूल होती है। वसन्त ऋतु से इस रोग का प्रारम्भ होता है और ग्रीष्म ऋतु

१. यहाँ 'ग्रह' शब्द से केवल रवि आदि का ही नहीं स्कन्दादिग्रहों के समान विभिन्न देवयोनियों का भी ग्रहण करना चाहिए। इससे लोक प्रचलित शीतला का भी ग्रहण हो जा सकेगा। इस रोग की चिकित्सा में भी देवाराधन विशेषतः शीतलापूजन शीतलास्तोत्र पाठ आदि का विधान है और उनसे चामत्कारिक लाभ भी होते देखा गया है। (सं०)

में इसका उग्ररूप देखने को मिलता है। वर्षाऋतु प्रारम्भ होते ही इसकी प्रगति मन्द हो जाती है। एक बार इससे पीड़ित हो जाने पर पुनः इसके होने की सम्भावना बहुत कम हो जाती है, क्योंकि एक आक्रमण होने पर रोगी के शरीर में उस रोग के प्रति स्थायी स्वरूप की क्षमता उत्पन्न हो जाती है।

मसूरिका एक भयङ्कर औपसर्गिक रोग है जिसका संक्रमण श्वास द्वारा नासिका से, रोगी के प्रत्यक्ष सम्पर्क व उसके कपड़े और बिस्तर के प्रयोग से होता है। रोगी की प्रयुक्त वस्तुओं का स्पर्श करने वाली मक्खी से भी इस रोग का प्रसार होता है। आचार्य उशना ने तो यहाँ तक माना है कि देखने मात्र से भी इसका उपसर्ग हो जाता है—

'त्वगचिरोगापस्माररराजयक्ष्ममसूरिकाः। दर्शनात् स्पर्शनाद्दानात् सङ्क्रामन्ति नरान्नरम्॥'

सम्प्राप्ति—दुष्टरक्तेन संगताः-रक्त में संचार करने वाला जीवाणु-विष उपत्वचा के अङ्कुर स्तर (Papillary layer) में अवस्थान करके पिडका के समान शोथ उत्पन्न कर देता है। ये पिडकायें प्रायः रोमकूपों में होती हैं अतः इनका मध्य भाग दबा हुआ रहता है। कुछ दिनों बाद इनमें स्राव भर जाता है जो पूयजनक जीवाणु के संसर्ग के कारण पूय का रूप धारण कर लेता है। फिर पिडकायें फूट जाती हैं और खुरण्ड बन जाता है जो कुछ दिन बाद स्वयं उतर जाता है।

मसूरिका के भेद—दोष भेद से पाँच भेद किये गये हैं—

(१) वातज, (२) पित्तज, (३) रक्तज, (४) कफज, (५) सन्निपातज।

इसके बाद माधव ने धातुभेद से भी इसके सात भेद किये हैं जिनका वर्णन आगे किया जायगा। आधुनिक दृष्टि से इसके निम्न भेद हैं—

१. भयंकर मसूरिका Variola vera or severe Small pox. यह विकीर्ण (Discrete) और संसक्त (Confluent) भेद से दो प्रकार की होती है।

२. रक्तस्रावी मसूरिका (Haemorrhagic small-pox)

३. सौम्य ,, (Alastrim or Variola minor)

४. गर्भावस्था की ,, (Small-pox in pregnancy)

(१) **भयङ्कर मसूरिका**—इसकी निम्न अवस्थायें होती हैं।

(क) **सञ्चयकाल**—शरीर में उपसर्ग होने से रोग के लक्षण उत्पन्न होने तक का काल संचयकाल है। यह नौ से पन्द्रह दिन का होता है।

(ख) **पूर्वरूप**—इस समय रोग के कुछ लक्षण व्यक्त होने लगते हैं। इनका वर्णन माधव ने **'तासां पूर्वम्'** इत्यादि के द्वारा किया है। इनमें निम्न लक्षण मुख्य हैं—

१. ठण्ड लगना (Rigor) २. ज्वर-तापक्रम १०३ से १०४ अंश तक रहता है।

३. तीव्र शिरःशूल (Severe headache) ४. पृष्ठशूल (Backache)

५. मिचली (Nausia) ६. वमन (Vomiting)

७. आक्षेप (Convulsion) बच्चों में अधिक होते हैं।

८. कभी-कभी दूसरे दिन रक्त वर्ण की छोटी-छोटी पिडकायें भी हो जाती हैं जो शीघ्र ही नष्ट हो जाती हैं। अधिकतर ये धड़, कटि तथा अस्थि के उभारों पर होती हैं।

(ग) **विस्फोट** (Eruption)—तीसरे दिन वास्तविक विस्फोट निकलने प्रारम्भ हो जाते हैं। ये सर्वप्रथम ललाट, शंखप्रदेश (Temple) और कलाई में होते हैं। इसके बाद शीघ्र ही चौबीस घण्टे में मुख, वक्ष, पीठ और निम्न शाखाओं में फैलकर सारे शरीर में हो जाते हैं। ये सबसे अधिक ललाट तथा शंखप्रदेश में होते हैं और सबसे कम उदर, कक्षा और कटि प्रदेश

में होते हैं । त्वचा की भाँति मुख की श्लेष्मलकला, नासिका तथा गले में भी विस्फोट निकलते हैं । अधिक भयंकर स्वरूप में अन्ननलिका (Oesophagus), स्वरयन्त्र (Larynx), तथा श्वासनलिका में भी विस्फोट निकलते हैं जो बाद में फूटकर व्रण बन जाते हैं । दाने निकल आने के उपरान्त ज्वर आदि लक्षण सौम्य हो जाते हैं । रोगी को कुछ आराम-सा प्रतीत होता है ।

प्रारम्भ में ये लाल रंग के धब्बे से होते हैं जो चौबीस घण्टे में सरसों के आकार के हो जाते हैं । तीसरे दिन ये मटर के दाने के समान हो जाते हैं, ये नाभि के समान बीच में दबे हुए होते हैं और चारों ओर के किनारे उभरे हुए लाल रहते हैं । पाँचवें दिन इनमें पूय पड़ जाती है । रंग पीला पड़ जाता है । इसके चारों ओर के किनारे पर्याप्त शोथयुक्त रहते हैं । इस प्रकार सारा शरीर विशेषतया मुख बहुत सूजा हुआ सा दिखाई देता है; क्योंकि वहाँ विस्फोटों की संख्या सबसे अधिक होती है । इस अवस्था में ज्वर पुनः बढ़ जाता है । यदि ये विस्फोट संख्या में अधिक होते हैं तो इनमें परस्पर मिलने की प्रवृत्ति पाई जाती है । तब इसे मिलित (Conflueut) कहते हैं । नवें या दसवें दिन ये विस्फोट सिकुड़ने लगते हैं मिलित प्रकार में एक विद्रधि-सी बन जाती है ।

(घ) **शुष्कीभवन**—तीसरे सप्ताह में पिडकाओं के फूट जाने पर खुरण्ड बनने लगता है जो फिर स्वयं ही उतर जाता है । इसके बाद त्वचा पर मसूरिका के चिह्न दिखाई पड़ते हैं जो मध्य में दबे हुए होते हैं । इन अवस्थाओं का वर्णन भावप्रकाशकार ने भी किया है—

'सप्ताहान्निःसरत्येव सप्ताहात् पूर्णतां व्रजेत् । ततस्तृतीये सप्ताहे शुष्यति स्खलति स्वयम् ॥'

अर्थात् एक सप्ताह में पिडकायें समग्र शरीर में व्याप्त हो जाती हैं, दूसरे सप्ताह में इनका पाक पूर्ण हो जाता है और तीसरे सप्ताह में सूखकर उनका झड़ना प्रारम्भ हो जाता है ।

(२) **रक्तस्रावी** (Haemorrhagic) **मसूरिका**—इसके प्रारम्भिक लक्षण अतितीव्र होते हैं । कभी-कभी पूर्वरूप की पिडकाओं के अन्दर की ओर फूटने पर त्वगन्तरीय रक्तस्राव होता है । कभी-कभी मसूरिका की उत्पत्ति के दूसरे या तीसरे दिन भी त्वगन्तरीय रक्तस्राव (Purpura) के रूप में प्रारम्भ होता है । इसके अतिरिक्त कदाचित् पाकावस्था (Pustular stage) या सद्रवावस्था (Vesicular stage) में भी पिडकाओं में रक्तस्राव हो जाता है । रोगी की आकृति डरावनी हो जाती है । विस्फोट (Eruptions), श्लेष्मलकला तथा अन्य अनेक स्थानों से रक्तस्राव होता है । माधव ने भी कहा है कि मुख, नासिका तथा नेत्र से भी रक्तस्राव होता है **'मुखेन प्रस्रवेद्रक्तं तथा घ्राणेन चक्षुषा'**। रोगी में तीव्रज्वर तथा भयंकर विषमयता (Toxaemia) के लक्षण प्रकट होते हैं । यह इतना भयंकर होता है कि तीसरे से छठे दिन रोगी की मृत्यु हो जाती है ।

(३) **सौम्य मसूरिका** (Alastrim or variola minor)—मसूरिका का यह एक सौम्य स्वरूप है । अधिकतर यह प्रौढ़ व्यक्तियों को होती है । टीका लगाये हुए व्यक्तियों में इसका सौम्य स्वरूप दिखाई पड़ता है । प्रारम्भिक लक्षण सौम्य होते हैं । विस्फोट दर्शन तीसरे दिन न होकर चौथे या पाँचवें दिन होता है । विस्फोट संख्या में कम और उत्तान (Superficial) होते हैं, इनके निकलने का क्रम पूर्ववत् ही होता है । प्रायः पाकावस्था का ज्वर (Suppuration fever) नहीं होता । उपद्रव भी बहुत कम होते हैं और रोग निवृत्त होने पर रोगी शीघ्र ही स्वास्थ्य लाभ करता है ।

(४) **गर्भावस्था की मसूरिका** (Small-pox in pregnancy)—इसमें मिलि[illegible]

(Confluent) तथा रक्तस्रावी (Haemorrhagic) प्रकार अधिक होते हैं, अतः इसे भयङ्कर माना जाता है। इसके परिणामस्वरूप गर्भस्राव (Abortion) निश्चित रूप से हो जाता है।

मसूरिका के समान किन्तु सौम्यस्वरूप का एक और रोग होता है जिसे लघुमसूरिका (Chicken-pox) कहते हैं। यह भी प्रायः बच्चों का और एक संक्रामक रोग है। मसूरिका और इसमें निम्न भेद होते हैं—

मसूरिका (Small-pox)	लघुमसूरिका (Chicken-pox)
(१) ज्वर, शिरःशूल आदि लक्षण तीव्र होते हैं।	(१) ये सब लक्षण सौम्यस्वरूप के होते हैं।
(२) विस्फोट रोगारम्भ के तीसरे दिन निकल आते हैं।	(२) रोगारम्भ के चौबीस घण्टे में विस्फोट निकल आते हैं।
(३) चौबीस घण्टे में सारे शरीर पर हो जाते हैं।	(३) सब एक साथ नहीं निकलते कई दिन तक निकलते रहते हैं।
(४) सर्वप्रथम ये मस्तक, शंख प्रदेश और मुख पर होते हैं इसके बाद अन्य अंगों पर निकलते हैं।	(४) सर्वप्रथम ये पीठ या छाती पर निकलते हैं, उसके बाद मुख और शाखाओं पर निकलते हैं।
(५) मुख और शंखप्रदेश पर इनकी संख्या सबसे अधिक होती है और उदर, कक्षा तथा कटि में सबसे कम।	(५) इनकी सबसे अधिक संख्या धड़ पर होती है।
(६) पाँचवें दिन जब दाने पूरे निकल आते हैं तो ज्वर कम हो जाता है और उनमें पूय आ जाने पर पुनः बढ़ जाता है।	(६) इनकी उत्पत्ति हो जाने पर ज्वर आदि लक्षण न तो कम होते हैं और न तो पकने पर पुनः बढ़ते हैं।
(७) विस्फोट त्वचा में गहराई पर होते हैं और मध्य में निम्न होते हैं।	(७) ये न गहराई पर होते हैं और न निम्न-मध्य होते हैं।
(८) ये फूट कर परस्पर मिल जाते हैं (Confluent)	(८) ये परस्पर मिलते नहीं।
(९) सूख जाने पर दाग रह जाता है।	(९) सूखने पर दाग नहीं रहता।
(१०) ये सब एक साथ ही पकते हैं।	(१०) एक ही समय में द्रवयुक्त या पूय युक्त सब प्रकार के विस्फोट पाये जाते हैं। चूंकि ये कई दिन तक निकलते रहते हैं अतः पहिले निकले हुए विस्फोटों में द्रव या पूय आ जाता है और उसके बाद के विस्फोट पूय और द्रव रहित रहते हैं। सब में यही क्रम चलता है।

वातजां मसूरिकां प्राह—

स्फोटाः श्यावारुणा रूक्षास्तीव्रवेदनयाऽन्विताः ॥ ४ ॥
कठिनाश्चिरपाकाश्च भवन्त्यनिलसंभवाः ।
सन्ध्यस्थिपर्वणां भेदः कासः कम्पोऽरतिः क्लमः ॥ ५ ॥
शोषस्ताल्वोष्ठजिह्वानां तृष्णा चारुचिसंयुता ।

वातजन्य स्फोट श्याव या अरुण वर्ण के, रूक्ष, तीव्र वेदना से युक्त, कठिन तथा देर में पकने

वाले होते हैं। इसके अतिरिक्त सन्धि, अस्थि और पार्वों में दर्द, खांसी, कम्पन, काम में मन न लगना, बिना परिश्रम के थकावट, तालु, होठ और जिह्वा का सूखापन, प्यास तथा अरुचि ये सार्वदैहिक लक्षण होते हैं ॥ ४-५ ॥

वातजामाह—स्फोटा इत्यादि । चिरपाका इति विकारप्रभावात् ॥ ४-५ ॥

पित्तजां मसूरिकां निरूपयति—

रक्ताः पीतसिताः स्फोटाः सदाहास्तीव्रवेदनाः ॥ ६ ॥
भवन्त्यचिरपाकाश्च पित्तकोपसमुद्भवाः ।
विड्भेदश्चाङ्गमर्दश्च दाहस्तृष्णाऽरुचिस्तथा ॥ ७ ॥
मुखपाकोऽक्षिरागश्च ज्वरस्तीव्रः सुदारुणः ।

पित्तज विस्फोट लाल या पीले सफेद वर्ण के, जलन और तीव्र पीडा युक्त तथा शीघ्र पकने वाले होते हैं। इसके अतिरिक्त रोगी अतिसार, अङ्गमर्द, सार्वदैहिक जलन, प्यास, अरुचि, मुखपाक (Stomatitis), नेत्रों की लाली तथा भयंकर स्वरूप का तीव्रज्वर इन सार्वदैहिक लक्षणों से पीडित रहता है ॥ ६-७ ॥

पित्तजामाह—रक्ता इत्यादि । ज्वरस्तीव्रः सुदारुण इति तीव्रश्चण्डवेगः, सुदारुणो बहुदुःखेनातिदुःसहः ॥ ६-७ ॥

रक्तजां कफजां च मसूरिकां प्राह—

रक्तजायां भवन्त्येते विकाराः पित्तलक्षणाः ॥ ८ ॥
कफप्रसेकः स्तैमित्यं शिरोरुग्गात्रगौरवम् ।
हृल्लासः सारुचिर्निद्रा तन्द्रालस्यसमन्विताः ॥ ९ ॥
श्वेताः स्निग्धा भृशं स्थूलाः कण्डूरा मन्दवेदनाः ।
मसूरिकाः कफोत्थाश्च चिरपाकाः प्रकीर्तिताः ॥ १० ॥

रक्तज मसूरिका में भी पित्तज के समान ही लक्षण होते हैं।

लालास्राव, स्तैमित्य (आर्द्रचर्मावनद्धवत् प्रतीति), शिरःशूल, शरीर का भारीपन, मिचली, अरुचि, निद्रा, तन्द्रा तथा आलस्य ये कफज मसूरिका के सार्वदैहिक लक्षण हैं। विस्फोट वर्ण में सफेद, चिकने, मोटे, खुजली युक्त, मन्द वेदना वाले तथा देर में पकने वाले होते हैं ॥ ८-१० ॥

रक्तजामाह—रक्तजायामित्यादि । एते विकाराः पित्तलक्षणा इति पित्तजमसूरीलक्षणत्वेन उक्ता 'रक्ताः पीतासिताः स्फोटा' इत्यादयो ये ये विकारास्ते रक्तजायां भवन्ति । अत्र कफजामनुक्त्वैव पित्तजाया अनन्तरं रक्तजाया उक्तिः पित्तलक्षणस्यातिदिष्टस्याव्यवहितत्वेन सुखग्रहणार्थं, रक्तरससमत्वाद्रक्तमलत्वाद्वा पित्तस्य पित्तजामभिधायास्याः कथनं, सर्वत्र कृतस्य समर्थनाय ॥ ८-१० ॥

सान्निपातिकमसूरिकां निरूपयति—

नीलाश्चिपिटविस्तीर्णा मध्ये निम्ना महारुजः ।
चिरपाकाः पूतिस्रावाः प्रभूताः सर्वदोषजाः ॥ ११ ॥

कण्ठरोधारुचिस्तम्भप्रलापारतिसंयुताः ।
दुश्चिकित्स्याः समुद्दिष्टाः पिडकाश्चर्मसंज्ञिताः ॥ १२ ॥

त्रिदोषज विस्फोट नोले, चपटे, फैले हुए, मध्य में निम्न, भयंकर पीडायुक्त, देर में पकने वाले दुर्गन्धित स्राव वाले और संख्या में अधिक होते हैं। कण्ठ में अवरोध, अरुचि, जकड़ाहट, प्रलाप तथा अरति ये सार्वदैहिक लक्षण भी होते हैं। ये कृच्छ्रसाध्य होते हैं। इन्हें चर्मदल भी कहते हैं ॥

सान्निपातिकलक्षणमाह—नीला इत्यादि। चिपिटविस्तीर्णा इति चिपिटश्चिउडा इति ख्यातः, तद्वद्विस्तृताः। चर्मसंज्ञिता इति 'चर्मदल' इति ख्याताः ॥ ११-१२ ॥

विमर्श—गले में भी विस्फोट हो जाने के कारण कण्ठरोध होता है। जिससे श्वासावरोध के लक्षण भी होने लगते हैं।

रोमान्तिकां वर्णयति—

रोमकूपोन्नतिसमा रागिण्यः कफपित्तजाः ।
कासारोचकसंयुक्ता रोमान्त्यो ज्वरपूर्विकाः ॥ १३ ॥

कफ और पित्त के प्रकोप से रोमकूपों के उभार के सदृश जो छोटी व लालवर्ण की पिडकायें हो जाती हैं उन्हें रोमान्तिका कहते हैं। इनके पूर्व ज्वर आता है और रोगी खाँसी और अरुचि से पीडित रहता है ॥ १३ ॥

मसूरिकायाः प्रकारं रोमान्तिकामाह—रोमकूपोन्नतिसमा इत्यादि। रागिण्य इति लोहिताः, ज्वरपूर्विका इति ज्वरपूर्वरूपाः ॥ १३ ॥

विमर्श—सुश्रुत ने इसका वर्णन नहीं किया है। माधव ने भी अतिसंक्षेप में ही इसका वर्णन किया है। यह भी स्वतन्त्र विस्फोटक ज्वर है। इसके लिये आजकल खसरा (Measles) शब्द का व्यवहार किया जाता है। पाँच वर्ष के बच्चों में यह अधिक होता है। इसका कारण भी अज्ञात है। सम्भवतः किसी निःस्यन्दनातीत (Filter passing) जीवाणु के द्वारा इसकी उत्पत्ति होती है। इसका उपसर्ग छींकने या थूकने से बिन्दूत्क्षेपों (Droplets) के द्वारा होता है। हर तीसरे चौथे साल इसका मरक फैलता है। इसका संचय काल नौ से सत्रह दिन है। एक बार हो जाने पर रोग-प्रतिरोधक्षमता उत्पन्न हो जाती है। फिर भी कभी-कभी पुनराक्रमण देखे जाते हैं। प्रारम्भ में शीत लगता है और ज्वर, शिरःशूल, अरुचि, प्रतिश्याय, नासिकाग्र तथा नेत्रों में लाली, छींकों की अधिकता, नासास्राव, सूखी खाँसी, स्वर का भारीपन, गले की ग्रन्थियों का फूलना तथा प्रकाशसंत्रास (Photophobia) ये लक्षण होते हैं। कभी-कभी नासा से रक्तस्राव, वमन तथा अतिसार भी होते हैं। ज्वर १००° से १०२° तक रहता है। मुख के अन्दर दोनों कपोलों पर दंष्ट्रा के समीप नीलाभ श्वेत धब्बे बन जाते हैं। इनके चारों ओर लालधारी रहती है। इन्हें कोपलिक के धब्बे (Koplik's spot) कहते हैं। वास्तविक पिडकाओं के दो-तीन दिन पूर्व ये धब्बे बनते हैं। खसरा का यह प्रधान लक्षण है। चौथे दिन वास्तविक पिडकायें निकलने लगती है। ज्वर कम होने लगता है। पाँचवें दिन पुनः ज्वर बढ़ जाता है जो लगभग १०३° या १०४ रहता है। साथ ही अन्य लक्षण भी बढ़ जाते हैं। पिडकाओं में कुछ खुजली और जलन भी होती है। सर्वप्रथम ये मस्तक, कान के पीछे (शंख प्रदेश) तथा मुखद्वार के चारों ओर उत्पन्न होती हैं। इसके बाद क्रमशः चेहरे, धड़ तथा शाखाओं में फैल जाती हैं। दो-तीन दिन में ये धब्बे उत्पत्ति क्रम के अनुसार मुर्झाने लगते हैं, अर्थात् प्रथम मस्तक के और फिर शेष नीचे के भागों के धब्बे

मुर्झाते हैं। ये धब्बे परस्पर मिलकर एक गुच्छा सा बना लेते हैं जिससे चेहरा फूला सा दिखाई पड़ता है। इनके मुर्झाने के पश्चात् श्याव रक्ताभ चिह्न रह जाते हैं जो लगभग पन्द्रह दिन में नष्ट हो जाते हैं।

यदि रोग की उपेक्षा की जाती है तो निम्न उपद्रव हो सकते हैं—

(१) **श्वसनसंस्थानीय**—निमोनिया, ब्रांकोनिमोनिया, खाँसी, कुक्कुर खाँसी, राजयक्ष्मा।
(२) **पचनसंस्थान**—मुखपाक, अतिसार।
(३) **त्वचागत**—विचर्चिका (Eczema)
(४) **आँख**—नेत्राभिष्यन्द।

रसादिसप्तधातुगतमसूरिकालक्षणान्याह—

तोयबुद्बुदसङ्काशास्त्वग्गतास्तु मसूरिका ।
स्वल्पदोषाः प्रजायन्ते भिन्नास्तोयं स्रवन्ति च ॥ १४ ॥
रक्तस्था लोहिताकाराः शीघ्रपाकास्तनुत्वचः ।
साध्या नात्यर्थदुष्टाश्च भिन्ना रक्तं स्रवन्ति च ॥ १५ ॥
मांसस्थाः कठिनाः स्निग्धाश्चिरपाका घनत्वचः ।
गात्रशूलतृषाकण्डूज्वरारतिसमन्विताः ॥ १६ ॥
मेदोजा मण्डलाकारा मृदवः किंचिदुन्नताः ।
घोरज्वरपरीताश्च स्थूलाः स्निग्धाः सवेदनाः ॥ १७ ॥
संमोहारतिसंतापाः कश्चिदाभ्यो विनिस्तरेत् ।
क्षुद्रा गात्रसमा रूक्षाश्चिपिटाः किंचिदुन्नताः ॥ १८ ॥
मज्जोत्था भृशसंमोहवेदनारतिसंयुताः ।
छिन्दन्ति मर्मधामानि प्राणानाशु हरन्ति हि ॥ १९ ॥
भ्रमरेणेव विद्धानि कुर्वन्त्यस्थीनि सर्वतः ।
पक्काभाः पिडकाः स्निग्धाः सूक्ष्माश्चात्यर्थवेदनाः ॥ २० ॥
स्तैमित्यारतिसंमोहदाहोन्मादसमन्विताः ।
शुक्रजायां मसूर्यां तु लक्षणानि भवन्ति हि ॥ २१ ॥
निर्दिष्टं केवलं चिह्नं दृश्यते न तु जीवितम् ।
दोषमिश्रास्तु सप्तैता द्रष्टव्या दोषलक्षणैः ॥ २२ ॥
त्वग्गता रक्तजाश्चैव पित्तजाः श्लेष्मजास्तथा ।
श्लेष्मपित्तकृताश्चैव सुखसाध्या मसूरिकाः ॥ २३ ॥

त्वचागत (रसगत) मसूरिका की पिडकायें पानी के बुलबुले के सदृश होती हैं। इनमें दोष-प्रकोप कम होता है और विदीर्ण होने पर इनसे जलीय स्राव निकलता है। **रक्तस्थित** मसूरिका लाल वर्ण की, शीघ्र पकनेवाली और पतली त्वचावाली होती है। यह भी अधिक दोषयुक्त न होनेपर साध्य होती है। विदीर्ण होने पर रक्तयुक्त स्राव निकलता है। **मांसगत** मसूरिका कठिन, चिकनी तथा देर में पकनेवाली होती है। इस पर त्वचा का मोटा आवरण रहता है। शरीर में शूल, प्यास, खुजली, ज्वर तथा अरति ये लक्षण भी इसमें पाये जाते हैं। **मेद** में होने वाली मसूरिका गोल आकार की, मृदु, कुछ उभरी हुई, भयंकर ज्वर से युक्त, मोटी, चिकनी तथा पीडा युक्त होती है। रोगी मूर्च्छा, अरति तथा सन्ताप से पीडित रहता है। इनसे किसी रोगी को ही जान बच पाती है। **अस्थि और मज्जा में** होने वाली मसूरिका छोटी, शरीर के समान वर्ण की, रूक्ष, चिपटी, और कुछ उभरी हुई होती हैं। रोगी मूर्च्छा, वेदना और अरति से पीडित रहता है। ये मर्मस्थानों का छेदन करके प्राणों को शीघ्र ही नष्ट कर देती हैं। अस्थियाँ ऐसी हो जाती हैं मानों भ्रमरों ने उनमें छिद्र कर दिये हों। **शुक्रगत** मसूरिका की पिडकायें पकी हुई, चिकनी, छोटी और अत्यधिक वेदना युक्त होती हैं। इस अवस्था में स्तिमितता, अरति तथा मूर्च्छा ये लक्षण भी होते हैं। शुक्रगत मसूरिका का केवल लक्षण बताया गया है। जीवन किसी प्रकार भी नहीं बच पाता।

ये सातों प्रकार की मसूरिकायें वात आदि दोषों से युक्त रहती हैं अतः दोषों के लक्षणों से भी इनका ज्ञान कर लेना चाहिये। त्वचागत (रसगत), रक्तगत, पित्तज, कफज तथा कफपित्तज मसूरिका सुखसाध्य होती है ॥ १४-२३ ॥

रसादिसप्तधातुगतमसूरिकालिङ्गमाह—तोयबुद्बुदसङ्काशा इत्यादि। अत्र दुष्टदूष्यप्रभावात्तोयबुद्बुदसंकाशादीनि दोषलक्षणानि च भवन्ति, दोषमन्तरेण दूष्यदुष्टेरभावात्; अत एव वक्ष्यति-'दोषमिश्राश्च सप्तैता द्रष्टव्या दोषलक्षणैः' इति। त्वक्शब्देनात्र रसोऽभिधीयते, धातुगतप्रस्तावात्। त्वग्गताः साध्याः, अल्पदोषसंबन्धाद्रक्तजाया अपि साध्यत्वेनाभिधानात्। मांसस्थाः कृच्छ्रसाध्याः, अत्यवगाढदोषदुष्टेः। मेदोजायां कश्चिदाभ्यो विनिस्तरेदित्यनेनात्यन्तकृच्छ्रसाध्यत्वं बोधयति, अस्थिमध्यस्थितत्वान्मज्ज्ञः। क्षुद्रा इत्यादिना अस्थिमज्जगतयोः समानं लिङ्गम्। मज्जोत्था इत्यत्र मज्जग्रहणादस्थ्नोऽपि ग्रहणं, आधारत्वात्; अत एव वक्ष्यति, 'भ्रमरेणेव विद्धानि कुर्वन्त्यस्थीनि सर्वतः' इति। मर्मधामानीति मर्मस्थानानि। पक्वाभा इत्यादिना शुक्रजाया लिङ्गम्। दृश्यते न तु जीवितमिति गम्भीरधातुगतदोषदुष्टेः शुक्रजाया असाध्यत्वम्। अस्य न्यायस्य समानतया अस्थिमज्जगतयोरप्यसाध्यत्वं बोद्धव्यम् ॥ १४-२३ ॥

विमर्श—त्वचा से त्वचागत रस का ग्रहण किया जाता है। स्वल्पदोष होने से यह तथा रक्तज साध्य होती है। दोषों के अधिक गम्भीर होने के कारण मांसगत कृच्छ्रसाध्य होती है। मेद, अस्थि, मज्जा तथा शुक्रगत मसूरिका अति गम्भीर धातुगत होने से असाध्य होती हैं।

वातजादीनां साध्यासाध्यतां निरूपयति—

वातजा वातपित्तोत्थाः श्लेष्मवातकृताश्च याः।
कृच्छ्रसाध्यतमास्तस्माद्यत्नादेता उपाचरेत् ॥ २४ ॥
असाध्याः सन्निपातोत्थास्तासां वक्ष्यामि लक्षणम्।
प्रवालसदृशाः काश्चित् काश्चिज्जम्बूफलोपमाः ॥ २५ ॥

लोहजालसमाः काश्चिदतसीफलसन्निभाः ।
आसां बहुविधा वर्णा जायन्ते दोषभेदतः ॥ २६ ॥

वातज, वातपित्तज तथा कफपित्तज मसूरिका कृच्छ्रसाध्य होती हैं अतः इनकी यत्नपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिये । सन्निपातज मसूरिका असाध्य होती हैं, आगे उसके लक्षण कहते हैं । कोई प्रवाल के समान लाल, कोई जामुन के फल के सदृश स्निग्ध कृष्ण, कोई लोहे की जाली के समान काले और कोई अलसी के फल के समान होती हैं । दोष भेद से मसूरिका के विस्फोटों के और भी विविध प्रकार के रंग होते हैं ॥ २४-२६ ॥

वातजा इत्यादि । वातजादयः सन्निपातोत्थान्ता असाध्याः । एतासां सम्मूर्च्छन-विशेषजनितवक्ष्यमाणप्रवालादिवर्णयोगादसाध्यत्वं, तेनैतद्वर्णविरहे वातजायाश्चिकित्सा-विधिरप्युक्त उपपद्यत इति केचित् । अन्ये तु वातजादय एताः स्वरूपत एवासाध्याः, चिकित्सोक्तिस्तु वातजादीनां महात्ययनिषेधार्थं, लिङ्गान्तरसम्भवार्थं च तासां वक्ष्यामि लक्षण-मित्युक्तमित्याहुः । तासामिति असाध्यवातजादीनाम् लोहजालसमा इति जालं जालकं गुडकमिति यावत् तद्वत्कृष्णवर्णाः । अतसीफलसन्निभा इति उमाफलवर्णतुल्यवर्णाः । अनुक्तवर्णान्तरसंग्रहार्थमाह—आसां बहुविधा इत्यादि । दोषभेदत इति वातपित्तादिदोष-विशेषात्, दुष्टिविशेषादित्यन्ये ॥ २४-२६ ॥

विमर्श—मधुकोशकार ने वात, वातपित्त और कफवातजनित (जिन्हें स्पष्ट रूप से पूर्व श्लोक में कष्टसाध्य बताया है) के साथ त्रिदोषज मसूरिका पर्यन्त चारों को असाध्य बताया है, किन्तु दोष और दूष्य के संमूर्च्छन विशेषकृत प्रवालादिवर्ण युक्त होने पर ही वे असाध्य होती हैं । अतएव उनकी चिकित्सा भी वर्णित है । कुछ लोग वातजा आदि को स्वरूपतः असाध्य मानते हैं और उनकी चिकित्सा को महात्यय (अधिक उपद्रवों) से बचाने मात्र के लिए वर्णित मानते हैं । किन्तु यह मत सारहीन और अप्रामाणिक जँचता है । वस्तुतः प्रथम तीन कष्टसाध्य, त्रिदोषज असाध्य एवं प्रवालवर्णादि लक्षणयुक्त सभी मसूरिका असाध्य होती हैं ।

सर्वमसूरिकाया आवस्थिकं लक्षणमाह—

कासो हिक्का प्रमेहश्च ज्वरस्तीव्रः सुदारुणः ।
प्रलापश्चारतिर्मूर्च्छा तृष्णा दाहोऽतिघूर्णता ॥ २७ ॥
मुखेन प्रस्रवेद्रक्तं तथा घ्राणेन चक्षुषा ।
कण्ठे घुर्घुरकं कृत्वा श्वसित्यत्यर्थवेदनम् ॥ २८ ॥
मसूरिकाभिभूतस्य यस्यैतानि भिषग्वरैः ।
लक्षणानि च दृश्यन्ते न दद्यादत्र भेषजम् ॥ २९ ॥

खांसी, हिचकी, प्रमेह, तीव्रज्वर, भयंकर प्रलाप, अरति, मूर्च्छा, प्यास, जलन तथा अत्यधिक ऐंठन या जम्भाई का आना, मुख, नासिका तथा नेत्रों से रक्तस्राव होना गले में घुर्घुर शब्द करते हुए अत्यधिक कठिनाई के साथ श्वास लेना ये लक्षण मसूरिका से पीडित जिस रोगी में दिखाई दें उसकी चिकित्सा न करनी चाहिये ॥ २७-२९ ॥

सर्वमसूरिकाया आवस्थिकं लिङ्गमाह—कास इत्यादि। ज्वरस्तीव्रः सुदारुण इति अत्र सुदारुण इति परेण सम्बध्यते, तेन सुदारुणः प्रलापः। अतिघूर्णता जिह्मायनम्। तथा घ्राणेन चक्षुपेत्यत्र रक्तं स्रवेदिति सम्बध्यते। श्वसितीति श्वासो भवति ॥ २७-२९ ॥

सामान्येनासाध्यतां प्राह—

मसूरिकाभिभूतो यो भृशं घ्राणेन निःश्वसेत्।
स भृशं त्यजति प्राणाँस्तृषार्तो वायुदूषितः ॥ ३० ॥

मसूरिका से पीडित जो रोगी नासिका से ही बहुत अधिक श्वास लेता है, जिसे प्यास बहुत लगे तथा जिसकी वायु बहुत दूषित हो गई हो वह निश्चित रूप से प्राण त्याग कर देता है ॥ ३० ॥

सामान्येनासाध्यत्वमाह—मसूरिकाभिभूतो य इत्यादि। घ्राणेन निःश्वसेदिति मुखव्यतिरेकेण घ्राणेनैव निश्वसेत्; सर्ववाक्यानामवधारणफलत्वात् ॥ ३० ॥

मसूरिकाया उपद्रवानाह—

मसूरिकान्ते शोथः स्यात् कूर्परे मणिबन्धके।
तथांऽसफलके चापि दुश्चिकित्स्यः सुदारुणः ॥ ३१ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने मसूरिकानिदानं समाप्तम् ॥ ५४ ॥

मसूरिका के अन्त में (कभी-कभी) कुहनी, कलाई तथा अंसफलक पर भयंकर शोथ उत्पन्न हो जाता है जो असाध्य होता है ॥ ३१ ॥

मसूरिकाया उपद्रवमाह—मसूरिकान्ते इत्यादि। दुश्चिकित्स्य इति दुःशब्दोऽयं निषेधे, तेनासाध्य इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां मसूरिकानिदानं समाप्तम् ॥ ५४ ॥

विमर्श—विभिन्न सन्धियों पर उत्पन्न मसूरिका के विस्फोट जब गम्भीर धातुओं को भी आक्रान्त करते हैं अथवा पूयोत्पत्ति के बाद सन्धियों में भी पूय संचार हो जाता है तो सन्धिशोथ और अस्थिशोथ होकर नाडीव्रण बन जाता है तथा आक्रान्त अस्थियाँ आपस में जुड़ जाती हैं। मसूरिका रोग स्वतः दुश्चिकित्स्य है। उसमें संध्यस्थिशोथ सदृश गम्भीर रोग होकर रोगी के लिए प्रायः घातक ही होते हैं। कदाचित् बचने पर अंग-वैकल्य तो हो ही जाता है।

आधुनिक दृष्टि से मसूरिका के निम्न उपद्रव होते हैं—

(१) कक्षा और कर्णमूलिक ग्रन्थि (Parotid gland) में सूजन कर्णशोथ (Otitis media)

(२) **फुफ्फुसगत** (Pulmonary)-श्वसनी शोथ (Bronchitis) और ब्रांकोनिमोनिया।

(३) **हृदयगत**—हृत्पेशीशोथ।

(४) **नेत्रगत**—नेत्राभिष्यन्द (अधिकतर) सव्रण शुक्र (Corneal ulcer) तथा कभी-कभी [illegible] विनाश या अन्धता।

समाप्तं चेदं मसूरिकानिदानम्

अथ क्षुद्ररोगनिदानम्

अजगल्लिकाख्यं क्षुद्ररोगं प्राह—

स्निग्धाः सवर्णा ग्रथिता नीरुजो मुद्गसंनिभाः ।
कफवातोत्थिता ज्ञेया बालानामजगल्लिकाः ॥१॥ (सु. नि. १३)

चिकनी, त्वचा के वर्ण की, गांठयुक्त, पीडारहित, मूंग के बराबर कफ और वायु से बालकों में उत्पन्न हुई पिडका को अजगल्लिका कहते हैं ॥ १ ॥

विसर्पादीनामक्षुद्रहेतुलक्षणचिकित्सितानामभिधानेन क्षुद्रहेतुलक्षणचिकित्सितानां क्षुद्ररोगाणां पारिशेष्यात् क्षुद्ररोगनिदानम् । ननु, यदि क्षुद्रत्वमेषां हेतुलक्षणचिकित्साल्पत्वेन तर्हि अग्निरोहिणीवल्मीकादीनां त्रिदोषत्वेन हेत्वादिबाहुल्यात् कथं क्षुद्रत्वम्? नैवं, बाहुल्येन तावत्, छत्रिणो गच्छन्तीतिवत्; किंवा अवान्तरभेदविरहः क्षुद्रत्वम्, येनात्र वक्तव्यानामजगल्लिकादीनां न दोषदूष्यादिकृतभूरिसंख्याभेदेन व्रणज्वरादिवन्निर्देशः, किन्तु प्रत्येकं स्तोकसंख्ययाऽभिधानं तेषाम् । अन्यस्त्वाह—क्षुद्रशब्दोऽल्पे रौद्रे च वर्तते, तेन यथायोग्यं सर्वत्र व्यवस्था दृश्यते; रौद्रे क्षुद्रशब्दो यथा—'क्षुद्रा मृगा यत्र शान्ताश्चेरुरन्यैः समं मृगैः' इति । क्षुद्राणां बालानां रोगाः क्षुद्ररोगा इति केचित् । एवमप्यजगल्लिकाहिपूतनादीनामेव परिग्रहो न त्वन्येषाम् । संक्षेपेण चतुश्चत्वारिंशद्विकारानत्र वक्तव्यान् क्रमेण दर्शयति—स्निग्धेत्यादि । भोजे तु मूषिकाकर्णमुष्ककोशफलार्शःप्रभृतयोऽधिकविकाराः पठ्यन्ते, ते च सुश्रुते विकारस्यानन्त्यादनुमता एव । बालानामिति प्रायोभावित्वादुक्तम्, तेनाबालानामपि दृश्यमानाः संगच्छन्ते ॥ १ ॥

विमर्श—क्षुद्ररोग—इसके अनेक अर्थ किये जा सकते हैं—(१) क्षुद्र का अर्थ छोटा या लघु है । अर्थात् जिन रोगों का वर्णन लघुरूप से अतिसंक्षेप में किया गया हो उन्हें क्षुद्ररोग कहते है । वस्तुतः इस प्रकरण में दोष-दूष्यादि के अनुसार विस्तृत भेद न करके संक्षिप्त वर्णन ही मिलता है ।

(२) **परिशिष्ट** बचे हुए रोग—जिन रोगों का अन्य प्रकरणों में किसी विशेष वर्गीकरण के अनुसार समावेश न हो सका हो उन बचे हुए रोगों को भी कुछ लोग क्षुद्ररोग कहने के पक्ष में हैं ।

(३) क्षुद्ररोग यह इन रोगों की पारिभाषिक संज्ञा है ।

(४) जिनकी हेतु लक्षण चिकित्सा बहुत साधारण हो उन्हें भी क्षुद्ररोग कहते हैं । यद्यपि अग्निरोहिणी जैसे विशेष हेतु लक्षण और चिकित्सा वाले रोग भी इसमें विद्यमान हैं जिन्हें क्षुद्र नहीं कहा जा सकता तथापि अनेक क्षुद्रों के साथ थोड़े से उनका समावेश भी क्षुद्र वर्ग में किया जा सकता है । अर्थात् जिन बड़े रोगों का वर्णन मिलता भी है व्यपदेश से समझना चाहिए । जैसे छतरी वाले व्यक्तियों के समूह में यदि एक दो बिना छतरी के भी जा रहे हों तब भी यही कहा जाता है कि छतरी वालों का समूह जा रहा है ।

(५) क्षुद्र का अर्थ भयंकर और नीच भी है । जिसमें अग्निरोहिणी जैसे भयंकर और पीछा न छोड़ने वाले पलित आदि नीच रोगों का वर्णन हो इन्हें क्षुद्ररोग कहा जा सकता है । नीच के समान ये रोग भी रोगी का पिण्ड आसानी से नहीं छोड़ते ।

(६) कुछ लोग **'क्षुद्राणां बालानां रोगाः'** ऐसा अर्थ कहते हैं पर वह ठीक नहीं क्योंकि दो एक को छोड़कर सभी रोग बच्चों और वयस्कों दोनों में मिलते हैं ।

पूर्ववर्ती सभी आचार्यों ने इस प्रकार के एक अध्याय का वर्णन अवश्य किया है वास्तव में इस (क्षुद्र) संज्ञा के पीछे कोई महत्त्वपूर्ण तथ्य नहीं है ।

चरक ने क्षुद्र रोगाध्याय तो नहीं दिया है किन्तु विकीर्ण रूप में विभिन्न क्षुद्ररोगों का वर्णन किया है और उनकी संज्ञा भी 'क्षुद्र' नहीं दी है। किन्तु सुश्रुत और वाग्भट ने क्षुद्ररोगों का स्पष्ट अलग उल्लेख किया है। सुश्रुत ने ४४ वाग्भट ने ३६ और माधव ने ४३ क्षुद्ररोगों का वर्णन किया है। वाग्भट ने सुश्रुतोक्त कतिपय रोगों को नामान्तर से वर्णित किया है जैसे इन्द्रविद्धा को विद्धा, अंधालजी को अलजी, मशक को माष और न्यच्छ को लान्छन कहा है ; इन्द्रलुप्त, पलित, दारुणक और अरुंषिका का शिरोरोगाध्याय में तथा परिवर्तिका, अवपाटिका और निरुद्धप्रकाश का गुह्यरोगाध्याय में एवं अहिपूतन का बालामय में वर्णन किया है; अनुशयी, रकसा, पाददारिका, वृषणकच्छू और गुदभ्रंश का उल्लेख नहीं किया है किन्तु गर्दभी, गंधनामा, राजिका, प्रसुप्ति, इरिवेल्लिका, उत्कोठ और कोठ रोगों का अधिक उल्लेख किया है। सुश्रुत ने पामा और विचर्चिका क्षुद्ररोगों में भी बताया है कुष्ठ भेद में भी किन्तु वाग्भट और माधव ने इनका उल्लेख कुष्ठ में ही किया है। माधव ने मसूरिका और विस्फोट जिनका वर्णन सुश्रुत और वाग्भट में क्षुद्ररोगों में संक्षेप से है—पृथक् अध्यायों में विस्तार से वर्णित किया है। उत्कोठ और कोठ का भी पृथक् अध्याय में वर्णन किया है। सुश्रुतोक्त रकसा एवं वाग्भटोक्त राजिका और प्रसुप्ति को छोड़ दिया है तथा नीलिका और वराहदंष्ट्र इन दो रोगों का अधिक उल्लेख किया है। सूक्ष्म विवेचन से कुछ और भी भेद मिल सकते हैं किन्तु अधिक महत्त्व न होने से इतना निर्देश मात्र कर दिया गया है। भोजसंहिता आदि में वर्णित मूषिकाकर्ण, मुष्ककोष, फलार्श आदि कतिपय रोगों का भी टीकाओं में उल्लेख मिलता है। अतः विकारों की अनन्तता के कारण सबका वर्णन सम्भव भी नहीं है। सुश्रुत ने भी **'समासेन चतुश्चत्वारिंशत् क्षुद्ररोगा भवन्ति'** इस वाक्य में 'समासेन' पद देकर इसी मत का प्रतिपादन किया है। साथ ही इस बात का भी निर्देश मिलता है कि क्षुद्ररोग का अर्थ प्रकीर्ण या स्फुट रोग ही है अर्थात् वे रोग जिनका उल्लेख किसी वर्ग विशेष में नहीं किया गया है।

अजगल्लिका—रोग यद्यपि बड़ों को भी हो सकता है तथापि यह बालकों को अधिकतर होता है ऐसा श्रीकण्ठदत्तजी का मत है।

यवप्रख्यां वर्णयति—

यवाकारा सुकठिना ग्रथिता मांससंश्रिता।
पिडका कफवाताभ्यां यवप्रख्येति सोच्यते ॥२॥ (सु. नि. १३)

जौ के आकार की, कठिन; गांठदार और मांस में होने वाली कफवातजन्य पिडका को यवप्रख्या कहते हैं॥ २॥

यवप्रख्यमाह—यवाकारेति यववन्मध्ये स्थूला ॥ २ ॥

अन्त्रालजीमाह—

घनामवक्त्रां पिडकामुन्नतां परिमण्डलाम्।
अन्त्रालजीमल्पपूयां तां विद्यात्कफवातजाम् ॥३॥ (सु. नि. १३)

मोटी, मुखविरहित, उठी हुई, गोल और कम पूयवाली पिडका को अन्त्रालजी कहते हैं। यह भी कफवातजन्य होती है॥ ३॥

अन्त्रालजीमाह—घनामित्यादि। अन्त्रालजी स्नायुगता भोजवचनादवगन्तव्या। यदुक्तं, 'श्लेष्मानिलौ श्रितौ स्नायुं पिडकां परिमण्डलाम्। दुष्टौ जनयतोऽवक्त्रामल्पपूयामकण्डुराम् ॥ आमोदुम्बरसंकाशां विद्यादन्त्रालजीं तु ताम्' इति ॥ ३ ॥

---

१. अन्धालजी इति क.। २. प्रायो इति क.।

विमर्श—सुश्रुत ने इसका वर्णन अन्धालजी नाम से किया है। आचार्य भोज इसे स्नायुगत मानते हैं—'प्रकुपित हुए कफ और वायु स्नायु में आश्रित होकर गोल, मुखरहित, कफ-पूयवाली, खुजली रहित तथा कच्चे गूलर के समान अन्त्रालजी नाम की पिडका उत्पन्न कर देते हैं (मूल पाठ मधुकोश में देखें)। इस पिडका में पूय निकलने का मार्ग नहीं होता, उसे बनाना पड़ता है अतः इसे मुखरहित कहा गया। इसका मुख अन्दर की ओर होता है। वाग्भट इसका वर्णन अलजी नाम से ही करते हैं।

विवृतां प्राह—

विवृतास्यां महादाहां पक्कोदुम्बरसंनिभाम्। (सु. नि. १३)
विवृतामिति तां विद्यात्पित्तोत्थां परिमण्डलाम् ॥ ४ ॥

चौड़े मुखवाली, अत्यधिक जलनयुक्त, पके हुए गूलर के समान वर्णवाली और गोल पिडका को विवृता कहते हैं। यह पित्तजन्य होती है ॥ ४ ॥

विवृतामाह—विवृतास्यामित्यादि। पित्तेनाधिकपाकाद्विवृतमुखतायां विवृतासंज्ञा ॥४॥

कच्छपिकाया लक्षणमाह—

ग्रथिताः पञ्च वा षड्वा दारुणाः कच्छपोपमाः। (सु. नि. १३)
कफानिलाभ्यां पिडका ज्ञेयाः कच्छपिका बुधैः ॥ ५ ॥

कफ और वायु से उत्पन्न होने वाली कछुवे की पीठ के समान कठिन गांठदार एक ही स्थान पर उत्पन्न हुई पाँच या छ (अनेक) पिडकाओं को कच्छपी कहते हैं ॥ ५ ॥

कच्छपिकालक्षणमाह—ग्रथिता इत्यादि। दारुणाः कठिनाः। मध्योन्नतत्वेन पर्यन्ताल्पत्वेन च कच्छपिकासंज्ञा ॥ ५ ॥

वल्मीकलक्षणमाह—

ग्रीवांसकक्षाकरपाददेशे सन्धौ गले वा त्रिभिरेव दोषैः।
ग्रन्थिः स वल्मीकवदक्रियाणां जातः क्रमेणैव गतः प्रवृद्धिम् ॥ ६ ॥
मुखैरनेकैः स्रुतितोदवद्भिर्विसर्पवत्सर्पति चोन्नताग्रैः।
वल्मीकमाहुर्भिषजो विकारं निष्प्रत्यनीकं चिरजं विशेषात् ॥ ७ ॥

गर्दन, अंस (कन्धा), बगल (काँख), हाथ, पैर सन्धि तथा गले में तीनों दोषों के प्रकोप से सांप की बमी के समान ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है। वह चिकित्सा न करने पर क्रम से बढ़कर उन्नताग्र और स्राव तथा तोदयुक्त अनेक मुखों से युक्त होकर विसर्प के समान फैलती है। इस प्रतिकार रहित चिरकालीन रोग को चिकित्सक **वल्मीक** कहते हैं ॥ ६–७ ॥

वल्मीकलक्षणमाह—ग्रीवांसेत्यादि। वल्मीकवदित्यनेन प्रचुरशिखरत्वेन समुच्छ्रितत्वं दूरावगाढमूलत्वं च ख्याप्यते। अत एव चिकित्सायामवगाढमूलशोधनार्थमग्निक्षाराभ्यां चिकित्सेत्युक्तम् ॥ ६–७ ॥

विमर्श—सुश्रुत ने भी इसकी उत्पत्ति के ये ही स्थान बताये हैं। उन्होंने इसमें क्लेद, दाह और खुजली ये लक्षण अधिक बताये हैं—

तोदक्लेदपरीदाहकण्डूमद्भिर्व्रणैर्वृतः। व्याधिर्वल्मीक इत्येष कफपित्तानिलोद्भवः ॥

उक्त लक्षणों को देखते हुए इसका साम्य आजकल एक्टिनोमायकोसिस और मदुरापाद (Actinomycosis and Madura foot) से किया जा सकता है। इसका कारण एक प्रकार का फंगस है। यह अधिकतर पैर के तलवे में होता है। कांटे या किसी अन्य कारण से पैर में खुरच लग जाने पर इसका शरीर में प्रवेश हो जाता है। इससे वहाँ अनेक नाडी व्रण बन जाते हैं, जिनसे निरन्तर स्राव निकला करता है। इसकी आकृति बमी के समान बन जाती है। यह रोग मद्रास, राजस्थान, दिल्ली, पंजाब तथा काश्मीर में अधिक होता है।

रोगारम्भ—पैर के तलवे में सर्वप्रमथ आधी इञ्च के लगभग बड़ी कठिन, विवर्ण और पीडा-रहित सूजन हो जाती है। यह एक मास या इससे कुछ अधिक समय के पश्चात् फूटकर नाडीव्रण का रूप धारण कर लेती है। इससे रक्तरञ्जित पूय निकलता है जिसमें कुछ काले और भूरे कण भी रहते हैं। इसी प्रकार क्रमशः अनेक सूजन बन जाती हैं अन्ततः नाडीव्रण का रूप धारण कर लेती है। इनका रोपण नहीं होता। परिणाम स्वरूप मृदु धातुयें तथा अस्थि नष्ट हो जाती हैं। देखने पर नाडीव्रणों का जालसा प्रतीत होता है। पैर बहुत अधिक सूज जाता है, और रोगी गति करने में असमर्थ हो जाता है। कभी-कभी हाथ, जानुसन्धि, ग्रीवा, हनुसन्धि तथा काँख में भी बमी के आकार की सूजन हो जाती है। यह चिरकालीन (Chronic) रोग है। विसर्प के समान यह भी समीपस्थ धातुओं में फैलता है। मर्मस्थानों पर होने से यह अचिकित्स्य एवं घातक होता है। यह रोग स्थानिक है अतः सार्वदैहिक लक्षण प्रायः नहीं होते।

इन्द्रविद्धामाह—

पद्मकर्णिकवन्मध्ये पिडकाभिः समाचिताम्। (सु. नि. १३)
इन्द्रविद्धां तु तां विद्याद्वातपित्तोत्थितां भिषक् ॥ ८ ॥

कमलबीजकोष की भांति जो पिडका बीच में छोटी-छोटी फुन्सियों से व्याप्त होती है उसे इन्द्रविद्धा कहते हैं; यह वातपित्तज होती है ॥ ८ ॥

इन्द्रविद्धामाह—पद्मकर्णिकवदित्यादि। पद्मकर्णिकवन्मध्ये इति पद्मवराटवत् ॥ ८ ॥

गर्दभिकालक्षणं व्याचष्टे—

मण्डलं वृत्तमुत्सन्नं सरक्तं पिडकाचितम्।
रुजाकरीं गर्दभिकां तां विद्याद्वातपित्तजाम् ॥ ९ ॥

पिडकाओं से व्याप्त लाल वर्ण के गोल और उठे हुए पीडायुक्त मण्डल को गर्दभिका कहते हैं, यह वातपित्तज होती है ॥ ९ ॥

गर्दभिकामाह—मण्डलमित्यादि। गर्दभिका यद्यपि समानतन्त्रे न पठ्यते तथाऽपि सर्वत्र सुश्रुतेऽभिधीयते; अविगीतपाठेन व्यवस्थितैव ॥ ९ ॥

पाषाणगर्दभलक्षणमाह—

वातश्लेष्मसमुद्भूतः श्वयथुर्हनुसन्धिजः।
स्थिरो मन्दरुजः स्निग्धो ज्ञेयः पाषाणगर्दभः ॥ १० ॥

वात और कफ के प्रकोप से उत्पन्न हनुसन्धि में होनेवाली स्थिर अल्पपीडायुक्त और चिकनी सूजन पाषाणगर्दभ कहलाती है ॥ १० ॥

पाषाणगर्दभलक्षणमाह—वातेत्यादि। स्थिरः कठिनः, पाषाणवत् काठिन्यात् पाषाण-गर्दभः लोके 'गलवट्ट' इति ख्यातः ॥ १० ॥

विमर्श—पाषाणगर्दभ से साधारणतया कर्णमूलिक-लालाग्रन्थि (Parotid gland) का शोथ समझा जाता है । परन्तु कतिपय विद्वान् ज्वर, दोनों ओर की सूजन तथा तीव्र पीड़ा इन लक्षणों को वर्णित न देखकर तथा चिरकालीन वर्णित होने से कर्णमूलिक शोथ (Parotitis) न मानकर ग्रन्थि का कोई अर्बुद समझते हैं । किन्तु इसकी चिकित्सा का वर्णन देखते हुए उसे उक्त ग्रन्थि का शोथ ही समझना चाहिये । इसी का एक भेद औपसर्गिक कर्णमूलिक शोथ (Epidemic parotitis or mumps) है । इसमें पित्तानुबन्ध होने से ज्वर भी होता है ।

पनसिकामाह—

कर्णस्याभ्यन्तरे जातां पिडकामुग्रवेदनाम्[1] ।
स्थिरां पनसिकां तां तु विद्याद्वातकफोत्थिताम् ॥ ११ ॥

कान के भीतर होने वाली तीव्र पीड़ा युक्त और स्थिर पिडका को पनसिका कहते हैं, यह वातकफज होती है ॥ ११ ॥

पनसिकामाह—कर्णस्येत्यादि । एषा भोजे **'समन्ततः' इति वचनात् कर्णस्य बहिरपि भवतीति केचिद्व्याचक्षते । यदुक्तं—'कफवातौ प्रकुपितौ मांसमाश्रित्य कर्णयोः । समन्ततः परिस्तब्धां कुरुतः पिडकां स्थिराम् ॥ विषमां दाहसंयुक्तां विद्यात् पनसिकां तु ताम्' इति । तत्तु न सम्यक्, समन्तत इत्यस्य कर्णाभ्यन्तर एवोपपन्नत्वात् । दृश्यते बाह्यरन्ध्रे शालूकाकारेयमिति केचित् । अस्यां वातकफजायां** भोजे **दाहपाठो विकृतिविषमसमवायादधिष्ठानभूतरक्तप्रभावाद्वाऽवगन्तव्यः ॥ ११ ॥**

विमर्श—माधव ने इसे कान के भीतर ही माना है किन्तु—आचार्य भोज इसे कान के बाहर भी मानते हैं । सुश्रुत भी बाहर और अन्दर दोनों जगह इसकी स्थिति स्वीकार करते हैं—

कर्णौ परिसमन्ताद्वा पृष्ठे वा पिडकोग्ररुक् । शालूकवत् पनसिकां तां विद्याच्छ्लेष्मवातजाम् ॥

पनसिका को वातकफज कहा गया है पर श्री भोज ने इसके लक्षण में दाह भी कहा है और यह दाह विकृतिविषम समवाय के कारण या अधिष्ठानभूत रक्त के प्रभाव से होता है ।

जालगर्दभं निरूपयति—

विसर्पवत्सर्पति यः शोथस्तनुरपाकवान् ।
दाहज्वरकरः पित्तात्स ज्ञेयो जालगर्दभः ॥ १२ ॥

विसर्प के समान फैलने वाला, अल्प पाकयुक्त, दाह तथा ज्वर से युक्त पित्तजन्य शोथ जालगर्दभ कहलाता है ॥ १२ ॥

जालगर्दभलक्षणमाह—विसर्पवदित्यादि । अपाकवानिति ईषत्पाकवान्, पित्तकृतत्वेन सर्वथा पाकाभावस्यायुक्तत्वादिति चक्रः, **किन्तु पाकरहित एवायमुपलभ्यते । पित्तादित्युद्भूतपित्तात्, तेन** भोजोक्तं **पित्तोल्वणदोषत्रयजन्यत्वमस्याविरुद्धं भवति । स यदाह—'पित्तोत्कटास्त्रयो दोषा जनयन्ति त्वगाश्रिताः । श्यावं रक्तं तनुं शोथमपाकं बहुवेदनम् ॥ विसर्पमाहुस्तं व्याधिमपरे जालगर्दभम्' इति ।** जतुकर्णस्त्वाह—**'पित्ताधिकस्तत्र तीव्रदाहो रक्तपाको विसर्पज्वरकरो जालगर्दभः' इति । अयमग्निवात इति ख्यातो विकारः ॥ १२ ॥**

विमर्श—पैत्तिक और पाक न होना परस्पर विरोधी होने के कारण ही आचार्य चक्र ने अपाकवान् का अर्थ ईषत् पाकवान् किया है । पर प्रत्यक्षतः इसकी उपलब्धि बिना पाक के ही होती है ।

---

१. 'अन्तःप्रपाकिनीम्' इति पाठान्तरम् ।

इसलिए पित्त से यहाँ उद्धृत पित्त लेना चाहिए और तब त्रिदोषज होने से विरोध (पित्तज होते हुए भी पाक का न होना) की सम्भावना नहीं रह जाती। भोज ने त्रिदोष के साथ इसमें पित्तोल्वणता मानी है तथा इसे विसर्प का ही एक प्रकार मानते हैं। यथा-**'पित्तोत्कटास्त्रयो दोषा जनयन्ति त्वगाश्रिताः'** आदि (पूर्ण पाठ मधुकोश में देखें।)

अर्थात्—पित्तोल्बण तीनों दोष त्वचा में आश्रित हो कर श्यामवर्ण रक्तवर्ण पतली पाकरहित बहुवेदनान्वित विसर्पणशील दाहवाली, तृष्णान्वित ज्वरयुक्त जिस व्याधि को पैदा करते हैं इसे विसर्प कहते हैं कुछ लोग इसी को जालगर्दभ भी कहते हैं।

जतुकर्ण ने भी पित्ताधिक और विसर्प एवं ज्वर का उत्पादक बताया है। 'जालगर्दभ पित्त की अधिकता एवं तीव्र दाह वाला, रक्तपाकी, विसर्प और ज्वरोत्पादक होता है।' इसी को कहीं-कहीं अग्निवात भी कहा गया है। इसकी तुलना लसीकावाहिनी शोथ (Lymphan gitis) से की जा सकती है।

इरिवेल्लिकां कक्षां च वर्णयति—

पिडकामुत्तमाङ्गस्थां वृत्तामुग्ररुजाज्वराम् ।
सर्वात्मिकां सर्वलिङ्गां जानीयादिरिवेल्लिकाम् ॥ १३ ॥
बाहुपार्श्वांसकक्षेषु कृष्णस्फोटां सवेदनाम् ।
पित्तप्रकोपसंभूतां कक्षामित्यभिनिर्दिशेत् ॥ १४ ॥ (सु.नि. १३)

सिर में होने वाली, गोल, उग्रपीडा, ज्वर तथा त्रिदोष लक्षणों से युक्त त्रिदोषज व्याधिको इरिवेल्लिका कहते हैं। बाहु, पार्श्व, कन्धे तथा काँख में पित्तप्रकोपजन्य वेदनायुक्त काले रंग के फफोलों को कक्षा कहते हैं ॥ १३-१४ ॥

इरिवेल्लिकालक्षणमाह—पिडकामित्यादि। सर्वात्मिकां सर्वलिङ्गामिति। सर्वात्मिकां सर्वदोषजाम्। सर्वात्मिकामित्यनेनैव सर्वलिङ्गत्वे सिद्धे पुनः सर्वलिङ्गामिति वचनं विकृतिविषमसमवायारब्धलिङ्गव्यतिरेकेण प्रत्येकदोषलिङ्गयुक्ततां ख्यापयति ॥ १३-१४ ॥

विमर्श—इरिवेल्लिका-सुश्रुत ने इसका वर्णन नहीं किया है किन्तु वाग्भट ने इसका वर्णन किया है:—**'त्रिलिंगा पिडका वृत्ता जत्रूर्ध्वमिरिवेल्लिका'।**

कक्षा—कुछ लोग कक्षा से कक्षा की लसग्रन्थियों का शोथ (Acute lymphadenitis of the axillary glands) समझते हैं। किन्तु प्रस्तुत वर्णन के अनुसार यह स्पष्ट है कि ये यज्ञोपवीत की आकृति में रहती हैं। चरक ने भी यही माना है—**'यज्ञोपवीतप्रतिमाः प्रभूताः पित्तानिलाभ्यां जनितास्तु कक्षाः'** किन्तु वे इसे वात-पित्तज मानते हैं। आजकल इसका स्वरूप हर्पिस जोस्टर (Herpes zoster) से मिलता है। इसमें पर्शुकान्तरीय सौषुम्न नाडियों के मार्ग में छोटी-छोटी पिडकायें निकलती हैं। आजकल **'हरपिस'** के स्थान भेद से तीन प्रकार वर्णित मिलते हैं। प्राचीन ग्रन्थों में भी तीनों का तीन नामों से उल्लेख मिलता है।

१ भ्रू के ऊपर ललाट में Herpes supraorbitalis—सिराग्रह।
२ ओष्ठ में Herpes labialis ओष्ठप्रकोप।
३ पार्श्वों में ,, Intercostalis कक्षा।

इनमें त्रिदोषज होते हुए भी पित्त या वातपित्त के लक्षण प्रबल रूप में मिलते हैं। चिकित्सा में भी विशेषतः वातपित्तशामक उपचार से ही शान्ति मिलती है।

गन्धमालां प्राह—

एकामेतादृशीं दृष्ट्वा पिडकां स्फोटसंनिभाम् ।
त्वग्गतां पित्तकोपेन गन्धमालां प्रचक्षते ॥ १५ ॥

फफोले के सदृश इसी प्रकार की पित्तप्रकोपजन्य त्वचागत केवल एक पिडका को गन्धमाला कहते हैं ॥ १५ ॥

गन्धमालामाह—एकामित्यादि। एकामेतादृशीमिति कक्षोक्तैककृष्णस्फोटसदृशीम् ॥१५॥

विमर्श—सुश्रुत ने इसका वर्णन नहीं किया। वाग्भट इसे गन्धनामा कहते हैं—

पित्ताद्भवन्ति पिडकाः सूक्ष्मा लाजोपमा घनाः। तादृशी महती त्वेका गन्धनामेति कीर्तिता॥

कक्षा, अंस या पार्श्व किसी भी एक प्रदेश में यह हो सकती है। यह कक्षा का ही एक भेद है।

अग्निरोहिणीं लक्षयति—

कक्षभागेषु ये स्फोटा जायन्ते मांसदारणाः ।
अन्तर्दाहज्वरकरा दीप्तपावकसंनिभाः ॥ १६ ॥
सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा पक्षाद्वा हन्ति मानवम् ।
तामग्निरोहिणीं विद्यादसाध्यां सर्वदोषजाम् ॥ १७ ॥

बगल के प्रदेश (काँख) में जलती हुई अग्नि के समान अन्तर्दाहज्वर तथा मांस का भेदन करने वाले जो स्फोट उत्पन्न होते हैं वे सात दिन, दस दिन या पन्द्रह दिन में रोगी के प्राण हर लेते हैं। अग्निरोहिणी नामक इस त्रिदोषज व्याधि को असाध्य समझना चाहिये ॥ १६-१७ ॥

अग्निरोहिणीलक्षणमाह—कक्षेत्यादि। सप्ताहाद्वा दशाहाद्वेत्यभिधानमसाध्यत्वख्यापकमनुपक्रमाद्बोद्धव्यम्। उपक्रमात् पुनरियं साध्यैव, अत एवास्याश्चिकित्साभिधानं चरकेणा**प्यग्निरोहिणीं प्रत्यभिहितम्,–'सन्ति ह्येवंविधा रोगाः साध्या दारुणसंमताः। ये हन्युरनुपक्रान्ता मिथ्यारम्भेण[2] वा पुनः'** (च. सू. १८) **इति। तन्त्रान्तरमपि–'पित्तरक्तोत्कटा दोषाः प्रदीप्ताङ्गारसंनिभान्। कक्षभागेषु कुर्वन्ति तीव्रदाहरुजाज्वरान्॥ मांसावदारणान् स्फोटान् ये हन्युरनुपक्रमात्। पक्षाद्दशाहादर्वाग्वा सा ज्ञेया वह्निरोहिणी' इति। वातपित्तकफाधिक्याद्यथाक्रमं सप्ताहादिविकल्पः ॥ १६-१७ ॥**

विमर्श—चिकित्सा न करने पर ही इसे असाध्य समझना चाहिये। उपर्युक्त चिकित्सा से यह साध्य है; क्योंकि चरक ने इसकी चिकित्सा का वर्णन किया है। कुछ ऐसे साध्य रोग भी हैं जिन्हें भयङ्कर माना जाता है। वे उचित चिकित्सा न करने पर प्राण हरण कर लेते हैं*। यह रोग त्रिदोषज है किन्तु पित्त और रक्त की विशेषता रहती है। कुछ लोग इसे अर्वाचीन प्लेग (Plague) नामक रोग मानते हैं किन्तु उसके कई प्रधान लक्षण इसमें नहीं मिलते। जैसे—प्लेग में स्फोट या फफोले नहीं होते किन्तु लसीकाग्रन्थि शोथ होकर बड़ी-सी गांठें या गिल्टियाँ उत्पन्न होती हैं। यह प्रायः बिदीर्ण नहीं होती और कदाचित् पक्वभिन्न होने पर प्रायः साध्यता निदर्शक होती हैं।

---

१. दर्शन इति क.।   २. मिथ्याचारेण इति क.।

---

* सन्ति ह्येवंविधा रोगाः साध्या दारुणसम्मताः। ये हन्युरनुपक्रान्ता मिथ्यारम्भेण वा पुनः॥

मृत्यु दो से सात दिन में, प्रायः तीसरे या चौथे दिन होती है जब कि अग्निरोहिणी में मृत्यु के लिए न्यूनतम काल एक सप्ताह माना है। प्लेग संक्रामक होता है जिसका उल्लेख अग्निरोहिणी के सम्बन्ध में नहीं मिलता। विस्तृत वर्णन परिशिष्ट में देखें।

चिप्परोगं कुनखं चाह—

नखमांसमधिष्ठाय वायुः पित्तं च देहिनाम्।

कुर्वाते दाहपाकौ च तं व्याधिं चिप्पमादिशेत्॥ १८॥

तदेवाल्पतरैर्दोषैः पुरुषं कुनखं वदेत्॥ १९॥ (सु. नि. १३)

वात और पित्त प्राणियों के नख के समीप के मांस में स्थित होकर दाह और पाक उत्पन्न करते हैं। इस व्याधि को **चिप्प** कहते हैं। वही चिप्प जब अल्प शक्ति वाले दोषों से उत्पन्न होता है तो नख परुष (सूखा और भुरभुरा) हो जाता है और उसे **कुनख** कहते हैं॥ १७-१९॥

चिप्पमाह—नखेत्यादि। तं व्याधिं चिप्पमिति चिप्पमङ्गुलिवेष्टकमिति ख्यातम्। चरके त्वक्षतनामायं विकारः। यदुक्तं, 'रोगोऽक्षतश्चर्मनखान्तरे स्यान्मांसास्रदोषी भृशदाहपाकः' (च. चि. १२) **इति॥ १८-१९॥**

विमर्श—आजकल इसे ओनिकिया प्युरुलेन्टा (Onychia purlenta) कहते हैं। इसमें नखमांस (Nailmatrix) में पाक हो जाता है। सुश्रुत इसे क्षत या उपनख भी कहते हैं। चरक के अनुसार क्षतरोग को ह्विटलो (Whitlaw or paronychia) कह सकते हैं।

'रोगः क्षतश्चर्मनखान्तरे स्यान्मांसास्रदूषी भृशदाहपाकः'। (च. चि. १२)

यहाँ 'चर्मनखान्तरे' का अर्थ चक्रपाणि ने 'चर्म और नख के बीच में' ऐसा किया है। इस प्रकार नख के नीचे के मांस में दाहपाक होने पर चिप्प नख और चर्म के बीच अर्थात् नखसन्धि में पाक होने पर पात या उपनख रोग होता है। कुछ ग्रन्थों में इस रोग का नाम अंगुलिवेष्टक भी मिलता है।

कुनख को आजकल ओनीकोग्राइफोसिस (Onychogryphosis) कहते हैं। सुश्रुत ने इसका कारण अभिघात तथा लक्षणों में नख का सूखा, काला और खुरदरा होना तथा कुलीन पर्याय भी बताया है।

अभिघातात् प्रदुष्टो यो नखो रूक्षोऽसितः खरः। भवेत्तं कुनखं विद्यात् कुलीनमिति संज्ञितम्॥

(सु. नि. १३)

अनुशयीलक्षणं निरूपयति—

गम्भीरामल्पसंरम्भां सवर्णामुपरिस्थिताम्। (सु. नि. १३)

पादस्यानुशयीं तां तु विद्यादन्तःप्रपाकिनीम्॥ २०॥

गहरी, अल्पशोथयुक्त, त्वचा के वर्ण की, पैर के ऊपरी भाग में होने वाली तथा अन्दर ही पकने वाली पिडका को अनुशयी कहते हैं॥ २०॥

अनुशयीलक्षणमाह—गम्भीरामित्यादि। गम्भीरामित्यन्तःपाकेन। अल्पसंरम्भामित्यल्पशोथाम्॥ २०

विमर्श—सुश्रुत में इस श्लोक के उत्तरार्ध का पाठ **'कफादन्तः प्रपाकां तां विद्यादनुशयीं भिषक्'** ऐसा मिलता है। इसमें दोषों का उल्लेख मिलता है किन्तु स्थान का निर्देश नहीं है। माधव संमत पाठ में रोग का स्थान पाद बताया है, दोष ज्ञान लक्षणों से ही हो जाता है।

विदारिकां लक्षयति—

विदारीकन्दवद् वृत्ता कक्षावङ्क्षणसन्धिषु ।
विदारिका भवेद्रक्ता सर्वजा सर्वलक्षणा ॥ २१ ॥

काँख और वंक्षणप्रदेश की सन्धियों में विदारीकन्द के समान गोल, लालवर्ण की त्रिदोष से उत्पन्न और त्रिदोषज लक्षणों से युक्त जो पिडका होती है उसे विदारी कहते हैं ॥ २१ ॥

विदारीलक्षणमाह—विदारीत्यादि । विदारिका भवेद्रक्ता सर्वजा सर्वलक्षणेत्यत्र केचिद्-सर्वजा, असर्वलक्षणेति उभयत्रापि नञः प्रयोगमिच्छन्ति, तेनासर्वजा इति सर्वदोषैः सन्निपतितैर्न भवति, असर्वलक्षणेति सन्निपातलक्षणरहितेत्यर्थः । तेन प्रत्येकदोषद्वन्द्वजत्वेन षड्विधा सन्निपातमात्रेण न भवतीति वाक्यार्थः। किन्त्वयं पक्षो यद्यभिमतः स्यादाचार्यस्य, तदा व्यक्तयर्थं 'षड्विधा द्वयेकदोषजा' इति पदं कृतं स्यात् । किञ्च बहुप्रपञ्चत्वेन क्षुद्रत्वा-सङ्गतिश्च । अपरे 'असर्वजा सर्वलक्षणा' इति पठन्ति; तदपि न संगतं, सर्वैर्दोषैर्न भवत्यथ सर्वदोषलक्षणा भवति हन्त तर्हि लिङ्गिनमन्तरेण लिङ्गप्रादुर्भावप्रसङ्गः । अन्ये तूत्तरपद एव नञः प्रयोगात् 'सर्वजाऽसर्वलक्षणा' इति वदन्ति; तत्र यदि सर्वेषां लक्षणानि सर्वलक्षणानि तान्यविद्यमानानि यस्यामिति, तदा कथं लिङ्गमन्तरेण लिङ्गिनः परोक्षस्य परिच्छेदोदयः । अथ सर्वाणि च तानि लक्षणान्यविद्यमानानि यस्यामिति, सन्निपातजत्वेऽप्यसंपूर्णलक्षणेत्यर्थः । एतदपि न सङ्गतम्, यद्ययं पक्षोऽभीष्टः स्यात्तदाऽसर्वलक्षणेति न वक्तव्यमत्र स्यात्, सर्वत्र न्यायस्यास्य समानत्वात्; हेत्वनुरूपकोपबलेन हि सर्वत्र सर्वार्धाल्पलिङ्गसङ्गतिः । असंपूर्णलक्षणत्वेन दोषाणां हीनबलत्वं समवृद्धानामनारम्भकत्वं वा शक्यमेवास्मिन् पक्षे वक्तुं, किन्तु तन्नाद्रियन्ते; ततश्चोभयत्रापि नञः प्रयोगं विना सर्वजा सर्वलक्षणेति पाठो युक्तः सर्वजेत्यभिधायापि सर्वलक्षणेति वचनमिरिवेल्लिकायामिव प्रकृतिसमसमवायजन्य-वातादिलक्षणदर्शनार्थं, तेन विकृतिविषमसमवायजन्यासाध्यत्वादिलक्षणानि न भवन्ति । अस्मिन्नपि पाठे सर्वजा सर्वैरेकादिप्रकारैर्वातादिभिर्जन्यते, एवं सर्वलक्षणेति वक्तुं पार्यते, किन्तु क्षुद्ररोगत्वाद्दोषभेदेन गणना न युक्ता । चरके त्वियं कफमारुतजा पठ्यते । यदुक्तं-'ज्वरान्विता वङ्क्षणकक्षसन्धौ वर्तिर्निरर्तिः कठिना मता या । विदारिका सा कफमारुताभ्याम्' (च. चि. १२) इति । तेनात्राप्यल्पपित्तयुक्तकफवातजत्वेन सर्वजत्वं ज्ञेयम् । यथा-ज्वरयोगेनाल्पपित्तत्वम् । यदुक्तम्-'ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना' (वा. चि. १) इति । 'विदारीमिति तां विद्यात् सर्वजां सर्वलक्षणाम्' इति पाठान्तरे न कश्चिद्व्याख्यानप्रपञ्चः ॥ २१ ॥

विमर्श—बगल (काँख) और वंक्षण की लसग्रन्थियों का शोथ ही विदारिका है । त्रिदोषज होते हुए भी यह साध्य है; क्योंकि इसमें पित्त होते हुए भी अल्पबल रहता है । इसलिये इसमें ज्वर भी रहता है और चरक ने इसे वातकफज ही माना है—

ज्वरान्विता वंक्षणकक्षसन्धौ वर्तिर्निरर्तिः कठिना मता या ।
विदारिका सा कफमारुताभ्याम्..........,

कफ और वायु की विशेषता रहती है और पित्त अनुबन्ध रूप में रहता है । अन्यथा ज्वर भी न होता—**'ऊष्मा पित्तादृतेनास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना'** ।

इस श्लोक के **'सर्वजा सर्वलक्षणा'** के अर्थ में विभिन्न टीकाकारों ने अनेक मत प्रगट किये हैं उसका विवरण मधुकोश में ही देखें । सबके निष्कर्षरूप एवं प्रत्यक्ष संगत अर्थ का ही उल्लेख हमने किया है ।

शर्करामाह—

प्राप्य मांससिरास्नायूः श्लेष्मा मेदस्तथाऽनिलः ।
ग्रन्थिं करोत्यसौ भिन्नो मधुसर्पिर्वसानिभम् ॥ २२ ॥
स्रवत्यास्रावमनिलस्तत्र वृद्धिं गतः पुनः ।
मांसं संशोष्य ग्रथितां शर्करां जनयेत्ततः ॥ २३ ॥
दुर्गन्धि क्लिन्नमत्यर्थं नानावर्णं ततः सिराः । (सु नि. १३)
स्रवन्ति रक्तं सहसा तं विद्याच्छर्करार्बुदम् ॥ २४ ॥

कफ, मेद तथा वायु मांस, सिरा और स्नायु में पहुँचकर गांठ उत्पन्न कर देते हैं। फूटने पर इससे शहद, घी या चर्बी के समान स्राव निकलता है। इसके बाद (धातुक्षय के कारण) अत्यधिक वृद्धि को प्राप्त हुई वायु मांस को सुखाकर उससे गांठदार शर्करा को उत्पन्न करती है। इसके कारण सिराओं से दुर्गन्धित अत्यधिक क्लेदयुक्त तथा अनेक वर्णों का एकाएक रक्तस्राव होता है। इसे शर्करार्बुद कहते हैं ॥ २२-२४ ॥

शर्करामाह—प्राप्येत्यादि । इयमेव शर्करार्बुदस्य हेतुः । अस्यां कफानिलौ दोषौ, मांससिरास्नायुमेदांसि दूष्याणि । अनिलस्तत्र वृद्धिं गत इति पूर्वमेव तावद्वृद्धोऽनिलो धातुक्षयेण वृद्धिमतिशयेन गतो मांसं विशोष्य काठिन्यात् शर्करातुल्यां शर्करां जनयति । अतः शर्करायास्तुल्यं शर्करार्बुदं भवति । दुर्गन्धि क्लिन्नमित्यादिना शर्करोत्पन्नं शर्करार्बुदलक्षणं, शर्करार्बुदं च शर्करावस्थैवेत्येक एवायं विकार; तेन न संख्यातिरेकः । नानावर्णमिति घृतमेदोवसावर्णं रक्तम् । तत इति शर्करार्बुदादेव[१] । भोजेऽपि पठ्यते-'तमेव भिन्नं दुर्गन्धं घृतमेदोनिभं सिराः । स्रवन्ति स्रावमनिशं तदा स्याच्छर्करार्बुदम्' इति । तमेवेति ग्रन्थिम् ॥

विमर्श—इसकी उत्पत्ति में कफ और वायु दोष हैं। मेद, मांस, सिरा और स्नायु दूष्य हैं। शर्करार्बुद शर्करा की ही एक अवस्था है, इसलिये संख्या की अधिकता नहीं होती। मेदो ग्रन्थि (Sebaceous cyst) से निकलने वाला स्राव जब शुष्क होकर सूख जाता है तो उसे शर्करा कहते हैं। इसके बाद जब उसी शर्करा से रक्तमय दुर्गन्धित स्राव निकलने लगता है तो उसे शर्करार्बुद कहते हैं। इस प्रकार मेदोग्रन्थि के ऊपर बनने वाली विकृति या रचना को शर्करार्बुद कहते हैं। आजकल इसे सिबेशस हार्न (Sebaceous horn) या कोक्स पिक्यूलियर ट्यूमर (Cook's peculiar tumour) कहते हैं। सुश्रुत ने इसकी चिकित्सा भी मेदोर्बुद के समान बताई है।

पाददारीं प्राह—

परिक्रमणशीलस्य वायुरत्यर्थरूक्षयोः[२] ।
पादयोः कुरुते दारीं पाददारीं तमादिशेत् ॥ २५ ॥ (सु. नि. १३)

अधिक (नंगे पाँव) घूमने वाले व्यक्ति का प्रकुपित वायु अत्यधिक रूक्ष पैरों में दरार उत्पन्न कर देता है, उसे पाददारी कहते हैं ॥ २५ ॥

पाददारीमाह—परिक्रमणशीलस्येत्यादि । परिक्रमणं पादविहरणं, दारी दारणमात्रं, विपादिकाकुष्ठं तु पिडका सविदारणेति भेदः ॥ २५ ॥

---

१. संभवोऽप्येकत्वेनास्तीति क. । २. रूपयोः इति ख. ।

विमर्श—आजकल इसे रागेड्स (Rhagades) कहते हैं। कुष्ठ प्रकरण में वर्णित विपादिका का ही यह एक भेद है। अधिक पैदल चलने से विशेषतः नंगे पाँव पैदल चलने से और केवल पाँवों में ही होने पर पाददारी तथा अन्य कारणों से उत्पन्न रक्तदुष्टि तथा पिडिका पूर्वक एवं हाथ और पैर दोनों में होने पर वैपादिक या विपादिका कहते हैं। लोकभाषा में इसके लिए 'बिवाई' शब्द प्रचलित है ! **'फटी न जिनके पाँव बिवाई। ऊ का जानहिं पीर पराई॥'** (तुलसीदास)

कदरमाह—

शर्करोन्मथिते पादे क्षते वा कण्टकादिभिः।
ग्रन्थिः कोलवदुत्सन्नो जायते कदरं हि तत् ॥२६॥ (सु. नि. १३)

कंकड़, पत्थर से कुचले हुए या काँटे आदि से क्षत हुए पैरों में बेर के समान उठी हुई जो गाँठ उत्पन्न हो जाती है उसे कदर कहते हैं॥ २६॥

कदरमाह—शर्करोन्मथित इत्यादि। कदरं कोलास्थीति ख्यातम्। कोलवदित्यस्य स्थाने कीलवदिति पाठान्तरम्। कदरं हस्तेऽपि भवति। तथा च भोजः, **'हस्तयोः पादयोश्चापि गम्भीरानुगतं खरम्। मांसकीलं जनयतः कुपितौ कफमारुतौ॥ सशल्यमिव तं देशं मन्यते तेन पीडितः। शर्कराकदरं केचिन्मन्यन्ते वातकण्टकम्' इति कोलवदिति बदरवत्॥**

विमर्श—आचार्य भोज हाथों में भी इसकी उत्पत्ति मानते हैं और शर्करा तथा वात कंटक यह दो पर्याय नाम भी मानते हैं—

इसे आजकल कार्न (Corn) कहते हैं। भोज इसे वातकफज मानते हैं। सुश्रुत इसकी उत्पत्ति में मेद और रक्त के साथ अन्य दोषों का संबंध भी बताते हैं। लोकभाषा में इसे 'कच्चर' कहते हैं।

अलसकलक्षणमाह—

क्लिन्नाङ्गुल्यन्तरौ पादौ कण्डूदाहरुजान्वितौ।
दुष्टकर्दमसंस्पर्शादलसं तं विभावयेत् ॥ २७ ॥ (सु. नि. १३)

गन्दी कीचड़ के अधिक संसर्ग से पैरों की अंगुलियों के बीच में जो गीलापन, खुजली, जलन और पीड़ा हो जाती है उसे अलस कहते हैं॥ २७॥

अलसकलक्षणमाह—क्लिन्नेत्यादि। अयं कफरक्तजो विकारः 'पाकुंया'[1] इति ख्यातः। अत्र कण्डूः कफस्य, दाहरुजे रक्तस्य॥ २७॥

विमर्श—आम बोलचाल में इसे कँदरी और अँग्रेजी में (Dhobie's itch) कहते हैं।

इन्द्रलुप्तलक्षणं निरूपयति—

रोमकूपानुगं पित्तं वातेन सह मूर्च्छितम्।
प्रच्यावयति रोमाणि ततः श्लेष्मा सशोणितः॥ २८॥
रुणद्धि रोमकूपांस्तु ततोऽन्येषामसंभवः।
तदिन्द्रलुप्तं खालित्यं रुह्येति च विभाव्यते ॥२९॥ (सु. नि. १३)

रोमकूपों में रहने वाला भ्राजक पित्त, वायु से मिलकर रोमों को गिरा देता है। इसके बाद रक्तसहित कफ रोमकूपों को अवरुद्ध कर देता है, इससे दूसरे रोगों की उत्पत्ति नहीं होती। इस रोग को इन्द्रलुप्त कहते हैं। इसका दूसरा नाम खालित्य और रुह्या भी है॥ २८-२९॥

---

१. पृक्कन्जा इति क.।

इन्द्रलुप्तस्य लक्षणमाह—रोमकूपेत्यादि । एतत्त्रिभिर्दोषैः सशोणितैः स्वभावान्नियतकालव्यापारैर्भवति । एतच्च स्त्रीणां न भवतीति विदेह**वचनाद्व्याख्यानयन्ति । यदुक्तम्–'अत्यन्तसुकुमाराङ्ग्यो रजो दुष्टं स्रवन्ति च । अव्यायामरता यस्मात्तस्मान्न खलितिः स्त्रियाः' इति । अव्यायामाद्वातपित्तयोरकोपेन नातिरोमच्युतिः, रजःस्रावेण च स्रोतोऽवरोधाभावाच्च्युतानामपि रोम्णां पुनर्विरोहः; किन्तु स्त्रीष्वपि खलितिदर्शनात् प्रायिकं** विदेह**वचनम् । खालित्यं रुह्येति च तस्य पर्यायकथनम् । तथाच** भोजः–**'तदिन्द्रलुप्तमित्याहुः खल्लीं रुह्यां च केचन' इति ।** कार्तिकस्त्वाह–**'इन्द्रलुप्तं श्मश्रुणि भवति, खालित्यं शिरस्येव, रुह्या च सर्वदेहे' इति । आगमस्त्वत्र नास्ति ॥ २८–२९ ॥**

विमर्श—आचार्य विदेह का कहना है कि यह रोग स्त्रियों को नहीं होता क्योंकि व्यायाम अधिक न करने से वायु और पित्त का प्रकोप नहीं होता तथा रजःस्राव होने से उनके स्रोतों का अवरोध नहीं होने पाता—

अत्यन्तसुकुमाराङ्ग्यो रजोदुष्टं स्रवन्ति च ।
अव्यायामरता यस्मात्तस्मान्न खलितिः स्त्रियाः ॥

किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर उनमें भी यह रोग देखा जाता है । अतः विदेह के वचन को प्रायिक समझना चाहिये । स्त्रियों में यह रोग कम पाया जाता है ।

अँग्रेजी में इसे बालों का गिरना (Falling of hairs) या अलोपेशिया (Alopecia) कहते हैं । वाग्भट के अनुसार इन्द्रलुप्त में बाल एकदम गिर जाते हैं और खालित्य में धीरे-धीरे **'खलतेरपि जन्मैवं शातनं तत्र तु क्रमात्'** । रुह्या के लिये सुश्रुत रुज्या कहते हैं । आचार्य कार्तिक ने इन्द्रलुप्त, खालित्य और रुह्या तीनों में भेद बताया है—**इन्द्रलुप्तं श्मश्रुणि भवति, खालित्यं शिरस्येव, रुह्या च सर्वदेहे'** इन्द्रलुप्त दाढ़ी में, खालित्य सिर में और रुह्या सर्वदेह में होता है । रुह्या को अलोपेसिया यूनिवर्सलिस (Alopecia universalis) और इन्द्रलुप्त को (Alopecia areata) तथा खालित्य को (Simple Alopecia) कहते हैं ।

दारुणलक्षणमाह—

दारुणा कण्डुरा रूक्षा केशभूमिः प्रपाट्यते ।
कफमारुतकोपेन विद्याद्दारुणकं तु तम् ॥ ३० ॥ (सु. नि. १३)

कफ और वायु के प्रकोप से जब बालों का स्थान कठिन, खुजली युक्त तथा रूखा होकर दरार युक्त हो जाता है तो उसे दारुणक कहते हैं ॥ ३० ॥

दारुणलक्षणमाह—दारुणेत्यादि । दारुणेति कठिना । कफमारुतकोपादिति यद्यप्युक्तं तथापि पित्तरक्तानुबन्धोऽप्यत्र द्रष्टव्यः । तथाहि विदेहः–**'यदत्र पटलाभासं सरुजस्कं शिरस्त्वचि । परुषं जायते जन्तोस्तस्य रूपं विशेषतः ॥ तोदैः समन्वितं वातात् सकण्डूगौरवं कफात् । सपिपासं सदाहार्तिरागं पित्तास्रजं तथा' इति । अत्र वचने सदाहरागं च पित्तात्, सार्ति तु रक्तात्, अर्तिर्हि रक्तजाऽपि भवति । यदुक्तम्,–'रक्तं हि व्यम्लतां याति तच्चेन्नास्ति न चास्ति रुक्' इति । दारुणं रुक्खीति लोके ॥ ३० ॥**

विमर्श—यह रोग सिर में होता है और इसमें पित्त और रक्त का अनुबन्ध भी रहता है । अतएव विदेह ने कहा है—

यदत्र पटलाभासं सरुजस्कं शिरस्त्वचि । परुषं जायते जन्तोस्तस्य रूपं विशेषतः ॥
तोदैः समन्वितं वातात् सकण्डूगौरवं कफात् । सपिपासं सदाहार्तिरागं पित्तास्रजं तथा ॥

वाग्भट ने इसका वर्णन शिरोरोगों में किया है। लोक भाषा में इसे 'रूसी' (Dandruff) भी कहते हैं।

अरूंषिकालक्षणमाह—

अरूंषि बहुवक्त्राणि बहुक्लेदीनि मूर्ध्नि तु। (सु. नि. १३)
कफासृक्क्रिमिकोपेन नृणां विद्यादरूंषिकाम् ॥ ३१ ॥

कफ, रक्त और कृमियों के प्रकोप से मनुष्यों के सिर में अनेक मुखवाले, स्रावयुक्त अत्यधिक गीले रहने वाले व्रण बन जाते हैं उन्हें **अरूंषिका** कहते हैं ॥ ३१ ॥

अरूंषिकामाह—अरूंषीत्यादिना। अरूंषीति व्रणाः ॥ ३१ ॥

विमर्श—लोक भाषा में इसे 'चाँईचुँआ' कहते हैं। अंग्रेजी में इस अवस्था को सिबोरिया या पिटिरियासिस कैपिटिस (Seborrhoea or Pityriasis capitis) कहते हैं।

पलितरोगमाह—

क्रोधशोकश्रमकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः। (सु. नि. १३)
पित्तं च केशान् पचति पलितं तेन जायते ॥ ३२ ॥

क्रोध, शोक और श्रम से उत्पन्न शरीर की गरमी और पित्त सिर में पहुँच कर बालों को पका देते हैं जिससे पलित रोग (बालों का पकना) उत्पन्न होता है ॥ ३२ ॥

पलितमाह—क्रोधेत्यादि। शरीरोष्मेति देहाग्निः। पित्तं चेति पित्तमपि शिरोगतं पलितहेतुः। ननु, पित्तमेवाग्निः, तत्र तत्र पित्तस्य पाचकत्वेनाभिधानात्; यदुक्तवान् सुश्रुतः–**'न पाकः पित्तादृते'** (सु. सू. १७) **इति, तथा–'पित्ते तस्मिन् पाचकोऽग्निरिति संज्ञा'** (सु. सू. २१) **इति, तथा स एव–'न खलु पित्तव्यतिरेकेणान्योऽग्निरुपलभ्यते, आग्नेये तु पित्ते दहनपचनदारणादिष्वभिवर्तमानेऽग्निवदुपचारः क्रियते अन्तरग्निरिति, क्षीणे ह्यग्निगुणे तत्समानद्रव्योपयोगादतिवृद्धे शीतक्रियोपयोगादागमाच्च पश्यामः न खलु पित्तव्यतिरेकेणान्योऽग्निः'** (सु. सू. २१) **इति;** चरकाचार्योऽप्याह–**'दर्शनं पक्तिरूष्मा च क्षुत्तृष्णा देहमार्दवम्। प्रभाप्रसादौ मेधा च पित्तकर्माविकारजम्'** (च. सू. १८) **इति; पाकस्यान्यथानुपपत्त्या चाग्नेरङ्गीकारः; किंच मन्देऽग्नौ पित्तकरमरीचादिद्रव्योपयोगादग्नेर्वृद्धिः, पित्तप्रतिकूलशीतमधुरादिद्रव्योपयोगाच्चोपशम उपलभ्यते; यदि हि पित्ताद्भिन्नोऽग्निः स्यात्तदा पित्तस्य वृद्धिह्रासानुविधानमस्यानुपपन्नं स्यात्, न हि तुहिनकरमण्डले हिमभाज्यहिमोपलम्भः, अतुहिनमण्डले अहिमभाजि भगवति भास्करेऽभिमतो हिमोपलम्भः, यद्यतो भिन्नं तत्ततो भेदेनोपलभ्यते, यथा सागरादजगरः, न चैवं पित्तादग्निः, तत्कुतः पित्तादग्नेः पृथगुपादानमिति? अत्र प्रत्यभिधीयते–न तावदन्तरग्निः पित्तादभिन्नः भेदसाधकप्रमाणस्य भूयः सद्भावात्; तथाह्यभेदे 'समदोषः समाग्निश्च'** (सु. सू. १५) **इत्यत्र, 'समप्रकोपौ दोषाणां सर्वेषामग्निसंश्रयौ' इत्यत्र च दोषपदलब्धत्वादग्नेः पृथगुपादानमसङ्गतं; तीक्ष्णः पित्तेन चेति स्वात्मनि क्रियाविरोधादसङ्गतं; यत्पुनः 'न खलु पित्तव्यतिरेकेणान्योऽग्निः' इत्याद्युक्तः तद्भेदमेव साधयति, उपचाराभिधानात्, न ह्यभेदे उपचारः संभवति। यदप्यग्नेः पित्तवृद्धिह्रासानुविधानमभिहितं तदप्रयोजकं, भेदेऽपि समानत्वेन तदुपपत्तेः। यथा कफवृद्धिह्रासकरसौम्याग्नेयद्रव्याभ्यां शुक्रस्य वृद्धिह्रासौ दृष्टौ, न च कफशुक्रयोरैक्यं; किंच घृतं पित्तशमनमग्नेश्च दीपनं, पित्तस्य सञ्चयादौ नाग्नेर्वृद्धिः, पेयादिकं चाग्निकरं, न पित्तकृत्;**

ततश्च पित्ताद्भिलक्षणोऽन्तरग्निः। स च द्रवतेजःसमुदायात्मकस्य पित्तस्य तेजोभागो न बहिरनलवद्भस्माङ्गाराकारः, समुदायतश्च समुदायी अन्य एव करचरणादिभ्य इव शरीरं; अत्यन्तभेदेन चाग्रहणं, तस्य नित्यसंश्लेषणशालित्वात्। पित्तस्य तेजोंऽश एव पाच (व) कः, तदाह भोजः-'दृढमुष्णोचितं ह्येतत् पित्तोष्मा पचतीति यत्। मूर्च्छितो रसवीर्याभ्यां समानव्यानसंहितः'-इत्यारभ्य, 'तस्मात् तेजोमयं पित्तं पित्तोष्मा यः स पक्तिमान्। स कायाग्निः स कायोष्मा स पक्ता स च जीवनः'-इति। पित्तैकदेशत्वात्तेजसि पित्तोपचारमाश्रित्य सुश्रुतेनोक्तम्-'न पाकः पित्तादृते'-इति, तथा-'न खलु पित्तव्यतिरेकेणान्योऽग्निः'-इति। एवमन्यदप्यग्नेरभेदसाधकं वचनं समाधेयम्। ननु, यदि तीक्ष्णः पित्तेनेत्युक्तम्, तत् कथं पित्तेनैवाग्नेः प्रशमनमभिधीयते। यदुक्तं चरके-'कट्वजीर्णविदाह्यम्लक्षाराद्यैः पित्तमुल्बणम्। आप्लावयद्धन्त्यनलं जलं तप्तमिवानलम्' (च. चि. १५) इति उच्यते, यदा कटुकेन रूक्षोष्णेन पित्तं वृद्धं भवति, तदा तेजोभागरूपायाः पित्तस्यावस्थाया उल्बणत्वात्तीक्ष्णः पित्तेनेति सङ्गतं;यदाऽम्ललवणेन स्निग्धोष्णेन कफानुगमनभाजा वृद्धं पित्तं तदा पित्तस्य द्रवावस्थाया उद्रिक्तत्वान्निर्वापणमग्नेरुक्तमिति। जतुकर्णेऽप्युक्तं-'कुपितेन वायुना दीपस्येवाग्नेर्निर्वापणं, पित्तेनोष्णजलवत्, कफेनाम्बुवत्' इति। ततश्च युक्तमग्नेः पृथगुपादानमिति। अग्निश्च पित्तगतत्वेन क्रोधकृतो भवत्येव, क्रोधेन पित्तकोपात्; शोकश्रमाभ्यां तु जनितवातेन शरीरोष्मणोऽपि विक्षेपणाच्छिरोगतत्वं, तेनानिलोऽपि लभ्यते, पित्तं च साक्षादुपात्तं, चकारेण श्लेष्माऽपि केशशुक्रताकरो गृह्यते। एतेन दोषत्रयसहितशरीरोष्मा पलितहेतुरिति वाक्यार्थश्चरकोक्तार्थेन सह संवादी भवति। यदाह-'तेजोऽनिलाद्यैः सह केशभूमिं दग्ध्वा तु कुर्यात् खलितिं नरस्य। किंचित्तु दग्ध्वा पलितानि कुर्याद्धरित्प्रभत्वं च शिरोरुहाणाम्' (च. चि. २) इति। एतच्चाकालजपलितव्यापकं लक्षणम्। कालजे तु क्रोधादिग्रहणं कारणान्तरोपलक्षणं, तेन वयःपरिणामकृतश्चोष्मा दोषत्रययुक्तः कालजपलितहेतुः। अन्यथा कालजपलितस्य संग्रहो न स्यात्। किंवा कालजं स्वाभाविकत्वादेव नोच्यते। अन्ये तु पित्तगतश्चेच्छरीरोष्मा तत् किमुभयोरुपादानेनेत्यभिधाय शरीरोष्मा पित्तं चेति कर्तृद्वयमाचक्षते; तेन नात्रैकस्मिन् विषये समुच्चयः, किं तर्हि विषयभेदात्। कर्तृद्वयं-तत्र शरीरोष्मा वैकृतं पलितं करोति, पित्तं च प्राकृतं पित्तप्रकृतेः पलितं करोति। यदुक्तं-'पित्तप्रकृतिरकालजवलीपलितयुक्तश्च भवति' इति। एवं स्वाभाविकजरापलितमपि पित्तेनैवास्य हेतोः क्लृप्तत्वात्। न चोष्मकृतत्वेन पलितस्यादोषजत्वप्रसङ्गः, ऊष्मणः पित्तधर्मत्वेन पित्तेऽन्तर्भावात्॥ ३२॥

विमर्श—पलित रोग के देहोष्मा (अग्नि) और पित्त दोनों ही कारण बताए गए हैं। यहाँ सन्देह होता है कि पित्त और अग्नि दोनों ही एक हैं क्योंकि 'बिना पित्त के पाक नहीं होता' 'पित्त को ही पाचकाग्नि कहते हैं, आदि वचनों के अतिरिक्त सुश्रुत ने सुस्पष्ट शब्दों में कहा है **'न खलुपित्तव्यतिरेकेणान्योऽग्निरुपलभ्यते'** इत्यादि (सु. सू. २१)। तथा मन्दाग्नि में पित्तवर्धक द्रव्यों के प्रयोग से अग्निदीप्ति और पित्तशामक मधुरादि द्रव्यों के प्रयोग से अग्नि की मन्दता होती है अतः पित्त के अनुसार ह्रास और वृद्धि होने से प्रमाणित है कि अग्नि और पित्त भिन्न-भिन्न नहीं हैं। फिर दोनों का यहाँ पृथक्-पृथक् उल्लेख क्यों किया गया है?

इसका उत्तर यह है कि दोनों में भेद है अर्थात् अग्नि और पित्त दोनों एक ही नहीं हैं। दोनों में भेद होने के भी अनेक प्रमाण हैं। जैसे—**समदोषः समाग्निश्च'** आदि वचनों में दोष से अतिरिक्त अग्नि का भी उल्लेख है जो कि दोनों में अभेद होने पर असंगत है। उसी प्रकार पित्त से अग्नि का तीक्ष्ण होना भी स्वात्मनि क्रियाविरोध दोष के कारण असङ्गत है। **'न खलु**

पित्तव्यतिरेकेणान्योऽग्निः' आदि वचन औपचारिक ही हैं अर्थात् सादृश्यपरक हैं और सादृश्य भिन्न-भिन्न पदार्थों में ही किया जाता है अभिन्न में नहीं। पित्तवर्धक या शामक द्रव्यों के प्रयोग से अग्नि की वृद्धि या ह्रास भी पुष्ट प्रमाण नहीं है क्योंकि इसके अनेक अपवाद मिलते हैं। यथा घृत पित्तशामक होते हुए भी अग्निवर्धक होता है; पेयादि द्रव्य अग्निवर्धक होते हुए भी पित्तवर्धक नहीं होते एवं शरीर में पित्तसञ्चय होने पर अग्नि की वृद्धि नहीं होती अतः अग्नि और पित्त दोनों भिन्न हैं एक नहीं। जैसे-कफवर्धक द्रव्यों से शुक्र की वृद्धि और कफनाशक द्रव्यों से शुक्र-ह्रास होता है किन्तु कफ और शुक्र दोनों भिन्न ही हैं एक नहीं। उसी प्रकार पित्त और अग्नि एक ही नहीं हैं। पित्त द्रव (जल) और तेजोमय होता है उसका तेजोंश ही अग्नि है और सूक्ष्म रूप में रहती है अतः वह पित्त का एक अवयव मात्र है और वह सदैव सूक्ष्म ही रहती है। अतएव सुश्रुत ने ही कहा है कि- **'जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः। सौक्ष्म्याद्रसानाददानो विवेक्तुं नैव शक्यते।** (सु. सू. १५) दोनों में अभेद-साधक वचनों का तात्पर्य 'अरुन्धतीदर्शन'न्यायेन शिष्यों की प्रवृत्ति के लिए ही है तथा नित्य सम्बन्ध के कारण और पित्त के दहन पाचनादि गुण उसमें निहित अग्नि के कारण ही होने से पित्त को अग्नि या अग्नि को पित्त भी कह दिया जाता है। इसी का समर्थन भोज आदि के वचनों से भी होता है। **'तस्मात् तेजोमयं पित्तं पित्तोष्मा यः स पक्तिमान्। स कायाग्निः स कायोष्मा स च पक्ता स जीवनः'।**

पित्त से अग्नि का तीक्ष्ण होना बताया गया है (और पित्त में अग्नि होने से वह ठीक भी प्रतीत होता है) किन्तु वृद्ध पित्त को भी अग्निमांद्यका (तीक्ष्णाग्नि को भी अग्निमांद्य का एक भेद मानते हैं) कारण चरक ने बताया है यह कैसे सम्भव है? उसका उत्तर यह है कि जब कटुरस और रूक्षोष्ण द्रव्यों से पित्त की वृद्धि होती है तो उसमें तेजोभाग की अधिकता होने से अग्नि की वृद्धि ही होती है किन्तु जब स्निग्धोष्ण द्रव्यों से पित्त की वृद्धि होती है तो उसमें द्रव (जलीय) भाग की अधिकता रहती है और वह उसी प्रकार अग्नि को मन्द कर देता है जैसे गर्म पानी आग को बुझा देता है।

बालों के सफेद होने को पलित कहते हैं। इसमें पित्त की प्रधानता रहती है। क्रोध से पित्त और शोक तथा श्रम से वायु प्रकुपित होती है। इस प्रकार इसमें वायु का प्रकोप भी कारण है। केशों की सफेदी के लिये कफ भी कारण है अत एव चरक कहते हैं—

तेजोऽनिलाद्यैः सह केशभूमिं दग्ध्वा तु कुर्यात् खलितिं नरस्य।
किंचित्तु दग्ध्वा पलितानि कुर्याद्धरित्प्रभत्वं च शिरोरुहाणाम्॥

यह अकालज पलित का लक्षण है। इसका कारण क्रोध, शोक और भय है। इसे आज कल प्रिमेच्योर ग्रे हेयर (Premature grey hair or canities) कहते हैं। वृद्धावस्था में होनेवाले कालज पलित का कारण आयु के परिणाम से उत्पन्न शरीर की ऊष्मा होती है। पूर्वोक्त कारणों से प्रेरित होकर उत्पन्न वायु के द्वारा रञ्जक द्रव्यों का आवृत हो जाना ही सम्भवतः पालित्य का कारण होता है। This is a senile change which may occur prematurely. But occassionally sudden whitening of the hairs occurs after fright, intense emotion or in consequence of neuralgia. It is probably due to the development of air bubbles, which conceal the Pigments. (F. Taylor.)

युवानपिडकां प्राह—

शाल्मलीकण्टकप्रख्याः कफमारुतरक्तजाः[1]।

१. कोपजाः इति क.।

युवानपिडका यूनां विज्ञेया मुखदूषिकाः ॥ ३३ ॥ (सु. नि. १३)

सेमल के काँटों के समान कफ, वायु और रक्त से जवानों में (चेहरे पर) होनेवाली पिडकायें युवानपिडका या मुखदूषिका कहलाती हैं ॥ ३३ ॥

युवानपिडकालक्षणमाह—शाल्मलीत्यादि। युवानपिडका लोके 'वरण्डका' उच्यते यूनामाननपिडका युवानपिडका, पृषोदरादित्वान्नकारलोपः; एषा च यूनामेव, मुख एव, स्वभावात् ॥ ३३ ॥

विमर्श—'यूनामाननपिडका' यह विग्रह मधुकोषकार ने लिखा है और न का लोप होने से युव (न्) + आन (न) + पिडका युवानपिडका सिद्ध होता है।

आम बोलचाल में इसे 'मुहासा' कहते हैं। त्वचागत मेदपिण्डों का मुख बन्द हो जाने से इनकी उत्पत्ति होती है। मुख की त्वचा में इनकी अधिकता रहती है अतः वहाँ ये अधिक होती हैं। इनकी उत्पत्ति से मुख बहुत भद्दा हो जाता है अतः इन्हें 'मुखदूषिका' भी कहते हैं। जवानी में होने से 'युवान पिडका' कहा जाता है। यहाँ मुख की पिडकाओं का ही वर्णन है। अंग्रेजी में इसे एक्नी वल्गेरिस (Acne vulgaris) कहते हैं। एकनी नामक जीवाणु (Acne Bacillus) के उपसर्ग से इनमें पाक होता है।

पद्मिनीकण्टकं निरूपयति—

कण्टकैराचितं वृत्तं मण्डलं पाण्डुकण्डुरम्। (सु. नि. १३)
पद्मिनीकण्टकप्रख्यैस्तदाख्यं कफवातजम् ॥ ३४ ॥

कमलिनी के काँटों के सदृश काँटों से व्याप्त, गोल, पाण्डुवर्ण के और खुजली युक्त वातकफजन्य मण्डल को पद्मिनीकण्टक कहते हैं ॥ ३४ ॥

पद्मिनीकण्टकमाह—कण्टकैरित्यादि। तदाख्यमिति पद्मिनीकण्टकाख्यम् ॥ ३४ ॥

विमर्श—यह त्वचा पर होने वाला अर्बुद है इसमें उपत्वचा के अंकुरों की वृद्धि होती है। अतः इसे त्वचा का पैपिलोमा (Papilloma of the skin) कहते हैं।

जतुमणिं प्राह—

सममुत्सन्नमरुजं मण्डलं कफरक्तजम्।
सहजं लक्ष्म चैकेषां लक्ष्यो जतुमणिस्तु सः ॥३५॥ (सु. नि. १३)

सपाट या उन्नत, पीडारहित कफरक्तज मण्डल को जतुमणि कहते हैं। कुछ आचार्यों का मत है कि यह जन्मजात (शुभाशुभसूचक) लक्षण है ॥ ३५ ॥

जतुमणिमाह—सममित्यादि। समं मसृणम्। उत्सन्नमुद्गतम्। अयं 'जट्टुल'[1] इति लोके प्रसिद्धः। कफरक्तजमिति प्राधान्येनोक्तम्, तेन चरकोक्तं **त्रिदोषजत्वमप्यस्योपपन्नं भवति। यदुक्तं तेन—'कृष्णः स्निग्धो जतुमणिर्ज्ञेयो वातोत्तरैस्त्रिभिः। अरुजं त्वपरैरुक्तं लक्ष्मेत्याहुर्भिषग्वराः'—इति। सहजं लक्ष्म चैकेषामिति एकेषामाचार्याणां मतेन सहजं लक्ष्म लक्षणं स्त्रीपुंसयोरङ्गभेदेन शुभाशुभफलप्रदं भवति। सहजं शरीरेण सह जातं जन्मकालप्रवृत्तमित्यर्थः ॥ ३५ ॥**

विमर्श—कफ और रक्त इसमें प्रधानतः कारण होते हैं। वैसे तो चरक ने इसे दोषत्रयजनित माना है। लोक-भाषा में इसे 'जट्टुल' या 'लच्छन' कहते हैं। अंग्रेजी में (Congenital mole)

---

१. बहुल इति ख.।

कहते हैं। इसकी उत्पत्ति किसी एक शरीर-देश में संचित अस्वाभाविक रंग द्रव्यों के कारण होती है।

मषकलक्षणमाह—

अवेदनं स्थिरं चैव यस्मिन् गात्रे प्रदृश्यते।
माषवत्कृष्णमुत्सन्नमनिलान्मषकं तु तत् ॥ ३६ ॥ (सु.नि. १३)

शरीर पर जो पीडारहित, स्थिर उड़द के समान काला और उन्नत चिह्न दिखाई देता है उसे मषक कहते हैं। यह वातज होता है ॥ ३६ ॥

मषकलिङ्गमाह—अवेदनमित्यादि। स्थिरं कठिनमिति गयदासः; **अचलमिति युक्तम्** भोजे **मृद्विति पाठात्। मषकमादिशेदिति माषशब्दात् 'इवे प्रतिकृतौ' इति कन्, नैरुक्त्येन च विधिना ह्रस्वत्वम्। अत्र चकारेण कफमेदसी समुच्चीयेते। तथा च** भोजः—**'वातेरिते त्वचि यदा दूष्येते कफमेदसी। श्लक्ष्णं मृदु सवर्णं च कुरुतो मषकं वदेत्' इति ॥ ३६ ॥**

विमर्श—भोज ने मषक को वात-प्रेरित कफ और मेदोदुष्टिजनित माना है। अंग्रेजी में इसे उत्सन्न मोल (Elevated mole) कहते हैं। इसमें रंजक द्रव्यों के साथ कुछ सौत्रिक तन्तु भी संचित होते हैं।

तिलकालकलक्षणं निरूपयति—

कृष्णानि तिलमात्राणि नीरुजानि समानि च।
वातपित्तकफोच्छोषात्तान्विद्यात्तिलकालकान् ॥३७॥ (सु. नि. १३)

वात और पित्त के द्वारा कफ के सूख जाने से (त्वचा में) काले रंग के तिल के बराबर पीडा-रहित सम दिखाई देने वाले चिह्न तिलकालक कहलाते हैं ॥ ३७ ॥

तिलकालकलक्षणमाह—कृष्णानीत्यादि। 'वातपित्तकफोच्छोषात्' इति पाठे वातपित्ताभ्यां हेतुभ्यां कफस्योच्छोषः शोषणं तस्मात्। अन्ये चरकं **दृष्ट्वा 'वातपित्तासृगुच्छोषात्' इति पठन्ति। तथा च** चरकः—**'यस्य पित्तं प्रकुपितं शोणितं प्राप्य शुष्यति। तिलका विप्लवा व्यङ्गा नीलिका चास्य जायते'** (च. सू. १८) **इति; अस्मिन् वचने वातोऽप्यवगन्तव्यः, तेनापि शोषस्य क्रियमाणत्वात्। अन्येऽपि तन्त्रान्तरं दृष्ट्वा 'वातपित्तकफोत्सेकात्' इति पठन्ति। उत्सेकादित्युद्रेकात्। तथाहि तन्त्रान्तरं—'मारुतः पित्तमादाय कफरक्तसमाश्रितः। चिनोति तिलमात्राणि त्वचि ते तिलकालकाः' इति; किंत्वस्मिन्नपि तन्त्रे कफरक्तसमाश्रित इत्यनेन कफरक्तयोराश्रितवातेन पित्तसहितेनोच्छोषादेव तिलकालके कार्ष्ण्यस्य संभवोऽवगम्यते, ततश्च 'वातपित्तकफोच्छोषात्'**[1] **इति पाठो युज्यते। 'वातपित्तरसोद्रेकात्' इति पाठान्तरम् ॥ ३७ ॥**

विमर्श—वात और पित्त के द्वारा कफ के सूख जाने से ये धब्बे बनते हैं। चरक-इसमें रक्त में पित्त का सूखना मानते हैं **'यस्य पित्तं प्रकुपितं शोणितं प्राप्य शुष्यति। तिलका विप्लवा व्यङ्गा नीलिका चास्य जायते ॥** सुश्रुत वात, पित्त और कफ के प्रकोप से इसकी उत्पत्ति मानते हैं। तन्त्रान्तर में भी इस प्रकार के वचन मिलते हैं—

मारुतः पित्तमादाय कफरक्तसमाश्रितः। चिनोति तिलमात्राणि त्वचि ते तिलकालकाः ॥

यह त्वचा का रोग है। इसमें त्वचा में मेलानिन (Melanin) नामक एक पदार्थ जम जाता है। जमी हुई वस्तु को मोल (Mole) कहते हैं। इसके उन्नत (Elevated) और अनुन्नत

१. वातपित्तलवोच्छेदात् इति क.।

(Non-elevated) दो भेद हैं। सम या अनुन्नत को तिल या तिलकालक (Non-eleveted mole) और उन्नत को मसा या मषक (Elevated mole) कहते हैं। जब इनमें से कोई जन्मजात होता है तो उसे जतुमणि कहते हैं।

न्यच्छलक्षणमाह—

महद्वा यदि वा चाल्पं श्यावं वा यदि वाऽसितम्।
नीरुजं मण्डलं गात्रे न्यच्छमित्यभिधीयते ॥ ३८ ॥ (सु. नि. १३)

शरीर में बड़े या छोटे, श्याव या कृष्ण वर्ण के पीडारहित मण्डल को न्यच्छ कहते हैं ॥ ३८ ॥

न्यच्छलिङ्गमाह—महद्वेत्यादि। असितं कृष्णम्। 'नीरुजं मण्डलम्' इत्यस्य स्थाने 'सहजं मण्डलम्' इति केचित् पठन्ति, तेन जन्मकालप्रवृत्तं न्यच्छमिच्छन्ति, अत एव न्यच्छस्य पर्याये लाञ्छनमिति तैः पठ्यते। यथा–'न्यच्छं लाञ्छनमुच्यते' इति। लाञ्छनं लक्षणम्। अत्र भोजवचनात् पित्तरक्तान्वितो वायुः कारणम्। यदाह–'रक्तपित्तान्वितो वायुस्त्वक्प्रदेशाश्रितो यदा। जनयेन्मण्डलं कृष्णं श्यावं वा न्यच्छमादिशेत्' इति। अत्र श्यावत्वपक्षे मुखेतरदेश एव संभवेन बहुलत्वेन व्यङ्गाद्भेदोऽवगन्तव्यः ॥ ३८ ॥

विमर्श—इसे लोकभाषा में झाँई कहते हैं। वाग्भट इसे लाञ्छन भी कहते हैं। सुश्रुत ने इसे सहज माना है। पित्त, रक्त और वायु इसकी उत्पत्ति में कारण हैं यह आचार्य भोज के वचन से स्पष्ट है—

रक्तपित्तान्वितो वायुस्त्वक्प्रदेशाश्रितो यदा। जनयेन्मण्डलं कृष्णं श्यावं वा न्यच्छमादिशेत्।

श्लोक ४० का विमर्श भी देखें।

व्यङ्गं निरूपयति—

क्रोधायासप्रकुपितो वायुः पित्तेन संयुतः।
मुखमागत्य सहसा मण्डलं विसृजत्यतः ॥ ३९ ॥
नीरुजं तनुकं श्यावं मुखे व्यङ्गं तमादिशेत्। (सु. नि. १३)

क्रोध तथा परिश्रम से प्रकुपित हुआ वायु पित्त के साथ मुख पर आकर एकाएक वहाँ पीडारहित, छोटा और श्यामवर्ण का मण्डल बना देता है—उसे व्यङ्ग कहते हैं ॥ ३९ ॥

व्यङ्गलिङ्गमाह—क्रोधायासेत्यादि। श्यावमिति शुक्लानुविद्धकृष्णवर्णम्। अस्य 'छ्यावक' इति 'मेछेता' इति च लोके ख्यातिः ॥ ३९ ॥

नीलिकालक्षणमाह—

कृष्णमेवंगुणं गात्रे मुखे वा नीलिकां विदुः ॥४०॥ (सु. नि. १३)

उपर्युक्त (व्यङ्गके) लक्षणों से युक्त मुख अथवा शरीर के अन्य भाग में होने वाले काले वर्ण के धब्बों को नीलिका कहते हैं ॥ ४० ॥

नीलिकालक्षणमाह—कृष्णमेवंगुणमिति। एवंगुणमिति नीरुजतनुकमण्डलधर्मं; व्यङ्गोक्तदोषोऽत्रापि बोद्धव्यः, संमूर्च्छनविशेषात्तु नीलित्वकारी। कृष्णन्यच्छादतिकृष्णत्वेन भिन्ना नीलिका, व्यङ्गनीलिकयोस्तु व्यक्त एव भेदः–श्यावो व्यङ्गः, कृष्णा नीलिका; भोजे तु नीलिका गात्र एवोक्ता। यदुक्तं–'मारुतः क्रोधहर्षाभ्यामूर्ध्वगो मुखमाश्रितः। पित्तेन सह संयुक्तः करोति वदनत्वचि ॥ नीरुजं तनुकं श्यावं व्यङ्गं तमिति निर्दिशेत्। कृष्णमेवंगुणं गात्रे नीलिकां तां विनिर्दिशेत्'—इति ॥ ४० ॥

विमर्श—व्यङ्ग ही मुखातिरिक्त भाग में होने पर नीलिका कहलाता है। व्यङ्ग श्याव वर्ण का और नीलिका कृष्ण वर्ण की होती है। व्यङ्ग, न्यच्छ और नीलिका ये तीनों एक ही रोग के वर्ण और स्थानभेद से विभिन्न नाम हैं। इनके अतिरिक्त त्वचा में वर्णगत परिवर्तन निरन्तर धूप और रूक्ष वायु के सम्पर्क के कारण हुए अत्यधिक रक्तसञ्चार और तद्गत शोणवर्तुलि के निचय द्वारा प्रभावित रञ्जक द्रव्यों की अधिकता से होता है। इसके अतिरिक्त अधिवृक्कविकार (Addison's disease), लसीकार्बुद एवं कर्कटकार्बुद आदि जनित कृशता (Cachexia), जीर्ण विषमज्वर, अवटुका–ग्रन्थिविकार, सामाभसंधिवात (Rheumatoid arthritis), यकृद्दाल्युदर (Cirrhoris of the liver) आदि रोगों में, कुछ क्षय एवं मधुमेह के रोगियों में एवं मल्लयोगों के सेवन से विषात्मक प्रभाव होता है और उससे त्वग्गत रञ्जक द्रव्यों में परिवर्तन होकर कारणानुरूप अस्थायी या स्थायी वर्णगत परिवर्तन होते हैं। कुछ विचारक इन विषों का प्रभाव सौरमण्डल नाडीचक्र (Solar plexus) द्वारा होता है ऐसा मानते हैं। कभी-कभी त्वचा में धमनी या सिरा की केशिकाओं के गुच्छ भी बन जाते हैं। इनके लिए कोई निश्चित नाम नहीं दिया जा सकता पर Melanodermia, Melasma and Chloasma आदि का समावेश इसी वर्ग में हो सकता है।

परिवर्तिकां वर्णयति—

मर्दनात् पीडनाद्वाऽति तथैवाप्यभिघाततः।
मेढ्रचर्म यदा वायुर्भजते सर्वतश्चरन् ॥ ४१ ॥
तदा वातोपसृष्टत्वात्तच्चर्म परिवर्तते।
मणेरधस्तात् कोशश्च ग्रन्थिरूपेण लम्बते ॥ ४२ ॥
सरुजां वातसंभूतां तां विद्यात् परिवर्तिकाम्।
सकण्डूः कठिना चापि सैव श्लेष्मसमुत्थिता ॥ ४३ ॥

मसलने व अत्यधिक दबाने से तथा चोट लगने से जब सारे शरीर में घूमने वाला (व्यान) वायु विकृत होकर शिश्न के चर्म में पहुँचता है तो वायु से दूषित होने के कारण शिश्नाग्र चर्म पलट जाता है और शिश्नमणि के पीछे चर्मकोश गांठ का रूप धारण करके लटकता है। पीडायुक्त परिवर्तिका को वातिक और खुजली तथा कठिनता से युक्त होने पर इसे कफज परिवर्तिका कहते हैं ॥४१–४३॥

मेढ्रगताभिघातजे रोगत्रये परिवर्तिकामाह—मर्दनादित्यादि। पीडनाद्वाऽतीत्यतिशब्दो मर्दनपीडनाभ्यां सह संबध्यते। अतियोगादेव ते वातं कोपयतः। सर्वतश्चरन्निति व्यानः, 'सर्वतश्चरः'[२] इति पाठे स एवार्थः। परिवर्तत इति सर्वतो विवर्तते। कोष इति चर्मकोषः। परिवर्तिकेति वृतधातोः 'रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम्' इति ण्वुल् (वृत–अक–आप्)। एवमवपाटिकायां च बोद्धव्यम्। अस्यां वातजायामपि पित्तानुबन्धाद्दाहपाकौ भवतः, कफसंबन्धस्तु सकण्डूः कठिना चापीत्यादिनाभिहितः। भोजेऽप्युक्तं–'मणेरधो मेढ्रचर्म व्यानस्तु परिवर्तयेत्। सशूलतोददाहाद्यैर्विज्ञेया परिवर्तिका। श्लैष्मिकी कठिना स्निग्धा कण्डूमत्यल्पवेदना' इति ॥ ४१–४३ ॥

१. सवेदनं सदाहं च पाकं च व्रजति क्वचित्। परिवर्तिकेति तां विद्यात् सरुजां वातसंभवाम् ॥ इति ख.।

२. 'सर्वतश्चरः' इति मुख्योऽस्य पाठः।

विमर्श—परिवर्तिका को आजकल पैराफाइमोसिस (Paraphymosis) कहते हैं। इसके निम्न कारण हैं—

(१) शिश्नचर्म (Prepuce) के द्वार का अत्यधिक सङ्कीर्ण होना। शिश्नचर्म जब शिश्न मणि से संसक्त रहता है उस अवस्था में बलपूर्वक हाथ के दबाव से उसे पीछे हटाने से चर्म शिश्न-मणि के पीछे चला जाता है और वहाँ शोथयुक्त होकर गांठ का रूप धारण कर लेता है। बच्चों और छोटी अवस्था के पुरुषों में यह पाया जाता है।

(२) मैथुन—निरुद्धप्रकश की अवस्था में या सूचीमुखी योनि में वेग से मैथुन करने पर भी चर्म शिश्न मणि के पीछे हट कर पूर्ववत् शोथयुक्त और गठीला हो जाता है।

(३) पूयमेह या फिरंगज व्रण—पूयमेह की तीव्र अवस्था में या फिरंगज व्रण में भी यह अवस्था उत्पन्न हो सकती है। इससे शिश्नमणि और चर्म में शोथ हो जाता है और चर्म शिश्नमणि के पीछे टूर्निकेट (रबर-नलिका जो रक्तावरोधन के निमित्त बन्धनार्थ प्रयुक्त होती है) का कार्य करती है। शिश्नमणि के पीछे दो घेरे दिखाई देते हैं। उनमें नीचे का घेरा लाल होता है जो श्लेष्मलकला से बनता है ऊपर का घेरा पीला होता है और वह चर्म से बनता है। यदि समय पर उपयुक्त चिकित्सा न की जाय तो चर्म संसक्त हो जाता है, व्रण बन जाते हैं और कभी-कभी शिश्न में सड़न भी पैदा हो जाती है।

अवपाटिकां निरूपयति—

अल्पीयःखां यदा हर्षाद्बलाद्गच्छेत् स्त्रियं नरः।
हस्ताभिघातादपि वा चर्मण्युद्वर्तिते बलात् ॥ ४४ ॥
यस्यावपाट्यते चर्म तां विद्यादवपाटिकाम्। (सु. नि. १३)

जब पुरुष छोटे छिद्रवाली स्त्री (छोटे मुख वाली योनि) के साथ जोश में आकर बलपूर्वक मैथुन करता है अथवा हाथ से बलपूर्वक मसल देता है तो उसके जोर से ऊपर चढ़ जाने से शिश्न-चर्म फट जाता है तब उसे अवपाटिका कहते हैं ॥ ४४ ॥

अवपाटिकामाह—अल्पीयःखामित्यादि। अल्पीयःखामित्यल्पतरं खं योनिमुखं यस्याः सा तथा, कन्या ह्यनार्तवा अल्पीयःखा भवति। अत्र हेत्वन्तरं हस्ताभिघातादपि वेति। उद्वर्तित इति ऊर्ध्वं वर्तिते। यस्यावपाट्यत इति स्वयमेव विदीर्यते। एषा च पृथग् दोषत्रयेणानुबध्यते। तथा च भोजः-'मर्दनादभिघाताद्वा कन्यायोनिप्रपीडनात्। लक्ष्यते यदि मेढ्रस्य चर्म दर्भैरिव क्षतम् ॥ ज्ञेयाऽवपाटिका सा तु पृथग्दोषैः समन्विता। वातात् सा परुषा रूक्षा शूलनिस्तोदकारिणी ॥ पित्तात् सदाहा रक्ताद्वा दाहतृष्णासमन्विता। श्लैष्मिकी कठिना स्निग्धा कण्डूमत्यल्पवेदना' इति ॥ ४४ ॥

विमर्श—अवपाटिका भी परिवर्तिका का ही रूप है। इसमें शिश्न चर्म का विदारण हो जाता है और उसमें नहीं होता। चिकित्सा भी दोनों की समान ही बताई गई है। माधव और सुश्रुत ने इसमें किसी दोष की विशेषता का निर्देश नहीं किया किन्तु आचार्य भोज ने इसका वर्णन भी किया है—

'मर्दनादभिघाताद्वा' आदि। सम्पूर्ण पाठ मधुकोष में देखें।

निरुद्धप्रकशमाह—

वातोपसृष्टे मेढ्रे वै चर्म संश्रयते मणिम् ॥ ४५ ॥
मणिश्चर्मोपनद्धस्तु मूत्रस्रोतो रुणद्धि च।

निरुद्धप्रकशे तस्मिन् मन्दधारमवेदनम् ॥ ४६ ॥
मूत्रं प्रवर्तते जन्तोर्मणिर्विव्रियते नच।
निरुद्धप्रकशं विद्यात् सरुजं वातसंभवम् ॥ ४७ ॥ (सु. नि. १३)

वायु से दूषित शिश्न का चर्म शिश्नमणि को आवृत कर लेता है। इस प्रकार चर्म से आवृत मणि मूत्रमार्ग को बन्द कर देता है। इसमें रोगी का मूत्र पीडारहित किन्तु मन्द धार से निकलता है और शिश्नमणि सदा आवृत रहती है। इस वातजन्य और पीडादायक व्याधि को 'निरुद्धप्रकश' कहते हैं ॥ ४५–४७ ॥

निरुद्धप्रकशमाह—वातोपसृष्ट इत्यादि। संश्रयत इति समग्रं श्रयते, अत्रैव नीयत इत्यर्थः। अवपाटिका स्वरूढा चर्मसंकोचान्निरुद्धप्रकशो भवतीति ब्रवते, सन्निरुद्धगुदवत् स्वतन्त्रोऽपि भवतीति शक्यते वक्तुं; निरुद्धप्रकाश इत्यस्मिन्नर्थे निरुद्धप्रकशः, नैरुक्तेन च रूपसिद्धिः। मूत्रस्रोतः संकुचितचर्मपीडनेन मणेः स्वल्पद्वारत्वान्मूत्रस्रोतो रुणद्धि। अवेदनमित्यस्य स्थाने सवेदनमिति केचित्। अत्र भोजा**भिप्रायेण व्याचक्षते-एकदा निरुद्धे स्रोतसि सवेदनमन्यदा तु प्रकाशे मन्दधारं प्रवर्तते, मणिश्च नावदीर्यते मूत्रेणेति। तथा च** भोजः—
'मेढ्रान्ते चर्मणि यदा मारुतः कुपितो भृशम्। द्वारं रुणद्धि स शनैः प्रकाशश्च मुहुर्भवेत् ॥ मूत्रं मूत्रयते कृच्छ्रात् प्रकाशस्तु यदा भवेत्। वातोपसृष्टमेढ्रस्तु मणिर्न च विदीर्यते। निरुद्धं च प्रकाशं च व्याधिं विद्यात् सुदारुणम्' इति। सुश्रुते **तु निरुद्धप्रकाशत्वात् निरुद्धप्रकशः। मणिर्विव्रियते न चेति मणिर्विवृतो न भवति ॥ ४५–४७ ॥**

विमर्श—पीडन, मर्दन और अभिघात इसके भी कारण हैं। शिश्नचर्म का मुख अति सूक्ष्म होता है अतः शिश्नमणि बाहर नहीं निकल सकती।

निरुक्त—निरुद्धप्रकाशत्वात् निरुद्धप्रकशः, (श्रीकण्ठदत्त)। चूँकि शिश्नमणि का प्रकाश में आना रुक जाता है अतः इसे निरुद्धप्रकश कहते हैं। अथवा चर्म के अतिसंकुचित होने से शिश्नमणि पर बाहर का प्रकाश आना अवरुद्ध हो जाता है। वाग्भट इसे निरुद्धमणि कहते हैं; क्योंकि इसमें शिश्नमणि चर्म से अवरुद्ध हो जाती है। सुश्रुत ने दुरूढा अवपाटिका को निरुद्ध-प्रकश कहा है किन्तु यह रोग स्वतन्त्र या सहज और जातोत्तर दुरूढा अवपाटिका आदि से भी हो सकता है।

मूल पाठ की प्रथम पंक्ति में **'वातोपसृष्टे'** कह कर अन्तिम पंक्ति में पुनः **'वातसम्भवम्'** कहना पुनरुक्ति दोषयुक्त तथा तृतीय पंक्ति में **'अवेदनम्'** और अन्तिम पंक्ति में **'सरुजम्'** यह दोनों परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं किन्तु ऐसी बात नहीं है। मेढ्चर्म में संकोच (जो इस रोग का प्रधान कारण और लक्षण भी है) वातकृत ही होता है इसलिए प्रथम पंक्ति में **'वातोपसृष्टे'** कहा। सामान्यतया इस रोग में पीड़ा नहीं होती अतः **'अवेदनम्'** भी कहा। किन्तु भोजमतानुसार अवपाटिका की भाँति निरुद्धप्रकश में भी वायु के साथ अन्य दोषों का भी सम्बन्ध हो सकता है इसका निर्देश करने के लिए तथा आगे चलकर क्षोभ एवं मर्दन आदि के कारण अधिक वात-प्रकोप होने पर पीड़ा की अधिकता हो सकती है अतः अन्तिम पंक्ति में **'सरुजं वातसंभवम्'** कहा है। अन्य दोषों का सम्बन्ध होने पर दोषानुसार दाह, कण्डू आदि भी हो सकते हैं। यह सभी बातें अगली पंक्तियों में स्पष्ट हो जाती हैं।

निरुद्धप्रकश को आजकल फायमोसिस (Phimosis) कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है—

(१) सहज (Congenital) (२) जन्मोत्तरकालज (Acquired)

(१) **सहज**—यह गर्भदोष से होता है। यह बालकों में पाया जाता है। छिद्र यदि बहुत छोटा न हो तो इसके परिणाम बाल्यावस्था में दिखाई नहीं देते। युवावस्था में जब शिश्नोत्थापन होने लगता है उससे इसमें क्षोभ होता है और रोगी हस्तमैथुन का अभ्यासी बन जाता है। इसके अतिरिक्त मैथुन करने में भी कठिनाई होती है। कभी-कभी बलपूर्वक मैथुन करने से अवपाटिका या परिवर्तिका रोग हो जाते हैं। यदि छिद्र अतिसूक्ष्म हुआ तो मूत्रत्याग में भी कष्ट होता है। क्षोभ के कारण बचा शिश्नाग्र को पकड़ कर आगे की ओर खींचता है। इससे अश्मरी के लक्षण प्रतीत होते हैं। त्वचा के नीचे की टायसन (Tyson) नामक ग्रन्थियों से जो स्राव निकलता है उसे स्मिग्मा (Smegma) कहते हैं। यह जम कर कभी-कभी अश्मरी के समान कड़ा पड़ जाता है। इसकी रगड़ से घातक मांसार्बुद होने की सम्भावना रहती है।

जातोत्तर—मैथुनादि कारणों के अतिरिक्त पामा, कच्छू, विचर्चिका आदि में खुजलाने से, अश्मरी में शिश्नाग्रचर्म को मलने से, पूयमेह और फिरंग के उपसर्ग से, मूत्रमार्ग के संकोच, अष्ठीलावृद्धि एवं शिश्नचर्म की अस्वच्छता आदि के कारण उत्पन्न खुजलाहट से भी शिश्नाग्र त्वचा में व्रण बन जाते हैं और उनका रोहण होने पर जो व्रणवस्तु बनती है उसके संकोच से निरुद्धप्रकश उत्पन्न हो जाता है। इसमें भी सहज निरुद्धप्रकश के समान ही लक्षण, वेदना और उपद्रव हो सकते हैं।

सन्निरुद्धगुदमाह—

वेगसंधारणाद्वायुर्विहतो गुदसंश्रितः।
निरुणद्धि महास्रोतः सूक्ष्मद्वारं करोति च ॥ ४८ ॥
मार्गस्य सौक्ष्म्यात् कृच्छ्रेण पुरीषं तस्य गच्छति।
सन्निरुद्धगुदं व्याधिमेतं विद्यात् सुदारुणम् ॥ ४९ ॥ (सु. नि. १३)

मल एवं अपानवायु का वेग धारण करने से प्रकुपित हुआ वायु गुदा में पहुँचकर महास्रोत (आन्त्र) के मार्ग को अवरुद्ध कर द्वार को सूक्ष्म कर देता है। मार्ग के संकीर्ण हो जाने से मल कठिनता से निकलता ह। इस भयंकर व्याधि को सन्निरुद्धगुद कहते हैं ॥ ४८-४९ ॥

मूत्रमार्गरोधकनिरुद्धप्रकशानन्तरं पुरीषमार्गरोधकं सन्निरुद्धगुदमाह-वेगसंधारणादित्यादि। तस्येति गुदस्य। 'महत्स्रोत' इति पाठे तु महत्स्रोतो गुदविवरं, निरुद्धप्रकशवदत्रापि चर्मसंकोचात् सन्निरुद्धगुदम् ॥ ४८-४९ ॥

विमर्श—इसे मलाशयसंकोच (Stricture of the rectum) कहते हैं। प्रवाहिका, अतिसार, अर्श, भगन्दर तथा मलाशय के फिरङ्ग और राजयक्ष्मा से गुदा में व्रण, व्रणवस्तु (Scar) तथा संकोच (Stricture) बन जाने से यह अवस्था उत्पन्न होती है। इसमें निम्न लक्षण होते हैं—

(१) विबन्ध यह प्रारम्भिक लक्षण है।
(२) फिर कभी विबन्ध और कभी अतिसार।
(३) मल-त्याग में कष्ट।
(४) मल कड़ा, चपटा और फीते के समान पतला होता है।

(५) कुछ दिन बाद मल के साथ आम और रक्त भी गिरता है।
(६) अग्निमान्द्य और आध्मान।

कभी-कभी गर्भदोष से जन्म से ही गुदमार्ग बन्द रहता है जिसे अंग्रेजी में (Imperforated anus) कहते हैं। इसका भी समावेश संनिरुद्धगुद में ही किया जा सकता है।

अहिपूतनलक्षणमाह—

शकृन्मूत्रसमायुक्तेऽधौतेऽपाने शिशोर्भवेत्।
स्विन्ने वाऽस्नाप्यमाने वा कण्डू रक्तकफोद्भवा॥ ५०॥
कण्डूयनात्ततः क्षिप्रं स्फोटः स्रावश्च जायते।
एकीभूतं व्रणैर्घोरं तं विद्यादहिपूतनम्॥ ५१॥ (सु. नि. १३)

मल और मूत्र से लिप्त बालक की गुदा के प्रक्षालन न करने पर अथवा पसीना आने पर भी न धोने पर गुदा में रक्तकफजन्य खुजली पैदा हो जाती है। खुजलाने से शीघ्र ही वहाँ फुन्सियाँ और स्राव उत्पन्न हो जाता है। इन फुन्सियों के अनेक व्रणों से युक्त इस गुदा को अहिपूतन कहते हैं॥

अहिपूतनमाह—शकृन्मूत्रेत्यादि। अपान इति गुदे, स्विन्ने स्वेदवति, अस्नाप्यमाने अक्रियमाणक्षालने; स्वेदमलक्लेदादेव कण्डूर्भवतीत्यर्थः। एकीभूतमिति अपानं व्रणैः सहैकीभूतम्। अहिपूतनं च बालानामेव भवति, भोजे पुनरिदं दुष्टस्तन्यपानादपि भवतीति पठितम्। यदुक्तं-'दुष्टस्तन्यस्य पानेन मलस्याक्षालनेन च कण्डूदाहरुजावद्भिः पिडकैश्च समाचिताः॥ संभवन्ति यथादोषं दारुणा ह्यहिपूतना' इति॥ ५०-५१॥

विमर्श—यह रोग बालकों में ही पाया जाता है। दूषित दुग्ध का पान तथा मलद्वार की अस्वच्छता को इसका प्रधान कारण माना है। इसमें खुजली के साथ दाह और पीड़ा भी होती है। इस दुग्ध के पीने से बच्चे को खट्टे और जलन करने वाले दस्त होते हैं। आधुनिक विद्वान् इसे नैपकीन रैश (Napkin Rash) या सोर बटक (Sore buttocks) कहते हैं।

वृषणकच्छूं निरूपयति—

स्नानोत्सादनहीनस्य मलो वृषणसंस्थितः।
यदा प्रक्लिद्यते स्वेदात् कण्डूं जनयते तदा॥ ५२॥
कण्डूयनात्ततः क्षिप्रं स्फोटः स्रावश्च जायते।
प्राहुर्वृषणकच्छूं तां श्लेष्मरक्तप्रकोपजाम्॥ ५३॥ (सु. नि. १३)

स्नान और उबटन न करने वाले व्यक्ति का अण्डकोष पर स्थित मल स्वेद के सम्पर्क से गीला होकर खुजली उत्पन्न करता है। इसके बाद खुजाने से जल्दी ही फुन्सियाँ होकर स्राव निकलने लगता है। इस कफ और रक्त के प्रकोप से उत्पन्न व्याधि को वृषणकच्छू कहते हैं॥ ५२-५३॥

अहिपूतनसमानहेतुलिङ्गतया गुदाश्रयं गुदभ्रंशमुल्लङ्घ्यानन्तरं वृषणकच्छूमाह—स्नानोत्सादनहीनस्येत्यादि। एषा च निदानविशेषात् प्रायो वृषणभावित्वाद्विशिष्टचिकित्सोपयोगित्वाच्च कुष्ठोक्तकच्छूतो भेदेन पठ्यते॥ ५२-५३॥

विमर्श—कुष्ठ प्रकरण में भी कच्छू का वर्णन किया गया है। निदान तथा चिकित्सा में भेद होने से इसका पृथक् वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त इसका स्थान केवल वृषण ही है। इसे अण्डकोष का एक्जिमा (Eczema of the scrotum) कहते हैं।

गुदभ्रंशं लक्षयति—

प्रवाहणातीसाराभ्यां निर्गच्छति गुदं बहिः।
रूक्षदुर्बलदेहस्य गुदभ्रंशं तमादिशेत् ॥ ५४ ॥ (सु. नि. १३)

रूक्ष एवं दुर्बल शरीर वाले रोगी की गुदा प्रवाहण (कांखने) तथा अतिसार से बाहर निकल आती है, उसे गुदभ्रंश कहते हैं ॥ ५४ ॥

गुदभ्रंशलिङ्गमाह—प्रवाहणेत्यादि। प्रवाहणं प्रकर्षेण कुन्थनम्। 'वाह प्रयत्ने' इत्यस्य रूपम्। प्रवाहणेनातिवेगोदीरणेन वातकोपः, अतीसारेण तु धातुक्षयात्; यदि वा प्रवाहणेनातीसारेण चाधोगतमारुतत्वेन गुदनिर्गमो रूक्षादिदेहस्य ॥ ५४ ॥

विमर्श—यह अधिकतर बच्चों में होता है। कभी-कभी युवा व्यक्तियों में भी पाया जाता है। इसे प्रोलैप्स आफ दि रेक्टम (Prolapse of the rectum) कहते हैं। इसके दो भेद हैं—

(१) अपूर्ण भ्रंश (Incomplete or Partial prolapse)—इसमें गुदा की केवल श्लेष्मल कला का ही भ्रंश होता है। यह प्रकार युवकों में अधिक पाया जाता है।

(२) पूर्ण भ्रंश (Complete prolapse)—इसमें श्लेष्मल कला के साथ गुदा की सम्पूर्ण भित्ति का भी भ्रंश हो जाता है। यह प्रकार बच्चों में अधिक होता है।

कारण—

(१) जिन रोगों में प्रवाहण और अतिसरण अधिक होता है वे सब इस गुदभ्रंश के कारण हैं—यथा-प्रवाहिका, अतिसार, कृमि विकार, अर्श, विबन्ध, अश्मरी, अष्ठीलावृद्धि (Enlarged prostate), मूत्रमार्ग का संकोच तथा गुदसंकोचनी पेशी की दुर्बलता।

(२) रूक्षता व शारीरिक दुर्बलता करने वाले रोग—यथा अतिसार, प्रवाहिका, कुक्कुर खांसी, रोमान्तिका। इनसे शरीर दुर्बल तथा मेदरहित हो जाता है। अन्ततोगत्वा गुदा भी रूक्ष और दुर्बल हो जाती है। मलत्याग के समय वह स्थिर नहीं रह पाती और बाहर निकल आती है।

वराहदंष्ट्रलक्षणमाह—

सदाहो रक्तपर्यन्तस्त्वक्पाकी तीव्रवेदनः। (सु. नि. १३)
कण्डूमाञ् ज्वरकारी च स स्याच्छूकरदंष्ट्रकः ॥ ५५ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने क्षुद्ररोगनिदानं समाप्तम् ॥ ५५ ॥

दाहयुक्त, चारों ओर से लाल, त्वचा का पाक कराने वाला, तीव्रवेदना, खुजली और ज्वर इन लक्षणों से युक्त रोग शूकरदंष्ट्रक (वराहदाढ़) कहलाता है ॥ ५५ ॥

वराहदंष्ट्रलिङ्गमाह—सदाह इत्यादि। अयं 'वराहदाढ' इति लोके प्रसिद्धः ॥ ५५ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां क्षुद्ररोगनिदानं समाप्तम् ॥ ५५ ॥

अथ मुखरोगनिदानम्

मुखरोगाणां सामान्यमुत्पादकहेतुमाह—

आनूपपिशितक्षीरदधिमत्स्यातिसेवनात् ।
मुखमध्ये गदान् कुर्युः क्रुद्धा दोषाः कफोत्तराः ॥ १ ॥

आनूपमांस, दूध, दही तथा मछलियों के अत्यधिक सेवन से कुपित हुए कफप्रधान दोष मुख में रोगों को उत्पन्न करते हैं ॥ १ ॥

रोगगणत्वसामान्यान्मुखरोगनिदानमुच्यते–आनूपेत्यादि। मुखरोगाश्च पञ्चषष्टिर्भवन्ति। यदाह भोजः–'दन्तेष्वष्टावोष्ठयोश्च मूलेषु दश पञ्च च। नव तालुनि जिह्वायां पञ्च सप्तदशामयाः। कण्ठे त्रयः सर्वसरा एकषष्टिश्चतुःपरा' इति ॥ १ ॥

विमर्श—सुश्रुत तथा भोज ने ६५ मुख रोगों का वर्णन किया है **'मुखरोगाः पञ्चषष्टिः सप्तस्वायतनेषु, तत्रायतनानि ओष्ठौ, दन्तमूलानि, दन्ताः, जिह्वा, तालु, कण्ठः सर्वाणि चेति'।** मुख के ओष्ठ आदि सात भागों में ये रोग होते हैं। उनमें से ओष्ठों में ८, मसूढ़ों में १५, दाँतों में ८, जिह्वा में ५, तालु में ९, गले में १७ और सम्पूर्ण मुख में ३ रोग होते हैं।

वाग्भट के अनुसार पूर्वोक्त अधिष्ठानों के अतिरिक्त गण्ड आठवां अधिष्ठान है और मुख रोगों की संख्या ७५ है। इनमें से ओष्ठों में ११, कपोल में १, मसूढ़ों में १३, दांतों में १०, जिह्वा में ६, तालु में ८, कण्ठ में १८ और सारे मुख में ८ रोग होते हैं– **एकादशैको दश च त्रयोदश तथा च षट्। अष्टावष्टादशाष्टौ च क्रमात्'।** (अ० सं०)

मुखरोग

रोग	सुश्रुत	वाग्भट	भोज
१ ओष्ठरोग	८	१२ (१ गण्डगत)	८
२ दन्तरोग	८	१०	८
३ दन्तमूलरोग	१५	१३	१५
४ जिह्वारोग	५	६	५
५ तालुरोग	९	८	९
६ कण्ठरोग	१७	१८	१७
७ सर्वसररोग	३	८	३
	६५	७५	६५

वाग्भट ने खण्डौष्ठ, जलार्बुद, गण्डालजी एवं अर्बुद इन चार अतिरिक्त ओष्ठविकारों का उल्लेख किया है जिनका वर्णन आगे किया जायगा।

पूर्वोक्त श्लोक में मुखरोगों के जो कारण बताए गए हैं वे प्रायः सभी कफवर्धक हैं अतः कफप्रधान दोष ही मुखरोग के उत्पादक भी बताए गए हैं किन्तु ये सभी कारण प्रधानतया कफवर्धक होते हुए भी रस-वीर्य-विपाक-प्रभाव आदि के द्वारा दूसरों (पित्त और वायु) को भी प्रकुपित कर सकते हैं **(एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्)** और रोग की अभिव्यक्ति के समय जिन दोषों के लक्षणों की प्रधानता होती है उन्हीं के अनुसार उनका वातिक आदि नामकरण होता है।

तत्राष्टावोष्ठगतानाह—

वातिकौष्ठलक्षणमाह—

कर्कशौ परुषौ स्तब्धौ संप्राप्तानिलवेदनौ ।
दाल्येते परिपाट्येते ओष्ठौ मारुतकोपतः ॥ २ ॥

वायु के प्रकोप से होठ खुरदरे, कड़े, जकड़े हुए एवं वातिक वेदनायुक्त होते हैं और होठों की त्वचा फट जाती है ॥ २ ॥

वातिकलक्षणमाह—कर्कशावित्यादि। दाल्येते इति विदार्येते। परिपाट्येते इति किंचिदवदीर्णत्वचौ भवत इत्यर्थः ॥ २ ॥

विमर्श—इसे क्रैक्डलिप्स (Cracked lips) कहते हैं। यहाँ व्याकरण की दृष्टि से सुश्रुतोक्त **'परिपाट्येते ह्योष्ठौ'** यही पाठ ठीक है। 'हि' के बिना पाठ व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है।

पित्तजमोष्ठलक्षणमवतारयति—

चीयेते पिडकाभिश्च सरुजाभिः समन्ततः ।
सदाहपाकपिडकौ पीताभासौ च पित्ततः ॥ ३ ॥ (सु.नि.१६)

पित्तज ओष्ठप्रकोप में होठ चारों ओर से पीडायुक्त पिडकाओं से व्याप्त हो जाते हैं। पिडकाओं में जलन और पाक होता है और होठ पीले होते हैं ॥ ३ ॥

पैत्तिकलक्षणमाह—चीयेते इत्यादि। सरुजाभिरिति पित्तकृतरुजान्विताभिः। यद्येवं सदाहपाकपिडकाविति किमर्थमुच्यते? पूर्वेणैव गतार्थत्वात्। नैवं, पक्षान्तरप्रतीत्यर्थं पुनरुच्यते; अयमर्थः—कदाचित् पित्तरुजान्वितबहुपिडकाचितावोष्ठौ कदाचिद्दाहपाकान्वितपिडकाचितौ वा भवतः; अन्यस्त्वाह—अनतिभिन्नार्थत्वादव्यक्तशब्दार्थत्वाच्च दाहपाकातिशयदर्शनार्थं पिडकानुवादः ॥ ३ ॥

कफजमोष्ठप्रकोपमाह—

सवर्णाभिश्च चीयेते पिडकाभिरवेदनौ । (सु. नि. १६)
भवतस्तु कफादोष्ठौ पिच्छिलौ शीतलौ गुरु च ॥ ४ ॥

कफज ओष्ठप्रकोप में ओष्ठ त्वचा के वर्ण की पिडकाओं से व्याप्त रहते हैं। उनमें किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होती और वे चिपचिपे, ठण्डे और भारी होते हैं ॥ ४ ॥

कफजमाह—सवर्णाभिरित्यादि। सवर्णाभिरिति ओष्ठसमानवर्णाभिः। अवेदनौ ईषद्वेदनौ ॥ ४ ॥

सान्निपातिकमोष्ठप्रकोपं निरूपयति—

सकृत्कृष्णौ सकृत्पीतौ सकृच्छ्वेतौ तथैव च ।
सन्निपातेन विज्ञेयावनेकपिडकाचितौ ॥५॥ (सु. नि. १६)

सन्निपातज ओष्ठप्रकोप में ओष्ठ कभी काले, कभी पीले और कभी सफेद होते हैं तथा अनेक प्रकार की पिडकाओं से व्याप्त रहते हैं ॥ ५ ॥

सान्निपातिकलक्षणमाह—सकृदित्यादि। सकृदिति कदाचिद्विकृतिवशादेवं भवति अनेकपिडिकाचिताविति वातादिवेदनान्वितबहुपिडकौ, अनेकवर्णपिडकाचितावित्यन्ये;

अनेकाश्च वर्णा वातादीनां कृष्णपीतश्वेताः, अत्र पक्षे सकृत्कृष्णावित्यादिपिडकातोऽन्यत्र कल्पनीयम् ॥ ५ ॥

विमर्श—पित्तज, कफज और सन्निपातज ओष्ठप्रकोप को हर्पिस लेबियालिस (Herpes Labialis) के अवस्थाभेद कह सकते हैं। यह रोग अधिकतर फुफ्फुसपाक (Lober pneumonia), विषमज्वर (Malaria) तथा मस्तिष्कसुषुम्नाज्वर (Cerebro-spinal fever) में पाया जाता है।

रक्तजमोष्ठप्रकोपं प्राह—

खर्जूरफलवर्णाभिः पिडकाभिर्निपीडितौ ।
रक्तोपसृष्टौ रुधिरं स्रवतः शोणितप्रभौ ॥ ६ ॥ (सु. नि. १६)

रक्त से दुष्ट होठ खर्जूर के फल के समान वर्ण वाली पिडकाओं से व्याप्त, रक्त का स्राव करने वाले और रक्त के रंग के होते हैं ॥ ६ ॥

रक्तजमाह—खर्जूरेत्यादि। खर्जूरफलवर्णाभिरित्यनेन वर्णमात्रेणैव साधर्म्यं प्रतिपाद्यते, यदि तु सर्वात्मना साधर्म्यमभीष्टं स्यात्, तदा 'खर्जूरफलतुल्याभिः' इत्येवोच्येत। रक्तोपसृष्टाविति रक्तदूषितौ ॥ ६ ॥

विमर्श—इसे होठ के इपिथीलियोमा (Epitheleoma) का प्रकार कह सकते हैं। वाग्भटोक्त अर्बुद रोग का समावेश लक्षणसादृश्य से प्रायः इसी में हो सकता है। **'खर्जूरसदृशं चात्र क्षीणे रक्तेऽर्बुदं भवेत्'**।

मांसजमाह—

गुरू स्थूलौ मांसदुष्टौ मांसपिण्डवदुद्गतौ ।
जन्तवश्चात्र मूर्च्छन्ति नरस्योभयतो मुखात् ॥७॥ (सु. नि. १६)

मांस से दूषित होठ भारी, मोटे तथा मांसपिण्ड के समान उभरे हुए होते हैं। रोगी के मुख के दोनों ओर कृमि पड़ जाते हैं ॥ ७ ॥

मांसजमाह—गुरू स्थूलावित्यादि। जन्तवश्चात्र मूर्च्छन्तीति क्रिमयोऽप्यत्र उच्छ्रिता भवन्ति। उभयतो मुखादिति मुखविवरमपेक्ष्योभयभागयोः, सृक्कणीप्रदेशयोरिति यावत्। मुखादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी। 'उभयतोमुखा' इति पाठान्तरे उभयसृक्कणीभागो मुखमाश्रयो येषां ते तथा। द्विमुखा इत्यन्ये ॥ ७ ॥

विमर्श—यह भी इपिथीलियोमा का ही प्रकार है। मूल श्लोक में **'उभयतो मुखात्'** का अर्थ कुछ लोग मुखछिद्र के दोनों कोण तथा कुछ लोग **'उभयतोमुखाः'** यह पाठकर उभय (दोनों) ओष्ठ भाग हैं मुख (आश्रय) जिनके अर्थात् दोनों ओठों में ऐसा अर्थ करते हैं। कुछ लोग उभयतो मुख का अर्थ दोनों ओर मुख (छिद्र) वाले (द्विमुख) मानते हैं।

आजकल मुख के पार्श्व में प्रायः गण्ड भाग में एक विकार मिलता है जिसमें बाहर और भीतर दोनों ओर मुख होने से गण्ड में एक छिद्र बन जाता है और इसमें सड़न और तीव्र दुर्गन्धि होती है क्रिमि-संसर्ग भी हो जा सकता है और इसे (Cancrum oris) कहते हैं। यह कालज्वर (Kala azar) के उपद्रव रूप में बहुधा मिलता है। सम्भवतः इसी का वर्णन मूल श्लोक में अभीष्ट है।

मेदोजमोष्ठलक्षणमाह—

सर्पिर्मण्डप्रतीकाशौ मेदसा कण्डुरौ गुरू।
अच्छं स्फटिकसंकाशमास्रावं स्रवतो भृशम् ॥ ८ ॥
तयोर्व्रणो न संरोहेन्मृदुत्वं च न गच्छति। (सु. नि १६)

मेदजन्य ओष्ठ प्रकोप में होठ घृतमण्ड (घृत का ऊपरी स्वच्छ भाग) के वर्ण के समान, खुजली युक्त और भारी होते हैं। उनसे स्फटिक के समान स्वच्छ स्राव बहुत अधिक निकलता है। इस प्रकार के होठों के व्रण का रोपण नहीं होता और न तो वे मृदु ही होते हैं ॥ ८ ॥

मेदोजमाह—सर्पिर्मण्डप्रतीकाशावित्यादि। सर्पिर्मण्डप्रतीकाशाविति सर्पिर्मण्डो घृतस्योपरितनः स्वच्छभागः, तत्प्रतीकाशौ तत्सदृशौ। तयोरिति तादृशयोः ॥ ८ ॥

विमर्श—यह अवस्था आधुनिक मैक्रोचीलिया (Macrocheilia) से मिलती है जो कि अवटुका ग्रन्थि विकृति के कारण उत्पन्न मिश्रित दोष (Myxœdema) वामनता (Cretinism) और शाखा-बृहती (Acromegaly) में पायी जाती है।

अभिघातजमोष्ठं निरूपयति—

क्षतजाभौ विदीर्येते पाट्येते चाभिघाततः ॥ ९ ॥
ग्रथितौ च तथा स्यातामोष्ठौ कण्डूसमन्वितौ। (सु. नि. १६)

चोट लग जाने से होठ क्षत के समान विदीर्ण या रक्तवर्ण, फटे और छिले हुए गांठदार तथा खुजलीयुक्त होते हैं ॥ ९ ॥

अभिघातजमाह—क्षतजाभावित्यादिना। अत्र कफरक्तयोरप्यनुबन्धो बोद्धव्यः। यदुक्तं भोजे, **'क्षतावभिहतौ वापि रक्तावोष्ठौ सवेदनौ। भवतः सपरिस्रावौ कफरक्तप्रदूषितौ'- इति। वायुरप्यत्राभिघाताल्लभ्यते, अयं चाभिघातजशोथाद्यथोक्तलक्षणकारणभेदेन तथा वातिकौष्ठप्रकोपादपि कफरक्तरूपहेतुभेदयोगाद्भिद्यते ॥ ९ ॥**

विमर्श—इसमें कफ और रक्त का अनुबन्ध रहता है यह आचार्य भोज के कथन से स्पष्ट है— **क्षतावभिहतौ वापि रक्तावोष्ठौ सवेदनौ। भवतः सपरिस्रावौ कफरक्तप्रदूषितौ।** अर्थात् क्षत और अभिघात जनित ओष्ठ रक्तवर्ण के, पीडा एवं स्राव युक्त और कफ तथा रक्त से दूषित होते हैं।

वाग्भट ने जिन चार ओष्ठ रोगों का अतिरिक्त वर्णन किया है वे निम्नलिखित हैं—

(१) खण्डौष्ठ—**तत्र खण्डौष्ठ इत्युक्तो वातेनौष्ठो द्विधा कृतः।** अर्थात् वातप्रकोप से ओष्ठ के (सहज) दो भाग हो जाते हैं उसको खण्डौष्ठ कहते हैं। आजकल इसे शशौष्ठ (Hare lip) कहते हैं। यह सहज विकार है। गर्भ की आरम्भिक अवस्था में ओष्ठ के दक्षिण और वाम भाग अलग-अलग रहते हैं जो बाद में आपस में मिल जाते हैं। कभी-कभी इनके न मिलने से जन्मोत्तर दोनों के बीच में अन्तर रह जाता है। इनको मिलाने के लिए शस्त्र कर्म करना पड़ता है। कुछ विद्वान् इसे सहज वातविकृति जनित होने से सुश्रुतोक्त वातिकोष्ठ के भीतर समाविष्ट मानते हैं पर निदान एवं चिकित्सावैशिष्ट्य से इसे पृथक् मानना ही उचित है।

(२) अर्बुद—यह वस्तुतः रक्तज ओष्ठ रोग का ही अवस्था भेद है—**रक्तोपसृष्टौ रुधिरं स्रवतः शोणितप्रभौ। खर्जूरसदृशं चात्र क्षीणे रक्तेऽर्बुदं भवेत् ॥**

(३) जलार्बुद—**जलबुद्बुदवद्वातकफादोष्ठे जलार्बुदम्** (अ. हृ. उ. तं. २१) यह आधुनिक ओष्ठगत श्लेष्मग्रन्थि (Mucous cyst) है। उपेक्षित और गम्भीर मूल होने पर अर्बुद रूपमें परि-

णत होने की आशंका से सम्भवतः सुश्रुत ने इसका अन्तर्भाव रक्तज या मांसज भेद में ही कर लिया होगा । किन्तु यह साध्य और अन्य अर्बुद प्रायः असाध्य हैं अतः इसे भिन्न ही मानना उचित है ।

(४) **गण्डालजी—स्थिरः शोफो गण्डे दाहज्वरान्वितः ।** (अ. हृ. उ. तं. २१) यहाँ अलजी शब्द से ही स्पष्ट है कि इसमें चिरकारिता और पुनः पुनः उत्पत्ति की प्रवृत्ति होती है । अन्ततोगत्वा यह उभयतोमुखी हो सकती है । सम्भवतः इन्हीं कारणों से सुश्रुत ने इसका समावेश मांसज भेद में कर लिया होगा ।

दन्तमूलगतान् पञ्चदश रोगान् व्याकरोति—

शोणितं दन्तवेष्टेभ्यो यस्याकस्मात्प्रवर्तते ।
दुर्गन्धीनि सकृष्णानि प्रक्लेदीनि मृदूनि च ॥ १० ॥
दन्तमांसानि शीर्यन्ते पचन्ति च परस्परम् ।
शीतादो नाम स व्याधिः कफशोणितसंभवः ॥११॥ (सु. नि. १६)

जिस रोगी के मसूड़ों से अकारण रक्त निकलता है और जिसके मसूड़े दुर्गन्धित, काले, गीले और मृदु होकर गिरने लगते हैं तथा एक दूसरे को पका देते हैं, इस कफरक्तज व्याधि को शीताद कहते हैं ॥ १०-११ ॥

शीतादमाह—शोणितमित्यादि । दन्तवेष्टेभ्य इति दन्तबन्धनमांसेभ्यः । अकस्मादिति अभिघातादिनिमित्तं विना । 'शीर्यन्त' इत्यस्य स्थाने, 'पच्यन्त' इति गदाधरः, **व्याचष्टे च-'स्वयं' इति** शेषः । **पचन्ति च परस्परमित्यन्योन्यं पचन्ति, पाकोष्मदूषितशोणितसंचरणेन'॥**

विमर्श—इसमें मसूड़ों से बिना किसी अभिघात या क्षत के ही खून जाया करता है । आज कल इस अवस्था को स्पंजी गम्स (Spongy gums) कहते हैं । मुख की अस्वच्छता, अशुद्ध पारद सेवन एवं जीवतिक्ति 'ग' (Vitamin C) की कमी से उत्पन्न स्कर्वी नामक रोग इसके मुख्य कारण हैं।

दन्तपुप्पुटकं वर्णयति—

दन्तयोस्त्रिषु वा यस्य श्वयथुर्जायते महान् ।
दन्तपुप्पुटको नाम स व्याधिः कफरक्तजः ॥ १२ ॥ (सु. नि. १६)

जिस व्यक्ति के दो या तीन दाँतों के मूल में बड़ी सूजन हो जाती है उस कफरक्तजन्य व्याधि को दन्तपुप्पुटक समझना चाहिये ॥ १२ ॥

दन्तपुप्पुटकमाह—दन्तयोरित्यादि । अयं च दन्तयोस्त्रिष्वित्यभिधानात् द्वित्रिदन्तनियतः, कफरक्तजत्वेऽपि शौषिराद्भिन्नोऽयं, रुजालालास्रावाभावात् ॥ १२ ॥

विमर्श—कफरक्तज होते हुये भी यह शौषिर रोग से भिन्न है; क्योंकि इसमें पीड़ा और लाला स्राव का अभाव होता है । यह दो या तीन दाँतों के मसूड़ों तक ही सीमित रहता है । अष्टांगसंग्रहकार ने दन्तविद्रधि नाम का भी एक मसूड़ों का रोग बताया है । वह त्रिदोषज और इससे अधिक गहराई में स्थित होता है । कभी-कभी हनु अस्थि तक पहुंच कर उसका भी विनाश (Necrosis of the jaw) कर देता है । किन्तु दन्तपुप्पुटक उत्तान धातुओं में होने वाला एक सीमित रोग है । मसूड़े का भेदन करके फूटता है । इसे गम ब्वायल (Gum boil) कह सकते हैं।

दन्तवेष्टं निरूपयति—

स्रवन्ति पूयरुधिरं चला दन्ता भवन्ति च ।

दन्तवेष्टः स विज्ञेयो दुष्टशोणितसंभवः ॥ १३ ॥ (सु. नि. १६)

मसूढ़ों से पूयमिश्रित रक्त निकलता है और दाँत हिलने लगते हैं (और पाक भी होता है)। दूषित रक्त से उत्पन्न इस रोग को दन्तवेष्ट कहते हैं ॥ १३ ॥

दन्तवेष्टमाह—स्रवन्तीत्यादि। स्रवन्ति पूयरुधिरमित्यत्र 'दन्तमूलानि' इति शेषः। चला दन्ता भवन्ति चेति चकारेण पचन्ति चेति द्रष्टव्यम् ॥ १३ ॥

विमर्श—लक्षणों के अनुसार इसे आजकल 'पायोरिया एलवियोलेरिस' (Pyorrhoea alveolaris) कहते हैं। यह एक मसूढ़ों का रोग है। इसमें दाँत और मसूढ़ों के बीच में पूय एकत्रित हो जाता है। भोजनोत्तर मुख स्वच्छ न करने से खाद्य के सूक्ष्म कण दन्तमूल में एकत्रित होकर सड़ने लगते हैं और पुनः मालागोलाणु (Streptococcus viridans) के उपसर्ग से वहाँ शोथ उत्पन्न हो जाता है। जीवाणुजन्य विष-धातुओं का नाश करके गड्ढे बना देता है जिससे दाँत और मसूढ़े के बीच में पूय का पर्याप्त सञ्चय हो जाता है। अन्ततोगत्वा दन्तखात (Teeth-Sockets) पूर्णतया नष्ट हो जाती है जिससे दाँत हिलने लगते हैं **(चला दन्ता भवन्ति)**। पूय भोजन के साथ आन्त्र में चला जाता है। वहाँ खाद्य रस के साथ इसके जीवाणु और विष का भी शोषण हो जाता है। वे रक्तप्रवाह के द्वारा शरीर में फैल कर स्थानीय और सार्वदेहिक भेद से इसके दो प्रकार के लक्षण उत्पन्न करते हैं।

(१) **स्थानीय लक्षण** (Local symptoms)—मसूढ़ों के किनारों में सूजन, लाली, दुर्गन्धित श्वास तथा मुख में दूषित स्वाद ये लक्षण होते हैं। रात्रि में पूय अधिक एकत्रित हो जाने से ये लक्षण अधिक होते हैं। ऊपरी जबड़े की सूजन नासा छिद्रों तक फैल सकती है। निगला हुआ पूय आमाशय, आन्त्र तथा आन्त्रपुच्छ में भी शोथ उत्पन्न कर सकता है। श्वास के साथ यदि फुफ्फुस में पहुँच जाय तो निमोनिया उत्पन्न कर सकता है।

(२) **सार्वदेहिक लक्षण**—यथा—बुभुक्षानाश, रक्तक्षय या पाण्डुता त्वचा के रोग (यथा—Eczema)

शौषिररोगं व्याचष्टे—

श्वयथुर्दन्तमूलेषु रुजावान् कफरक्तजः।
लालास्रावी स विज्ञेयः शौषिरो नाम नामतः ॥१४॥ (सु. नि. १६)

मसूढ़ों में पीड़ा और लालास्राव कराने वाली कफरक्तजन्य सूजन को शौषिर कहते हैं ॥ १४ ॥

शौषिरलिङ्गमाह—श्वयथुरित्यादि। नामत इति प्रसिद्धितः ॥ १४ ॥

विमर्श—यह भी एक प्रकार की मसूढ़ का शोथ (Gingivitis) है। अधिक व्यापक तथा पीड़ा और लालास्राव युक्त होने से इसे दन्तपुप्पुटक से भिन्न समझना चाहिये।

महाशौषिरं लक्षयति—

दन्ताश्चलन्ति वेष्टेभ्यस्तालु चाप्यवदीर्यते।
यस्मिन् स सर्वजो व्याधिर्महाशौषिरसंज्ञितः ॥१५॥ (सु. नि. १६)

जिस (पूर्वोक्त शौषिर) रोग में दाँत अपने स्थान से हिलने लगते हैं, तालु (एवं होठ) भी फट जाता है उस त्रिदोषज व्याधि को महाशौषिर कहते हैं ॥ १५ ॥

महाशौषिरलिङ्गमाह—दन्ता इत्यादि। तालु चाप्यवदीर्यत इत्यत्र चकारेण दन्ता ओष्ठौ चाप्यवदीर्यन्ते इति बोद्धव्यम्। सप्तरात्राच्चायं मारकः। यदाह भोजः—'सदाहो दन्तमूलेषु

शोथः पित्तकफानिलात् । जातः कफं क्षपयति क्षीणे तस्मिंस्तु शोणितम् ॥ विवृद्धमनिशं दन्तान् ताल्वोष्ठमपि दारयेत् । महाशौषिर इत्येतत् सप्तरात्रान्निहन्त्यसून्' इति । यस्मिन् शौषिरे एवमपि भवति स महाशौषिर इति गदाधरः ॥ १५ ॥

विमर्श—यह रोग प्रायः असाध्य होता है और भोज ने इसका अधिक स्पष्ट वर्णन निम्न प्रकार से किया हैः—'पित्त, कफ और वायु के कारण दन्तमूलों (मसूड़े) में दाहयुक्त शोथ उत्पन्न होता है । उत्पन्न होने पर कफ क्षीण हो जाता है और रक्त बढ़कर निरन्तर दाँतों, तालु एवं ओष्ठों को विदीर्ण कर देता है । यह महाशौषिर नामक रोग है और सात रात्रि में ही जीवन का नाश कर देता है ।' वस्तुतः यह पूर्वोक्त शौषिर रोग का ही एक प्रवृद्ध और व्यापक स्वरूप अथवा उपद्रवयुक्त अवस्था है और आधुनिक सकोथ-मुखपाक (Cangrinous Stomatitis) से अधिक साम्य रखता है ।

परिदरं प्राह—

दन्तमांसानि शीर्यन्ते यस्मिन् ष्ठीवति चाप्यसृक् ।
पित्तासृक्कफजो व्याधिर्ज्ञेयः परिदरो हि सः ॥१६॥ (सु. नि. १६)

जिस रोग में मसूढ़े गल जाते हैं और रोगी रक्तष्ठीवन करता है उस पित्त, रक्त और कफ से होने वाली व्याधि को परिदर कहते हैं ॥ १६ ॥

परिदरमाह—दन्तमांसानीत्यादि । दन्तमांसस्य परिदारणात् परिदरसंज्ञा ॥ १६ ॥

विमर्श—यह भी शौषिर का ही एक जीर्ण प्रकार प्रतीत होता है ।

उपकुशलक्षणमाह—

वेष्टेषु दाहः पाकश्च ताभ्यां दन्ताश्चलन्ति च ।
यस्मिन् सोपकुशो नाम पित्तरक्तकृतो गदः ॥१७॥ (सु. नि. १६)

जिस रोग में मसूढ़ों में जलन और पाक होता है और उन दोनों (कारणों) से दाँत हिल जाते हैं उस पित्त और रक्तजन्य व्याधि को उपकुश कहते हैं ॥ १७ ॥

उपकुशलक्षणमाह—वेष्टेष्वित्यादि । ताभ्यामिति दाहपाकाभ्याम् । सोपकुश इति निर्देशोऽसिद्धत्वानित्यत्वादसाधुः, तेन स उपकुश इत्यर्थः । १७ ॥

विमर्श—सुश्रुत इसमें दाँतों से रक्तस्राव भी मानते हैं । रक्त का स्राव हो जाने पर मसूड़े सूज जाते हैं और मुख दुर्गन्धयुक्त हो जाता है ।

वैदर्भं निरूपयति—

घृष्टेषु दन्तमांसेषु संरम्भो जायते महान् ।
चला भवन्ति दन्ताश्च स वैदर्भोऽभिघातजः ॥१८॥ (सु. नि. १३)

मसूढ़ों में रगड़ लग जाने पर जो सूजन उत्पन्न हो जाती है और दाँत हिल जाते हैं उस अभिघातजन्य व्याधि को वैदर्भ कहते हैं ॥ १८ ॥

वैदर्भलिङ्गमाह—घृष्टेष्वित्यादि । संरम्भ इति शोथः, वेदनापाकौ वा ॥ १८ ॥

विमर्श—शौषिर से लेकर वैदर्भपर्यन्त सब रोग जिंजिवाइटिस (Gingivitis) के विविध प्रकार प्रतीत होते हैं ।

खलिवर्धनं लक्षयति—

मारुतेनाधिको दन्तो जायते तीव्रवेदनः ।

खलिवर्धनसंज्ञोऽसौ जाते रुक् च प्रशाम्यति ॥१९॥ (सु. नि. १६)

वायु के प्रकोप से तीव्र पीडा के साथ एक अधिक दाँत निकल आता है जिसे खलिवर्धन कहते हैं। इसके उत्पन्न हो जाने पर पीडा शान्त हो जाती है ॥ १९ ॥

खलिवर्धनलिङ्गमाह—मारुतेनेत्यादि। जाते रुक् च प्रशाम्यतीति उत्थितेऽधिके दन्त-प्रभावाद्वेदनाया अभावः ॥ १९ ॥

विमर्श—इसे अधिदन्त (Extra tooth) कहते हैं। कुछ विद्वान् इसे अक्ल-दाढ़ (Wisdom tooth) समझते हैं, किन्तु वह उचित प्रतीत नहीं होता; क्योंकि चिकित्सा में इसे उखाड़ने का निर्देश किया है—**'उद्धृत्याधिकदन्तं तु ततोऽग्निमवचारयेत्'**। अक्ल-दाढ़ को उखाड़ा नहीं जाता है। वस्तुतः यह दन्तरोग प्रतीत होता है। इस प्रकार इसे यदि दन्तार्बुद (Odontoma) कहा जाय तो ठीक है। वाग्भट ने इसे दन्तरोग ही माना है।

करालरोगं वर्णयति—

शनैः शनैः प्रकुरुते वायुर्दन्तसमाश्रितः।
करालान्विकटान् दन्तान् करालो न स सिध्यति ॥ २० ॥

दाँतों में आश्रित हुआ प्रकुपित वायु धीरे-धीरे दाँतों को विषम और भयंकर बना देता है उसे कराल कहते हैं और यह असाध्य होता है ॥ २० ॥

कराललक्षणमाह—शनैरित्यादि। करालान् विषमान्। करालस्तु सुश्रुतेऽनुक्तोऽधिकः संग्रहकारेण पठितः, तेन सुश्रुतोक्तपञ्चदशसंख्याहानिः ॥ २० ॥

विमर्श—इस रोग में पूर्वोक्त दन्तमूलगत रोगों के कारण जब दन्तवेष्ट शिथिल हो जाता है तब दाँत ढीले होकर ऊपर नीचे या टेढ़े-मेढ़े होकर भयानक आकृति ग्रहण कर लेते हैं। वाग्भट ने इसे दन्तरोगों में माना है **'करालस्तु करालानां दशनानां समुद्गमः'** (वा. उ. तं. २१)। सुश्रुत में इसका वर्णन ही नहीं है। माधव ने इसका संग्रह कर दन्तमूलगत रोगों की संख्या सोलह कर दी है।

अधिमांसकमाह—

हानव्ये पश्चिमे दन्ते महाञ् शोथो महारुजः।
लालास्रावी कफकृतो विज्ञेयः सोऽधिमांसकः। (सु. नि. १६)

जबड़े के पीछे के दाँत के मसूड़े में तीव्र पीडायुक्त लालास्राव कराने वाली कफजन्य बहुत बड़ी सूजन हो जाती है उसे अधिमांसक कहते हैं॥

अधिमांसकमाह—हानव्य इत्यादि। अधिमांसक इति संज्ञायां कन्। हानव्य इति हनुकुहरे। पश्चिम इत्यवसानजे, अन्तजे इति यावत् ॥

विमर्श—इस रोग में प्रायः नीचे के जबड़े के पिछले दाँत के पास मांस का उभार हो जाता है। इससे भोजन के चबाने में कठिनाई होती है। कभी-कभी उसके कुचल जाने से हनुसन्धि और कान में पीडा होती है। इसे आजकल की दृष्टि से (Impacted Wisdom tooth) कह सकते हैं।

दन्तनाडीराह—

दन्तमूलगता नाड्यः पञ्च ज्ञेया यथेरिताः ॥ २१ ॥ (सु. नि. १६)

दाँतों की जड़ में पूर्वोक्त (वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज और शल्यज भेद से) पाँच प्रकार की नाडी होती हैं ॥ २१ ॥

पञ्च दन्तनाडीराह—दन्तेत्यादि । नाड्यः पञ्च ज्ञेया यथेरिता इति नाडीनिदाने यथोक्ता वातपित्तकफसन्निपातागन्तुनिमित्तास्तथा दन्तमांसगता अपि नाड्यः । एताश्च नाडीव्रण-समानलक्षणा अपि शालाक्यसिद्धान्तेन संख्यापूरणाय चिकित्साभेदाच्च पुनरुक्ताः ॥ २१ ॥

विमर्श—कभी-कभी साध्य दन्तमूलगत रोगों की उपेक्षा करने से दन्तवेष्ट और दाँतों के बीच संचित पूय के कारण नाडीव्रण (Sinus) बन जाते हैं । नाडी के पूर्वोक्त पाँच भेदों के कारण और लक्षणानुसार यहाँ भी पाँच प्रकार हो सकते हैं । वाग्भट ने सुस्पष्ट शब्दों में कहा है—

दन्तमांसाश्रितान् रोगान्यः साध्यानप्युपेक्षते।अन्तस्तस्यास्रवन्दोषः सूक्ष्मां सञ्ज- येद्गतिम्॥ पूयं मुहुः सा स्रवति त्वङ्मांसास्थिप्रभेदिनी । ताः पुनः पञ्च विज्ञेया लक्षणैः स्वैर्यथोदितैः॥

(अ. हृ. उ. तं. २१)

वाग्भट ने दन्तवेष्टक और परिदर का वर्णन नहीं किया है; कराल और वर्धन को दन्तरोगों में माना है तथा दन्तविद्रधि नामक रोग का दन्तमूलगत रोगों में अधिक पाठ किया है । माधव ने इसका संग्रह दन्तरोगों में किया है । किन्तु वाग्भट-मत ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि विद्रधि मांस और रक्त में ही प्रायः होती है । इसे आजकल एल्वियोलर अब्सेस (Alveolar Abscess) कहते हैं ।

वाग्भट में दन्तमूलगत रोगों की संख्या १३ ही है जब कि सुश्रुत में १५ और माधवनिदान में १६ है ।

दन्तगतानष्टौ प्राह—

दीर्यमाणेष्विव रुजा यस्य दन्तेषु जायते ।
दालनो नाम स व्याधिः सदागतिनिमित्तजः ॥ २२ ॥ (सु. नि. १६)

जिससे दांतों में फाड़ने के समान पीडा होती है उस वातज रोग को दालन कहते हैं ॥ २२ ॥

दालनरोगं व्याचष्टे—सदागतिनिमित्तज इति सदागतिर्वायुः, तस्मान्निमित्ताज्जात इति । सदागतिनिमित्तत इति वक्तव्ये सदागतिनिमित्तज इति यत्कृतं तद्बलवद्धेतुजन्य-वातकृतत्वबोधनार्थमिति कार्त्तिकः, केवलवातजत्वख्यापनार्थमित्यन्ये ॥ २२ ॥

विमर्श—अष्टांगहृदयकार ने इस रोग को शीतदन्त कहा है—

'वातादुष्णसहा दन्ताः शीतस्पर्शाधिकव्यथाः ।
दाल्यन्त इव शूलेन शीताख्यो दालनश्च सः ॥ (अ० हृ० उ० त २१)

आजकल इसे साधारण दन्तशूल (Toothache) कहते हैं ।

क्रिमिदन्तकं निरूपयति—

कृष्णच्छिद्रश्चलः स्रावी ससंरम्भो महारुजः ।
अनिमित्तरुजो वाताद्विज्ञेयः क्रिमिदन्तकः ॥ २३ ॥ (सु. नि. १६)

जो दाँत काले छिद्र वाला होता है और हिलता है, जिससे स्राव निकले, शोथ और बिना कारण तीव्र पीडा हो उस वातिक रोग को क्रिमिदन्तक कहते हैं ॥ २३ ॥

क्रिमिदन्तकमाह—कृष्णच्छिद्र इत्यादि । कृष्णच्छिद्र इति दुष्टरक्तजक्रिमिकृतशोथपाक-द्वारेण कृष्णच्छिद्र इत्यर्थः । अन्ये 'कृष्णश्वित्र' इति पठन्ति, चित्र इति चित्रवान् , अर्शआदित्वादच् । स्रावीति दन्तमूलेषु स्रावो बोद्धव्यः, दन्तानां नीरसत्वेन स्रावाभावात् । अनिमित्तरुज इति अवघट्टनादिनिमित्तं विनैव महारुजत्वेन रुजावानिति कार्त्तिकः ॥ २३ ॥

विमर्श—इसे डेन्टल कैरीज (Dental caries) कहते हैं । दांतों के बीच में फँसे हुए अन्न

के सड़ने से एक अम्ल उत्पन्न होता है जो दांतों को पीला कर देता है। दालनरोग का यह प्रधान कारण है। जीवतिक्ति 'ध' और चूने की कमी से दांतों में कीड़ा लग जाता है। वाग्भट ने इसकी सम्प्राप्ति और लक्षणों का वर्णन बड़ी सुन्दर रीति से किया है:—

'समूलं दन्तमाश्रित्य दोषैरुल्वणमारुतैः। शोषिते मज्ज्ञि सुषिरे दन्तेऽन्नमलपूरिते॥ पूतित्वात्क्रिमयः सूक्ष्मा जायन्ते, जायते ततः। अहेतुतीव्रार्तिशमः ससंरम्भोऽसितश्चलः॥

प्रलूनः पूयरक्तस्रुत् स चोक्तः क्रिमिदन्तकः। (अ० हृ० उ० तं० २१)

भञ्जनकलक्षणमाह—

वक्त्रं वक्रं भवेद्यस्य दन्तभङ्गश्च जायते।

कफवातकृतो व्याधिः स भञ्जनकसंज्ञितः॥ २४ ॥ (सु. नि. १६)

जिसमें मुख टेढ़ा हो जाय और दाँत टूट जायें उस कफवातजन्य व्याधि को भञ्जनक कहते हैं॥

भञ्जनकलक्षणमाह—वक्त्रमित्यादि। वक्त्रं वक्रमिति दन्तभङ्गकारिणा दोषेण वक्त्रस्यापि वक्रत्वम्॥ २४ ॥

विमर्श—सम्भवतः पहिले से दुर्बल और किसी अभिघात आदि के कारण दाँत के आधे या कुछ भाग के भग्न हो जाने को भञ्जनक कहते हैं। वाग्भट ने भञ्जनक के स्थान पर 'दन्तभेद' का वर्णन किया है **'दन्तभेदे द्विजास्तोदभेदरुक्स्फुटनान्विताः'** (अ० हृ० उ० तं० २१)। अंग्रेजी में इसे Cracked or fissured tooth कह सकते हैं।

दन्तहर्षं प्राह—

शीतरूक्षप्रवाताम्लस्पर्शानामसहा द्विजाः।

पित्तमारुतकोपेन दन्तहर्षः स नामतः॥२५॥ (सु. नि. १६)

पित्त और वायु के प्रकोप से दांत शीत व रूक्ष पदार्थ, तेज वायु और अम्ल पदार्थों को सहन नहीं कर पाते, इस रोग को दन्तहर्ष कहते हैं॥ २५॥

दन्तहर्षलक्षणमाह—शीतेत्यादि। 'शीतमुष्णं च दशनाः सहन्ते स्पर्शनं न च। यस्य तं दन्तहर्षं तु व्याधिं विद्यात्, समीरणात्' इति श्लोकान्तरं पठन्ति। तत्र दन्तहर्षस्य वातजत्वेऽप्युष्णासहत्वं व्याधिप्रभावात्, कफरक्तावृतत्वाद्वा बोद्धव्यम्॥ २५॥

विमर्श—सुश्रुत इसे केवल वातज मानते हैं।

दशनाः शीतमुष्णं च सहन्ते स्पर्शनं न च। यस्य तं दन्तहर्षं तु व्याधिं विद्यात् समीरणात्॥

आधुनिक विद्वान् इसे दन्तशोथ (Odontitis) की एक अवस्था मानते हैं।

दन्तशर्करां निरूपयति—

मलो दन्तगतो यस्तु पित्तमारुतशोषितः।

शर्करेव खरस्पर्शा सा ज्ञेया दन्तशर्करा॥ २६ ॥ (सु. नि. १६)

दांतों का मल जो पित्त और वायु से सूख कर पथरी के समान कड़ा हो जाता है उसे दन्तशर्करा कहते हैं॥ २६॥

दन्तशर्करालक्षणमाह—मल इत्यादि। 'शर्करेव खरस्पर्शा' इत्यस्य स्थाने 'सा दन्तानां गुणहरी' क्वचित् पठ्यते, दन्तानां गुणस्य शुक्लत्वदृढत्वादिकस्य हरणशीला॥ २६॥

विमर्श—आजकल इसे टार्टर (Tartar) कहते हैं। दांतों के बीच में खाद्य पदार्थ के टुकड़ों के सड़ने से दांतों की जड़ में कैल्शियम फास्फेट जम जाता है जो पथरी के समान कड़ा हो जाता है।

कपालिकालक्षणमाह—

कपालेष्विव दीर्यत्सु दन्तानां सैव शर्करा ।
कपालिकेति विज्ञेया सदा दन्तविनाशिनी ॥ २७ ॥ (सु.नि. १६)

कपाल के समान कठिन मलयुक्त दांतों के टुकड़ों के विदीर्ण हो जाने पर निकलती हुई दातों का नाश करने वाली पूर्वोक्त शर्करा कपालिका कहलाती है ॥ २७ ॥

कपालिकालक्षणमाह—कपालेष्वित्यादि । कपालेष्विवेति मलसहितदन्तावयवेषु काठिन्यात् कपालतुल्येषु; दन्तमल एव कठिने कपालप्राये दीर्यमाणे सैव शर्करा कपालिका । सदेति बाल्यादौ । अत्रावकाशे हनुमोक्षः सुश्रुते दन्तदेशसामीप्याद्दन्तपीडनाच्च पठितः, स इह संग्रहकारेण **मुख्यदन्तगतत्वाभावान्न पठितः, पठितस्तु हनुग्रहणसंज्ञया वातव्याधौ** भोज**वचनात । यदुक्तं 'वाताभिघाताज्जन्तोर्हि हनुसन्धिर्विमुच्यते । निरस्तजिह्वः कृच्छ्रेण भाषितं तत्र गच्छति ॥ सम्यक् तमनिलव्याधिं हनुमोक्षं विनिर्दिशेत्' इति ॥ २७ ॥**

विमर्श—मसूड़ों से ऊपर के दन्त भाग पर जो अत्यधिक कठिन आवरण चढ़ा रहता है उसे दन्तकवच (Enamel) कहते हैं । इससे कठिन मे कठिन वस्तुओं के काटने में सहायता होती है । दन्तशर्करा जम जाने से यह दुर्बल हो जाता है और विदीर्ण होकर निकलने लगता है । इसी को कपालिका (Separation of enamel) कहते हैं ।

श्यावदन्तकं व्याचष्टे—

योऽसृङ्मिश्रेण पित्तेन दग्धो दन्तस्त्वशेषतः ।
श्यावतां नीलतां वापि गतः स श्यावदन्तकः ॥ २८ ॥

जो दाँत रक्तमिश्रित पित्त से पूर्णतया दग्ध या लिप्त होकर काला या नीला पड़ जाता है उसे श्यावदन्तक कहते हैं ॥ २८ ॥

विमर्श—दाँतों का उत्तम पोषण न होने से उसका वर्ण नीला या कुछ काला सा हो जाता है । कृमिदन्तक के पूर्व भी यह अवस्था उत्पन्न होती है । वाग्भट इसमें रक्त और पित्त के साथ वायु का भी सम्बन्ध मानते हैं—**श्यावः श्यावत्वमायातो रक्तपित्तानिलैर्द्विजः ।**

दन्तविद्रधिमाह—

दन्तमांसे मलैः सास्रैर्बाह्यान्तः श्वयथुर्गुरुः ।
सदाहरुक् स्रवेद्भिन्नः पूयास्रं दन्तविद्रधिः ॥ २९ ॥

मसूड़ों में रक्त सहित वात आदि दोषों से बाहर और अन्दर जो भारी शोथ जलन और पीड़ा युक्त होता है और जिसके विदीर्ण होने पर रक्तमिश्रित पूय का स्राव होता है इसे दन्तविद्रधि कहते हैं ॥ २९ ॥

विमर्श—वस्तुतः दन्तविद्रधि दन्तमांस की विकृति है अतः इसे दन्तमांसविद्रधि कहना चाहिये। वाग्भट ने इसे दन्तमूलगत रोग ही माना है (श्लोक २१ का विमर्श देखें)। सुश्रुत ने दन्तविद्रधि के स्थान पर हनुमोक्ष रोग माना है जो वस्तुतः हनुसंधिगत विकार है और इसका वर्णन चरकादि मतानुसार 'हनुग्रह' रोग के नाम से वातव्याधि में हो चुका है ।

माधव और सुश्रुत ने दन्तरोग आठ माने हैं पर वाग्भट में इनकी संख्या १० है । इस अन्तर के कारण निम्नलिखित हैं—दालन, क्रिमिदन्तक, दन्तहर्ष, भञ्जनक, दन्तशर्करा, कपालिका और

श्यावदन्त । यह सात दन्त रोग सुश्रुत, वाग्भट और माधव में समान ही हैं । केवल वाग्भट ने दालन को शीतदन्त और भञ्जनक को दन्तभेद कहा है । सुश्रुतोक्त हनुमोक्ष का संग्रह वाग्भट और माधव ने नहीं किया है । माधव ने इसके स्थान पर दन्तविद्रधि माना है जिसे वाग्भट ने दन्तमूलगत रोग माना है । वाग्भट ने दन्तचाल, कराल और वर्धन ये तीन दन्तरोग अधिक माने हैं । इनमें वर्धन को सुश्रुत और माधव ने दन्तमूलगतरोग माना है । कराल को माधव ने दन्तमूलरोगों में गिना है और सश्रुत में इसका वर्णन नहीं है । **दन्तचाल** का उल्लेख केवल वाग्भट ने किया है **'चालश्चलद्भिर्दशनैर्भक्षणादधिकव्यथः'** अर्थात् दाँत हिलते हैं और चबाने में अधिक पीड़ा होती है तो उसे दन्तचाल कहते हैं ।

जिह्वाकण्टकानि व्याचष्टे—

जिह्वाऽनिलेन स्फुटिता प्रसुप्ता भवेच्च शाकच्छदनप्रकाशा ।
पित्तेन दह्यत्युपचीयते च दीर्घैः सरक्तैरपि कण्टकैश्च ।
कफेन गुर्वी बहुलाचिता च मांसोच्छ्रयैः शाल्मलिकण्टकाभैः ॥३०॥

वातिक जिह्वाकण्टक में जिह्वा फटी हुई, संज्ञाहीन या रसज्ञान रहित और शाक के पत्ते के समान (खुरदरी) हो जाती है । पैतिक कण्टक में जीभ में जलन होती है और वह लाल वर्ण के बड़े-बड़े काँटों से व्याप्त हो जाती है । कफ से दूषित जिह्वा भारी, मोटी और सेमर के कांटों के समान मांसाङ्कुरों से व्याप्त हो जाती है ॥ ३० ॥

संप्रति जिह्वागतानाह—जिह्वाऽनिलेनेत्यादि । स्फुटितेति मनाग्विदीर्णा । प्रसुप्तेति सुप्तेव, रसस्यानवबोधात् । शाकच्छदनप्रकाशेति शाकतरुपत्रवत् कण्टकाचितेत्यर्थः, शाको मरुजद्रुमः । पैत्तिककण्टकलक्षणे दह्यतीति आत्मनेपदानित्यत्वात् साधु । अयं च रोगो जाडीति ख्यातः ॥ ३० ॥

विमर्श—इसे जीर्ण परिविस्तृत जिह्वाशोथ या क्रानिक डिफ्यूज ग्लासाइटिस (Chronic diffuse glossitis) कहते हैं । यह फिरङ्ग की तृतीयावस्था का विशेष लक्षण है । मदात्यय (Alcoholism) में भी यह पाया जाता है । वातिक आदि इसकी ही विभिन्न अवस्थायें हैं । जैसे—वातकण्टक=Cracked or fissured tongue पैत्तिक कण्टक=Red glazed tongue और कफज-जिह्वा कण्टक=Leukoplakia.

अलासं प्राह—

जिह्वातले यः श्वयथुः प्रगाढः सोऽलाससंज्ञः कफरक्तमूर्तिः ।
जिह्वां स तु स्तम्भयति प्रवृद्धो मूले च जिह्वा भृशमेति पाकम्॥३१॥(सु.नि.१६)

जिह्वा के नीचे जो कफ और रक्तजन्य भयंकर शोथ उत्पन्न हो जाता है उसे अलास कहते हैं । वह बढ़कर जिह्वा को जकड़ देता है और इसके बाद जीभ के मूल में तीव्र पाक हो जाता है ॥३१॥

अलासमाह—जिह्वेत्यादि । प्रगाढ इति प्रकर्षेण गाढो दारुण इत्यर्थः । तेन 'जिह्वागतेष्वलासस्तु' इत्यादिनाऽलासस्यासाध्यतोक्ता सूच्यते । कफरक्तमूर्तिरिति कफरक्ताभ्यां हेतुभ्यां लब्धमूर्तिः । कफरक्तज इत्यर्थः । जिह्वास्तम्भेन वायुरप्यत्र बोद्धव्यः, भृशपाकेन पित्तम्, अतस्त्रिदोषजो ज्ञेयः, अत एवास्यानुपक्रमेणासाध्यत्वं, कफरक्तयोस्तु प्राधान्येनाभिधानम् । 'अधोगतः' इति पाठान्तरे जिह्वाया अधो गतः ॥ ३१ ॥

विमर्श—इसे जिह्वामूलीय ग्रन्थि का विद्रधि (Sublingual abscess) कहते हैं । यह रोग

अधिक बढ़ने पर अधोहनु में अधस्त्वक् शोथ (Cellulitis) उत्पन्न कर सकता है जिससे श्लेष्मल त्वचा और मांसादि धातुओं का क्षरण होने लगता है अत एव वाग्भट ने कहा है—

कफपित्तादधः शोफो जिह्वास्तम्भकृदुन्नतः । मत्स्यगन्धिर्भवेत् पक्कः सोऽलसो मांसशातनः॥

(वा० उ० तं० २१)

डल्हणाचार्य का यह मत है कि इसमें वात और पित्त भी सम्मिलित रहते हैं। इसीलिये (त्रिदोषज होने से) इसे असाध्य भी माना है—**'कफरक्तयोः प्राधान्यं, जिह्वास्तम्भेन वायुरप्यस्ति, भृशं पाकेन पित्तमप्यस्ति, अत एव त्रिदोषत्वेनासाध्यत्वमपि दुरुपक्रमत्वात्।**

उपजिह्विकारोगं वर्णयति—

जिह्वाग्ररूपः श्वयथुर्हि जिह्वामुन्नम्य जातः कफरक्तमूलः ।
लालाकरः कण्डुयुतः सचोषः सा तूपजिह्वा पठिता भिषग्भिः ॥३२॥

(सु. नि. १६)

जिह्वा के अग्रभाग के समान जिह्वा को ऊपर उठाकर कफ और रक्त के कारण एक शोथ उत्पन्न हो जाता है जिसे उपजिह्विका कहते हैं। इसमें लालास्राव, खुजली तथा जलन ये लक्षण होते हैं ॥ ३२ ॥

उपजिह्विकामाह—जिह्वाग्ररूप इत्यादि। सचोष इति चोषः साक्षादग्निसंबन्धेनेवोपतापः, चोषश्चात्र रक्तयोनिना पित्तेन ॥ ३२ ॥

विमर्श—यह रोग भी जिह्वा के नीचे होता है। आजकल इसे रेनुला (Ranula) कहते हैं। जिह्वा के नीचे श्लेष्मलद्रव्य के संचित हो जाने से उभार उत्पन्न हो जाता है। यह जिह्वामूलीय ग्रंथि (Sublingual gland) की नलिका में अवरोध होने से हो जाता है। चरक और वाग्भट ने इसे 'अधिजिह्वा' कहा है तथा 'उपजिह्वा' को जीभ के ऊपर मानते हैं। **जिह्वोपरिष्टादुपजिह्विका-स्यात् कफादधस्तादधिजिह्विका च ।** (चरक चि० १२) तथाच—**प्रबन्धनेऽधोजिह्वायाः शोथो-जिह्वाग्रसन्निभः। साङ्कुरः कफपित्तास्रैर्लालोषास्तम्भवान् खरः॥ अधिजिह्वः सरुक्कण्डूवाक्याहारविघातकृत्। तादृगेवोपजिह्वस्तु जिह्वाया उपरि स्थितः॥** (वा० उ० २१) चरक ने इसे कफजन्य माना है—**यस्य श्लेष्मा प्रकुपितो जिह्वामूलेऽवतिष्ठते। आशु संजनयेच्छोथं जायतेऽस्योपजिह्विका ॥** (च० सू० १८)किन्तु सुश्रुत और माधव इसे जीभ के नीचे और अधिजिह्विका को जीभ के ऊपर मानते हैं और अधिजिह्विका का उल्लेख गलरोगों में किया है। (देखिये श्लोक ४३) किन्तु वाग्भट उपजिह्वा और अधिजिह्वा दोनों को जिह्वागतरोग मानकर उनकी संख्या ६ मानते हैं।

तालुगतानाह—

श्लेष्मासृग्भ्यां तालुमूले प्रवृद्धो दीर्घः शोथो ध्मातबस्तिप्रकाशः ।
तृष्णाकासश्वासकृत्तं वदन्ति व्याधिं वैद्याः कण्ठशुण्डीति नाम्ना ॥३३॥

(सु. नि. १६)

कफ और रक्त के प्रकोप से तालु के मूल में वायु से भरी हुई बस्ति (थैली) के समान तथा प्यास, खांसी और श्वास को उत्पन्न करने वाले लम्बे शोथ को वैद्य कण्ठशुण्डी कहते हैं ॥ ३३ ॥

कण्ठशुण्डीमाह—श्लेष्मासृग्भ्यामित्यादि। ध्मातबस्तिप्रकाश इति वायुपूरितचर्मपुटतुल्यः ॥ ३३ ॥

विमर्श—अंग्रेजी में इसे प्रवृद्ध गलशुण्डी (Elongated uvula) कहते हैं। कण्ठशुण्डी गले के पिछले भाग में लगकर खाँसी उत्पन्न करती है। रात्रि में या कभी लेटते समय यह स्पर्श अधिक होता है। अतः उस समय खाँसी का प्रकोप भी अधिक रहता है। कभी-कभी वमन भी हो जाता है। वाग्भट ने दीर्घ के स्थान पर प्रलम्ब (लटकता हुआ) शोथ कहा है—

तालुमूले कफात्सास्रात् मत्स्यवस्तिनिभो मृदुः। प्रलम्बः पिच्छिलः शोथो नासयाऽहारमीरयन्॥
कण्ठोपरोधतृट्कासवमिकृद्गलशुण्डिका। (वा० उ० तं० २१)

तुण्डिकेरीं प्राह—

शोथः स्थूलस्तोददाहप्रपाकी प्रागुक्ताभ्यां तुण्डिकेरी मता तु।
(सु. नि. १६)

कफ और रक्त से उत्पन्न होने वाले मोटे, जलन और पाकयुक्त शोथ को तुण्डिकेरी कहते हैं॥

तुण्डिकेरीलक्षणमाह—शोथ इत्यादि। प्रागुक्ताभ्यामिति श्लेष्मासृग्भ्याम्। तुण्डिकेरी वनकार्पासीफलं, तत्तुल्यशोथतया तुण्डिकेरी। तोददाहाभ्यामिह वातपित्तानुबन्धो ज्ञेयः॥

विमर्श—वनकपास के फल को तुण्डिकेरी कहते हैं। उसके समान सूजन को भी तुण्डिकेरी ही कहते हैं। इसे टांसिल की वृद्धि (Enlarged tonsils) कह सकते हैं, क्योंकि वाग्भट में इस शोथ का स्थान हनुसन्धि बताया गया है—

हनुसन्ध्याश्रितः कण्ठे कार्पासीफलसन्निभः। पिच्छिलो मन्दरुक्शोफः कठिनस्तुण्डिकेरिका॥
(अ० सं०)

गल और तालुसन्धि तथा हनुसन्धि के समीप दोनों पार्श्वों में एक-एक ग्रन्थियाँ होती हैं—जिनको अर्वाचीन शास्त्रज्ञ 'टांसिल' कहते हैं। सुश्रुत और माधव ने इसे तालुगत किन्तु वाग्भट ने कण्ठगत रोग माना है। इसकी वृद्धि के निम्नलिखित कारण हैं।

१. माला गोलाणु (Streptococci), स्तवकगोलाणु (Staphylococci) तथा फुफ्फुस गोलाणु (Pneumococci) इसके मुख्य कारण हैं। इसके अतिरिक्त शीत एवं क्षोभक पदार्थों का सेवन हेमन्त व वसन्त ऋतु भी इसके तीव्र शोथ के कारण हैं। इसके निम्न लक्षण होते हैं—

(१) गले में खरास, कास और कभी-कभी श्वास लेने में कठिनता।
(२) निगलने तथा बोलने में कठिनाई।
(३) सिर में पीडा मिचली, कर्णमूल में पीडा।
(४) ज्वर लगभग १०३।

इसका जीर्ण शोथ भी जीवाणुओं के मन्द उपसर्ग, बार-बार प्रतिश्याय होना या रोहिणी, वातोत्कटकास (कुकास), रोमान्तिका आदि के परिणामस्वरूप होता है। इसमें प्रायः कोई स्पष्ट लक्षण नहीं होते किन्तु कभी-कभी बीच-बीच में तीव्रशोथ के समान लक्षण हो जाते हैं।

अध्रुषलक्षणमाह—

मृदुः शोथो लोहितः शोणितोत्थो ज्ञेयोऽध्रुषः सज्वरस्तीव्ररुक् च ॥३४॥
(सु. नि. १६)

रक्त से उत्पन्न मृदु और लाल रंग के ज्वर और तीव्र पीडासहित शोथ को अध्रुष कहते हैं॥३४॥

अध्रुषलक्षणमाह—मृदुरित्यादि। शोणितोत्थ इति रक्तसमुत्थः॥ ३४॥

विमर्श—कुछ विद्वान् इसे तालुप्रकोप (Palatitis) और कुछ लोग ज्वरादि लक्षणयुक्त होने से इसे पूर्वोक्त तुण्डिकेरी (Chronic Tonsilitis) का तीव्रस्वरूप (Acute Tonsilitis) मानते हैं। किन्तु डल्हण इसे (अध्रुषको) छेद्य और तुण्डिकेरी को भेद्य व्याधि मानते हैं जब कि अर्वाचीन

विद्वान् विशेषतः जीर्ण उत्तुण्डिका शोथ (तुण्डिकेरी) को ही छेद्य मानते हैं। वाग्भट ने इस रोग का वर्णन नहीं किया है।

कच्छपं लक्षयति—

कूर्मोन्नतोऽवेदनोऽशीघ्रजन्मा रोगो ज्ञेयः कच्छपः श्लेष्मणा तु।
(सु. नि. १६)

कछुवे के पीठ के समान उभरे हुए पीडारहित, देर में उत्पन्न होनेवाले कफजन्य रोग को कच्छप कहते हैं।

कच्छपलक्षणमाह—कूर्मोन्नत इत्यादि। अवेदन इत्यल्पवेदनः। अशीघ्रजन्मेति चिरजः॥

तालवर्बुदं निरूप्य मांससंघातं च प्राह—

पद्माकारं तालुमध्ये तु शोथं विद्याद्रक्तादर्बुदं प्रोक्तलिङ्गम्॥ ३५॥
दुष्टं मांसं नीरुजं तालुमध्ये कफाच्छूनं मांससंघातमाहुः। (सु. नि. १६)

तालवर्बुद—तालु के बीच में रक्तकमल के आकार के और पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त सूजन को तालवर्बुद या रक्तार्बुद कहते हैं।

मांससंघात—कफ से उत्पन्न तालु के बीच में सूजे हुए पीडारहित दुष्ट मांस को मांससंघात कहते हैं।

तालवर्बुदमाह—पद्माकारमित्यादि। पद्माकारमिति पद्मकर्णिकाकारम्। तथा च भोजः—'उपर्येव भवेन्नद्धो यथा पद्मस्य कर्णिका। पार्श्वतश्चाङ्कुरैर्दीर्घैर्नासा चाप्यवसीदति॥ श्लेष्मरक्तसमुत्थानं तत्तालवर्बुदसंज्ञितम्' इति। रक्तजत्वाल्लोहितम्। प्रोक्तलिङ्गमिति पूर्वोक्तरक्तार्बुदतुल्यलिङ्गमित्यर्थः॥ ३५॥

विमर्श—कच्छप को तालु का सार्कोमा और रक्तार्बुद को तालु का कैंसर कह सकते हैं।

मांससंघात—सम्भवतः आधुनिक तालुगत ग्रन्थ्यर्बुद या सौत्रिकार्बुद (Adenoma or Fibroma of Palate) है।

पुप्पुटं तालुपाकं च वर्णयति—

नीरुक् स्थायी कोलमात्रः कफात् स्यान्मेदोयुक्तात् पुप्पुटस्तालुदेशे॥
शोषोऽत्यर्थं दीर्यते चापि तालुः श्वासश्चोग्रस्तालुशोषोऽनिलाच्च।
पित्तं कुर्यात् पाकमत्यर्थघोरं तालुन्येवं तालुपाकं वदन्ति॥ ३७॥

पुप्पुट—तालु प्रदेश में मेदयुक्त कफ से होने वाले पीडारहित और स्थिर और बेर के समान सूजन को तालुपुप्पुट कहते हैं।

तालुशोष एवं पाक—पित्तयुक्त प्रकुपित वायु से तालु में खुश्की, विदारण एवं भयङ्कर श्वास होता है उसे तालुशोष कहते हैं। तालु में प्रकुपित पित्त अत्यन्त भयङ्कर पाक को उत्पन्न करता है उसे तालुपाक कहते हैं॥ ३६-३७॥

पुप्पुटमाह—नीरुगित्यादि। पुप्पुटस्तालुदेशे इति तालुपुप्पुटः। तालुशब्दोऽत्र लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः। 'तालुशोषस्तु पित्तात्' इति केचित् पठन्ति, पित्तस्यापि शोषजत्वात्। केचित्तु वक्ष्यमाणं 'पित्तं कुर्यात्' इति पदमत्रापि संबध्य श्वासश्चोग्र इति चकारं भिन्नक्रमेण योजयित्वा विभक्तिविपरिणामं च कृत्वा पित्तं तालुशोषं कुर्यादिति व्याचक्षते। किंत्वयं भोजेऽपि वातादेव पठितः। यदुक्तं—'तालुशोषो भवेद्वातात्' इत्यादि॥ ३६-३७॥

विमर्श—इसे 'इपुलिस' (Epulis of the Palate) कह सकते हैं। यद्यपि इस रोग का उद्गमस्थल आजकल दन्तखात के अस्थ्यावरण से माना जाता है पर अतिसामीप्य के कारण इसे तालुरोग भी मान सकते हैं।

तालुशोष—पिपासा-निग्रह, व्यायाम एवं ज्वरादि विभिन्न रोगों में विषव्याप्ति होने से होता है और तृष्णा रोग का एक प्रधान लक्षण है। तृष्णा रोग का कारण भी पित्तयुक्त वायु बतलाया गया है **'पित्तं सवातं कुपितं नराणां तालुप्रपन्नं जनयेत्पिपासाम्'**। वाग्भट ने भी स्पष्ट रूप में कहा है **'वातपित्तज्वरायासैस्तालुशोषस्तदाह्वयः।'** कुछ लोग इसे आधुनिक खण्डतालु (Cleft Palate) मानते हैं। पर चिकित्सा का वर्णन देखकर यह ठीक नहीं प्रतीत होता।

तालुपाक—तालु के सपूय पक्वशोथ को ही तालुपाक कहते हैं **'पित्तेन पाकः पाकाख्यः पूयास्रावी महारुजः'** (वा. उ. तं. २१)। आधुनिकदृष्टया इसे (Palatitis) कह सकते हैं।

सुश्रुत और माधव ने पूर्वोक्त नव तालु रोगों का वर्णन किया है किन्तु वाग्भट ने तुण्डिकेरी को कण्ठगत रोगों में लिखा है तथा अध्रुष का वर्णन नहीं किया है। उसके स्थान पर एक और रोग तालुपिटिका का वर्णन किया है—**'तालुमांसेऽनिलाद् दुष्टे पिटिकाः सरुजः खराः। बह्व्यो घनाः स्रावयुतास्तास्तालुपिटिकाः स्मृताः'** (वा. उ. तं. २१)। सम्भवतः यह वक्ष्यमाण सर्वसर रोग (Stomatitis) का तालुमात्र व्याप्त एक अवस्था विशेष ही है। इस प्रकार वाग्भट में केवल आठ तालु रोग मिलते हैं।

रोहिणीलक्षणमाह—

गलेऽनिलः पित्तकफौ च मूर्च्छितौ प्रदूष्य मांसं च तथैव शोणितम्।
गलोपसंरोधकरैस्तथाऽङ्कुरैर्निहन्त्यसून् व्याधिरियं हि रोहिणी ॥३८॥

(सु. नि. १६)

गले में वृद्ध वात, पित्त और कफ (पृथक्-पृथक् या मिलकर) मांस और रक्त को दूषित करके गले का अवरोध करने वाले अंकुरों को उत्पन्न करके प्राणों को नष्ट कर देते हैं। इस रोग को रोहिणी कहते हैं॥

कण्ठगतास्तु रोहिण्यादयः सप्तदशोच्यन्ते, तत्र पञ्चानां रोहिणीनां सामान्यसंप्राप्तिमाह— गलेऽनिल इत्यादि। सर्वरोहिण्यः सन्निपातजाः, उत्कर्षाद्वातजादिव्यपदेशः। अन्ये तु 'पृथक् समस्ताश्च तथैव शोणितम्' इति पठित्वा सुश्रुते एकदोषजत्वमप्याहुः। भोजेऽप्युक्तं—'वातपित्तकफा रक्तमेकशः सर्वशोऽपि वा। कण्ठं यदा निषेवन्ते' इत्यादि। निहन्त्यसूनित्यनेन यद्यपि सामान्येनासाध्यत्वमुक्तं तथाऽपि सप्ताहादिना पृथग्दोषत्रयजानामनुक्रमेणासाध्यत्वम्, एवं रक्तजाया अपि, सन्निपातजायास्तु जन्मनैवासाध्यत्वम्। तदुक्तं भोजेन—'तालुः शुष्यति कण्ठश्च वातेनायास्यते यदा। कण्ठेऽस्यान्नं प्रसज्येत सप्ताहात् स जहात्यसून्॥ उष्यते चूष्यते पित्ताद् धूप्यते परिदह्यते। अङ्गारैरिव जह्यात् स प्राणानाशु चतुर्दिनात्'। 'कफादन्तर्बहिः शोथः श्वासः कण्ठश्च बाध्यते। यस्य सोऽसूँस्त्यजेद्रोगी त्र्यहाद्रोहिणिपीडितः॥ लक्षणं पित्तरोहिण्या तुल्यं शोणितजन्मनः। सर्वदोषकृता या तु सर्वलिङ्गसमन्विता। असाध्यां तां विजानीयाद्रोहिणीं सन्निपातजाम्। एषा सद्यो मारयति तिस्र आद्याः क्रियां विना' इति क्वचित् भोजे—'अन्या सद्यो मारयति' इति पाठः, तदा रक्तजायामप्यसाध्यत्वमायाति; किंत्वियं साध्यैव, यदुक्तं—'लेख्याश्चतस्रो रोहिण्यः' (सु. सू. २५) इति। तथा, 'साध्यानां रोहिणीनां तु हितं शोणितमोक्षणम्' (सु. चि. २२) इत्यनेन रक्तजाया अपि चिकित्सोक्ता। किंच गलगतेष्वेकैव रोहिणी सन्निपातजा 'रोहिणी गले' इत्यनेनासाध्योक्ता। भोजे तु 'तिस्र आद्याः क्रियां विना' इत्यभिधानं त्रिदोषजत्वेन प्राधान्यमभिप्रेत्य,

खरनादेऽपि **सन्निपातजाया एव सद्योमारकत्वमुक्तम् । यदाह—'सद्यस्त्रिदोषजा हन्ति त्र्यहाच्छ्लेष्मसमुद्भवा । पञ्चाहात् पित्तसंभूता सप्ताहात् पवनोत्थिता' इति ॥**

विमर्श—कतिपय विद्वानों का कथन है कि सभी रोहिणी त्रिदोषज होती हैं किन्तु उल्वणता के आधार पर वातिक आदि व्यवहार किया जाता है। वस्तुतः एकदोषज और त्रिदोषज दोनों प्रकार की रोहिणी का वर्णन सुश्रुत ने किया है—**'पृथक् समस्ताश्च तथैव शोणितम्'**। आचार्य भोज का भी यही मन्तव्य है—**'वातपित्तकफा रक्तमेकशः सर्वशोऽपि वा । कण्ठं यदा निषेवन्ते ॥'**

यदि ठीक समय पर उचित चिकित्सा न की जाय तो सान्निपातिक के समान अन्य रोहिणी भी मारक होती है। भोज ने दोषों के अनुसार इसकी मारकता का काल बताया है। यथा—वातिक रोहिणी सात दिन में, पैत्तिक पांच दिन में, श्लैष्मिक तीन दिन में और सान्निपातिक रोहिणी सद्योमारक होती है। (प्रमाणभूत श्लोक मधुकोष में देखें)

रोहिणी को आजकल डिफ्थीरिया (Diphtheria)कहते हैं। डिफ्थीरिया का दण्डाणु (B. Diphtheria) इस व्याधि का उत्पादक कारण है। इसके उपसर्ग से गले में एक झिल्ली बन जाती है जो स्वरयन्त्र और नासिका में फैलकर श्वासावरोध उत्पन्न करती है। इस झिल्ली को मिथ्या झिल्ली (False or pseudo membrane) कहते हैं। इसका सञ्चय-काल दो से चार दिन है। कभी-कभी इससे भी अधिक होता है। यह बच्चों का रोग है। रोगी या वाहक (Carrier) बालक के बोलने-खाँसने और छींकने से इस रोग का स्वस्थों में उपसर्ग होता है। इससे हृदय दुर्बल हो जाता है। नाड़ी की गति तीव्र और तापक्रम १००°–१०४° तक रहता है। ठीक समय पर चिकित्सा न करने पर श्वासावरोध या हृदयावसाद से मृत्यु हो जाती है। इसके निम्न उपद्रव होते हैं—

(१) हृदय—हार्दिक पेशियों की दुर्बलता के परिणामस्वरूप रक्तदाब कम हो जाता है। कभी-कभी मूर्च्छा और मृत्यु भी हो सकती है।

(२) **नाडीसंस्थान**—मृदुतालु (Soft palate) और ग्रसनिका (Pharynx) की पेशियों का घात होने से रोगी का स्वर अनुनासिक (नाक से बोलना) हो जाता है और भोजन उदर में न पहुँच कर नासिका की ओर चढ़ जाता है। आँखों की पेशियों का घात होने से नेत्र के देखने और अनुकूलन (Accomodation) की शक्ति कम हो जाती है। कभी-कभी पक्षाघात (Hemiplegia) और पङ्गुता (Paraplegia) भी हो जाता है।

(३) **श्वसनसंस्थान**—श्वसनीशोथ (Bronchitis) तथा श्वसनी-फुफ्फुसपाक (Bronchopneumonia) ये दो इसके मुख्य उपद्रव हैं।

वातिकादिभेदेन रोहिण्या लक्षणान्याह—

जिह्वासमन्ताद्भृशवेदनास्तु मांसाङ्कुराः कण्ठविरोधिनो ये[1] ।
सा रोहिणी वातकृता प्रदिष्टा वातात्मकोपद्रवगाढयुक्ता ॥३९॥
क्षिप्रोद्गमा क्षिप्रविदाहपाका तीव्रज्वरा पित्तनिमित्तजा तु ।
स्रोतो निरोधिन्यचलोद्गता च स्थिराङ्कुरा या कफसंभवा सा ॥४०॥
गम्भीरपाकिन्यनिवार्यवीर्या त्रिदोषलिङ्गा त्रितयोत्थिता च । (सु. नि. १६)
स्फोटैश्चिता पित्तसमानलिङ्गा साध्या प्रदिष्टा रुधिरात्मिका तु ॥४१॥

१. कण्ठविरोधिना स्युः इति ख.।

जिह्वा के चारों ओर तीव्र पीड़ा युक्त, गले में अवरोध करने वाले और कम्प, स्तम्भ आदि वातिक उपद्रवों (Nervous complications) से युक्त जो मांसाङ्कुर होते हैं उसे वातिक रोहिणी कहते हैं। जल्दी उत्पन्न होने वाली, जल्दी जलन युक्त और पकने वाली तथा तीव्रज्वरयुक्त रोहिणी पित्तज कहलाती है। स्रोतों में अवरोध करने वाली, निश्चल, उभड़े हुए तथा स्थिर अंकुरों वाली रोहिणी कफज होती है। गम्भीर धातुओं में पाक करने वाली, चिकित्सा करने पर भी न घटने वाली और तीनो दोषों के लक्षणों से युक्त रोहिणी सन्निपातज कहलाती है। छालों से व्याप्त तथा पित्त के समान लक्षणों वाली रोहिणी रक्तज कहलाती है। यह साध्य होती है ॥ ३९-४१ ॥

वातजादिभेदेन रोहिणीलक्षणमाह–जिह्वेत्यादि। जिह्वासमन्तादिति जिह्वायाः सर्वत इत्यर्थः। वातात्मकोपद्रवगाढयुक्तेति वातात्मका उपद्रवाः कम्पविनामस्तम्भादयस्तैरतिशयमनुगता। त्रिदोषजायामनिवार्यवीर्येति क्रिययाऽपि न निवार्यं वीर्यमस्याः, सद्योमारकत्वादित्यर्थः। त्रितयोत्थितेति दोषत्रयोत्थिता पित्तलिङ्गातिदेशस्याव्यवहितत्वप्रतीत्यर्थं पित्तरोहिण्यनन्तरं रक्तजाया वक्तुमुचितायाः शेषेऽभिधानमितररोहिण्यपेक्षया सुखसाध्यत्वख्यापनार्थमिति केचित् ॥ ३९-४१ ॥

कण्ठशालूकलक्षणं निरूपयति—

कोलास्थिमात्रः कफसंभवो यो ग्रन्थिर्गले कण्टकशूकभूतः। (सु.नि. १६)
खरः स्थिरः शस्त्रनिपातसाध्यस्तं कण्ठशालूकमिति ब्रुवन्ति ॥ ४२ ॥

बेर की गुठली के समान आकार वाली कफ से उत्पन्न और काँटे या शूक के समान, खुरदरी, स्थिर तथा शस्त्र क्रिया से साध्य जो ग्रन्थि गले में होती है उसे कण्ठशालूक कहते हैं ॥४२॥

कण्ठशालूकलक्षणमाह—कोलेत्यादि। कण्टकशूकभूत इति कण्टकवत् शूकवच्च वेदनाजनकः भूतशब्द उपमानार्थे; किंवा कण्टकोपलक्षितः शूको जलशूकः, स इव भूतो जातः। कठिनगुडकतया शालूकसमत्वेन कण्ठशालूकम्। शालूकं जलोत्पलकन्दम् ॥ ४२ ॥

विमर्शः—जलोत्पलकन्द को शालूक कहते हैं। उसके समान कठिन ग्रन्थि को भी शालूक ही कहते हैं। यह नासा के पश्चिम भाग में होता है। इससे नासा-मार्ग का अवरोध हो जाता है। इसमें कफ की विशेषता रहती है। नासामार्ग के बन्द होने से रोगी मुख से श्वास लेता है। कुछ विद्वान् इसकी उत्पत्ति ग्रसनिका ग्रन्थि (Pharyngeal tonsil) में मानते हैं। और पूर्वोक्त 'तुण्डिकेरी' के स्थान पर इसी को आधुनिक (Tonsilitis) कहते हैं किन्तु वह सुश्रुत द्वारा तालुगत और वाग्भट द्वारा हनुसन्धि में और कण्ठगत बतलाया गया है। उसकी आकृति वन-कपास के फल के समान (बड़ी) बतायी गयी है। कण्ठशालूक को सभी आचार्य कण्ठगत एवं बेर की गुठली के समान (छोटी ग्रन्थि) बताते हैं। अतः कण्ठशालूक को आधुनिक 'एडिनायड' (Adenoid) मानना ही उचित प्रतीत होता है। यह नासा पश्चिम गल (Nasopharynx) में होती है।

अधिजिह्विकां लक्षयति—

जिह्वाग्ररूपः श्वयथुः कफात्तु जिह्वोपरिष्टादपि रक्तमिश्रात्। (सु. नि. १६)
ज्ञेयोऽधिजिह्वः खलु रोग एष विवर्जयेदागतपाकमेनम् ॥ ४३ ॥

जिह्वा के मूल के ऊपर जिह्वा के अग्रभाग के समान रक्तयुक्त कफ से होने वाले शोथ को अधिजिह्विका कहते हैं। यदि यह पक जाय तो चिकित्सा न करनी चाहिये ॥ ४३ ॥

अधिजिह्विकामाह—जिह्वाग्ररूप इत्यादि। जिह्वोपरिष्टादित्यनेन जिह्वामूलजातामुपजिह्वां

व्यावर्तयति । अपि रक्तमिश्रादिति न केवलात् कफाद्भवति, किंतु रक्तमिश्रादेव कफादित्यर्थः । अपिरवधारणे । आगतपाकत्वेन पित्तमप्यत्र द्रष्टव्यम् ॥ ४३ ॥

विमर्श—चरक और वाग्भट इसे उपजिह्विका कहते हैं । जिह्वा के नीचे के शोथ को अधिजिह्विका कहते हैं (श्लोक ३३ का विमर्श देखें) जिह्वामूल के ऊपर एक जीभ के आकार की रचना मिलती है जिसे इपिग्लोटिस (Epiglottis) कहते हैं। यह इसी रचना का शोथ (Epiglottitis) है ।

वलयमाह—

बलास एवायतमुन्नतं च शोथं करोत्यन्नगतिं निवार्य । (सु. नि. १६)
तं सर्वथैवाप्रतिवार्यवीर्यं विवर्जनीयं वलयं वदन्ति ॥ ४४ ॥

अकेला कफ ही अन्न-मार्ग का अवरोध करके फैले हुए उन्नत तथा किसी प्रकार शान्त न होने वाले असाध्य शोथ को उत्पन्न करता है, उसे वलय कहते हैं ॥ ४४ ॥

वलयमाह-बलास एवेत्यादि । बलासः कफः । अन्नगतिमिति अन्नस्य गतिर्येन स्रोतसा सोऽन्नगतिरन्नवहमार्गः, अन्नस्य प्रवेशो वा । कफजोऽप्ययं प्रभावादसाध्यः ॥ ४४ ॥

विमर्श—चक्रपाणि दत्त वलय और चरकोक्त विडालिका को एक ही मानते हैं ।

गलस्य सन्धौ चिबुके गले च सदाहरागः श्वसनासु चोग्रः ।
शोफो भृशार्तिस्तु विडालिका स्याद् हन्याद्गले चेद्वलयीकृता सा ॥ (च० चि० १२)

बलाशलिङ्गमाह—

गले तु शोथं कुरुतः प्रवृद्धौ श्लेष्मानिलौ श्वासरुजोपपन्नम् ।
मर्मच्छिदं दुस्तरमेनमाहुर्बलाशसंज्ञं निपुणा विकारम् ॥४५॥ (सु. नि. १६)

कफ और वायु प्रकुपित होकर गले में श्वासकृच्छ्र और पीडा से युक्त मर्मघाती सूजन उत्पन्न कर देते हैं । उस कष्टसाध्य रोग को विद्वान् बलाश कहते हैं ॥ ४५ ॥

बलाशलिङ्गमाह—गल इत्यादि । मर्मच्छिदमिति प्राणायतनहृदयमर्मच्छिदम् ॥ ४५ ॥

विमर्श—वाग्भट ने इसका पाठ अलग नहीं किया है और वलय का ही रूपान्तर माना है ।

एकवृन्दं लक्षयति—

वृत्तोन्नतोऽन्तः श्वयथुः सदाहः सकण्डुरोऽपाक्यमृदुर्गुरुश्च ।
नाम्नैकवृन्दः परिकीर्तितोऽसौ व्याधिर्बलासक्षतजप्रसूतः ॥ (सु. नि. १६.)

गले के अन्दर गोल, उभरा हुआ, दाह और खुजली से युक्त, न पकने वाला, अल्प मृदु और भारी कफ तथा रक्त से उत्पन्न होने वाला शोथ एकवृन्द कहलाता ॥ ४६ ॥

एकवृन्दमाह—वृत्तोन्नत इत्यादि । अन्तःश्वयथुरिति गलस्यान्तर्मध्ये । सदाह इति मन्ददाहः, सहशब्द ईषदर्थे । अपाक्यमृदुरिति अपाकी ईषत्पाकी अमृदुरीषन्मृदुः, अन्ये 'अपाकमृदुः' इति पठन्ति, अपाकश्चासौ मृदुश्चेति अपाकमृदु बलासक्षतजप्रसूत इति कफरक्तभव इत्यथः ॥ ४६ ॥

वृन्दं प्राह—

समुन्नतं वृत्तममन्ददाहं तीव्रज्वरं वृन्दमुदाहरन्ति ।
तच्चापि पित्तक्षतजप्रकोपाज्ज्ञेयं सतोदं पवनात्मकं तु ॥४७॥ (सु. नि. १६)

अधिक उठे हुए, गोल, तीव्रदाह और तीव्रज्वर से युक्त व्याधि को वृन्द कहते हैं। यह पित्त और रक्त के प्रकोप से होता है। इसमें वायु का अनुबन्ध होने पर सुई के समान चुभन पाई जाती है ॥ ४७ ॥

वृन्दमाह—समुन्नतमित्यादि। वृन्दमेव पवनानुविद्धं सतोदं स्यात्। ननु, सप्तदश कण्ठगता उक्ताः; उक्तं हि, 'सप्तदशामयाः कण्ठे' इति, वृन्देन सहाष्टादश स्युः? उच्यते, एकवृन्दस्यावस्थाविशेष एव वृन्दः; तुल्यस्थानाकृतितो न संख्यातिरेकः; यद्यप्येकवृन्दः कफरक्तजः वृन्दस्तु पित्तरक्तजः पठितः, तथा वृन्दस्यैव सतोदत्वेन वातात्मकत्वमुक्तं, तथाऽप्येकवृन्दस्यावस्थाविशेषत्वेन वृन्दः सङ्गृहीत एव; यथा कामलायां तद्भिन्नहेतुलक्षणस्यापि हलीमकस्य संग्रहः, यथा वातमदात्ययेन ध्वंसकविक्षेपकयोरत्यन्ताभेदेऽपि स एव स्यान्न पुनस्तेन संग्रहः, भोजे प्ययमेकवृन्दज एव पठितः। यदाह—'श्लेष्मरक्तसमुत्थानमेकवृन्दं विभावयेत्। तुल्यस्थानाकृतिर्वृन्दो वृन्दजो रक्तपित्तजः' इति। वृन्दज इत्येकवृन्दजः। गदाधरस्तु कारणभेदाद्धर्मभेदाच्चोत्पन्नत्वेन चैककार्यकारणयोरभेदप्रसङ्गमभिधाय वृन्दशब्दं छन्दोनुरोधादादिलोपादेकवृन्द एव वर्णयति, तथा च सति समुन्नतमित्यादिना पित्तानुबन्धसहितबहुलरक्तकृतैकवृन्दस्य लक्षणमुच्यते, सतोदं पवनात्मकं चेत्यनेन च वातानुबन्धैकवृन्दलक्षणमिति व्याख्येयम्। परं तु वृन्दजो वृन्द इति भोजवचनेनासङ्गतमिदं व्याख्यानम् ॥ ४७ ॥

विमर्श—'सप्तदश कण्ठे' यद्यपि सुश्रुत की प्रतिज्ञा के अनुसार गले में सत्रह रोग ही होते हैं और यहाँ वृन्द को मिला कर ये अठारह हो जाते हैं तथापि वृन्द के एकवृन्द की अवस्था विशेष होने से संख्या अधिक नहीं होती। भेद केवल इतना है कि एकवृन्द कफ-रक्तज होता है और वृन्द पित्तरक्तज। स्थान दोनों के समान ही हैं। जिस प्रकार भिन्न निदान और लक्षण वाले हलीमक का कामला में और ध्वंसक और विक्षेपक का वातिक मदात्यय में समावेश हो जाता है, वैसे ही वृन्द का समावेश एकवृन्द में हो जाता है। आचार्य भोज ने भी वृन्द को एकवृन्द की ही अवस्था विशेष माना है—

श्लेष्मरक्तसमुत्थानमेकवृन्दं विभावयेत्। तुल्यस्थानाकृतिर्वृन्दो वृन्दजो रक्तपित्तजः॥

यहाँ वृन्दजः में एक शब्दलुप्तनिर्दिष्ट है। अर्थात् वृन्द एकवृन्द से ही उत्पन्न होता है यह अभिप्राय है।

शतघ्नीलक्षणमाह—

वर्तिर्घना कण्ठनिरोधिनी या चिताऽतिमात्रं पिशितप्ररोहैः।
अनेकरुक् प्राणहरी त्रिदोषाज्ज्ञेया शतघ्नी च शतघ्निरूपा॥ (सु. नि. १६)

कठिन और गले के मार्ग को रोकने वाली, मांसाङ्कुरों से पूर्णतया व्याप्त, विविध प्रकार की वेदनाओं से युक्त, प्राणहरण करने वाली शतघ्नी के समान त्रिदोषजन्य ग्रन्थि को शतघ्नी कहते हैं॥

शतघ्नीलक्षणमाह—वर्तिरित्यादि। अनेकरुगिति वातपित्तकफजतोददाहकण्ड्वादिवेदनान्वितेत्यर्थः। शतघ्निरूपेति अयःकण्टकाच्छन्ना महती शिला शतघ्नी तत्तुल्या। प्राणहरीत्यसाध्या। भोजेऽप्युक्तं—'शङ्कुनेव गले विद्धा शतघ्न्येषा न सिध्यति' इति॥ ४८॥

विमर्श—काँटों से व्याप्त लोहमय बड़ी शिला को शतघ्नी कहते हैं। भोज भी इसे असाध्य मानते हैं—

'शङ्कुनेव गले विद्धा शतघ्न्येषा न सिध्यति'।

गलायुं निरूपयति—

ग्रन्थिर्गले त्वामलकास्थिमात्रः स्थिरोऽतिरुग्यः कफरक्तमूर्त्तिः।

संलक्ष्यते सक्तमिवाशनं च स शस्त्रसाध्यस्तु गलायुसंज्ञः॥४९॥ (सु.नि.१६)

गले में आमले की गुठली के बराबर, स्थिर (निश्चल), तीव्र पीडायुक्त कफरक्तजन्य ग्रन्थि को गलायु कहते हैं। इसके कारण गले में भोजन सा अटका रहता है। यह शस्त्रसाध्य व्याधि है ॥४०॥

गलायुलक्षणमाह—ग्रन्थिरित्यादि। कफरक्तमूर्तिरिति कफरक्तजः। सक्तमिवेति लग्नमिव, अशनं भुक्तम् ॥ ४९ ॥

विमर्श—सुश्रुत इसे गिलायु कहते हैं।

गलविद्रधिं प्राह—

सर्वं गलं व्याप्य समुत्थितो यः शोथो रुजः सन्ति च यत्र सर्वाः।
स सर्वदोषैर्गलविद्रधिस्तु तस्यैव तुल्यः खलु सर्वजस्य ॥५०॥(सु.नि. १६)

जो सूजन तीनों दोषों से उत्पन्न होकर सारे गले में फैल जाती है और जिसमें सब दोषों की पीड़ायें होती हैं उसे गलविद्रधि कहते हैं। यह सामान्य त्रिदोषज विद्रधि के समान ही है ॥ ५० ॥

गलविद्रधिलिङ्गमाह—सर्वमित्यादि। तस्यैव तुल्यः खलु सर्वजस्येति प्रागुक्तस्य विद्रधेः सन्निपातजस्य तुल्य इत्यर्थः। स च स्थानप्रभावेण सन्निपातज एव, चिकित्साभेदार्थं च पुनः पठितः ॥ ५० ॥

गलौघं लक्षयति—

शोथो महानन्नजलावरोधी तीव्रज्वरो वायुगतेर्निहन्ता। (सु. नि. १६)
कफेन जातो रुधिरान्वितेन गले गलौघः परिकीर्त्यते तु ॥ ५१ ॥

कफ और रक्त से उत्पन्न अन्न और जल का अवरोध करने वाला तीव्र ज्वरयुक्त और वायु की गति को रोकने वाला बड़ा शोथ गलौघ कहलाता है ॥ ५१ ॥

गलौघलक्षणमाह—शोथ इत्यादि। वायुगतेर्निहन्तेति अतिमहत्त्वादुदानवायुगतिरोधक इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

विमर्श—अधिक बड़ा होने के कारण अन्न और जल के निगलने में कठिनाई होती है। श्वासवायु का निर्गमन भी कठिन हो जाता है।

स्वरघ्नलक्षणमाह—

यस्ताम्यमानः श्वसिति प्रसक्तं भिन्नस्वरः शुष्कविमुक्तकण्ठः।
कफोपदिग्धेष्वनिलायनेषु ज्ञेयः स रोगः श्वसनात् स्वरघ्नः॥५२॥(सु.नि. १६)

वायुमार्गों (श्वासनलिका, श्वसनी व फुफ्फुस) के कफ से लिप्त होने पर जो रोगी निरन्तर कष्ट से श्वास लेता है, जिसका स्वर भिन्न है और जिसका गला शुष्क और नियन्त्रणहीन हो गया है उस रोगी के इस वातजन्य रोग को स्वरघ्न कहते हैं ॥ ५२ ॥

स्वरघ्नलक्षणमाह—य इत्यादि। ताम्यमान इति मूर्च्छां गच्छन्, अथवा तमः पश्यन्। श्वसिति प्रसक्तमिति निरन्तरं श्वसिति। शुष्कविमुक्तकण्ठ इति शुष्को नीरसो विमुक्तश्चास्वाधीनः कण्ठो यस्य स तथा। अस्वाधीनता च किमपि गिलितुमशक्यतया बोद्धव्या। अनिलायनेष्विति अनिलमार्गेषु कफरुद्धेषु सत्सु, वायुगतस्रोतसोर्द्वित्वेऽपि बहुवचनं प्रतानबहुत्वात्। श्वसनादिति वातात् ॥ ५२ ॥

विमर्श—इस रोग में गले पर रोगी का नियन्त्रण नहीं रह जाता, उसके निगलने और बोलने की शक्ति नष्ट हो जाती है। स्वर का नाश करने के कारण ही इसे स्वरघ्न कहते हैं।

मांसतानमाह—

प्रतानवान् यः श्वयथुः सुकष्टो गलोपरोधं कुरुते क्रमेण । (सु. नि. १६)
स मांसतानः कथितोऽवलम्बी प्राणप्रणुत् सर्वकृतो विकारः ॥ ५३ ॥

जो फैला हुआ और अत्यधिक कष्ट देने वाला एवं नीचे को लटकता हुआ त्रिदोषज शोथ क्रमशः गले को बन्द कर देता है उस प्राणनाशक रोग को मांसतान कहते हैं ॥ ५३ ॥

मांसतानलिङ्गमाह—प्रतानवानित्यादि । प्रतानवानिति विस्तारवान् । सुकष्ट इति महादुःखप्रदायी, न तु कृच्छ्रसाध्यः, प्राणप्रणुदिति वचनात्; अथवा पाकतः कष्टसाध्यः, समस्तगलोपरोधे तु प्राणप्रणुत् । 'स मांसतानः कथितोऽवलम्बी' इत्यस्य स्थाने 'स मांसतानेति बिभर्ति संज्ञाम्' इति पाठान्तरे मांसतानेत्यत्र इतिशब्देन प्रातिपदिकार्थस्योक्तत्वाद्विभक्त्यभावः । 'बिभर्ति संज्ञाम्' इत्यस्य स्थाने 'निरुणद्धि चेष्टाम्' इति कार्तिकः । अस्मिन् व्याख्याने स मांसतान इत्यस्यानन्तरं ख्यात इति द्रष्टव्यम् ॥ ५३ ॥

विदारीलक्षणमाह—

सदाहतोदं श्वयथुं सुताम्रमन्तर्गले पूतिविशीर्णमांसम् । (सु. नि. १६)
पित्तेन विद्याद्वदने विदारीं पार्श्वे विशेषात् स तु येन शेते ॥ ५४ ॥

जलन और सुई के चुभने जैसी पीडा से युक्त, लाल वर्ण का, दुर्गन्धित और गले हुए मांस वाला जो पित्तज शोथ गले के भीतर और मुख में होता है उसे विदारी कहते हैं । रोगी जिस करवट से सोता है विशेषतया यह भी मुख के उसी ओर होता है ॥ ५४ ॥

विदारीलक्षणमाह-सदाहतोदमित्यादि । वदन इति स्वरूपपरमिदम्, अन्तर्गल इत्यनेनैव वदनशब्दस्य लब्धत्वात् । पार्श्वे विशेषात् स तु येन शेते इति स पुरुषो येन पार्श्वेन विशेषाद्बाहुल्येन शेते तस्मिन्नेव पार्श्वे विदारी भवतीत्यर्थः । विशेषग्रहणादन्यस्मिन् पार्श्वेऽपि संभवोऽस्याः । विदारीसंज्ञा च मांसविदारणेन । भोजेऽप्युक्तं—'पित्तेन जातो वदने विकारः पार्श्वे विशेषात् स तु येन शेते । स्नायुप्रतानप्रभवो विशेषाद्दाहप्रपाकप्रचुरो विदारी' इति ॥ ५४ ॥

विमर्श—वाग्भट ने अधिजिह्वा का पाठ तालुगत रोगों में तथा तुण्डिकेरी का गल रोगों में संग्रह किया है । बलाश और वलय दोनों को एक ही माना है; मांसतान और विदारी का उल्लेख ही नहीं किया है; 'गलार्बुद' नामक रोग का अलग उल्लेख किया है (**जिह्वावसाने कण्ठादावपाकं श्वयथुं मलाः । जनयन्ति स्थिरं रक्तं नीरुजं तद्गलार्बुदम्**) एवं तीन प्रकार के गलगण्ड भी गिन कर गल रोगों की संख्या १८ बताई है ।

वातिकादिमुखपाकं लक्षयति—

स्फोटैः सतोदैर्वदनं समन्ताद्यस्याचितं सर्वसरः स वातात् । (सु. नि. २६)
रक्तैः सदाहैस्तनुभिः सपीतैर्यस्याचितं चापि स पित्तकोपात् ।
अवेदनैः कण्डुयुतैः सवर्णैर्यस्याचितं चापि स वै कफेन ॥ ५५ ॥

जिसका मुख तोदयुक्त छालों से व्याप्त हो उसे वातिक सर्वसर या मुखपाक कहना चाहिये । जिसका मुख लालवर्ण की दाहयुक्त छोटी और पीली फुन्सियों (छालों) से व्याप्त हो उसे पित्तज मुखपाक समझना चाहिये । जिसका मुख पीडारहित, खुजलीयुक्त और त्वचा के वर्ण के छालों से व्याप्त हो उसे कफज सर्वसर (मुखपाक) कहते हैं ॥ ५५ ॥

सर्वसराख्योऽभिधीयन्ते—स्फोटैरित्यादिना। मुखगतौष्ठादिसप्तस्थानव्यापकतया सर्वसरत्वं ज्ञेयम्। स्फोटैरिति वदनमिति चोत्तरत्र संबन्धनीयम्। आचितं व्याप्तम्। सर्वसरा मुखपाका उच्यन्ते। केचिद्विदेहोक्तरक्तजसर्वसरलक्षणं पठन्ति। यथा 'रक्तेन पित्तोदित एव चापि कैश्चित् प्रदिष्टो मुखपाकसंज्ञः' इति। अयं च पैत्तिक एवान्तर्भूत इति नेह दर्शित इति।

विमर्श—सर्वसरा रोगाः—मुख के सातों भागों में होने से इन्हें सर्वसर कहते हैं। इसे आधुनिक मुख-पाक (Stomatitis) समझना चाहिये। यह वात, पित्त और कफ भेद से तीन प्रकार का होता है।

माधव ने रक्तज मुखपाक का वर्णन नहीं किया है किन्तु सुश्रुत और विदेह आदि इसका भी पृथक् वर्णन करते हैं—

रक्तेन पित्तोदित एव चापि कैश्चित् प्रदिष्टो मुखपाकसंज्ञः॥ (सु० नि० १६)

इसके लक्षण पित्तज के समान ही होते हैं, अतः माधव ने इसका अन्तर्भाव पित्तज में ही कर लिया है और सुश्रुत भी इसको **'कैश्चित् प्रदिष्टः'** के द्वारा एकीय मत ही मानते हैं।

वाग्भट और शार्ङ्गधर इसे मुखपाक ही कहते हैं—

मुखपाको भवेद्वातात् पित्तात्तद्वत्कफादपि। रक्ताच्च सन्निपाताच्च······॥

ओष्ठप्रकोपादीनामसाध्यतां निरूपयति—

ओष्ठप्रकोपे वर्ज्याः स्युर्मांसरक्तत्रिदोषजाः।
दन्तमूलेषु वर्ज्यौ च त्रिलिङ्गगतिशौषिरौ॥ ५६॥
दन्तेषु च न सिध्यन्ति श्यावदालनभञ्जनाः।
जिह्वारोगे बलाशस्तु तालव्येष्वर्बुदं तथा॥ ५७॥
स्वरघ्नो वलयो वृन्दो बलाशश्च विदारिका।
गलौघो मांसतानश्च शतघ्नी रोहिणी गले॥ ५८॥
असाध्याः कीर्तिता ह्येते रोगा नव दशैव तु। (सु. नि. १६)
तेषु चापि क्रियां वैद्यः प्रत्याख्याय समाचरेत्॥ ५९॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने मुखरोगनिदानं समाप्तम्॥ ५६॥

मांसज, रक्तज और त्रिदोषज ओष्ठ-प्रकोप असाध्य होते हैं। मसूढे के रोगों में त्रिदोषज नाड़ी और शौषिर असाध्य हैं। दन्त रोगों में श्यावदन्तक, दालन और भञ्जनक असाध्य हैं। जिह्वा रोगों में बलाश और तालु रोगों में अर्बुद असाध्य हैं। गले के रोगों में स्वरघ्न, वलय, वृन्द, बलाश, विदारिका, गलौघ, मांसतान, शतघ्नी तथा रोहिणी असाध्य होते हैं। ये उन्नीस मुख रोग असाध्य बताये गये हैं। किन्तु प्रत्याख्यानपूर्वक (पहिले मना करके) इनकी भी चिकित्सा करनी चाहिये॥

ओष्ठप्रकोपादिष्वसाध्यानाह—ओष्ठप्रकोपे इत्यादि। त्रिलिङ्गगतिशौषिराविति त्रिदोषजनाडी त्रिदोषजश्च महाशौषिरोऽसाध्यः। रोहिणी गल इति त्रिदोषजा रोहिणी॥ ५६–५९॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां मुखरोगनिदानं समाप्तम्॥ ५६॥

विमर्श—गले में वर्णित वलय आदि कतिपय रोगों की आधुनिक किसी रोग विशेष से तुलना नहीं की जा सकती। ये अनेक रोगों में उपद्रव स्वरूप या रोग की अत्युग्रावस्था में उत्पन्न होते हैं और कष्टसाध्य या असाध्य होते हैं। वाग्भट ने दातून आदि न करने से उत्पन्न मुख की दुर्गन्धि 'पूतिवक्त्रता' का भी मुखपाक के बाद वर्णन किया है—

'पूत्यास्यतां च तैरेव दन्तकाष्ठादिविद्विषः। ओष्ठे गण्डे द्विजे मूले जिह्वायां तालुके गले॥
(अ० हृ० उ० व० २१)

इस प्रकार सुश्रुत ने सर्वमुखज तीन और वाग्भट ने रक्तसहित तीनों दोषों से पृथक्-पृथक उत्पन्न मुखपाक चार और यही चार पूतिमुखता यह आठ रोग माने हैं।

समाप्तं चेदं मुखरोगनिदानम्

अथ कर्णरोगनिदानम्

कर्णशूलं व्याचष्टे—

समीरणः श्रोत्रगतोऽन्यथाचरन् समन्ततः शूलमतीव कर्णयोः। (सु. उ. २०)
करोति दोषैश्च यथास्वमावृतः स कर्णशूलः कथितो दुराचरः॥ १॥

अपने-अपने कारणों से प्रकुपित हुए दोषों से आवृत और प्रतिलोम गमन करने वाली वायु कानों में जाकर तीव्र शूल को उत्पन्न करती है इस कृच्छ्रसाध्य व्याधि को कर्णशूल कहते हैं॥ १॥

मुखरोगे जिह्वाश्रयरोगोऽभिहितः, जिह्वा चेन्द्रियाधिष्ठानम्, अत इन्द्रियाधिष्ठानदुष्टिसाम्यात् कर्णरोगनिदानमुच्यते, कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नमदृष्टोपगृहीतं श्रोत्रमुच्यते, तत्र यद्यप्येकदेशगतो रोगस्तथाऽप्यवयवेऽपि समुदायोपचारतः कर्णव्यपदेशः। तत्र कर्णशूलं कष्टत्वात् प्रागाह—समीरण इत्यादि। अत्रानयैव संप्राप्त्याऽर्थतो निदानसंचयाद्याक्षिप्तं; यतो निदानात् संचयः, संचयात् प्रकोपः, प्रकोपात् प्रसरः, प्रसरात् स्थानसंश्रयः, ततो व्यक्तिः, ततो भेद इति। कर्णशूलस्य च कष्टत्वं मूर्च्छाद्युपद्रवयोगात् यदाह विदेहः-**मूर्च्छा दाहो ज्वरः कासो हृल्लासो वमथुस्तथा। उपद्रवाः कर्णशूले भवन्त्येते मरिष्यतः' इति। अन्यथाचरन्निति प्रतिलोमं चरन्। दोषैरिति कफपित्तरक्तैः, रक्तेऽपि रुजाकर्तृत्वात् सामान्येन दोषव्यपदेशः। यथास्वमावृत इति स्वनिदानकुपितदोषैर्यथास्वीयलक्षणैरावृतो न तु कोपितेन वायुना; 'एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्' इति न्यायात्; यतः स्वतन्त्रकुपिता दोषाः संसर्गभाजो भवन्ति, परतन्त्रकुपितास्त्वनुबन्धरूपा भवन्ति; अथवा यथास्वमिति शूलविशेषणं, यथास्वीयमित्यर्थः। दुराचर इति दुःखेनाचर्यत इति दुराचरः॥१॥**

विमर्श—कर्णरोग से साधारणतया कान के किसी भी भाग में होने वाले सभी रोगों का ग्रहण हो जाता हैं। यद्यपि कर्णशष्कुली के अन्दर रहने वाले अदृश्य इन्द्रिय को श्रोत्र कहते हैं। **'कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नमदृष्टोपगृहीतं श्रोत्रमुच्यते'** (श्री कण्ठदत्त) इस प्रकार यद्यपि आभ्यन्तर अदृश्य कर्ण का ही ग्रहण होना चाहिए किन्तु अवयवावयविभावेन सम्पूर्ण इन्द्रियाधिष्ठान का भी ग्रहण हो जाता है। कान के तीन भाग हैं :—

(१) **बाह्यकर्ण** (External ear)—इसके दो भाग हैं। एक भाग ऊपर की ओर तरुणास्थि से बना होता है और नीचे सौत्रिक तन्तु तथा मेद से बना होता है। इनको क्रमशः कर्णशष्कुली

और कर्णपाली कहते हैं। इनके मध्य में सामने की ओर त्रिकोणाकृति कठिन भाग कर्णपुत्रिका कहलाता है। दूसरे भाग को बाह्य कर्णपथ या कर्णकुहर (External auditory meatus) कहते हैं। यह पथ एक पर्दे जिसे पटह (Tympanic membrane or drum) कहते हैं-तक विस्तृत रहता है। शब्द कर्णपाली से टकरा कर इस मार्ग से अन्दर प्रवेश करके पटह से टकराता है।

(२) **मध्यकर्ण** (Middle ear) पटह के बाद मध्यकर्ण प्रारम्भ होता है। इसमें आगे पीछे तीन अस्थियाँ लगी रहती हैं। आकार सदृश ही इनके नाम रखे गये हैं। सबसे आगे वाली मुदगर (Hammer or malleus) बीचवाली को अंकुश (Anvil or Incus) और पीछे वाली को रकाब या शूर्मिका (Stirrup or stapes) कहते हैं। यह भाग शंखास्थि के अन्दर रहता है। इससे एक नलिका गले की ओर जाती है जिसे श्रुतिसुरंगा (Eustachian tube) कहते हैं। कर्णपटह से आई हुई स्वर लहरियाँ मध्यकर्ण में होकर अन्तःकर्ण तक पहुँचती हैं।

(३) अन्तःकर्ण (Internal ear)—इसे लैबिरिन्थ (Labyrinth) भी कहते हैं यह शम्बूकाकृति होता है। यहीं श्रुतिनाडी के अग्र फैले रहते हैं जो शब्द का मस्तिष्क तक संवहन करते हैं। अन्तःकर्ण से सम्बद्ध तीन अर्धचन्द्राकृति नलिकायें (Semicircular canals) भी होती हैं किन्तु उनका शब्द ग्रहण से विशेष सम्बन्ध नहीं होता। इनका कार्य शरीर की हलचल और उनके समन्वय-स्थापना से होता है। इनके क्षोभ से भ्रम या चक्कर आने लगते हैं।

कर्णरोगों के कारण—ओस का अधिक सेवन, जलक्रीडा, कान का खुजाना तथा आघात, ये कर्ण रोगों के सामान्य कारण हैं:—

अवश्यायजलक्रीडाकर्णकण्डूयनैर्मरुत्। मिथ्यायोगेन शब्दस्य कुपितोऽन्यैश्च कोपनैः। प्राप्य श्रोत्रशिराः कुर्यात् शूलं स्रोतसि वेगवान्। ते वै कर्णगता रोगा अष्टाविंशतिरीरिताः॥

कान के दर्द को कर्णशूल (Otalgia or Earache) कहते हैं। कर्णशूल एक सामान्य लक्षण है जो कान के विभिन्न भागों की विकृति में पाया जाता है। बाह्यकर्ण की विकृति यथा फुन्सी या पनसिका में भी शूल पाया जाता है। कभी कभी कान में पानी भर जाने और मल के फूल जाने पर भी बाह्य कर्ण में शूल होता है। कभी कभी मल के अधिक दबाव से कर्णपटह फट जाता है जो कि बहुत कठिन रोग है। इसमें कान से रक्तस्राव तथा बधिरता हो सकती है। यह कृच्छ्रसाध्य व्याधि है। मध्यकर्णशोथ (Otitis media) में भी कर्णशूल होता है। कृमिदन्त या मसूड़े की सूजन में कान में संवाहित पीडा (Referred pain) होती है। कभी कभी प्रतिश्याय की अवस्था में शोथ श्रुतिसुरंगा (Eustachian tube) के द्वारा मध्यकर्ण में पहुच कर कर्णशूल उत्पन्न करता है। श्रुतिनाडी शोथ या कान्तारक शोथ (Labyrinthitis) में अन्तःकर्ण का शूल होता है।

दुराचरः—कर्णशूल रोग को कष्टसाध्य या असाध्य कहा गया है; क्योंकि इसमें मूर्च्छा, दाह, ज्वर तथा वमन ये उपद्रव होने की सम्भावना रहती है—'**मूर्च्छा-दाहो ज्वरः कासो हृल्लासो-वमथुस्तथा। उपद्रवाः कर्णशूले भवन्त्येते मरिष्यतः॥** (विदेहः)

साधरणतया बाह्यकर्ण की विकृति से उत्पन्न कर्णशूल असाध्य नहीं होता है। मध्यकर्ण के तीव्रपाक और अन्तःकर्ण की विकृति में उपरोक्त उपद्रव हो सकते हैं। अतः वे असाध्य समझने चहिये।

सुश्रुत ने वातव्याधि-प्रकरण में कर्णशूल का वर्णन कर पुनः कर्णरोगाध्याय में वर्णन किया है-उसके दो कारण हैं। (१) कर्णरोगों में कर्णशूल भी एक है अतः उसका संग्रह करना विशेषतः साध्यासाध्य ज्ञान के लिये अनुचित नहीं है। (२) वातव्याधि में वर्णित कर्णशूल स्वतन्त्र

वातजनित होता है किन्तु कर्णरोगाधिकार में वर्णित कर्णशूल अन्य दोषों से आवृत वातकृत होता है। इसीलिए वाग्भट ने दोषों के तारतम्य की दृष्टि से वातज, कफज, रक्तज और त्रिदोषज ये पाँच भेद भी बताए हैं। किन्तु सुश्रुत ने **'दोषैश्च यथास्वमावृतः'** कहना ही पर्याप्त माना है।

यहाँ आवरण के सम्बन्ध में कुछ टीकाकार विभिन्न वायुओं का ही आवरण मानते हैं किन्तु वाग्भटोक्त लक्षणों को देखते हुए यह मत ठीक नहीं प्रतीत होता है। तथा **'एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्'** इस न्याय से प्रकुपित वात द्वारा प्रकोपित अन्यदोष भी लक्षणों की उत्पत्ति मात्र में सहायक हो सकते हैं किन्तु वे अनुबन्ध रूप में ही रहेंगे। और स्वतन्त्र न होने से वायु के आवरण नहीं हो सकते। अतः स्वकारणप्रकुपित पित्तादि द्वारा ही वायु का आवरण और उनके अनुरूप लक्षणों से युक्त कर्णशूल ही यहाँ अभिप्रेत हैं।

कर्णनादं निरूप्य बाधिर्यं निरूपयति—

कर्णस्रोतःस्थिते वाते शृणोति विविधान् स्वरान्।
भेरीमृदङ्गशङ्खानां कर्णनादः स उच्यते ॥२॥ (सु. चि. २०)
यदा शब्दवहं वायुः स्रोतः आवृत्य तिष्ठति।
शुद्धः श्लेष्मान्वितो वाऽपि बाधिर्यं तेन जायते ॥३॥

जब कान के स्रोत में विकृत वायु स्थित हो जाती है तो रोगी भेरी, मृदङ्ग तथा शंख आदि के विविध स्वरों को सुनता है उसे कर्णनाद कहते हैं।

जब केवल वायु या श्लेष्मा से आवृत वायु शब्दवाही स्रोत को अवरुद्ध कर देता है तो उससे बाधिर्य (बहरापन) हो जाना है ॥ २-३ ॥

कर्णनादमाह—कर्णस्रोतःस्थित इत्यादि। यदा कर्णस्रोतसि विविधप्रकारेणावस्थितो वायुर्भवति तदा तस्य विविधाभिहननादुक्तविविधशब्दश्रवणं, भेरीमृदङ्गशङ्खानामित्युपलक्षणं, तेन भृङ्गारादिशब्दश्रवणं च भवति। यदुक्तं विदेहे—**'शिरोगतो यदा वायुः श्रोत्रयोः प्रतिपद्यते। तदा तु विविधान् शब्दान् समीरयति कर्णयोः॥ भृङ्गारक्रौञ्चनादं वा मण्डूककाकयोस्तथा। तन्त्रीमृदङ्गशब्दं वा सामतूर्यस्वनं तथा॥ गीताध्ययनवंशानां निर्घोषं क्ष्वेडनं तथा। अपामिव पतन्तीनां शकटस्येव गच्छतः॥ श्वसतामिव सर्पाणां सदृशः श्रूयते स्वनः' इति ॥ २-३ ॥**

विमर्श—जब कर्णस्रोत में वायु विविध प्रकार से स्थित होती है तो उसके कारण विविध प्रकार के आघात भी होते हैं जिनसे विभिन्न प्रकार के शब्दों की उत्पत्ति होती है। यहाँ कर्णस्रोत से शब्दवाहिनी नाडियों का और वायु से विमार्गगामी वायु का ग्रहण करना चाहिए। अतः सुश्रुत ने स्पष्ट कहा है:—

यदा तु नाडीषु विमार्गमागतः स एव शब्दाभिवहासु तिष्ठति।
शृणोति शब्दान् विविधाँस्तदा नरः प्रणादमेनं कथयन्ति चामयम् ॥ (सु० उ० २०)

आजकल इसे और वक्ष्यमाण कर्णक्ष्वेड को 'टिनिटस' (Tinitus) कहते है। इसका विशेष विवेचन कर्णक्ष्वेड के साथ किया जायगा। बाधिर्य दो प्रकार का होता है। (१) शुद्ध वातकृत, (२) आवृतवातकृत। अर्वाचीन दृष्टया भी इसके दो ही भेद होते हैं—(क) शब्दवाहिनी विकृतिजन्य (ख) नाडी से भिन्न कर्णावयव की विकृतिजनित।

(क) शब्दवह नाडी (Auditory nerve) की विकृति से उत्पन्न बाधिर्य को नाडीजन्य (Nerve deafness) कहते हैं। इसके निम्नाङ्कित कारण होते हैं। (१) वृद्धावस्था में नाडियों की क्रमिक दुर्बलता के कारण स्वभावतः बधिरता होती है। इसे **वृद्धोत्थ बाधिर्य** कहते हैं। इसकी चिकित्सा भी नहीं की जा सकती। (२) विषमयता—पाषाण गर्दभ, रोमान्तिका तथा आन्त्रिक ज्वर जैसे रोगों में भी कभी-कभी शब्दवाहिनी में विकार और बधिरता हो जाती है इसे **विषमयता-जन्य** बधिरता कहते हैं। (३) ओषधिजनित—किनीन आदि के प्रयोग से भी पूर्ववत् बधिरता होती है जिसे औषधजन्य नाडी बाधिर्य कहते हैं। (४) व्यावसायिक—तीव्र शब्दों के श्रवण के निरन्तर अतियोग से भी श्रवणेन्द्रिय और अन्तःकर्ण में विकार और बाधिर्य हो जाता है (५) मानसिक—किसी स्पष्ट विकार विशेषतः अन्तःकर्ण के विकार के बिना केवल घबड़ाहट, दुश्चिन्ता या स्तब्धता से भी विशिष्ट बाधिर्य उत्पन्न हो जाता है।

(ख) नाडी से भिन्न विकार—कान के मल, कान की विद्रधि या बाह्य कर्णशोथ से कर्णस्रोत के बन्द हो जाने से, कर्णपटह के फट जाने से और तीव्र प्रतिश्याय से भी बधिरता उत्पन्न होती है। इसका समावेश प्राचीन आवरण दोष जनित बाधिर्य में कर सकते हैं।

बच्चों में एक विशिष्ट बधिरता पायी जाती है। बधिरता के साथ-साथ बच्चा मूक भी होता है। इसे सबाधिर्य मूकता (Deaf-mutuism) कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है—

(१) सहज (Congenital)—बीज दोष के कारण श्रवण यन्त्र की रचना पूर्ण न होने से यह विकृति होती है।

(२) जन्मोत्तर (Acquired)—बचपन में मध्य कर्णशोथ, मस्तिष्कावरण शोथ या अन्य औपसर्गिक रोगों के कारण इसकी उत्पत्ति होती है। श्रवणकेन्द्र और वाक्केन्द्र के अतिसम्पर्क से **वाक्केन्द्र में** भी विकार आ जाता है विशेषतः श्रवणाभाव से शब्द का ज्ञान ठीक न होने से वाणीकेन्द्र भी विकसित नहीं हो पाता है। अतः बच्चों में बाधिर्य के साथ मूकता भी होती है।

कर्णक्ष्वेडं प्राह—

वायुः पित्तादिभिर्युक्तो वेणुघोषोपमं स्वनम्।
करोति कर्णयोः क्ष्वेडं कर्णक्ष्वेडः स उच्यते ॥ ४ ॥

वायु पित्त आदि दोषों से मिल कर वंशी की आवाज के समान कानों में ध्वनि उत्पन्न करता है इसे कर्णक्ष्वेड कहते हैं ॥ ४ ॥

कर्णक्ष्वेडमाह—वायुरित्यादि। क्ष्वेडमेव व्याकरोति—वेणुघोषोपमं स्वनमिति। ननु कर्णनादात् कथमस्य भेदः? उच्यते, कर्णनादे केवलानिलजे नानाशब्दान् शृणोति, अत्र तु वेणुशब्दमेव नियमेन; तथाऽयं पित्तादिसंसृष्टवातजन्य इति। तथाह विदेहः—**'मारुतः कफपित्ताभ्यां संसृष्टः शोणितेन च। कर्णक्ष्वेडं संजनयेत् क्ष्वेडनं वेणुघोषवत्' इति ॥ ४ ॥**

विमर्श—श्रुति नाडी अथवा कान के किसी भी अवयव पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव करने वाले सब कारण कर्णक्ष्वेद या कर्णनाद के कारण होते हैं। यथा हृदय के रोग, रक्तभाराधिक्य (High B. P.), पाण्डु, वृक्करोग तथा किनीन जैसी ओषधियों का सेवन। इसे अंग्रेजी में टिनिटस आरियम (Tinitus arium) कहते है। अन्तःकर्णस्थित कॉकलिया (श्रुतिशम्बूक) नामक अंग की विकृति का यह परिणाम है। इस अवस्था में कान में झन-झन शब्द तथा हथौड़े से पीटने आदि के समान शब्द निरन्तर सुनाई देते हैं।

कर्णक्ष्वेड और कर्णनाद में अन्तर

कर्णनाद	कर्णक्ष्वेड
(१) इसमें कर्णस्रोतस्थ वायु शब्द पैदा करता है ।	इसमें वायु के साथ पित्त या कफ या रक्त के द्वारा संसृष्ट होकर शब्द पैदा करता है ।
(२) इसमें आवाज अवस्थानुसार भेरी, मृदङ्ग या शङ्ख जैसी मोटी और भद्दी होती है ।	इसमें शब्द वेणुघोष के समान होता है ।
(३) यह अवस्था प्रायः सार्वदेहिक विकारों के परिमाणस्वरूप अथवा बाह्य कर्ण या मध्य कर्ण के विकारों में मिलती है ।	अन्तः कर्ण के विकारों में मिलती है ।
(४) चिकित्सा में वात शामक उपचार ही करना पड़ता है ।	पित्त आदि के भी शामक उपचारों की आवश्यकता पड़ती है ।

कर्णसंस्रावं प्राह—

शिरोऽभिघातादथवा निमज्जतो जले प्रपाकादथवाऽपि विद्रधेः । (सु. उ. २०)
स्रवेद्धि पूयं श्रवणोऽनिलार्दितः स कर्णसंस्राव इति प्रकीर्तितः ॥ ५ ॥

सिर में चोट लगने से, जल में डूबने से अथवा कर्ण विद्रधि के पक जाने से वायुजन्य पीडाओं से युक्त कान से पूय (या रक्त या जल) निकलता है उसे कर्णसंस्राव कहते हैं ॥ ५ ॥

कर्णस्रावमाह—शिरोऽभिघातादित्यादि । स्रवेद्धि पूयमित्युपलक्षणं तेन रक्तजले च स्रवत इति मन्तव्यं शिरोऽभिघातजलमज्जनमात्रेण पूयस्यासंभवात्; अथवा प्रपाकादिति सर्वत्र संबध्यते; तर्हि न पाकात् पृथक् स्राव उक्तः सर्वत्र पाकस्याविशिष्टत्वादिति कार्तिकः। **ननु, पाकाद्विद्रधेः स्रावसंभवोऽस्तु, विद्रधौ तु वातेतरदोषस्यापि संभवात् कथमनिलार्दित इत्युक्तं! उच्यते, अतिस्रावेणात्रानिलकोपादनिलार्दितत्वं बोद्धव्यम् ॥ ५ ॥**

विमर्श—पूयस्राव केवल उपलक्षण है अतः रक्त और जल का स्राव भी समझना चाहिये । सिर में चोट लगने या जल में डूबने मात्र से पूयस्राव नहीं हो सकता । अतः सिर में चोट लगने से रक्त और जल में डूबने से कान से जल का स्राव हो सकता है । किन्तु सिर में चोट लगने और कान में जल प्रविष्ट हो जाने के उपरान्त यदि पूयजनक जीवाणु का संसर्ग हो जाये तो बाद में उन अवस्थाओं में भी पूय का भी स्राव हो सकता है ।

यद्यपि पूयस्राव तथा पाक से कफ एवं पित्तजन्य लक्षणों की प्रधानता ही सम्भावित होती है किन्तु इसमें वायु की पीडा अधिक बतायी गयी है । इसका कारण अत्यधिक पूयस्राव होने से वात प्रकोप और उसके लक्षणों की प्रधानता ही है । इससे यह भी प्रतीत होता है कि यह रोग चिरकालीन है और स्राव में भी समय-समय पर वैषम्य रहता है अर्थात् कभी अधिक, कभी कम और कभी बिल्कुल नहीं के बराबर स्राव होता है । इस प्रकार के कान से चिरकालीन पूयस्राव को आजकल 'आटोरिया' (Otorrhoea) कहते हैं ।

कर्णकण्डूं कर्णगूथकञ्चाह—

मारुतः कफसंयुक्तः कर्णकण्डूं करोति च ।
पित्तोष्मशोषितः श्लेष्मा कुरुते कर्णगूथकम् ॥ ६ ॥

कफ से युक्त वायु कर्णकण्डू रोग को (कान में खुजली) पैदा करता है, और पित्त की गर्मी से सूखा हुआ कफ कर्णगूथक (कर्णमल) रोग को उत्पन्न करता है ॥ ६ ॥

कर्णप्रतिनाहं निरूपयति—

स कर्णगूथो द्रवतां गतो यदा विलायितो घ्राणमुखं प्रपद्यते। (सु. उ. २०)
तदा स कर्णप्रतिनाहसंज्ञितो भवेद्विकारः शिरसोऽर्धभेदकृत् ॥ ७ ॥

वही कर्णगूथक (कर्णमल) जब पिघल जाता है और विलीन होकर नासिका और मुख में आता है तो इसे कर्णप्रतिनाह कहते हैं। इस रोग में आधे सिर में पीडा होती है ॥ ७ ॥

कर्णप्रतिनाहमाह—स कर्णगूथो द्रवतामित्यादि। विलायित इति स्नेहस्वेदाभ्यां विलीनीकृतः सन्। घ्राणमुखमिति द्वन्द्वत्वादेकवद्भावः, तेन घ्राणं च मुखं च प्रतिपद्यत इत्यर्थः। अन्ये 'घ्राणमुखात्' इति पठन्ति, तदा घ्राणमुखान्नासासकाशात् प्रतिपद्यते गच्छतीत्यर्थः। अयं कफजो विकारः, अथवा कर्णगूथ शोषे मारुतपित्तव्यापारात्त्रयाणामपि संबन्धोऽस्ति, तेन सन्निपातजोऽयं; तथा च विदेहः—'कफाद्वा मारुताद्वाऽपि सन्निपातेन वा पुनः' इति। शिरसोऽर्धभेदकृदिति अर्धावभेदशिरोरोगकृत् ॥ ६–७ ॥

विमर्श—वही सूखा हुआ कफ जब अनुकूल परिस्थिति पाकर पिघल कर नासिका और मुख से निकलने लगता है तो उसे कर्णप्रतिनाह कहते हैं। अब यहाँ सन्देह होता है कि जब ये तीनों एक ही रोग की विशेष अवस्थाएँ प्रतीत होती हैं तो फिर इनकी गिनती पृथक्-पृथक् करने की आवश्यकता क्यों अनुभव की गई ? संक्षेप में इसका उत्तर यही है कि कार्यकारणभाव सम्बन्ध और उत्पादक दोषों की भिन्नता के कारण तीनों का वर्णन पृथक् किया गया—

(१) **कार्यकारणभाव सम्बन्ध—**प्रतिश्याय से खाँसी, खाँसी से क्षय और शोष की उत्पत्ति होती है। इनमें जिस प्रकार पूर्व-पूर्व रोग उत्तर-उत्तर रोग के कारण होते हैं किन्तु उन्हें एक रोग की अवस्था विशेष न मान कर पृथक् रोग माना जाता है, ठीक वैसे ही प्रकृत में भी कर्णकण्डू कर्णगूथ का और कर्णगूथ कर्णप्रतिनाह का कारण है किन्तु यह तीनों भिन्न-भिन्न रोग भी हैं; एक ही रोग की अवस्था विशेष मात्र नहीं।

(२) **दोषभिन्नता—**कर्णकण्डू में कफयुक्त वायु, कर्णगूथ में पित्त से शोषित कफ और कर्णप्रतिनाह में वात, पित्त और कफ तीनों दोषों की विकृति होती है[१]। कर्णकण्डू सामान्य लक्षण है जो कान के विविध रोगों (बाह्यकर्णशोथ आदि) में होता है। कर्णगूथ भी बाह्यकर्ण की विकृति है। जब कर्णगूथ पिघलकर कर्णपटह (Tympanic membrane) को गलाकर सच्छिद्र बना देता है तो वह मध्यकर्ण में पहुँचकर श्रुतिसुरंगा (Eustachian tube) में होता हुआ मुख और नासास्राव के रूप में प्रकट होता है। इस प्रकार इस रोग में कर्णपटह का विदीर्ण होना अनिवार्य है। इसे कर्णपटह विदारजन्य स्राव कह सकते हैं। वाग्भट का अनुसरण करने वाले कतिपय विद्वान् श्रुतिसुरंगा के अवरोध को ही कर्णप्रतिनाह मानते हैं—

वातेन शोषितः श्लेष्मा स्रोतो लिम्पेत्ततो भवेत्।
रुग्गौरवपिधानञ्च स प्रतीनाह-संज्ञितः ॥ (वा.)

वस्तुतः इस रोग में ये दोनों ही अवस्थायें हो सकती हैं। कर्णपटह के विदीर्ण होने पर बाह्यकर्णगत स्राव मध्यकर्ण और श्रुतिसुरंगा के मार्ग से नासिका और मुख द्वारा निकलता है। इस अवस्था में अर्धावभेदक होता है। किन्तु इस गन्दे स्राव के स्पर्श से जब श्रुतिसुरंगा (Eust-

---

१ 'कफाद्वा मारुताद्वाऽपि सन्निपातेन वा पुनः' विदेहः।

achian tube) में तीव्रस्वरूप का शोथ (Acute inflammation) हो जाता है तो श्रुतिसुरंगा अवरुद्ध हो जाती है, जिससे पीडा और भारीपन का अनुभव होता है।

क्रमिकर्णकं लक्षयति—

यदा तु मूर्च्छन्त्यथवाऽपि जन्तवः सृजन्त्यपत्यान्यथवाऽपि मक्षिकाः।
तद्व्यञ्जनत्वाच्छ्रवणो निरुच्यते भिषग्भिराद्यैः क्रिमिकर्णको गदः ॥८॥
(सु. उ. २०)

जब (मांस और रक्त के सड़ने से) कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं, अथवा मक्खियां कान में (बैठकर) अण्डे दे देतीं हैं तो वैद्य कान की इस व्याधि को क्रिमिलक्षणयुक्त होने से कृमिकर्णक कहते हैं ॥८॥

क्रिमिकर्णकमाह—यदेत्यादि। यदा तु मूर्च्छन्ति उच्छ्रिता भवन्ति। जन्तवः क्रिमयः क्रिमिमूर्च्छनं च मांसशोणितकोथे सति ज्ञेयं, तदन्तरेण क्रिमीणामसंभवात्। अपत्यानीति डिम्भकान्। तद्व्यञ्जनत्वादिति क्रिमिलक्षणत्वात्। श्रवणो निरुच्यत इति-क्रिमिकर्णको गद इति आश्रयाश्रितयोरभेदोपचाराच्छ्रवणः क्रिमिकर्णको गदो भण्यते। श्रवणशब्दः पुंल्लिङ्गोऽप्यस्तीत्यस्मादेव निर्देशात् प्रतीयते। अयं विकारस्त्रिदोषजो मन्तव्यः। तथा च निमिः-'श्लेष्मपित्तजलोन्मिश्रे कोथे शोणितमांसजे। मूर्च्छन्ति जन्तवस्तत्र कृष्णास्ताम्राः सितारुणाः॥ भक्षयन्तीव ते कर्णं कुर्वन्तो विविधा रुजः। क्रिमिकर्णं तु तं विद्यात् सन्निपातप्रकोपजम्' इति॥८॥

विमर्श—आचार्य निमि इस रोग को त्रिदोषज मानते हैं। यथा—

'कफ, पित्त और जल से मिले हुए रक्त और मांसकी सड़न में विविध वर्णों के कृमि उत्पन्न हो जाते हैं। वे अनेक प्रकार की पीडाओं को करते हुए कान का भक्षण करते हैं। इस सन्निपातज व्याधि को कृमिकर्ण कहते हैं।' (मूलपाठ मधुकोष में देखें)।

बाह्यकर्ण-शोथ या विद्रधि की अवस्था में प्रक्षालन द्वारा सम्यक् स्वच्छता न रखी जाय तो उस पर मक्खियों के बैठने से क्रिमियों का उपसर्ग हो जाता है। यदि फिर भी ध्यान न दिया जाय तो कृमि अपनी वृद्धि करते हैं और कान में विविध प्रकार की वेदनायें उत्पन्न करते हैं।

कर्णप्रविष्टकीटपतङ्गादिलक्षणमाह—

पतङ्गाः शतपद्यश्च कर्णस्रोतः प्रविश्य हि।
अरतिं व्याकुलत्वं च भृशं कुर्वन्ति वेदनाम् ॥ ९ ॥
कर्णो निस्तुद्यते तस्य तथा फरफरायते। (सु. उ. २०)
कीटे चरति रुक् तीव्रा निष्पन्दे मन्दवेदना ॥ १० ॥

पतङ्ग तथा कानखजूरा जैसे कीड़े कान के स्रोत में प्रविष्ट होकर अरति, व्याकुलता तथा तीव्र पीडा को उत्पन्न करते हैं। कीड़े के चलने पर कान में सुई के चुभने जैसी पीडा, फड़फड़ाहट तथा तीव्र वेदना होती है और कीड़े के न चलने पर मन्द हो जाती है ॥ ९-१० ॥

कर्णप्रविष्टपतङ्गकीटादिलिङ्गमाह—पतङ्गा इत्यादि। शतपद्य इति कारण्डिकाः। निष्पन्द इति स्थिरे ॥ ९-१० ॥

विमर्श—इस अवस्था में रक्त और मांस में सड़न नहीं होती। आधुनिक विद्वान् इसका अन्तर्भाव कर्णशल्य (Foreign body in the ear) में ही करते हैं।

कर्णविद्रधिं प्राह—

क्षताभिघातप्रभवस्तु विद्रधिर्भवेत्तथा दोषकृतोऽपरः पुनः। (सु. उ. २०)
सरक्तपीतारुणमस्रमास्रवेत् प्रतोदधूमायनदाहचोषवान् ॥ ११ ॥

एक विद्रधि क्षत या आघात से उत्पन्न होती है और दूसरी दोषों से। इसमें लाल, पीले और अरुणवर्ण के रक्त (पूय) का स्राव होता है, कान में सुई के चुभने के समान पीडा, कान से धुवाँ सा निकलना, जलन तथा चूसने जैसी पीडा होती है ॥ ११ ॥

कर्णविद्रधिमाह—क्षताभिघातप्रभवस्त्वित्यादि। क्षतप्रभवोऽभिघातप्रभवश्च, क्षताभिघातप्रभवयोरागन्तुकत्वादेकत्वम्, एवं वातादिजस्यापि दोषजत्वादेकत्वम्। सरक्तपीतारुणमस्रमास्रवेदिति अस्रमास्रावं, सरक्तपीतारुणवर्णत्वं, चास्रावस्य वातपित्तकफसंभवात् ॥११॥

विमर्श—आगन्तुज (Traumatic) तथा निज या दोषज (Idiopathic) भेद से कर्णविद्रधि दो प्रकार की होती है। निज भी वातज, पित्तज, कफज और सन्निपातज भेद से चार प्रकार की होती है।

बाह्य कर्ण के फोड़े को कर्णविद्रधि कहते हैं। क्षत में पूयजनक जीवाणु का संसर्ग हो जाने से विद्रधि उत्पन्न हो जाती है। इसके निम्न लक्षण होते हैं—

(१) तीव्र पीडा—यह सिरके पार्श्व और जबड़े में होती हुई कन्धे तक चली जाती है।
(२) कान के चारों ओर सूजन। (३) शंखप्रदेश में सूजन
(४) स्पर्शासहता (Tenderness) (५) अधिक बढ़ जाने पर बाधिर्य।

कर्णपाकलक्षणमाह—

कर्णपाकस्तु पित्तेन कोथविक्लेदकृद्भवेत्।
कर्णविद्रधिपाकाद्वा जायते चाम्बुपूरणात् ॥ १२ ॥ (सु. उ. २०)

पित्त दोष की प्रबलता से या कर्णविद्रधि के पाक तथा कान में जल भर जाने से सड़न और क्लेद को उत्पन्न करने वाला कर्णपाक होता है ॥ १२ ॥

कर्णपाकलक्षणमाह—कर्णपाक इत्यादि। कोथविक्लेदकृदिति कोथः पूतिभावः, विक्लेद आर्द्रता। ननु, कर्णगूथलक्षणे पित्तेन शोषणमुक्तं, तत्कथमार्द्रता? नैवम् एवंविकारजनककर्मसहकारिणा द्रवांशोद्रिक्तेन पित्तेनार्द्रता, तत्र त्वेतद्विपरीतत्वेन शोषः ॥ १२ ॥

विमर्श—इसे कान का पकना (Suppuration of the ear) कहते हैं। यद्यपि कर्णगूथ में पित्त को शोषक बताया है तथापि सहकारी हेतुओं से द्रवांश की अधिकता के कारण वह आर्द्रता भी उत्पन्न कर सकता है। (विशेष वर्णन पलित रोग के विमर्श में देखें)

पूतिकर्णलक्षणमाह—

पूयं स्रवति पूतिं वा स ज्ञेयः पूतिकर्णकः।

कान से जब अत्यधिक दुर्गन्धित (गाढ़े) पूय का स्राव हो (वह वेदनायुक्त हो या वेदना रहित हो) तो उसे पूतिकर्ण कहते हैं ॥

पूतिकर्णलक्षणमाह—पूयमित्यादि। पूतीति क्रियाविशेषणं, वा शब्दोऽत्र समुच्चये, तेनावेदनत्वं सवेदनत्वं वा घनस्रावित्वं च समुच्चीयते। घनस्रावनियमाच्च कर्णस्रावादस्य भेदः। तथा चोक्तं सुश्रुते-'स्रोतःस्थिते श्लेष्मणि पित्ततेजसा विलीयमाने भृशसंप्रतापिते। अवेदनो

वाऽथ सवेदनो वा घनं स्रवेत् पूति च पूतिकर्णः' इति। (सु. उ. तं. २०) पूतिमान् कर्णः पूतिकर्णः ॥

विमर्श—यह भी एक प्रकार का कर्णस्राव ही है, किन्तु भेद इतना है कि इसमें स्राव गाढ़ा होता है तथा 'वा' शब्द से पीडायुक्त या पीडारहित हो सकता है जैसा कि सुश्रुत का मन्तव्य है—

'कर्णस्रोतस्थित कफ जब पित्त के तेज के कारण तप्त और विलीन हो जाता है (पिघल जाता है) तब वेदनायुक्त या वेदनारहित गाढ़े और दुर्गन्धित पूय का स्राव होता है; इसे 'पूतिकर्ण' कहते हैं। (मूलश्लोक मधुकोश में देखें)।

कर्णगतशोथार्बुदार्शांसि व्याचष्टे—

कर्णशोथार्बुदार्शांसि जानीयादुक्तलक्षणैः ॥ १३ ॥

कर्णशोथ, कर्णार्बुद तथा कर्णार्श के लक्षण सामान्य शोथ, अर्बुद व अर्श के समान होते हैं ॥१३॥

इदानीं संख्यापूरणार्थं कर्णगतशोथार्बुदार्शसामतिदेशेन लक्षणमाह—कर्णशोथेत्यादि। कर्णशोथाश्चत्वारो वातपित्तकफरक्तजत्वेन; एवमर्शश्चतुर्विधं, सहजसन्निपातजार्शसोः सन्निपातागन्तुजशोथयोश्चात्रासंभूतिराधारप्रभावात्। अर्बुदं च सप्तविधं वातपित्तकफरक्तमांसमेदःसिरानिमित्तभेदात्; सिराजस्य वातजावरुद्धस्यात्र पृथग्गणनं शालाक्यसिद्धान्तसंवादादिति कार्तिकः। यथा सुश्रुत एव कर्णरोगानन्तरं 'दोषैस्त्रिभिस्तैः पृथगेकशश्च ब्रूयात्तथाऽर्शांसि तथैव शोथान्। शालाक्यसिद्धान्तमवेक्ष्य चापि सर्वात्मकं सप्तममर्बुदं तु' (सु. उ. २२) इति नासारोगेऽभिधास्यति, तथेहापि युज्यते; तेन रक्तजस्य पित्तसमानलिङ्गत्वात् पित्तजेऽन्तर्भावः, तथाऽऽगन्तुजस्यापि रक्तपित्तलिङ्गत्वात् पित्तज एवान्तर्भावः, तेन शोथः सन्निपातजोऽत्रागणनीयः, एवं सहजरक्तजयोर्दोषज एवान्तर्भावात् सन्निपातजमर्शोऽपृथग्गणनीयं अर्बुदं च सन्निपातजं सप्तममिति, एवमेभिः सहाष्टाविंशतिः सुश्रुतोक्ताः कर्णरोगा भवन्ति ॥

विमर्श-कर्णशोथ—उत्पादक कारण के भेद से कर्णशोथ-वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक तथा सान्निपातिक भेद से चार प्रकार का होता है। सामान्य शोथ के भी इतने ही भेद हैं। स्थानिक लक्षणों के अतिरिक्त अन्य सब शोथ के ही लक्षण पाये जाते हैं। अधिष्ठान भेद से इसके तीन भेद होते हैं—

(१) बाह्य कर्णशोथ (Infiammation of the external ear)
(२) मध्य कर्णशोथ (Otitis media)
(३) अन्तःकर्णशोथ (Inflammation of the Intrenal ear)

इन सब का विशद वर्णन शालाक्यविषयक आधुनिक ग्रन्थों से देख लेना चाहिये।

कर्णार्बुद—वातज, पित्तज, कफज, रक्तज, मांसज, मेदोज तथा सिराज भेद से सात प्रकार के अर्बुद होते हैं। आचार्य कार्तिक का मत है कि यद्यपि सिराज अर्बुद का अन्तर्भाव वातिक में किया जा सकता है तथापि शालाक्यतन्त्र के अनुसार इसका पृथक् उल्लेख किया है। सुश्रुत ने भी कहा है-

दोषैस्त्रिभिस्तैः पृथगेकशश्च ब्रूयात्तथाऽर्शांसि तथैव शोथान्।
शालाक्यसिद्धान्तमवेक्ष्य चापि सर्वात्मकं सप्तममर्बुदं च॥

अर्बुद को ट्यूमर कहते हैं। सौम्य (Benign) और घातक (Malignant) भेद से यह दो प्रकार का होता है। इसका विवेचन अर्बुद निदान में भली भाँति किया जा चुका है।

कर्णार्श—कान में जो मस्सों के समान विकृति पायी जाती है उसे कर्णार्श कहते हैं। वातज,

पित्तज, कफज और रक्तज भेद से यह चार प्रकार का होता है। स्थान प्रभाव से सहज और सन्निपातज अर्श की उत्पत्ति कान में नहीं होती[1]।

वातादिभेदेन चरकोक्तान् कर्णरोगान् निरूपयति—

नादोऽतिरुक् कर्णमलस्य शोषः स्रावस्तनुश्चाश्रवणं च वातात् ।
शोथः सरागो दरणं विदाहः सपीतपूतिस्रवणं च पित्तात् ॥ १४ ॥
वैश्रुत्यकण्डूस्थिरशोथशुक्लस्निग्धस्रुतिः स्वल्परुजः कफाच्च ।
सर्वाणि रूपाणि च सन्निपातात् स्रावश्च तत्राधिकदोषवर्णः ॥१५॥ (च.चि.१६)

वातिक कर्णरोग में कर्णनाद, अत्यधिक पीडा, कान के मैल का सूख जाना, कम स्राव तथा श्रवणशक्ति का नाश ये लक्षण होते हैं। पैत्तिक कर्णरोग में लाल रंग की सूजन, फटने जैसी पीडा, जलन तथा पीले रंग का दुर्गन्धित स्राव ये लक्षण होते हैं। कफज कर्णरोग में विपरीत श्रवण, कान में खुजली, अस्थिर शोथ, सफेद और चिकना स्राव तथा अल्प पीडा—ये लक्षण होते हैं। सन्निपातज कर्णरोग में तीनों दोषों के लक्षण तथा स्राव में प्रवृद्ध दोषों के वर्ण पाये जाते हैं ॥ १४-१५ ॥

इदानीं चरकोक्तं कर्णरोगचतुष्टयं वातपित्तकफसन्निपातजभेदादाह—नादोऽतिरुगित्यादि । अश्रवणमिति अशब्दश्रुतिः । वैश्रुत्यमिति विरुद्धश्रवणम् ॥ १४-१५ ॥

विमर्श—चरक ने सुश्रुत के समान कर्णगत रोगों का पृथक्-पृथक् वर्णन न कर दोषानुसार चार भेदों का ही उल्लेख किया है और समस्त कर्णरोगों का समावेश उन्हीं में हो जाता है। चरक कायचिकित्सक थे, अतः उन्होंने परतन्त्र में हस्तक्षेप उचित न समझ केवल संक्षेप में वर्णन कर दिया है, किन्तु सुश्रुतादि शल्य एवं शालाक्यतन्त्र के आचार्यों ने उन्हीं का वर्णन विस्तार से किया है। अतः चरकोक्त चार और सुश्रुतोक्त अट्ठाइस कर्णरोगों में परस्पर विरोध न समझना चाहिए।

---

१ इस श्लोक की मधुकोष व्याख्या में कई सुश्रुतादि-विपरीत एवं असंगत बातें देखने को मिलती हैं सम्भवतः यह लेख की त्रुटि के कारण या असावधानी से आ गयी हैं यथा—मधुकोशकार ने कर्णशोथ और कर्णार्श के चार भेद—वातज, पित्तज, कफज और रक्तज माने हैं; सान्निपातिक और आगन्तुज शोथ तथा सहज और सान्निपातिक अर्श को स्थानप्रभावात् असंभव माना है। सिराज अर्बुद को वातिक में समाविष्ट होते हुए भी शालाक्य तन्त्र के अनुसार पृथक् मानते हैं और सुश्रुत का वचन **'दोषैस्त्रिभिस्तैः पृथगेकशश्च······सर्वात्मकं सप्तममर्बुदं तु'** प्रमाण रूप में उपस्थित किया है। इस सुश्रुत वचन में सुस्पष्ट शब्दों में वातिक, पैत्तिक, कफज और सान्निपातिक शोथ और अर्श का तथा अर्बुदाध्यायोक्त छः प्रकार के अर्बुदों के अतिरिक्त सातवाँ 'सर्वात्मक' अर्बुद का उल्लेख है। आगे चलकर मधुकोषकार रक्तज और आगन्तुज शोथ का पित्तज शोथ में अन्तर्भाव करते हैं किन्तु रक्तज का प्रथम ही परिगणन कर लिया है और सान्निपातिक को अगणनीय मानते हैं। उसी प्रकार सहज और रक्तज अर्श का दोषज में अन्तर्भाव करते हैं किन्तु सान्निपातिक की गणना का निषेध करते हैं। वस्तुतः जिसका कहीं अन्तर्भाव हो जाता है उसीकी गणना नहीं करनी चाहिये।

अस्तु, सुश्रुत और उसके टीकाकार डल्हण आदि के अनुसार वातिक, पैत्तिक, कफज और सान्निपतिक अर्श और शोथ तथा वात, पित्त, कफ, रक्त, मांस और मेद जनित पूर्वोक्त छः अर्बुदों के अतिरिक्त सातवाँ सान्निपातिक अर्बुद को कर्णगत मानना ही उचित प्रतीत होता है। **(सं०)**

परिपोटकं प्राह—

सौकुमार्याच्चिरोत्सृष्टे सहसाऽतिप्रवर्धिते ।
कर्णशोथो भवेत् पाल्यां सरुजः परिपोटवान् । (सु. चि. २५)
कृष्णारुणनिभः स्तब्धः स वातात् परिपोटकः ॥ १६ ॥

सुकुमारता के कारण कान (कर्णवेध द्वारा किये गये छिद्रों) पर बहुत दिन तक ध्यान न देने से और (बाद में) उसके सहसा बढ़ाने का प्रयास करने पर कर्णपाली में पीडा और विदारयुक्त शोथ हो जाता है, इसका वर्ण काला या अरुण होता है। इस स्तब्ध वातजन्य शोथ को 'परिपोटक' कहते हैं ॥ १६ ॥

कर्णावयवत्वात् कर्णपाल्यास्तद्विकारानाह—सौकुमार्यादित्यादि। सौकुमार्याद्धेतोश्चिरं वर्धनेन त्यक्ते सहसा च वर्धयितुमारब्धे कर्णे शोथः, परिपोटवान् मनाक्त्वगवदरणवानित्यर्थः॥

उत्पातलक्षणं व्याचष्टे—

गुर्वाभरणसंयोगात्ताडनाद्धर्षणादपि ।
शोथः पाल्यां भवेच्छ्यावो दाहपाकरुजान्वितः ॥ १७ ॥
रक्तो वा रक्तपित्ताभ्यामुत्पातः स गदो मतः । (सु. चि. २५)

अधिक भारी आभूषण के धारण करने से, चोट लगने या रगड़ने से कर्णपाली में जलन, पाक और पीडा से युक्त श्याव या रक्तवर्ण का रक्तपित्तज शोथ उत्पन्न हो जाता है, उस रोग को 'उत्पात' कहते हैं।

उत्पातलक्षणमाह—गुर्वित्यादि। श्यावत्वं व्याधिप्रभावात्, पित्तरक्तयोः श्यावत्वाजनकत्वात्, किंवा वातानुबन्धादत्र श्यावत्वम् ॥ १७ ॥

उन्मन्थकरोगमाह—

कर्णं बलाद्वर्धयतः पाल्यां वायुः प्रकुप्यति ॥ १८ ॥
कफं संगृह्य कुरुते शोथं स्तब्धमवेदनम् ।
उन्मन्थकः सकण्डूको विकारः कफवातजः ॥ १९ ॥ (सु. चि. २५)

बलपूर्वक कान (कर्णवेधकृत छिद्र) को बढ़ाने से कर्णपाली में वायु प्रकुपित हो जाता है और कफ को लेकर स्तब्ध और अल्प पीड़ावाले शोथ को उत्पन्न कर देता है; इस खुजलीयुक्त कफ-वातज विकार को 'उन्मंथक' कहते हैं। १८-१९ ॥

उन्मन्थकमाह—कर्णमित्यादि। स्तब्धत्वं वातकृतं, कण्डूः कफात् इति वातकफलिङ्गम्॥

दुःखवर्धनमाह—

संवर्ध्यमाने दुर्विद्धे कण्डूपाकरुजान्वितः । (सु चि. २५)
शोथो भवति पाकश्च त्रिदोषो दुःखवर्धनः ॥ २० ॥

कान में अनुचित स्थान (दैवकृतछिद्र के अतिरिक्त स्थान) पर किये गये वेधन के चौड़े हो जाने पर खुजली, पाक और पीडा से युक्त जो त्रिदोषज शोथ और पाक होता है, उसे 'दुःखवर्धन' कहते हैं ॥ २० ॥

परिलेहिनं प्राह—

कफासृक्क्रुमयः क्रुद्धाः सर्षपाभा विसर्पिणः।
कुर्वन्ति पाल्यां पिडकाः कण्डूदाहरुजान्विताः॥ २१॥
कफासृक्क्रुमिसंभूतः स विसर्पन्नितस्ततः।
लिहेत् सशष्कुलीं पालीं परिलेहीति स स्मृतः॥ २२॥ (सु. चि. २५)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने कर्णरोगनिदानं समाप्तम्॥ ५७॥

कफ, रक्त और कृमि कुपित होकर कर्णपाली में सरसों के बराबर, फैलनेवाली, खुजली, जलन और पीडायुक्त फुन्सियों को उत्पन्न कर देते हैं। कफ, रक्त और कृमियों से उत्पन्न वह रोग फैलकर शष्कुली सहित कर्णपाली को चाटकर मांसरहित कर देता है, अतः इसे 'परिलेही' कहते हैं॥

परिलेहिनमाह—कफासृगित्यादि। स विसर्पन्निति स इति पिडकात्मको विकारः, 'विसर्पान्वितः' इति पाठान्तरे विसर्पणान्वितः। लिहेदिति निर्मांसीं करोति आच्छादयेद्वा॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां कर्णरोगनिदानं समाप्तम्॥ ५७॥

अथ नासारोगनिदानम्

चरकोक्तमपीनसरोगं लक्षयति—

आनह्यते यस्य विशुष्यते च प्रक्लिद्यते धूप्यति चापि नासा।
न वेत्ति यो गन्धरसांश्च जन्तुर्जुष्टं व्यवस्येत्तमपीनसेन॥
तं चानिलश्लेष्मभवं विकारं ब्रूयात् प्रतिश्यायसमानलिङ्गम्॥ १॥
(च. चि. २६)

जिस रोगी की नासिका (वात से शोषित कफ से) भरी हो, सूख गई हो, गीली हो तथा उसमें जलन हो रही हो तथा जो गन्ध और रस का ज्ञान न कर सके, उस व्यक्ति को अपीनस नामक रोग से पीडित समझना चाहिए। यह रोग वात-कफज होता है और इसमें प्रतिश्याय के समान लक्षण पाये जाते हैं॥ १॥

इन्द्रियाधिकरणविकाराधिकारान्नासारोगनिदानम्। तत्रादावपीनसमाह—आनह्यत इत्यादि। आनह्यत इत्याबध्यते, वातशोषितकफेन। प्रक्लिद्यते आर्द्रीभवति। धूप्यतीति सन्तापमनुभवति, दिवादेराकृतिगणत्वात् धूप्यतीति रूपम्। गन्धरसानिति गन्धान् सुरभ्यसुरभीन् आबद्धत्वेन नासायाः; नासारोगारम्भकदोषेण रसनाया अपि दुष्टेः रसान् मधुरादींश्च वेत्ति। तं चानिलश्लेष्मभवमिति वातकफजम्। ननु, अन्यत्र पित्तकफजोऽसदृशलिङ्गश्च पठ्यते, तद्यथा, 'मस्तुलुङ्गोचितः श्लेष्मा यदा पित्ताद्विदह्यते। तदासृक् पिच्छिलं नासा बहुसिंहाणकं स्रवेत्॥ सकण्डूदाहपाकं च तं तु विद्यादपीनसम्' इति, तत् कथं न विरोधः? नैवं, संप्राप्तिविशेषेणास्य तथाभाव इति कार्तिकः। तन्त्रान्तरप्रत्ययात् पित्तसंबन्धो लिङ्गविशेषश्चात्र बोद्धव्य इत्यर्थः। गदाधरस्तु तत्संवादात् 'अनलश्लेष्मभवं' इति पठित्वा श्लेष्मपित्तज एव न्याय्य इत्याह। प्रतिश्यायसमानलिङ्गमिति कफवातजप्रतिश्यायतुल्यलिङ्गम्॥

विमर्श—गन्धग्राहक इन्द्रिय को घ्राण और उसके अधिष्ठानभूत स्थूल अंग को नासिका कहते हैं। इसके बाह्य और आभ्यन्तर दो भाग हैं। बाह्य भाग के अग्रिम भाग में त्वचा से आवृत मांस-पेशी तथा पिछले भाग में अस्थि और तरुणास्थि के भाग रहते हैं। आभ्यन्तर भाग को नासागुहा कहते हैं, जो एक मध्यस्थित पर्दे के द्वारा दो भागों में विभक्त रहती है। यह पर्दा (Septum) अस्थि और तरुणास्थि से बनता है और अस्थ्यावरण से आच्छादित रहता है। नासा की पार्श्व की दीवारों के भीतर की ओर तीन उभार होते हैं, जिन्हें क्रमशः अधः, मध्य और ऊर्ध्व शुक्तिकाएँ (Conchae) कहते हैं। यह श्लेष्मल-कला से आवृत अस्थिमय रचनाएँ हैं। श्लेष्मल कला के नीचे प्रहर्षण धातु (Erectile tissues) होते हैं इन शुक्तिकाओं के बीच नासा पार्श्ववर्ती पोली अस्थियों (ऊर्ध्व हन्वस्थि = Maxillary, झर्झरास्थि = Ethmoid और जतूकास्थि = Sphenoid bones) के वायु-विवरों (Air sinuses) से सम्बद्ध अनेक छिद्र होते हैं, जिन्हें सुरंगा कहते हैं। इनके द्वारा पूर्वोक्त विवरों का स्राव नासिका द्वारा बाहर निकलता है। एक सुरंगा (Duct) के द्वारा नासागुहा का सम्बन्ध नेत्र से भी रहता है। इस सुरंगा को नासाश्रुवाही स्रोत (Noso lachrimal duct) कहते हैं। इसके द्वारा नासारोगों का प्रभाव नेत्रों पर भी पड़ता है। यथा किसी तीक्ष्ण वस्तु की गन्ध से नेत्र से भी स्राव निकलने लगता है अथवा तीव्र प्रतिश्याय में अक्षिगोलकों में भी पीडा होने लगती है। पीछे की ओर नासागुहा का सम्बन्ध गले (Prarynx) और उसके द्वारा श्वासप्रणाली से होता है। नासिका की श्लेष्मलकला के पृष्ठ पर जो कोषाणु होते हैं, उनमें लोमवत् अंकुर (कोषाङ्कुर Cilia) होते हैं। यह अपनी अनुलोम गति से नासिकास्थित स्राव आदि त्याज्य भागों को बाहर निकालते हैं और बाह्य असात्म्य पदार्थों को भीतर प्रविष्ट होने से रोकते हैं। इनकी विकृति या कार्यवैषम्य से अनेक विकारों की उत्पत्ति होती है।

नासिका का प्रधान कार्य गन्धग्रहण है, पर नासा का यह बाह्य भाग स्वयं गन्धग्राहक नहीं है। यह गन्धग्रहण में सहायता मात्र करता है। गन्धवाही परमाणुओं को एकत्रित करके यह नासा-गुहा में फैले हुए घ्राणनाडी के अग्रों तक पहुँचा देता है। इसके अतिरिक्त इसके निम्न कार्य और होते हैं—

(१) **छानना**—नासिका के भीतर आगे की ओर बालों की उपस्थिति के कारण वायुगत धूल आदि असात्म्य पदार्थ नहीं जाने पाते।

(२) स्वर को ठीक रखना—नासिकाविहीन व्यक्ति मिन-मिन करके बोलते हैं।

(३) फुफ्फुस में जानेवाली वायु को यह गरम और गीला करती है।

घ्राणेन्द्रिय—घ्राणनाड़ी तथा घ्राणकेन्द्र को 'मुख्य घ्राणेन्द्रिय कहते हैं। घ्राणकेन्द्र मस्तिष्क में अंकस (Uncus) नामक अवयव में रहता है। यही वास्तविक घ्राणेन्द्रिय है। प्रकृत में बाह्य-नासिका के रोगों का ही वर्णन किया गया है। स्वभावतः या उपद्रवस्वरूप घ्राणेन्द्रिय में विकृति होने से गन्धज्ञान का सर्वथा अभाव अथवा विचित्र गन्धों की प्रतीति हो सकती है।

मस्तिष्क में रस का केन्द्र घ्राणकेन्द्र के समीप ही रहता है। अतः नासारोग को उत्पन्न करने-वाले दोष से स्वाद या रसकेन्द्र के प्रभावित हो जाने से स्वाद भी विकृत या हीन हो जाता है। यही कारण है कि प्रतिश्याय में अत्यधिक स्वादिष्ट भोजन में भी किसी प्रकार का स्वाद अनुभव नहीं होता।

कुछ ग्रन्थों में अपीनस को पित्तकफज तथा निम्नलिखित विशिष्ट सम्प्राप्ति और लक्षणवाला माना है। यथा—'मस्तुलुंग में सञ्चित कफ जब पित्त से विदग्ध हो जाता है, तब नासिका से रक्तवर्ण

या रक्तमिश्रित चिपचिपे और अत्यधिक सिंहाणक (दूषित कफ जिसे लोकभाषा में 'नेटा' कहते हैं) का स्राव होता है; खुजली, दाह और पाक से युक्त इस रोग को 'अपीनस' समझना चाहिए।' इसे सुश्रुत ने वातकफज माना है, जैसा कि मूल श्लोक से स्पष्ट है। इन दोनों में विरोध होने से कौन सा मत माननीय है ? उसका समाधान यह है कि सम्प्राप्ति-विशेष से दोषान्तर सम्बन्ध और लक्षणों में भिन्नता हो सकती है अतः दोनों ही मान्य हैं। आचार्य गदाधर अनिल के स्थान पर अनल शब्द रखकर इस विकार को पित्तकफज ही मानते हैं* ।

पूतिनस्यं प्राह—

दोषैर्विदग्धैर्गलतालुमूले संमूर्च्छितो यस्य समीरणस्तु ।
निरेति पूतिर्मुखनासिकाभ्यां तं पूतिनस्यं प्रवदन्ति रोगम् ॥२॥ (सु. उ. २२)

गले और तालु के मूल में स्थित विदग्ध दोषों से मिला हुआ वायु दुर्गन्धित होकर मुख और नासिका से निकलता है, उस रोग को 'पूतिनस्य' कहते हैं। अर्थात् गले और तालुमूल में स्थित दूषित पित्त, कफ और रक्त के सम्पर्क से दुर्गन्धित होकर मुख और नासिका से वायु निकले तो उसे पूतिनस्य कहना चाहिए ॥ २ ॥

पूतिनस्यमाह—दोषैरित्यादि । दोषैरिति पित्तकफरक्तैः, रक्तस्यापि दोषतुल्यरूपत्वाद्दोषत्वम् । विदग्धैरिति पित्तश्लेष्मणोः सरक्तयोरूष्मणा विरुद्धलवणाम्लरसपाकेन पूतिभावमापन्नैः। संमूर्च्छित इति उच्छ्रायं नीतः। निरेतीति समीरण एव, अन्यस्य कर्तृपदस्याभावात्। तं पूतिनस्यमिति नासिकाभवो नस्यः, पूतिर्नस्यो वायुर्यत्र तं पूतिनस्यम्। इहैव विदेहः, **'कफपित्तमसृङ्मिश्रं संचितं मूर्ध्नि देहिनाम्। विदग्धमूष्मणा गाढं रुजां कृत्वाऽक्षिशङ्खजाम् ॥ ततः प्रस्यन्दते घ्राणात् सरक्तं पूतिपीतकम्। पूतिनस्यं तु तं विद्याद् घ्राणकण्डूज्वरप्रदम्' इति ॥ २ ॥**

विमर्श—दोष से यहाँ पित्त, कफ और रक्त का ग्रहण किया जाता है दूषित दोषों से मिलकर वायु और दुर्गन्धित होकर बाहर निकलता है । यह एट्रोफिक राइनाइटिस (Atrophic Rhinitis) की एक अवस्था है । आचार्य विदेह ने इसका वर्णन भिन्न रूप से किया है—

कफ, पित्त और रक्त सिर में एकत्रित होकर गर्मी से विदग्ध हो जाते हैं और आँख तथा शंखप्रदेश में भयंकर पीडा को उत्पन्न करते हैं। इसके बाद नासिका से दुर्गन्धित और पीले वर्ण का

---

* प्राचीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख कहीं 'पीनस' और कहीं 'अपीनस' नाम से तथा स्वतन्त्र रोग के अतिरिक्त कहीं-कहीं प्रतिश्याय के पर्यायरूप में भी मिलता है। वस्तुतः 'अव' उपसर्ग के आकार के वैकल्पिक लोप से पीनस और अपीनस दोनों शब्द बन सकते हैं और दोनों ही एक प्रतीत होते हैं। किन्तु वाग्भट ने पीनस के ही प्रवृद्ध रूप को अपीनस (पाठान्तर में अवीनस-अवि = भेंड़ की नासा के समान) कहा है। यह प्रतिश्यायजनित और स्वतन्त्र भी हो सकता है। अतएव कहीं-कहीं शास्त्रों में इसे प्रतिश्याय का पर्याय भी माना है। आधुनिक दृष्ट्या इसे जीर्णनासा-कलाशोथ (Chronic rhinitis) कह सकते हैं। इसके भी उपचित (Hypertrophic) तथा अपचित (Atrophic) ये दो रूप मिलते हैं और प्रथम प्रकार अधिक उग्र एवं व्यापक होता है तथा प्रायः वायु-विवरों (Air sinuses) के विकार से सम्बद्ध रहता है। प्रतिश्यायजनित होने पर इसे प्राचीन आयुर्वेदज्ञों ने 'दुष्टप्रतिश्याय' भी कहा है। दुष्ट प्रतिश्याय और पीनस के लक्षणों में प्रायः समानता ही है (श्लोक २१-२२ देखें)। कारण और तदनुसार चिकित्सा में कुछ अन्तर होने से ही दोनों को भिन्न कहा है। **(सं०)**

रक्तमिश्रित स्राव निकलता है। नासिका में खुजली तथा ज्वर को उत्पन्न करनेवाले इस रोग को पूतिनस्य कहते हैं*।

नासापाकं निरूपयति—

घ्राणाश्रितं पित्तमरूंषि कुर्याद्यस्मिन् विकारे बलवांश्च पाकः।
तं नासिकापाकमिति व्यवस्येद्विक्लेदकोथावथवाऽपि यत्र॥३॥ (सु. उ. २२)

जिस रोग में नासिका में स्थित होकर पित्त छोटी-छोटी फुंसियाँ उत्पन्न कर देता है या नासिका में तीव्र पाक होता है अथवा जिसमें नासिका में गीलापन और सड़न हो, उस रोग को 'नासापाक' कहते हैं॥ ३॥

नासापाकमाह—घ्राणाश्रितमित्यादि। अरूंषीति व्रणान्। यस्मिन् विकार इति यस्यां विकृतौ सत्याम्। व्यवस्येत् जानीयात्। विक्लेद आर्द्रता, कोथः पूतिभावः॥ ३॥

विमर्श—चरक ने नासापाक में पित्त के साथ रक्त को भी कारण माना है—

'सदाहरागश्वयथुः सपाकः स्याद् घ्राणपाकोऽपि च रक्तपित्तात्' (चरकः)।

प्रथम नासाशोथ होता है और उसके बाद नासिका पक जाती है। इससे नासिका लाल और दाहयुक्त रहती है। कई छोटी-छोटी फुंसियाँ होकर आपस से मिल जाती हैं, तब भी सारी नासिका सूज जाती है। और कभी-कभी आरम्भ से ही सारी नासिका शोथयुक्त होकर पाक होने पर क्लिन्न और कोथयुक्त हो सकती है। इसी को नासापाक कहते हैं। यह नासापुटगत विकार है और आधुनिक-दृष्टया कोई एक नाम देना संभव नहीं है।

पूयरक्तं व्याचष्टे—

दोषैर्विदग्धैरथवाऽपि जन्तोर्ललाटदेशेऽभिहतस्य तैस्तैः। (सु. उ. २२)
नासा स्रवेत् पूयमसृग्विमिश्रं तं पूयरक्तं प्रवदन्ति रोगम्॥ ४॥

दोषों की विकृति से अथवा विविध प्रकार के आघातों से मस्तक पर चोट लगने से नासिका से रक्तमिश्रित पूय निकलता है, उस रोग को 'पूयरक्त' कहते हैं॥ ४॥

दोषागन्तुजं पूयरक्तमाह-दोषैरित्यादि। विदग्धैरिति पित्तरक्ताधिकत्वाद्विरुद्धां परिणतिं प्राप्तैः, ललाटाभिघातेन वा पाकं प्राप्तैः। तैस्तैरिति प्रहारपीडनादिभिः॥ ४॥

विमर्श—पूयशोणित या पूयरक्त रोग दो प्रकार का होता है—

(१) **निज**—इसकी उत्पत्ति दोषप्रकोप द्वारा होती है।

---

* सुश्रुत ने पूतिनस्य में गले और तालुमूल में संचित दोषों के सम्पर्क से दूषित (दुर्गन्धित) वायुमात्र का नासिका या मुख से निकलना बताया है। किन्तु विदेह ने दोषों का संचय शिर में तथा नेत्र और शंखप्रदेश में पीडा एवं ज्वर और नासा-कण्डू के साथ नासिका से रक्तमिश्रित दुर्गन्धित पीले स्राव का नासिका से निकलना बताया है। अतः इन दोनों ही आचार्यों द्वारा वर्णित 'पूतिनस्य' भिन्न प्रतीत होते हैं। प्रत्येक आचार्य अपने तन्त्रों में स्वतन्त्र होते हैं और भिन्न-भिन्न लक्षणों से युक्त रोगों को कोई संज्ञाविशेष दे सकते हैं। मेरे विचार से सुश्रुतोक्त 'पूतिनस्य' नासिका से दुर्गन्धित वायु निकलते देख नासिका में ही रोग की खोज करने के अतिरिक्त गले या तालुमूल में होनेवाले तुण्डिकेरी, तालुपाक आदि (Septic tonsilitis, Retropharyngeal absces etc) की ओर भी ध्यान आकृष्ट करता है। तथा विदेहोक्त 'पूतिनस्य' भ्रूप्रदेशीय वायुविवरशोथ (Frontal sinusitis) का निर्देश करता है। **(सं०)**

(२) **आगन्तुज**—शिर या नासिका में चोट लगने के पश्चात् पाक होने से यह अवस्था उत्पन्न हो जाती है ।

क्षवथुं प्राह—

घ्राणाश्रिते मर्मणि संप्रदुष्टो यस्यानिलो नासिकया निरेति । (सु. उ. २२)
कफानुजातो बहुशोऽतिशब्दस्तं रोगमाहुः क्षवथुं विधिज्ञाः ॥ ५ ॥

जिसकी नाक से नासिका स्थित मर्म में दुष्ट हुआ वायु कफ के साथ मिलकर तीव्र शब्द करता हुआ बार-बार निकलता है उस रोग को 'क्षवथु' कहते हैं ॥ ५ ॥

क्षवथुर्दोषागन्तुभेदाद्द्विविधो भवति; तत्र दोषजं प्रागाह–घ्राणाश्रित इत्यादि । मर्मणीति शृङ्गाटके, 'नस्तकयोः' इति पाठान्तरे नासापुटयोः, 'तदाश्रितः सन्' इति शेषः ॥ ५ ॥

विमर्श—साधारण बोलचाल में इसे छींक आना कहते हैं। छींक आना शरीर की स्वाभाविक क्रिया है। किन्तु कभी-कभी अधिक होने से यह व्याधि का रूप भी धारण कर लेती है। इसीलिए वाग्भट ने इसके लिए **'भृशंक्षवः'** (अत्यधिक छींकों का आना) यह नाम दिया है। क्षवथु रोग भी निज और आगन्तुज भेद से दो प्रकार का होता है । यहाँ निज या दोषज क्षवथु का वर्णन किया गया है । इसमें नासिकास्थित शृङ्गाटक[1] नामक मर्म में विकृति होती है । आगन्तुज का वर्णन आगे किया जायगा ।

आगन्तुजं क्षवथुं निरूपयति—

तीक्ष्णोपयोगादभिजिघ्रतो वा भावान् कटूनर्कनिरीक्षणाद्वा । (सु. उ. २२)
सूत्रादिभिर्वा तरुणास्थिमर्मण्युद्घाटितेऽन्यः क्षवथुर्निरेति ॥ ६ ॥

तीक्ष्ण द्रव्यों के सेवन तथा क्षोभक वस्तुओं के सूँघने अथवा सूर्य का दर्शन करने से या सूत्र और तृण आदि के द्वारा नासा तरुणास्थि स्थित (फण[2]) मर्म अथवा तरुणास्थि और मर्म (शृङ्गाटक मर्म) में क्षोभ होने से आगन्तुज क्षवथु उत्पन्न होती है ॥ ६ ॥

आगन्तुजमाह—तीक्ष्णोपयोगादित्यादि । तीक्ष्णोपयोगाद्राजिकादितीक्ष्णद्रव्यभक्षणात् । भावान् कटूनिति कटूनि द्रव्याणि । अभिजिघ्रतो भृशं जिघ्रतः । अर्कनिरीक्षणाद्वा कफविलयनकरात् । तरुणास्थिमर्मणीति तरुणास्थि नासावंशास्थि तदेव मर्म तस्मिन् फणामर्मणीत्यर्थः, अभिघातादिना मर्मव्यथाजनकत्वात्; अथवा तरुणास्थि च मर्मणि च शृङ्गाटके, द्वन्द्वैकवद्भावनिर्देशात् । उद्घाटिते चालिते । अन्य आगन्तुजः ॥ ६ ॥

विमर्श—पाश्चात्त्य वैद्यक-ग्रन्थों में इसके लक्षणों से मिलता-जुलता एक रोग मिलता है, जिसे वासोमोटर राइनोरिया (Vasomotor rhinorrhoea) कहते हैं। जिन साधारण कारणों से छींकें नहीं आ सकतीं, उनसे भी मर्म के (नाडीसंस्थान) के उत्तेजित होने से अत्यधिक छींकों की उत्पत्ति हो जाती है । विशिष्ट (Specific) तथा अविशिष्ट (Nonspecific) भेद से यह अवस्था दो प्रकार की होती है। विशिष्ट में क्षोभक कारण का ज्ञान रहता है किन्तु अविशिष्ट में कारण सर्वथा अज्ञात रहता है। इनमें प्रथम को आगन्तुज और अविशिष्ट को निज कह सकते हैं। इस रोग में छींक के साथ निम्न लक्षण भी होते हैं—

---

१. घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वासंतर्पणीनां सिराणां मध्येसिरासन्निपाताः शृङ्गाटकानि, तानि चत्वारि मर्माणि (सु. शा. ६)।

२. घ्राणमार्गमुभयतः स्रोतोमार्गप्रतिबद्धे अभ्यन्तरतः फणे (सु. शा. ६)

(१) पूर्वरूपावस्था में तोद (२) इसके बाद छींकें आती हैं और नासिका से पतला स्राव निकलने लगता है। छींक के दौरे होते हैं। (३) कभी-कभी अश्रुस्राव।

भ्रंशथुं प्राह—

प्रभ्रश्यते नासिकया तु यस्य सान्द्रो विदग्धो लवणः कफस्तु।
प्राक्संचितो मूर्धनि सूर्यतप्तस्तं भ्रंशथुं रोगमुदाहरन्ति॥ ७ ॥(सु. उ. २२)

सिर में पहले संचित हुआ गाढ़ा विदग्ध और नमकीन कफ सूर्य के ताप से पिघलकर जिसमें नाक से गिरता है, उस रोग को 'भ्रंशथु' कहते हैं॥ ७॥

भ्रंशथुमाह—प्रभ्रश्यते इत्यादि। प्रभ्रश्यते गलति। विदग्धो लवण इति स्वरुपाख्यानं विदग्धत्वादेव कफस्य लवणत्वसिद्धेः। प्राक्संचित इत्यनेन संचयपूर्वकं कोपं दर्शयति, हेतुभूयस्त्वेन चयमन्तरेणापि कोपदर्शनात्। यदुक्तं 'न केवलं चयं प्राप्य दोषाः कुप्यन्ति देहिनाम्। अन्यतोऽपि हि कुप्यन्ति हेतुबाहुल्यतो बलात्' इति॥ ७॥

विमर्श—विचार करने पर यह लक्षण ही प्रतीत होता है, जो अनेक नासारोगों में पाया जाता है। गाढ़ा कफ नासाकला के जीर्ण शोथ में निकलता है। चिकित्सा की समानता और क्षवथु के बाद ही इसका वर्णन करने से यह स्पष्ट है कि भ्रंशथु क्षवथु रोग की अवस्थाविशेष का नाम है। क्षवथु (Voso-motor Rhinorrhoca) का पुनः-पुनः आक्रमण होने से नासिका की श्लेष्मलकला मोटी हो जाती है और उपसर्ग नासा-विवरों (Nasal sinuses) में भी फैल जाता है। इससे वहाँ की श्लेष्मलकला भी मोटी पड़ जाती है और गाढ़ा कफ संचित हो जाता है जो सूर्य-सन्ताप से पिघलकर नासा-द्वार से गिरता है। इस प्रकार इस रोग को नासाविवरों का सान्द्र श्लेष्मल स्राव (Mucoid Discharge from nasal sinuses) कह सकते हैं। चरक और वाग्भट ने इस रोग का वर्णन नहीं किया है।

दीप्तरोगं प्राह—

घ्राणे भृशं[१] दाहसमन्विते तु विनिःसरेद्धूम इवेह वायुः। (सु. उ. २२)
नासा प्रदीप्तेव च यस्य जन्तोर्व्याधिं तु तं दीप्तमुदाहरन्ति॥ ८॥

जिस व्यक्ति के नासारोग में अत्यधिक जलनयुक्त नासिका से धूएँ के समान वायु निकले और नासिका जलती हुई-सी प्रतीत हो, उस रोग को 'दीप्त' कहते हैं॥ ८॥

दीप्तमाह—घ्राणे भृशमित्यादि। प्रदीप्तेवेति प्रज्वलितेव॥ ८॥

विमर्श—यह रोग रक्त के विदाह से उत्पन्न होता है। इसीसे नासिका में जलन होती है तथा श्वास धूम के सदृश प्रतीत होता है—

'रक्तेन नासा दग्धेव बाह्यान्तःस्पर्शनासहा।
भवेद् धूमोपमोच्छ्वासा सा दीप्तिर्दहतीव च॥ (वा०)

यह भी एक लक्षण प्रतीत होता है, जो विशेषतया नासाकला के तीव्र शोथ (Acute Rhinitis) में प्रधानतया पाया जाता है। नासाकला में रक्ताधिक्य होने से जलन का अनुभव (Burning sensation) होता है।

---

१. प्राक्संभृशम् इति ख।

प्रतीनाहं निरूपयति—

उच्छ्वासमार्गं तु कफः सवातो रुन्ध्यात् प्रतीनाहमुदाहरेत्तम्। (च.चि.२६)

जब वायुसहित कफ श्वासमार्ग में अवरोध कर देता है तो उस रोग को 'प्रतीनाह' कहते हैं॥

प्रतीनाहमाह—उच्छ्वासमार्गमित्यादि॥

विमर्श—इसे नासावरोध (Nasal obstruction) भी कहते हैं। इसके निम्न कारण हैं—

(१) **नासिका की रचनासम्बन्धी विकृति**–(Anatomical deformity)—इसमें नासाजवनिका (Nasal septum) की वक्रता तथा नासाविवरों का स्वाभाविक संकोच आ जाते हैं।

(२) **नासाकला की विकृति**—नासाकला की वृद्धि (Hypertrophy of Nasal mucous membrane) नासार्श (Nasal polypus) तथा नासागुहा में अत्यधिक स्राव का संचय।

(३) **नासा की नाड़ियों की अत्यधिक उत्तेजना**—इससे बार-बार शोथ होनेसे नासाकला मोटी पड़ जाती है, जो अन्ततोगत्वा नासामार्ग को रोक देती है।

नासास्रावं लक्षयति—

घ्राणाद् घनः पीतसितस्तनुर्वा दोषः स्रवेत् स्रावमुदाहरेत्तम्॥९॥(च. चि. २६)

नासिका से गाढ़ा (या अधिक) अथवा पतला (या कम) पीले या सफेद वर्ण के दोष (कफ) का स्राव होता है, उसे 'नासास्राव' कहते हैं॥ ९॥

नासास्रावमाह—घ्राणादित्यादि। दोष इति कफः॥ ९॥

विमर्श—इसे नासा परिस्राव भी कहते हैं। सुश्रुत, वाग्भट और विदेह आदि ने इस रोग का प्रकोप विशेषतः रात्रि में होना बताया है—

अजस्रमच्छं सलिलप्रकाशं यस्याविवर्णं स्रवतीह नासा।
रात्रौ विशेषेण हि तं विकारं नासापरिस्रावमिति व्यवस्येत्॥ (सु. उ. तं. २२)

सुश्रुतादि से अविरोध के लिए प्रकृत श्लोक में 'घन' का अर्थ 'अधिक' और 'तनु' का अर्थ 'अल्प' करना भी उचित प्रतीत होता है। नासाकला-शोथ में पाया जानेवाला यह एक लक्षण है। तीव्र नासाकला-शोथ (Acute rhinitis) में पानी के सदृश पतला स्राव होता है। अधिक होने पर यह नासावरोध भी उत्पन्न कर सकता है। नासाकला से क्षोभक पदार्थों का संसर्ग होने से भी नाक से जलीय स्राव निकलता है। जब नासाकला का शोथ जीर्ण हो जाता है तो स्राव गाढ़ा निकलने लगता है। इस स्राव में चिपचिपापन (पिच्छिलता) भी पाई जाती है। पूयजनक जीवाणुओं की उपस्थिति के कारण आगे चलकर स्राव पूयाभ हो जाता है।

नासाशोषं प्राह—

घ्राणाश्रिते स्रोतसि मारुतेन गाढं प्रतप्ते परिशोषिते च। (सु. उ. २२)
कृच्छ्राच्छ्वसेदूर्ध्वमधश्च जन्तुर्यस्मिन् स नासापरिशोष उक्तः॥ १०॥

जिस रोग में वायु से नासास्रोत सूख जाये, पित्त से प्रतप्त हो और रोगी कष्ट से श्वासक्रिया करे, उसे 'नासाशोष' कहते हैं॥ १०॥

नासाशोषमाह—घ्राणाश्रिते स्रोतसीत्यादि। अत्र च वायुकृतस्रोतःशोषणेन तद्गतश्लेष्मशोषो बोद्धव्यः, प्रतप्त इत्यनेन पित्तमपि गम्यते, प्रतपनस्य पित्तमन्तरेणासंभवात्। तथा च कश्चित् पठति, 'घ्राणाश्रिते श्लेष्मणि मारुतेन पित्तेन गाढं परिशोषिते च' इति। 'प्रतप्त' इत्यस्य स्थाने 'प्रदीप्ते' इति पाठान्तरे स एवार्थः। कृच्छ्राच्छ्वसेदूर्ध्वमधश्च यस्मिन्निति कष्टेनोच्छ्वासनिःश्वासौ करोति यत्रेत्यर्थः॥ १०॥

विमर्श—अपचययुक्त नासाकला-शोथ (Atrophic Rhinitis) में जब श्लेष्मल-कला सूख जाती है तो स्राव भी सूख जाता है, जिससे नासावरोध होकर श्वासकृच्छ्रता उत्पन्न होती है। इस अवस्था को नासिका का अलसक या राइनाइटिक सिक्का (Rhinitis Sicca) कहते हैं। महर्षि चरक के अनुसार इस रोग में शृङ्गाटक मर्म और नासिका दोनों ही सूख जाते हैं—

क्रुद्धः स संशोष्य कफं तु नासा शृङ्गाटकघ्राणविशोषणञ्च। (चरकः)

पीनसस्यामपक्वलक्षणमाह—

शिरोगुरुत्वमरुचिर्नासास्रावस्तनुः स्वरः।
क्षामः ष्ठीवत्यथाभीक्ष्णमामपीनसलक्षणम् ॥ ११ ॥
आमलिङ्गान्वितः श्लेष्मा घनः खेषु निमज्जति।
स्वरवर्णविशुद्धिश्च परिपक्वस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

आम पीनस में सिर में भारीपन, अरुचि, नासिका से पतला स्राव, क्षीणस्वर तथा बार-बार थूकने की प्रवृत्ति—ये लक्षण होते हैं। आमलक्षण कम होते हैं और गाढ़ा कफ नासास्रोतों में चिपका रहता है, तथा रोगी का स्वर और वर्ण शुद्ध रहता है। यह परिपक्व पीनस का लक्षण है ॥११-१२॥

चिकित्साभेदार्थं पीनसस्यामपक्वलक्षणमाह—शिरोगुरुत्वमित्यादि। तनुरघनः। स्वरः क्षाम इति अविस्पष्टं वचनम्। ष्ठीवत्यथाभीक्ष्णमिति मुहुर्मुहुर्नासिकया श्लेष्माणं निरस्यतीत्यर्थः। आमरसान्वितेन दोषेण शिरोगुरुत्वादयः। 'आमलिङ्गान्वितः श्लेष्मा घनः खेषु निमज्जति' इत्यादि पक्वलक्षणम्। आमलिङ्गैः शिरोगुरुत्वादिभिरन्वितः श्लेष्मा निमज्जति लीनो भवति। अयमर्थः—श्लेष्मा तावल्लीनो भवति, आमलिङ्गान्यपि लीनानि भवन्ति, तथा च 'तनुत्वमामलिङ्गानाम्' इति सुश्रुतः। 'न सज्जति' इति पाठान्तरे न सक्तो भवति, न तिष्ठतीति यावत्। तदामलिङ्गान्वितः स्तोकेनामलिङ्गेनान्वितः। घनः स्त्यानः। खेषु नासारन्ध्रेषु, 'स्थितः' इति शेषः, व्यक्त्यपेक्षया बहुवचनम्। स्वरविशुद्धिः स्वरभेदाभावः, वर्णविशुद्धिः प्रकृतिसवर्णता ॥ ११-१२ ॥

विमर्श—चरकोक्त पीनस या अपीनस का वर्णन पीछे किया जा चुका है। प्रतिश्याय के लिये भी पीनस शब्द का व्यवहार किया जाता है। वस्तुतः ये दोनों रोग भिन्न हैं। पीनस में पूतिनस्य (ओजीना = Ozaena) एक विशेष लक्षण पाया जाता है। इसमें मुख और नासा से भयंकर दुर्गन्ध आती है, जिससे रोगी समूह में बैठने योग्य नहीं रहता है। पीनस कहने से विशेषतया इसी अर्थ का बोध होता है। विशेष चिकित्सा के लिए पीनस की आम और पक्व अवस्था के लक्षणों का विवेचन किया गया है। (श्लोक १ का विमर्श और टिप्पणी भी देखें)।

प्रतिश्यायं निरूपयति—

संधारणाजीर्णरजोतिभाष्यक्रोधर्तुवैषम्यशिरोभितापैः।
प्रजागरातिस्वपनाम्बुशीतैरवश्यया मैथुनबाष्पधूमैः ॥ (च. चि. २६)
संस्त्यानदोषे शिरसि प्रवृद्धो वायुः प्रतिश्यायमुदीरयेत्तु ॥ १३ ॥
चयं गता मूर्धनि मारुतादयः पृथक् समस्ताश्च तथैव शोणितम्।
प्रकुप्यमाणा विविधैः प्रकोपणैस्ततः प्रतिश्यायकरा भवन्ति हि ॥

वेगों को रोकना, अजीर्ण, धूलिसेवन, अत्यधिक बोलना, क्रोध, ऋतुओं की विषमता, सिर को कष्ट पहुँचानेवाला धूम सदृश कारण, रात्रिजागरण, अधिक या दिन में सोना, अत्यधिक शीतल जल और ओस का सेवन, अत्यधिक मैथुन, भाप और धूम का सेवन—इन कारणों से घनीभूत श्लेष्मा के स्थान सिर में वायु प्रकुपित होकर प्रतिश्याय को उत्पन्न करता है। पृथक्-पृथक् अथवा एक साथ मिले हुए वात, पित्त और कफ एवं रक्त सिर में संचित होकर और विविध प्रकोपक कारणों से प्रकुपित होकर प्रतिश्याय को उत्पन्न करते हैं॥ १३-१४॥

प्रतिश्यायः पञ्चविधो भवति, वातपित्तकफसन्निपातरक्तजभेदात्, यस्य निदानं द्विविधं, एकं सद्योजनकं तच्च बलवत्त्वेन चयं नापेक्षत एव; अपरं चयादिक्रमेण जनकं, चयादिक्रमोत्पन्नश्च दोषो गरीयान् सकलशरीरसंभावनया बद्धमूलत्वात्। अत्र सद्योजनकनिदानपूर्विकां तस्य संप्राप्तिमाह—संधारणेत्यादि। संधारणं पुरीषादिवेगधारणं, रजो धूलिः, शिरोभितापः शिरोऽभितप्यते येन स शिरोभितापः धूमादि; रजोधूमादयश्च नासाप्रविष्टाः सन्तो हेतवः। अतिस्वपनं दिवास्वपनमित्यर्थः। अवश्यया तुषारेण। संस्त्यानदोषे शिरसीति घनीभूतश्लेष्मणि शिरसि। सुश्रुतेनापि सद्योजनकं निदानं पठितं; तद्यथा, 'नारीप्रसङ्गः शिरसोऽभितापो धूमो रजः शीतमतिप्रतापः। संधारणं मूत्रपुरीषयोश्च सद्यः प्रतिश्यायनिदानमुक्तम्' (सु. उ. तं२४) **इति। चयादिक्रमेण जनकमपि दोषं दर्शयन्नाह—चयं गता इत्यादि। चयं गता इति सामर्थ्यात् स्वे स्वे स्थाने, 'स्वस्थानवृद्धिर्दोषाणां चय इत्यभिधीयते' इति वचनात्। तथैव शोणितमिति चयं गतम्। ननु, यदि स्वस्थानस्थिता दोषास्तत् कथं मूर्ध्नि प्रतिश्यायसंभवः? इत्याह—प्रकुप्यमाणा[1] विविधैः प्रकोपणैरिति। विविधैरिति बलवद्विग्रहदिवास्वप्नादिभिः। प्रकोपविशेषश्च प्रसरः। यदुक्तं-'प्रकुपितानां पर्युषितकिण्वोदकपिष्टसमवाय इवोद्रिक्तानां प्रसरो भवति'** (सु. सू. २१) **इति। अत एव 'चयप्रकोपप्रशमाः पित्तादीनां यथाक्रमम्' इत्यत्र प्रकोपमात्रमुपात्तम्। एतेन प्रसरेण शिरःसंप्राप्ता दोषाः प्रतिश्यायकराः। अन्ये तु-चयं गता मूर्धनीति यथास्थितमेव योजयन्ति, उदानवायोरूर्ध्वगतित्वाच्छिरस्यपि संभवात्, त्वक्सिराश्रितत्वात् पित्तासृजोः कफस्य च निसर्गतः शिरोवस्थितेः शिरसि चय इति। तत इति प्रकोपविशेषात् प्रसरादनन्तरम्। प्रतिश्याय इति वातं प्रत्यभिमुखं श्यायो गमनं कफादीनां यत्र स प्रतिश्यायः। 'श्यैङ्' गतौ, इत्यस्य प्रयोगः। तथा च** चरकः- **'घ्राणमूले स्थितः श्लेष्मा रुधिरं पित्तमेव वा। मारुताध्मातशिरसः श्यायते मारुतं प्रति'** (च. चि. अ. ८) **इति॥ १३-१४॥**

विमर्श—प्रति उपसर्ग पूर्वक 'श्यैङ् गतौ' धातु से प्रतिश्याय शब्द बनता है। **'वातं प्रति अभिमुखं श्यायो गमनं कफादीनां यत्र स प्रतिश्यायः'** (डल्हणः) वायु की ओर अथवा नासिका से बाहर की ओर कफ आदि दोषों का जिसमें निःसरण की प्रवृत्ति हो, उस रोग को प्रतिश्याय कहते हैं। प्राचीन आचार्यों ने प्रतिश्याय के कारणों के दो वर्गों का उल्लेख किया है। (१) सद्योजनक (आशुकारी), (२) चयपूर्वक हेतु (चिरकारी)। प्रथम श्लोक में प्रायः सद्योजनक निदानों का वर्णन किया गया है। सुश्रुत ने स्पष्ट रूप में कहा है 'मैथुन, शिरोऽभिताप, धूप, धूलि, शीत, अधिक गर्मी और मल-मूत्रादिका वेग धारण **सद्यः प्रतिश्याय** के कारण हैं।' दूसरे श्लोक में **क्रमशः** सञ्चित और प्रकुपित दोषों द्वारा प्रतिश्याय के हेतुओं का निर्देश है। इसे साधारण बोलचाल में जुकाम (अरबी से झुकाम का अपभ्रंश) या सर्दी लगना और अंग्रेजी में एक्यूट राइनाइ-

१. 'प्रकोप्यमाणा विविधैः' इति पाठान्तरम्। अयमेव पाठो ज्यायान्, अन्तर्भावितण्यर्थकल्पने गौरवात्।

टिस, कोराइज़ा या कौमन कोल्ड (Acute Rhinitis, Coryza or Common cold) कहते हैं। प्रतिश्याय नासारोगों में प्रधान रोग है। इससे नासिका के पीनस आदि रोग उत्पन्न होते हैं। अधिक बढ़ने पर कास, श्वास तथा क्षय की भी उत्पत्ति हो जाती है। इस अवस्था में नासिका की श्लेष्मलकला सूज जाती है। उसमें रक्ताधिक्य होने से लालिमा तथा ग्रन्थियों का स्राव बढ़ जाता है, जो नासाद्वार से बाहर निकलता है।

उपसर्ग तथा धूलि आदि के क्षोभ से प्रतिश्याय की उत्पत्ति होती है। ओस, शीत आदि इसमें सहायता करते हैं। इससे नासा की श्लेष्मलकला में रक्ताल्पता होने से दुर्बलता आ जाती है और उपसर्गकारी जीवाणु को आक्रमण कर रोग उत्पन्न करने का सुअवसर प्राप्त हो जाता है।

अब यहाँ शंका होती है कि जब दोष अपने ही स्थान में संचित होते हैं तो वहीं प्रतिश्याय होना चाहिए, सिर में उसकी उत्पत्ति क्यों बताई ? इस पर कहते हैं कि दोष-संचय अपने स्थान पर ही होता है, किन्तु प्रकुपित होने पर प्रसर के द्वारा वह सिर में पहुँच जाता है। प्रसर भी प्रकोप की एक अवस्थाविशेष ही है। सुश्रुत ने कहा है 'प्रकुपित दोषों का वासी सुराबीज, जल और पिष्ट (पिट्ठी) के समान प्रसर (फैलाव) होता है। इसीलिए **'चयप्रकोपप्रशमाः पित्तादीनां यथाक्रमम्'** आदि वचनों में प्रकोप मात्र का उल्लेख मिलता है, प्रसर का नहीं। इसके अतिरिक्त ऊर्ध्वगति होने से उदान वायु सिर में भी रह सकती है। शिरःस्थित त्वचा और सिराओं में पित्त और रक्त की भी उपस्थिति रहती है और कफ का तो सिर प्रधान स्थान ही है। इस प्रकार सिर में भी इनका संचय हो सकता है। सिर से यहाँ शिरःकपालस्थित वायुविवरों (Air sinuses) का ग्रहण करना चाहिए।

प्रतिश्यायस्य पूर्वरूपं विवेचयति—

क्षवप्रवृत्तिः शिरसोऽतिपूर्णता स्तम्भोऽङ्गमर्दः परिहृष्टरोमता। (सु. उ. २४)
उपद्रवाश्चाप्यपरे पृथग्विधा नृणां प्रतिश्यायपुरःसराः स्मृताः ॥ १५ ॥

छींकों का आना, सिर में अत्यधिक भारीपन, जकड़न, अंगों में पीडा, रोंगटों का खड़ा होना तथा विविध उपद्रवों (लक्षणों) की उत्पत्ति—ये प्रतिश्याय के पूर्वरूप हैं ॥ १५ ॥

तस्य पूर्वरूपमाह—क्षवप्रवृत्तिरित्यादि। उपद्रवाश्चाप्यपरे इति उपद्रवास्तत्कालभाविनो रोगाः, न तु पारिभाषिकाः पश्चात्कालभाविनः; ते च घ्राणधूमायनमन्थादयः। यदाहः विदेहः- **'पूर्वरूपाणि दृश्यन्ते प्रतिश्याये भविष्यति। घ्राणधूमायनं मन्थः क्षवथुस्तालुदारणम् ॥ कण्ठध्वंसो मुखस्रावः शिरसः पूरणं तथा' इति। पुरःसरा इति पूर्वरूपाणि ॥ १५ ॥**

विमर्श—यहाँ उपद्रव शब्द से तत्काल होनेवाले अन्य अनेक विकारों का ग्रहण करना चाहिये न कि रोग के उत्तरकाल में होनेवाले पारिभाषिक उपद्रवों की। अतएव आचार्य विदेह ने नासिका में धूम निकलने और मथने के समान प्रतीति, तालुदारण, कण्ठध्वंस, मुख के स्राव तथा शिर के भारी होने का भी प्रतिश्याय के पूर्वरूपों में वर्णन किया है।

पूर्वरूप के पश्चात् रूपावस्था के लक्षण प्रकट होते हैं। नासास्राव अधिक होता है। आँखों से आँसू गिरते हैं; तापक्रम बढ़ जाता है और रोगी को सुस्ती तथा शिरःशूल का अनुभव होता है। इन सामान्य लक्षणों के अतिरिक्त यथादोष अन्य लक्षणों की भी उत्पत्ति होती है, जिनका आगे वर्णन किया जा रहा है।

वातिकं पैत्तिकं श्लैष्मिकं च प्रतिश्यायं लक्षयति—

आनद्धा पिहिता नासा तनुस्रावप्रसेकिनी।

गलताल्वोष्ठशोषश्च निस्तोदः शङ्खयोस्तथा ॥ १६ ॥
क्षवप्रवृत्तिरत्यर्थं वक्त्रवैरस्यमेव च ।
भवेत् स्वरोपघातश्च प्रतिश्यायेऽनिलात्मके ॥ १७ ॥
उष्णः सपीतकः स्रावो घ्राणात् स्रवति पैत्तिके ।
कृशोऽतिपाण्डुः संतप्तो भवेदुष्णाभिपीडितः ॥ १८ ॥
सधूममग्निं सहसा वमतीव स मानवः ।
घ्राणात् कफः कफकृते शीतः पाण्डुः स्रवेद्बहुः ।
शुक्लावभासः शुक्लाक्षो भवेद् गुरुशिरा नरः ॥ १९ ॥
कण्ठताल्वोष्ठशिरसां कण्डूभिरभिपीडितः ॥ (सु. उ. २४)

वातिक प्रतिश्याय में नासिका में आनाह तथा अवरोध होता है, उससे पतला स्राव निकलता है, गला, तालु और होंठ सूखते हैं, शंख-प्रदेश में सूई चुभाने जेसी पीडा होती है, छींक बहुत आती हैं, मुख में विरसता तथा स्वर का उपघात हो जाता है ।

पैत्तिक प्रतिश्याय में नासिका से गरम और पीला स्राव निकलता है। रोगी कृश, अत्यधिक पाण्डु, परेशान और गरमी से पीडित रहता है और वह धूम सहित अग्नि के समान वमन-सा करता है (मुख से अत्यधिक गरम वायु निकलती है*)

कफज—प्रतिश्याय में नासिका से अत्यधिक मात्रा में ठण्डे और पाण्डुवर्ण के कफ का स्राव होता है। रोगी का वर्ण और आँखें सफेद हो जाती हैं, सिर भारी हो जाता है। कण्ठ, तालु, ओष्ठ तथा सिर में अत्यधिक खुजली होती है ॥ १६–१९ ॥

वातादिप्रतिश्यायलिङ्गान्याह—आनद्धेत्यादि । आनद्धा विबद्धा । पिहिता सपिधानेव । निस्तोदः सूचिव्यधनवद्व्यथा । शङ्खयोरिति भ्रूपुच्छान्तयोः । सपीतक इति ईषत् पीतः । पित्तप्रतिश्यायवान् मानवः कृशो भवति । अतिपाण्डुर्धूसरः । उष्णाभिपीडित इति उष्णगुणेनाभिपीडित इत्यर्थः ॥ १६–१९ ॥

विमर्श—पैत्तिक प्रतिश्याय में नासापाक तथा अन्य पैत्तिक लक्षण भी रहते हैं और कफज प्रतिश्याय में श्वास, कास, अरुचि तथा मुखमाधुर्य भी पाया जाता है ।

सान्निपातिकं प्रतिश्यायं प्राह—

भूत्वा भूत्वा प्रतिश्यायो यस्याकस्मान्निवर्तते ॥ २० ॥
संपक्वो वाऽप्यपक्वो वा स सर्वप्रभवः स्मृतः । (सु. उ. २४)

जिस रोगी का प्रतिश्याय बार-बार उत्पन्न होकर बिना कारण ही ठीक हो जाता है और फिर होता है, जो कभी पकता है और कभी अपक्व ही रहता है, उसे 'सन्निपातज प्रतिश्याय' समझना चाहिए ॥ २० ॥

सन्निपातजमाह—भूत्वेत्यादि भूत्वा भूत्वेति वीप्सया पुनः पुनः संभवं दर्शयति । अन्यतमदोषस्य कालादिनाऽनवधारितेन बलहानेर्निवृत्तिः, अकस्मात् प्रवृत्तिरप्यसम्यङ्नि-

---

* यहाँ **'संतप्त'** शब्द से मानसिक संताप और **'उष्णाभिपीडितः'** का अर्थ शारीरिक ताप है।

वृत्तदोषस्य कालादिना बललाभात्। अत्र यद्यपि दोषत्रयलिङ्गानि नोक्तानि, तथाऽपि सर्वप्रभवत्वात् प्रत्येतव्यानि। असाध्यश्चायं दुष्टतां गतः सन्, 'नृणां दुष्टप्रतिश्यायस्त्वसाध्यः सर्वजः स्मृतः' इति विदेहवचनात्॥ २०॥

विमर्श—कालप्रभाव से तीन में से किसी भी एक दोष के क्षीण हो जाने से प्रतिश्याय शान्त हो जाता है और दोष बल बढ़ जाने से पुनः उत्पन्न होता है। इस प्रकार सान्निपातिक प्रतिश्याय बार-बार उत्पन्न और शान्त होता है। सर्वदोषज होने के कारण इसमें तीनों दोषों के लक्षण होते हैं। **'लिङ्गानि चैव सर्वेषां पीनसानां च सर्वजे'** अर्थात् इसमें सभी पीनस (प्रतिश्याय) के लक्षण मिलते हैं। सुश्रुत में इतना पाठ अधिक है। यह दुष्ट होने पर असाध्य हो जाता है—**'नृणां दुष्टप्रतिश्यायस्त्वसाध्यः सर्वजः स्मृतः'**।

दुष्टप्रतिश्यायलिङ्गमाह—

प्रक्लिद्यते पुनर्नासा पुनश्च परिशुष्यति॥ २१॥
पुनरानह्यते वाऽपि पुनर्विव्रियते तथा।
निश्वासो वाऽतिदुर्गन्धो नरो गन्धान् न वेत्ति च॥ २२॥
एवं दुष्टप्रतिश्यायं जानीयात् कृच्छ्रसाधनम्। (सु. उ. २४)

नासिका बार-बार गीली होकर सूख जाती है, बार-बार उसमें अवरोध होता है और बार-बार वह खुल जाती है, श्वास अति दुर्गन्धित आता है और रोगी गन्धज्ञान नहीं कर सकता। इस प्रकार के लक्षणों से युक्त कृच्छ्रसाध्य व्याधि को 'दुष्टप्रतिश्याय' कहते हैं॥ २१-२२॥

एकदोषस्यापि दुरुपचाराद्दोषद्वयानुबन्धेन दुष्टतां गतस्य दोषत्रयसंबन्धसाम्येन सन्निपातजानन्तरं लिङ्गमाह—प्रक्लिद्यते पुनर्नासेत्यादि। आनह्यत इति विबध्यते। विव्रियत इति विगतावरणा भवतीत्यर्थः। क्लेदशोषपिधानविवरणानि नैककालं भिन्नदोषजानि बोद्धव्यानि, तेन विरोधो नोद्भावनीयः। एवमिति इत्थम्भूतलिङ्गं दुष्टप्रतिश्यायं परस्परविरुद्धोपक्रमदोषसंबन्धात् कृच्छ्रसाध्यं जानीयात्। अयं च पञ्चानामेवावस्थान्तरतयाऽनन्यत्वान्न षष्ठः। ननु, अवस्थान्तरत्वेऽप्यभिष्यन्दादधिमन्थ इव भिन्नो भविष्यति? न, तद्वद्वातादिजत्वेनानिर्देशात्॥ २१-२२॥

विमर्श—विरुद्धोपक्रम होने से यह कृच्छ्रसाध्य होता है। दुष्ट प्रतिश्याय पाँचों प्रतिश्यायों का ही अवस्थाविशेष है। प्रत्येक प्रतिश्याय में यह अवस्था उत्पन्न हो सकती है अतः इसे पूर्वोक्त प्रतिश्यायों से भिन्न छठां मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके और पूर्वोक्त पीनस के लक्षणों में अतिसादृश्य होने से ही प्रतिश्याय के लिए भी पीनस शब्द का प्रयोग मिलता है (प्रथम श्लोक का विमर्श और टिप्पणी देखें।)

रक्तजप्रतिश्यायं वर्णयति—

रक्तजे तु प्रतिश्याये रक्तस्रावः प्रवर्तते॥ २३॥
ताम्राक्षश्च भवेज्जन्तुरुरोघातप्रपीडितः। (सु. उ. २४)
दुर्गन्धोच्छ्वासवदनो गन्धानपि न वेत्ति सः॥ २४॥

रक्तजप्रतिश्याय में नासिका से रक्तस्राव होता है, रोगी की आँखें ताम्र के वर्ण की हो जाती हैं और वह उरोघात से पीडित रहता है। श्वास और मुख से दुर्गन्ध आती है तथा वह गन्धज्ञान नहीं कर पाता॥ २३-२४॥

रक्तजलिङ्गमाह—रक्तज इत्यादि। उरोघातप्रपीडित इति उरोघातस्तन्त्रान्तरपठितलक्षणः, तेन प्रकर्षेण पीडितः। तद्यथा,—'उरःक्षतमुरःस्तम्भः पूतिकर्णकफोरसः। सकासः सज्वरो ज्ञेय उरोघातः सपीनसः' इति। अत्र पित्तप्रतिश्यायलिङ्गान्यपि बोद्धव्यानि, तुल्यत्वात् पित्तरक्तयोः। तथाच क्वचित् पठ्यते-'पित्तप्रतिश्यायकृतैर्लिङ्गैश्चापि समन्वितः' इति॥

विमर्श—डल्हण ने तन्त्रान्तरोक्त उरोघात का विशेष लक्षण बताया है—**उरःक्षतादुरःस्तम्भः पूतिकर्णकफोरसः। सकासः सज्वरो ज्ञेय उरोघातः सपीनसः॥** पित्त और रक्त में समानता होने से इसमें पैत्तिक प्रतिश्याय के लक्षण भी मिलते हैं। कुछ लोग तो इसे पैत्तिक प्रतिश्याय का ही उग्ररूप मानते हैं। डल्हण आदि कुछ टीकाकार **'मूर्च्छन्ति चात्र कृमयः'** आदि (श्लोक २६) को भी रक्तजप्रतिश्याय के लक्षणों का ही अंश मानते हैं, किन्तु **'सर्व एव प्रतिश्यायाः'** (श्लोक २५) के व्यवधान से इसे दुष्टप्रतिश्याय का ही उग्रतम लक्षण या उपद्रव मानना उचित एवं प्रत्यक्ष संगत प्रतीत होता है।

कालान्तरेण सर्वप्रतिश्यायानां दुष्टत्वं विवेचयति—

सर्वे एव प्रतिश्याया नरस्याप्रतिकारिणः।
दुष्टतां यान्ति कालेन तदाऽसाध्या भवन्ति हि॥ २५॥
मूर्च्छन्ति चात्र कृमयः श्वेताः स्निग्धास्तथाऽणवः। (सु. उ. २४)
कृमितो[1] यः शिरोरोगस्तुल्यं तेनास्य लक्षणम्॥ २६॥

चिकित्सा न करनेवाले मनुष्य के सभी प्रतिश्याय कालान्तर में दुष्ट होकर असाध्य हो जाते हैं। इसमें सफेद, चिकने और सूक्ष्म कृमि पड़ जाते हैं और इसके लक्षण कृमिज शिरोरोग के समान होते हैं॥ २५-२६॥

अप्रतिक्रियया कालान्तरेण सर्व एव दुष्टप्रतिश्याया भवन्ति, ते चासाध्या इत्याह—सर्व एवेत्यादि। मूर्च्छन्ति चात्र कृमय इति अत्रेति एषु, बहुवचनान्तात्रल्प्रत्ययविधिः; अन्ये तु प्रत्यासन्नत्वाद्रक्तज एव कृमिमूर्च्छनं वदन्ति। श्वेता इति कफाधिकत्वात् प्रतिश्यायस्य सर्वत्र कफजा एव श्वेतकृमयो भवन्ति। कृमितो यः शिरोरोगस्तुल्यं तेनास्य लक्षणमिति कृमिजशिरोरोगेणेह तुल्यं लिङ्गं, तच्च 'निस्तुद्यते यस्य शिरोऽतिमात्रम्' इत्यादिना वक्ष्यमाणम्॥ २५-२६॥

प्रतिश्यायस्योपद्रवान् प्राह—

बाधिर्यमान्ध्यमघ्रत्वं घोरांश्च नयनामयान्। (सु. उ. २४)
शोथाग्निसादकासांश्च वृद्धाः कुर्वन्ति पीनसाः॥ २७॥

सभी प्रतिश्याय अधिक बढ़ने से बहरापन, अन्धापन, गन्धाज्ञता तथा नेत्रों के भयंकर रोग शोथ, अग्निमान्द्य और खाँसी को उत्पन्न करते हैं॥ २७॥

अतः परमपरान् विकारान् प्रवृद्धाः प्रतिश्यायाः कुर्वन्ति; तानाह—बाधिर्यमित्यादि। घोरान्नयनामयानित्यभिधानादेवान्ध्ये लब्धे विशेषेण तत्करत्वप्रतिपादनार्थमान्ध्यग्रहणम्।

---

१. 'कृमिजो यः शिरोरोगः' इति पाठान्तरम्।

अघ्रत्वमिति न जिघ्रतीत्यघ्रस्तस्य भावोऽघ्रत्वम्। 'घ्रा' गन्धोपादाने इत्यस्मात् 'सुपि स्थः' इत्यत्र योगविभागात् कप्रत्ययः ॥ २७ ॥

विमर्श—चिकित्सा न करने या अपथ्य-सेवन से प्रतिश्याय दुष्ट प्रतिश्याय में परिणत हो जाता है। इससे पीनस या पूतिनस्य जैसे रोग हो जाते हैं। नासा-विवरों में बढ़ने से नासाविवरकला-शोथ (Sinusitis) उत्पन्न करता है। यदि उपसर्ग श्रुतिसुरंगा (Auditory tube) का अनुसरण करे तो मध्यकर्ण शोथ होने के बाद बधिरता हो सकती है। गन्धनाडी पर प्रभाव होने से गन्ध का ज्ञान नहीं होता। गले और श्वास-नलिका की ओर बढ़ने से कास, श्वास आदि भी उत्पन्न हो सकते हैं।

अर्बुदं सप्तधा शोथाश्चत्वारोऽर्शश्चतुर्विधम्। (सु. उ. २४)
चतुर्विधं रक्तपित्तमुक्तं घ्राणेऽपि तद्विदुः ॥ २८ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने नासारोगनिदानं समाप्तम् ॥ ५८ ॥

नासिका में पूर्वोक्त सात प्रकार के अर्बुद, चार प्रकार के शोथ, चार प्रकार के अर्श तथा चार प्रकार के रक्तपित्त होते हैं ॥ २८ ॥

सुश्रुते नासारोगा एकत्रिंशदुक्ताः, अत्राप्यपीनसमारभ्य प्रतिश्यायपर्यन्तेन पञ्चदशोक्ताः, शेषसंख्यापूरणायापरान् षोडश नासारोगानाह—अर्बुदं सप्तधेत्यादि। एकैकदोषरक्तमांसमेदःसंभवत्वेन षडर्बुदानि, शालाक्यसिद्धान्तेन सन्निपातजमधिकं, एवं सप्त। तथा च विदेहः-**'सर्वलिङ्गं रुजायुक्तमर्बुदं विद्धि सर्वजम्' इति। शोथाश्चत्वारो वातपित्तकफसन्निपातजभेदात्, एवमर्शोऽपि चतुर्विधं, रक्तपित्तं चतुर्विधमपि रक्तपित्तत्वसामान्यादेकत्वेन गणनीयं, तेन न संख्यातिरेकः। अर्बुदादीनां तत्र तन्त्रोक्तानामत्राभिधानं शालाक्योक्तसंख्यापूरणार्थमाश्रयप्रभावेणातिरिक्तलिङ्गादिख्यापनार्थं च ॥ २८ ॥**

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां नासारोगनिदानं समाप्तम् ॥ ५८ ॥

विमर्श—नासा में ३१ रोग होते हैं। अपीनस से पंचविध प्रतिश्याय तक पन्द्रह रोगों का वर्णन किया गया है। शेष सोलह का वर्णन इस श्लोक के द्वारा किया गया है। वात, पित्त, कफ, रक्त, मांस और मेदजनित सर्वसामान्य ६ अर्बुदों के अतिरिक्त कर्णरोग के समान शालाक्यसिद्धान्त से सातवाँ सान्निपातिक अर्बुद भी होता है। तथा वात, पित्त, कफ और सन्निपातजनित चार-चार शोथ और अर्श भी कर्णरोग के समान ही होते हैं। रक्त-पित्त भी चार प्रकार के होते हैं किन्तु चारों को रक्तपित्तत्व सामान्य होने से एक ही मान लिया है। इनके लक्षण उन्हीं रोगों के समान होते हैं। अत एव उनके लक्षणों का यहाँ वर्णन नहीं किया गया। आजकल नासागत रक्तपित्त को (Epistaxis) और नासार्श को (Polypus) कहते हैं।

समाप्तं चेदं नासारोगनिदानम्

---

१. अघ्रत्वं घ्राणेन्द्रियदुष्ट्या इति क.।

अथ नेत्ररोगनिदानम्

(चक्षूरक्षायां सर्वकालं मनुष्यैर्यत्नः कर्तव्यो जीविते यावदिच्छा ।
व्यर्थो लोकोऽयं तुल्यरात्रिन्दिवानां पुंसामन्धानां विद्यमानेऽपि वित्ते ॥)
(अ. हृ. उ. १२)

(मनुष्यों को यावज्जीवन सदैव नेत्रों की रक्षा में प्रयत्नशील रहना चाहिए (क्योंकि) समस्त साधन होते हुए भी जिनके लिए रात और दिन समान होते हैं, ऐसे अन्धे मनुष्यों के लिए सारा संसार ही व्यर्थ होता है ।)

विमर्श—प्रस्तुत श्लोक से ही नेत्र और उसकी रक्षा की महत्ता सिद्ध हो जाती है। अतएव प्राचीन आचार्यों ने ऊर्ध्व-जत्रुगत अन्य अंगों की अपेक्षा नेत्र के शारीर, रोग, रोगों के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा का विस्तार से वर्णन किया है। इनके और आधुनिक रोगों के लक्षणों में बहुत कुछ समानता भी पायी जाती है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस प्राचीनकाल में भी ऋषियों ने पर्याप्त सूक्ष्म निरीक्षण करने के उपरान्त इस ज्ञान का आलोक संसार को प्रदान किया था।

महर्षि सुश्रुत ने नेत्ररोगों की संख्या ७६ मानी है—**'षट्सप्ततिर्विकाराणामेषा संग्रहकीर्तना'।** आगे चलकर उन्होंने अधिष्ठान के अनुसार उनके भेद बताये हैं। वाग्भट ने इनकी संख्या ९४ बतायी है। आधुनिक ग्रन्थों में संख्या-निर्धारण नहीं किया गया है। फिर भी हेतु, लक्षण, चिकित्सा और साध्यासाध्यता में साम्य होने से दोनों में सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है।

नेत्ररोगों का समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए नेत्र की रचना या शारीर (Anatomy & physiology) का ज्ञान कर लेना परम आवश्यक है। प्राचीन ग्रंथों में नेत्रगोलक की लम्बाई-चौड़ाई और मोटाई या गहराई के अतिरिक्त उसके आकार और आन्तरिक रचना का भी वर्णन किया गया है।

नेत्रगोलक शारीर—

प्रमाण—**विद्याद् द्व्यङ्गुलबाहुल्यं स्वाङ्गुष्ठोदरसंमितम् । द्व्यङ्गुलं सर्वतः सार्धं भिषङ् नयनबुद्बुदम् ॥** नयन बुद्बुद (अक्षिगोलक) अपने अंगुष्ठोदर के समान दो अंगुल का (दिखाई देता है) और सब ओर से (लम्बाई या चौड़ाई) २॥ अंगुल होता है। यहाँ नेत्र का विस्तार २॥ अङ्गुल बताया है; किन्तु सुश्रुत में ही दूसरे स्थल पर उसे २ अंगुल ही बताया है। यह दोनों वचन परस्पर विपरीत प्रतीत होते हैं, किन्तु केवल नेत्र-गोलक का आयाम २ अंगुल और वर्त्मयुक्त नेत्र का आयाम २॥ अंगुल होता है—ऐसा मधुकोषकार का मत है। वस्तुतः सामने से दृश्य नेत्रगोलक २ ही अंगुल का होता है, किन्तु उसका वास्तविक आयाम २॥ अंगुल होता है, यह **'विद्याद् द्व्यङ्गुलबाहुल्यम्'** आदि श्लोक में ही स्पष्ट कहा है। अपने अंगूठे के अनुसार यह प्रति व्यक्ति में भिन्न हो सकता है। इसकी लम्बाई और चौड़ाई व्यक्तिविशेष की ढाई अंगुल होती है। नेत्र का आकार गाय के थन के समान गोल होता है। आधुनिक दृष्टि से नेत्र के सब माप लगभग एक इञ्च या उससे कुछ अधिक होते हैं। इस प्रकार नेत्र के माप के विषय में आधुनिक और प्राचीन मन्तव्यों में पर्याप्त साम्य है।

नेत्र की उत्पत्ति पाँचों भूतों से होती है—

पलं भुवोऽग्नितो रक्तं वातात् कृष्णं सितं जलात् । आकाशादश्रुमार्गाश्च जायन्ते नेत्रबुद्बुदे॥

अर्थात् नेत्रगोलक का मांस पृथ्वी से, रक्त अग्नि से, कृष्णभाग वायु से, श्वेतभाग जल से और अश्रुमार्ग अकाश से बनते हैं।

अब आगे सुश्रुत के अनुसार कृष्णमण्डल और दृष्टि का माप बताते हैं—

नेत्रायामत्रिभागं तु कृष्णमण्डलमुच्यते। कृष्णात् सप्तममिच्छन्ति दृष्टिं दृष्टिविशारदाः॥

नेत्र का आयाम ढाई अंगुल बताया गया है और उसका $\frac{१}{३}$ कृष्णमण्डल होता है। दृष्टि-मंडल कृष्णमण्डल का $\frac{१}{७}$ होता है। दृष्टि का आकार मसूर-दल के समान माना है—**'मसूरदलमात्रान्तु पञ्चभूतप्रसादजाम्'**। बाहर से देखने पर नेत्र-बुदबुद् दो भागों में विभक्त दिखाई देता है। इनमें आगे का भाग काला और पारदर्शक होता है, उसे कृष्णमण्डल (Cornea) कहते हैं। यह कुल नेत्र का $\frac{१}{६}$ वाँ भाग है। पीछे का $\frac{५}{६}$ भाग सफेद है और उसे श्वेतमण्डल (Sclera) कहते हैं। कृष्णमण्डल में दिखाई देनेवाला छिद्र के समान मण्डल दृष्टिमण्डल या कनीनिका (Pupil) कहलाता है।

रोग-विज्ञान की दृष्टि से प्राचीनों ने नेत्र को मण्डल, सन्धि और पटल में विभक्त किया है।

मण्डलानि च सन्धींश्च पटलानि च लोचने। यथाक्रमं विजानीयात् पञ्च षट् च षडेव च॥

नेत्र में ५ मण्डल (Circles), ६ सन्धि (Junctions) और ६ पटल (Layers) होते हैं।

पक्ष्मवर्त्मश्वेतकृष्णदृष्टीनां मण्डलानि तु। अनुपूर्वं तु ते मध्याश्चत्वारोऽन्त्या यथाक्रमम्॥

पक्ष्म, वर्त्म, श्वेत, कृष्ण और दृष्टि—ये पाँच मण्डल हैं।

(१) **पक्ष्ममण्डल** (Eye lashes) ऊपर और नीचे दोनों पलकों के रोम मिलकर एक मण्डल-सा बना लेते हैं।

(२) **वर्त्ममण्डल** (Eye lids) दोनों पलकों के बन्द हो जाने पर एक मण्डल-सा बन जाता है। ये दोनों मण्डल वास्तविक नेत्र की रचना के अंग नहीं हैं, अपितु उसके सहायक हैं। इनकी त्वचा साधारण त्वचा के समान ही होती है। अन्दर से पलक श्लैष्मिक आवरण से आवृत रहते हैं। त्वचा के नीचे नेत्र की गति करनेवाली पेशियाँ रहती हैं। त्वचा और कला के मिलने के स्थान पर एक श्वेत-सी रेखा रहती है, इसीपर पक्ष्मपङ्क्ति (Eye lashes) रहती है। इसके ठीक नीचे दूसरी रेखा में अत्यन्त सूक्ष्म छिद्र दिखाई पड़ते हैं, जिनसे सफेद घन स्राव निकलता है। यह जलपिण्डों (मेबोमियन Meibomian ग्रन्थियों) का स्राव है। रोमों के मूल में भी कुछ ग्रन्थियाँ रहती हैं, जिनसे निकला हुआ स्राव पक्ष्मों का पोषण करता है। दोनों पलकों की धार के आन्तरिक भीतरी सिरे पर एक-एक छिद्र होता है, जिसे अश्रुद्वार कहते हैं।

(३) **श्वेतमण्डल**—यद्यपि इससे कृष्णभाग के पिछले भाग (Sclera) का ग्रहण करना चाहिए तथापि आगे श्वेतमण्डल के जिन रोगों का वर्णन पाया जाता है, वे वास्तव में नेत्र की श्लेष्मल कला से ही सम्बन्धित हैं। इस प्रकार श्वेतमण्डल से कंजंक्टाइवा (Conjunctiva) का भी ग्रहण किया जाता है।

(४) **कृष्णमण्डल**—बाहर से देखने पर सफेद भाग के आगे की ओर उभरा हुआ-सा जो भाग दिखाई पड़ता है, उसे कृष्णमण्डल (Corneal circle) कहते हैं। यह स्वच्छ काँच के समान पारदर्शक होता है। किन्तु इसके पीछे स्थित कृष्ण या धूसर वर्ण के तारामण्डल (Iris) के कारण यह भी काला या धूसर दिखाई देता है। (तारामण्डल का वर्णन आगे दृष्टिमण्डल के साथ किया गया है)। युवावस्था तक यह पूर्णतया पारदर्शक रहता है; किन्तु वृद्धावस्था में इसके किनारों का भाग एक सफेद घेरे से आवृत होकर अपारदर्शक (Opaque) हो जाता है। इसे कोई रोग नहीं कहा जा सकता। यह वृद्धावस्था की स्वाभाविक विकृति है। अतः इसे वृद्धावस्थाजन्य श्वेत परिधि

(Arcus senilis) कहते हैं। कृष्णमण्डल में होकर प्रकाश की किरणें दृष्टिमण्डल द्वारा अन्दर जाकर रूप-दर्शन कराती हैं।

(५) **दृष्टिमण्डल**—इसका प्रमाण कृष्णमण्डल का $\frac{१}{७}$ है। इसे प्यूपिल का सर्किल (Circle of the pupil) कहते हैं। यह तारामण्डल (Iris) से घिरा रहता है। **तारामण्डल** एक पर्दा है, जो कृष्णमण्डल के पृष्ठ पर रहनेवाले जलमय भाग के पीछे रहता है। साधारणतया भारतवासियों में इसका वर्ण काला होता है। गौर जातियों में यह भूरा होता है। बिल्ली की आँखों में भी इसी रंग का तारामण्डल होता है। भूरे तारामण्डलवाली आँख अधिक प्रकाश में देख नहीं सकती, वह बन्द हो जाती है; किन्तु काले तारामण्डलवाली आँख अधिक योग्यता के साथ सूर्यप्रकाश में भी अपना कार्य भलीभाँति कर सकती है। इस तारामण्डल (Iris) के मध्य में एक गोल छिद्र होता है। जिसे दृष्टिमण्डल (Circle of the pupil) कहते हैं। तारामण्डल की क्रिया से दृष्टि का सङ्कोच और विस्तार हुआ करता है। जब इसपर प्रकाश पड़ता है तो यह संकुचित हो जाती है, किन्तु जब वह हटा लिया जाता है तो पुनः विस्तृत हो जाती है। दूरस्थ वस्तु का दर्शन करने के निमित्त दृष्टि विस्तृत हो जाती है, जिससे प्रकाश की किरणें दूरी से भी आ सकें। समीपस्थ वस्तु को देखने के लिए इसमें संकोच हो जाता है। इस क्रिया को अनुकूलन (Accomodation) कहते हैं।

नेत्र में छ सन्धिस्थल (Junctions) । होते हैं, जैसा कि सुश्रुत के कथन से स्पष्ट है—

पक्ष्मवर्त्मगतः सन्धिर्वर्त्मशुक्लगतोऽपरः। शुक्लकृष्णगतस्त्वन्यः कृष्णदृष्टिगतोऽपरः।
ततः कनीनकगतः षष्ठश्चापाङ्गगः स्मृतः॥

(१) **पक्ष्मवर्त्मगतसन्धि**—पलक (Eyelid) को वर्त्म कहते हैं। इसके और पक्ष्म (Eye lashes) के मिलने के स्थान को पक्ष्मवर्त्मगतसन्धि कहते हैं।

(२) **वर्त्मशुक्लगतसन्धि**—अन्दर की ओर सम्पूर्ण पलक और नेत्रगोलक पर जो श्लेष्मल आवरण चढ़ा रहता है, उसे नेत्रश्लेष्मावरण या श्वेतमण्डल (Conjunctive) कहते हैं। इसका आकार एक दोहरे थैले के समान है। यह आवरण ऊपरी पलक की धार से लेकर सम्पूर्ण पलक, नेत्रगोलक और नीचे की पलक में फैला रहता है। जिस स्थान पर यह आवरण ऊपरी पलक से उतर कर नेत्रगोलक पर जाने लगता है, वहाँ एक परिखा-सी बन जाती है, जिसे ऊर्ध्ववर्त्मकोण (Superior fornix) कहते हैं। इसके आगे जब यह नेत्रगोलक से उतरकर नीचे की पलक पर जाने लगता है तो वहाँ भी एक परिखा बन जाती है, जिसे निम्न कोण (,inferior fornix) कहते हैं। नासिका की ओर जो कोण बनता है, उसे अन्तःकोण (Medial fornix) और बाहर की ओर जो कोण बनता है, उसे बाह्यकोण (Lateral fornix) कहते हैं इन्हीं कोणों विशेषतः प्रथम दो को वर्त्मशुक्लगत सन्धि कहते हैं। इनमें अनेक रोग होते हैं।

(३) **शुक्लकृष्णगत सन्धि**—यहाँ शुक्ल से स्क्लेरा (Sclera) का ग्रहण करना चाहिए। इसके और कृष्णमण्डल (Cornea) के मिलने के स्थान को शुक्लकृष्णगतसन्धि (Corneo-scleral Junction) कहते हैं।

(४) **कृष्णदृष्टिगत सन्धि**—यह कृष्णमण्डल (Cornea) और दृष्टिमण्डल (Pupil) का सन्धिस्थल है। इससे प्राचीनों का तात्पर्य सम्भवतः तारामण्डल या सन्धान-मण्डल Iris or Ciliary body से है, जो कि निम्न तत्त्वों से बना है।

सन्धान-वलयिका (Ciliary body), सन्धान-दर्शिका (Ciliary Process)

सन्धान-पेशिका („ muscles)

कुछ लोग इसे कनीनिका (Pupil) के मण्डल में ही मानते हैं; किन्तु यह रिक्तस्थान मात्र है। अतः यहाँ सन्धि की कल्पना उचित नहीं प्रतीत होती।

(५) **कनीनकगत सन्धि**—यह नासिका के समीप रहती है। इसे इनर कैन्थस (Inner canthus) कहते हैं और दोनों वर्त्मों के मिलने से बनती है।

(६) **अपांगगतसन्धि**—बाहर की ओर दोनों पलक जहाँ मिलते हैं, उसे यह संज्ञा दी जाती है। इसे आउटर कैंथस (Outer canthus) भी कहते हैं, और यह भी दोनों वर्त्मों के मिलने से बनता है।

पटल—आयुर्वेद में छ पटल माने गये हैं। इनमें दो वर्त्मपटल और चार नेत्रपटल होते हैं—

द्वे वर्त्मपटले विद्याच्चत्वार्यन्यानि चाक्षिणि। जायते तिमिरं येषु व्याधिः परमदारुणः॥
तेजोजलाश्रितं बाह्यं तेष्वन्यत् पिशिताश्रितम्। मेदस्तृतीयं पटलमाश्रितं त्वस्थि चापरम्॥
पञ्चमांशसमं दृष्टेस्तेषां बाहुल्यमिष्यते॥

वर्त्मपटल—ये दोनों पलक हैं। इन्हें नेत्रों का वास्तविक भाग न कह कर उपाङ्ग कहना चाहिए। शेष चार में तिमिर नामक भयङ्कर व्याधि होती है और ये नेत्रगोलक के ही भाग हैं।

नेत्रगोलक के पटलों में सबसे बाहर का पटल तेज और जलाश्रित होता है। तेज से रक्तवाहिनी में स्थित रक्तगत आलोचक पित्त तथा जल से रस का ग्रहण करना चाहिए। इसके बाद मांसपटल (Muscular layer) रहता है। तीसरा पटल मेदोन्वित (Made of fatty tissue) है। चौथा पटल अस्थि के आश्रित होता है। नेत्रगोलक के पटलों की स्थूलता दृष्टि के $\frac{१}{५}$ (लगभग $\frac{१}{४२}$ अङ्गुल) होती है।

आधुनिक विद्वान नेत्र में तीन ही पटल (Tunics) मानते हैं—

(१) **बाह्य पटल**—इसमें सौत्रिक पटल (Fibrous tunic), स्क्लेरा (Sclera) तथा कृष्णमण्डल (Cornea) का समावेश होता है।

(२) **मध्यपटल**—इसमें तारामण्डल (Iris) कोरायड (Choroid), सन्धान-मण्डल (Ciliary body) तथा रक्तवाहिनीमय रञ्जित पटल (Vascular pigmented tunic) का समावेश होता है।

(३) **अन्तःपटल**—इसे दृष्टिवितान (Retina) भी कहते हैं। यह नाड़ियों का बना होता है।

आधुनिक ग्रन्थों में नेत्रगोलक की सूक्ष्म रचना व क्रिया का वर्णन और भी विस्तार से किया गया है। विस्तारभय से यहाँ उसका वर्णन करना अभीष्ट नहीं है। जितने अंश का तुलनात्मक विवेचन सम्भव था, उसका निर्देशमात्र कर दिया गया है। विस्तृत वर्णन पाठक तद्विषयक ग्रन्थों से अध्ययन कर सकते हैं।

नेत्ररोगाणां सामान्यमुत्पादकहेतुं प्राह—

उष्णाभितप्तस्य जले प्रवेशाद् दूरेक्षणात् स्वप्नविपर्ययाच्च।
स्वेदाद्रजोधूमनिषेवणाच्च छर्देर्विघाताद्वमनातियोगात्॥ १॥
द्रवात्तथाऽन्नान्निशि सेविताच्च विण्मूत्रवातक्रमनिग्रहाच्च।
प्रसक्तसंरोदनकोपशोकाच्छिरोऽभिघातादतिमद्यपानात्॥ २॥
तथा ऋतूनां च विपर्ययेण क्लेशाभिघातादतिमैथुनाच्च। (सु. उ. १)

बाष्पग्रहात् सूक्ष्मनिरीक्षणाच्च नेत्रे विकाराञ्जनयन्ति दोषाः ॥ ३ ॥

अधिक गरमी में रहने के उपरान्त एकाएक शीतल जल में प्रवेश करने से, दूर की वस्तु को अधिक देखने से, स्वप्नविपर्यय (उचित समय पर निद्रा न लेना या दिन में सोना और रात्रि में जागना), आँखों के स्वेदन (या धूप) तथा धूलि और धूम का आँखों के साथ सम्पर्क होने से, वमन को रोकने या वमन की अति प्रवृत्ति से, रात्रि में द्रवबहुल अन्न के अधिक सेवन करने से, मल, मूत्र या वायु का वेग धारण करते रहने से, निरन्तर रोने तथा क्रोध व शोक करने से, सिर की चोट तथा अत्यधिक मद्यपान करने से, ऋतुओं के विपर्यय से, मानसिक तथा शारीरिक क्लेश से, अति मैथुन, आँसुओं के अवरोध तथा निरन्तर सूक्ष्म निरीक्षण से प्रकुपित हुए दोष आँख में रोगों को उत्पन्न कर देते हैं ॥ १-३ ॥

इन्द्रियाधिष्ठानगतविकारपारिशेष्यान्नेत्ररोगाभिधानम् । एते च नयनरोगा वातपित्तकफरक्तसन्निपातागन्तुजाः सन्तः षट्सप्ततिः । यदाह सुश्रुतः-'तैस्त्रिभिस्त्रिंशदुक्तास्ते कफेनाप्यधिकास्त्रयः । रक्तजाः षोडश प्रोक्ताः सर्वजाः पञ्चविंशतिः । बाह्यौ पुनर्द्वौ च तथा रोगाः षट्सप्ततिः स्मृताः' (सु. उ. १) इति । षट्सप्ततिश्चैते रोगा आश्रयभेदेन सुश्रुतेनैव विभक्ताः । यदाह-'नव सन्ध्याश्रयास्तेषु वर्त्मजास्त्वेकविंशतिः । शुक्लभागे दशैकश्च चत्वारः कृष्णभागजाः ॥ सर्वाश्रयाः सप्तदश दृष्टिजा द्वादशैव तु । द्वौ च बाह्याश्रयावन्यावनिमित्तनिमित्तजौ ॥ षट्सप्ततिर्नेत्ररोगाः संग्रहेण प्रकीर्तिताः' (सु. उ. १) इति । नेत्रप्रमाणं च सुश्रुतेनैवोक्तम्—'विद्याद् द्व्यङ्गुलबाहुल्यं स्वाङ्गुष्ठोदरसंमितम् । द्व्यङ्गुलं सर्वतः सार्धं भिषङ्नयनबुद्बुदम्' (सु. उ. १) इति । द्व्यङ्गुलबाहुल्यं विस्तारेण, अतः स्वाङ्गुष्ठोदरसंमितं, द्व्यङ्गुलं सर्वतः सार्धमायामेन । अन्ये द्व्यङ्गुलबाहुल्यमिति यदुक्तं तत्र द्व्यङ्गुलमाननियमं स्वाङ्गुष्ठोदरसंमितमित्यनेनाहुः । अयमर्थः-स्वेनाङ्गुष्ठोदरेण संमितं द्व्यङ्गुलबहुलं, द्व्यङ्गुलं सर्वतः सार्धमिति चायामविस्ताराभ्यां बोद्धव्यमिति । ननु, यद्यर्धतृतीयाङ्गुलायामं नेत्रं तर्हि 'द्व्यङ्गुलायतं च नयनम्' (सु. सू. ३५) इत्यातुरोपक्रमणीयोक्तं विरुध्यते ? नैवं, वर्त्ममण्डलं गृहीत्वा गणनयाऽर्धतृतीयाङ्गुलं, तद्विरहात् द्व्यङ्गुलायतमिति न विरोधः ।

नयनरोगहेतुमाह—उष्णाभितप्तस्येत्यादि। उष्णेनातपादिना सन्तप्तदेहस्य जलावगाहनात्, शीतावृतदेहस्योर्ध्वगतेनोष्मणा नयनतेजसोऽभिभवाच्चक्षूरोगोदयः । स्वेदाद्रजोधूमनिषेवणाच्चेति घर्मरजोधूमानां नयनसंबन्धानां हेतुत्वम् । छर्देर्विघाताद्वान्तिवेगविघातात् । वमनातियोगादतिवान्तेः । विण्मूत्रवातक्रमनिग्रहात् विण्मूत्रवातानां क्रमेण शनैः शनैर्निग्रहाद्वेगविधारणात् । प्रसक्तसंरोदनशोककोपादिति प्रसक्तं निरन्तरं कृतसंरोदनादेरित्यर्थः । ऋतुविपर्ययेण एकर्तुचर्याया अन्यर्तौ करणेन । क्लेशाभिघातात् क्लेशः कायादिदुःखं; तेनाभिसंबन्धात् बाष्पनिग्रहादश्रुवेगधारणात् । यदुक्तम्-'आनन्दजं वाऽप्यथ शोकजं वा नेत्रोदकं प्राप्तममुञ्चतो हि । शिरोगुरुत्वं नयनामयाश्च भवन्ति तीव्राः सह पीनसेन' इति । नयनरोगसंप्राप्तिश्च सुश्रुते पठ्यते-'सिरानुसारिभिर्दोषैर्विगुणैरूर्ध्वमाश्रितैः । जायन्ते नेत्रभागेषु रोगाः परमदारुणाः' (सु. उ. १) इति ॥ १-३ ॥

विमर्श—सुश्रुत ने अन्यान्य रोगों की विवेचना करते हुए रोगों के निम्न प्रकार बतलाये हैं । जो कि आज के वर्णन से मिलता-जुलता है । पूर्वोक्त सभी नेत्ररोगों के कारणों का समावेश इन्हीं वर्गों में हो जाता है और अर्वाचीन ग्रन्थों के वर्णन से भी पूर्ण सामञ्जस्य हो जाता है ।

१. यथामध्यंदिनोल्कापातः सूर्यकिरणेनाभिभूयते इति क. २ किंवा क्लेशो मनःखेदः तेन अभिहननं दुःखमेव इति क. ।

(१) आदिबलप्रवृत्त (Hereditary)—वंश-परम्परा से चलनेवाला। यथा-नक्तान्ध्यता, तिर्यग्दृष्टि या ह्रस्वदृष्टि, शुक्लाङ्गता (Albinism) ।

(२) जन्मबलप्रवृत्त (Congenital)—नेत्रगोलक या किसी अवयव का विकास ही न होना या विकास होकर बीच में ही रुक जाना या नैसर्गिक रूप में होना। इस प्रकार के रोग इसी वर्ग में आते हैं। यथा Ptosis (पलक उठाने की शक्ति न रहना), तारामण्डल या नेत्र के किसी अन्य अवयव का अभाव या अल्पविकसित अवस्था में रह जाना, जन्मबलप्रवृत्त काच (Congenital cataract) आदि रोग इसी वर्ग में समाहित होते हैं।

(३) दोषबलप्रवृत्त—इसका वर्णन आज के शास्त्रों में इस रूप में नहीं मिलता। फिर भी कुछ व्याधियाँ, कुछ व्यक्तियों या व्यक्तिसमूहों में अधिक पायी जाती है और कुछ में कम। कुछ विद्वान् आधुनिक जीवाणुजनित (Parasitic), अपक्रान्तिजनित (Degenerative) और अर्बुदादिजनित विकारों का समावेश प्राचीन दोषबलप्रवृत्त वर्ग में ही करते हैं।

(४) संघातबलप्रवृत्त—यह तीन प्रकार का होता है।

(क) भौतिकः—सूर्य, अग्नि या विद्युत् के प्रकाश का अतियोग, दूरेक्षण, सूक्ष्मेक्षण, स्वेद, रज, धूम का सेवन, क्रोध, शोक, वमन का रोकना या इसकी अतिप्रवृत्ति आदि।

(ख) यान्त्रिक अभिघात (Mechanical injuries)-नेत्र में इस प्रकार के विकार आगुन्तक विकार होते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं। सच्छिद्र (With perforation) या अच्छिद्र (Without perforation)-इसमें प्रथम प्रकार का आघात अत्यन्त सांघातिक होता है और इसमें नेत्र-हानि प्रायः अवश्यम्भावी-सी हो जाती है और इसकी चिकित्सा शल्यकर्म से ही हो सकती है। दूसरे प्रकार में साध्यासाध्यता अभिघात की मात्रा एवं रोगी की शक्ति पर निर्भर करती है। कई बार नेत्रगोलक के ऊपर बलपूर्वक धक्का (Concussion) या दबाव (Compression) पड़ जाता है। यह अवस्था भी द्वितीय (अच्छिद्र) श्रेणी में ही आयेगी। धक्का या दबाव के अनुसार ही हानि भी होती है। कभी-कभी इसी से अभिघातज काच (Traumatic cataract) भी हो जाता है। कभी-कभी रक्तस्राव या अन्य विकारों के साथ दृष्टिनाश भी हो सकता है।

(ग) रासायनिक अभिघात—बाष्प, धूम्र, आग की चिनगारी, विविध प्रकार के क्षार, अम्ल, अमोनिया, साबुन, चूने के कण, आग की लपट प्रभृति द्रव्य नेत्र में प्रविष्ट होकर कृष्णमण्डल और नेत्रश्लेष्मावरण का शोथ आदि पैदा कर देते हैं।

साथ ही कुछ ऐसे भी द्रव्य हैं, जो सेवन किये जाने पर सार्वदैहिक प्रभाव करके नेत्रों को हानि पहुँचाते हैं। यथा-शुक्त, काञ्जी, कुलथी, उड़द प्रभृति द्रव्य तथा सैण्टोनीन, सोमल आदि कुछ ओषधियाँ भी इसी श्रेणी की हैं।

(५) कालबलप्रवृत्त (Seasonal diseases) यथा (spring catarrh & snow blindness)-ये व्याधियाँ कुछ विशिष्ट स्थान या काल में ही पायी जाती हैं। भारत उष्ण कटिबन्ध में होने के कारण शीत देशों की अपेक्षा मोतियाबिन्द यहाँ अधिक होता है।

(६) दैवबलप्रवृत्त—दोषनिरपेक्ष कीटाणुजन्य या आकस्मिक सभी व्याधियों का समावेश इसमें हो जायेगा।

(७) स्वभावबलप्रवृत्त (Degenarative diseases)—अपक्रान्तिजन्य सारे रोग प्रायः इसी श्रेणी में आते हैं। वृद्धावस्था में स्वभावतः अपचय होने लगता है। अतः इस वर्ग में विशेषतः वृद्धावस्था के रोगों का ही समावेश यथा—Senile cataract (जराकाच), जरादृष्टि (Presbyopia), नक्तान्ध्यता (night blindness) और जराजन्य पीतबिन्दुक्षय (Central senile choroiditis.)

नेत्ररोगों की सम्प्राप्ति—सिराओं का अनुसरण करनेवाले दूषित दोष ऊर्ध्वभाग में पहुँचकर नेत्रों में भयंकर रोगों को उत्पन्न करते हैं। (मूल श्लोक मधुकोष में देखें) इस सम्प्राप्ति में केवल निज रोगों का ही विचार किया गया है। पाश्चात्त्य मत से इस संप्राप्ति के दो भेद हैं।

प्रत्यक्ष (Direct)—इस अवस्था में रोगोत्पादक जीवाणुओं का प्रवेश प्रत्यक्ष आँख में ही होता है। यथा-अभिष्यन्द आदि विकार इसी कोटि के हैं।

अप्रत्यक्ष (Indirect)—शरीरस्थ किसी भी उपसर्ग या किसी अंगविशेष की विकृति से उत्पन्न विकार का अंश जब रक्ताभिसरण में संचरित होकर आँख में आता है तो रोग उत्पन्न करता है। यथा-Syphilitic keratitis आदि।

अभिष्यन्दाख्यरोगस्य भेदमाह—

वातात् पित्तात् कफाद्रक्तादभिष्यन्दश्चतुर्विधः।
प्रायेण जायते घोरः सर्वनेत्रामयाकरः॥ ४॥

वात, पित्त, कफ और रक्त से चार प्रकार का भयंकर अभिष्यन्द रोग उत्पन्न होता है, जो सभी नेत्ररोगों को उत्पन्न करनेवाला होता है॥ ४॥

सामान्यपूर्वकत्वाद्विशेषस्य, तथा सर्वनयनरोगहेतुत्वाच्च, आदौ सर्वनयनगतमभिष्यन्दमाह-वातादित्यादि। घोर इति दुःसहवेदनः। सर्वनेत्रामयाकर इति सर्वेषां नेत्ररोगाणामधिमन्थादीनामाकर उत्पत्तिकरत्वादाकरः स्थानम्। अत एवाह सुश्रुतः-**'प्रायेण सर्वे नयनामयास्ते भवन्त्यभिष्यन्दनिमित्तमूलाः'** (सु. उ. १) **इति॥ ४॥**

विमर्श—समस्त नेत्र में होने तथा सम्पूर्ण नेत्ररोगों का उत्पादक भी होने के कारण सर्वप्रथम अभिष्यन्दों का वर्णन करते हैं। नेत्र के विभिन्न अवयवों में होनेवाले रोगों का वर्णन बाद में किया जायगा।

अभि उपसर्गपूर्वक **'स्यन्दू-प्रस्रवणे'** नामक धातु से अभिष्यन्द शब्द बनता है। जिस रोग में आँख से अधिक स्राव हो, उसे अभिष्यन्द कहते हैं। साधारण बोलचाल में इसे आँख दुखना या आँख आना कहते हैं। इस अवस्था में नेत्र की श्लेष्मलकला में रक्ताधिक्य तथा शोथ होता है। अतः इसे नेत्रश्लेष्मावरण-शोथ (Conjunctivitis) कहते हैं। गर्मी की ऋतु में इसका विशेष प्रकोप होता है। इसके निम्न लक्षण होते हैं—

(१) **लालिमा**—नेत्रकला रक्ताधिक्य के कारण लाल हो जाती है।

(२) **स्राव** (Secretion)—अधिक हो जाता है। सौम्य प्रकार में यह श्लेष्मलस्वरूप का होता है। किन्तु भयंकर प्रकार में इसमें पूय भी मिश्रित रहता है। रात्रि में सोते समय जो स्राव निकलता है, वह सूखकर पलकों के किनारों पर चिपक जाता है। स्राव से स्वस्थ व्यक्तियों में उपसर्ग होता है।

(३) **नेत्रपीडा**—पीडा रोग की अवस्था पर निर्भर रहती है। प्रारम्भ में यह कम होती है; किन्तु रोग बढ़ने पर यह भी बढ़ जाती है और आँखों में बालू के कण भरे हुए प्रतीत होते हैं। इससे आँख में कड़क विशेष रूप से होती है। नेत्र के अतिरिक्त सिर में भी पीड़ा होती है।

(४) **प्रकाशासहता या प्रकाश-संत्रास** (Photophobia)—रोगी अन्धकार में रहना पसन्द करता है। प्रकाश में उसकी आँखें नहीं खुलतीं।

ये नेत्राभिष्यन्द के सामान्य लक्षण हैं। दोषभेद से विभिन्न रोगियों में लक्षणों की भिन्नता

पाई जाती है। इसका वर्णन आगे किया जायगा। अभिष्यन्द की अवस्था बढ़ने पर उपद्रवस्वरूप नेत्र के अधिमन्थसदृश अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अतएव सुश्रुत ने भी कहा है—

प्रायेण सर्वे नयनामयास्ते भवन्त्यभिष्यन्दनिमित्तमूलाः ॥

मूलश्लोक तथा सुश्रुतोक्त **'प्रायेण सर्वे'** आदि श्लोकमें 'प्रायेण' शब्द आया है, इसका तात्पर्य है कि (१) नेत्ररोग प्रायः दोषकृत ही होते हैं, आगन्तुक भी होते हैं; पर कम। (२) अभिष्यन्द से प्रायः अन्य नेत्ररोग भी उपद्रवस्वरूप उत्पन्न हो जाते हैं, किन्तु अभिष्यन्द के बाद किसी दूसरे नेत्ररोग की उत्पत्ति सदैव नहीं होती। (३) सभी नेत्ररोग प्रायः अभिष्यन्द-पूर्वक ही होते हैं, किन्तु विना अभिष्यन्द हुए भी हो सकते हैं। इसीलिए **'अभिष्यन्दनिमित्तमूलाः'** इस पद में 'निमित्त' और 'मूल' दोनों एकार्थवाची शब्द भिन्न-भिन्न प्रयोजनों से एक साथ रखे गये हैं। **'अभिष्यन्दाश्च तन्निमित्तानि च तान्येव मूलं येषां ते तथा। निमित्तशब्दाद् दुष्टा दोषा दोषकोपनानि च संगृह्यन्ते'** इति डल्हणः। अर्थात् नेत्ररोगों के कभी अभिष्यन्द और कभी अभिष्यन्दकारक दोष या दोषप्रकोपक अन्य पदार्थ कारण होते हैं। इसमें निज और आगन्तुज सभी कारणों का समावेश हो जाता है।

वाताभिष्यन्दस्य स्वरूपं विवेचयति—

निस्तोदनस्तम्भनरोमहर्षसंघर्षपारुष्यशिरोऽभितापाः।
विशुष्कभावः शिशिराश्रुता च वाताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥ ५ ॥

(सु. उ. ६)

सूची-वेधन के समान पीडा, जकड़ाहट, रोमहर्ष, आँखों में किरकिरापन या रगड़, रूक्षता, शिरःशूल, आँखों में मल का अभाव तथा ठण्डे आँसू आना-ये वातिक अभिष्यन्द के लक्षण हैं ॥५॥

वाताभिष्यन्दरूपमाह—निस्तोदनेत्यादि। निस्तोदनं सूचीव्यधनवद्व्यथा, स्तम्भनं जडिमा, संघर्षः करकरिका, पारुष्यं रूक्षता, शिरोऽभितापः शिरोव्यथा। विशुष्कभावो दूषिकारहितत्वं, न स्वास्रावरहितत्वं, शिशिराश्रुतेत्युक्तेः ॥ ५ ॥

विमर्श—'विशुष्कभावः' का अर्थ—सूखा या जलरहित लगाना-यहाँ पर उपयुक्त न होगा; क्योंकि आगे 'शिशिराश्रुतता' भी कहा गया है। एक साथ दोनों का होना सम्भव नहीं, इसीलिए कुछ स्थानों में **'शुष्कालपदूषीकहिमाश्रुता च'** (डल्हण) भी कहा गया है, जिसका अर्थ होता है सूखा और थोड़ा मल, इसलिए यहाँ 'विशुष्कता' का अर्थ 'मलरहितता' ही श्रीकण्ठदत्त ने स्वीकार किया है।

पित्ताभिष्यन्दं निरूपयति—

दाहप्रपाकौ शिशिराभिनन्दा धूमायनं बाष्पसमुच्छ्रयश्च।
उष्णाश्रुता पीतकनेत्रता च पित्ताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥ ६ ॥

(सु. उ. ६)

पैत्तिक नेत्राभिष्यन्द में दाह, पाक, ठण्डे पदार्थों का सेवन करने की इच्छा, धूम के निकलने जैसी प्रतीति, आँसुओं की अधिकता तथा आँसुओं का गरम होना और नेत्रों में पीलापन—ये लक्षण होते हैं ॥ ६ ॥

पैत्तिकलक्षणमाह—दाहप्रपाकावित्यादि। प्रपाकः प्रकृष्टपाकः। शिशिराभिनन्दा शीतेच्छा। धूमायनं धूमस्योद्गमनम्। बाष्पसमुच्छ्रयो बाष्पबाहुल्यम् ॥ ६ ॥

कफजनेत्राभिष्यन्दं व्याचष्टे—

उष्णाभिनन्दा गुरुताऽभिशोथः कण्डूपदेहावतिशीतता च।

स्रावो मुहुः पिच्छिल एव चापि कफाभिपन्ने नयने भवन्ति ॥ ७ ॥
(सु. उ. ६)

गरम वस्तुओं के सेवन की इच्छा, आँखों में भारीपन व उनमें सूजन, खुजली, आँखों का लिप्त रहना, अत्यधिक ठण्डापन तथा आँख से पिच्छिल स्राव का अधिक मात्रा में निकलना ये कफज नेत्राभिष्यन्द के लक्षण हैं ॥ ७ ॥

कफजलिङ्गमाह—उष्णाभिनन्देत्यादि। उपदेहः पिच्चटबाहुल्यम्। शीतता नेत्रस्य। पिच्छिल इति स्रावविशेषणम्। कफाभिपन्ने कफयुक्ते। नयने चक्षुषि। भवन्ति जायन्ते ॥७॥

रक्ताभिष्यन्दमाह—

ताम्राश्रुता लोहितनेत्रता च नाड्यः समन्तादतिलोहिताश्च।
पित्तस्य लिङ्गानि च यानि तानि रक्ताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥ ८ ॥
(सु. उ. ६)

ताम्रवर्ण के आँसुओं का गिरना, आँखों में लाली, नेत्र के चारों ओर की केशिकाओं का लाल होने के साथ पैत्तिक अभिष्यन्द के लक्षण रक्तज अभिष्यन्द के भी लक्षण होते हैं। (इसमें नेत्र-कलागत केशिकाओं में विशेष लालिमा प्रतीत होती है) ॥ ८ ॥

रक्ताभिष्यन्दलक्षणमाह—ताम्राश्रुतेत्यादि। पित्तस्य लिङ्गानीति पित्ताभिष्यन्दलिङ्गानि॥

विमर्श—आधुनिक ग्रन्थों में निमित्त-भेद से निम्नलिखित नेत्रश्लैष्मिक-कला के शोथ वर्णित हैं, उन्हीं में लक्षणानुसार दोषों का विचार करना चाहिए। विस्तृत वर्णन के लिए अर्वाचीन शालाक्यतन्त्र का कोई ग्रन्थ देखना चाहिए।

(१) **प्रदाहजन्य**—(Catarrhal)—(क) तीव्र (Acute), (ख) जीर्ण (Chronic), (ग) कोषीय (Follicular), यह आयुर्वेद में कुकूणक नाम से बालरोग में वर्णित है।

(२) **अनूर्जताजन्य** (Allergic)—इसके भी कई उपभेद हैं।

(३) **सपूय** (Purulent)—औपसर्गिक पूयमेहज (Gonorrhoeal) और नवजात नेत्राभिष्यन्द (Ophthalmia neonatorum)

(४) **कलीय** (Membranous)—(क) रोहिणीजन्य (Diphtheritic) (ख) अन्य।

(५) **विषाणुजनित** (Virus infection)—जैसे पोथकी (Trachoma)। इसका वर्णन प्राचीनों ने वर्त्मरोगों में किया है।

अभिष्यन्दजानधिमन्थानाह—

वृद्धैरेतैरभिष्यन्दैर्नराणामक्रियावताम्।
तावन्तस्त्वधिमन्थाः स्युर्नयने तीव्रवेदनाः ॥ ९ ॥ (सु. उ. ६)

चिकित्सा न करनेवाले व्यक्तियों के अभिष्यन्दों के बढ़ने से नेत्र में तीव्र-वेदना उत्पन्न करने वाले उतने ही अधिमन्थ उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ९ ॥

अधिमन्थानामभिष्यन्दजत्वमाह—वृद्धैरित्यादि। तावन्त इति अभिष्यन्दैर्वातपित्तकफरक्तजैश्चत्वारोऽधिमन्थाः प्रत्येतव्याः। तीव्रवेदना इति सामान्यलक्षणम्। वेदनाशब्दश्चात्र व्यथामात्रवाची, तेन वातिकाभिष्यन्दाद्वातिक एवाधिमन्थस्तीव्रवातजनिततोदादिसकलवेदनः, एवं पित्तजकफजरक्तजाश्चाधिमन्थाः प्रत्येतव्याः ॥ ९ ॥

विमर्श—अधिमन्थ के प्रकार भी अभिष्यन्द के समान ही होते हैं और वाताभिष्यन्द से वाता-

धिमन्थ, पित्ताभिष्यन्द से पित्ताधिमन्थ, कफाभिष्यन्द से कफाधिमन्थ और रक्ताभिष्यन्द से रक्ताधिमन्थ की उत्पत्ति होती है। वेदना शब्द सामान्य पीडा का वाचक है, अतः विभिन्न अधिमन्थों में दोषानुसार तोद, भेद आदि वेदनाएँ होती हैं, जो कि अभिष्यन्द की अपेक्षा तीव्र होती हैं। साथमें अधिमन्थ के वक्ष्यमाण सामान्य लक्षण भी होते हैं।

यह भी एक सर्वनेत्रगत रोग है। इससे सम्पूर्ण नेत्र में भयङ्कर पीडा होती है। आधुनिक दृष्टि से इसे तीव्र ग्लाकोमा (Acute glaucoma) कहते हैं।

अधिमन्थस्य सामान्यलक्षणमाह—

उत्पाट्यत इवात्यर्थं नेत्रं निर्मथ्यते तथा।
शिरसोऽर्धं च तं विद्यादधिमन्थं स्वलक्षणैः ॥ १० ॥ (सु. उ. ६)

रोगी को ऐसा अनुभव होता है कि उसके नेत्र तथा आधे सिर को कोई उखाड़ रहा है या मथ रहा है। इनके साथ पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त रोग को अधिमन्थ कहते हैं ॥ १० ॥

अस्यापरं सामान्यलक्षणमाह—उत्पाट्यत इत्यादि। शिरसोऽर्धमित्यत्र पूर्वक्रिये संबध्येते, तेन शिरसोऽर्धमुत्पाट्यते तथा निर्मथ्यते चेत्यर्थः। शिरसोऽर्धे च वेदना व्याधिप्रभावात्। स्वलक्षणैरिति यथोक्तवाताद्यभिष्यन्दलक्षणैः। स चाधिमन्थः स्यन्दात्मकः ॥ १० ॥

विमर्श—वाग्भट के अनुसार इस रोग में दन्त, कपोल और शङ्ख प्रदेश में भी पीडा होती है—**अधिमन्था यथास्वं च सर्वे स्यन्दाधिकव्यथाः। शङ्खदन्तकपोलेषु कपाले चातिरुकराः ॥**

वातज, पित्तज, कफज और रक्तज भेद से अधिमन्थ चार प्रकार का होता है। अधिमन्थ को आजकल ग्लाकोमा कहते हैं। नेत्र के लसीकामय कोष्ठों (Lymph chamber) में नेत्राभ्यन्तरीय दबाव (Intra-occular tensios) के बढ़ने से यह रोग उत्पन्न होता है। भयङ्कर शिरःशूल और अक्षिगोलक का आगे को फूल जाना इसका प्रधान लक्षण है। इसके अतिरिक्त दृष्टिमान्द्य, कृष्णमण्डल के मध्य में धुंधलापन, दृष्टिविस्फार (Dilatation of the pupil) तथा कृष्णमण्डल के चारों ओर लाल रेखाओं की उपस्थिति (Circum corneal injection)–ये पूर्वरूप के लक्षण भी मिलते हैं। ये लक्षण कुछ घण्टों तक रहते हैं और बाद में पूर्णतया समाप्त हो जाते हैं। नेत्र की साधारण दशा ठीक हो जाती है, किन्तु अनुकूलन की शक्ति कम हो जाती है। इसके कुछ दिन बाद पुनः किसी उत्तेजक कारण से रोग के वास्तविक लक्षण प्रारम्भ हो जाते हैं। एकाएक देखने की शक्ति नष्ट होने लगती है। आँख में तीव्र शूल होने लगता है, जिसका प्रचलन त्रिशाखा नाडी (Trigeminal nerve) की दिशा में होता है। पीडा की तीव्रता के कारण कभी-कभी मिचली और वमन भी होने लगते हैं। रोगी की पलकें सूज जाती हैं। **'प्रपक्वोच्छूनवर्त्मान्तम्'**। सुश्रुत और वाग्भट ने वात आदि भेद से अधिमन्थ का विस्तार से वर्णन किया है। ग्लाकोमा के भेदोपभेद तथा विस्तृत विवेचन आधुनिक शालाक्य-ग्रन्थों से देखने चाहिए।

अधिमन्थस्य परिणामविशेषं प्राह—

हन्याद् दृष्टिं श्लैष्मिकः सप्तरात्रादधीमन्थो रक्तजः पञ्चरात्रात्। (सु. उ. ६)
यत्षड्रात्राद्वातिको वै निहन्याद् मिथ्याचारात् पैत्तिकः सद्य एव ॥११॥

श्लैष्मिक अधिमन्थ सात दिन में, रक्तज अधिमन्थ पाँच दिन में, वातिक छ दिन में और पित्तज अधिमन्थ कुपथ्य करने पर तुरन्त ही दृष्टि का नाश कर देता है॥

यावता कालेन मिथ्याचाराद् दृष्टिं हन्ति तमाह—हन्यादित्यादि । सद्य एवेति श्लेष्मणि सप्तरात्रस्योक्तत्वात् सद्यःशब्देनात्र त्रिरात्रमुक्तं, वैद्यके हि सद्यःशब्दस्य त्रिरात्रसप्तरात्रवाचित्वेन दृष्टत्वात् । कालावधिरत्र व्याधिस्वभावात् ॥ ११ ॥

विमर्श—सद्यः का अर्थ यहाँ तुरन्त या तीन दिन है; क्योंकि आयुर्वेद में सद्यः का अर्थ तीन और सात दिन होता है । और सात दिन का पहले उल्लेख हो चुका है । यह समय की सीमा रोग-स्वभाव से होती है । सद्यः का अर्थ तत्काल करने में भी आपत्ति नहीं है । अधिमन्थ का एक प्रकार अर्वाचीन ग्रन्थों में वर्णित है, जिसे अत्युग्र अधिमन्थ (Glaucoma fulminans) कहते हैं । इसमें कुछ घण्टों में ही दृष्टि नष्ट हो जाती है ।

प्रसङ्गाच्चिकित्साविशेषार्थं नेत्ररोगस्य सामलक्षणमाह—

उदीर्णवेदनं नेत्रं रागशोथसमन्वितम् ।
घर्षनिस्तोदशूलाश्रुयुक्तमामान्वितं विदुः ॥ १२ ॥ (सु. उ. ६)

तीव्रशूल, लालिमा, शोथ, करकराहट, सुई के चुभने के समान पीडा, शूल तथा नेत्र से स्राव-इनसे युक्त नेत्ररोग को साम समझना चाहिए ॥ १२ ॥

लङ्घनप्रलेपादिविधानार्थमञ्जनादिनिषेधार्थं च, नेत्ररोगस्य सामत्वलक्षणमाह—उदीर्णवेदनमित्यादि । उदीर्णवेदनमुद्गतबहुवेदनम् । घर्षः करकरिका । लङ्घनादिविधानार्थमञ्जनादिनिषेधार्थं च तन्त्रान्तरम्–'स्वेदः प्रलेपस्तिक्तान्नं धूमो दिनचतुष्टयम् । लङ्घनं चाक्षिरोगाणामामानां पाचनानि षट् ॥ अञ्जनं सर्पिषः पानं कषायं गुरुभोजनम् । नेत्ररोगेषु सामेषु स्नानं चापि विवर्जयेत्' इति ॥ १२ ॥

विमर्श—साम नेत्ररोगों में स्वेद, प्रलेप, तिक्त अन्न, धूम्रपान, चार दिन का काल और लंघन यह छः पाचन होते हैं । अञ्जन, घृत, कषाय, गुरु भोजन एवं स्नान साम नेत्ररोगों में वर्जित है ।

पक्वलक्षणं निरूपयति—

मन्दवेदनता कण्डूः संरम्भाश्रुप्रशान्तता ।
प्रशस्तवर्णता चाक्ष्णोः संपक्वं दोषमादिशेत् ॥१३॥ (सु. उ. ६)

मन्द पीडा, खुजली, शोथ और नेत्र से स्राव का शान्त होना तथा आँखों के रंग का ठीक होना—ये पक्वदोष के लक्षण हैं ॥ १३ ॥

निरामलक्षणमाह—मन्देत्यादि । संरम्भाश्रुप्रशान्ततेति संरम्भः शोथस्तस्य, अश्रुणो नेत्रजलस्य च प्रशमः ॥ १३ ॥

शोथजमशोथजं च नेत्रपाकं व्याचष्टे—

कण्डूपदेहाश्रुयुतः पक्वोदुम्बरसंनिभः ।
संरम्भी पच्यते यस्तु नेत्रपाकः स शोथजः ।
शोथहीनानि लिङ्गानि नेत्रपाके त्वशोथजे ॥१४॥ (सु. उ. ६)

शोथजन्य नेत्रपाक खुजली, उपदेह तथा अश्रुस्राव से युक्त होता है । इसका वर्ण पके हुए गूलर के सदृश होता है । यह शोथ के बाद पकता है । अशोथज नेत्रपाक में शोथ को छोड़कर अन्य सभी लक्षण समान होते हैं ॥ १४ ॥

---

१. 'दोषभेदेन कालावधिमाह—हन्यादित्यादि' इति पाठान्तरम् ॥

सशोथपाकलिङ्गमाह—कण्डूपदेहाश्रुयुत इत्यादि। पक्वोदुम्बरसंनिभ इति लोहितः। संरम्भीति शोथवान्; कार्तिकस्तु महारम्भवानित्याह; शोथस्त्वनुक्तोऽपि गम्यते, तत्प्रधानत्वात् पाकस्य, उत्तरत्र शोथहीनानीत्यस्याभिधानाच्च। अयं त्रिदोषजः, एवमशोथपाकश्च॥

विमर्श—सुश्रुतसंहिता में प्रथम श्लोकार्ध के बाद निम्नलिखित पाठ अधिक है—दाहसंहर्षताम्रत्वशोफनिस्तोदगौरवैः। जुष्टो मुहुः स्रवेच्चास्रमुष्णशीताम्बुपिच्छिलम्॥ नेत्रपाक को आजकल पैनाफ्थैलमाइटिस (Panophthalmitis) कहते हैं।

हताधिमन्थं लक्षयति—

उपेक्षणादक्षि यदाऽधिमन्थो वातात्मकः सादयति प्रसह्य। (सु. उ. ६)
रुजाभिरुग्राभिरसाध्य एष हताधिमन्थः खलु नाम रोगः॥ १५॥

उपेक्षा करने पर जब वातिक अधिमन्थ बलपूर्वक उग्र पीडाओं से दृष्टि को नष्ट कर देता है, तो उसे हताधिमन्थ कहते हैं। यह रोग असाध्य होता है॥ १५॥

हताधिमन्थलक्षणमाह—उपेक्षणादित्यादि। अयं रोगो विदेहे दृष्ट्युत्क्षेपलक्षण एकः, अन्यः सकलनयनशोषलक्षणः पठ्यते। तद्यथा-'अन्तर्गतः सिराणां तु यदा तिष्ठति मारुतः। स तदा नयनं प्राप्य शीघ्रं दृष्टिं निरस्यति॥ तस्यां निरस्यमानायां निर्मन्थन्निव मारुतः। नयनं निर्वमत्याशु शूलतोदाधिमन्थनैः' इति। इदं दृष्टिनिर्गमलक्षणम्। अत एवैतस्मिन्नर्थे सुश्रुते केचित् पठन्ति-'अन्तः सिराणां श्वसनः स्थितो दृष्टिं प्रतिक्षिपन्। हताधिमन्थं जनयेत्तमसाध्यं विदुर्बुधाः' इति। विदेह एव सकलाक्षिशोषः पठ्यते-'अथवा शोषयेदक्षि क्षीणतेजोबलादयम्। तत्पद्ममिव संशुष्कमवसीदति लोचनम्॥ हताधिमन्थं तं विद्यादसाध्यं वातकोपतः' इति। अतः शोषार्थे उपेक्षणादक्षीत्यादि श्लोकोऽवगन्तव्यः। सादयतीति शोषयति। रुजाभिरुग्राभिरिति रुजाभिस्तोदादिभिर्महतीभिरुपलक्षितः॥ १५॥

विमर्श—यह अधिमन्थ या ग्लाकोमा का एक असाध्य उपद्रव है। आचार्य विदेह और सुश्रुत ने इस रोग के दो रूप माने हैं—एक में नेत्र बाहर निकल आता है और दूसरे में सम्पूर्ण नेत्र सूखकर अन्दर बैठ जाता है। वायु नेत्र की सिराओं में प्रविष्ट होकर देखने की शक्ति को नष्ट कर देता है। दृष्टिनाश हो जाने पर वायु शूल, तोद और मन्थन करता हुआ नेत्रगोलक को बाहर की ओर निकाल देता है। यह पहिली अवस्था (उत्क्षेपण) का वर्णन है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी अक्षिबल के क्षीण होने पर वायु नेत्रगोलक को सुखा डालता है। इस अवस्था में नेत्र सूखे कमल के समान हो जाता है। वातकोपजन्य इस असाध्य व्याधि को हताधिमन्थ कहते हैं। (मूल श्लोक मधुकोष में देखें।) इस अवस्था को आँख का बैठ जाना (Sinking of the eye) भी कहते हैं। इसका प्रधान कारण नेत्र की वातनाडियों का सूख जाना (Atrophy of nerves) है।*

१. रागातिशयितत्वात् इति क.।

* आधुनिक ग्रन्थों में भी अधिमन्थ की तृतीय और चतुर्थ अवस्थाओं में यही लक्षण वर्णित है। दृष्टिनाशमात्र को पूर्णाधिमन्थ (Stage of absolute glaucoma) और नेत्रगोलक में व्रण, अजकाजात लिङ्गनाश, अन्तःपटल का विदारण (Detachment of retina) नेत्रगोलक की मृदुता, शोष, पाक (Panophthalmitis) आदि और अन्ततोगत्वा नेत्रगोलक का क्षय (Phthisis bulbi) आदि उपद्रव से युक्त अधिमन्थ को हताधिमन्थ (Stage of degeneration) कहते हैं। इसके भी दो रूप प्राचीनों ने वर्णित किये हैं। प्रथम में नेत्राभ्यन्तरीय दबाव अधिक

वातपर्यायलक्षणमाह—

वारंवारं च पर्येति भ्रुवौ नेत्रे च मारुतः ।
रुजश्च विविधास्तीव्राः स ज्ञेयो वातपर्ययः ॥१६॥ (सु. उ. १६)

जिस रोग में वायु बार-बार भ्रुकुटि तथा नेत्र में आश्रित होकर उनमें बारीबारी से अनेक प्रकार की तीव्र वेदनाएँ उत्पन्न करता है, उसे वातपर्यय या वातपर्याय कहते हैं ॥ १६ ॥

वातपर्यायलिङ्गमाह—वारंवारमित्यादि । पर्यायेण क्रमेण कदाचिद् भ्रुवि, कदाचिल्लोचने, वायुस्तीव्रां रुजां करोतीति वातपर्यायार्थः ॥ १६ ॥

विमर्श—वायु कभी नेत्र में कभी भ्रकुटि में और कभी पलक में तीव्र पीडा करता है। पाँचवीं शीर्षण्य नाडी (Trigeminal nerve) की विकृति से यह अवस्था उत्पन्न होती है। यह अधिमन्थ का एक साध्य उपद्रव है, जो वाताभिष्यन्द की चिकित्सा करने पर शान्त हो जाता है। कुछ लोग इसे सौम्य अधिमन्थ (Simple glaucoma) मानते हैं।

शुष्काक्षिपाकं वर्णयति—

यत् कूणितं दारुणरूक्षवर्त्म संदह्यते चाविलदर्शनं यत् । (सु. उ. १६)
सुदारुणं यत् प्रतिबोधने च शुष्काक्षिपाकोपहतं तदक्षि ॥ १७ ॥

जिस अवस्था में पलक बन्द होकर स्पर्श में कठिन और रूक्ष हो जाते हैं, उनमें जलन होती है, रोगी को धुँधला दिखाई देता है तथा आँखों को खोलने में कठिनाई होती है अथवा खोलने पर आँखों में अति रूक्षता दिखाई देती है, उसे शुष्काक्षिपाक कहते हैं ॥ १७ ॥

शुष्काक्षिपाकमाह—यत्कूणितमित्यादि । कूणितमिति निमीलितम् । दारुणं कठिनं रूक्षं च वातशोषाद्वर्त्म यस्य तद्दारुणरूक्षवर्त्म । संदह्यते सदाहं भवति । आविलदर्शनमाकुलदर्शनम् । सुदारुणं कृच्छ्रोन्मीलनम् । प्रतिबोधने उन्मेषणे । सुदारुणं सुकठिनमिति गदाधरः । **शुष्काक्षिपाकोपहतं तदक्षीति तच्छुष्केणाक्षिपाकेनोपहतमक्षीत्यर्थः । अयं रोगः सरक्तवातजन्यः । यदाह** करालः—**'कूणितं खरवर्त्माक्षि कृच्छ्रोन्मीलाविलेक्षणम् । सदाहं सासृजाद्वाताच्छुष्कपाकान्वितं वदेत्' इति ॥ १७ ॥**

विमर्श—यह रोग सरक्त वातजन्य होता है। जैसा कि कराल ने कहा है-'जो नेत्र बन्द करने पर कठिन वर्त्मवाला, कठिनाई से खुलनेवाला, धुँधला एवं दाह से युक्त हो, उसे शुष्काक्षिपाक कहते हैं। यह रोग रक्तान्वित वात से होता है'। यह एक स्वतन्त्र व्याधि है, किन्तु कभी-कभी ग्लाकोमा के उपद्रवस्वरूप भी उत्पन्न होती है। इस रोग को आधुनिक विद्वान् जीवतिक्ति 'क' के अभाव से उत्पन्न मानते हैं और इसे झीरॉफ्थैल्मिया (Xerophthalmia) कहते हैं। कुछ लोग **'सुदारुणं यत् प्रतिबोधने च'** इस लक्षण से नेत्र की पेशियों के नियन्त्रण में विकार की कल्पना कर इसे आधुनिक नेत्रवध (Ophthalmoplegia) मानते हैं। प्राचीन आचार्यों द्वारा वर्णित चिकित्सा-विधान को देखते हुए पूर्वमत ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

होने से आभ्यन्तर अवयव बाहर निकल आते हैं और नेत्र पिचक जाता है। जिसे Collapse of eyeball or phthisis Bulbi कहते हैं। (यथा विदेह:—**अन्तर्गतः सिराणां तु** आदि) और दूसरे प्रकार में आभ्यन्तर अवयव पोषणाभाव से शोषित हो जाते हैं और नेत्रगोलक संकुचित हो जाता है, जिसे Atrophy of eye कहते हैं (यथा—**अथवा शोषयेदक्षि** इत्यादि) (पूर्ण श्लोक मधुकोष में देखें) [सं०]

अन्यतोवातं लक्षयति—

यस्यावटुः कर्णशिरोहनुस्थो मन्यागतो वाऽप्यनिलोऽन्यतो वा।
कुर्याद्रुजं वै भ्रुवि लोचने च तमन्यतोवातमुदाहरन्ति ॥१८॥ (सु. उ. १६)

जिसकी अवटु (ग्रीवा-पश्चाद्भाग), मन्या (ग्रीवा-पार्श्वस्थ सिराएँ) कान, सिर और हनु में अथवा अन्य प्रदेश में रहनेवाला वायु भ्रुकुटि या आँख में पीडा करता है तो उस अवस्था को अन्यतोवात कहते हैं ॥ १८ ॥

अन्यतोवातमाह—यस्येत्यादि। अवटुर्घाटा। मन्ये ग्रीवापार्श्वसिरे। अन्यतो वेति उक्तप्रदेशादितरत्र पृष्ठे, सप्तम्यर्थे तसिः। अन्यत्र वातस्य कारणस्यावस्थानम्, अन्यत्र लोचने भ्रुवि च रुजां करोतीत्यन्यतोवातः। विदेहेऽप्युक्तम्—**'मन्ययोरन्तरे वायुरुत्थितः पृष्ठतोऽपि वा। करोति भेदं निस्तोदं शङ्खे चाक्ष्णोर्भ्रुवोस्तथा। तमाहुरन्यतोवातं रोगं दृष्टिविदो जनाः' इति ॥ १८ ॥**

विमर्श—विदेह ने भी कहा है कि दोनों मन्याओं के मध्य से अथवा पृष्ठभाग से उठी हुई वायु जब शंख, आँख एवं भ्रुकुटि में भेदन-सी पीडा करती है, उसे अन्यतोवात कहते हैं। यह वस्तुतः नेत्ररोग नहीं है। नेत्र के समीप या दूरस्थित विभिन्न अंगों में स्थित विकार के प्रभाव से जब भ्रू एवं नेत्र में पीडा होती है तो नेत्ररोग की आशंका होती है। उसीके सापेक्ष्य निदान के लिए इसका उल्लेख यहाँ कर दिया गया है। इसे आधुनिक विद्वान् संचालित या सांवेदनिक (Rafered or sympathetic) शूल कहते हैं।

अम्लाध्युषितं प्राह—

श्यावं लोहितपर्यन्तं सर्वं चाक्षि प्रपच्यते।
सदाहशोथं सास्रावमम्लाध्युषितमम्लतः ॥ १९ ॥ (सु. उ. ६)

अम्ल पदार्थों का सेवन करने से सम्पूर्ण नेत्र नील-रक्त होकर पकता है। दाह, शोथ और स्राव से युक्त इस रोग को अम्लाध्युषित कहते हैं ॥ १९ ॥

अम्लाध्युषितमाह—श्यावमित्यादि। श्यावमीषन्नीलम्। अम्लत इत्यम्लभोजनात्। अम्लाध्युषितमिति पित्ताध्युषितं, कारणे कार्योपचारात् ॥ १९ ॥

विमर्श—यह एक पैत्तिक रोग है। खट्टे पदार्थों का सेवन करने से पित्त-प्रकोप हो जाता है। सम्भवतः यह भी पैत्तिक अभिष्यन्द या अधिमन्थ का ही कोई प्रकार है। अथवा अति अम्ल और विदाही आदि पदार्थों के अति सेवन से पित्तप्रकोप एवं रक्तभाराधिक्य के कारण नेत्रगत रक्तसञ्चार में अधिकता आदि से अस्थायी स्वरूप का विकार उत्पन्न हो जाता है। किन्तु इस अवस्था में शोथ और पाक प्रायः नहीं होता, जो कि इस रोग के लक्षणों में वर्णित है।

सिरोत्पातलक्षणमाह—

अवेदना वाऽपि सवेदना वा यस्याक्षिराज्यो हि भवन्ति ताम्राः। (सु.उ.६)
मुहुर्विरज्यन्ति च याः स तादृग्व्याधिः सिरोत्पात इति प्रदिष्टः ॥ २० ॥

जिस रोग में आँख की सिराएँ ताम्रवर्ण की या रक्तवर्ण की हो जायँ, जिसमें पीडा की उपस्थिति या अनुपस्थिति हो और अधिकाधिक रक्तवर्ण की होती जायँ, उस रोग को सिरोत्पात कहते हैं ॥२०॥

सिरोत्पातमाह—अवेदना वाऽपीत्यादि। अक्षिराज्य इति अक्षिसिराः। विरज्यन्तीति विरक्ता भवन्ति, विशेषरक्ता भवन्तीत्यर्थः। रक्तजोऽयम् ॥ २० ॥

विमर्श—आधुनिक ग्रन्थों में इसको पैनस (Pannus) कहा गया है ।

सिराप्रहर्षं लक्षयति—

मोहात्सिरोत्पात उपेक्षितस्तु जायेत रोगस्तु सिराप्रहर्षः । (सु. उ ६)
ताम्राभमस्रं स्रवति प्रगाढं तथा न शक्नोत्यभिवीक्षितुं च ॥ २१ ॥

अज्ञान से यदि सिरोत्पात रोग की उपेक्षा कर दी जाय तो उससे सिराप्रहर्ष नामक रोग की उत्पत्ति हो जाती है । नेत्र से ताम्र वर्ण का गाढ़ा स्राव निकलता है और रोगी किसी भी वस्तु को नहीं देख पाता ॥ २१ ॥

सिराप्रहर्षमाह—मोहादित्यादि । अयमपि रक्तजः । इति सर्वगताः ॥ २१ ॥

विमर्श—यह भी 'पैनस' का ही उग्ररूप है, जो विशेषतः पोथकी (Trachoma) रोग में उपद्रवस्वरूप उत्पन्न होता है ।

कृष्णमण्डलगतरोगेषु प्रथमं सव्रणशुक्रमुदाहरति—

निमग्नरूपं तु भवेद्धि कृष्णे सूच्येव विद्धं प्रतिभाति यद्वत् । (सु. उ. ५)
स्रावं स्रवेदुष्णमतीव यच्च तत् सव्रणं शुक्र(क्र)मुदाहरन्ति ॥ २२ ॥

कृष्णभाग (Cornea) में जो गहराई में स्थित और कठिनाई से दिखाई देनेवाला सूचीविद्ध के समान स्थान दिखाई पड़ता है, और जिससे गरम स्राव निकलता है उसे सव्रणशुक्र या सव्रणशुक्र कहते हैं ॥ २२ ॥

सन्धिवर्त्मशुक्लकृष्णदृष्टिगतेषु मध्ये प्राधान्याद् दृष्टिगतेषु वक्तुमुचितेषु स्वल्पवक्तव्यतया दृष्टिमण्डलप्रत्यासत्त्या कृष्णगतविकाराभिधानम् । अत्र सव्रणशुक्रलक्षणमाह—निमग्नरूपमित्यादि । रूपग्रहणमाभासनिषेधार्थं, तेन निमग्नरूपमेव । यत् सूच्येवेत्युपमानं वर्तुलत्वख्यापनाय सूचीव्यधनवद्वेदनादर्शनाय च । स्रावं स्रवेदुष्णमिति स्रवेदुष्णमित्येतावतैव लब्धे स्रावे पुनः स्रावग्रहणं निरन्तरस्रावं लक्षयति । अतिशब्दस्तूष्णेन संबध्यत इति कार्तिकः । **उष्णस्रावता रक्तात्मकत्वात् । शुक्रस्यात्र चात्यन्तरुग्बोद्धव्या, सव्रणत्वात् । यदाहाव्रणलक्षणे** सुश्रुतः-**'नातिरुगश्रुयुक्तम्'** (सु. उ. ५) **इति । तत् सव्रणं सक्षतं, क्षते तु रुजा युक्तैव, नयने तु सुकुमारे विशेषेणोदाहरन्ति** विदेहप्रभृतयः । विदेहेऽप्युक्तं—**'रक्तराजीनिभं कृष्णे छिन्नाभं यच्च लक्ष्यते । सूच्यग्रेणेव तच्छुक्रमुष्णाश्रुस्रावि सव्रणम्' इति ॥ २२ ॥**

विमर्श—कृष्णभाग (Cornea) में सुश्रुत ने सव्रण शुक्ल, अव्रण शुक्ल, अक्षिपाकात्यय, अजकाजात इन—चार रोगों का वर्णन किया है । आचार्य वाग्भट ने इस रोग में उष्णाश्रुस्राव, देखने की शक्ति का अभाव, श्वेतमण्डल में लाली तथा तीव्र वेदना—ये लक्षण बताये हैं । वे इस अवस्था को क्षतशुक्ल कहते हैं । उन्होंने इसके तीन भेद माने हैं । उनका कहना है कि 'यदि पित्त प्रथम पटल का भेदन करता है तो उपर्युक्त क्षत शुक्ल या सव्रण शुक्ल के लक्षण उत्पन्न होते हैं । यदि वह द्वितीय पटल का भेदन करे तो तोद आदि पीडाएँ होती हैं । यदि तृतीय पटल का भेदन हो जाय तो रोग असाध्य हो जाता है । प्रथम और द्वितीय पटल का शुक्ल क्रमशः कृच्छ्रसाध्य और याप्य होता है* ।

---

* पित्तं कृष्णेऽथवा दृष्टौ शुक्रं तोदाश्रुरागवत् । छित्त्वा त्वचं जनयति तेन स्यात् कृष्णमण्डलम् ॥
पक्वजम्बूनिभं किञ्चिन्निम्नं च क्षतशुक्रकम् । तत्कृच्छ्रसाध्यं याप्यं तु द्वितीयपटलव्यधात् ॥
तत्र तोदादिबाहुल्यं सूचीविद्धाभकृष्णता । तृतीयपटलच्छेदादसाध्यं निचितं व्रणैः ॥

कृष्णमण्डल-शोथ (Inflammation of the cornea or Keratitis) को शुक्ल कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—(१) सव्रण या सक्षत शुक्ल (Ulcerative Keratitis or corneal ulcer), (२) उत्तान कृष्णमण्डल-शोथ (Superficial Keratitis), (३) गम्भीर कृष्णमण्डल-शोथ (Deep Keratitis)। इनमें दूसरे और तीसरे को अव्रण शुक्ल भी कहते हैं। वाग्भट ने भी इसके तीन ही भेद माने हैं, जिनका वर्णन पिछली पंक्तियों में किया गया है।

सव्रण शुक्र (Corneal ulcer)—प्राथमिक (Primary) और औपद्रविक (Secondary) भेद से यह दो प्रकार का होता है। इसमें निम्न लक्षण पाये जाते हैं—

(१) **पीडा**—क्षत अधिक गहरा होने पर पीडा असह्य हो जाती है। रोगी को रात्रि में नींद नहीं आती। इससे सिर में भी पीड़ा होती है।

(२) **प्रकाशसंत्रास** (photophobia)—प्रकाश में रोगी की आँखें नहीं खुलतीं।

(३) **अश्रुस्राव** (Lacrymation)—नेत्रों से पतला जलीय स्राव निकलता है। रोगी को नेत्र खोलने में कष्ट होता है। अग्रिमाजलधानी (Anterior chamber) में जल-संग्रह होने से दृष्टिशक्ति मन्द हो जाती है। कभी कभी पूय का संग्रह (Hypopion) भी हो जाता है।

(४) **नेत्रों में लाली**—शुक्लमण्डल के चारों ओर परिकृष्णमण्डलीय रक्ताधिक्य (Circum-ciliary injection) पाया जाता है।

(५) **कृष्णमण्डलीय अपारदर्शकता** (Corneal opacity)—यदि व्रण सौम्य हुआ तो उसका रोपण हो जाता है और वहाँ व्रणवस्तु बन जाती है। इससे कृष्णमण्डल का वह भाग अपारदर्शक हो जाता है। इस अवस्था को अव्रणशुक्र (Corneal opacity) कहते हैं। उत्तान (Superfiicial) तथा गम्भीर (Deeq) इसके दो भेद हैं। साधारण बोलचाल में इस अवस्था को फूली पड़ना कहते हैं।

यदि व्रणरोपण न होने पर कृष्णमण्डल का व्रण फूट जाता है तो वहाँ छिद्र बन जाता है। यदि यह छिद्र छोटा हुआ तो तारामण्डल (Iris) का कुछ भाग बाहर निकलकर कृष्णमण्डल से चिपक जाता है। यदि व्रण गम्भीर हुआ तो छिद्र बड़ा बनता है जिससे कृष्णभाग बाहर निकल आता है। इस अवस्था को स्टैफिलोमा (Staphyloma) कहते हैं। इसकी आकृति बकरी की पुरीष के समान होती है। अतः प्राचीनों ने इसे अजकाजात संज्ञा प्रदान की है।

सव्रण शुक्र के कारण—

(१) **जीवाणु**—इनमें पूयजनक जीवाणु, स्थूलान्त्रदण्डाणु, पूयमेह तथा रोहिणी के जीवाणु मुख्य हैं। आँख के किसी भाग में यदि इनका उपसर्ग उपस्थित है, और कृष्णभाग में खुरचन हो गई है तो वहाँ इनका उपसर्ग हो सकता है। उपसर्ग होने पर शोथ और इसके बाद व्रण बन जाता है।

(२) **विविध नेत्ररोग**—नेत्रश्लेष्मावरण-शोथ (Conjunctivitis) तथा पोथकी आदि के उपद्रवस्वरूप भी इस रोग की उत्पत्ति होती है।

(३) कृष्णमण्डल की रोगप्रतिरोधक्षमता (Immunity) का अभाव।

सव्रणशुक्लस्य साध्यासाध्यतां प्राह—

दृष्टेः समीपे न भवेत्तु यच्च न चावगाढं न च संस्रवेद्धि। (सु. उ. ५)
अवेदनं वा न च युग्मशुक्रं तत् सिद्धिमायाति कदाचिदेव ॥ २३ ॥

जो सव्रण शुक्ल दृष्टि के समीप न हो, गम्भीर न हो, जिससे अधिक स्राव न हो, जिसमें मन्द

वेदना हो तथा जिसमें दो शुक्ल न हों, वह कभी-कभी साध्य होता है। (किन्तु दो शुक्ल होने पर कदापि सिद्ध नहीं होता) ॥ २३ ॥

अस्यासाध्यतया निर्दिष्टस्यावस्थावशेन पाक्षिकीं सिद्धिमाह—दृष्टेः समीप इत्यादि। क्षतं हि स्वभावत एव संश्रयोद्घातकरम्, अतो दृष्टिसमीपे न साध्यम्, उक्तविपर्ययात्तु दृष्टिसमीपेऽपि सुखसाध्यमव्रणम्। न चावगाढमेकत्वग्गतम्। विपर्ययात्त्ववगाढमप्यव्रणं सिध्यति। अत एवाव्रणे वक्ष्यति—गम्भीरजातमिति। न च संस्रवेदिति न चात्यर्थं स्रवेत्, संशब्दस्यातिशयार्थत्वात्। अवेदनं मन्दवेदनं, रक्तस्य कफानुगमात्; वातानुगमादतिवेदनं तु न सिध्यति। युग्मं च क्षतशुक्लं कदाऽपि न सिध्यति ॥ २३ ॥

विमर्श—व्रण की गहराई, मोटाई तथा स्थान पर इस रोग की साध्यासाध्यता निर्भर होती है। यदि व्रण कृष्णमण्डल को परिधि के किनारों पर है तो दृष्टि को कोई हानि नहीं पहुँचती और वह साध्य होता है। यदि वही दृष्टि के समीप (केन्द्र में) हो तो दृष्टिनाश की अधिक सम्भावना रहती है। गम्भीर व्रण में अपारदर्शकता अधिक गहरी और स्थायी होती है। किन्तु व्रण उत्तान (Superficial) होने पर चिकित्सा सुगमता से की जा सकती है अतः वह साध्य होता है।

अव्रणशुक्लं विवेचयति—

स्यन्दात्मकं कृष्णगतं सचोषं शङ्खेन्दुकुन्दप्रतिमावभासम्।
वैहायसाभ्रप्रतनुप्रकाशमथाव्रणं साध्यतमं वदन्ति ॥ २४ ॥ (सु. उ. ५)

कृष्णमण्डल में अभिष्यन्द के परिणामस्वरूप जो दाहयुक्त, शंख, चन्द्रमा तथा कुन्द के वर्ण की सफेदी आ जाती है या कृष्णमण्डल पतले बादल से आवृत आकाश के समान धुंधला दिखाई देता है उसे अव्रणशुक्ल कहते हैं। यह एक सुसाध्य व्याधि है ॥ २४ ॥

इदानीमव्रणशुक्रलक्षणमाह—स्यन्दात्मकमित्यादि। स्यन्दात्मकमभिष्यन्दनिमित्तकं, सर्वेषामक्षिरोगाणामभिष्यन्दनिमित्तत्वेऽपि चास्य नियमप्रतिपादनार्थमभिधानम्। वैहायसाभ्रप्रतनुप्रकाशमिति विहायसि स्थितं वैहायसं, 'तस्य निवासः' इत्यण्, विहायो नभः, आकाशस्थिताभ्रवत् प्रतनुप्रकाशमित्यर्थः। एतेनाच्छत्वं प्रतिपाद्यते। शुक्लत्वं तु शङ्खेन्दुकुन्दप्रतिमावभासमित्यनेनैव लब्धम्। वैहायसाभ्रग्रहणं सजलाभ्रव्यवच्छेदार्थं, तद्धि प्रायः पार्वतं भवतीति कार्तिकः। साध्यतमं सुखसाध्यम्। ननु, गम्भीरजातमित्यादिना कृच्छ्राभिधानेन तद्विपर्ययेण सुखसाध्यत्वावगतिः सेत्स्यति, तत् किम् साध्यतमाभिधानेन? नैवम्, असत्यत्र साध्यतमाभिधाने उभयत्रापि कृच्छ्रत्वभ्रान्तिः स्यादतस्तदभिधानम् ॥२४॥

विमर्श—आम बोल चाल में इसे फूला पड़ना कहते हैं। इसके हेतु व सम्प्राप्ति सव्रण शुक्ल के समान ही हैं। अभिष्यन्द के परिणामस्वरूप कृष्ण मण्डल में व्रण बन जाते हैं। और उनका रोपण होने के पश्चात् वहाँ व्रणवस्तु (Scar) की उत्पत्ति हो जाती है जिससे कृष्ण भाग की स्वाभाविक पारदर्शकता नष्ट होकर धुँधलापन आ जाता है। ये व्रण संख्या में एक या अनेक तथा आकार में छोटे और बड़े हो सकते हैं। इसी के अनुसार शुक्ल की संख्या तथा आकार भी पाये जाते हैं। अभिष्यन्द इसका प्रधान कारण है। लक्षणों के अनुसार इसे कृष्णभाग की अपारदर्शकता (Corneal opacity) कहा जाता है। इसकी उत्पत्ति से दर्शनशक्ति का ह्रास हो जाता है। अपारदर्शकता की घनता के अनुसार शास्त्र में इसके तीन प्रकार बताये हैं—

(१) **अच्छघनानुकारी** या **नेबुला** (Nebula)—इस अवस्था में कृष्णभाग अभ्रलिप्त आकाश के समान हलके धुँधलेपन से आवृत रहता है। इस अवस्था में दर्शन-शक्ति का ह्रास नगण्य-सा होता है।

(२) **गम्भीर** (Macula)—इस अवस्था में धुँधलापन घन, वृत्ताकार और भूरा (Gray) हो जाता है। इसे घन नेबुला भी कहते हैं।

(३) **अतिघन** (Leucoma)—इस अवस्था में यह सफेद और अत्यधिक घन हो जाता है।

इन तीन अवस्थाओं के अतिरिक्त एक और अवस्था होती है जिसमें तारामण्डल (Iris) व्रणवस्तु से संसक्त हो जाता है। उसे संसक्त ल्यूकोमा (Adherent leucoma) कहते हैं*। इसका उल्लेख आगे 'विच्छिन्नमध्यं पिशितावृतम्' से किया गया है।

अव्रणशुक्रस्य साध्यासाध्यतां निरूपयति—

गम्भीरजातं बहुलं च शुक्लं चिरोत्थितं चापि वदन्ति कृच्छ्रम्।
विच्छिन्नमध्यं पिशितावृतं वा चलं सिरासूक्ष्ममदृष्टिकृच्च।
द्वित्वग्गतं लोहितमन्ततश्च चिरोत्थितं चापि विवर्जनीयम्॥२५॥(सु. उ. ५)

द्वितीय या तृतीय पटल में होने वाला अत्यधिक घन और चिरकालीन (Chronic) अव्रण शुक्ल कृच्छ्रसाध्य होता है। मध्य में छिद्र युक्त या मांस से आवृत, गतिशील और सिराओं से आवृत होने के कारण जो शुक्ल सूक्ष्म होता है उसे असाध्य समझना चाहिये। दूसरे पटल में होने वाला, परिधि में रक्तवर्ण का तथा चिरकालीन अव्रण शुक्ल असाध्य होता है॥ २५॥

अव्रणस्यैवावस्थाभेदेन कृच्छ्रत्वमाह–गम्भीरजातमित्यादि। गम्भीरजातं द्वित्रित्वग्गतम्। बहुलं प्रतनुनोऽभ्राद्घनम्। अव्रणस्यैवावस्थाभेदेनासाध्यत्वमाह—विच्छिन्नमध्यमित्यादि। विच्छिन्नमध्यं विदीर्णमांसत्वात् सच्छिद्रं, निम्नमिति यावत्, तद्विपर्ययं तु पिशितावृतमुन्नतमांसरूपतया। चलमित्यनवस्थितम्। सिरासूक्ष्ममिति सिरावृतत्वात् सूक्ष्मम्; अन्ये 'सिरासक्तम्' इति पठन्ति, व्याचक्षते च–सिरासक्तं यतस्ततश्चलं, सिराणां चलत्वात्; सिरा हि मत्स्यवत् परिवर्तमाना मुहुर्मुहुश्चलन्ति; अन्ये 'सिराशुक्रम्' इति पाठान्तरं व्याचक्षते; सिराभिः शुक्रं, सिराशुक्रत्वहेतुकं; न हि सिराभवनं शुक्रत्वे हेतुरिति गदाधरः। **अदृष्टिकृदिति दर्शनाभावकारि, दृष्टेः समीपे न भवेदित्यस्य विपर्ययोऽयम्। द्वित्वग्गतं द्विपटलाश्रितम्, एतदपरलिङ्गसहितमसाध्यं, न तु केवलं; द्वित्वग्गतस्य कृच्छ्रत्वाभिधानात्। लोहितमन्ततश्चेति मध्ये शुक्रमन्ते लोहितं, व्रणाकारेण॥ २५॥**

विमर्श—नवीन और प्रथम पटल में होने वाले शुक्ल साध्य होते हैं। किन्तु जब वे द्वितीय या तृतीय पटल में पहुँच जाते हैं अथवा अतिगम्भीर और चिरकालीन स्वरूप के हो जाते हैं तो उन्हें असाध्य समझना चाहिये। आधुनिक दृष्टि से नेबुला को साध्य और मैक्यूला और ल्यूकोमा को कृच्छ्रसाध्य या असाध्य कोटि में रखा जा सकता है; क्योंकि ये अधिक गम्भीर और चिरकालीन स्वरूप के होते हैं। बाल्यावस्था का भी अव्रण शुक्ल साध्य होता है।

---

* प्राचीन आचार्यों के वर्णनों को देखते हुए मुझे ऐसा लगता है कि अभिष्यन्द आदि के प्रभाव से कृष्णमण्डल में भी रक्ताधिक्य और शोफ आदि के कारण जो धुँधलापन या श्वेतावभासता (Cloudy haziness) होती है इसे अव्रण शुक्र कहना चाहिए। यह सुखसाध्य होता है। किन्तु कृष्णमण्डल में व्रण (Corneal ulcer) या इसके रोहण से उत्पन्न व्रण वस्तु (Corneal opacity) को सव्रण शुक्र मानना चाहिए जो प्रायः असाध्य या कष्टसाध्य होता है। (सं०)

अन्यदसाध्यलक्षणमाह—

उष्णाश्रुपातः पिडका च नेत्रे यस्मिन् भवेन्मुद्गनिभं च शुक्रम्। (सु. उ. ५)
तदप्यसाध्यं प्रवदन्ति केचिदन्यच्च यत्तित्तिरिपक्षतुल्यम्॥ २६॥

जिस अव्रणशुक्ल में गरम आँसू निकलें, आँख में मूंग के समान पिडका हो जाये तथा जिस शुक्ल का वर्ण तीतर के पंखों के समान हो जाय वह भी असाध्य होता है॥ २६॥

न केवलमेवंविधं परमसाध्यं किंत्वन्यादृशमपीत्यत आह—उष्णाश्रुपात इत्यादि। पिडका च नेत्र इत्यन्तं द्वित्वग्गतशुक्रे। तथाऽऽह विदेहः—**'एकत्वग्गतमेवं स्याद् द्वित्वग्गतमिदं भवेत्। चोषोष्णस्रावदाहास्तु तृष्णा च पिडकोद्गमः' इति। मुद्गनिभं च शुक्रमित्याकारेण, एतद्द्वित्वग्गतम्। तथा च** विदेहः—**'व्यक्तमुद्गफलाकारं शुक्रं द्वित्वग्गतं भवेत्' इति। द्वित्रित्वग्गतस्याव्रणशुक्रस्य कृच्छ्रत्वे एतत् पिडकोद्गममुद्गफलाकारत्वेनैवासाध्यत्वं बोध्यम्। अन्ये पुनः सव्रणशुक्रस्य विच्छिन्नमध्यमित्यादिकमसाध्यलक्षणं वर्णयन्ति। अत्र पक्षे द्वित्वग्गतमिति केवलमेवासाध्यलक्षणम्, एतन्न चावगाढमित्यस्य विपर्ययः। लोहितमन्ततः उष्णाश्रुपातः पिडका चेत्यादि द्वित्वग्गतशुक्रलक्षणमिति किंत्वियमत्रासङ्गतिः—विच्छिन्नमध्यं सच्छिद्रं तद्यदि सच्छिद्रत्वं सव्रणशुक्रस्याभ्युपगम्यते, तदा निमग्नरूपमित्यनेनैव सिद्धत्वात् पुनरुक्तं स्यात्, किंच सव्रणशुक्रानन्तरमस्य पाठो विफलः स्यात्। अन्ये तु सव्रणाव्रणशुक्रविषयं सामान्यमसाध्यलक्षणमेतदाहुः; यथायोग्यतया क्वचिल्लिङ्गान्तरयोगेन च व्यवस्थेति च वर्णयन्ति। असाध्यत्वं** विदेहादन्येषां **मतेनाह—केचिदित्यादि। तित्तिरिपक्षतुल्यमिति शबलम्, एतच्चानिषेधादनुमतम्॥ २६॥**

विमर्श—मूंग के समान पिडका की उत्पत्ति द्वितीय पटलगत (संसक्त) शुक्ल का निदर्शक है। विदेह ने कहा भी है **'व्यक्तमुद्गफलाकारं शुक्लं, द्वित्वग्गतं भवेत्'**

अक्षिपाकात्ययं निरूपयति—

श्वेतः समाक्रामति सर्वतो हि दोषेण यस्यासितमण्डलं च।
तमक्षिपाकात्ययमक्षिरोगं सर्वात्मकं वर्जयितव्यमाहुः॥२७॥(सु. उ. ५)

दोषप्रकोपजन्य श्वेतता जब सम्पूर्ण कृष्णमण्डल को आवृत कर लेती है तो उस त्रिदोषज एवं असाध्य त्रिदोषज रोग को अक्षिपाकात्यय कहते हैं॥ २७॥

इदानीमक्षिपाकात्ययमाह—श्वेत इत्यादि। दोषेण यः कृतः श्वेतः स समाक्रामति। सर्वात्मकं त्रिदोषजम्; अन्ये तु स्यन्दात्मकमिति पठित्वा अभिष्यन्दात्मकमाहुः। तदा सर्वेषामभिष्यन्दमूलत्वाद्विशेषार्थमभिधानम्॥ २७॥

विमर्श—सव्रण कृष्णमण्डल शोथ (Ulcerative keratitis) के उपद्रवस्वरूप इस रोग की उत्पत्ति होती है। आधुनिक दृष्टि से हाइपोपियोन (Hypopion) अर्थात् अग्रिमा जलधानी (Anterior chamber) के पूयसंग्रह को ही यह संज्ञा प्रदान की जाती है 'Hypopion is a collection of pus in the anterior chamber' (May and worth) यह पूय कृष्णमण्डल के व्रण से नहीं आता अपि तु शोथयुक्त तारामण्डल (Iris & ciliary body) की रक्तवाहिनियों से ही प्राप्त होता है। अतः जीवाणुरहित (Sterile) होने से सामान्य पूय से यह भिन्न प्रकार का होता है। कृष्णमण्डल का भेदन होने से पूर्व यह पूर्णतया निर्जन्तुक रहता है और स्वयं ही शोषित हो सकता है। साधारणतया यह द्रव ही रहता है किन्तु यदि

फाइब्रिन का संयोग हो जाय तो कुछ घनस्वरूप भी धारण कर सकता है। और तब व्रण के ठीक हो जाने पर सम्पूर्ण आँख अव्रणशुक्ल (Corneal opacity) से आक्रान्त हो जाती है। इसे अक्षिपाक का उपद्रव या अक्षिपाकात्यय (Hypopion) कहते हैं।

अजकाजातं प्राह—

अजापुरीषप्रतिमो रुजावान् सलोहितो लोहितपिच्छिलास्रः। (सु. उ ५)
विगृह्य कृष्णं प्रचयोऽभ्युपैति तच्चाजकाजातमिति व्यवस्येत् ॥ २८ ॥

बकरी की मेंगनी के समान, पीडायुक्त कुछ लालवर्ण का और लालवर्ण के पिच्छिल अश्रुस्राव कराने वाला जो प्रवर्धन कृष्णमण्डल को भेदन करके निकलता है उसे अजकाजात कहते हैं ॥ २८ ॥

अजकाजातमाह—अजापुरीषप्रतिम इत्यादि। अजापुरीषप्रतिमः शुष्काजपुरीषतुल्यः सलोहित ईषल्लोहितः। विगृह्य कृष्णमिति स्वोच्छ्रायेण कृष्णदेशं महत्त्वाद्विच्छिद्य। प्रचय इति प्रकृष्टश्चय उद्गम इति यावत्। अजकाया मेदोवत् संश्रयस्तृतीयत्वग्गतत्वेन मेदसः प्रचयो बोद्धव्यः। तथा च विदेहः—**'कृष्णेऽचणोर्यद्भवेच्छुक्लं छागलीविट्समप्रभम्। सान्द्र-पिच्छिलरक्तास्रं त्रित्वग्गमजकेति सा' इति ॥** इति कृष्णजाः **॥ २८ ॥**

विमर्श—यदि कृष्णमण्डल का व्रण रोपण होने से पूर्व ही बाहर की ओर को विदीर्ण हो जाता है तो उसमें छिद्र बन जाने से मध्य पटल बाहर निकल आता है इसे कृष्णमण्डल का बहि-निस्सरण (Prolapse of Iris) या स्टेफिलोमा (Staphyloma) कहते हैं। यह वर्ण में कुछ लाल होता है। प्रारम्भ में रोगी को वेदना अधिक होती है। यदि रोगी के कृष्णमण्डल का कुछ भाग स्वस्थ रहे तो दर्शनशक्ति भी कुछ अवशिष्ट रह जाती है। किन्तु यदि सम्पूर्ण कृष्णमण्डल ही विकृत हो जाय तो अन्धकार और प्रकाश-ज्ञान के अतिरिक्त उसे कुछ भी दिखाई नहीं देता।

व्रणरोपण के तुरन्त बाद कृष्णमण्डल दुर्बल रहता है। इस स्थिति में आघात या छींक आदि अन्य कारणों से नेत्रान्तर्गत दबाव (Intra occulr pressure) बढ़ जाता है, जिससे अन्दर के भाग कोमल व्रणवस्तु को विदीर्ण कर बाहर निकल आते हैं। जैसा कि विदेह ने भी कहा है कि-'आँखों के कृष्ण भाग में अजापुरीष के समान जो शुक्ल हो उसे अजकाजात कहते हैं। इसमें से सान्द्र, पिच्छिल और रक्त वर्ण का स्राव निकलता रहता है यह त्रिपटलाश्रित है।'

कृष्णमण्डल के अतिरिक्त नेत्रगोलक के अन्य किसी भी दुर्बल भाग में श्वेतपटल आभ्यन्तर दबाव के कारण उन्नत हो जाता है उसे भी अजकाजात (Staphyloma) ही कहते हैं। स्थानानुसार इसके कई भेद आधुनिक शालाक्य ग्रन्थों में वर्णित मिलते हैं।

प्रथमपटलगततिमिरं प्राह—

प्रथमे पटले दोषा यस्य दृष्ट्यां व्यवस्थिताः।
अव्यक्तानि स रूपाणि कदाचिदथ पश्यति ॥२९॥ (सु. उ. ७)

जिस रोगी की दृष्टि के प्रथम पटल में वात आदि दोष स्थित रहते हैं वह अव्यक्त रूपों का दर्शन करता है ॥ २९ ॥

कृष्णाश्रितत्वाद् दृष्टिमण्डलस्य दृष्टिजा उच्यन्ते[1]। दृष्टिप्रमाणं तु सुश्रुतेनोक्तं—**'मसूरदल-मात्रां तु पञ्चभूतप्रसादजाम्।'** (सु. उ. ७) **इति। अत्र मसूरदलमात्रामिति मसूरार्धदल-मात्रां, तथाच** निमिः—**'पञ्चभूतात्मिका दृष्टिर्मसूरार्धदलोन्मितिः।' इति। ननु, एवं तर्हि विरुध्यते, यदाह स एव पुनः—'नेत्रायामत्रिभागं च कृष्णमण्डलमुच्यते। कृष्णात् सप्तम-**

१. दृष्टेः अजकादीनां—दृष्टिहन्तृत्वात् इति क.।

मिच्छन्ति दृष्टिं दृष्टिविदो जनाः।' (सु. उ. १) इति, अत्र कृष्णसप्तमभागत्वेन दृष्टेरुक्तत्वात्। उच्यते, कृष्णसप्तमभागत्वेनापि मसूरार्धदलप्रमाणा दृष्टिरित्येक एवार्थः। ननु, एवमातुरोपक्रमणीयोक्तं द्व्यङ्गुलायतं नयनं नयनत्रिभागप्रमाणा तारका, नवमस्तारकांशो दृष्टिमण्डल' (सु. सू. ३५) इति विरुध्यते। उच्यते, तत्र मण्डलाभिधानेन मण्डलसहिताया दृष्टेरुक्तिः, अत्र तु मण्डलरहिताया इति; मतभेदाद्वा न विरोधः, तारकानवमांशो दृष्टिरिति शल्यमतं, तारकासप्तमांशो दृष्टिरिति शालाक्यसिद्धान्तेन। ननु एवं तर्हि 'दृष्टिश्च रोमकूपाश्च न वर्धन्ते' (सु. शा. ४) इति शारीरोक्तं विरुध्यते, यतः कृष्णसप्तमभागत्वेन दृष्टेरुक्तत्वात् कृष्णवृद्ध्या तद्वृद्धेः संभवात्। नैवम्, अङ्गान्तरवन्न बहु वर्धत इत्यभिप्रायेणोक्तं दृष्टिर्न वर्धत इति। दृष्ट्यां च चत्वारि पटलानि। रसरक्ताश्रयं बाह्यं, द्वितीयं मांससंश्रयं, तृतीयं मेदःसंश्रयं, चतुर्थं कालकास्थिसंस्थितम्। तथा च सुश्रुतः—'तेजोजलाश्रितं बाह्यं तेष्वन्यत् पिशिताश्रितम्। मेदस्तृतीयं पटलमाश्रितं त्वस्थि चापरम्। पञ्चमांशसमं दृष्टेस्तेषां बाहुल्यमिष्यते॥' (सु. उ. १) इति। अत्र तेजःशब्देन रक्तं, जलशब्देन च रसो व्याख्यातः तेषु पटलेषु बाह्यादिभेदेनाधिष्ठानविशेषप्रभावाद्दोषाणां लिङ्गविशेषमाह—प्रथमे पटल इत्यादि प्रथमे पटले सर्वाभ्यन्तरे पटले कालकास्थिसंश्रये; न तु बाह्ये, तत्र प्रथमं दोषलिङ्गानुपलब्धेः; यदि तु कुष्ठादिवद्बाह्यं प्रथमं प्रदूष्याभ्यन्तरे दोषानुप्रवेशः स्यात्तदा प्रागेव रोगस्तत्रोपलभ्येत, न चैवं दृश्यते। तथा च विदेहः–'दृष्टेरन्तरमाद्यं तु पटलं समभिद्रुताः' इत्यारभ्य 'एकैकमनुपद्यन्ते पर्यायात् पटलान्तरम्' इति। प्रथमे पटल इत्यादिग्रन्थात् पूर्वं केचित् 'सिराभिरभिसंप्राप्य विगुणोऽभ्यन्तरे भृशम्।' (सु. उ. १) इति श्लोकार्धं संप्राप्तिरूपं पठन्ति सुश्रुते, तच्च 'सिरानुसारिभिर्दोषैः' (सु. उ.) इत्यनेनैव गतार्थमित्यनार्षं टीकाकारैर्व्याख्यातम्। रूपाणीति रूपवन्ति द्रव्याणि। कदाचिदथ पश्यतीत्यनेनात्राधिष्ठानविशेषाद्दोषस्याल्पबलता उक्ता भवति। अव्यक्तरूपाण्यपि वक्ष्यमाणभ्रमरारुणवर्णादियुक्तानि वातेन, पित्तेनादित्यखद्योतादिपीतनीलवर्णानि, कफेन सितवर्णानि, रक्तेन रक्तवर्णानि, सन्निपातेन चित्रवर्णानि, एवं द्वितीयतृतीयचतुर्थपटलेष्वपि व्याख्येयम्॥ २९॥

विमर्श—सुश्रुत ने दृष्टि का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है—

मसूरदलमात्रां तु पञ्चभूतप्रसादजाम्। खद्योतविस्फुलिङ्गाभामिद्धां तेजोभिरव्ययैः॥
आवृतां पटलेनाक्ष्णोर्बाह्येन विवराकृतिम्। शीतसात्म्यां नृणां दृष्टिमाहुर्नयनचिन्तकाः॥
(सु. उ. त. १)

अर्थात् 'दृष्टि मसूर की दाल के समान होती है, यह पञ्चमहाभूतों के सार से उत्पन्न होती हैं किन्तु उसमें अपरिवर्तनीय तेजोभाग की प्रधानता रहती है अतः उसमें खद्योत (जुगनू) या चिनगारी की आभा (चमक) होती है। बाहर से पटल से आच्छादित होती है (अतएव तैजस होते हुए भी दिखाई नहीं देती तथा आवरक पटल अतिसूक्ष्म एवं स्वच्छ होने से रूपग्रहण में बाधक नहीं होता) और एक छिद्र के समान दिखाई देती है (वस्तुतः दृश्य छिद्र तो कनीनिका है और वह भी बाहर से सूक्ष्म एवं स्वच्छ पटलाच्छादित होती है) यह शीतसात्म्य होती है अर्थात् तैजस होते हुए भी स्वभावतः शीत से नष्ट नहीं होती किन्तु शीत से इसका उपकार ही होता है यह इसकी विशेषता है।'

इस वर्णन को देखते हुए दृष्टि स्पष्टतः आधुनिक दृष्टिमणि (Lens) का बोधक प्रतीत होता है।

यहाँ मसूर दल का अर्थ कुछ लोग मसूर का दाना और कुछ लोग आधा दाना (दाल) मानते हैं यथा—**'मसूरार्धदलोन्मितिः'** (निमि)। किन्तु मसूर की दाल में उसके दोनों भाग छिलका हटाने पर भी प्रायः संयुक्त ही रहते हैं मसूर या उसकी दाल आकृति में गोल किन्तु

सामने और पीछे से उन्नतोदर या चिपटी होती है। यही आकृति प्रत्यक्षतः दृष्टिमणि (Lens) की होती है किन्तु वह आयाम में मसूर से कुछ बड़ा होता है अतः कुछ विद्वान् यहाँ 'दल' का अर्थ 'पत्र' करना उचित समझते हैं और उसे दृष्टि का आयाममात्र का निदर्शक मानते हैं। (निमितन्त्र में श्री रमानाथ द्विवेदी) किन्तु यहाँ दल शब्द दाना या दाल वाचक ही प्रतीत होता है, अतएव सुश्रुत ने ही उसकी आकृति-विस्तार निर्देश के बाद निर्देश के लिए **'कृष्णात्सप्तममिच्छन्ति दृष्टिम्'** तथा **'नवमस्तारकांशो दृष्टिमण्डलम्'** कहा है। यहाँ सप्तमांश और नवमांश क्रमशः दृष्टि और दृष्टिमण्डल के लिए आये हैं अतः विरुद्धोक्ति की आशंका न करनी चाहिए। कुछ लोग दोनों ही शब्द दृष्टि के लिए ही प्रयुक्त मानते हैं और कहते हैं कि शल्य-मत से दृष्टि कृष्णमण्डल का नवमांश और शालाक्य-मत से सप्तमांश होती है। किन्तु प्रत्यक्ष शास्त्र में इस प्रकार की मतभेद-कल्पना अनुचित प्रतीत होती है। अतः दृष्टि को सप्तमांश और दृष्टिमण्डल को नवमांश मानना ही उचित और प्रत्यक्ष संगत प्रतीत होता है।*

---

* उपर्युक्त वर्णन के अनुसार 'दृष्टि' आधुनिक ताल (Lens) का बोधक प्रतीत होता है किन्तु वस्तुतः यह भी एक पटल ही है जैसा कि आगे पटलों के वर्णन से स्पष्ट होगा। और दृष्टिगत रोगों का वर्णन देखने से प्रतीत होता है कि प्राचीन आचार्यों ने दृष्टिशब्द का तीन अर्थों में प्रयोग किया है। (१) विशिष्ट दृष्टि = दृष्टिमणि = ताल (Lens)। यह वस्तुतः एक पटल ही है। इसमें विकार होने पर लिंगनाश (Cataract) होता है किन्तु लिङ्गनाश रोग में स्वतः या शस्त्रकर्म द्वारा इस दृष्टिमणि (Lens) के हट जाने या निकाल देने पर प्रायः पुनः दिखाई देने लगता है। अतः दृष्टि इससे भिन्न ही प्रतीत होती है। (२) सामान्य दृष्टि = दृष्टि का आधारभूत नेत्र अक्षिगोलक के विभिन्न स्थूल अवयवों विशेषतः पटलों के विकारों में भी परम्परया न्यूनाधिक रूप में दृष्टि (दर्शन ज्ञान) में भी उपघात होता है। (३) सूक्ष्म दृष्टि (Macula leutea) वस्तुतः यही मुख्य दृष्टि है और यह मसूरार्ध दल के समान ही नेत्र के पिछले भाग के मध्य में अन्तःपटल पर स्थित होती है और रूपग्रहण इसी के द्वारा होता है। इसमें विकृति होने पर स्थूल-नयन-विकार-रहित दर्शन ज्ञान का उपघात (जिसमें सूक्ष्म चक्षुरिन्द्रियमात्र का उपघात रहता है) होता है—जैसे बाह्यज (विशेषतः अनिमित्तज) लिङ्गनाश (Maculo-cerebral degenaration etc.)

पटल—नेत्र के छ पटलों का वर्णन पहिले श्लोक के विमर्श में हो चुका है। उनमें से चार ही नेत्रगोलक में होते हैं जिनका दृष्टि से भी सम्बन्ध बताया गया है :—

तेजोजलाश्रितं बाह्यं तेष्वन्यत् पिशिताश्रितम्। मेदस्तृतीयं पटलमाश्रितं त्वस्थि चापरम्॥
जायते तिमिरं येषु व्याधिः परमदारुणः॥ (सु. उ. तं. १)

सामान्यतः आधुनिकदृष्ट्या प्रथम बाह्यपटल को कञ्जंक्टाइवा और स्क्लीरा (Conjunctiva & Sclera), द्वितीय को तारामण्डलयुक्त मध्य पटल या कोरायड (Choroid), तृतीय को अन्तःपटल या रेटिना (Retina) और चतुर्थ पटल को दृष्टिमणि (Lens) मान सकते हैं। प्रथम तीन पटलों में दोष या विकार होने पर दृष्टि (रूपज्ञान) में भी न्यूनाधिक विकार आता है किन्तु चतुर्थ में विकार होने पर दृष्टिज्ञान में निश्चित विकार होता है। अतएव प्रथम तीन पटलों के विकारों को तिमिर और चतुर्थ पटलगत विकार को लिङ्गनाश कहा गया है। साक्षात् चतुर्थ पटल (दृष्टिमणि) में भी विकार प्रायः क्रमशः उत्पन्न होता है और उसकी आरम्भिक अवस्था में तिमिर के ही लक्षण उत्पन्न होते हैं। पूर्ण विकार होने पर ही लिङ्गनाश होता है सामान्यतः इसी लिए प्राचीन आचार्यों ने पटलगत और दृष्टिगत विकारों का एक साथ वर्णन किया है। किन्तु आधुनिक विद्वान् केवल दृष्टिमणि (Lens) के क्रमिक विकार को तिमिर (Progressive cataract)

अब संदेह होता है कि **'दृष्टिश्च रोमकूपाश्च न वर्धन्ते'** इस वचन के अनुसार दृष्टि को जीवन पर्यन्त एकसा रहना चाहिए किन्तु शरीरवृद्धि के साथ नेत्र और उसके विभिन्न अवयवों में वृद्धि होती है और उसके अनुपात में (कृष्णमण्डल का सप्तमांश या नवमांश होने से) दृष्टि में भी वृद्धि की सम्भावना है ? इसका उत्तर यह है कि यहाँ वृद्धि न होने का तात्पर्य अत्यल्प या नगण्य वृद्धि से है ।

प्राचीन टीकाकारों के मत से प्रथम पटल से यहाँ अन्तिम या कालकास्थि स्थित चतुर्थ पटल का ग्रहण किया जाता है । वहाँ दोष स्थित रहने पर लक्षणोत्पत्ति स्पष्टरूप से नहीं होती । यदि कुष्ठ आदि के समान दोष सब से पहिले बाह्य पटल में स्थित हो तो रोग के पूर्ण लक्षण वहाँ प्रारम्भ से हो सकते हैं । किन्तु इसमें ऐसा नहीं होता । रोग प्रारम्भ होने के कुछ दिन बाद क्रमशः लक्षणोत्पत्ति होने लगती है । आचार्य विदेह ने भी कहा है—'दोष सर्वप्रथम दृष्टि के आन्तरिक

और पूर्ण या तीव्र विकार को लिङ्गनाश (Cataract) कहते हैं और पटलगत विकारों का स्वतन्त्र पृथक्-पृथक् वर्णन करते हैं ।

दृष्टिमणि को अस्थिमय मानने में कुछ लोग आपत्ति कर सकते हैं पर यहाँ अस्थि शब्द हड्डी (Bone) का वाचक नहीं है किन्तु आम्रास्थि आदि के समान 'गुठली' के अर्थ में है । टीकाकारों ने भी कालकास्थि कहा है । और कालक शब्द कृष्णमण्डल के लिए भी प्रयुक्त होता है । उससे सम्बद्ध अस्थिवत् होने से ही इसे अस्थि कहते हैं ।

पटलगत रोगों के वर्णन करने वाले सुश्रुत के श्लोकों की टीका करते हुए डल्हण ने संभवतः विदेहवचन के भ्रामक अर्थ के आधार पर गणनाक्रम में परिवर्तन कर अस्थिमय पटल को प्रथम, मेदःश्रित पटल को द्वितीय मांसाश्रित को तृतीय और तेजोजलाश्रित बाह्यपटल को चतुर्थ पटल कहा है । यह क्रम कल्पनामात्र और प्रत्यक्ष अर्वाचीन क्रम से सर्वथा असंगत प्रतीत होता है । क्योंकि पूर्ववर्णित क्रम से चतुर्थ अस्थिमय पटल (दृष्टि या ताल) जो सबके भीतर होता है—उसमें दोष होने पर अव्यक्त और अनियतदृष्टिता मात्र न होकर दोषतारतम्यानुसार न्यूनाधिकरूप में लिङ्गनाश ही होता है, और बाह्यपटल श्लेष्मावरण और श्वेतमंडल में दोष होने पर अव्यक्त दृष्टितामात्र होती है पूर्ण दृष्टिनाश प्रायः नहीं होता है ।

डल्हणादि टीकाकारों के मतानुसार पटलों का विचार एक दूसरे प्रकार से भी हो सकता हैं । वर्त्मपटल की भाँति अन्य पटल भी नेत्र के अवयव होते हुए भी नेत्रगोलक के अवयव नहीं हैं, किन्तु उसके समीप के ही अवयव हैं । यथा (१) अस्थिपटल = Bony orbital cavity (२) मेदःपटल = Fatty pad around eye ball. (३) मांसपटल = Fascia bulbi and six eye muscles (४) नेत्रश्लेष्मावरण = Conjunctiva including cornia.

किन्तु यह मत भी रोग-विचार करते समय प्रामाणिकता की कसौटी पर खरा नहीं उतरता क्योंकि इनके (विशेषतः प्रथम दो के) विकारों का साक्षात् सम्बन्ध दृष्टि से बहुत ही कम होता है और इस क्रम से दृष्टिमणि (Lens) या सूक्ष्म-दृष्टि (Macula) जो दृष्टि के प्रधान अवयव हैं उनका कुछ भी विकार नहीं निदर्शित होता है । अतः यह मत भी अमान्य है ।

पूर्वोक्त वर्णन का सारांश यह कि वक्ष्यमाण दृष्टिगतरोगों को यथासम्भव पटलगत (Diseases of eye tunics) या दृष्टिगत (Lens deffects) या सूक्ष्म दृष्टिगत (Maculo-cerebral diseases) समझना चाहिये । इनका यथासम्भव निर्देश यथास्थान करने का प्रयास किया जायगा (सं०)

पटल को आक्रान्त करते हैं और फिर क्रमशः बाहर के पटल को आक्रान्त करते रहते हैं। (मूल श्लोक मधुकोष में देखें)

इस प्रथम पटलगत दोषों के कारण अव्यक्तरूप दिखाई पड़ते हैं और ये रूप दोषानुसार चक्करदार, अरुणादिवर्ण वात से, चमकदार और पीतादि वर्ण पित्त से, श्वेतवर्ण कफ से, रक्तवर्ण रक्त से और सान्निपातिक विकारों में चित्रवर्ण के दिखाई देते हैं। इस प्रकार के लक्षण अर्वाचीनदृष्ट्या कैटेरैक्ट की आरम्भिक अवस्था, श्वेतपटलशोथ (Scleritis) शुक्र, तारामण्डलशोथ एवं तिर्यग्दृष्टि आदि विकारों में मिलते हैं।

द्वितीयपटलगतस्य लक्षणमाह—

दृष्टिर्भृशं विह्वलति द्वितीयं पटलं गते।
मक्षिकामशकांश्चापि जालकानि च पश्यति ॥ ३० ॥
मण्डलानि पताकांश्च मरीचीन् कुण्डलानि च।
परिप्लवांश्च विविधान् वर्षमभ्रं तमांसि च ॥ ३१ ॥
दूरस्थानि च रूपाणि मन्यते स समीपतः।
समीपस्थानि दूरे च दृष्टेर्गोचरविभ्रमात् ॥ ३२ ॥
यत्नवानपि चात्यर्थं सूचीपाशं न पश्यति। (सु. उ. ७)

द्वितीयपटल में स्थित दोषों से उत्पन्न तिमिर में दृष्टि अधिक विह्वल होकर अविद्यमान रूपों को देखती है-जैसे रोगी की आँखों के सामने मक्खी, मच्छर तथा मकड़ी के जाले दिखाई पड़ते हैं एवं गोलाकार वस्तुयें, ध्वजा, विविध प्रकार की चमक (किरण), कर्णकुण्डल या कूदते हुए मेंढक आदि का दृश्य, वर्षा, बादल तथा अन्धकार आदि दिखाई देते हैं। वह दूरस्थ वस्तुओं को समीप और विषय-भ्रान्ति के कारण समीप की वस्तुओं को दूर समझता है। बहुत अधिक यत्न करने पर भी रोगी सूचिका-छिद्र और धागे को नहीं देख पाता (सुई में डोरा नहीं पिरो सकता) ॥ ३०-३२ ॥

द्वितीयपटलगतस्य लिङ्गमाह—दृष्टिर्भृशं विह्वलतीत्यादि। विह्वलति पुनः पुनस्सम्यग्रूपं[1] गृह्णाति तथाऽविद्यमानान् मक्षिकादीन् पश्यति; अथवा मक्षिकेत्यादिना विह्वलत्वमेव व्याक्रियते। जालकानि जालान्येव। मरीचीनिति रश्मीन्। परिप्लवानिति मण्डूकादीनां परिसर्वतः प्लवान् गतीः। विविधानिति ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्गतश्लेष्मादिदोषवर्णेन नानाविधान्, अन्ये परिप्लवान् विविधानिति नानावर्णान् जलप्लवानित्याचक्षते। गोचरविभ्रमादिति विषयभ्रान्तेः। सूचीपाशं न पश्यतीति सतोऽपि सूक्ष्मस्यानुपलम्भः; सूचीपाशं सूचीरन्ध्रं, पाशं वा गुणम् ॥ ३०-३२ ॥

विमर्श—ध्यान रहे कि डल्हण एवं श्रीकण्ठदत्त आदि प्राचीन टीकाकारों के मत से यहाँ द्वितीयपटल का अर्थ मेदःश्रित पटल है। किन्तु प्रत्यक्षतः इस प्रकार के लक्षण तिमिर (Cataract) के आरम्भ तथा अन्य कुछ व्याधियों में मिल सकते हैं। यथा—नेत्र-मध्यपटल शोथ (Choroiditis), सन्धानीय पेशियों की अकार्यक्षमता (Paralysis of ciliary muscles), तारामण्डल तथा तन्तुमय समूह के शोथ (Iridocyclitis) तथा विषम दृष्टि (Astigmatism)।

---

१. 'असमर्था भवति' इति क.।

तृतीयपटलगतस्य लक्षणमाह—

ऊर्ध्वं पश्यति नाधस्तात्तृतीयं पटलं गते ॥ ३३ ॥
महान्त्यपि च रूपाणि च्छादितानीव चाम्बरैः ।
कर्णनासाक्षिहीनानि विकृतानीव पश्यति ॥ ३४ ॥
यथादोषं च रज्येत दृष्टिर्दोषे बलीयसि । (सु. उ. ७)

(तिमिर का उत्पादक) दोष जब तृतीय पटल में स्थित रहता है तब रोगी ऊपर का देखता है किन्तु नीचे का नहीं देख पाता'। बड़ी वस्तुओं को भी वस्त्रों से ढका हुआ सा देखता है। व्यक्तियों को कान, नाक तथा आँख से हीन और विकृत हुआ सा देखता है। दोष के बलवान् होने पर दोषानुसार दृष्टि का वर्ण भी हो जाता है ॥ ३३-३४ ॥

तृतीयपटलगतस्य लिङ्गमाह—ऊर्ध्वं पश्यतीत्यादि। ऊर्ध्वं दर्शनाभिधानादधोदर्शनस्य निषेधसिद्धौ तदभिधानं स्वरूपानुवादार्थम्। ननु पार्श्वयोरीषद्दर्शनार्थं किमित्येतन्न भवति ? उच्यते ऊर्ध्वाधोगतत्वेनैव पार्श्वस्य परिग्रहादिति कार्तिकः। **यदेतद्रूपं पश्यति तत् कीदृशमित्यत आह—महान्त्यपीत्यादि। छादितानीव चाम्बरैरिति आवृतानीव वस्त्रैः। 'अम्बरे' इति पाठान्तरे आकाशे छादितानि केनापि। विकृतानीवेति छिन्नकरपादादीनि। अत्र रागप्राप्तिमाह—यथादोषं च रज्येत दृष्टिर्दोषे बलीयसीति, अस्यार्थः—यथायथं दोषवर्णैररुणपीतसितादिभिर्युज्यते दृष्टिः, रागश्चात्र वर्णमात्रवचनः। अत एव वक्ष्यति—'कफात् सितः शोणितजः सरक्त' इति। दोषे बलीयसीति रक्तमांसमेदःसहाये बलवति दोषे, अन्यथा तु तृतीयेऽपि रागो न भवतीति व्यभिचारः सूच्यत इति** गदाधरः। **ननु तृतीये कथं रागवर्णनं, बाह्यपटलेनावृते दर्शनासंभवात् ? न चाश्मरीवर्णाभिधानवदायुर्वेदप्रामाण्यार्थं भविष्यतीति, अश्मर्या उत्तरकालमाकृष्टौ तथा प्रतीतेः, इह तु न तादृक्। उच्यते, तृतीयपटलगतस्य दोषस्य तथास्वभावाद्बाह्ये रागोपलब्धिः, तृतीयपटलादारभ्य रागोदयः। यदाह** विदेहः-**'यथास्वं रज्यते दृष्टिर्दोषैस्त्रिपटलस्थितैः। चतुर्थपटलप्राप्तैर्मण्डलं रज्यते तु तैः ॥' इति ॥ ३३-३४ ॥**

विमर्श-यथादोषं रज्यते—प्राचीन टीकाकारों के अनुसार यहाँ तृतीय पटल का अर्थ मांसाश्रित पटल है। यद्यपि तृतीय पटलगत राग का प्रत्यक्ष बाहर से नहीं हो सकता तथापि बाह्य (चतुर्थ) पटल में भी उसकी झलक आ जाने से उसका प्रत्यक्ष करना सरल हो जाता है। राग शब्द वर्ण सामान्य का वाची है। अतः वात से अरुण, पित्त से पीत और कफ से श्वेत तथा रक्त से लाल वर्ण की उत्पत्ति होती है। आचार्य विदेह ने भी कहा है—तृतीय पटल में स्थित दोषों से दोषानुसार वर्ण वाली दृष्टि होती है किन्तु दोषों के चतुर्थ पटल पर पहुँचने पर मण्डल ही उस रंग वाला हो जाता है।

सम्प्रति ऊर्ध्वाधःपार्श्वप्रदेशस्थिते दोषे यादृक्पश्यति तन्निरूपयति—

अधःस्थिते समीपस्थं दूरस्थं चोपरिस्थिते ॥ ३५ ॥
पार्श्वस्थिते तथा दोषे पार्श्वस्थं नैव पश्यति ।
समन्ततः स्थिते दोषे संकुलानीव पश्यति ॥ ३६ ॥
दृष्टिमध्यस्थिते दोषे महद्ध्रस्वं च पश्यति ।

द्विधा स्थिते द्विधा पश्येद्बहुधा चानवस्थिते ॥ ३७ ॥
दोषे दृष्ट्याश्रिते तिर्यक् स एकं मन्यते द्विधा । (सु. उ. ७)

दोष की स्थिति नीचे होने पर समीपस्थ वस्तु को, ऊर्ध्वभाग में होने पर दूर की वस्तु को तथा पार्श्व में स्थित होने पर पार्श्व की वस्तु को नहीं देख पाता। यदि दोष का अवस्थान चारों ओर हो तो रोगी वस्तुओं को विभिन्न रूपों से मिश्रित सा देखता है। दोष के दृष्टिमध्य में स्थित होने पर रोगी बड़ी वस्तु को छोटी देखता है। दोष दो जगह स्थित होने से दो तरह का और अस्थिर होने पर अनेक प्रकार से देखता है। दृष्टि में जब दोष तिरछा होकर रहता है तो रोगी एक वस्तु को दो देखता है। ३६-३७॥

अधुनाऽध ऊर्ध्वमेवं यथाप्रदेशं दृष्टौ दोषावस्थाने यथा न पश्यति यादृग्वा पश्यति तथा दर्शयितुमाह—अधःस्थित इत्यादि। समीपस्थं दूरस्थं चेति नैव पश्यतीति सम्बन्धः समन्तत इति सर्वतः। संकुलानीवेति अन्यान्यरूपेणैव मिश्राणि। अनवस्थित इति अनियतावस्थान इत्यर्थः॥ ३५-३७॥

विमर्श—सुश्रुत में **'दृष्टिमध्यस्थिते'** आदि के स्थान पर पाठान्तर मिलता है—
दृष्टिमध्यगते दोषे स एकं मन्यते द्विधा। द्विधा स्थिते त्रिधा पश्येद् बहुधा चानवस्थिते॥

वस्तुतः यह पाठ चतुर्थ पटल स्थित दोष के लक्षण रूप में ही उचित प्रतीत होता है; क्योंकि जब चतुर्थपटल (लैंस या दृष्टिमणि) के ठीक मध्य में विकृति होगी तो प्रकाश की किरणें दो भागों में विभक्त होकर अन्दर जाती हैं, जिससे एक ही वस्तु के दो रूप दिखाई पड़ते हैं। इसी प्रकार जब दृष्टिमणि में दो स्थान पर विकृति होती है तो स्वभावतः वह तीन भागों में विभक्त हो जाती है। इस लिये प्रकाश की किरणें भी तीनों के द्वारा पृथक्-पृथक् अन्दर पहुंचकर एक ही वस्तु के तीन रूप दिखाती हैं। यदि दोष चञ्चल रहता है तो रूप अनेक प्रकार के दिखाई पड़ते हैं। सम्भव है कि तृतीयपटलस्थ दोष की प्रवृद्धावस्था और चतुर्थपटलगत दोषकी आरम्भिक अवस्था में प्राप्त मिश्रित लक्षणों के आधार पर ही सुश्रुत ने इस लक्षण का उल्लेख किया हो। प्रत्यक्षतः इस प्रकार के लक्षण नेत्राभ्यन्तर पटल के विभ्रंश (Detachment of Retina), दृष्टमणि के विश्लेष (Dislocation of lens) और उसकी अपारदर्शिता (Opacity) शुक्र (Cornial opacity) तथा दृष्टिनाडी शोथ (Optic neuritis) आदि विकारों में मिलते हैं। यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि प्राचीन टीकाकार रोगवर्णन में तृतीय पटल से मांसाश्रित और चतुर्थ पटल से तेजोजलाश्रित बाह्य पटल का ग्रहण करते हैं किन्तु हमने प्रत्यक्षानुरोधसे मूलक्रम का ही अनुसरण किया है।

चतुर्थपटलगतं प्राह—

तिमिराख्यः स वैः दोषश्चतुर्थं पटलं गतः ॥ ३८ ॥
रुणद्धि सर्वतो दृष्टिं लिङ्गनाशमतः परम् ।
अस्मिन्नपि तमोभूते नातिरूढे महागदे ॥ ३९ ॥
चन्द्रादित्यौ सनक्षत्रावन्तरीक्षे च विद्युतः ।
निर्मलानि च तेजांसि भ्राजिष्णून्यथ पश्यति ॥ ४० ॥ (सु. उ. ७)

वही (तृतीय पटलगत) तिमिर नामक दोष जब चतुर्थ पटल में पहुँच कर दृष्टि को पूर्णतया अवरुद्ध कर देता है तो लिङ्गनाश (दर्शनशक्ति का नाश) कर देता है। यदि यह अन्धकार

रूप महाव्याधि अधिक न बढ़ी हो तो रोगी आकाश में चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, विद्युत् तथा अन्य स्वच्छ और चमकदार तैजस पदार्थों को देख सकता है ॥ ३८-४० ॥

चतुर्थपटलगतमाह—तिमिराख्य इत्यादि। आन्ध्योत्पादकतया तिमिरसाधर्म्यात्तिमिराख्यः, दोषो रोगः, 'दोषा अपि रोगाख्यां लभन्ते' इत्यागमात्; स एव रोगः सर्वतो दृष्टिरोधाल्लिङ्गनाश उच्यते, लिङ्ग्यते ज्ञायतेऽनेनेति लिङ्गमिन्द्रियं दर्शनशक्तिः, तन्नाशोऽस्मिन्निति लिङ्गनाशः। लिङ्गनाशमतः परं 'वदन्ति' इति शेषः। अस्मिन्नपि तमोभूत इति भूतशब्दः सादृश्ये, रूपस्यानुपलम्भादन्धकारसदृशे। नातिरूढे नातिवृद्धे, अतश्चन्द्रादित्यादीनि भास्वन्ति वस्तूनि पश्यति। अन्तरीक्षे चेत्यस्योपादानं भूमेस्तमोमयत्वात्, तत्र च तमोऽभिभवात्तादृशस्य चक्षुषो दर्शनाशक्तेः ॥ ३८-४० ॥

विमर्श—कुछ पुस्तकों में **'तिमिराख्यः स वै दोषः'** इतना अंश तृतीय पटलगत दोषों के पूर्व वर्णित लक्षणों के साथ मिलता है जिसका अर्थ होता है **'ऊर्ध्वं पश्यति'** से लेकर **'मन्यते द्विधा'** तक के लक्षण तृतीय पटलगत दोषों के हैं और इस दोष को **'तिमिर'** कहते हैं।

'लिङ्ग्यते अनेनेति लिङ्गम्' इस व्युत्पत्ति के आधार पर दृष्टिशक्ति को लिङ्ग कहते हैं। जिसमें दृष्टिशक्ति का नाश हो जाय उस रोग को लिङ्गनाश कहते हैं। प्राचीन टीकाकारों के अनुसार यहाँ चतुर्थपटल से बाह्यपटल का ग्रहण होता है किन्तु प्रत्यक्षतः यह लक्षण दृष्टिमणि की विकृति में उत्पन्न होते हैं और आजकल इसे कैटरेक्ट (Cataract) कहते हैं। मुख्य रूप से इसकी दो अवस्थायें होती हैं—

(१) **परिपक्व या रूढ (Matured)**—इस अवस्था में रोगी की आँखों के सामने पूर्ण अन्धकार रहता है, उसे कुछ भी दिखाई नहीं देता।

(२) **नातिरूढ या अपरिपक्व (Immatured)**—इस अवस्था में रोगी सूर्य, चन्द्र आदि भास्वर पदार्थों को देख सकता है अन्यों को नहीं।

इस रोग (Cataract) के कारणादि के अनुसार विभिन्न प्रकारों एवं उसकी अवस्थाओं (Stages) का वर्णन अर्वाचीन शालाक्यतन्त्र के किसी प्रामाणिक ग्रन्थ में विस्तार से देख सकते हैं। (कुछ संक्षिप्त वर्णन श्लोक ५५ के विमर्श में भी है)

तस्य संज्ञान्तरमाह—

स एव लिङ्गनाशस्तु नीलिका काचसंज्ञितः। (सु. उ. ७)

वही (तृतीय पटल में उत्पन्न तिमिर नामक दोष जो राग प्राप्त होकर काच कहलाता है चतुर्थ पटल में पहुँचने पर) लिंगनाश (और राग प्राप्त होकर) नीलिकाकाच कहलाता है।

तस्यैव लिङ्गनाशस्य संज्ञान्तरमाह—स एव लिङ्गनाशस्त्वित्यादि। यस्तृतीयपटलस्थितः काचसंज्ञितो दोषः स एवोपेक्षया चतुर्थे पटले पुनर्लिङ्गनाशो नीलिका च। तुशब्दः पुनरर्थे। कुतः पुनरयमृजुरेव ग्रन्थो न लगति—नीलिकाकाचाभ्यां पर्यायाभ्यां संज्ञितो नीलिकाकाचसंज्ञित इति; नैवं, तन्त्रान्तरे तृतीयपटलस्थिते दोषे काचाभिधानात्। यदाह निमिः—**'काच इत्येष विज्ञेयो याप्यस्त्रिपटलोत्थितः। चतुर्थपटलप्राप्तो लिङ्गनाशः स उच्यते ॥ प्रत्याख्येयश्च कफजो व्याधिः साध्यस्तु तद्विदा'। इति। अत्रापि तत्प्रत्ययात्तृतीयपटलस्थस्य काचसंज्ञा, चतुर्थपटलप्राप्तस्य प्रत्याख्येयत्वं प्रत्येतव्यम्। यत्पुनर्लिङ्गनाशोपादानं तत्सकलपर्यायज्ञानार्थम्।** गदाधरस्तु—**'नीलिकाविशेषिता काचसंज्ञा नीलिकाकाचसंज्ञा' इत्याह; एतेन तृतीयपटलस्थदोषे काचसंज्ञा, चतुर्थे तु सा नीलिकया विशिष्यते इति फलति। एकजातीयतया त्रिचतुःपटलयोरपि रोगाणां षट्त्वमेव, नतु द्वादशत्वं; तेन न संख्यातिरेकः। इदमिदानीं**

चिन्त्यते—तृतीयपटलस्थे दोषे काचसंज्ञा तिमिरसंज्ञा च, तर्हि कथं न षट् संख्याहानिः? काचात्तिमिरस्य भिन्नत्वात्, उक्तं च—'षड् लिङ्गनाशाः' इति; अथ मन्यसे; तिमिरात् काचो न भिद्यते, तस्यावस्थान्तरत्वादिति; न, तद्विपरीतसाधकत्वाद्धेतोः यतोऽभिष्यन्दसिरोत्पाताभ्यामधिमन्थसिराहर्षयोरवस्थान्तरत्वेऽपि भिन्नत्वं प्रतीयते। उच्यते—भवत्येवं, यद्यवस्थान्तरत्वेऽपि विशिष्टनामप्राप्तिस्तयोरिवास्य प्रथमनामपरित्यागात् स्यात्; न चैवं, 'तिमिराख्यः स वै दोषः' इत्यभिधानात्, तथा च 'तिमिरे रागिणि' इति वचनात्; तस्मान्नास्यावस्थान्तरे पूर्वनामपरित्यागः, ततस्तिमिरात् काचस्यावस्थान्तरत्वेऽप्यनन्यत्वं साधु, यथा-सत्यपि यौवनत्वे यज्ञदत्तस्य न स्वाभिधेयहानिः, अतो न संख्यातिरेकप्रसंग इति॥

विमर्श—यद्यपि 'वही लिङ्गनाश नीलिका और काच कहलाता है' अर्थ श्लोकार्ध के शब्दों से स्पष्ट रूप में निकलता है किन्तु तन्त्रान्तरों में तृतीय-पटलस्थित तिमिरसंज्ञक दोष को (राग प्राप्त होने पर) काच कहा गया है; अतः उनसे विरोध-परिहार के लिये कोष्ठक में दिए गये शब्दों का भी अध्याहार करना आवश्यक हो जाता है। आचार्य निमि का कहना है कि तृतीय पटलगत तिमिर को काच कहते हैं। वही जब उपेक्षावश बढ़ जाता है तो उसे लिङ्गनाश कहने लगते हैं—

काच इत्येष विज्ञेयो याप्यस्त्रिपटलोत्थितः। चतुर्थपटलप्राप्तो लिङ्गनाशः स उच्यते।
प्रत्याख्येयश्च कफजो व्याधिः साध्यस्तु तद्विदा'॥

गदाधर जी ने भी 'नीलिकाकाचसंज्ञितः' का 'नीलिका-विशेषिता काचसंज्ञा सञ्जाता यस्य' यह अर्थ किया है। सब का निष्कर्ष यह है कि तृतीय पटल में दोष होने पर जो दृष्टिदोष होता है उसे 'तिमिर' कहते हैं और उसमें रंग उत्पन्न होने पर उसे ही 'काच' कहते हैं। उसी प्रकार चतुर्थ पटलगत दोष को 'लिङ्गनाश' और 'नीलिकाकाच' कहते हैं।

वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, रक्तज, सान्निपातिक तथा परिम्लायि भेद से तिमिर या लिङ्गनाश छः प्रकार के होते हैं।

एकजातीय होने से अर्थात् न्यूनाधिक होते हुए भी दोनों ही में दृष्टि का उपघात होने से तृतीय या चतुर्थ पटलगत दोषों (तिमिर और लिंगनाश) को एक ही मानना चाहिये। इस प्रकार तिमिर या लिंगनाश पूर्वोक्त वातिकादि भेद से छः प्रकार के ही होते हैं। दोनों पृथक्-पृथक् छः-छः होकर बारह नहीं होते और **'षड् लिङ्गनाशाः'** इस सुश्रुत वचन में संख्यातिरेक की सम्भावना नहीं रहती।

अब सन्देह होता है कि (तिमिर और लिंगनाश में भेद न होते हुए भी) तिमिर और काच में तो भेद है ही और यह दोनों छः-छः प्रकार के होते हैं। इस प्रकार इन दोनों को मिलाकर बारह और वक्ष्यमाण छः अन्य विकारों को मिलाकर दृष्टिगत रोगों की संख्या १८ होनी चाहिए? यह भी नहीं कह सकते कि तिमिर का ही अवस्था-विशेष होने से काच उससे अभिन्न है क्योंकि अभिष्यन्द का अवस्था-विशेष होते हुए भी अधिमन्थ एवं सिराहर्ष का अवस्था-विशेष होते हुए भी सिरोत्पात परस्पर भिन्न-भिन्न वर्णित हैं। इसी प्रकार तिमिर और काच भी परस्पर भिन्न हैं? इसका उत्तर यह है कि अवस्था-विशेष में अपने पूर्व नाम का त्याग कर नवीन नामधारण करने पर अवश्य भिन्नता आ जाती है पर अपने पूर्व नाम का त्याग न करते हुए अवस्था-विशेषकृत दूसरा नाम होने पर भी दोनों में भेद नहीं होता। यथा देवदत्त का नाम संन्यासी होने पर बदल कर देवानन्द कर देने पर दोनों भिन्न-भिन्न हो सकते हैं किन्तु बाल्य, यौवन, वार्धक्य आदि अवस्थाकृत विशेषों से देवदत्त में भेद नहीं होता। यहाँ तिमिर को ही अवस्था-विशेष में काच कहते हैं तिमिर काच में परिवर्तित होकर तिमिर संज्ञा का त्याग नहीं करता। यह **'तिमिराख्यः स वै दोषः'**

अथवा **'तिमिरे रागिणि'** आदि वचनों से स्पष्ट है। अतः तिमिर, काच, लिंगनाश या नीलिका-काच सब एक ही हैं और सभी वातिकादि भेद से छः होते हुए भी छः ही हैं।

वातादिभेदेन तिमिरलक्षणान्याचष्टे—

वातेन चापि रूपाणि भ्रमन्तीव च पश्यति ॥ ४१ ॥
आविलान्यरुणाभानि व्याविद्धानीव मानवः।
पित्तेनादित्यखद्योतशक्रचापतडिद्गुणान् ॥ ४२ ॥
नृत्यतश्चैव शिखिनः सर्वं नीलं च पश्यति।
कफेन पश्येद्रूपाणि स्निग्धानि च सितानि च ॥ ४३ ॥
(पश्येदसूक्ष्माण्यत्यर्थं व्यभ्रमेवाभ्रसंप्लवम्।)
सलिलप्लावितानीव परिजाड्यानि मानवः।
पश्येद्रक्तेन रक्तानि तमांसि विविधानि च ॥ ४४ ॥
स सितान्यपि कृष्णानि पीतान्यपि च मानवः।
सन्निपातेन चित्राणि विप्लुतानीव पश्यति ॥ ४५ ॥
बहुधा च द्विधा चापि सर्वाण्येव समन्ततः।
हीनाधिकाङ्गान्यपि तु ज्योतींष्यपि च भूयसा ॥४६॥ (सु. उ. ७)

वातिक तिमिर में रोगी चञ्चल, मलयुक्त, अरुणवर्ण के तथा कुटिल रूपों का दर्शन करता है। **पैत्तिक** तिमिर में रोगी सूर्य, जुगनू, इन्द्र-धनुष तथा विद्युत् के रूप और नाचते हुए मोरों को देखता है एवं सब वस्तुओं को भी नीला ही देखता है। **श्लैष्मिक** तिमिर में रोगी स्निग्ध और श्वेत वर्ण के रूपों का दर्शन करता है; पदार्थ बहुत बड़े दिखाई पड़ते हैं, स्वच्छ आकाश मेघाच्छन्न सा प्रतीत होता है। रोगी सम्पूर्ण पदार्थों को जल में डूबे हुए के समान और निश्चल देखता है। **रक्तज** तिमिर में रोगी को (सभी चीजें) रक्तवर्ण की और विविध प्रकार के अन्धकार दिखाई देते हैं तथा श्वेत पदार्थ भी काले या पीले रंग के दिखाई देते हैं। **सान्निपातिक** तिमिर में रोगी चित्र-विचित्र या विपरीत रूप देखता है। (यथा) सम्पूर्ण पदार्थों को चारों ओर या एक को दो अथवा अनेक देखता है। कभी-कभी मनुष्यों आदि को हीन या अधिक अंग वाला एवं ताराओं को भी विकृत रूप में देखता है ॥ ४१-४६ ॥

दोषविशेषेण रूपविशेषदर्शनमाह—वातेनेत्यादि। अविशेषेण यदुक्तमेतद्वाते तत् सर्व-पटलेषु संबध्यते, तुल्यत्वान्न्यायस्य। व्याविद्धानीव कुटिलानीव। खद्योतो ज्योतिरिङ्गणः, शक्रचाप इन्द्रधनुः, गुणान् रूपाणि, आदित्यादीनां रूपाणीत्यर्थः। शिखिनो मयूरान्। सलिलप्लावितानीव परिजाड्यानीति सलिलप्लवनेनैव स्तिमितानीत्यर्थः। सितानीति श्वेतानि। ननु, रक्तेन कथं सितानीत्युच्यन्ते? श्लेष्मणा सितरूपस्य दर्शितत्वात्। नैवं, सितान्यपि कृष्णानि पीतानि पश्यतीति व्याख्यानाददोषः; स इति मानवः। रक्तेन कृष्ण-

१. 'हरितान्यथ' इति ख.।

पीतदर्शनं पित्तसधर्मकत्वाद्रक्तस्य। चित्राणीति नानावर्णानि। विप्लुतानीवेति विपरीतानि। विपरीतत्वमेव विवृणोति—बहुधेत्यादि। अयमर्थः—सन्निपातेन पूर्वप्रकारेण बहुविधानि द्विविधानि वा सर्वाणि द्रव्याणि पश्यति, तृतीयपटले हीनाधिकाङ्गान्यपीति गदाधरः॥

सम्प्रति परिम्लायिकाचं वर्णयति—

पित्तं कुर्यात् परिम्लायि मूर्च्छितं पित्ततेजसा।
पीता दिशस्तु खद्योतान् भास्करं चापि पश्यति॥ ४७॥
विकीर्यमाणान् खद्योतैर्वृक्षांस्तेजोभिरेव वा। (सु. उ. ७)

पित्त के तेज (रक्त) से मिला हुआ पित्त परिम्लायी काच को उत्पन्न करता है। इसमें रोगी सब दिशाओं को पीला देखता है। (अकारण ही इधर-उधर) जुगनू तथा सूर्य दिखाई पड़ते हैं। रोगी वृक्षों को जुगनू तथा अन्य भास्वर वस्तुओं से व्याप्त सा देखता है॥ ४७।

पित्तेनापरं परिम्लायिसंज्ञकं तिमिरमाह—पित्तं कुर्यादित्यादि। परिम्लायीति परिम्लायि तिमिरम्, एतच्च रक्तमूर्च्छितपित्तकृतं पीतं नीलं बोद्धव्यम्। यदाह सात्यकिः—'एवमेव तु विज्ञेया नीलाः पित्तसमुत्थिताः। रक्ताः[1] पित्तोत्थिताः पीताः' इति अत्र वचने काचा इति विशेष्यत्वेन बोद्धव्यम्। मूर्च्छितं पित्ततेजसेति पित्तस्य तेजो रक्तम्, प्रसादरूपत्वात्, तेन मिश्रितम्। अन्ये तु 'रक्ततेजसा' इति पठन्ति, रक्तस्य तेजो बलं रक्ततेजः; केचित् 'भक्ततेजसा' इति पठन्ति, भक्तस्य अन्नस्य तेजसा प्रसादेन रसेनेत्यर्थः; रक्ततेजसेत्यत्रापि रक्तार्थं तेजो रक्ततेज इति रस एवाभिधातुं शक्यते, पित्ततेजसेत्यत्रापि पित्तार्थं तेजः पित्ततेजः; पित्तशब्देन समानत्वेन तत्प्रसादत्वेन च रक्तमभिधाय पूर्व एवार्थः कर्तुं शक्यते तथा च विदेहः—'पित्तं रक्तप्रसादेन मूर्च्छयित्वा च मारुतम्' इत्यारभ्य 'एष याप्यः स्मृतः काचो म्लायी नाम्ना शरीरिणाम्' इति। इदं त्वन्यत्र रक्तपित्ताभ्यां पठ्यते। यदुक्तं[2]—'विदधाति परिम्लायि पित्तं रक्तेन संगतम्। तेन पीता दिशः पश्येदुद्यन्तमिव भास्करम्' इति, अत्रापि यदि रक्तशब्देन रक्तार्थं यत्तद्रक्तमिति कुसृष्ट्या रसोऽभिधीयते, तदा पूर्वेण सह समानार्थमेवैतद्वचनं स्यादिति। परिमम्लायिरोगे तिमिरवतः पुंसो रागग्रहणे लिङ्गमाह—पीता दिश इत्यादि। विकीर्यमाणानिति आच्छाद्यमानान्। याप्यश्चायं, तथाहि सात्यकिः-'तृतीयं पटलं प्राप्तं तिमिरं रागि जायते। अरागि तिमिरं साध्यमाद्ये पटलमाश्रितम्॥ कृच्छ्रं द्वितीये रागि स्यात्तृतीये याप्यमुच्यते' इति॥ ४७॥

विमर्श—प्राचीन टीकाकारों ने प्रस्तुत श्लोक के 'पित्ततेजसा' शब्द का अर्थ करते हुये पित्त तेज को 'रक्त' या 'रस' माना है। यथा—**'पित्तस्य तेजो रक्तं प्रसादरूपत्वात्'** (श्रीकण्ठदत्त)। डल्हण ने तो **'रजतेजसा'** यह पाठ स्वीकार कर **'रक्तस्य तेजसा=प्रसादेन'** (रक्त का सूक्ष्म प्रसाद भाग जो रक्त का ही पोषण करता है?) इस व्याख्यानुसार 'रक्त' अथवा **'रक्तार्थं तेजः;** इस व्याख्यानुसार रक्त की उत्पत्ति के लिए आवश्यक तेज अर्थात् रक्तरूप में परिणत होता हुआ 'रस' स्वीकार करते हैं। कुछ 'रस' को मानने वाले तो **'भक्ततेजसा' (भक्तस्य आहारस्य तेजसा=रसेन)** यह पाठान्तर भी स्वीकार करते हैं अथवा **'पित्ततेजसा'** पाठ में भी रक्त, पित्त का प्रसाद मात्र होने के कारण समान होने से पित्त अर्थात् रक्त की उत्पत्ति के लिए आवश्यक तेज **(पित्तार्थं तेजः) अर्थात्**

१. 'पित्तरक्तोत्थिताः पीताः' इति डल्हणसंमतः पाठः। २. 'अत्र विदेहः' इति क.।

'रस' अर्थ करते हैं। विदेह ने भी **'पित्तं रक्तप्रसादेन मूर्च्छयित्वा च मारुतम्'** कहा है। कुछ ग्रन्थों में तो स्पष्ट रूप में इसे पित्त और रक्त जनित बतलाया है। यथा—**'विदधाति परिम्लायि पित्तं रक्तेन संगतम्'**। किन्तु 'रसवादी' लोग यहाँ भी रक्त का अर्थ **'रक्तार्थं रक्तम्'** अर्थात् 'रस' करते हैं। कुछ भी हो विभिन्न आचार्यों का मत देखते हुए यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह संसर्गज रोग है और इसमें पित्त के साथ रक्त का संसर्ग होता है किन्तु **'पित्तं रक्तेन संगतम्'** के समान ही स्पष्ट न कह कर सुश्रुत ने **'पित्ततेजसा'** या **'रक्ततेजसा'** तथा विदेह ने **'रक्तप्रसादेन'** कहा है वह निरर्थक या द्रविड-प्राणायाम ही नहीं है। अवश्य ही उसका कुछ विशिष्ट तात्पर्य है। अतः यहाँ पित्त का सामान्य रक्त या रस से सम्मूर्च्छन न हो कर किसी विशिष्ट पदार्थ से ही सम्मूर्च्छन अभीष्ट प्रतीत होता है। इसीलिए केवल पित्तज तिमिर में सभी चीजें नीली और रक्तज में रक्त वर्ण की दिखाई देती हैं किन्तु परिम्लायितिमिर में सभी वस्तुएँ पीली दिखाई देती हैं।

यह रोग याप्य होता है जैसा कि सात्यकि ने कहा है—'तृतीय पटल में पहुँचने पर तिमिर रागयुक्त हो जाता है। प्रथम और द्वितीय पटल में आश्रित अरागी (रंगरहित) तिमिर क्रमशः साध्य और कष्टसाध्य होता है और तृतीय पटलाश्रित रागयुक्त तिमिर याप्य होता है। यही डल्हण को भी मान्य है और उन्होंने कहा है-**'सर्वाण्येव तिमिराणि प्रथमद्वितीयपटलगतानि साध्यानि, तृतीयपटलगतानि रागप्राप्त्या काचाख्यानि भवन्ति तदा याप्यानि'** तथा च **'प्रथमद्वितीयपटलयोः शोणिताभावाद्रागाभावः'**।

रागभेदेन तिमिरस्य षड्भेदानाह—

वक्ष्यामि षड्विधं रागैर्लिङ्गनाशमतः परम् ॥ ४८ ॥ (सु. उ. ७)

अब इसके बाद राग या वर्ण भेद से तिमिर के ६ भेद बताएँगे ॥ ४८ ॥

वातादिभेदेन षड्विधं तिमिरमभिधाय रागैः षड्विधमाह—वक्ष्यामि षड्विधं रागैरित्यादि। सर्वानुगां तिमिरसंज्ञां विहाय लिङ्गनाशसंज्ञया कीर्तनं रागप्रकर्षप्राप्तेः ॥ ४८ ॥

दोषानुसारं काचस्य रागभेदानाह—

रागोऽरुणो मारुतजः प्रदिष्टो म्लायी च नीलश्च तथैव पित्तात्।
कफात् सितः शोणितजः सरक्तः समस्तदोषप्रभवो विचित्रः ॥४९॥
(सु. उ. ७)

वातजन्य तिमिर का वर्ण अरुण, पित्त से म्लायी (पीतनील) और नील, कफ से सफेद, रक्त से लाल तथा सब दोषों से उत्पन्न तिमिर में विचित्र रंग होते हैं ॥ ४९ ॥

वातादिरागोद्देशमाह—रागोऽरुण इत्यादि। म्लायी च नीलश्च तथैव पित्तादिति म्लायी पीतनीलो वर्णः। ननु, शेषे परिम्लायि पठितं तत् कथमधुना वातरागानन्तरं तस्योक्तिः? नैवं, रागकाले वायुरप्यत्रांशेन व्याप्रियते इति प्रतिपादनार्थमिति कार्तिकः। **पैत्तिकरूपद्वयस्यैकत्राभिधानेन लाघवं स्यादिति युक्तं, यत्तु प्रागेव न कृतं तदेकविकारशङ्कानिरासार्थम् ॥**

विमर्श—यहाँ लिङ्गनाश शब्द तिमिरवाचक ही है क्योंकि तिमिर ही राग प्राप्त हो कर काच और अतिराग प्राप्त होने एवं दृष्टिनाश होने पर लिङ्गनाश कहलाता है। सर्वव्यापक तिमिर शब्द के स्थान पर लिङ्गनाश शब्द का प्रयोग रागातिशय द्योतित करने के लिए किया गया है क्योंकि अधिक राग होने पर ही वह दृश्य हो सकता है। डल्हण ने तो इस श्लोक में तिमिर का अध्याहार कर **'षड्विधं तिमिरं वक्ष्यमाणै रागैः, अतः परं लिङ्गनाशमपि षड्विधं वक्ष्यामि'** अर्थात् 'छः प्रकार के तिमिर रोग का वक्ष्यमाण अरुणादि राग से और उसके बाद ६ प्रकार के

लिङ्गनाश का भी वर्णन करेंगे' ऐसा अर्थ किया है। तात्पर्य यह है कि पहिले जिन ६ प्रकार के तिमिरों के लक्षण बताए गये हैं उन्हीं का केवल वर्ण के आधार पर वर्णन कर बाद में ६ प्रकार के लिङ्गनाशों का भी वर्णन होगा।

वस्तुतः वर्णगत परिवर्तन दो प्रकार के होते हैं। (१) जब दोष की अल्पता से स्वल्प वर्ण परिवर्तन होता है तो केवल रोगी को ही उसका अनुभव होता है, इसे आजकल रोगिमात्रानुभूत लक्षण (Subjective sign) कहते हैं। (२) जब दोष की अधिकता से वर्णगत परिवर्तन भी अधिक होता है तो वह दूसरों को भी दिखाई देता है। इसे दृश्य या वैद्यज्ञेय लक्षण (Objective symptom) कहथे हैं। सम्भवतः **'वातेन चापि रूपाणि'** आदि से प्रथम प्रकार के लक्षणों का वर्णन कर अब **'रागोऽरुणः'** आदि से दूसरे प्रकार के लक्षणों का वर्णन किया गया है।

'म्लायी च नीलश्च तथैव पित्तात्' से रक्तयुक्त पित्त से म्लायी (पीत) और केवल पित्त से नील का उल्लेख किया गया है। पूर्वोक्त वर्णन में परिम्लायी का वर्णन वातिक, पैत्तिक, कफज, रक्तज और सन्निपातज के बाद में किया है। किन्तु यहाँ उस क्रम का भंग कर वातिक के बाद ही वर्णन लाघव की दृष्टि से किया है क्योंकि दोनों में ही पित्त का सम्बन्ध रहता है। प्रथम स्थल पर दोनों में एकता न समझ ली जाय इसलिए पृथक् वर्णन किया है। कार्तिककुण्ड का मत है कि परिम्लायी में वात का भी सम्पर्क रहता है अतः वातिक के बाद और पैत्तिक के पूर्व इसका वर्णन किया है। विदेह ने कहा भी है—**'पित्तं रक्तप्रसादेन मूर्च्छयित्वा च मारुतम्'**। डल्हण ने आगे आनेवाले **'अरुणं मण्डलम्'** से **'कदाचित् स्यात्तु दर्शनम्'** पर्यन्त वचन को 'अरुणम्' के स्थान पर **'रक्तजम्'** पाठकर परिम्लायी काच का लक्षण माना है, और मधुकोषकार ने प्रथम पङ्क्ति को वातिक का और अन्तिम दो पङ्क्तियों को परिम्लायी का विशिष्ट रूप माना है। किन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता है। इसका विवेचन अगले श्लोक के विमर्श में किया जायगा।

वातिकरागस्य विशेषलक्षणं प्राह—

अरुणं मण्डलं दृष्ट्यां स्थूलकाचारुणप्रभम्। (सु. उ. ७)

वातप्रकोप के कारण दृष्टिमण्डल मोटे काच की अरुण प्रभा के समान अरुण वर्ण का हो जाता है।

उद्देशक्रमेण वातिकरागस्यैव विशिष्टलक्षणमाह—अरुणं मण्डलमित्यादि। अरुणं मण्डलं कीदृशं भवतीत्यत आह—स्थूलकाचारुणप्रभमिति। स्थूलकाचस्येव अरुणा प्रभा यस्य तत्तथा; एतेन बाहुल्यमरुणत्वं च प्रतिपाद्यते। काचोऽत्रारुणो विवक्षितः॥

परिम्लायिकाचस्य विशिष्टलक्षणमाह—

परिम्लायिनि रोगे स्यान्म्लायि नीलं च मण्डलम्॥ ५०॥
दोषक्षयात् स्वयं तत्र कदाचित् स्यात्तु दर्शनम्। (सु. उ. ७)

परिम्लायी (रक्तपित्तज) काच में दृष्टिमण्डल मलिन और नील वर्णका हो जाता है। दोष के क्षीण होने से उसमें कभी-कभी दिखाई देने लगता है॥ ५०॥

परिम्लायिनो विशिष्टलिङ्गमाह—परिम्लायिनीत्यादि। अत्र गदाधरस्तु—**'रक्तजं मण्डलं दृष्ट्यां स्थूलकाचानलप्रभम्' इति पठित्वा एतदपि परिम्लायिलक्षणमाह, व्याचष्टे च—बाहुल्येन स्थूलकाचस्येव वर्णतोऽनलस्येव प्रभा यस्य तत्तथेति, अनलप्रभत्वेन पीतं मण्डलं भवति पीतं चेषन्नीलं बोद्धव्यं, 'म्लायि नीलं च मण्डलम्' इत्यभिधानात्, तथा 'पित्तान्मण्डलमानीलं कांस्याभं पीतमेव च' इत्युक्तम्, आनीलमीषन्नीलमित्यर्थः। म्लायीति म्लानमिति** कार्तिकः। **दोषक्षयादिति कर्मक्षयात्, सत्यपि दोषरूपत्वे दर्शनसद्भावात्। ननु, किं**

तर्हि दोषरूपं तादृशमेवावतिष्ठते उत क्षीणं वा ? तत्र न तावदाद्यः पक्षः, दोषाणां कृतकार्याणां तथात्वे दर्शनस्यासंगतत्वात्; अथ द्वितीयस्तदा दोषस्यैव क्षयादित्यापतितं किमिति कर्मक्षयादिति स्वीक्रियते ? नैवं, विना दोषप्रतीकारं दर्शनोदयाद्विकारस्वभावादिति कार्तिकः । अन्ये तु कालवशाद्वातादिदोषस्यैव क्षयात् कदाचिद्दर्शनं स्यादित्याहुः, यतः कालादिजमपि विशेषं क्वचिल्लक्षणत्वेन पठन्त्येव, दोषशब्देन च कर्मणोऽभिधानमप्रसिद्धं' किंवा दोषक्षये एव कदाचित् कर्मक्षयो हेतुरिष्यतां, कर्मणश्च कदाचित् क्षयो वैचित्र्यात् । अथात्रैव कुत एवम् ? उच्यते, अस्यैवंविधकर्मजन्यत्वादिति । गदाधरपाठे रक्तजमित्यत्र रक्तमित्युपलक्षणं, तेन रक्तपित्तजम् ॥ ७० ॥

विमर्श—गदाधर एवं डल्हण **अरुणं मण्डलम्** आदि श्लोकार्ध को इसी श्लोक के साथ मिला कर परिम्लायी के लक्षण का अंश मानते हैं और **अरुणं मण्डलम्** आदि के स्थान पर **'रक्तजं मण्डलं दृष्टौ स्थूलकाचानलप्रभम्'** पाठ स्वीकार करते हैं तथा मोटाई में स्थूल काच के समान और वर्ण में अनल (अग्नि) के समान पीत मंडल होता है, यह अर्थ करते हैं । इस प्रकार परिम्लायी में मंडल पीत और नील भेद से दो प्रकार का मानते हैं **'तत्र पीतं रसमूर्च्छितपित्तजनितं, नीलं पुनः रक्तमूर्च्छितपित्तजम्'** (डल्हण)

दोषक्षयात्—यहाँ दोषक्षय का अर्थ कर्मक्षय है क्योंकि दोष के रहते हुये भी कभी-कभी दिखाई देने लगता है । यहाँ सन्देह होता है कि इस अवस्था में दोष की क्या स्थिति रहती है ? वे पूर्वस्थिति (वृद्धि) में ही रहते हैं या क्षीण हो जाते हैं ? यदि दोष वृद्ध ही रहते हैं तो उनके कार्यकर (विकृति उत्पन्न कर) लेने पर उसी स्थिति में रहने पर दिखाई देना असङ्गत है । और यदि क्षीण हो जाते हैं तो स्पष्ट दोषक्षय होता है फिर कर्मक्षय मानने की क्या आवश्यकता है ? उत्तर है कि रोग स्वभाव से कभी-कभी दोषशामक उपचार के बिना ही दिखाई देने लगता है उस अवस्था में कारण स्वरूप कर्म (दैव) को मानना पड़ता है । कुछ लोग इसका कारण काल मानते हैं क्योंकि काल-प्रभाव से भी दोषों में क्षीणता आ जाती है । वस्तुतः यह रोग पूर्वकृत पाप के परिणाम स्वरूप ही प्रायः होता है और याप्य होता है अतः यदि इसमें कुछ कमी आ जाय तो उसे भाग्य ही समझना चाहिए । अत एव यहाँ प्राचीन टीकाकारों ने दोषक्षय का कारण कर्मक्षय माना है ।

प्राचीन टीकाकारों ने इसे काच के रागमात्र की दृष्टि से वर्णित रूप ही माना है अर्थात् वातादिजन्य पाँच भेदों का वर्णन **'रागोऽरुणः'** आदि श्लोक से किया गया है और परिम्लायी का विशिष्ट वर्णन अलग है ऐसा मानते हैं । किन्तु **'म्लायी च नीलश्च तथैव पित्तात्'** में ही पित्तज और रक्तपित्तज दोनों का वर्णन हो गया है अब उसके पुनः वर्णन की कोई आवश्यता नहीं प्रतीत होती । दूसरी बात यह है कि इसमें 'मण्डल' का वर्णन है । अगले श्लोकों में वातादिकृत मण्डलों का वर्णन है किन्तु परिम्लायी मण्डल का वर्णन नहीं है । अतः प्रतीत होता है कि विशिष्ट लक्षण और विशिष्ट प्रभाव (कभी-कभी दिखाई देना) के कारण सर्वप्रथम इस श्लोक से परिम्लायी मण्डल का और अगले श्लोकों में वातजादि पाँच मण्डलों का वर्णन किया है । पूर्वोक्त रागभेद से वर्णन तिमिर का है और यह वर्णन दृष्टिमण्डल दोष अर्थात् लिङ्गनाश का है । इसमें कभी-कभी दैवात् दोषक्षय होने पर दिखाई भी देने लगता है यह लक्षण भी इसी का समर्थन करता है क्योंकि दृष्टि का पूर्ण अवरोध लिङ्गनाश में ही होता है तिमिर में नहीं । (अगले श्लोक का विमर्श भी देखें)

सम्प्रति दोषानुसारं रञ्जितमण्डलस्य विशिष्टलक्षणमाह—

अरुणं मण्डलं वाताच्चञ्चलं परुषं तथा ॥ ५१ ॥

पित्तान्मण्डलमानीलं कांस्याभं पीतमेव च ।
श्लेष्मणा बहुलं पीतं शङ्खकुन्देन्दुपाण्डुरम् ॥ ५२ ॥
चलत्पद्मपलाशस्थः शुक्लो बिन्दुरिवाम्भसः ।
मृज्यमाने च नयने मण्डलं तद्विसर्पति ॥ ५३ ॥
प्रवालपद्मपत्राभं मण्डलं शोणितात्मकम् ।
दृष्टिरागो भवेच्चित्रो लिङ्गनाशे त्रिदोषजे ।
यथास्वं दोषलिङ्गानि सर्वेष्वेव भवन्ति हि ॥ ५४ ॥ (सु. उ. ७)

वायु के कारण दृष्टिमण्डल अरुणवर्ण का चञ्चल और स्पर्श में रूक्ष होता है। पित्त के कारण दृष्टिमण्डल कुछ नीले, काँसी के समान श्वेत-पीत या पीले वर्ण का होता है। श्लेष्मा के कारण मण्डल मोटा, पीला अथवा शंख, कुन्द पुष्प या चन्द्रमा के समान अथवा हिलते हुए कमलपत्र पर पड़ी हुई जल की बूँद के समान सफेद हो जाता है और आँख के मलने पर मण्डल इधर-उधर हट जाता है। रक्त के कारण मण्डल प्रवाल या लाल कमल के पत्तों के समान लाल होता है। त्रिदोषज लिङ्गनाश में दृष्टिमण्डल का रङ्ग चित्र (अनेक रङ्ग का) हो जाता है। इसमें दोषों की उल्वणता के अनुसार दोषजन्य अन्य लक्षण भी मिलते हैं ॥ ५१–५४ ॥

रागोऽरुणो मारुतज इत्यादिसूत्रं पूर्वोक्तं विवृणोति–अरुणं मण्डलं वातादित्यादि। पित्तान्मण्डलमानीलमिति आनीलमीषन्नीलं पीतमेव, तेन रक्तसंबन्धे सति कांस्याभम्। पीतमेव चेति रससंबन्धे पीतमेव, कांस्याभमापाण्डुपीतमित्यर्थः। केचिदत्र कफजे पठन्ति, 'संकुचत्यातपेऽत्यर्थं छायायां विस्तृतो भवेत्' इति। शोणितजे प्रवालेत्यादौ प्रवालं स्वनामख्यातं तदाभं, पद्मपत्राभं च रक्तपद्मपुष्पदलाभम्। त्रिदोषजे चित्र इत्यत्र यथास्वं वातादिवर्णविभेदेन चित्रत्वं बोद्धव्यं, यथास्वमित्यस्य वक्ष्यमाणस्यात्रापि संबन्धात्; तेनायमर्थः– यथायथं वातादीनां वर्णभेदेन चित्रवर्णो भवति, उद्देशोक्तवर्णचित्रत्वे साक्षादेतादृशविवरणाभाव इति विशेषः। यथास्वं दोषलिङ्गानीत्यस्याभिधानं न्यायसिद्धस्यैवार्थस्य द्योतनार्थम्। दोषलिङ्गानि वातादीनां क्रमेणारुणादिलिङ्गान्युक्तेषु ज्ञातव्यानि ॥ ५१–५४ ॥

विमर्श—मधुकोषकारने इन मण्डलों को भी **'रागोऽरुणः'** आदि श्लोक का विस्तृत विवरण मात्र माना है अतः उनके अनुसार यह सभी लक्षण तिमिर के ही प्रतीत होते हैं। किन्तु डल्हण ने **'रक्तजं (अरुणं) मण्डलं दृष्ट्यां'** से **'कदाचित् स्यात्तु दर्शनम्'** तक तिमिर का वर्णन और **'अरुणं मण्डलं वातात्'** आदि को लिङ्गनाश का लक्षण माना है। इनके अनुसार छठें परिम्लायी लिंगनाश का अन्तर्भाव पैत्तिक मण्डल के भीतर ही कर लिया गया है। **'अत्र किञ्चिद्दर्शनावस्थां प्राप्तः परिम्लाय्येव रोगः षष्ठो लिङ्गनाशः'**। तथा परिम्लायी मण्डल के लक्षणवाले श्लोक को तिमिर का लक्षण एवं उसकी व्याख्या में मण्डल को मण्डलाकृति निदर्शक माना है—**'अत्र तृतीयपटलस्थे रागे दोषव्याधि (प्ति) वशान्मण्डलाकारतैव, न तु रेखादिप्रकारत्वमिति नियमार्थं पुनर्मण्डलग्रहणम्'** (डल्हण)। किन्तु यह मत भ्रम-मूलक ही प्रतीत होता है क्योंकि परिम्लायी मंडल के लक्षण में **'कदाचित् स्यात्तु दर्शनम्'** से इसमें दृष्टिनाश का ही बोध होता है और दृष्टिनाश को लिङ्गनाश कहा है—**'रुणद्धि सर्वतो दृष्टिं लिङ्गनाशः स उच्यते।'** यह लिंगनाश चतुर्थ पटलगत दोष के कारण होता है। प्राचीन टीकाकारों ने चतुर्थ पटल से यहाँ बाह्य पटल का ग्रहण

किया है किन्तु प्रत्यक्षतः चतुर्थ अस्थिमय पटल (दृष्टिमणि) में विकार होने पर लिंगनाश होता है और उसके वर्णगत परिवर्तन दृष्टिमण्डल में भी दिखाई देते हैं अतः यहाँ मण्डल शब्द दृष्टिमण्डल का ही बोधक प्रतीत होता है, मण्डलाकृति का नहीं। प्रत्यक्षतः लिङ्गनाश (Cataract) में विकार रेखाकृति, मण्डलाकृति या विकीर्ण विन्दु सदृश आदि अनेक स्वरूप का होता है केवल मंडलाकार नहीं, यह अगले पृष्ठ में स्पष्ट हो जायगा।

वस्तुतः सर्वप्रथम **'वातेन चापि रूपाणि'** आदि द्वारा तिमिर के अल्पदोषकृत लक्षण जो केवल रोगी को अनुभूत होते हैं उनका और **'रागोऽरुणः'** आदि से बहुदोषकृत व्यक्त वर्ण तिमिर जो दूसरों को भी दिखाई दे सकता है उसका वर्णन है तथा **'रक्तजं मण्डलम्'** आदि से लिंगनाश का वर्णन है और यहाँ 'मण्डल' शब्द दृष्टिमण्डल का बोधक है।

दृष्टिगतरोगाणां संख्यामाह—

षड् लिङ्गनाशाः षडिमे च रोगा दृष्ट्याश्रयाः षट् च षडेव वाच्याः ।

(सु. उ. ७)

दृष्टि में उपर्युक्त छ प्रकार के लिङ्गनाश और छ प्रकार के आगे कहे जाने वाले पित्तविदग्ध दृष्टि आदि रोग पाये जाते हैं।

अतःपरमुक्तवक्ष्यमाणविकारयोः संख्याभिधानार्थमाह—षडित्यादि । षड्लिङ्गनाशा इत्युक्तानुवादोऽयम् । षडिमे च रोगा इति पित्तविदग्धदृष्ट्यादयो वक्ष्यमाणाः। ननु, उक्तानुवादो युक्तः, वक्ष्यमाणानां पुनः किमर्थं संख्योक्तिः ? नैवं पित्तकफविदग्धदृष्ट्यवस्थान्तराभ्यां दिवान्धराज्यन्धाभ्यां संख्याधिक्यनिरासार्थम्, अत एव षडेवेत्यवधारणं कृतं, षट् च षडेवेति मिलित्वा द्वादश, अमुं च ग्रन्थं केचिदत्र संग्रहे न पठन्त्येव ॥

विमर्श—आधुनिकदृष्ट्या तिमिर, काच और लिंगनाश ये तीनों दृष्टिगत विकार एक ही रोग (Cataract) की तीन अवस्थायें हैं। इन्हें क्रमशः अपक्व, अर्धपक्व तथा पक्व कह सकते हैं। साधारण बोल-चाल में इसे मोतियाबिन्द भी कहते हैं। यह रोग भारतवर्ष में बहुत अधिक पाया जाता है। मुख्य रूप से इसके दो भेद होते हैं—

(१) विकासात्मक (Developmental)

(२) अपजननात्मक (Degenerative)

विकासात्मक लिंगनाश—शोषण अथवा वंशपरम्परा की खराबी से यह लिंगनाश होता है। इसके भी दो भेद हैं—

(क) **पूर्ण लिंगनाश—**इसके अन्तर्गत सहज (Congenital) तथा युवावस्थागत (Juvenile) लिंगनाश का समावेश होता है।

(ख) **अपूर्ण लिंगनाश—**इसमें निम्न का समावेश है—

१—पश्चिमध्रुवस्थ (Posterior Polar)

२—पूर्वध्रुवस्थ (Anterior Polar)

३—चक्राकार (Lamellar or Zonular cataract)-यह बच्चों में अधिक पाया जाता है। इसका प्रभाव प्रायः दोनों आँखों पर होता है। इसके साथ बालशोथ (Ricket) के भी लक्षण पाये जाते हैं।

४—बिन्दुमय (Punctate) लिंगनाश-यह भी बाल्यावस्था में होता है।

---

१. 'अमुं ग्रन्थं केचित्संग्रहे पठन्ति' इति पा०।

अपजननात्मक (Degenerative)—यह प्रकार ही अधिक पाया जाता है अतः इसका वर्णन भी विस्तार से किया जायगा—

(१) जरालिङ्गनाश (Senile cataract)—यह सब से अधिक पाया जाता है। अधिकतर यह चालीस वर्ष की आयु के बाद होता है। कभी-कभी उससे पूर्व भी हो सकता है। इससे प्रायः दोनों आँखें आक्रान्त होती हैं किन्तु एक आँख में कुछ पहले होता है और दूसरी में कुछ बाद। इसके निम्न लक्षण होते हैं—

(क) **क्रमशः दृष्टिमान्द्य**—दोष की स्थिति और प्रकार पर इसकी न्यूनता या अधिकता निर्भर करती है। यदि दोष मध्य में या सर्वत्र फैला हुआ हो तो दृष्टिमान्द्य अधिक और किनारों पर होने से अल्प होता है।

(ख) **मिथ्यादर्शन**—आँख के सामने किसी विशेष रंग का स्थिर धब्बा दिखाई देता है।

(ग) **द्विधादर्शन** या **बहुदर्शन** (Diplopia or polyopia)—अनियमित वर्तन (Irregular refraction) के कारण ही द्विधा या बहुदर्शन होता है। सुश्रुत के अनुसार दोष के मध्य-स्थित होने पर द्विधादर्शन और मध्य में दो स्थान पर होने से बहुदर्शन होता है।

(घ) **निकट दृष्टि** (Myopia)—इस अवस्था में रोगी समीप की ही वस्तु को देखता है। जराजन्य लिङ्गनाश की चार अवस्थायें होती हैं—

(१) **प्रथम अवस्था** (Incipient stage)—अपारदर्शकता रेखाओं के रूप में प्रकट होती है। ये रेखायें प्रान्त (Periphary) की ओर चौड़ी और केन्द्र (Centre) की ओर पतली होती हैं।

(२) **सूजन की अवस्था** (Stage of swelling) या पच्यमानावस्था (Maturing stage)–इस अवस्था में दृष्टिमणि द्रव का शोषण कर सूज जाती है। तारामण्डल (Iris) के आगे की ओर दबने से अग्रिमा जल-धानी (Anterior chamber) की गहराई कम हो जाती है। अपारदर्शकता श्वेत चमकीले वर्ण की होती है।

(३) **पक्वावस्था** (Mature stage)—इस अवस्था में दृष्टिमणि (Lens) का द्रवांश शुष्कप्राय हो जाता है जिससे वह सिकुड़ कर पूर्ण अपारदर्शक हो जाती है। अग्रिमा जलधानी की गहराई पूर्ववत् हो जाती है। दृष्टिमणि सफेद या गोंद के समान कुछ पीले रंग की दिखाई देती है। नेत्र के समीप हाथ हिलाने से रोगी को ज्ञान होता है। यह मोतियाबिन्द की पक्वावस्था है। शस्त्रकर्म की दृष्टि से यह अवस्था उत्तम है क्योंकि इस समय इसे सरलता से निकाला जा सकता है। यह अवस्था श्लैष्मिक लिंगनाश के समान होती है। सुश्रुत ने भी इसी अवस्था में (श्लेष्मज लिंगनाश में ही) शस्त्रकर्म का निर्देश किया है।

(४) **अतिपक्वावस्था** (Hypermature stage)—पक्वावस्था में चिकित्सा न करने पर उसमें निरन्तर परिवर्तन होता चलता है। द्रवांश का अत्यधिक शोषण हो जाने से काच भी सूखकर सिकुड़ जाता है। अग्रिमा जलधानी (Anterior chamber) की गहराई कुछ बढ़ जाती है। काच का वर्ण पीला और मलिन हो जाता है। सिकुड़ने से दृष्टिमणि बन्धनमुक्त होकर गतिशील हो जाती है। ऊपर नीचे देखने से काच भी ऊपर नीचे चलता है। कभी काच कोमल होकर दुग्धवर्ण का द्रव रूप धारण कर लेता है। इसको दूधिया या मोर्गैग्नियन काच (Milky or morgagnian cataract) कहते हैं। द्रव में काच का बीज तैरता रहता है। इस अवस्था की चिकित्सा करना दुष्कर है। कभी-कभी द्रवांश का स्वयमेव शोषण हो जाता है और बीज तारा-

मण्डल के पीछे पड़ा रहता है। इस प्रकार कभी-कभी बिना चिकित्सा के ही रोगी की दर्शनशक्ति आ जाती है। सम्भवतः प्राचीनों ने इसी को परिम्लायी काच कहा है।

(२) **आघातज** (Traumatic) **लिंगनाश—** यह दृष्टिमणिकोष (Lens capsule) के भेदक व्रण (Perforating wound) अथवा बाह्याघात से नेत्रगोलक में क्षत होने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है। भेदन के कुछ घंटों के पश्चात् दृष्टिमणि (Lens) सान्द्र द्रव (Aqueous humonr) का शोषण करके फूल जाता है। वर्ण बादल के समान हो जाने पर कुछ दिन में इसमें पूर्ण अपारदर्शकता आजाती है। कभी-कभी यह स्वयमेव ठीक हो जाता है, किन्तु अधिकतर दृष्टिमणि का कुछ न कुछ भाग अवश्यमेव अपारदर्शक रह जाता है जिसके लिये शस्त्रकर्म करना पड़ता है। साधारणतया दृष्टिमणि का कुछ भाग ही अपारदर्शक होता है; क्योंकि दृष्टिमणि कोष का क्षतज छिद्र शीघ्र ही बन्द हो जाता है। कभी-कभी शोथ बढ़कर तारामण्डल शोथ (Iritis) तथा तारामण्डल और तन्तुमय समूह शोथ (Iridocyclitis) भी उत्पन्न कर देता है। दृष्टिमणि की सूजन कभी औपद्रविक अधिमन्थ (Secondary glaucoma) को भी उत्पन्न कर सकती है।

(३) **औपद्रविक** (Complicated) **लिंगनाश—**कतिपय व्याधियों के उपद्रवस्वरूप भी लिंगनाश (Cataract) की उत्पत्ति होती है। तारामण्डल और तन्तुमय समूह शोथ (Iridocyclitis), सव्रण शुक्ल (Corneal ulcer), अधिमन्थ (Glaucoma) इन नेत्र के रोगों तथा मधुमेह (Diabetes) जैसे रोगों के उपद्रव रूप में लिंगनाश की उत्पत्ति होती है।

पित्तविदग्धदृष्टिलक्षणं निरूपयति—

पित्तेन दुष्टेन सदा तु दृष्टिः पीता भवेद्यस्य नरस्य किञ्चित् ॥ ५५ ॥
पीतानि रूपाणि च तेन पश्येत् स वै नरः पित्तविदग्धदृष्टिः ।
प्राप्ते तृतीयं पटलं तु दोषे दिवा न पश्येन्निशि चेक्षते सः ॥ ५६ ॥
रात्रौ च शीतानुगृहीतदृष्टिः पित्ताल्पभावादपि तानि पश्येत् ।

(सु. उ. ७)

विकृत पित्त से जिस व्यक्ति की दृष्टि निरन्तर कुछ पीली हो जाती है वह सब पदार्थों को पीला देखता है और उसे पित्तविदग्ध दृष्टि कहते हैं। पित्त दोष का अवस्थान तृतीय पटल में होने पर रोगी दिन में नहीं देख सकता केवल रात्रि में ही देखता है। रात्रि में शीत के प्रभाव से पित्त कम हो जाता है जिससे वह रात्रि में देख सकता है ॥ ५५–५६ ॥

पित्तविदग्धदृष्टिलिङ्गमाह—पित्तेनेत्यादि । दृष्टिः पीता भवेदिति प्रथमद्वितीययोः पटलयोरिति गम्यते, यतः परतः 'प्राप्ते तृतीयं पटलम्'—इत्यभिधास्यति । ननु, यद्येवं कथं तिमिरादस्याः पार्थक्यम् ? उच्यते—तृतीयपटलप्राप्तिमन्तरेण वर्णासद्भावात् । एतच्च सति वर्णे पटलान्तरगतदोषलिङ्गभावात् प्रत्येतव्यम् । अस्मिन्नेव व्यवस्थाने तादृक्स्वरूपो दोषः कथमन्यविकारं करोतीति नाशङ्कनीयं, तज्जनककर्मणो भिन्नत्वेन सामग्रीभेदात् । अयं दिवान्धः, दिवा न पश्येदिति वचनात् । तानीति रूपाणि । दोषे पित्ते ॥ ५५–५६ ॥

विमर्श—प्रथम दो पटलों में पित्त की व्याप्ति होने से सभी चीजें पीली दिखाई देती हैं। इस अवस्था को झेन्थोप्सिया (Xanthopsia) कहते हैं। तृतीय पटलगत दोष से दिन में नहीं दिखाई देता। इस अवस्था को दिवान्धता (Day blindness) भी कह सकते हैं। पित्तप्रकोप

के कारण तीक्ष्ण प्रकाश में दृष्टि की शक्ति मन्द पड़ जाती है किन्तु धूमिल प्रकाश में वह देखने में समर्थ होती है।

दिवान्धता निम्न आधुनिक रोगों में पाई जा सकती है—

(१) दृष्टिमणि तथा कृष्णमण्डल की केन्द्रीय अपारदर्शकता (Central opacity of the lens and cornea) अथवा दृष्टिक्षेत्र का केन्द्रीय संक्षोभ (Central scotoma)। इस स्थिति में स्वच्छ प्रकाश में अच्छा दिखाई नहीं देता। प्रकाश में तारका संकुचित रहती है किन्तु अल्प प्रकाश में विस्तृत हो जाती है और तव प्रान्तस्थ भाग की किरणें रूपदर्शन में सहायक होती हैं।

(२) वर्णविन्दुसह नेत्रदर्पण प्रदाह (Retintis pigmentosa)

(३) तमालादि विषज दृष्टिमान्द्य (Tobacco amblyopia)

श्लेष्मविदग्धदृष्टिं व्याचष्टे—

तथा नरः श्लेष्मविदग्धदृष्टिस्तान्येव शुक्लानि तु मन्यते सः ॥ ५७ ॥
त्रिषु स्थितोऽल्पः पटलेषु दोषो नक्तान्ध्यमापादयति प्रसह्य।
दिवा स सूर्यानुगृहीतदृष्टिः पश्येत्तु रूपाणि कफाल्पभावात् ॥ ५८ ॥
(सु. उ. ७)

श्लेष्मा से दूषित दृष्टि वाला व्यक्ति सब रूपों को सफेद ही देखता है। जब दोष तीनों पटलों में स्थित हो जाता है तो रात्र्यन्धता उत्पन्न हो जाती है। दिन में कफ की कमी से और सूर्य के प्रभाव से उसे ठीक दिखाई पड़ता है ॥ ५७–५८ ॥

श्लेष्मविदग्धदृष्टिलिङ्गमाह—तथा नरः श्लेष्मविदग्धदृष्टिरित्यादि। एतां च प्रथमद्वितीयपटलाश्रितः श्लेष्मा जनयति; परतः 'त्रिषु' इत्युक्तेः। तानीति रूपाणि। त्रिषु स्थितोऽल्प इत्यनेन दिवादर्शनं प्रत्यानुकूल्यं ख्याप्यते, यदि ह्यनल्पदोषः स्यात्तदा दिवाऽपि दर्शनं न भवेदेव। दोषोऽत्र कफः, तस्यैव प्रक्रान्तत्वात्, अयं नक्तान्धः ५७–५८ ॥

विमर्श—इसे रात्र्यन्धता (Night blindness) कहते हैं। यह एक लक्षण है, जो अपजनन (Degeneration) युक्त दृष्टिवितान (Retina) के विविध रोगों में मिलता है। इसके अतिरिक्त जीवतिक्ति ए० बी० और डी० की कमी तथा रक्ताल्पता (Anaemia) भी इसके प्रधान कारण हैं।

दृष्टिवितान के अपजनन कारक चार रोग हैं—

(१) वर्णबिन्दुसह दृष्टिवितानशोथ (Retinitis pigmentosa)

(२) श्वेतबिन्दुसह दृष्टिवितानशोथ (Retinitis punctate albescens)

(३) अन्धतासह पारिवारिक मूढता (Amauratic family idiocy)

(४) मध्यस्थ दृष्टिवितान की अपक्रान्ति (Retinal degeneration)

नक्तान्ध्य एक पारिवारिक रोग है जो परिवार के अनेक व्यक्तियों में पाया जाता है। इस रोग का प्रारम्भ बाल्यावस्था से ही हो जाता है। आयु वृद्धि के साथ साथ दृष्टिमान्द्य भी बढ़ता जाता है। रोगी अन्धकार में नहीं देख पाता।

धूमदर्शिनो लक्षणमाह—

शोकज्वरायासशिरोभितापैरभ्याहता यस्य नरस्य दृष्टिः। (सु. उ. ७)
धूम्रांस्तथा पश्यति सर्वभावान् स धूमदर्शीति नरः प्रदिष्टः ॥ ५९ ॥

शोक, ज्वर, अधिक परिश्रम तथा शिरःशूल जैसे कारणों से जिस व्यक्ति की दृष्टि आक्रान्त हो जाती है वह सब वस्तुओं को धूमसे आवृत हुआ देखता है। ऐसे रोगी को धूमदर्शी कहते हैं ॥५९॥

धूम[१] (म्र) दर्शिनो लिङ्गमाह—शोकज्वरायासेत्यादि। शोकादिभिः कारणैः कुपितेन पित्तेनाभ्याहता उपहता दृष्टिरिति प्रत्येतव्यम्, अस्य सुश्रुते **रोगसंग्रहे पैत्तिकगणेऽभिधानात्। अयं च रोगो बाह्यपटलस्थेन दोषेण जन्यत इति** गदाधरः, **तृतीयपटलाश्रितदोषेणेति** कार्तिकः। **दिवा धूम्रान् पश्यति, न तु नक्तं; तदा पित्तस्य क्षीणत्वादिति व्याख्यानयन्ति ॥ ५९ ॥**

विमर्श—इसमें भी उत्पादक दोष पित्त होता है। इसलिये दिन में ही धूम्र वर्ण दिखाई पड़ता है रात्रि में नहीं; क्योंकि उस समय पित्त क्षीण हो जाता है। यह भी एक लक्षण ही है जो अधिमन्थ (Glaucoma) आदि में मिल सकता है।

ह्रस्वजाड्यं प्राह—

यो ह्रस्वजाड्यो दिवसेषु कृच्छ्राद्ध्रस्वानि रूपाणि च तेन पश्येत्।

जिस विकार में रोगी दिन में कठिनाई से देख पाता है और जिसमें बड़ी वस्तु को छोटा देखता है उसे ह्रस्वजाड्य कहते हैं।

ह्रस्वजाड्यलक्षणमाह—यो ह्रस्वजाड्य इत्यादि। तेन ह्रस्वजाड्येन ह्रस्वानि रूपाणि दिवा यः पश्येत् स ह्रस्वजाड्य इति योजना। अत्र दोषो दृष्टिमध्यगतः। यदुक्तं—'दृष्टिमध्यगते दोषे महद्ध्रस्वं च पश्यति' इति। अयं पैत्तिकः॥

विमर्श—यह भी नक्तान्ध्य (Night blindness) का ही एक प्रकार है; क्योंकि आचार्य विदेह ने कहा है—

'नक्तमन्धास्तु चत्वारो ये पुरस्तात् प्रकीर्तिताः। तेषामसाध्यो नकुलो ह्रस्वजाड्यस्तथैव च॥

अर्थात् चार प्रकार के नक्तान्धों में नकुल और ह्रस्वजाड्य असाध्य होते हैं। इसमें दोष दृष्टि के मध्य में (चतुर्थपटल में) स्थित रहता है—**'दृष्टिमध्यगते दोषे महद्ध्रस्वं च पश्यति'।**

नकुलान्ध्यं प्राह—

विद्योतते यस्य नरस्य दृष्टिर्दोषाभिपन्ना नकुलस्य यद्वत् ॥ ६० ॥
चित्राणि रूपाणि दिवा स पश्येत् स वै विकारो नकुलान्ध्यसंज्ञः।

तीनों दोषों से व्याप्त जिस रोगी की दृष्टि नकुल के समान चमकती है और जो दिन में विचित्र रूपों को देखता है उस विकार को नकुलान्ध्य कहते हैं ॥ ६० ॥

नकुलान्ध्यसंज्ञमाह—विद्योतते यस्येत्यादि। नकुलस्य यद्वद्यथा दृष्टिर्विद्योतते वर्णेन प्रतिभासते तथाऽस्येत्यर्थः। अतः सर्वदृष्टिमण्डलगतो रागः सर्वदोषवर्णश्च, दोषाभिपन्नेत्यत्र दोषशब्दस्याविशेषित्वादभिशब्दस्याभिव्याप्त्यर्थस्य प्रयोगात्। एतौ ह्रस्वजाड्यनकुलान्ध्यौ चतुःपटलस्थितदोषजन्यौ सरागौ च साध्यौ। तथा च विदेहः—**'नक्तमन्धास्तु चत्वारो ये पुरस्तात् प्रकीर्तिताः। तेषामसाध्यो नकुलो ह्रस्वजाड्यस्तथैव च॥ विशेषेण भवेयातां द्वौ चतुःपटलाश्रितौ। तौ च संप्राप्तरागत्वादसाध्यौ परिकीर्तितौ॥' इति। एतौ च राज्यन्धौ, प्रत्येतव्यौ दिवा ह्रस्वचित्ररूपदर्शनाभिधानेन रात्रावदर्शनप्रतीतेः।** विदेहेन **तु नक्तान्धत्रित्वेपि चत्वार इत्युक्तं, नक्तान्धबाहुल्येन दिवान्धेऽपि तत्प्रयोगात्, छत्रिणो गच्छन्तीतिवत्॥**

विमर्श—यह भी नक्तान्ध्य (Night blindness) का ही एक भेद है। यह त्रिदोषज होता है और इसमें दोष चारों पटलों में व्याप्त होते हैं रागयुक्त होने पर यह असाध्य होता है।

१. शोकादिविदग्धदृष्टिलिङ्गमाह इति क.।

अर्वाचीनदृष्ट्या पूर्वोक्त पाँचों ही दृष्टिमान्द्य (Amblyopia) के भेद हैं।

गम्भीरिकालक्षणमाह—

दृष्टिर्विरूपा श्वसनोपसृष्टा संकोचमभ्यन्तरतस्तु याति ॥ ६१ ॥
रुजावगाढा च तमक्षिरोगं गम्भीरिकेति प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ।

वायु से उपसृष्ट दृष्टि विरूप और संकुचित होकर अन्दर प्रविष्ट हो जाती है। इसमें नेत्र में तीव्र पीड़ा होती है। इस रोग को विद्वान् गम्भीरिका कहते हैं ॥ ६१ ॥

गम्भीरिकालक्षणमाह—दृष्टिरित्यादि। विरूपा विकृता। श्वसनोपसृष्टा वातोपगता, संकोचमभ्यन्तरतस्तु यातीति अन्तःसंकोचमेति निमज्जतीत्यर्थः, 'संकुच्यतेऽभ्यन्तरतश्च याति' इति पाठान्तरेऽप्ययमेवार्थः, इयमविशेषोक्तिः। सकलपटलगतवातजन्या असाध्या, सुश्रुते **गम्भीरिका तथेति निर्देशात् ॥ ६१ ॥**

विमर्श—नेत्रप्रचेष्टिनी पेशियों के संकोच अथवा स्तम्भ के कारण या इनकी संचालक तृतीय चतुर्थ और छठी नाड़ियों का घात होने से यह अवस्था उत्पन्न होती है। अतः इसे तृतीय, चतुर्थ और छठी शीर्षण्य नाड़ी का घात (Paralysis of III, IV & VI cranial nerves) कह सकते हैं। कुछ विद्वान् इसे आँखों का बैठ जाना (Collapse) मानते हैं जिसे आजकल थाइसिस बल्बाई (Phthisis Bulbi) कहते हैं। (हताधिमन्थ, श्लोक १५ का विमर्श और टिप्पणी देखिए)।

आगन्तुजं लिङ्गनाशं लक्षयति—

बाह्यौ पुनर्द्वाविह संप्रदिष्टौ निमित्ततश्चाप्यनिमित्ततश्च ॥ ६२ ॥
निमित्ततस्तत्र शिरोऽभितापाज्ज्ञेयस्त्वभिष्यन्दनिदर्शनः सः ।
सुरर्षिगन्धर्वमहोरगाणां संदर्शनेनापि च भास्करस्य ॥ ६३ ॥
हन्येत दृष्टिर्मनुजस्य यस्य स लिङ्गनाशस्त्वनिमित्तसंज्ञः ।
तत्राक्षि विस्पष्टमिवावभाति वैडूर्यवर्णा विमला च दृष्टिः ॥ ६४ ॥

निमित्तज और अनिमित्तज भेद से आगन्तुज लिंगनाश दो प्रकार के होते हैं। (विष तथा पुष्पादि की गन्ध और तीव्र वायु से होने वाले) शिरःशूल के कारण जो लिंगनाश होता है उसे सनिमित्त कहते हैं। इसमें अभिष्यन्द के समान लक्षण पाये जाते हैं। देवता, गन्धर्व, ऋषि तथा महासर्प आदि और सूर्य जैसी चमकदार वस्तुओं के देखने से मनुष्य की दृष्टि नष्ट हो जाती है। इस लिंगनाश को अनिमित्तज समझना चाहिये। इसमें नेत्र बिलकुल अविकृत रहता है और दृष्टि भी वैडूर्य के वर्ण की और निर्मल होती है ॥ ६२–६४ ॥

तदेवं शारीरान् द्वादश दृष्टिगतविकारानभिधाय सनिमित्तानिमित्तभेदादागन्तू बाह्यजौ नयनविकारौ (लिङ्गनाशौ) दर्शयन्नाह—बाह्यौ पुनर्द्वाविहेत्यादि। संप्रदिष्टौ कथितावौपद्रविकाध्याये 'तथा बाह्यौ पुनर्द्वौ' (सु. उ. १) **इत्यादिना। बहिर्भवौ बाह्यौ, आगन्तू इत्यर्थः। तत्र सनिमित्तं दर्शयन्नाह—निमित्ततस्तत्रेत्यादि। शिरोऽभितापादिति शिरो ऽभि सर्वतस्तप्यते येन विषकुसुमगन्धवाहिपवनस्पर्शादिना स शिरोऽभितापस्तस्मात्, तेन[1] समस्तसिरस उपतापान्नयनगतरुधिराधिककोपो दृष्टेरपि शक्तेर्व्याघातः। अभिष्यन्दनिदर्शन इति रक्ताभिष्यन्दलिङ्ग इति** गदाधरः, सुश्रुते **रोगसंग्रहे सर्वजगणे द्वयोरप्येतयोः पाठात्;**

१. 'तेनं शिरोगतरक्तकोपाद्दृष्टिव्याघातः' इति क.।

सन्निपातजाभिष्यन्दलक्षण इति कार्तिकः । अनिमित्तमाह–सुरर्षिगन्धर्वेत्यादि । अनुपलभ्यमानविशिष्टसुरादिदर्शननिमित्तमाहुः । संदर्शनेन सम्यग्दर्शनेन, हन्येत हन्तुं संभाव्येत, न त्ववश्यं हन्येतेत्यभिप्रायः । (दृष्टिरिति दर्शनमुपलब्धिरित्यर्थः, न तु दृष्टिमण्डलम्, अस्या दृष्टिगतविकारत्वात्[1] । लिङ्गनाशप्रयोगश्चात्र रूपग्रहणाभावसामान्यान्न तु रूढ्या, तस्य चतुर्थपटलस्थतिमिरएव रूढत्वात् ।) तच्चेदं[2] दर्शनं किमभिष्यन्दवत् सकलगोलकोपघातकं तिमिरत्वाद् दृष्टिमात्रोपघातकं वेति ·शङ्कानिरासार्थमाह—तत्राक्षीत्यादि·। विस्पष्टमिवेति पूर्वावस्थातो विशेषेण प्रसन्नमिव गोलकावच्छिन्नं चक्षुरवभासते। दृष्टिरपि वैडूर्यवर्णा श्यावा दृष्टिः प्रकृतिवर्णेत्यर्थः विमलेति विगतकाचादिमला । अयं तात्पर्यार्थः-पूर्वावस्थातः शक्तिमात्रमुपहन्यते, यतो देवादयो[3] ह्यवयवमदूषयन्त एव शक्तिमात्रमुपघ्नन्ति । यदुक्तं चरके— 'देवादयोऽष्टौ हि महानुभावा न दूषयन्तः पुरुषस्य देहम् । विशन्त्यदृश्यास्तरसा यथैव छायातपौ दर्पणसूर्यकान्तौ ॥' (च. चि. ९) इति । (एतौ च बाह्यजौ दृष्ट्याधानविरूपणीयतया दृष्टिगतावेव, अत एव तदधिकारनिर्दिष्टौ, शारीराभिप्रायेण द्वादशविधत्वमुक्तं, तेन न संख्यातिरेकः[4],) द्वावप्येतावसाध्यौ ॥ ६२–६४ ॥

विमर्श—इन दोनों ही में नेत्रगोलक में कोई विकृति नहीं दिखाई देती अतः इसे बाह्यज कहा है । शिरोऽभिघात आदि कारणों से दृष्टिनाडी, एवं नेत्रप्रचेष्टनी नाडियों में विकृति आ जाती है जिससे रूप ग्रहण में बाधा या अन्धता भी उत्पन्न होती है । नेत्रगोलक में विकृति न होते हुए भी कुछ वैषम्य अवश्य होता है किन्तु अनिमित्तज लिंगनाश में बाहर से देखने पर कोई भी विकार नहीं दिखाई देता, फिर भी रोगी कुछ नहीं देख पाता । इस अवस्था को असाध्य माना है । वाग्भट इसे औपसर्गिक लिंगनाश कहते हैं । आधुनिकदृष्ट्या यह सूक्ष्मदृष्टि (चक्षुरिन्द्रिय = Macula) या दृष्टिनाडी (Optic nerve) एवं दृष्टिकेन्द्र (Center of vision) के विकारों से होता है । विस्तृत वर्णन अर्वाचीन शालाक्यतन्त्र के ग्रन्थों में देखना चाहिए ।

प्रस्तार्यर्म व्याचष्टे—

प्रस्तार्यर्म तनु स्तीर्णं[6] श्यावं रक्तनिभं सिते ।

नेत्र के शुक्लभाग में पतले (चिपटे) फैले हुए (चौड़े) श्याव या रक्तवर्ण के (मांससंचय) को प्रस्तार्यर्म कहते हैं ।

अथ मण्डलगतनिदानाभिधानपारिशेष्याद् दृष्टिगतानन्तरं[5] शुक्लमण्डलवर्त्मपक्ष्ममण्डलगतानां निदानाभिधानावसरप्राप्तौ वर्त्मादिमण्डलप्रतियोगितया शुक्लमण्डलस्यान्तर्गतत्वात् सौकुमार्येणानन्तरं कृत्वा च निदानोद्देशारम्भः । तन्त्र प्रस्तारिशब्दाभिधानस्यार्मणो लक्षणमाह—प्रस्तारीत्यादि । प्रस्तारीति लक्ष्यं, शेषं लक्षणम् । तनु अबहलम् । स्तीर्णं विततम् (श्यावमीषन्नीलम्[6] । रक्तनिभं रक्तवर्णम् । अत्र श्यावरक्तयोर्विरोधात् समुच्चयाभावेन विकल्पः । अत एवाह निमिः—समन्ताद्विसृतः श्यावो रक्तो वा मांससंचयः । सन्निपातेन दोषाणां प्रस्तार्यर्म तदुच्यते' इति । गदाधरेणेषन्नीललोहितवर्णसमुच्चय एव दर्शितः । सिते शुक्लभागे) ॥

१. अयं पाठः क. पुस्तके नोपलभ्यते । २. 'नयनोपघातव्यतिरेकेण दृष्टिमात्रस्य हननं दर्शयन्नाह–' इति क. । ३. 'देवादयोऽष्टौ हि शरीरोपघातव्यतिरेकेण शक्तिमात्रमुपघ्नन्ति' क. । ४. अयं पाठः क. पुस्तके नोपलभ्यते । ५. 'दृष्टिजानन्तरमदूरत्वेन शुक्लजानाह–' इति क. । ६. 'प्रस्तारीति अन्वयिकनामद्योतनार्थमुक्तम् । श्यावं रक्तनिभमिति ईषन्नीललोहितं, वाशब्दोऽत्र वा द्रष्टव्यः, तेन श्यावं रक्तं वेत्यर्थः । सिते शुक्ले, अर्थान्नयनस्येति पूरणीयम् । त्रिदोषजमिदम्' क. ॥

विमर्श—शुक्लगत रोग—सुश्रुत ने शुक्लभाग (Sclera and conjunctiva) में ग्यारह रोगों का वर्णन किया है—**'एकादशाक्ष्णोः खलु शुक्लभागे ।'** इनमें पाँच प्रकार के अर्म, शुक्तिका, अर्जुन, पिष्टक, शिराजाल, सिराज-पिडका तथा बलासग्रथित का समावेश होता है। अब आगे प्रत्येक का वर्णन किया जायगा। अर्म को आजकल टेरिजियम (Pterygium) कहते हैं।

विदेहवचनानुसार यह एक पतली मांस की पट्टी है और यह त्रिदोषज होती है। **समन्ताद्विसृतः श्यावो रक्तो वा मांससंचयः। संनिपातेन दोषाणां प्रस्तार्यर्म तदुच्यते ॥**

यह टेरिजियम की प्रारम्भिक अवस्था है। इस समय वहाँ रक्तसंवहन प्रचुर मात्रा में होने से रक्तवर्ण रहता है। जीर्ण होने पर यही श्याववर्ण हो जाता है।

शुक्लार्मलक्षणमाह—

सश्वेतं मृदु शुक्लार्म शुक्ले तद्वर्धते चिरात् ॥ ६५ ॥

शुक्ल भाग में होने वाले सफेद और कोमल (मांसपट्टिका) को शुक्लार्म कहते हैं। यह (कफज होने से) बहुत दिनों में बढ़ता है ॥ ६५ ॥

शुक्लार्मलक्षणमाह—सश्वेतमित्यादि। सश्वेतं किंचिच्छ्वेतम्। मृदु कोमलम्। परतो वक्ष्यमाणं मांसमिति पदं सिंहावलोकनन्यायेन संबन्धनीयम्। सशब्दस्याधिकस्योपादानं सम्यक् श्वेतत्वप्रतिपादनार्थमिति कार्तिकः। शुक्ले शुक्लमण्डले। चिरात् चिरकालेन तद्वर्धते, कफजत्वात् ॥ ६५ ॥

विमर्श—अर्म (Pterygium) में ही आगे चलकर सौत्रिक तन्तुओं के संचय से श्वेत वर्ण आ जाता है। इसका मध्यभाग शुक्लभाग (Sclera) से दृढ़ता के साथ चिपका रहता है किन्तु नीचे और ऊपर के किनारों पर नेत्रश्लेष्मावरणकला (Conjunctiva) के झोल (Fold) दिखाई पड़ते हैं। यह धीरे-धीरे कृष्णभाग के केन्द्र की ओर बढ़ता है और कुछ दिन बाद उसे पूर्णतया आवृत करके अन्धता उत्पन्न कर देता है। अर्म का आकार त्रिकोण के समान होता है। यह प्रायः एक ही आँख में होता है।

रक्तार्मलक्षणमाह—

पद्माभं मृदु रक्तार्म यन्मांसं चीयते सिते ।

शुक्लभाग में लाल कमल के वर्ण की और कोमल मांस की जो पट्टी बनती है उसे रक्तार्म कहते हैं।

रक्तार्मलक्षणमाह—पद्माभमित्यादि । पद्माभमरुणपद्मपत्रनिभम्। मृदु कोमलं, सिते शुक्लमण्डले। चीयते वृद्धिमुपैति, एतद्रक्तजम् ॥

विमर्श—प्रस्तार्यर्म में भी लाल वर्ण पाया जाता है। किन्तु वह धीरे-धीरे बढ़ता है और यह कुछ जल्दी बढ़ता है।

अधिमांसार्म व्याचष्टे—

पृथु मृद्वधिमांसार्म बहलं च यकृन्निभम् ॥

अधिमांसार्म यकृत् के वर्ण का मोटा कोमल और विस्तृत होता है।

अधिमांसार्मलक्षणमाह—पृथ्वित्यादि। पृथु विततं, विस्तीर्णमित्यर्थः। बहलं स्थूलम्। लोहितत्वेन यकृन्निभं, श्यामवर्णसंबन्धोऽप्यत्र ज्ञेयः, यथाऽऽह सुश्रुतः—'विस्तीर्णं मृदु बहलं यकृत्प्रकाशं श्यावं वा तदधिकमांसजार्म विद्यात्।' इति। अत्र श्यावं वेति वाशब्दः समुच्चये, तेन श्यावं लोहितं चेत्यर्थः। एतच्च त्रिदोषजं, सुश्रुते त्रिदोषजप्रकरणे पठितत्वात्॥

विमर्श—यह त्रिदोषज है। सुश्रुत ने भी इसे त्रिदोषज रोगों में गिना है। आधुनिकदृष्ट्या इसे मिथ्यार्म (Pseudo-pterygium) कह सकते हैं। यह शुक्लमण्डल से संसक्त नहीं होता और एक शलाका द्वारा आसानी से पृथक् किया जा सकता है। वस्तुतः यह कृष्णमण्डल (Cornea) में उत्पन्न व्रणसंसक्त नेत्रश्लेष्मावरण के कुञ्चित स्तर (झुर्री = Fold) के कारण उत्पन्न होता है।

स्नाय्वर्मलक्षणमाह—

स्थिरं प्रस्तारि मांसाढ्यं शुष्कं स्नाय्वर्म पञ्चमम् ॥ ६६ ॥

स्थिर अधिक फैलने वाले, अधिक मांसयुक्त शुष्क अर्म को स्नाय्वर्म कहते हैं। यह पाँचवाँ अर्म है॥ ६६॥

स्नाय्वर्मलक्षणमाह—स्थिरमित्यादि। स्थिरं कठिनम्। मांसाढ्यं बहुमांसम्। शुष्कमस्राविं। इदं च प्रस्तार्यर्मोद्भवम्। तथा च निमि—'प्रस्तारिणोऽर्मणः स्रावं निरुणद्धि यदाऽनिलः। विना स्रावं विशुष्कं तत्स्नाय्वर्मेति प्रकीर्तितम्॥' इति। इदं तु सन्निपातजमपि साध्यम्॥ ६६॥

विमर्श—यह भी पूर्वोक्त प्रस्तार्यर्म का ही एक प्रकार है। अतिजीर्ण और अतिवृद्ध होने पर सौत्रिकतन्तुमय, शुष्क, कठिन और विस्तृत हो जाता है।

शुक्तिकां लक्षयति—

श्यावाः स्युः पिशितनिभाश्च बिन्दवो ये
शुक्त्याभाः सितनियताः स शुक्तिसंज्ञः।

शुक्लभाग में श्याववर्ण के मांससदृश, जलशुक्ति (सीपी) के समान जो विन्दु होते हैं उन्हें शुक्ति कहते हैं।

शुक्तिकालक्षणमाह—श्यावा इत्यादि। श्यावाः पाण्डुश्यामाः, पिशितनिभा[1] इति नियमेन भणिताः, ([2]तेन पिशितस्येव नियमेन भा दीप्तिर्येषां ते तथा, सा च प्रभा श्यावेति समभिव्याहारेण श्याववर्णैव; नत्वत्र मांसस्योपमानत्वं पिशितनिभशब्दोऽभिधत्ते वक्ष्यमाणार्जुने रुधिरोपमशब्दवत्, मांसात्मकत्वादेव शुक्तिकायाः।) सितनियता[3] इति सिते शुक्लमण्डले नियताः; शुक्त्याभा जलशुक्तिनिभाः, वर्णसाम्यात्; अत एव शुक्तिसंज्ञः, अयं पित्तजः। अत्र वाग्भटः, 'पित्तं कुर्यात् सिते बिन्दूनसितश्यावपीतकान्। मलाक्तादर्शतुल्यं वा सर्वं शुक्लं सदाहरुक्॥ रोगोऽयं शुक्तिकासंज्ञः सशकृद्भेदतृड्ज्वरः' (वा. उ. १) इति॥

विमर्श—इस रोग में मांस के समान वर्णमात्र होता है। वस्तुतः यह मांस ही नहीं होता इसीलिए **'पिशितनिभाः'** यह कहा है। यह एक पित्तज विकार है जैसा कि वाग्भट के वचन से स्पष्ट है—**'पित्तं कुर्यात् सिते'** आदि अर्थात् जब पित्त शुक्लभाग में काले, सांवले या पीत वर्ण के विन्दुओं को उत्पन्न कर देता है तो सारा श्वेतमण्डल धुंधले शीशे के समान और जलन तथा पीड़ा से युक्त हो जाता है। इसमें मलभेद, तृष्णा और ज्वर भी रहते हैं और इसे शुक्ति रोग कहते हैं।

आजकल इसे झीरोसिस (Xerosis) कहते हैं। इस अवस्था में नेत्रश्लेष्मावरण शुष्क और निस्तेज हो जाता है। नेत्रश्लेष्मावरण मलिन होकर अपारदर्शक हो जाता है। साधारणतया अश्रुप्रवाह से नेत्र गीला रहता है किन्तु इस विकार में नेत्र शुष्क रहता है। अधिमन्थ (Glau-

१. 'पिशितनिभा इति मांसपिण्डतुल्याः' इति क.। २. ( ) एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः क-पुस्तके नोपलभ्यते। ३. 'सितनियताः' इत्यत्रेदृशपाठाभिप्रायेण।

coma) और रोहे (Trachoma) के उपद्रवस्वरूप इस रोग की उत्पत्ति होती है। उत्तान (Superficial) और गम्भीर (Deep) इसके दो भेद हैं। इस अवस्था में नेत्र से कुछ गाढ़ा और पिच्छिल स्राव निकलता रहता है।

अर्जुनं लक्षयति—

एको यः शशरुधिरोपमश्च बिन्दुः
शुक्लस्थो भवति तमर्जुनं वदन्ति ॥ ६७ ॥ (सु. उ. ४)

शुक्लभाग में खरगोश के रक्त के वर्ण का जो केवल एक बिन्दु होता है उसे अर्जुन कहते हैं ॥

अर्जुनलक्षणमाह—एक इत्यादि। एक एव सन् यः शशरुधिरवल्लोहितो बिन्दुरूपश्च विकारस्तमर्जुनं वदन्तीत्यर्थः। उक्तं च कल्याणविनिश्चये-'शक्रगोपनिभं शुक्लेऽर्जुनं रक्तप्रकोपतः' इति। एतेन बिन्दुरूपत्वे नियमो नास्तीति ज्ञेयम्। अत एव रविगुप्ते-'कृष्णभागे सितं बिन्दुं शुक्लं विद्यात्कफात्मकम्। रक्तं च शुक्लभागस्थमर्जुनं शोणितोद्भवम् ॥' इति ॥

विमर्श—कल्याणविनिश्चय नामक ग्रंथ में इसे 'शक्रगोपनिभम्' अर्थात् वर्षाकाल में दिखाई देने वाले वीरवहूटी नामक लाल कीड़े के समान कहा गया है अतः एक छोटे बिन्दु के समान ही हो ऐसा कोई नियम नहीं है। इसी आधार पर कुछ विद्वान् इसे आधुनिक ग्रन्थों में वर्णित कोणीय नेत्रश्लेष्मावरणशोथ (Angular conjunctivitis) या उपश्लेष्मावरण रक्तस्राव (Subconjunctival heamorrhage) कहते हैं। किन्तु रविगुप्त के अनुसार यह कृष्णभाग में होने पर श्वेतवर्ण का होता है और उसे 'शुक्ल' कहते हैं तथा शुक्लभाग में होने पर रक्तवर्ण का होता है और 'अर्जुन' कहते हैं। अतः इसे अर्वाचीन फ्लिक्टिन्यूलर कञ्जङ्क्टिवाइटिस (Phlectenular conjunctivitis) मानना उचित प्रतीत होता है। यह श्वेतमण्डल, कृष्णमण्डल और अधिकतर दोनों की संधि (Limbus) पर होता है। सन्धिगत का वर्णन प्राचीनों ने पर्वणी नाम से किया है। कभी कभी एक साथ तीनों स्थानों पर या एक ही स्थान पर अनेक पिडिकायें एक साथ होती हैं तो उसे 'अलजी' कहते हैं। प्राचीनदृष्ट्या इनमें दोष भेद भी होता है। अर्जुन रक्तज है किन्तु पर्वणी रक्त कफ और वातकृत होती है। अलजी में तीनों दोष और रक्त भी उत्पादक बताया गया है। (श्लोक ७४ का विमर्श भी देखें।)

आजकल इसे फ्लिक्टीन्यूलर कञ्जङ्क्टिवाइटिस (Phlyetenular conjunctivitis) कहते हैं। यह रोग जीवतिक्ति (Vitamin) ए० और डी० की कमी से होता है। प्रायः कृष्णमण्डल परिधि में नेत्रश्लेष्मावरण में एक छोटी सी लाल पिडका उत्पन्न हो जाती है। नीचे की ओर यह चौड़ी और ऊपर नुकीली होती है। एक दो दिन में उसका शिखर भाग घिस जाता है और श्वेत तथा कृष्णमण्डल की सन्धि (Limbus) पर एक क्षत बन जाता है। उसके चारों ओर की रक्तवाहिनियों में रक्ताधिक्य (Hyperaemia) हो जाता है। साधारणतया क्षत एक ही होता है, किन्तु कभी-कभी अनेक भी हो सकते हैं। कुछ दिन से लेकर दो सप्ताह के अन्दर यह रोग स्वयमेव शान्त हो जाता है। इसके बाद नेत्रश्लेष्मावरणकला में कोई चिह्न नहीं रहता।

जैसा कि पहले ही बताया गया है—कुछ विद्वान् इस रोग की समता सबकञ्जंक्टाइवल एकीमोसिस (Subconjunctival echymosis) नामक रोग से भी करते हैं। इसमें भी नेत्रगोलक के श्वेत भाग में छोटा सा चिह्न पड़ जाता है। प्रारम्भ में यह अधिक लाल होता है जो कुछ समय के बाद ही काला पड़ जाता है। एक से तीन सप्ताह में रोग का पूर्ण प्रशमन हो जाता है। कुक्कुर खांसी (Whooping cough) में खांसी के वेग से नेत्रश्लेष्मावरण की रक्त-

वाहिनियों के फट जाने से यह विकार उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त हृदय और वृक्क के रोग मधुमेह तथा आघात से भी इस रोग की उत्पत्ति हो सकती है।

पिष्टकं निरूपयति—

श्लेष्ममारुतकोपेन शुक्ले पिष्टं समुन्नतम् ।
पिष्टवत् पिष्टकं विद्धि मलाक्तादर्शसन्निभम् ॥ ६८ ॥

शुक्ल भाग में कफ और वायु के प्रकोप से पिसे चावल के समान अथवा मलिन दर्पण के रंग का जो उन्नत पिष्ट या पिडका उत्पन्न होती है उसे पिष्टक कहते हैं ॥ ६८ ॥

पिष्टकलक्षणमाह—श्लेष्ममारुतकोपेनेत्यादि । पिष्टमिति लक्षणपदम् । पिष्टवदिति आलेपनपिष्टतुल्यं श्वेतत्वेन । पुनः पिष्टकमिति लक्ष्यपदम् । समुन्नतमुच्छूनम् । मलाक्तादर्शसन्निभमिति धूल्यादिम्रक्षितदर्पणतुल्यम् । अयं कफवातजः, अतः कफेनाच्छतया, वातेन किंचिच्छ्यावतया मलाक्तदर्पणनिभत्वमस्येत्यर्थः ॥ ६८ ॥

विमर्श—आधुनिक नेत्ररोगों में इसकी समता पीतबिन्दु (Pinguecula) से की जा सकती है। कृष्णमण्डल के किनारे पर नेत्रश्लेष्मावरण में इस रोग की उत्पत्ति होती है। वृद्धावस्था में यह अधिक पाया जाता है। यह नेत्रश्लेष्मावरण के स्थूल हो जाने से बनता है। इसमें किसी प्रकार की पीडा नहीं होती और न तो इससे दृष्टि को ही कोई हानि पहुँचती है। अतः किसी विशेष उपचार की भी इसमें आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

कुछ विद्वान् इसकी तुलना अर्वाचीन नेत्रश्लेष्मावरणगत शर्करा (Conjunctival concretions) से करते हैं। यह भी विशेषतः वृद्धों में होता है और इस रोग में नेत्रश्लेष्मावरण में विकीर्ण छोटे चमकीले, श्वेत या पीतवर्ण के उभड़े हुए बिन्दु के समान दिखाई देते हैं। यह तिक्ताभ (Amyloid) पदार्थों एवं शर्करा (Cryrtals) के संचय से उत्पन्न होते हैं। सामान्यतः इसमें कोई पीड़ा नहीं होती किन्तु कभी-कभी अधिक उभड़े होने पर आँख में किरकिरी के समान गड़ते हैं। इनके कारण नेत्रकला धूमिल सी हो जाती है (**मलाक्तादर्शसन्निभम्**)।

सिराजालं लक्षयति—

जालाभः कठिनसिरो महान् सरक्तः
संतानः स्मृत इह जालसंज्ञितस्तु ।

जालवत् रचना के समान और कठिन सिराओं वाला बड़ा एवं लाल वर्ण का जो आवरण शुक्लभाग में हो जाता है उसे सिराजाल कहते हैं।

सिराजाललक्षणमाह—जालाभ इत्यादि। अनुलोमविलोमसिरानिचयरचितनिरन्तरविवरगवाक्षीभावात् जालस्येव आभा आकृतिर्यस्य स तथा। कठिनसिर इत्यनेन सिराणामेव संतानोऽयं विकार इति दर्शयति। सरक्त ईषल्लोहितः। संतनोति आच्छादयतीति[2] संतानः, बहुलवचनात् कर्तरि घञ्। अत्र बिन्दुशब्दोऽनुवर्तनीयः, स सर्वत्र विशेष्यः। जालसंज्ञित इत्यत्र 'सिरापूर्व' इति शेषः, तेन सिराजालसंज्ञित इत्यर्थः। अयं च रक्तजः ॥

विमर्श—इस रोग में नेत्रकला एवं श्वेतमण्डलगत सिराएँ अत्यधिक विस्तृत हो जाती हैं और वहीं रक्तवर्ण के जल के समान दिखाई देती हैं। इस प्रकार यह एक रक्तज विकार है। आधुनिक दृष्टि से इसे श्वेतमण्डल शोथ (Scleritis) कह सकते हैं। यह रोग अधिकतर प्रौढ व्यक्तियों

---

१. 'अनुलोमविलोमस्थितसिराविरचितबहुविवरत्वेन' क.। २. 'व्याप्नोति' क.।

(विशेषतया स्त्रियों) में पाया जाता है। राजयक्ष्मा, फिरंग, वातरक्त तथा मासिक धर्म की विकृति इसके सहायक कारण हैं। इसमें निम्न लक्षण पाये जाते हैं—

(१) तीव्र पीडा (Severe pain) जो समीपस्थ धातुओं में भी प्रतीत होती है।

(२) अश्रुस्राव (Lacrymation)

(३) प्रकाशसंत्रास (Photophobia)

इस रोग के उपद्रवस्वरूप अधिमन्थ (Glaucoma), तारामण्डल शोथ (Iritis) तथा मध्यपटल शोथ (Choroiditis) की उत्पत्ति हो सकती है। इसमें नेत्रश्लेष्मावरण के नीचे नीलाभ रक्त वर्ण का चिह्न पड़ जाता है।

सिराजपिडकालक्षणमाह—

शुक्लस्थाः सितपिडकाः सिरावृता या-
स्ता ब्रूयादसितसमीपजाः सिराजाः।

कृष्ण भाग के समीप शुक्ल भाग में होने वाली, सिराओं से आवृत सफेद पिडकाओं को सिराज पिडका कहते हैं।

सिराजपिडकालक्षणमाह—शुक्लस्था इत्यादि। सितपिडका इति सितवर्णाः पिडकाः। सिरावृताः सिराव्याप्ताः। असितसमीपजा इति कृष्णभागाभ्यर्णशुक्लजाः। सिरापरिवृतत्वात्सिराजाः, नतु साक्षात्सिराजाता इति गदाधरः। अयं च त्रिदोषजः, त्रिदोषजसाध्यप्रकरणे सुश्रुतेन पठितत्वात्॥

विमर्श—सुश्रुत ने इसे त्रिदोषज और साध्य बताया है। यह छेद्यव्याधि है। आधुनिकदृष्ट्या सम्भवतः यह पूर्वोक्त फिलक्टेनुलर कञ्जङ्क्टिवाइटिस का ही एक उग्ररूप फैसिकुलर केरेटाइटिस है। यह प्रथम रोग के कारण उत्पन्न व्रण का कृष्णमण्डल में विस्तार होने पर उत्पन्न होता है। इस व्रण के साथ रक्तवाहिनियों का भी एक पट्ट या जाल सा रहता है। यह सदैव उत्तानस्वरूप का होता है। रोग शान्त होने पर सिराएँ भी लुप्त हो जाती हैं। केवल कुछ धुंधलापन रह जाता है।

बलासग्रथितं लक्षयति—

कांस्याभोऽमृदुरथ वारिबिन्दुकल्पो
विज्ञेयो नयनसिते बलाससंज्ञः॥ ६९॥ (सु. उ: ४)

नेत्र के श्वेत भाग में कांस्य के समान वर्ण वाली एवं जलबिन्दु के सदृश उभड़ी हुई और कठिन ग्रन्थि को 'बलासग्रथित' कहते हैं॥ ६९॥

बलासग्रथितलक्षणमाह—कांस्याभ इत्यादि। कांस्यस्येवाभा दीप्तिर्यस्य स तथा सित इत्यर्थः, वारिबिन्दुरिवोच्छूनत्वात्। अमृदुः कठिनः, कफानिलजत्वात्। तथा च विदेहः— 'मारुतोत्पीडितः श्लेष्मा शुक्लभागे व्यवस्थितः। जलबिन्दुरिवोच्छूनो ह्यमृदुः कफसम्भवः॥ बलासग्रथितं नाम तं शोथं वृत्तमादिशेत्।' इति। ('कोषाभ'[1]) इति कश्चित् पठति, कोषो मांसकुड्मलं तदाभस्तदाकारः; एतावताऽत्यर्थमुच्छूनत्वं प्रतिपाद्यते। वारिबिन्दुकल्प इति चेषदुच्छूनताऽपि, नयनसिते शुक्लभागे इत्यर्थः। बलाससंज्ञ इत्यत्र ग्रथितशब्दलोपः, तेन बलासग्रथित इति संज्ञा। अत्र सिरोत्पातसिराहर्षौ वाग्भटेन पठितौ। तथा हि— 'रक्तराजीनिभं शुक्ले उष्यतेऽपि सवेदनम्। अशोथाश्रूपदेहं च शिरोत्पातः सशोणितम्॥

---

१. 'कोषाभ' इति पाठपक्षे कोषो मांसकोषः, तत्तुल्यः, एतेनात्युच्छूनत्वं प्रतिपाद्यते।

उपेक्षितः सिरोत्पातो राजीस्ता एव वर्धयन्। कुर्यात् सास्रं सिराहर्षं तेनाद्युद्वीक्षणाक्षमम्॥' (वा. उ. १०) इति॥ ६९॥

विमर्श—कुछ आचार्य स्पर्श में इसे अमृदु न कह मृदु बताते हैं जो जलबिन्दु की उपमा से उचित प्रतीत होता है। आधुनिक दृष्टि से इसे पेरिनोड का अभिष्यन्द (Perinaud's conjunctivitis) कह सकते हैं। इस अवस्था में नेत्रश्लेष्मावरणकला के नीचे धूसर या पीले वर्ण के धब्बे पड़ जाते हैं। शरीर के अन्य भागों की लसवाहिनियाँ फूल जाती हैं। यह एक नेत्र तक सीमित रहने वाला संक्रामक रोग है जो बिल्ली के मुख अथवा अन्य घरेलू पशुओं के मुख के सम्पर्क से उत्पन्न होता है।

वाग्भट ने सिरोत्पात और सिराहर्ष का भी शुक्लगत रोगों में उल्लेख किया है किन्तु सुश्रुतादि के अनुसार माधवनिदान में सर्वगत रोगों में उनका वर्णन पहिले ही हो चुका है।

पूयालसलक्षणं प्राह—

पक्वः शोथः सन्धिजो यः सतोदः स्रवेत् पूयं पूति पूयालसाख्यः।

(कनीनक) सन्धि में जो तोदयुक्त पक्व शोथ होता है और जिससे दुर्गन्धित पूय का स्राव होता है उसे 'पूयालस' कहते हैं।

अथ[1] मण्डलगतनिदानाभिधानपारिशेष्याद्वर्त्ममण्डलगतनिदानाभिधाने प्राप्ते कनीनिकासन्ध्यादीनां वर्त्ममण्डलाभियोगितयाऽन्तर्गतत्वेनान्तरङ्गत्वात् सन्धिगतनिदानोद्देशारम्भः। ते च सन्धयः षट्। यदाह सुश्रुतः—'पक्ष्मवर्त्मगतः सन्धिर्वर्त्मशुक्लगतोऽपरः। शुक्लकृष्णगतस्त्वन्यः कृष्णदृष्टिगतस्तथा॥ कनीनिकागतो ज्ञेयः षष्ठश्चापाङ्गगः स्मृतः।' (सु. उ. १) इति। नासासमीपनेत्रान्तः कनीनिका; चक्षुःपुच्छस्याधो नेत्रान्तोऽपाङ्गः। तत्र पूयालसलक्षणमाह—पक्व इत्यादि। सन्धिज इति कनीनिकासन्धिजः। यदाह विदेहः[2]—'शोथक्लेदसमाविष्टं तोदभेदसमाकुलम्। पूयालसं तु तं विद्यात् सन्धौ कानीनिके नृणाम्॥' इति। अयं त्रिदोषजः, सुश्रुतेन साध्यत्रिदोषजप्रकरणे पठितत्वात्॥

विमर्श—सन्धिगत रोग—सुश्रुत ने सन्धि में नौ रोग बताये हैं—

पूयालसः सोपनाहः स्रावः पर्वणिकालजी।
क्रिमिग्रन्थिश्च विज्ञेया रोगाः सन्धिगता नव॥

पूयालस एक त्रिदोषज विकार है; क्योंकि सुश्रुत ने इसका वर्णन साध्यत्रिदोषज प्रकरण में किया है। यद्यपि यहाँ पर कनीनकसन्धि का स्पष्ट उल्लेख नहीं है तथापि विदेह के वचन से इसका स्पष्टीकरण हो जाता है—

'शोथक्लेदसमाविष्टं तोदभेदसमाकुलम्।
पूयालसं तु तं विद्यात् सन्धौ कानीनिके नृणाम्॥'

आधुनिक दृष्टि से इसे अश्रु-आशय का शोथ (Dacryocystitis) या अश्रु-आशय की विद्रधि (Lacrymal abscess) कह सकते हैं।

अश्र्वाशय शोथ (Dacryocystitis)—यह दो प्रकार का होता है:—

(१) **तीव्र** (Acute) इसे अश्रु-आशय की विद्रधि भी कहते हैं। नेत्र के अन्तःकोण (Inner canthus) तथा उसके चारों ओर की त्वचा लाल और शोथ युक्त हो जाती है। शोथ और रक्तिमा पलक और नेत्रश्लेष्मावरण में भी फैल जाती है। शोथ से कनीनिका में एक ग्रन्थि

१. 'कनीनिकादिसन्धीनां शुक्लभागप्रत्यासत्त्याऽनन्तरं सन्धिगतानाह'-इति क.।

२. 'निमिः' इति क.।

सी बन जाती है, जिसमें तीव्र वेदना और स्पर्शासहता रहती है। सार्वदेहिक लक्षणों में ज्वर रहता है। दो-तीन दिन के बाद वहाँ पीला धब्बा दिखाई देता है जो पूयोत्पत्ति का निदर्शक है। पूय का निर्हरण हो जाने पर शोथ स्वयमेव बैठ जाता है। पूर्णतया रोपण होने पर भी कभी-कभी इसकी पुनरावृत्ति होती रहती है और शोथ पुराण (Chronic) स्वरूप धारण कर लेता है। इसके अतिरिक्त कदाचित् व्रण का पूर्णतया रोपण नहीं हो पाता तो उससे स्राव निकलता रहता है। कुछ दिन बाद स्राव जलमय हो जाता है। योग्य चिकित्सा न करने पर स्राव वर्षों चलता रहता है और वहाँ अश्रवाशयनाड़ी (Lacrymal fistula) की उत्पत्ति हो जाती है। जबतक इसका मुख खुला रहता है रोगी को विशेष कष्ट नहीं होता, किन्तु मुख बन्द हो जाने पर पुनः विद्रधि होने का भय रहता है।

(२) **जीर्ण अश्रवाशय शोथ** (Chronic Dacryocytias)—नेत्र के अन्तःकोण में स्थित अश्रवाशय ग्रन्थि में पूय का संग्रह होता रहता है। दबाने से वह बाहर निकलता है। कभी-कभी यह स्राव नासामार्ग से भी बाहर निकलता है। जब ग्रन्थि अवरुद्ध हो जाती है तो स्राव इकट्ठा होने लगता है और जब दबाने से उसका अवरोध दूर हो जाता है तो स्राव बाहर निकल जाता है। स्राव के संपर्क से नेत्रश्लेष्मावरण में भी शोथ की सम्भावना रहती है।

उपनाहस्य लक्षणमाह—

ग्रन्थिर्नाल्पो दृष्टिसन्धावपाकी कण्डूप्रायो नीरुजस्तूपनाहः ॥ ७० ॥

दृष्टि की सन्धि में बड़ी, अल्पपाक तथा खुजली से युक्त और पीडा रहित ग्रन्थि को 'उपनाह' कहते हैं ॥ ७० ॥

श्लेष्मोपनाहलक्षणमाह—ग्रन्थिरित्यादि। नाल्प इति महान्। अपाक ईषत्पाकः; अत एव सुश्रुतेऽल्पस्रावः पठितः। दृष्टिसन्धाविति कृष्णदृष्टिमण्डलयोः सन्धावित्यर्थः। कण्डूप्रायः कफप्राबल्यात्। नीरुजोऽल्परुज इत्यर्थः। तथा च विदेहः-'वायुः श्लेष्माणमादाय दृष्टिसन्धौ व्यवस्थितः। अरुणं कठिनं ग्रन्थिं जनयेदल्पवेदनम् ॥ श्लेष्मोपनाहं तं विद्यात्, स्रावान् वक्ष्यास्यतः परम् ॥' इति। वातश्लेष्मजन्यत्वेऽपि श्लेष्मप्राबल्यात् श्लेष्मोपनाहव्यपदेशः। आश्रयप्रभावादरुणत्वमत्र ॥ ७० ॥

विमर्श—यह वातश्लेष्मज विकार है, जैसा कि आचार्य विदेह ने कहा भी है—

वायुः श्लेष्माणमादाय दृष्टिसन्धौ व्यवस्थितः।
अरुणं कठिनं ग्रन्थिं जनयेदल्पवेदनम्।
श्लेष्मोपनाहं तं विद्यात्......................॥

वातश्लेष्मज होते हुए भी श्लेष्मा के प्राबल्य के कारण इसे 'श्लेष्मोपनाह' ही कहते हैं। मूल में केवल दृष्टिसन्धि शब्द आया है जिसका अर्थ श्रीकण्ठदत्त ने दृष्टि और कृष्णमण्डल की सन्धि किया है। किन्तु दृष्टि शब्द का अर्थ नेत्र और उसकी संधि (कनीनिकागत सन्धि के वर्णन के साथ उपस्थित) अपाङ्गगत सन्धि का ग्रहण उचित प्रतीत होता है। आगे अश्रुवाही स्रोतों के विकारों का वर्णन है अतः इसे भी अश्रुपिण्ड जो अपाङ्गसन्धि के समीप होता है-का विकार मानना भी सङ्गत प्रतीत होता है।

लक्षण और चिकित्सा को देखते हुए उपनाह को एक प्रकार का अर्बुद या ग्रन्थि (Cyst) कह सकते हैं। अश्रुजनक पिण्ड (Lacrymal gland) की नलिकाओं में अवरोध होने से अग्र पर वे फूलकर ग्रन्थि (Cyst) का रूप धारण कर लेती हैं। अश्रुजनक पिण्ड के अर्बुद में भी ये लक्षण

पाये जाते हैं। सुश्रुत ने इनका लेखन और छेदन बताया है*। आजकल भी काटने के बाद इसमें विद्युत् द्वारा दहन किया जाता है।

चतुर्विधस्रावाणां सम्प्राप्तिमाह—

गत्वा सन्धीनश्रुमार्गेण दोषाः कुर्युः स्रावाँल्लक्षणैः स्वैरुपेतान्।
तं हि स्रावं नेत्रनाडीति चैके तस्या लिङ्गं कीर्त्तयिष्ये चतुर्धा ॥ ७१ ॥

अश्रुवाही स्रोतों के द्वारा दोष सन्धियों में पहुँचकर अपने-अपने लक्षणों से युक्त स्रावों को उत्पन्न करते हैं। उस स्राव (युक्त विकार) को कुछ लोग 'नेत्रनाडी' भी कहते हैं। उस नाडी के चार प्रकार के लक्षण आगे बताये जायेंगे॥ ७१॥

चतुर्णां स्रावाणां संप्राप्तिमाह—गत्वा सन्धीनित्यादि। सन्धीनिति बहुवचननिर्देशात्सर्वनेत्रान्तर्गताश्चत्वारः सन्धयो गृह्यन्ते। अश्रुमार्गेणेति अश्रुवाहिन्यौ धमन्यौ अश्रुमार्गः 'द्वे चाश्रुवाहिन्यौ' (सु. शा. ९) इति सुश्रुतः, अश्रुवहधमनीभ्यामित्यर्थः। ननु, यद्यश्रुवहधमनीभ्यां गत्वा दोषाः स्रावानापादयन्ति, तत्कथं 'सिरानुसारिभिर्दोषैः' इत्याद्युक्ता संप्राप्तिर्न व्याहन्यते, सिराधमन्योरन्यत्वात्। उच्यते—सामान्यविशेषत्वात् संप्राप्त्यभिधानद्वयस्य; पूर्वा संप्राप्तिः सामान्यम्, इतरा च विशेष इति न विरोधः। अथवा 'सिराधमनीस्रोतसामविभागः' (सु. शा. ९) इति परकीयमतेन सिराधमन्योरैक्यादविरोधः। अस्मिन्नर्थे संप्राप्त्युक्त एवार्थो निष्पन्नीक्रियते। नेत्रनाडीति चैक इति वदन्तीति शेषः, अनिषेधादनुमतमिदम् (दोषाः सन्निपातश्लेष्मरक्तपित्तात्मकाः। लक्षणैर्दोषलक्षणैः। उपेतान् परीतानिति। गदाधरेण 'लक्षणैः' इत्यस्य स्थाने 'सर्वतः' इति पठितं, दोषाः परीतान् स्वलक्षणैरित्यर्थविशेषादधिगन्तव्यम्। चतुर्धेति सान्निपातिककफजरक्तजपित्तजत्वभेदात्; वातजस्तु स्रावो नास्त्येव, व्याधिस्वभावात्; पित्तजगलगण्डवत्)॥ ७१॥

विमर्श—अश्रुमार्ग से अश्रुवाही धमनी या स्रोत का ग्रहण करना चाहिये। अश्रुवाहिनी धमनी दो हैं-**'द्वे चाश्रुवाहिन्यौ'**। यहाँ सन्देह हो सकता है कि पहिले सामान्य नेत्ररोग-सम्प्राप्ति का वर्णन करते हुए **'सिरानुसारिभिर्दोषैः'** आदि में सिरा विकृत होना बताया है और अब यहाँ धमनी का विकार कहते हैं जो पहिले से विरुद्ध प्रतीत होता है? किन्तु यह सन्देह ठीक नहीं क्योंकि पहिले सामान्य सम्प्राप्ति बतायी गई और अब विशिष्ट रोग की विशिष्ट सम्प्राप्ति वर्णित की जा रही है। दूसरे **'सिराधमनीस्रोतसामविभागः'** इस एकीय मत और **'नाडी तु धमनी सिरा'** इस कोष-प्रमाण से दोनों (धमनी और सिरा) पर्यायवाचक भी हैं। इससे वस्तुतः समस्त अश्रुवाही यन्त्र (Lacrymal apparatus) का बोध होता है। दोष से यहाँ पित्त, रक्त, कफ और सन्निपात का ही ग्रहण होता है। क्योंकि पित्तज गलगण्ड के समान रोग-स्वभाव से वातिक स्राव नहीं होता। विभिन्न स्रावों में अपने-अपने दोष के लक्षण रहते हैं। यह स्राव चिरकालीन स्वरूप धारण कर लेता है। इसके लक्षण नाडीव्रण के समान होते हैं अतः इसे 'नेत्रनाडी' भी कहते हैं। सब प्रकार के स्रावों का केन्द्र कनीनक सन्धि (Inner canthus) है। नेत्र के अश्रुवाहक स्रोत की विविध व्याधियों में स्राव हुआ करते हैं। यथा—

(१) अश्रुद्वार का बाहर मुड़ना (Eversion of the Punctum)—इसमें नेत्र से बराबर अश्रुस्राव होता है।

---

* भित्त्वोपनाहे त्वलजे पिप्पलीमधुसैन्धवैः। विलिखेन्मण्डलाग्रेण छेदयेद्वा समन्ततः॥

१. एतच्चिह्नमध्यस्थः पाठः क-पुस्तके नोपलभ्यते।

(२) अश्रुद्वार का अवरोध (Obstruction of the Punctum)—इसमें जलीय स्राव निकलता है।

(३) अश्रुवाहक नलिका का अवरोध (Obstruction of the conaliculus)

(४) अश्र्वाशय शोथ (Dacryocystitis)—इसकी जीर्णावस्था में इस प्रकार के स्राव हो सकते हैं।

चतुर्विधस्रावान् लक्षयति—

पाकात् सन्धौ संस्रवेद्यस्तु पूयं पूयास्रावोऽसौ गदः सर्वजस्तु।

पाक के कारण (कनीनक) सन्धि में जो पूय का स्राव होता हैं उस सन्निपातज व्याधि को **पूयास्राव** कहते हैं।

चतुर्विधस्रावमध्ये पूयास्रावलक्षणमाह—पाकादित्यादि। सर्वजस्त्रिदोषज इत्यर्थः। अस्य प्रत्याख्येयत्वादग्रेभिधानं, यद्यप्यन्येऽपि स्रावा असाध्यत्वेनोक्तास्तथाऽपि याप्या बोद्धव्याः। 'पाकः' इति पाठे पाकः संस्रवेत् पाकवान् शोथः स्रवेदित्यर्थः, उपचारात्, पाकस्य क्रियामात्रत्वात्॥

श्वेतं सान्द्रं पिच्छिलं[१] यः स्रवेत्तु श्लेष्मस्रावोऽसौ विकारो मतस्तु ॥७२॥

जिस विकार में सफेद, घन और पिच्छिल स्राव होता है उसे **श्लेष्मस्राव** कहते हैं॥ ७२॥

श्लेष्मस्रावलक्षणमाह—श्वेतमित्यादि सान्द्रं घनम्॥ ७२॥

रक्तस्रावः शोणितोत्थो विकारः स्रवेद् दुष्टं तत्र रक्तं प्रभूतम्।

रक्त से उत्पन्न जिस विकार में (कनीनक सन्धि से) प्रचुर रक्त का स्राव हो उसे **रक्तस्राव** कहते हैं।

रक्तस्रावलक्षणमाह—रक्तस्राव इत्यादि। रक्तकृतः स्रावो रक्तस्रावः ([२]रक्तस्राव इत्यनेनैव स्रवेदित्यस्य लब्धत्वात्तदुक्तिर्निरन्तरस्रावप्रतिपादनार्थमिति कार्तिकः। न चैतत् प्रभूतमित्यनेन गतार्थम्, अनिरन्तरतयाऽपि प्रभूतस्रावसंभवात्)। रक्तस्राव इत्यनेनैव रक्तजत्वे सिद्धे शोणितजो विकार इति यदुच्यते तदत्यन्तकुपितरक्तजत्वप्रतिपादनार्थम्। कार्तिकस्त्वाह—पित्तलिङ्गपरिग्रहार्थं, पित्तेन सह तुल्यत्वाद्रक्तस्य। तथा क्वचित् पाठः-'रक्तस्रावः पित्तलिङ्गैरुपेतः।' इति॥

हरिद्राभं पीतमुष्णं जलाभं पित्तात्स्रावः संस्रवेत् सन्धिमध्यात् ॥ ७३ ॥

(कनीनक) सन्धि से हल्दी के वर्ण का पीला, गरम और जल के समान स्राव जिस व्याधि में होता है उसे **पित्तस्राव** कहते हैं॥ ७३॥

जलस्रावपर्यायस्य पित्तस्रावस्य लक्षणमाह—हरिद्राभमित्यादि। हरिद्राभं पीतलोहितं बोद्धव्यं, परतः पीतमित्यस्योक्तेः ([३]जलाभमिति जलवत् स्वच्छम्। उष्णमिति सर्वत्रैव संबध्यते। केचित् 'पीतम्' इत्यस्य स्थाने 'नीलम्' इति पठन्ति। 'यत्तु 'जलाभम्' इत्यस्य स्थाने 'जलं वा' इति तदसंगतं, सुश्रुतेनोद्देशावसरे जलस्रावनामतयाऽस्योद्देशात्, तद्धि नाम जलवदास्रावोऽस्येति योगतः समावेशितम्। यदा तु 'जलं वा' इति पाठः स्यात्तदा कदा-

१. 'पिच्छिलम्' इत्यत्र 'नीरुजम्' इति पाठान्तरम्। २.-३. एतच्चिह्नमध्यस्थः पाठः क पुस्तके नोपलभ्यते।

चिज्जलाभता स्यादिति न सर्वत्र योगव्याप्तिरिति) सन्धिमध्यादित्यविशेषोक्तेः सर्वसन्धिमध्यादिति बोद्धव्यम् । ननु, वातजस्रावः कुतो नोक्तः, वातेन स्रावाभावादिति चेत् ; नैवं, वाताभिष्यन्दे शिशिराश्रुतेत्युक्तेर्वातजोऽपि स्रावो दर्शितः । उच्यते, विशिष्टेऽक्षिप्रदेशे केवलवायोः स्रावजनकत्वं संबन्धितव्यमभिधानात्[1] । विदेहेऽपि चत्वार एवोक्ताः, 'सन्निपातात् कफाद्रक्तात् पित्तात् स्रावोऽक्षिसन्धिषु' इति ॥ ७३ ॥

पर्वणीलक्षणं प्राह—

ताम्रातन्वी दाहशूलोपपन्ना रक्ताज्ज्ञेया पर्वणी[2] वृत्तशोथा ।
जाता सन्धौ कृष्णशुक्ले—

शुक्ल और कृष्ण मण्डल के मध्य की सन्धि में लाल रंग की पतली, जलन और शूल से युक्त वृत्ताकार शोथ युक्त पिडिका उत्पन्न होती है, इस रक्तज व्याधि को 'पर्वणी' कहते हैं ।

तदेवमसाध्यानां चतुर्णां स्रावाणां लक्षणमभिधाय पर्वणीलक्षणमाह—ताम्रेत्यारभ्य कृष्णशुक्ल इत्यन्तेन । इयं रक्तजा कफानिलजा च, रक्तजत्वमत्र सुश्रुते दर्शितमाधिक्येन ॥

विमर्श—आधुनिकदृष्ट्या इसे Phlyctenular conjunctivitis कह सकते हैं । अर्जुन रोग का विमर्श (श्लोक ६७) भी देखें । यह कफ और वायुयुक्त भी होती है किन्तु रक्त की प्रधानता रहती है ।

अलजीं लक्षयति—

–ऽलजी स्यात्तस्मिन्नेव ख्यापिता पूर्वलिङ्गैः ॥ ७४ ॥ (सु. उ. २)

उसी सन्धि (शुक्ल-कृष्ण सन्धि) में पूर्वोक्त लक्षणों वाली 'अलजी' होती है ॥ ७४ ॥

अलजीलक्षणमाह—अलजी स्यादित्यादि । तस्मिन्नेवेति शुक्लकृष्णसन्धौ, पूर्वलिङ्गैः पर्वणीलक्षणैरुपेतेत्यर्थः । ननु एवं सति स्थानलक्षणयोरभेदेनानयोरभेदः स्यादिति चेत् ; नैवं, तनुत्वस्थूलत्वाभ्यां पर्वणिकालज्योर्भेदात् । तथा च विदेहः—'शुक्लकृष्णान्तसन्धौ तु चीयन्तेऽसृक्कफानिलाः । पर्वणीपिडका तैस्तु जायते त्वङ्कुरोपमा ॥ ताम्रा सदाहचोषोष्णपीतकाश्रुसमाकुला । कफपित्ते तु संमूर्च्छ्य सह रक्तेन मारुतः ॥ शुक्लकृष्णान्तसन्धौ तु जनयेद्गोस्तनाकृतिम् । पिडकामलजीं तां तु विद्धि तोदाश्रुसंकुलाम् ॥' इति कार्त्तिकस्त्वभेदानुपपत्तिं[3] शङ्कमानः पूर्वलिङ्गैरित्यन्यथा व्याचष्टे—पूर्वोक्तायाः प्रमेहपिडकाया अलज्या लिङ्गैरित्यर्थः । इयं त्रिदोषजा असाध्या च ॥ ७४ ॥

विमर्श—यहाँ **'पूर्वलिङ्गैः'** का अर्थ डल्हण आदि ने 'पर्वणीलिङ्गैः' किया है । दोनों का स्थान और लक्षण समान होने पर दोनों में भेद क्या होगा ? इसका उत्तर इन्होंने दिया है **'तनुस्थूलत्वाभ्यामनयोर्भेदः'** अर्थात् पर्वणी छोटी या पतली और अलजी स्थूल या बड़ी होती है । विदेह ने भी पर्वणी को रक्त, कफ और वात जनित एवं अंकुराकृति तथा अलजी को वातादि तीनों दोष एवं रक्तजनित और गोस्तनाकृति बताया है । दोनों के लक्षणों में भी अन्तर है । (मूल श्लोक मधुकोश में देखें) कार्तिककुण्ड के अनुसार यहाँ 'पूर्वलिङ्गैः' का अर्थ पूर्वोक्त अलजी (प्रमेहपिडिका)

---

१. 'विशिष्टे क्वचिदक्षिप्रदेशे केवलस्य वायोरस्रावजनकत्वमनभिधानाद् बोद्धव्यम्' क. ।

२. दाहपाकोपपन्ना, ज्ञेया वैद्यैः पिडका पर्वणीका ॥ इति ख ।

३. 'अन्ये तु पूर्वलिङ्गैरित्यनेन प्रमेहपिडकाकथितैरलजीलिङ्गैरिति ब्रुवते, सुश्रुते प्रमेहनिदाने रक्ताश्रितेत्यादिलिङ्गैः ख्यापिता याऽलजी तद्वदियमपीत्यर्थः । तेन स्थानसाम्येऽपि भिन्नलक्षणतया पर्वणीतो विलक्षणत्वम्'-इति क. ।

के लक्षणों के समान अर्थ करना ठीक प्रतीत होता है। इस प्रकार अलजी रोग पर्वणी का ही एक भेद है और ये दोनों ही पूर्वोक्त 'अर्जुन' रोग के भेद हैं। आधुनिकदृष्ट्या इन्हें फिलक्टेनुलर कंजङ्क्टिवाइटिस कह सकते हैं। (श्लोक ६७ का विमर्श भी देखें)

क्रिमिग्रन्थिं निरूपयति—

क्रिमिग्रन्थिर्वर्त्मनः पक्ष्मणश्च कण्डूं कुर्युः क्रिमयः सन्धिजाताः।
नानारूपा वर्त्मशुक्लान्तसन्धौ चरन्त्यन्तर्लोचनं दूषयन्तः ॥७५॥

संधि में उत्पन्न क्रिमि वर्त्म और पक्ष्म में खुजली पैदा करते हैं। यह अनेक रूप के होते हैं और वर्त्मशुक्लसंधि में पहुँच कर नेत्र को भी अन्दर से दूषित करते हैं। इस रोग को 'क्रिमिग्रन्थि' कहते हैं ॥ ७५ ॥

क्रिमिग्रन्थिलक्षणमाह—क्रिमिग्रन्थिरित्यादि। (प्रथमं वर्त्मशुक्लयोः सन्धौ भूत्वा क्रमेण। वर्त्मनः पक्ष्मणश्च सन्धिजाताः संभावितं प्राप्ताः क्रिमयो यत्र कण्डूं कुर्युः स क्रिमिग्रन्थिः। स चायं क्रिमिग्रन्थिर्वर्त्मशुक्लयोः सन्धौ भवति, तथैव भूत्वा अन्तर्लोचनं नयनस्याभ्यन्तरं चरन्ति भक्षयन्ति, दूषयन्तः सन्त इत्यर्थः। अत्रैव विदेहः-'वर्त्मशुक्लस्य सन्धौ तु ग्रन्थिः पित्तकफात्मकः। ऊष्मणा पच्यते गाढं तत्र मूर्च्छन्ति जन्तवः॥ सुसूक्ष्मजातचरणा वर्त्म-पक्ष्मसमाश्रयाः। ततस्ते पूयसंसृष्टाः पतन्ति क्रिमयस्तथा॥ लक्षणैर्विविधैर्युक्ताः सन्निपात-समुत्थिताः। क्रिमिग्रन्थिं तु तं विद्याद्देहिनां नेत्रदूषणम्॥'-इति। कार्तिकस्त्वन्यथा पठित्वा व्याचष्टे) वर्त्मनः पक्ष्मणश्चापि कण्डूं कुर्युरित्यभिधानात् क्रिमिग्रन्थिः पक्ष्मवर्त्मसन्धौ[2] भवतीति गम्यते, कथमन्यथाऽन्यत्रावस्थितैः क्रिमिभिरन्यत्र कण्डूर्जन्यते इति। एतच्च न सम्यक्, वर्त्मशुक्लान्तः सन्धाविति विरोधप्रसंगात्॥ ७५॥

विमर्श—डल्हणादि प्राचीन टीकाकारों ने यहाँ सन्धि से वर्त्मशुक्लगत सन्धि माना है किन्तु कार्तिककुण्ड क्रिमियों का स्थान वर्त्म और पक्ष्म संधि में ही मानते हैं अन्यथा वहाँ खुजली आदि होना सम्भव नहीं। विकृति अन्यत्र हो और लक्षण अन्यत्र यह उचित नहीं प्रतीत होता। वस्तुतः इस रोग में दो मुख्य विकार होते हैं (१) क्रिमि (२) ग्रन्थि। क्रिमियों की स्थिति वर्त्म और पक्ष्म की संधि में होती है और ग्रन्थि वर्त्मशुक्लसंधि में होती है। अर्थात् पूर्वस्थान में क्रिमि उत्पन्न होकर भीतरी भागों में भी क्षोभ कर ग्रन्थि की उत्पत्ति में सहायक होते हैं। इसके विपरीत अन्य कारणों से प्रारम्भ से ही उत्पन्न वर्त्मशुक्ल-संधिगत ग्रन्थि के पाक होने पर पूयस्राव होता है उसके कारण जो गन्दगी होती है वह वर्त्म-पक्ष्मगत संधि में क्रिमियों की उत्पत्ति में सहायक होती है। सुश्रुत ने पूर्वप्रकार और विदेह ने दूसरे प्रकार का वर्णन किया है और प्रत्यक्षतः दोनों ही मत ठीक हैं। (विदेह-वचन मधुकोष में देखें) जिस प्रकार शरीर के विभिन्न भागों में जूं जैसे जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं वैसे ही पलक और उसके बालों की सन्धि में भी एक प्रकार के जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं, जिसके कारण उसमें खुजली बहुत आती है। खुजाने की रगड़ से वर्त्मधारा छिल जाती है। यह ग्रन्थि पित्तकफज रोग है। क्रिमि होने पर त्रिदोष लक्षण मिलते हैं। अर्वाचीन ग्रन्थों में इसे थिरियेसिस पल्पेब्रम् (Phthiriasis pulpebrum) कहा गया है।

---

१. ( ) एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः क. पुस्तके नोपलभ्यते।

२. 'इति कार्तिकः। तेनायमर्थः-वर्त्मनः पक्ष्मणश्च सन्धौ जाताः सन्तः कण्डूं कुर्वन्ति। तथा वर्त्मशुक्लान्तसन्धौ भूत्वाऽन्तर्नयनं दूषयन्तश्चरन्ति। अयं सन्निपातजः। यदाह निमिः—वर्त्मशुक्लस्येत्यादि क.।

उत्सङ्गिनीं वर्णयति—

अभ्यन्तरमुखी ताम्रा बाह्यतो वर्त्मनश्च या ।
सोत्सङ्गोत्सङ्गपिडका सर्वजा स्थूलकण्डुरा ॥ ७६ ॥ (सु. उ. ३)

वर्त्म के बाहर की ओर अन्तर्मुखी, ताम्रवर्ण की, अनेक छोटी पिडकाओं से पूर्ण मोटी और खुजली युक्त त्रिदोषज पिडका को 'उत्सङ्गिनी' कहते हैं ॥ ७६ ॥

अथ सन्धिगतरोगाभिधानानन्तरं पारिशेष्याद्वर्त्मशुक्लान्तःसन्धावित्यत्र वर्त्मनिर्देशेन तद्गतरोगनिदानारम्भः। नयनगोलकावरकं निमेषोन्मेषाश्रयं पटलद्वयं वर्त्म उच्यते। सुश्रुते प्रथमोद्दिष्टत्वेनोत्सङ्गपिडकालक्षणमाह—अभ्यन्तरमुखीत्यादि । वर्त्मन एवाभ्यन्तरे मुखं यस्याः सा तथा। (ननु, कथं बाह्यत इति? उच्यते, वास्तूत्सेधेन वहिरप्युन्नततया दर्शनाद्बाह्यत्वं, न तु बाह्यमुखत्वेन[1])। बाह्यत इति सप्तम्यर्थे तसिल्, एवं वर्त्मन इत्यत्रापि। इयं विदेहसंवादादधरवर्त्मान्तर्जाता बोध्या। ताम्रा ताम्रवर्णा। सोत्सङ्गा सा उत्सङ्गा उत्सङ्गिनी, अर्श आदित्वादच्। उत्सङ्गपिडकेति उत्सङ्गे क्रोडे बह्व्यः पिडका यस्याः सा। (अन्ये तु सोत्सङ्गा क्रोडीकृतपूया। उत्सङ्गपिडकेति नामेदम्। तत्रापि कुक्कुटाण्डरसपूयता चकाराद्बोद्धव्या) स्थूलकण्डुरेति स्थूला चासौ कण्डुरा चेति कर्मधारयः, कण्डुरा कण्डुमती, दोषाणां कफप्राबल्यात्। चकारेणात्र विदेहोक्तकाठिन्यादिसंगृहीतम्। तथा च विदेहः— 'वर्त्मोत्सङ्गेऽधरे जन्तोः सन्निपातात् प्रजायते। अभ्यन्तरमुखी स्थूला बाह्यतश्चापि दृश्यते। पिडका पिडकाभिश्च चिताऽन्याभिः समन्ततः। उसङ्गपिडका नाम कठिना मन्दवेदना॥ सा प्रभिन्ना स्रवेत् स्रावं कुक्कुटाण्डरसोपमम्' इति। सर्वजेति सन्निपातभवा ॥ ७६ ॥

विमर्श—यद्यपि प्रत्यक्षतः यह रोग दोनों ही वर्त्म में मिलता है। पर प्राचीन टीकाकारों ने यहाँ वर्त्म से अधोवर्त्म का ही ग्रहण किया है। क्योंकि आचार्य विदेह ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है—

'वर्त्मोत्सङ्गेऽधरे जन्तोः सन्निपातात् प्रजायते। अभ्यन्तरमुखी स्थूला बाह्यतश्चापि दृश्यते॥'

एक बड़ी पिडिका के समीप अनेक छोटी-छोटी पिडकायें भी होती हैं **'पिडका पिडकाभिश्च चिताऽन्याभिः समन्ततः'।**

आधुनिक दृष्टि से इस रोग को कैलेज़ियोन (Chalazion or meibomian cyst or tarsal cyst) कह सकते हैं। वर्त्म के भीतर स्थित जलपिण्ड या मीबोमियन ग्रन्थि की नलिका में अवरोध होने के परिणामस्वरूप यह स्थिति उत्पन्न होती है। वृद्धावस्था में यह अधिक होती है। इसका विकास इतने धीरे-धीरे होता है कि जब तक ग्रन्थि मटर के आकार की नहीं हो जाती, कोई लक्षण प्रकट नहीं होते। इसके बाद इसमें निम्न लक्षण पाये जाते हैं—

वर्त्म (पलक) धारा के समीप बाहर की ओर एक कठिन सूजन दिखाई पड़ती है जो पलक की पेशी से संसक्त रहती है। इसमें किसी प्रकार की वेदना नहीं होती। आचार्य विदेह ने भी इसे कठिन और मन्द वेदनायुक्त बताया है—**'उत्सङ्गपिडका नाम कठिना मन्दवेदना।'** पिडका के ऊपर की त्वचा को हिलाया जा सकता है; क्योंकि पिडका उससे संसक्त नहीं होती। पलक उलट कर देखने से पिडका का वर्ण पीला दिखाई पड़ता है। पिडका का मुख पलक के अन्दर होता है। कभी कभी पिडका के स्वयमेव विदीर्ण हो जाने से रक्तवर्ण का मांस बाहर दिखाई देता है और उससे मुर्गी के अण्डे के रस के समान कुछ स्राव भी निकलता है—**'सा प्रभिन्ना स्रवेत् स्रावं**

---

१. 'बाह्यत इत्यभिधानाद्वास्तूत्सेधेन बाह्यतोऽप्युपलभ्यते' क.।

कुक्कुटाण्डरसोपमम् ।' (विदेह) कभी-कभी यह स्वयमेव ठीक हो जाती है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी ये पिडकायें वर्षों तक बनी रहती हैं। इनके आकार में कोई परिवर्तन नहीं होता और न तो इसमें शोथ के लक्षण ही होते हैं।

कुम्भीकां लक्षयति—

वर्त्मान्ते पिडका ध्माता भिद्यन्ते च स्रवन्ति च ।
कुम्भीकाबीजप्रतिमाः कुम्भीकाः सन्निपातजाः ॥७७॥ (सु. उ. ३)

वर्त्मान्त (पलक धारा) पर जो अनार के बीज के समान सन्निपातज पिडकायें होती हैं और जो बार बार फूल कर फूटती हैं तथा इनसे स्राव निकलता है उन्हें **कुम्भीका** कहते हैं ॥ ७७ ॥

कुम्भीकालक्षणमाह—वर्त्मान्त इत्यादि । पिडका इति बहुवचननिर्देशाद्बह्वयः, भिद्यन्ते विदीर्यन्ते तथा स्रवन्ति च। ध्माता इति भिद्यमानाः स्वयमेव पूर्णोदरा भवन्तीति ध्माताः कुम्भीकाबीजप्रतिमा इति कुम्भीका कच्छदेशोद्भवा दाडिमफलाकारफला लता, तद्बीजेन प्रतिमा यासां ता इत्यर्थः; अन्ये 'कुम्भीकबीजसदृशा' इति पठन्ति, तत्र कुम्भीकः कुम्भाडु-लता, तद्बीजमपि दाडिमफलबीजाकारम् ; तत्सदृशाः पिडका उच्यन्ते । कुम्भीशब्दात् 'इवे प्रतिकृतौ' इति कन् । एषा त्रिदोषजा असाध्या च ॥ ७७ ॥

विमर्श—यह स्टाई (Stye) का एक प्रकार है। यह भी नीचे के पलक में होता है। ज़ीस पिण्ड (Zeis gland) के शोथ के परिणामस्वरूप इसकी उत्पत्ति होती है। इसका विशद वर्णन अञ्जननामिका के साथ (पृ० ३२१) किया जायगा। कुछ लोग इसे पूर्वोक्त कैलेजियान का ही धारीय (Marginal) प्रकार मानते हैं।

पोथकीलक्षणमाह—

स्राविण्यः कण्डुरा गुर्व्यो रक्तसर्षपसंनिभाः ।
रुजावत्यश्च पिडकाः पोथक्य इति कीर्तिताः ॥७८॥ (च. उ. ३)

स्राव और खुजली से युक्त भारी, लाल-सरसों के समान वर्त्म में जो पीडायुक्त पिडकायें उत्पन्न हो जाती हैं उन्हें 'पोथकी' कहते हैं ॥ ७८ ॥

पोथिकीनां लक्षणमाह—स्राविण्य इत्यादि । स्राविण्यो बहुस्रावाः । गुर्व्य इति गौरव-युताः । रुजावत्य इति रक्तसंबन्धात् कफजा अपि वेदनान्विताः ॥ ७८ ॥

विमर्श—इसे वर्त्मीय नेत्र श्लेष्मावरण (Palpebral Conjunctiva) का शोथ या ट्राकोमा (Trachoma) या रोहा कह सकते हैं।

यह एक चिरकालीन और संक्रामक रोग है। ऊपर के पलक के अन्दर की ओर श्लेष्मावरण पर अनेक पिडकायें निकल आती हैं। इसमें निम्न लक्षण होते हैं—

(१) प्रकाश-संत्रास (Photophobia)
(२) अश्रुस्राव (Lacrymation)—धूलि, धूम आदि के संसर्ग से अधिक हो जाता है।
(३) आँखों में खुजली और जलन (Itching and burning sensation)
(४) आंख में किरकिराहट
(५) पलक में सूजन तथा ऊपर के पलक का निम्न पतन
(६) पलक में सूजन तथा ऊपर के पलक का निम्न पतन
(७) श्लेष्ममिश्रित पूयमय स्राव (Mucopurulent dischrge)

(८) वर्त्मीय नेत्रश्लेष्मावरण लाल, स्थूल और निम्नोन्नत (Uneven) हो जाता है।

(९) नेत्र-श्लेष्मावरण भी लाल हो जाता है।

पोथकी की सम्प्राप्ति—पोथकी से पीडित व्यक्ति के नेत्रस्राव का सम्पर्क अन्य व्यक्ति की आँख के साथ होने से उसमें भी इस रोग की उत्पत्ति हो जाती है। इसका संक्रमण अनेक विधियों से हो सकता है। इसकी चार अवस्थायें होती हैं—

(१) प्रथम अवस्था (First stage)—इस अवस्था में ऊर्ध्ववर्त्म के श्लेष्मावरण में अंकुर (Papiliae) दिखाई पड़ते लगते हैं। इसमें अश्रुस्राव, लाली तथा प्रकाशासहता ये लक्षण भी होते हैं।

(२) द्वितीयावस्था (Second stage)—इसमें दानों (अंकुरों) का आकार बढ़ जाता है। उनका वर्ण भूरा और पीला हो जाता है। इसमें स्राव भरा रहता है। इस अवस्था का मुख्य लक्षण पोथकीजन्य रक्तराजी या सिराहर्ष (Trachomatous pannus) होता है। इसमें श्वेत मण्डल में सिराओं का एक गुच्छ कृष्णमण्डल की ओर जाता हुआ दिखाई पड़ता है। कृष्णमण्डल के ऊर्ध्व अर्धभाग तक यह बढ़ता है। वहाँ एक अतिसूक्ष्म व्रग बन जाता है जिसे 'पोथकी व्रग' (Trachomatous ulcer) कहते हैं।

(३) तृतीयावस्था (Third stage)—यह रोपण की अवस्था है। इसमें प्रथम और द्वितीय अवस्था के लक्षण भी मिलते हैं। इस अवस्था में वर्त्मगत अंकुर (Papillae) लुप्त हो जाते हैं, किन्तु फिर भी श्लेष्मावरण प्राकृत स्थिति में नहीं आ पाता, उसमें व्रणवस्तु की पतली-पतली श्वेताभ रेखायें दिखाई देती हैं। कभी-कभी पुरानी अवस्था अथवा भयंकर स्वरूप में पलक की सम्पूर्ण नीचे की सतह पीली तथा स्निग्ध व्रणवस्तुमय झिल्ली (Cicatrical membrane) से आवृत हो जाती है। वर्त्मकोण (Fornix) में श्लेष्मावरण पीला अथवा नीलाभ श्वेत हो जाता है।

(४) चतुर्थावस्था (Fourth stage)—चिकित्सा न करने पर पोथकी से कृष्णमण्डल के आक्रान्त हो जाने से अथवा व्रगवस्तु के संकोच के कारण यह अवस्था उत्पन्न होती है। इसे उपद्रव की अवस्था भी कह सकते हैं। इसके निम्न उपद्रव होते हैं—

(क) पक्ष्मकोप (Trichiasis) नेत्र-श्लेष्मावरणगत व्रगवस्तु के संकोच से यह उपद्रव हो सकता है। इसमें पक्ष्म भीतर की ओर मुड़कर आँखों पर रगड़ते हैं।

(ख) अन्तरावर्तन (Entropion)—यह भी उपर्युक्त कारण से ही होता है।

(ग) बाह्यावर्तन (Ectropion)

(घ) अव्रण शुक्र (Corneal opacity) अथवा **सव्रणशुक्र** (Corneal ulcer)

(ङ) अजकाजात (Staphyloma)

(च) नेत्रश्लेष्मावरणशुष्कता (Xerosis)

(छ) वर्त्मशोथ या कर्दम वर्त्म (Blepharitis)

(ज) पूयालस (Dacryocystitis)

(झ) वर्त्मगोलक संसक्ति (Symblepharon)

वर्त्मशर्करां विवेचयति—

पिडका या खरा स्थूला सूक्ष्माभिरभिसंवृता।
वर्त्मस्था शर्करा नाम स रोगो वर्त्मदूषकः ॥ ७९ ॥ (सु. उ. ३)

छोटी-छोटी पिडकाओं से आवृत जो खुरदरी और मोटी पिडका होती है उसे 'वर्त्मशर्करा' कहते हैं। यह रोग पलक का दूषक (विकृत करनेवाला) होता है ॥ ७९ ॥

वर्त्मशर्करालक्षणमाह—पिडका येत्यादि । खरा खरस्पर्शा । सूक्ष्माभिरभिसंवृतेति सूक्ष्माभिः प्रकरणात्पिडकाभिर्वेष्टिता । तत्रैव विदेहः—'सुसूक्ष्मपिडकाकीर्णा या स्थूला पिडका खरा । जायते सन्निपातात्तु वर्त्मशर्करिकेति सा' इति ॥ ७९ ॥

विमर्श—कुछ विद्वान् इसे पोथकी का ही एक स्वरूप मानते हैं और कुछ लोग वर्त्मगत (Palpebral) शर्करा (Lithiasis conjunctivae) मानते हैं जो पूर्वोक्त पिष्टक (श्लोक ६८) का ही भेद है।

अर्शोवर्त्मलक्षणमाह—

एर्वारुबीजप्रतिमाः पिडका मन्दवेदनाः ।
श्लक्ष्णाः खराश्च वर्त्मस्थास्तदर्शोवर्त्म कीर्त्यते ॥ ८० ॥ (सु. उ. ३)

जिस वर्त्म में (बाहर या भीतर या दोनों ओर) ककड़ी के बीज के समान मन्द वेदनायुक्त, चिकनी और कठोर पिडकाएँ होती हैं उसे 'अर्शोवर्त्म' कहते हैं ॥ ८० ॥

अर्शोवर्त्मलक्षणमाह—एर्वारुबीजेत्यादि । एर्वारुः ग्रीष्मकर्कटी । श्लक्ष्णा अकर्कशा । वर्त्मस्था इत्यविशेषिताभिधानादन्तर्बहिश्च वर्त्मनो भवतीति गम्यते । इयं सन्निपातजा । तथा च निमिः-'नीरुजा कठिना वर्त्मपक्ष्मान्तर्बाह्यतोऽपि वा । पिडका सन्निपातेन तदर्शोवर्त्म निर्दिशेत् ॥' इति ॥ ८० ॥

विमर्श—यह सन्निपातज व्याधि है; क्योंकि निमि ने कहा है—

नीरुजा कठिना वर्त्मपक्ष्मान्तर्बाह्यतोऽपि वा ।
पिडका सन्निपातेन तदर्शोवर्त्म निर्दिशेत् ॥

सम्भवतः यह पोथकी की ही एक अवस्था (Papillary form) है। किन्तु निमि के 'वर्त्मपक्ष्मान्तर्बाह्यतोऽपि वा' अर्थात् 'वर्त्मपक्ष्म (Eye lashas) के भीतर या बाहर की ओर होते हैं। इस वचन के अनुसार इनकी स्थिति पलकों की धारा पर ही मालूम होती है और इस प्रकार इसे स्वेदग्रन्थि के अवरोध के कारण उत्पन्न कोष (Cysts) मानना अधिक उचित प्रतीत होता है Small cysts with transparent contents, due to obstruction in the outlet of sweat glands, are often seen on the lid-borders, and they give rise, at times, to irritation and disfigurement. (May & worth)

शुष्कार्शोलक्षणं प्राह—

दीर्घाङ्कुरः खरः स्तब्धो दारुणोऽभ्यन्तरोद्भवः ।
व्याधिरेषोऽभिविख्यातः शुष्कार्शो नाम नामतः ॥८१॥ (सु. उ. ३)

पलक के अन्दर लम्बे अंकुर वाली, खुरदरी कठिन और दारुण पिडका निकल आती है। इस व्याधि को 'शुष्कार्श' कहते हैं ॥ ८१ ॥

शुष्कार्शोलक्षणमाह—दीर्घाङ्कुर इत्यादि । खरः कर्कशः । स्तब्धः कठिनः शुष्कत्वात् । दारुणः बहुदुःखदत्वात् । अभ्यन्तरोद्भव इति वर्त्माभ्यन्तरस्थितः । अभिविख्यातः कथितः । नामतः प्रसिद्धितः । सन्निपातजमिदम् । अत्र विदेहः—'वर्त्माभ्यन्तरगतं त्वर्शः शुष्कं स्थूलं च दारुणम् । जायते सन्निपातेन तच्छुष्कार्शः प्रकीर्तितम् ॥' इति ॥ ८१ ॥

विमर्श—यह भी सन्निपातज व्याधि है; विदेह का वचन है—

वर्त्माभ्यन्तर्गतं त्वर्शः शुष्कं स्थूलं च दारुणम्।
जायते सन्निपातेन तच्छुष्कार्शः प्रकीर्तितम्॥

इसे भी पोथकी की जीर्णावस्था (Chronic form of Papillary trachoma) कह सकते हैं किन्तु कुछ विद्वान् इसे समूल चर्मकील (Pedunculated Papiloma or warts) ही मानते हैं। यद्यपि ये पलकों की त्वचा या धारा पर ही होते हैं अन्दर नहीं जब कि शुष्कार्श का स्थान प्राचीनों ने पलकों के भीतर बताया है। किन्तु वक्ष्यमाण अञ्जननामिका—जो पलकों की धारा पर ही होती है—के साहचर्य से अर्शोवर्त्म की भाँति शुष्कार्श की भी उत्पत्ति वर्त्मपक्ष्मसंधि अर्थात् पलकों के किनारे पर मानना अनुचित नहीं है।

अञ्जननामिकां निरूपयति—

दाहतोदवती ताम्रा पिडका वर्त्मसंभवा।
मृद्वी मन्दरुजा सूक्ष्मा ज्ञेया साऽञ्जननामिका॥८२॥ (सु. उ. ३)

जलन और तोद से युक्त, ताम्रवर्ण की, कोमल, मन्द पीडा वाली जो सूक्ष्म पिडका पलक में होती है उसे 'अञ्जननामिका' कहते हैं॥ ८२॥

अञ्जननामिकालक्षणमाह—दाहतोदवतीत्यादि। इयं रक्तजा॥ ८२॥

विमर्श—इसके लक्षण अर्वाचीन स्टाई (Stye) के समान होते हैं। यह वर्त्मधारा का वृत्ताकार तीव्र शोथ है, जो 'ज़ीस (Zeis) या माल (Mall) की ग्रन्थियों में स्तबकगोलाणु (Staphylococcus) के संक्रमण के कारण होता है। अन्ततोगत्वा इसमें पूयोत्पादन हो जाता है। प्रायः एक के बाद दूसरी पिडका की उत्पत्ति होती रहती है। इसके निम्न लक्षण होते हैं—

(१) **सूजन** (Swelling) यह लाल वर्ण की और पलक की धारा पर होती है।

(२) **पीडा** (Pain) (३) **स्पर्शासहता** (Tenderness) ये दोनों लक्षण आम और पच्यमान अवस्था में अधिक होते हैं।

(४) **पीताभ पिडका** यह पूयोत्पत्ति का चिह्न है।

उत्सङ्गिनी तथा अञ्जननामिका के लक्षण में साम्य होते हुए भी कुछ भेद हैं, जिनका वर्णन नीचे दिया है—

अञ्जननामिका	उत्सङ्गिनी
(१) यह पक्ष्मों (बरौनी) के मूल में वर्त्मधारा पर होती है।	(१) यह वर्त्मधारा के पास पलकों में होती है।
(२) यह एक सप्ताह में पककर फूट जाती है।	(२) यह महीनों या वर्षों तक बनी रहती है।
(३) इसमें छोटे फोड़े के समान दाह, तोद आदि लक्षण हैं।	(३) इसमें ये लक्षण नहीं होते।
(४) प्रारम्भ से ही वेदना होती है।	(४) प्रारम्भ से वेदना नहीं होती. कभी-कभी पकने पर हो सकती है।

बहुलवर्त्मलक्षणं प्राह—

वर्त्मोपचीयते यस्य पिडकाभिः समन्ततः।
सवर्णाभिः स्थिराभिश्च विद्याद्बहुलवर्त्म तत्॥ ८३॥ (सु. उ. ३)

जिस व्यक्ति की पलक चारों ओर से त्वचा के वर्ण की और स्थिर पिडकाओं से व्याप्त होकर मोटी हो जाय उसे 'बहुलवर्त्म' या 'बहलवर्त्म' कहते हैं ॥ ८३ ॥

बहुलवर्त्मलक्षणमाह—वर्त्मोपचीयत इत्यादि । सवर्णाभिस्त्वक्समानवर्णाभिः । एतत् सन्निपातादेव ॥ ८३ ॥

विमर्श—यह त्रिदोषज विकार है । इसे बहु पिडका युक्त उत्सङ्गिनी (Multiple chalazion) कह सकते हैं ।

वर्त्मबन्धकं लक्षयति—

कण्डूमताऽल्पतोदेन वर्त्मशोथेन यो नरः ।
न स संछादयेदक्षि यत्रासौ वर्त्मबन्धकः ॥ ८४ ॥ (सु. उ. ३)

खुजली और अल्प तोद (पीड़ा) से युक्त वर्त्मशोथ से पीडित व्यक्ति जिस अवस्था में आँख को आच्छादित न कर सके उसे 'वर्त्मबन्धक' कहते हैं ॥ ८४ ॥

वर्त्मबन्धकलक्षणमाह—कण्डूमतेत्यादि । वर्त्मशोथेनोपलक्षितो नरः स चक्षुर्न संछादयेत् सम्यक् छादयितुं न शक्नुयादित्यर्थः । एष सन्निपातजः ॥ ८४ ॥

विमर्श—यह सन्निपातज व्याधि है किन्तु प्रवृद्ध कफ के कारण खुजली और मध्यवृद्ध वायु के कारण अल्प तोद होने से इसमें क्रमशः कफ और वायु वृद्धतम एवं वृद्धतर और पित्त का अनुबन्ध मात्र प्रतीत होता है । इस प्रकार के लक्षण वर्त्मीय उदर्द (Angio neurotic oedema) आदि जनित अपाकी शोथ (Non-Inflammatory oedema) में मिलते हैं ।

क्लिष्टवर्त्मलक्षणमाह—

मृद्वल्पवेदनं ताम्रं यद्वर्त्म सममेव च ।
अकस्माच्च भवेद्रक्तं क्लिष्टवर्त्मेति तद्विदुः ॥ ८५ ॥ (सु. उ. ३)

जिस रोग में सभी वर्त्म मृदु, कम पीडा वाले और ताम्रवर्ण के हो जाते हैं तथा अकस्मात् लाल हो जाते हैं उसे क्लिष्टवर्त्म कहते हैं ॥ ८५ ॥

क्लिष्टवर्त्मलक्षणमाह—मृद्वल्पवेदनमित्यादि । रक्तजत्वेऽप्यस्याल्पवेदनत्वमधिककफदूषितत्वाद्रक्तस्य । वर्त्मेति विदेहदर्शनाद्वर्त्मद्वयं ग्राह्यम्, अत एव समं युगपदेवेत्यर्थः । अकस्मादित्यहेतोरनियमेनैवेत्यर्थः । ताम्रमित्यनेनोपात्तेऽपि लौहित्ये रक्तमित्युपादानं हेत्वनियमप्रयुक्तं कादाचित्कं लौहित्यमिति द्योतयति । अत्रैव विदेहः-'श्लेष्मदुष्टेन रक्तेन क्लिष्टं मांसमिवोभयम् । बन्धुजीवनिभं वर्त्म क्लिष्टवर्त्म तदुच्यते ॥' इति । अन्ये सममनुच्छूनं यावदित्याचक्षते । अत्र पक्षे क्लिष्टत्वं वेदनातियोगादवगन्तव्यम् ॥ ८५ ॥

विमर्श—यह श्लेष्मरक्तज व्याधि है । इसमें दोनों वर्त्म आक्रान्त होते हैं—

श्लेष्मदुष्टेन रक्तेन क्लिष्टं मांसमिवोभयम् ।
बन्धुजीवनिभं वर्त्म क्लिष्टवर्त्म तदुच्यते ॥

यह वर्त्मशोफ (Oedema of lid) का सांस्थानिक (Systemic) प्रकार प्रतीत होता है । यह वृक्क या हृदय रोगों में उत्पन्न हो सकता है ।

---

१. 'न समं छादयेदक्षि भवेद्बन्धः सवर्त्मनः' इति ख. । २. 'न संछादयेदिति सशोथत्वाद्यथावन्नयनं न पिदधाति' इति क. ।

वर्त्मकर्दमलक्षणं व्याचष्टे—

क्लिष्टं पुनः पित्तयुतं शोणितं विदहेद्यदा ।
ततः क्लिन्नत्वमापन्नमुच्यते वर्त्मकर्दमः ॥ ८६ ॥ (सु. उ. ३)

(पूर्वोक्त) क्लिष्टवर्त्म में ही जब पित्त युक्त होकर रक्त विदाह उत्पन्न करता है तो वर्त्म क्लिन्न (गीला) हो जाता है। इस अवस्था को 'वर्त्मकर्दम' कहते हैं ॥ ८६ ॥

वर्त्मकर्दमलक्षणमाह—क्लिष्टं पुनरित्यादि । (क्लिष्टमिति प्रागुक्तस्य कर्तृत्वेनायमर्थः—क्लिष्टं क्लिष्टवर्त्मैव यदा पित्तलाभ्यासादधिकपित्तं सच्छोणितं विदहेद्विरुद्धदाहेन संयोजयेत्तदा क्लिष्ट(न्न)त्वमापादयति, संक्लेदत्वमापन्नं वर्त्मकर्दम उच्यत इति योज्यम् ।) 'ततः कृष्णत्वमापन्नम्' इत्यन्ये पठन्ति। तत्र कृष्णत्वं शोणितविदाहेनैव। एवं च सति कृष्णत्वेन कर्दमसंज्ञासमावेशोऽपि घटते[२] इति । कार्तिकस्त्वन्यथा व्याचष्टे—शोणितमिति कर्तृपदं, तेन शोणितं पित्तयुक्तं कर्तृभूतं, यदा पूर्वोक्तं क्लिष्टमेव विदहेदित्यादि सर्वमपरं समानं पूर्वेण । अस्य[३] तु सुश्रुते यत् सान्निपातिकत्वमुक्तं तत् कफपित्तरक्तारब्धत्वात्, वातकरणत्वस्याश्रुतेः॥

विमर्श—यह भी वर्त्मशोथ (Oedema of lid) का ही सपाकी (Inflammatory) प्रकार प्रतीत होता है। आरम्भ में इसके लक्षण पूर्वोक्त क्लिष्टवर्त्म के समान ही होते हैं किन्तु प्रबलपित्त और रक्त से पाक होने पर इसमें क्लिन्नता (गीलापन) आ जाती है। यह अवस्था नेत्र, नेत्रगुहा अथवा नेत्रसमीपस्थ अंगों के सपूय शोथ के उपद्रव स्वरूप उत्पन्न होती है।

श्याववर्त्मलिङ्गमाह—

यद्वर्त्म बाह्यतोऽन्तश्च श्यावं शूनं सवेदनम् ।
तदाहुः श्याववर्त्मेति वर्त्मरोगविशारदाः ॥ ८७ ॥ (सु. उ. ३)

जिस अवस्था में वर्त्म बाहर और अन्दर से श्याववर्ण का सूजा हुआ और वेदनायुक्त हो जाता है उसे वर्त्मरोग के ज्ञाता 'श्याववर्त्म' कहते हैं ॥ ८७ ॥

श्याववर्त्मलक्षणमाह—यद्वर्त्म बाह्यत इत्यादि। बहिरन्तश्च श्यावत्वं वातकृतम्। अत्रैव शूनं च जायत इत्यस्यान्ते 'सवेदनं सकण्डु च ह्यल्पक्लेदि त्रिदोषजम्'—इत्यपि केचित् पठन्ति तदप्युपपन्नं; कफात् कण्डूः, अल्पक्लेदि पित्तात्, सवेदनं वातात्। तत्रैव विदेहः—'दुष्टः श्लेष्मा मरुत् पित्तं वर्त्मनोश्चीयते यदा । अग्निदग्धनिभं श्यावं श्याववर्त्मेति तद्विदुः॥' इति । अत्र वाताधिकत्वं बोद्धव्यम् ॥ ८७ ॥

विमर्श—यह भी त्रिदोषज रोग है जैसा कि विदेह के कथन से स्पष्ट है—**दुष्टः श्लेष्मा मरुत् पित्तं वर्त्मनोश्चीयते यदा । अग्निदग्धनिभं श्यावं श्याववर्त्मेति तद्विदुः ॥** अर्थात् जब दुष्ट कफ, पित्त और वायु पलकों में संचित होते हैं तब पलकें आग से जली हुई के समान श्याव (काली) हो जाती हैं उसे 'श्याववर्त्म' कहते हैं। कुछ लोग इस श्लोक के बीच में (दूसरे-तीसरे चरणों के बीच में) **'सवेदनं सकण्डूं च ह्यल्पक्लेदि त्रिदोषजम्'** इतना और अधिक पाठ करते हैं जिसका

---

१. 'पूर्वोक्तलक्षणमेव वर्त्म शोणितं कर्तृ विदहेद्दूषयति । पित्तयुतमिति कफदुष्टमपि रक्तं पित्तकृद्द्रव्याभ्यासात् पित्तमधिकं जातं, ततः क्लिन्नत्वमापन्नमिति आर्द्रतामापन्नं वर्त्मकर्दम इत्युच्यते' क. ।

२. 'तदा क्लिन्नत्वेनापि कर्दमानुकारो बोद्धव्यः' क. ।

३. 'न तु कृष्णत्वमात्रेणायं पित्ताधिकसन्निपातजः' क. ।

अर्थ है 'वेदना और खुजली युक्त और थोड़ा क्लेदयुक्त एवं त्रिदोषज होता है।' इन लक्षणों को देखते हुए यह भी वर्त्मशोथ (Oedema of lid) का ही अभिघातज (Traumatic or Ecchymosis) और विशेषतः कीट-दंश (Sting of insects) जनित प्रकार प्रतीत होता है।

प्रक्लिन्नवर्त्मलक्षणमाह—

अरुजं बाह्यतः शूनं वर्त्म यस्य नरस्य हि।
प्रक्लिन्नवर्त्म तद्विद्यात् क्लिन्नमत्यर्थमन्ततः ॥ ८८ ॥ (सु. उ. ३)

इसमें वर्त्म बाहर से शोथयुक्त एवं पीडारहित होता है किन्तु अन्दर इसमें क्लेद तथा स्राव होता है अतः इसे 'प्रक्लिन्नवर्त्म' कहते हैं ॥ ८८ ॥

प्रक्लिन्नवर्त्मलक्षणमाह—अरुजमित्यादि। अरुजमल्परुजम्। बाह्यतः शूनमिति बहिः शोथयुक्तम्। क्लिन्नमत्यर्थमन्तत इति अन्तत उपान्ते क्लेदवत्। गदाधरस्तु क्लिन्नमन्तरिति विवृणोति। एतच्च चक्षुष्येण पिल्लाख्यया पठितम्। तथा हि—'भृशं प्रक्लिद्यते वर्त्म कण्डूमन्मन्दवेदनम्। विद्यात् प्रक्लिन्नवर्त्मेति तत् पिल्लं सन्निपातजम्॥' इति। यद्येवं कथं विदेहेऽपरिक्लिन्नवर्त्म पिल्लाख्यया निर्दिश्यते। यथा–'प्रक्षालितेऽथवा मृष्टे आनह्येत पुनः पुनः। अपरिक्लिन्नवर्त्मेति तत्पिल्लमिति निर्दिशेत्॥' इति, किंच सुश्रुते प्रक्लिन्नवर्त्म श्लेष्मसंग्रहे पठितं, पिल्लं च सन्निपातजगणे; तत्कथं प्रक्लिन्नवर्त्म पिल्लमिति संगतम्? उच्यते–अक्लिन्नवर्त्मैव पिल्लं. तस्य सन्निपातजत्वात्, न तु प्रक्लिन्नवर्त्म, तस्य कफात्मकत्वात्; यदि तु प्रक्लिन्नवर्त्मैव कफोल्बणसन्निपातजं पिल्लत्वेनाभ्युपगम्यते, एतत् ख्यापनाय च तस्य कफजसर्वगणयोर्निवेशः कृत इति स्वीक्रियते, तदा सन्निपातजगणे पित्तेनाक्लिन्नवर्त्म न परिगृहीतं स्यात्; ततस्तदपरिग्रहे षट्सप्ततित्वोपसंहारो नेत्ररोगाणां न घटते, पञ्चसप्ततेरभिधानात्, पिल्लस्य प्रक्लिन्नवर्त्म स्वरूपत्वेनापृथक्त्वात्। ननु, एवं तर्हि कथं 'विद्यात् प्रक्लिन्नवर्त्मेति तत् पिल्लं सन्निपातजम्' इति समर्थयितव्यम्? उच्यते, (अस्यायमर्थः[1] प्रत्येतव्यः—यदा तदेव प्रक्लिन्नवर्त्म श्लेष्मात्मकमेव सद्वातपित्ताभ्यां विशेषकाभ्यामुपनिरुध्यते तदा सन्निपातजं सदपरिक्लिन्नवर्त्मार्थान्तरमासादयत् पिल्लमित्यभिधीयते, तथा चोभयोरप्यविरोधः, उभाभ्यामेवापरिक्लिन्नवर्त्मन एव पिल्लाख्यत्ववर्णनादिति। अयं च वाग्भटे कफोत्क्लिन्नाख्यतया निरुद्धः,) किंच यदि प्रक्लिन्नवर्त्म पिल्लं तत्पृथक्त्वेन चाक्लिन्नवर्त्म अभविष्यत्, तदास्यौपद्रविके सुश्रुतो दोषात्मकत्वेन साध्यादिभेदेन चाभिधानमकरिष्यत्, न च कृतं, तस्मादक्लिन्नवर्त्मनोऽवस्थान्तरमिति ॥ ८८ ॥

विमर्श—आचार्य चक्षुष्य ने 'प्रक्लिन्नवर्त्म' को किन्तु विदेह ने वक्ष्यमाण 'अक्लिन्नवर्त्म' को 'पिल्ल' कहा है। दोनों ही में अविरोध स्थापित करने के लिये श्रीकण्ठदत्त ने बहुत विवेचन के साथ प्रयत्न किया है और अन्त में विदेह-वचन को ही प्राधान्य दिया है। वस्तुतः दोनों ही आचार्यों का मत ठीक है। प्रत्येक आचार्य अपने-अपने तन्त्र में स्वतन्त्र होता है। प्रत्यक्षदृष्ट्या दोनों ही एक ही रोग के प्रकार हैं। प्रस्तुत श्लोक में आए 'अन्ततः' शब्द का अर्थ किनारों पर करने से 'जिस मनुष्य की पलकें बाहर से पीडारहित शोथयुक्त होती हैं किन्तु किनारों पर ही अधिक

---

१. अस्यायमर्थः प्रत्येतव्यः—तत्प्रक्लिन्नवर्त्मनोऽवस्थान्तरमक्लिन्नवर्त्म अवस्थावशाद्यदा विशेषवातपित्तसंश्लेषादल्पक्लेदं भवति तदा सन्निपातजं सत्पिल्लाख्यं भवति; तन्नूक्तस्वरूपं, तादृशस्य तैर्लिङ्गैः कफजत्वात्, एतेन प्रक्लिन्नवर्त्मनोऽवस्थान्तरमक्लिन्नवर्त्म, तत्पिल्लतया निर्दिश्यते, अन्यथा चक्षुष्येण विरोधो दुर्वारः' इति क.।

क्लेद होता है उसे 'प्रक्लिन्नवर्त्म' कहते हैं' यह अर्थ होता है । इस प्रकार यह आधुनिक विद्वानों द्वारा वर्णित वर्त्मान्त या वर्त्मधाराशोथ (Blepheritis) नामक रोग का निर्देश करता है । उसके दो भेद होते हैं—(१) सव्रण या छिन्न (Ulcerative) (२) अव्रण या शुष्क (Squamous) इस प्रकार सुश्रुतोक्त प्रक्लिन्नवर्त्म या चक्षुष्य का पिल्ल तथा आधुनिक सव्रण वर्त्मान्तशोथ और सुश्रुतोक्त अक्लिन्नवर्त्म या विदेहोक्त पिल्ल एवं आधुनिक अव्रण वर्त्मान्तशोथ एक ही प्रतीत होते हैं ।

अक्लिन्नवर्त्मलक्षणं प्राह—

यस्य धौतान्यधौतानि संबध्यन्ते पुनः पुनः ।
वर्त्मान्यपरिपक्वानि विद्यादक्लिन्नवर्त्म तत् ॥ ८९ ॥ (सु. उ. ३)

जिसके वर्त्म बार-बार धोने पर या बिना धोये ही आपस में चिपक जाते हैं और वर्त्मों का पाक नहीं होता उसे 'अक्लिन्नवर्त्म' कहते हैं ॥ ८९ ॥

अपरिक्लिन्नवर्त्मनो लक्षणमाह—यस्य धौतानीत्यादि । एतद्वाग्भटे पिल्लाख्यम् । संबध्यन्ते अन्योन्यं लग्नानि भवन्तीत्यर्थः । तदिदं संबद्धत्वं किं पूयसंपर्कादेव, तथा च प्रक्लिन्नत्वमेव स्यात्तदर्थमाह—अपरिपक्वानीति । एतदेव पिल्लाख्यम् । अन्यत्र क्वचिच्च पिल्लाख्यमन्यथा पठितं—'पित्तश्लेष्मप्रकोपेण वर्त्मान्तः परिपाट्यते । ताम्रं निर्लोम तच्चापि विशिष्टं पिल्ललक्षणम् ॥' इति । एतदनादृतं, टीकाकृद्भिरव्याख्यातत्वात् । वाग्भटेन कुकूणकादीनामष्टादशानां पिल्लाख्या कृता । वर्त्मानीति बहुवचनं नेत्रद्वये वर्त्मचतुष्टयत्वेन संगच्छते तेन, नेत्रद्वयगत एवायं व्याधिरिति कार्तिकः ॥ ८९ ॥

विमर्श—आचार्य विदेह इसे 'पिल्ल' कहते हैं—

पित्तश्लेष्मप्रकोपेण वर्त्मान्तः परिपाट्यते ।
ताम्रं निर्लोम तच्चापि विशिष्टं पिल्ललक्षणम् ॥

वर्त्मबन्धक से अक्लिन्नवर्त्म पर्यन्त के रोगों का समावेश वर्त्मशोथ की विभिन्न अवस्थाओं में हो जाता है । आधुनिक ग्रन्थों में इसके दो भेद मिलते हैं । १ वर्त्मशोथ (Oedema of lid) २ वर्त्मान्तशोथ (Blepheritis) इन दोनों के भी क्रमशः ४ और २ भेद होते हैं । वर्त्मबन्धक आदि सुश्रुतोक्त ४ रोग वर्त्मशोथ के और प्रक्लिन्न एवं अक्लिन्न वर्त्म आधुनिक वर्त्मान्त शोथ के सव्रण और अव्रण प्रकारों से सामञ्जस्य रखते हैं । (श्लोक ८४ से ८८ तक का विमर्श भी देखिये ।) विदेह ने 'पिल्ल' रोग में वर्त्म का निर्लोम होना विशिष्ट लक्षण बतलाया है । इसी लक्षण वाले पक्ष्मशात नामक रोग का संग्रह किसी ग्रन्थ से माधव ने किया है । वाग्भट ने भी उसका वर्णन किया है पर सुश्रुत ने नहीं क्योंकि वस्तुतः उसका समावेश इसी रोग में हो जाता है ।

इस श्लोक में 'वर्त्मानि' यह बहुवचन प्रयोग दोनों आँखों में दो-दो वर्त्म (पलकें) होने से चारों का निर्देश के लिये है । इससे यह रोग चारों पलकों में होता है इसका भी निर्देश होता है ।

वातहतवर्त्मलक्षणं व्याचष्टे—

विमुक्तसन्धि निश्चेष्टं वर्त्म यस्य न मील्यते ।
एतद्वातहतं वर्त्म जानीयादक्षिचिन्तकः ॥ ९० ॥ (सु. उ. ३)

(वर्त्म और शुक्लगत) सन्धि के विश्लिष्ट हो जाने पर चेष्टारहित होकर जब पलक बन्द नहीं होती तो उसे नेत्ररोगविशेषज्ञ 'वातहतवर्त्म' कहते हैं ॥ ९० ॥

वातहतवर्त्मलक्षणमाह—विमुक्तसन्धीत्यादि । विमुक्तो विश्लिष्टो वर्त्मशुक्लगतः सन्धिर्यस्मात् तत्तथा, स्थानच्युतसन्धि । निश्चेष्टं निमेषोन्मेषरहितम् । सन्धिविश्लेषादेव तदाश्रयाणां निमेषोन्मेषकारिणीनां सिराणामपि विश्लेषेण निमेषोन्मेषरहितत्वमित्यभिप्रायः। अत एवोक्तं न मील्यते न संकुचतीत्यर्थः । 'निमील्यत' इति पाठान्तरं, तत्र निमीलितमेव तिष्ठतीत्यर्थः । इदं युक्तं, दृष्टत्वात् । एतच्च साध्यं, सुश्रुतेऽसाध्यप्रकरणे पठितत्वादिति ॥९०॥

विमर्श—इस अवस्था को अक्षिपुट-निमीलनाभाव (Lagophthalmos) कह सकते हैं। इस अवस्था में पलक अक्षिपुट को पूर्णतया आवृत नहीं कर पाते । आँख के निरन्तर खुले रहने से नेत्रश्लेष्मावरण और कृष्णमण्डल के आघात का भय रहता है । इस प्रकार की अवस्था सातवीं शीर्षण्य नाडी (VII Cranial nerve) के घात (Paralysis) से नेत्रनिमीलिनी पेशी (Orbicularis muscle) के क्रियाहीन होने से उत्पन्न होती है । इसके अतिरिक्त नेत्रवर्त्म के बाह्यावर्तन (Ectropion) में भी यह अवस्था हो सकती है । कुछ स्थानों पर 'न मील्यते' के स्थान पर 'निमील्यते' पाठ मिलता है उसके आधार पर कुछ विद्वान् इसे आधुनिक वर्त्मपात (Ptosis) रोग से तुलना करते हैं किन्तु उसका सादृश्य वक्ष्यमाण 'निमेष' रोग से ही करना उचित प्रतीत होता है । (निमेष श्लोक ९२ का विमर्श देखें)

अर्बुदं लक्षयति—

वर्त्मान्तरस्थं विषमं ग्रन्थिभूतमवेदनम् ।
आचक्षीतार्बुदमिति सरक्तमविलम्बितम् ॥ ९१ ॥ (सु. उ. ३)

पलक के भीतरी भाग में उत्पन्न होने वाले विषम, अल्प पीडा युक्त, लालवर्ण के और शीघ्र बढ़ने वाले ग्रन्थिरूप रोग को 'वर्त्मार्बुद' कहते हैं ॥ ९१ ॥

अर्बुदलक्षणमाह— वर्त्मान्तरस्थमित्यादि । वर्त्मनोऽभ्यन्तरस्थं, बाह्येऽप्युन्नतत्वदर्शनाद्विषमम्[1] । ग्रन्थिभूतं ग्रन्थिरूपेण स्थितम् । अवेदनमिति ईषदर्थे नञ्, तेन ग्रन्थिरिवाल्पवेदनमित्यर्थः, वेदना च वातानुबन्धेनैव । सरक्तमिति किंचिद्रक्तं, पित्तानुबन्धात् । अविलम्बितं शीघ्रजन्मेत्यर्थः । केचिदत्र क्रियाविशेषणं ब्रुवते, तेनायमर्थः—अविलम्बितं शीघ्रमाचक्षीतार्बुदमिति; किं त्वेतन्न सङ्गतम्, अस्य व्याख्यानस्य निष्प्रयोजनत्वात् । अन्ये तु 'अवलम्बितम्' इति पठन्ति । एतत् सन्निपातजम् (अपाकि च, तच्च कफेन[2]) ॥ ९१ ॥

विमर्श—पलकों पर भी अन्य स्थानों की ही भाँति अनेक सौम्य या घातक अर्बुद हो सकते हैं । विषमता और शीघ्र बढ़ना यह दोनों ही घातक प्रकार का ही निर्देश करते हैं किन्तु इसे सान्निपातिक होते हुए भी साध्य माना गया है । अतः यह विषय और भी विचार की अपेक्षा रखता है । कुछ लोग **'अविलम्बितम्'** के स्थान पर **'अवलम्बि च'** या **'अवलम्बितम्'** अर्थात् 'लटकने वाला' यह पाठ स्वीकार करते हैं ।

निमेषलक्षणमाह—

निमेषिणीः सिरा वायुः प्रविष्टः सन्धिसंश्रयाः[3] ।
प्रचालयति वर्त्मानि निमेषं नाम तद्विदुः ॥९२॥ (सु. उ. ३)

जब (वर्त्मशुक्लगत) सन्धि में रहने वाली सिराओं में वायु प्रविष्ट होकर पलकों को अत्यधिक चलायमान कर देती है तो उस रोग को 'निमेष' कहते हैं ॥ ९२ ॥

१. 'विषमं वर्तुलम्' क. । २. अयं पाठः क. पुस्तके नोपलभ्यते । ३. 'वर्त्म' इति क. ।

निमेषलक्षणमाह—निमेषिणीरित्यादि । निमेषिणीः निमेषकारिकाः सिराः । सन्धिसंश्रया इति वर्त्मशुक्लगता इत्यर्थः । अयमसाध्यो वातजः । चक्षुष्येण चोन्मेषणीः सिरा इत्युक्तं, तदाह—'उन्मेषणीः सिरा वायुः प्रविश्य चावतिष्ठते । अत्यर्थं चालयेद्वर्त्म निमेषः स न सिध्यति ॥' इति ॥ ९२ ॥

विमर्श—यह वातज और असाध्य रोग कहा गया है । वाग्भट के वर्णनानुसार कुछ विद्वान् **'प्रचालयति'** का 'चञ्चल होना' या 'आँख फड़कना' अर्थ मानते हैं । उनके मत से तीसरी या सातवीं शीर्षण्य नाडियों के विकार स्वरूप रोग की उत्पत्ति होती है। इसे आधुनिक विद्वान् (Blepherospasm) कहते हैं । किन्तु 'वातहतवर्त्म' के द्वारा आँखों के ढकने में पलकों का असमर्थ होना बतलाया गया है । प्रसङ्गतः उसके खोलने में असमर्थ होने का वर्णन भी युक्तिसंगत प्रतीत होता है । आचार्य चक्षुष्य ने तो स्पष्ट ही उन्मेषणी (नेत्रोन्मीलनी) सिराओं में वायु का स्थिर होकर वर्त्म का चालन करना बतलाया है । अतः **'प्रचालयति'** का अर्थ 'स्थानभ्रष्ट कर देता है' स्वीकार करना भी उचित है । नेत्रोन्मीलनी पेशी के अपूर्ण विकास या वध (Paralysis) के कारण ही ऊपरी पलक नीचे की ओर लटकी रहती है जिससे रोगी की आँखें ढपी रहती हैं । जब रोगी को सामने देखना होता है तो वह गर्दन को पीछे की ओर झुका लेता है और ललाट देश की पेशियों से पलक को ऊपर खींचने में सहायता लेता है जिससे ललाट देश में झुर्रियाँ पड़ जाती हैं । यह रोग भी वातज और शस्त्रकर्म के बिना असाध्य ही होता है । आधुनिक विद्वान् इसे 'टोसिस' (Ptosis) कहते हैं । ध्यान रहे आँखों का फड़कना न तो स्थायी होता है और न असाध्य ही। फिरभी यदि **'चालयन् वर्त्मनी वायुर्निमेषोन्मेषणं मुहुः। करोत्यरुङ्निमेषोऽसौ'** इस वाग्भट-वचनानुसार इसे वर्त्म का आक्षेप ही माना जाये तो पूर्वोक्त 'वातहतवर्त्म' के लक्षण में सुश्रुतानुसार **'न मील्यते'** और वाग्भटानुसार **'निमील्यते'** इन दोनों पाठों को स्वीकार कर 'वातहतवर्त्म' के दो प्रकार स्वीकार करने पड़ेंगे। (१) निमीलनाक्षम (Lagophthalmos) (२) उन्मीलनाक्षम (Ptosis) ।

शोणितार्शोलक्षणं प्राह—

यः स्थितो वर्त्ममध्ये तु लोहितो मृदुरङ्कुरः ।
तद्रक्तजं शोणितार्शश्छिन्नं छिन्नं प्रवर्धते ॥ ९३ ॥ (सु. उ. ३)

पलक में जो लालवर्ण का कोमल अंकुर उत्पन्न हो जाता है उस रक्तज विकार को शोणितार्श कहते हैं । काटने पर इनकी बार-बार वृद्धि हो जाती है ॥ ९३ ॥

शोणितार्शोलक्षणमाह—यः स्थित इत्यादि । अङ्कुराकारो मांसोच्छ्रयोऽङ्कुरः । एतदसाध्यं, तथा च विदेहः—'वायुः शोणितमादाय सिराणां प्रमुखे स्थितः । जनयत्यङ्कुरं ताम्रं वर्त्मनि च्छिन्नरोहणम् ॥ तच्छोणितार्शोऽसाध्यं स्याद्रक्तस्राव्यथ नीरुजम्' इति ॥ ९३ ॥

विमर्श—बार-बार होने के कारण इस विकार को असाध्य माना है । इनका आकार मस्सों (Warts) जैसा होता है । इनमें जलन और खुजली होती है । पूर्वोक्त 'अर्शोवर्त्म' और 'शुष्कार्श' पक्ष्ममूल के पास होते हैं और यह शोणितार्श वर्त्म में कहीं भी हो सकता है । यही इनका परस्पर भेदक लक्षण है । अथवा इसे रक्तज अर्श (Neavus) मान सकते हैं । वाग्भट ने तो इसकी

१. 'वर्त्मस्थो योऽभिवर्धेत' क. । २. तद्रजं शोणितात्सर्वं छिन्नं छिन्नं प्रवर्धते ।

उत्पत्ति वर्त्म के भीतर मानी है तथा उन्हीं के समान विदेह ने भी इसमें रक्तस्रावहीना भी बतलाया है।

लगणाख्यं व्याधिं प्राह—

अपाकी कठिनः स्थूलो ग्रन्थिर्वर्त्मभवोऽरुजः।

लंगणो नाम स व्याधिर्लिङ्गतः परिकीर्तितः ॥९४॥ (सु. उ. ३)

पलक में होनेवाली पाकरहित, कठिन, स्थूल और पीडारहित ग्रन्थि को **लगण** कहते हैं॥

लगणलक्षणमाह—अपाकीत्यादि। अपाकित्वादिकं श्लेष्मारब्धत्वादेव। तथा च सात्यकिः—'वर्त्मोपरिष्टाद्यो ग्रन्थिः कठिनो न विपच्यते। नीरुजो लगणो नाम रोगः श्लेष्मसमुद्भवः॥' इति॥ ९४॥

विमर्श—यह श्लेष्मज व्याधि है; क्योंकि इसमें पाक नहीं होता।

इसे पलक के बाहर का सौम्य या साध्य अर्बुद कह सकते हैं। कुछ लोग इसे जलपिण्डग्रंथि (Meibomian cyst) मानते हैं (विशेष वर्णन उत्सङ्गिनी के विमर्श में देखें) किन्तु यह इतनी बड़ी नहीं होती तथा इसमें कभी-कभी पाक भी हो जाता है और लगण में पाक कदापि नहीं होता।

बिसवर्त्मलक्षणमाह—

त्रयो दोषा बहिःशोथं कुर्युश्छिद्राणि वर्त्मनोः।

प्रस्रवन्त्यन्तरुदकं बिसवद्बिसवर्त्म तत् ॥ ९५ ॥ (सु. उ. ३)

तीनों दोष पलकों में बाह्यशोथयुक्त छिद्र उत्पन्न कर देते हैं। कमलनाल के समान इनसे आन्तरिक जल का स्राव होता रहता है। इसी लिये इस रोग को बिसवर्त्म कहते हैं॥ ९५॥

बिसवर्त्मलक्षणमाह—त्रयो दोषा इत्यादि। बहिःशोथमिति बहिरुच्छूनत्वं यथा भवति तथा वर्त्मनोश्छिद्राणि दोषास्त्रयः कुर्युरित्यर्थः। तानि छिद्राणि अन्तर्मुखान्येव, यदाह—प्रस्रवन्त्यन्तरुदकमिति। छिद्राणीति बहुवचननिर्देशाद्बहुमुखानि, अत्रापि दोषाः कुर्युरिति संबन्धः। अत एव बिसवन्मृणालवत्, तच्चानेकच्छिद्रयुक्तं भवति तद्वत्। अत्रैव चन्द्रिकाकारः सुश्रुते पठति–'शूनं यद्वर्त्म बहुभिः श्लक्ष्णैश्छिद्रैः समन्वितम्। वर्त्मान्तरे बिसमिव बिसवर्त्मेति तत् स्मृतम्॥' इति। सात्यकिरप्याह—'बिसस्योपचितस्येव बहुमांससिरामुखम्। बिसवर्त्मेति जानीयाद् दुश्चिकित्स्यं त्रिदोषजम्' इति॥ ९५॥

विमर्श—अर्वाचीन पीतसर्षपिका (Kanthalasma) नामक रोग के समान इसके लक्षण होते हैं। यह रोग वृद्धा स्त्रियों में अधिक होता है।

कुञ्चनस्य लक्षणमाह—

वाताद्या वर्त्मसंकोचं जनयन्ति मला यदा।

तदा द्रष्टुं न शक्नोति कुञ्चनं नाम तद्विदुः ॥ ९६ ॥ (सु. उ. ३)

वात आदि दोष जब पलक का संकोच कर देते हैं तो रोगी देखने में असमर्थ हो जाता है। इस अवस्था को **कुञ्चन** कहते हैं॥ ९६॥

---

१. 'सकण्डुः पिच्छिलः कोलसंस्थानो लगणस्तु सः' क.।

कुञ्चनलक्षणमाह—वाताद्या इत्यादि । मला इत्यस्याभिधानं दुष्टत्वप्रतिपादनार्थं, यतो 'मलिनीकरणान्मला' इत्युच्यन्ते । कुञ्चनं च कस्यापि तन्त्रस्य माधवकरेण लिखितं न सौश्रुतं, तेन सुश्रुतोक्तषट्सप्ततिसंख्या न हीयते, एवं वक्ष्यमाणेऽपि पक्ष्मशाते बोद्धव्यम् ॥ ९६ ॥

विमर्श—कुछ विद्वान् आधुनिकदृष्ट्या इसे वर्त्म का अपचय (Atrophy of lid) मानते हैं किन्तु उसमें देखने में असमर्थता का कोई कारण नहीं प्रतीत होता । अतः इसे आधुनिक वर्त्म-जाड्य (Ankyloblepheron) मानना उचित प्रतीत होता है । इसमें दोनों पलकें आपस में संसक्त हो जाती हैं जिससे नेत्रच्छिद्र बहुत संकुचित हो जाता है । पलकों के पूरा न खुलने से देखने में भी बाधा या असमर्थता होती है । यह संसक्ति आंशिक (Partial) या पूर्ण (Complete) एवं सहज और जातोत्तर भी हो सकती है । बहुधा साथ में वर्त्म-कृष्ण संसक्ति (Symblepheron) भी रहती है ।

सुश्रुत ने इसका वर्णन नहीं किया है अतः सुश्रुत ने जो ७६ नेत्ररोगों की प्रतिज्ञा की है उसमें कोई दोष नहीं आता ।

पक्ष्मकोपं लक्षयति—

प्रचालितानि वातेन पक्ष्माण्यक्षि विशन्ति हि ।
घृष्यन्त्यक्षि मुहुस्तानि संरम्भं जनयन्ति च ॥ ९७ ॥
असिते सितभागे च मूलकोषात् पतन्त्यपि ।
पक्ष्मकोपः स विज्ञेयो व्याधिः परमदारुणः ॥९८॥ (सु. उ. २)

वायु के द्वारा विरुद्ध दिशा में मोड़े गये पक्ष्म (Eye lashes) आँख में प्रविष्ट हो जाते हैं और बार-बार नेत्रगोलक पर रगड़ खाते हैं जिससे श्वेत और कृष्ण दोनों भागों में शोथ उत्पन्न हो जाता है; पक्ष्म अपने मूलकोष से गिरने भी लगते हैं; इस भयंकर व्याधि को 'पक्ष्मकोप' कहते हैं ॥

पक्ष्मकोपलक्षणमाह—प्रचालितानीत्यादि । प्रचालितानि प्रकर्षेण चालितानि, प्रतीपीकृतानीत्यर्थः । पक्ष्माणि वर्त्मरोमाणि वातचालितानि सन्ति नेत्रं प्रविशन्ति अन्तर्मुखानि वर्त्मन इत्यर्थः । तान्यसिते कृष्णमण्डले, सितभागे शुक्लमण्डले वा अक्षि घृष्यन्ति घर्षयन्तीत्यर्थः । अत एव संरम्भं शोथं जनयन्ति । मूलकोषात् पक्ष्मकोषात्, पतन्त्यपीति 'पक्ष्माणि' इति शेषः, अपिशब्दान्न पतन्ति च । त्रिदोषजश्चायं, प्रचालने वातमात्रकारणत्वमुक्तं; तथा च चन्द्रिकाकारः पाठान्तरं पठति—'पक्ष्माशयगता दोषास्तीक्ष्णाग्राणि खराणि च । निर्वर्तयन्ति पक्ष्माणि तैर्घृष्टं चाक्षि दूष्यते ॥ उद्धृतैरुद्धृतैः शान्तिः पक्ष्मभिश्चोपजायते ।' इति । अतः पक्ष्माशयो वर्त्म । विदेहोऽप्याह–'यस्य वातसंबन्धेन दोषाः प्रकुपितास्त्रयः' इत्यादिनेति । कल्याणविनिश्चये उपपक्ष्म पठ्यते–'पक्ष्मोपरोधो वातेन कोठोऽन्तर्मुखरोगवान् । रोमैरन्तर्मुखैरन्यैरुपपक्ष्म मलैस्त्रिभिः ॥' इति । उपपक्ष्मणि यादृशी पूर्वसिद्धा तादृश्यपराऽन्तर्मुखी पक्ष्मपङ्क्तिरिति भेदः, अस्य पक्ष्मोपरोधविशेषत्वात् समानचिकित्स्यत्वाच्च पृथगिहानभिधानम् ॥ ९७–९८ ॥

विमर्श—कभी पक्ष्म (बरौनी) के कुछ बाल अस्वाभाविक रूप में भीतर की ओर को मुड़ जाते हैं और शुक्ल एवं कृष्ण मण्डल पर रगड़ने से क्षोभ और शोथ आदि उत्पन्न करते हैं । साधारण बोल-चाल में इस रोग को 'परवाल' कहा जाता है । कभी-कभी पक्ष्म-धारा के स्वाभाविक बालों के अतिरिक्त अन्दर की ओर बालों की एक दूसरी पङ्क्ति भी पलकों में उत्पन्न हो जाती है ।

---

१. 'मूलस्थानात्' क. ।

इसका कारण पक्ष्माशय या बरौनी मूल में दोषों का अवस्थान है। प्राकृत पक्ष्मों की दिशा बाहर की ओर होती है किन्तु इस द्वितीय धारा की दिशा अन्दर नेत्र की ओर होती है, जिससे परवाल निरन्तर श्वेत और कृष्णभाग पर रगड़ कर उनमें शोथ उत्पन्न कर देते हैं। इसके निम्न लक्षण होते हैं—

(१) सतत अश्रुस्राव (Lacrymation) (२) नेत्रकला में क्षोभ तथा पीडा (३) प्रकाश-संत्रास (Photophobia) (४) अव्रण शुक्र (Opacity) तथा सव्रण शुक्र (Ulceration of cornea)

आधुनिक ग्रन्थों में स्वाभाविक बालों के भीतर की ओर मुड़ने को 'ट्रिकियेसिस' (Tricia-sis) और दूसरी पक्ष्मपङ्क्तिको डिस्ट्रिकियेसिस (Disrichiasis) कहते हैं; इसके अतिरिक्त नेत्रकला के चिरकालीन शोथ तथा रोहों के उपद्रवस्वरूप पलक की तरुणास्थि मोटी हो जाती है। अन्त में वह अन्दर को मुड़कर यह अवस्था उत्पन्न करती है। कभी-कभी नेत्र की निमीलनी पेशी (Orbicularis muscle) में खिंचाव होने से भी यह दशा उत्पन्न हो सकती है। इसके लक्षण भी पूर्ववत् ही होते हैं। वर्त्म के अन्तर्विवर्तन (Entropion) में भी यह दशा पायी जाती है।

गदाधरसम्मत पाठान्तर में पक्ष्मकोप का वर्णन निम्नलिखित रूप में भी मिलता है—

दोषाः पक्ष्माशयगतास्तीक्ष्णाग्राणि खराणि च। निर्वर्तयन्ति पक्ष्माणि तैर्घृष्टं चाक्षि दूयते॥
उद्धृतैरुद्धृतैः शान्तिः पक्ष्मभिश्चोपजायते। वातातपानलद्वेषी पक्ष्मकोपः स उच्यते॥

अष्टांगहृदय और कल्याणविनिश्चय आदि ग्रन्थों में पूर्वोक्त तीनों ही प्रकारों का सुस्पष्ट वर्णन मिलता है, यथा—

पक्ष्मोपरोधे संकोचो वर्त्मनां जायते तथा। खरतान्तर्मुखत्वं च रोम्णामन्यानि वा पुनः॥
कण्टकैरिव तीक्ष्णाग्रैर्घृष्टं तैरक्षि शूयते। उच्यते चानिलादिद्विडल्पाहः शान्तिरुद्धृतैः॥
(अ. हृ. उ. तं. ९)

अर्थात् जब वर्त्मों का संकोच इस प्रकार हो जाता है कि रोम (पक्ष्म) खर और अन्तर्मुख हो जाते हैं अथवा स्वाभाविक रोमों में ही खरता और अन्तर्मुखता आ जाती है या अन्य रोमपंक्ति का उद्गम हो जाता है तो यह नेत्रों में घर्षणादि करते हैं।

कल्याणविनिश्चय में दूसरी पंक्ति के उद्गम को 'उपपक्ष्म' संज्ञा दी गयी है। व्यावहारिक सुविधा एवं आधुनिक वर्णन से तुलना की दृष्टि से पूर्वोक्त तीनों संज्ञाओं को विशिष्ट अर्थ में रूढ मानना उचित होगा। यथाः—

(१) वर्त्मसंकोच या पक्ष्मोपरोध = Entropion. (२) पक्ष्मवर्तन या पक्ष्मकोप = Trichiasis.
(३) उपपक्ष्म = Districhiasis.

पक्ष्मशातं प्राह—

वर्त्मपक्ष्माशयगतं पित्तं रोमाणि शातयेत्।
कण्डूं दाहं च कुरुते पक्ष्मशातं तमादिशेत्॥ ९९॥

वर्त्मपक्ष्म के आशय में रहने वाला पित्त पलक के बालों को गिरा कर नेत्र में खुजली और जलन उत्पन्न कर देता है। इस अवस्था को 'पक्ष्मशात' कहते हैं॥ ९९॥

सर्वनेत्ररोगाणां संग्रहं वर्णयति—

(नव सन्ध्याश्रयास्तेषु वर्त्मजास्त्वेकविंशतिः।
शुक्लभागे दशैकश्च चत्वारः कृष्णभागजाः॥ १॥

सर्वाश्रयाः सप्तदश दृष्टिजा द्वादशैव तु ।
बाह्यजौ द्वौ समाख्यातौ रोगौ परमदारुणौ ॥२॥) (सु. उ. ३)

सन्धि में ९, वर्त्म में २१, शुक्ल भाग में ११, कृष्ण भाग में ४, सर्वगत १७, दृष्टिगत १२ और बाह्यज २ भयंकर रोग होते हैं ॥ १-२ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने नेत्ररोगनिदानं समाप्तम् ॥ ५९ ॥

पक्ष्मशातलक्षणमाह—वर्मेत्यादि । पक्ष्माशयोऽत्र पक्ष्ममूलं, शातयेदुन्मूलयेदित्यर्थः । अयं[1] च कफपैत्तिकः, कण्डूदाहवत्त्वात् । अत्र कृच्छ्रोन्मीलनं वाग्भटः पठति—'रोगान् कुर्याच्चलस्तत्र प्राप्य वर्त्माश्रयाः सिराः । सुप्तोत्थितस्य कुरुते वर्त्मस्तम्भं सवेदनम् ॥ पांशुपूर्णाभनेत्रत्वं कृच्छ्रोन्मीलनमश्रु च । विमर्दनात् स्याच्च शमः कृच्छ्रोन्मीलं वदन्ति तम्' (वा. उ. ८) इति । अस्य चकारेण संग्रहः । पक्ष्मणां वर्त्माश्रयत्वादयमपि वर्त्मरोग एव । इति वर्त्मगता एकविंशतिर्व्याधयः समाप्ताः ॥ ९९ ॥ इतिवर्त्मगताः ।

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां नेत्ररोगनिदानं समाप्तम् ॥ ५९ ॥

विमर्श—कुछ विद्वान् पक्ष्मशात को पक्ष्ममूल में स्थित सूक्ष्मकीटजनित मानते हैं और कुछ वर्त्मपक्ष्म सन्धि (वर्त्मान्त या वर्त्मधरा) शोथ (Blepharitis) मानते हैं । सुश्रुत ने इस रोग का पृथक् वर्णन नहीं किया है । यह कफपित्तज व्याधि है; क्योंकि इसमें खुजली और दाह दोनों होते हैं । वाग्भट ने कृच्छ्रोन्मीलन नामक एक रोग का वर्णन अधिक किया है :—

वायु वर्त्माश्रित सिराओं में पहुँचकर विविध लक्षणों को पैदा करती है । इससे सोकर उठने पर पलकों में स्तम्भ हो जाता है । आँखों में धूल से भरे प्रतीत होते हैं, आँखें कष्ट से बन्द होती हैं और उनसे अश्रुस्राव होता रहता है । मर्दन से इन लक्षणों की शान्ति हो जाती है । इस रोग को 'कृच्छ्रोन्मीलन' कहते हैं । (मूल श्लोक मधुकोश व्याख्या में देखिए ।)

सुश्रुत के अनुसार कुल नेत्र रोगों की संख्या ७६ होती है किन्तु माधव ने कुञ्चन और पक्ष्मशात का अधिक उल्लेख किया है अतः इनके अनुसार नेत्र रोगों की संख्या ७८ हो जाती हैं । सुश्रुत ने भी बालरोगाध्याय में 'कुकूणक' नामक एक नेत्र रोग का उल्लेख किया है किन्तु वह बालकों में ही होता है अतः उसका संग्रह यहाँ नहीं किया है । यह ७६ नेत्र रोग, बाल, वृद्ध युवा, स्त्री, पुरुष सभी को हो सकते हैं ।

समाप्तं चेदं नेत्ररोगनिदानम् ।

---

१. 'कण्डूरत्र पित्तदूषितरक्तभवा' इति क. ।

अथ शिरोरोगनिदानम्

कारणभेदेन शिरोरोगभेदं दर्शयति—

शिरोरोगास्तु जायन्ते वातपित्तकफैस्त्रिभिः ।
सन्निपातेन रक्तेन क्षयेण क्रिमिभिस्तथा ॥
सूर्यावर्तानन्तवातार्धावभेदकशङ्खकैः ॥ १ ॥ (सु. उ. २५)

वात, पित्त, कफ, सन्निपात, रक्त, क्षय, क्रिमि, सूर्यावर्त, अनन्तवात, अर्धावभेदक तथा शङ्खक नामों से (ग्यारह) शिरोरोगों की उत्पत्ति होती है ॥ १ ॥

अथ[1] कर्णनासानेत्राणामधिष्ठानत्वेन शिरसो नयनरोगानन्तरं शिरोरोगनिदानारम्भः । शिरोरोगाश्चैकादश, तत्र कारणभेदेन शिरोरोगभेदं दर्शयन्नाह—शिरोरोगास्त्वित्यादि । वातपित्तकफैरित्युक्ते गम्यत एव त्रिभिरिति, तत्कथं तदुक्तिः[2]? उच्यते—सर्वेषां शिरोरोगाणां सन्निपातजत्वख्यापनार्थं, वातादिभेदश्चोत्कर्षात् ; तदुक्तं शालाक्ये—'सर्व एव शिरोरोगाः सन्निपातसमुत्थिताः । औत्कव्याद्दोषलिङ्गैस्ते कीर्तितास्तद्विदा दश ॥'—इति । त्रिभिः सन्निपातेनेति पदद्वयेन प्रकृतिविकृतिसमवेतसन्निपातद्वयमाहुरन्ये । अत्र पक्षे सन्निपातजत्वादेकत्वगणनया न संख्यातिरेकः; त्रिभिरिति पदं पृथक्त्वद्योतनार्थमिति[3] गदाधरः । क्षयेणेति असृग्वसादीनां क्षयेण; क्षयजोऽयं धातुक्षयजनितवातकोपेन सहसाकृतवातजन्यत्वेनाचयपूर्वकः, वातजस्तु सञ्चयप्रकोपजनित इति भेदः; अत एवानुपशयोऽप्यस्य संस्वेदनादिना शुक्रक्षयकृदेवोपन्यस्तः[4] । शिरोरोगशब्देन शिरोगतशूलरूपा रुजाऽभिधीयते, तेन सूर्यावर्तानन्तवातार्धावभेदकशङ्खकैरित्यभिधानमुपपद्यते अन्यथा तेषामेव शिरोरोगत्वात्तैः शिरोरोगा जायन्त इत्यसंगतं स्यात् ॥ १ ॥

विमर्श—प्राचीन शालाक्य तन्त्र में मुखरोग, नासारोग, कर्णरोग तथा नेत्ररोग के समान सिर के रोगों का भी वर्णन मिलता है । शिरोरोग कहने से सामान्यतया सिर में होने वाले सम्पूर्ण रोगों का ग्रहण करना चाहिये । कुछ विद्वानों ने इसी प्रकार का संग्रह किया भी है । किन्तु प्राचीन आयुर्वेद के संहिता ग्रन्थों में इस प्रकार का वर्गीकरण नहीं मिलता । उन्होंने सिर की विद्रधि, ग्रन्थि, अर्बुद आदि का वर्णन शल्यतन्त्रान्तर्गत उन उन रोगों में किया है । इसी तरह कुछ रोगों का कायचिकित्सा में और कुछ का क्षुद्र रोगों (अरूंषिका, दारुणक, खालित्य, पालित्य आदि) में समावेश कर दिया है । प्रकृत में शिरोरोग से सिर के शूल का ग्रहण करना चाहिये । यदि इस से सिर के सभी रोगों का ग्रहण किया जाय तो **'सूर्यावर्तानन्तवातार्धावभेदकशङ्खकैः'** सुश्रुत का यह वचन व्यर्थ होता है; क्योंकि सूर्यावर्त आदि स्वयं भी सिर के रोग हैं वे पुनः सिर के किन रोगों को उत्पन्न करते हैं । इसके अतिरिक्त प्राचीन ग्रन्थों में भी सिर में होने वाले विभिन्न रोगों का वर्णन इससे पृथक् ही किया गया है । इस प्रकार शिरोरोग से सिर के शूल का ही ग्रहण किया जाता है । मधुकोशकार और चक्रपाणि का भी यही मत है—**'शिरोरोगशब्देन शिरोगतशूलरूपा रुजाभिधीयते, तेन सूर्यावर्तानन्तवातार्धावभेदकशङ्खकैरित्यभिधानमुपपद्यते**

१. 'शिरःसंश्रितान् श्रवणादिरोगानभिधायोर्ध्वजत्रुगतपारिशेष्यादाश्रयभूतशिरोरोगनिदानम्' क. । २. 'तत्किमर्थं पुनरभिधानं' क. । ३. 'द्योतनार्थं' क. । ४. 'शुद्धिकृदेवोपन्यस्तः' क. ।

अन्यथा तेषामेव शिरोरोगत्वात्तैः शिरोरोगा जायन्त इत्यसंगतं स्यात्' (मधुकोश) 'तेन नारुंषिकादयोऽत्र प्रकरणे शिरोरोगशब्देनोच्यन्ते शिरोरोगशब्दस्य शूल एव रुजाकरे वृत्तत्वात्' (चक्रपाणिः)।

सुश्रुत ने उपर्युक्त ग्यारह शिरोरोगों का वर्णन किया है। भावप्रकाश तथा योगरत्नाकर में भी शिरोरोगों की यही संख्या बताई गई है। कुछ विद्वान् रोत्ररोगोक्त अन्यतोवात और अनन्तवात को एक मानकर केवल दस ही भेद मानते हैं—

'सूर्यावर्तावभेदाभ्यां शङ्खकेन तथैव च। दशप्रकारस्याप्यस्य लक्षणं संप्रवक्ष्यते॥

वस्तुतः यह मत ठीक नहीं; क्योंकि उक्त दोनों रोग भिन्न हैं—अन्यतोवात वातिक एवं नेत्र रोग है, सुश्रुत ने उसका पाठ वातिक गण में किया है—

'याप्योऽथ तन्मयः काचः साध्याः स्युः सान्यमारुताः॥'

और अनन्तवात त्रिदोषज व्याधि है—

'अनन्तवातं तमुदाहरन्ति दोषत्रयोत्थं शिरसो विकारम्।'

प्रधानता के आधार पर वात, पित्त और कफ तीनों से अलग-अलग शिरोरोग की उत्पत्ति वर्णित है वास्तव में सभी शिरोरोग त्रिदोषज होते हैं—

सर्व एव शिरोरोगाः सन्निपातसमुत्थिताः। औत्कट्याद्दोषलिङ्गैस्ते कीर्तितास्तद्विदा दश॥

त्रिदोषज होते हुए भी दोष की उल्बणता के अनुसार वातिक आदि व्यवहार होता है। इन के अतिरिक्त भी अनेक रोग सिर में होते हैं किन्तु ये अधिक महत्त्व के होने से पृथक् वर्णित हैं। अतएव चरक ने सुस्पष्ट शब्दों में कहा है—**'अतः शिरोविकाराणां कश्चिद्भेदः प्रवक्ष्यते।** (च. सि. ९) अर्थात् अब कुछ शिरोरोगों का ही वर्णन किया जायगा। इसके बाद शंखकादि पाँच रोगों का वर्णन कर **'स्तम्भसुप्तिगुरुत्वाद्याः श्लैष्मिकाः शिरःकम्पार्दितादयः वातात्मकाः'** तथा **'रक्तपित्तादिरोगाः'** का उल्लेख किया है। वातादिजनित पाँच शिरोरोगों का पृथक् वर्णन भी सूत्रस्थान अध्याय १७ में किया है। यहाँ भी सिर में विविध रोगों की उत्पत्ति बतायी गयी है :—

वातादयः प्रकुप्यन्ति शिरस्यस्रं च दुष्यति। ततः शिरसि जायन्ते रोगा विविधलक्षणाः॥
प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च। यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते॥
अर्धावभेदको वा स्यात्सर्वं वा रुज्यते शिरः। प्रतिश्यामुखनासाक्षिकर्णरोगशिरोभ्रमाः॥
अर्दितं शिरसः कम्पो गलमन्याहनुग्रहः। विविधाश्चापरे रोगा वातादिक्रिमिसम्भवाः॥
पृथग्दृष्टाश्च ये पञ्च संग्रहे परमर्षिभिः। शिरोगदांस्तांञ्छृणु मे यथास्वैर्हेतुलक्षणैः॥

वस्तुतः शिरोरोगों के हेतु, सम्प्राप्ति और लक्षणों का वर्णन चरक ने अति सुन्दर रूप से किया है और माननीय है। आधुनिक ग्रंथों में वर्णित प्रायः सभी स्थूल या सूक्ष्मविकार जनित शिरःशूलों का समावेश इन्हीं रोगों में हो जाता है।

शिरोरोग के लिए शिरःशूल, शिरोऽभिताप तथा शिरोवेदना शब्द का व्यवहार होता है। अंग्रेजी में इसे हैडेक (Headache) कहते हैं। प्राचीन ग्रंथों में इसका विभिन्न रोगों में होने वाले लक्षण के अतिरिक्त स्वतन्त्र रोग भी मान कर वर्णन किया गया है। किन्तु आधुनिक विद्वान् इसे एक लक्षण मात्र मानते हैं जो अनेक रोगों में मिल सकता है।

शिरःशूल मस्तिष्कगत रोगों का प्रधान लक्षण है। सिर के निम्न भागों पर प्रभाव पड़ने से शिरःशूल की उत्पत्ति होती है।

(१) **करोटिबहिर्गत कारण**—इसमें कपालास्थि तथा उसकी पेशियाँ और रक्तवाहिनियाँ इन पर आघात या दबाव पड़ने से शिरःशूल होता है।

(२) **कपालान्तर्गत कारण**—कपालास्थियों के भीतर की बड़ी-बड़ी रक्तवाहिनियों तथा पञ्चम, नवम व दशम शीर्षण्य नाडी पर प्रभाव होने से भी शिरःशूल होता है।

उपर्युक्त रचनाओं पर मस्तिष्कगत रोग का प्रभाव होने से शिरःशूल की उत्पत्ति होती है। मस्तिष्क के निम्न रोगों में शिरःशूल पाया जाता है—

(क) मस्तिष्क के अर्बुद

(ख) मस्तिष्कावरणशोथ (Meningitis)

(ग) मस्तिष्क सुषुम्ना जल (Cerebro spinal fliud) की वृद्धि।

नेत्र, नासिका, कर्ण तथा दाँत के व्रणशोथ (Inflammation) में भी शिर में दर्द होता है जिसका वर्णन नेत्ररोगों में 'अन्यतोवात' नाम से हो चुका है।

कारणभेद से शिरःशूल के निम्न भेद किये जा सकते हैं—

(१) **स्थानीयकारणजन्यशूल**—पुरःकपालवायुविवरशोथ तथा अस्थिशोथ से यह अवस्था उत्पन्न होती है।

(२) **संवाहित शूल** (Refered pain)—प्रतिश्याय, नासाजवनिका की वक्रता (Deviation of the septum), तारामण्डल शोथ (Iritis), अधिमन्थ (Glaucoma), दन्तगतशोथ एवं मध्यकर्णशोथ (Otitis media) के परिणामस्वरूप यह शूल होता है।

(३) **वातजन्य शिरःशूल** (Nervous headache)—त्रिशाखा-नाडीशूल, मस्तिष्कगत फिरंग, मस्तिष्कावरणशोथ, मस्तिष्कार्बुद व विद्रधि से यह शूल होता है।

(४) **अन्य शारीरिक कारणजन्य शूल**—जीर्ण वृक्कशोथ (Chronic nephritis), मूत्रविषमयता (Uraemia), रक्तचाप की वृद्धि (High B. P.), योषापस्मार, अर्धावभेदक, आन्त्रिक ज्वर, मसूरिका आदि के कारण यह शूल होता है।

वातिकशिरोरोगलक्षणमाह—

यस्यानिमित्तं शिरसो रुजश्च भवन्ति तीव्रा निशि चातिमात्रम्।
बन्धोपतापैः प्रशमश्च यत्र शिरोऽभितापः स समीरणेन ॥२॥ (सु. उ. २५)

जिस व्यक्ति के सिर में बिना किसी लक्षित कारण से तीव्र पीडा हो, जो रात्रि में बढ़ जाये और बाँधने तथा स्वेदन से शान्त हो जाय उसे 'वातिक शिरःशूल' समझना चाहिये ॥ २ ॥

वातिकशिरोरोगलक्षणमाह—यस्यानिमित्तमित्यादि। अनिमित्तम[1]तर्कितनिमित्तं, वायोर्विषमक्रियत्वात्; तेन निमित्तानुषङ्गिणा कालादिनेत्यर्थः। निशि चातिमात्रमिति रात्रौ शीतेन वायोराधिक्यान्महती रुजा भवति, शीतयोनित्वाद्वायोः; ब[2]न्धोपतापैरिति बन्धो बन्धनं वस्त्रादिभिः, उपतापः स्वेदादिभिः, व्यक्त्यपेक्षया बहुवचनम्, एतेनोपशयो दर्शितः। शिरोऽभितापः शिरोरुजा ॥ २ ॥

विमर्श—वाग्भट ने पीडा की प्रकृति का वर्णन अधिक स्पष्ट और विस्तार से किया है* 'शंख प्रदेश में सुई के समान चुभन होती है। ग्रीवा पश्चाद् भाग फटा जाता है, भ्रुकुटियों का मध्य तथा मस्तक पीडा के साथ घूमता है, कानों में झनझनाहट होती रहती है, रोगी को ऐसा अनुभव

---

* निस्तुद्यते भृशं शङ्खौ घाटा सम्भिद्यते तथा। भ्रुवोर्मध्यं ललाटं च भ्रमतीवातिवेदनम् ॥
बाध्येते स्वनतः श्रोत्रे निष्कृष्येत इवाक्षिणी। घूर्णतीव शिरः सर्वं सन्धिभ्यश्च प्रमुच्यते ॥
स्फुरत्यतिसिराजालं कन्धराहनुसंग्रहः। प्रकाशासह्यता घ्राणात्स्रावोऽकस्मात् व्यथाशमौ ॥ वा.

---

१. 'अलक्षितनिमित्तं' क.। २. बन्धोपतापैरित्यवयवबहुत्वाद् द्वन्द्वे बहुवचनम्' क.।

होता है कि कोई आँखों को बाहर निकाल रहा है, सारा सिर चक्कर काटता है और धड़ से अलग होता हुआ प्रतीत होता है। सिर की सिराओं में स्फुरण होता है, कन्धे तथा हनु जकड़ जाते हैं, प्रकाशसन्त्रास (Photophobia) और नासास्राव होता है। अकस्मात् पीडा शान्त हो जाती है। तैलमर्दन, स्नेहन, बन्धन व स्वेदन से पीडा शान्त होती है। वाग्भट शिरःशूल के दो भेद करते हैं—

(१) सारे सिर में पीडा, (२) आधे सिर में पीडा इस प्रकार वाग्भट के अनुसार अर्धावभेदक भी वातिक के अन्तर्गत ही समझा जाता है—

मार्दवं मर्दनस्नेहस्वेदबन्धैश्च जायते। शिरस्तापोऽयमर्धन्तु मूर्ध्नः सोऽर्धावभेदकः॥

आधुनिक दृष्टि से इस प्रकार के शिरःशूल को न्यूरेल्जिया (Neuradgia) या न्यूरेल्जिक हैडेक (Neuralgic headache) कहते हैं। यह वातसंस्थानीय अपजनन (Degeneration of nervous system), रक्तविकार, निर्बलता, दन्तविकार तथा चिन्ता से उत्पन्न होता है।

पित्तजशिरोरोगं प्राह—

यस्योष्णमङ्गारचितं यथैव भवेच्छिरो धूप्यति चाक्षिनासम्। शीतेन रात्रौ च भवेच्छमश्च शिरोऽभितापः स तु पित्तकोपात्॥ ३॥

जिसका सिर जलते हुए अंगारों के समान उष्ण हो आँख तथा नाक से धूम सा निकल रहा हो, शीत से तथा रात्रि में जिसका शमन हो उस शिरःशूल को पित्तज समझना चाहिये॥ ३॥

पित्तजलक्षणमाह—यस्योष्णमङ्गारचितमित्यादि। अङ्गारचितं यथैवेति ज्वलदङ्गाराच्छन्नमिवेत्यर्थः। धूप्यति धूमायते धूमपूर्णमिव भवतीत्यर्थः। धूप्यतीति दिवादेराकृतिगणत्वात्। अक्षि च नासा चेत्यक्षिनासं, प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः। उपशयं दर्शयति—शीतेन रात्रौ चेत्यादि॥ ३॥

विमर्श—महर्षि चरक ने कटु, अम्ल, लवण, क्षार, मद्यपान, क्रोध, धूप तथा अग्नि से पित्तप्रकोप होने पर पैत्तिक शिरःशूल की उत्पत्ति माना है—

कट्वम्ललवणक्षारमद्यक्रोधातपानलैः। पित्तं शिरसि संदुष्टं शिरः शीतं सुधूयते।

हेतुविपरीत चिकित्सा के सिद्धान्त से शीतोपचार करने पर तथा स्वभावशीत रात्रि में शूल का शान्त होना भी स्वाभाविक है।

आधुनिक दृष्टि से इसे बिलियस हैडेक (Bilious headache) कह सकते हैं। इस प्रकार का शूल पचनसंस्थान की विकृति (मन्दाग्नि, अजीर्ण, अम्लपित्त, यकृत रोग तथा आन्त्रशोथ आदि) में होता है।

श्लेष्मजशिरःशूलं लक्षयति—

शिरो भवेद्यस्य कफोपदिग्धं गुरु प्रतिष्टब्धमथो हिमं च। (सु. उ. २५) शूनाक्षिकूटं वदनं च यस्य शिरोऽभितापः स कफप्रकोपात्॥ ४॥

जिसका सिर कफ से लिप्त, भारी, जकड़ा हुआ तथा शीतल हो जाता है, जिसमें मुख और नेत्रकूट सूज जाते हैं उसे कफज शिरःशूल समझना चाहिये॥ ४॥

श्लेष्मजलक्षणमाह—शिरो भवेदित्यादि। कफोपदिग्धमिति कफलिप्तम्[2]। गुरु गौरवयुतम्। प्रतिष्टब्धं बद्धमिव। हिमं हिमस्पर्शम्। शूनाक्षिकूटमिति वदनविशेषणम्। तथा हि चरकः—'शिरो मन्दरुजं तेन गुरु स्तिमितभारिकम्।' (च. सू. १७) इति। अत्रापि स्वेदादिनोपशयो ज्ञेयः॥ ४॥

---

१. 'दह्यति' क.। २. 'कफलिप्तमिव प्रस्तुतमिति यावत्' क.।

विमर्श—महर्षि चरक ने कहा है—कफज शिरोरोग में सिर सुन्न और मन्द पीडा वाला होता है। रोगी तन्द्रा, आलस्य और अरुचि से पीडित रहता है।

इस शूल को प्रसेकज (Catarrhal) या संवाहित पीडा (Referred pain) की श्रेणी में रखा जा सकता है। इस प्रकार का शूल प्रतिश्याय, दृष्टिशक्ति की कमी, दन्तरोग, मध्य कर्णशोथ आमाशय तथा गर्भाशय की विकृतियों में होता है।

सान्निपातिकशूलं लक्षयति—

शिरोऽभितापे त्रितयप्रवृत्ते सर्वाणि लिङ्गानि समुद्भवन्ति । (सु. उ. २५)

त्रिदोषज शिरःशूल में तीनों दोषों के लक्षण मिलते हैं।

सान्निपातिकलक्षणमाह—शिरोऽभिताप इत्यादि। सर्वाणि लिङ्गानि अनन्तरोक्तानि वातादिलिङ्गानि। ([1]अयं च सन्निपातो विकृतिविषमसमवेतो ज्ञेयः, अन्यथा सर्वेषामेव शिरोरोगाणां त्रिदोषजत्वात् पृथगभिधानं व्यर्थं स्यात्, अस्य च विकृतिविषमसमवेतत्वं कारणभेदाज्ज्ञेयं न तु विरुद्धलक्षणतया; स चायं कारणभेद उत्कटसर्वदोषजत्वादेव विज्ञेयः।) यथा त्रिदोषजे राजयक्ष्मणि स्वरभेदादिजनकानां वातादीनामुत्कटत्वमिति। उक्तं हि चरके—'वाताच्छूलं भ्रमः कम्पः पित्ताद्दाहो मदस्तृषा। कफाद् गुरुत्वं तन्द्रा च शिरोरोगे त्रिदोषजे ॥' (च. सू. १७) इति ॥

विमर्श—यद्यपि सभी शिरोरोग त्रिदोषज होते हैं तथापि विकृतिविषमसमवायजन्य शिरोरोग का प्रतिपादन करने के लिये इसका पृथक् वर्णन किया गया है। पीछे दोषोल्बणता के आधार पर वातिक आदि शिरोरोगों का वर्णन किया गया है। चरक ने त्रिदोषज शिरोरोग में तीनों दोषों से होने वाले लक्षणों का पृथक्-पृथक् निर्देश किया है। यथा—वायु से शूल, चक्कर तथा कम्पन, पित्त से दाह-जलन, मद और प्यास तथा कफ से भारीपन और तन्द्रा ये लक्षण होते हैं। इस प्रकार के लक्षण आधुनिक ग्रन्थों में वर्णित पुरःकपालीय वायुविवर शोथ (Frontal sinusitis) में पाया जाता है।

रक्तजशिरोरोगलक्षणमाह—

रक्तात्मकः पित्तसमानलिङ्गः स्पर्शासहत्वं शिरसो भवेच्च ॥ ५ ॥

रक्तज शिरःशूल में पित्त के समान लक्षण होते हैं। इसमें स्पर्शासहता लक्षण पित्तज से अधिक होता है ॥ ५ ॥

रक्तजलक्षणमाह—रक्तात्मक इत्यादि। पित्तसमानलिङ्ग इति पित्तजशिरोरोगतुल्यलक्षणः। पैत्तिकलिङ्गाधिकमिह स्पर्शासहत्वम् ॥ ५ ॥

विमर्श—चेहरे की लाली तथा सिर की पीडाक्षमता ये दो इसके विशिष्ट लक्षण हैं। अभिघातज कपालास्थि शोथ एवं तीव्र मदात्यय (Acute Alcoholism) तथा रक्तभाराधिक्य (High blood pressure) में ये लक्षण होते हैं।

क्षयजशिरोरोगलक्षणमाह—

असृग्वसाश्लेष्मसमीरणानां शिरोगतानामिह संक्षयेण ।

---

१. ( ) एतच्चिह्नमध्यस्थः पाठः क पुस्तके नोपलभ्यते।

क्षयप्रवृत्तः शिरसोऽभितापः कष्टो भवेदुग्ररुजोऽतिमात्रम्।
संस्वेदनच्छर्दनधूमनस्यैरसृग्विमोक्षैश्च विवृद्धिमेति ॥ ६ ॥

सिर में रहने वाले रक्त, वसा, कफ और वायु के क्षय से अत्यधिक भयंकर पीडा से युक्त और कष्टसाध्य क्षयज शिरःशूल उत्पन्न होता है। स्वेदन, वमन, धूमपान, नस्य और रक्तमोक्षण से इसकी वृद्धि होती है ॥ ६ ॥

क्षयजलक्षणमाह—असृगित्यादि। वसासृजोः सर्वदेहस्थितत्वाच्छिरसि स्थितिः, श्लेष्मणश्च स्थानमेव शिरः, उदानवायोरूर्ध्वगतित्वाच्छिरस्यवस्थानं, तेषां क्षयेणोग्ररुजत्वं व्याधिप्रभावात्; यतो वृद्धे वायावुग्ररुजा युज्यते न तु क्षीणे, यदुक्तं; 'वाते[1] पित्ते कफे चैव क्षीणे लक्षणमुच्यते। कर्मणः प्राकृताद्धानिः।' (च. सू. १८) इति। अन्यैः पुनरयं पाठः सुश्रुते स्वीकृतः, यथा 'वसाबलासक्षयसंभवानाम्' इति। युक्तश्चायं पाठः, वातक्षये हि कफवृद्धौ कफजः शिरोरोगः स्यात्, 'वृद्धिर्वाऽपि विरोधिनाम्' (च. सू. १८) इति वचनात्। किं चैतस्य चिकित्सायामुक्तं—'पाने नस्ये च सर्पिः स्याद्वातघ्नमधुरैः शृतम्।' इति। ततश्च समीरणपाठो न सङ्गतः, न[2] हि क्षीणे वायौ शमनमुक्तम्, अपि तर्हि वर्धनविधिः, यदुक्तं—'क्षीणा वर्धयितव्याः' (सु. चि. ३३) इति। वसा देहस्नेहस्योपलक्षणं, तेन मेदोमज्जशुक्रमस्तिष्काण्यप्यवरुध्यन्ते, तेषां देहस्नेहत्वात्। पित्तमांसादिक्षयजस्तु चयादिक्रमजक्षयकृतवातशिरोरोग एवावरुध्यते, इति गदाधरः। शिरोभितापः शिरोरुजा। संस्वेदनच्छर्दनधूमनस्यैः, कफक्षयः, नागरादितीव्रधूमेन वसामस्तिष्कादिक्षयः, सिरामोक्षादिभिरसृक्क्षयः, अत एवैतैः संस्वेदनादिभिः क्षयजस्य वृद्धिः। अयं विदेहेऽपि पठ्यते 'भ्रमति तुद्यते शून्यं शिरो विभ्रान्तनेत्रता। मूर्च्छा गात्रावसादश्च शिरोरोगे क्षयात्मके॥' इति। चक्षुष्योऽप्याह—'स्त्रीप्रसंगादभिघातादथवा देहकर्मणा। क्षिप्रं संजायते कृच्छ्रः शिरोरोगः क्षयात्मकः ॥ वातपित्तात्मकं लिङ्गं व्यामिश्रं तत्र लक्षयेत्।' इति ॥ ६ ॥

विमर्श—वसा और रक्त सर्वशरीरव्यापी होने से सिर में भी रहते हैं। ऊर्ध्वगतिस्वभाव उदान और सर्वव्यापक होने से व्यान वायु भी सिर में रहता है। कफ का तो प्रधान स्थान सिर होता ही है। इस प्रकार इन सबका क्षय होने से शिर में पीड़ा होती है। यहाँ सन्देह होता है कि वृद्ध वायु ही शूल उत्पन्न कर सकता है क्षीण नहीं; क्योंकि क्षीण अवस्था में प्राकृत कर्म की हानि होती है।

'वाते पित्ते कफे चैव क्षीणे लक्षणमुच्यते। कर्मणः प्राकृताद्धानिः………॥'

इसके लिये मधुकोशकार ने उत्तर दिया है कि व्याधिस्वभाव से यह शूल होता है **'तेन-क्षयेणोग्ररुजत्वं व्याधिप्रभावात्'**। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान् असृग्वसा आदि के स्थान पर **'वसाबलासक्षयसंभवानाम्'** वसा और कफ के क्षय से उत्पन्न–ऐसा पाठ करते हैं। वस्तुतः यह पाठ उचित भी प्रतीत होता है, क्योंकि वसा (स्नेह), कफ और रक्त के क्षय से वायु प्रकुपित होता है और वही तीव्र पीडा उत्पन्न करता है। यदि कहा जाय कि 'वातादि दोषों में किसी एक के क्षीण होने पर उसके विरोधी दोष की वृद्धि होती है जैसा कि चरक ने पूर्वोक्त 'वाते पित्ते' आदि श्लोक के चतुर्थ पाद में कहा है **'वृद्धिश्चापि विरोधिनाम्'** अतः 'असृग्वसा' आदि मूल पाठ के अनुसार वातक्षय होने पर उसके विरोधी कफ की वृद्धि होती है और **'क्षयजशिरोऽभिताप'** कफजनित होता है तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि धातुक्षय से वातवृद्धि होती है और क्षयज शिरो-

१. 'क्षीणा जहति स्वं लिङ्गम्'-इति क.। २. 'यतः क्षीणे वर्धनं कर्तव्यं' क.।

रोग की चिकित्सा में भी वातघ्न द्रव्यों के सेवन का निर्देश किया गया है। स्वतः क्षीण वायु के शमन की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती बल्कि **'क्षीणाः वर्धयितव्याः'** उसको तो बढ़ाने का प्रयास करना चाहिये। इसलिये वायु के क्षय का निर्देश करना सर्वथा असंगत है। तथा इस पाठ में वायु के साथ कफ के क्षय का भी उल्लेख है। वसा शारीरिक स्नेह का उपलक्षण है अतः शरीर में रहने वाले मेद, मज्जा तथा शुक्र इन सब स्निग्ध पदार्थों का ग्रहण कर लेना चाहिये। आचार्य विदेह के अनुसार इसमें निम्न लक्षण होते हैं—भ्रम, सूचीवेधनवत् पीडा, शिरःशून्यता, मूर्च्छा तथा अंगावसाद। आचार्य चक्षुष्य इसमें वायु और पित्त के लक्षण मानते हैं—

स्त्रीप्रसंगादभिघातादथवा देहकर्मणा। क्षिप्रं संजायते कृच्छ्रः शिरोरोगः क्षयात्मकः॥
वातपित्तात्मकं लिङ्गं व्यामिश्रं तत्र लक्षयेत्।

आधुनिक दृष्टि से इस रोग को सार्वदैहिक कारणजन्य वर्ग में रख सकते हैं। पाण्डु, अंकुशमुख कृमि, मधुमेह तथा जीर्ण विषम-ज्वर जैसे सार्वदेहिक एवं चिरकालीन रोगों से एवं अति मैथुनादि जनित शुक्रक्षय से शरीर की वसा, रक्त और कफ का क्षय हो जाता है। कभी २ अभिघात आदि से सद्यः रक्तादि का क्षय होता है। रक्तक्षय से मस्तिष्कगत रक्ताल्पता (Cerebral anæmia) हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप सिर में शूल होने लगता है। प्रधान विकार के दूर न होने पर केवल लाक्षणिक चिकित्सा से इसमें कुछ भी लाभ नहीं होता अतः इस रोग को कृच्छ्रसाध्य माना गया है।

क्रिमिजशिरोरोगं वर्णयति—

निस्तुद्यते यस्य शिरोऽतिमात्रं संभक्ष्यमाणं स्फुरतीव चान्तः।
घ्राणाच्च गच्छेत् सलिलं सपूयं शिरोऽभितापः क्रिमिभिः स घोरः॥ ७॥

जिस रोगी के सिर में अत्यधिक तोद हो, अन्दर (कपालास्थियों में) ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई (श्लेष्मलकला आदि को) खा रहा है और स्फुरण हो या गति का अनुभव हो, नासिका से पूययुक्त जल का स्राव हो उस भयंकर शिरःशूल को क्रिमिज समझना चाहिये। (कभी-कभी क्रिमि भी स्राव के साथ निकलते हैं।)॥ ७॥

क्रिमिजमाह—निस्तुद्यत इत्यादि। निस्तुद्यते सूचीभिरिव तुद्यते। संभक्ष्यमाणमित्यत्र 'क्रिमिभिः' इति शेषः, प्रकरणात्। स्फुरतीव मनाक् चलतीव। घ्राणाच्चेति चकारो भिन्नक्रमेण सलिलमित्यत्र संबध्यते, तेन सलिलं पूयं च गच्छेत् तथा क्रिमयश्च कदाचिद्गच्छन्तीति, तथा च चरकः—'क्रिमीणां दर्शनेन च' (चृ. सू. १७) **इति॥ ७॥**

विमर्श—चरकने पीडा के अतिरिक्त स्राव में कृमियों की उपस्थिति भी मानी है—

व्यवच्छेदरुजाकण्डूशोफदौर्गन्ध्यदुःखितम्।
कृमिरोगातुरं विद्यात् कृमीणां लक्षणेन तु॥ (च. सू. १७)

महर्षि चरक ने इस रोग की सम्प्राप्ति का अधिक स्पष्ट रूप से वर्णन किया है—'पथ्यापथ्य मिश्रित भोजन करने से रक्त और मांस क्लिन्न होकर सन्निपात को प्रकुपित कर देते हैं और सिर में कृमियों की उत्पत्ति हो जाती है। वे कृमि सिर के रक्त का पान करते हुए भयंकर पीडा, चित्तविभ्रंश, ज्वर, कास तथा बल की हानि करते हैं। सिर में रूक्षता, शोथ, चुभन, दाह, फटने जैसी पीडा तथा दुर्गन्ध उत्पन्न हो जाती है। कपाल, तालु और सिर में खुजली और शुष्कता हो जाती

---

१. 'रुधिरं' क.। २. 'घ्राणाच्च गच्छेदित्यत्र चकारेण कृमयश्च गच्छन्तीति द्रष्टव्यं' क.।

है। नासिका से रक्तवर्ण का स्वच्छ स्राव निकलता है और कानों में झनझनाहट होती है*।

आधुनिक दृष्टि से विचार करने पर कृमिज शिरोरोग के दो भेद कर सकते हैं:—

(१) साक्षात् कृमिजन्य (२) परम्परया या अप्रत्यक्ष कृमिजन्य ।

साक्षात्कृमिजन्य में नासिका द्वारा स्राव के साथ कृमि भी गिरते हैं, इनका प्रत्यक्ष किया जा सकता है। इस प्रकार की अवस्था वायुविवरशोथ (Sinusitis) के कारण मिल सकती है जिसका वर्णन पीनस और रक्तज या दुष्ट प्रतिश्याय के साथ हो चुका है।

दूसरे प्रकार में कृमि दिखाई नहीं पड़ते और न तो नासिका से किसी प्रकार का स्राव ही होता है। उदर में गण्डूपदक्रिमि, अंकुशमुखकृमि की उपस्थिति से सिर में संवाहित या साम्वेदनिक पीडा होती है। किन्तु यह प्रायः अधिक तीव्र स्वरूप की नहीं होती। ये कृमि आन्त्रस्थ रक्त पर अपना निर्वाह करते हैं जिसके परिणामस्वरूप मस्तिष्क में रक्ताल्पता होकर शिरःशूल होता है। इसका समावेश वातिक या क्षयज शिरो रोग में हो जाता है।

सूर्यावर्तं लक्षयति—

सूर्योदयं या प्रति मन्दमन्दमक्षिभ्रुवं रुक् समुपैति गाढा।
विवर्धते चांशुमता सहैव सूर्यापवृत्तौ विनिवर्तते च।
सर्वात्मकं कष्टतमं विकारं सूर्यापवर्तं तमुदाहरन्ति ॥८॥ (सु. उ. २५)

जो पीडा सूर्योदय से प्रारम्भ होकर धीरे-धीरे बढ़ती हुई आँख और भृकुटी में फैल जाती है, जो सूर्य की वृद्धि के साथ-साथ बढ़ती है और सूर्य के घटने पर घटती है उस त्रिदोषज और कृच्छ्रसाध्य व्याधि को सूर्यावर्त या सूर्यापवर्त कहते हैं ॥ ८ ॥

सूर्यावर्तलक्षणमाह—सूर्योदयमित्यादि। सूर्योदयं प्रति लक्षीकृत्य या रुगक्षिभ्रुवं समुपैतीति संवन्धः। अक्षिभ्रुवाविति पाठान्तरे प्राण्यङ्गत्वेन प्राप्तैकवद्भावस्याभावः, नासिकास्तनयोरितिवल्लक्षणव्यभिचारात्। सूर्योदये प्रातर्मन्दं मन्दं यथा स्यात्तथा रुजां समुपैति, अंशुमता च सूर्येण सह गाढा यथा भवति तथा वर्धते। अयमर्थः—यथा सूर्यो वर्धते तथा वेदना प्रवृद्धा भवति, सूर्यस्यापवृत्तौ सायाह्ने विनिवर्तते शाम्यतीत्यर्थः; 'गाढा' इत्यत्र 'गूढा' इति पाठान्तरं, तदा सूर्यापगमे गूढा रात्रौ लीनेत्यर्थः। सर्वात्मकमिति सन्निपातजम्। व्याधिस्वभावाच्च कालविशेषनियमः। कष्टतमं कृच्छ्रसाध्यम्। ननु, अयं सुश्रुते वातपित्ताभ्यां पठ्यते, तद्यथा—'आवर्तसंज्ञः स तु सूर्यपूर्वो व्याधिर्मतः पित्तसमीरणाभ्याम्। शीतेन शान्तिं लभते कदाचिदुष्णेन जन्तुः सुखमाप्नुयाच्च॥' (सु. उ. २५) **इति। तत्कथं सर्वजत्वम्? उच्यते—सुश्रुते औत्कर्षेण व्यपदेश इति न विरोधः। ननु, एवं कथं रात्रौ वायुसमानगुणशीतप्रादुर्भावे वेदनालीनता, दिवसस्याद्यन्तयोर्मन्दरुक्त्वं च? उच्यते—अत्रापि पित्तस्य प्रबलतमत्वात्। यत्तु चिकित्सायां शिरीषमूलपिप्पलीमूलवचावपीडाद्यभिहितं तद्व्याधिप्रत्यनीकत्वात्। अथ वातपित्तजत्ववर्णनेन विशिष्टकालभवने हेतुर्दर्शितो भवति। यतो वातपित्तयोः शीतोष्णात्मकत्वात्। पूर्वाह्णे सूर्यवृद्धिक्रमेण स्रोतसां सङ्कोचक्रमादवरुद्धमार्गयोर्वेदनाकरत्वं, पराह्णे निवर्तमाने सूर्ये तु स्रोतसां विवृतत्वात् स्वमार्गव्याघातविरहेण**

---

* संकीर्णभोजनैर्मूर्ध्नि क्लेदिते रुधिरामिषे। कोपिते सन्निपाते च जायन्ते मूर्ध्नि जन्तवः।
शिरसस्ते पिबन्तोऽस्रं घोराः कुर्वन्ति वेदनाः। चित्तविभ्रंशजननौ ज्वरकासौ बलक्षयः॥
रौक्ष्यशोफव्यधच्छेददाहस्फुटनपूतिताः। कपाले तालुशिरसोः कण्डूशोषप्रमीलकाः।
ताम्राच्छसिङ्घाणकताकर्णनादश्च जायते॥

वेदनाया अजनकत्वमिति युक्तः कालविशेषनियमः। तथा चाह निमिः—'सूर्यसोमात्मकौ नित्यं स्वहेतू पित्तमारुतौ। कुर्वाते वेदनां तीव्रां दिनात् पूर्वाह्ण एव तु॥ आदित्यतेजसा युक्ते निवृत्तेऽपि च भास्करे। स्रोतसां विवृतत्वाच्च ततः श्लेष्माधिगच्छति॥ उद्वृतो मातरिश्वा च स्वमार्गं प्रतिपद्यते। तस्मान्मध्यदिनादूर्ध्वं वेदनाऽत्र प्रशाम्यति॥' इति। वातपित्तजत्वमस्याधिकत्वेन व्यपदेश इति न्यायात्; तेन पूर्वेण समं न विरोधः। विदेहे सूर्यावर्तविपर्ययोऽपि पठ्यते—'तत्र वातानुगं पित्तं चितं शिरसि तिष्ठति। मध्याह्ने तेजसाऽर्कस्य तद्विवृद्धं शिरोरुजम्॥ करोति पैत्तिकीं घोरां संशाम्यति दिनक्षये। अस्तङ्गते प्रभाहीने सूर्ये वायुर्विवर्धते॥ पित्तं शान्तिमवाप्नोति ततः शाम्यति वेदना। एष पित्तानिलकृतः सूर्यावर्तविपर्ययः॥' इति। अयमत्र सूर्यावर्त एवान्तर्भावनीयश्चातुर्थिके चातुर्थिकविपर्ययवत्॥ ८॥

विमर्श—'सूर्यस्येव आवर्तो भ्रमणं यस्य स सूर्यावर्तो विकारः' सूर्य के समान जिसका उत्कर्ष (प्रातः से मध्याह्न तक वृद्धि) और अपकर्ष (मध्याह्न के उपरान्त क्रमशः ह्रास) हो उसे सूर्यावर्त कहते हैं। सुश्रुत ने इसे वातपित्तज माना है—

आवर्तसंज्ञः स तु सूर्यपूर्वो व्याधिर्मतः पित्तसमीरणाभ्याम्।
शीतेन शान्तिं लभते कदाचिदुष्णेन जन्तुः सुखमाप्नुयाच्च॥

किन्तु यहाँ पर त्रिदोषज क्यों माना गया है? वस्तुतः यह रोग त्रिदोषज ही है किन्तु उल्बणता के आधार पर इसे वातपित्तज कह दिया गया है। इस प्रकार इसे वातपित्तोल्बण त्रिदोषज शिरःशूल कह सकते हैं। फिर यह शंका उठती है कि यदि यह रोग वातपित्तोल्बण ही है तो वात के समान शीत गुण वाली रात्रि में पीडा का शमन किस प्रकार हो सकता है तथा अपराह्ण एवं उत्तर रात्रि में (जब वायु की स्वभावतः वृद्धि होती है) पीडा कम क्यों होती है। उत्तर-वात और पित्त में भी पित्त प्रबलतर रहता है अतः उसके विपरीत शीत से शूल की शान्ति हो जाती है। चिकित्सा में जो शिरीषमूल, पिप्पलीमूल तथा वचा जैसे पित्तवर्धक पदार्थों के अवपीड नस्य का निर्देश किया है वह व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा की दृष्टि से ही, दोषप्रत्यनीक चिकित्सा की दृष्टि से नहीं। वातपित्तोल्बण होने से इनके विशेष काल में पीड़ा होना भी स्वाभाविक है। दिन के पूर्वभाग में सूर्यताप से शोषित कफ के कारण वायु मार्गों का अवरोध रहता है और मार्ग में अवरुद्ध वात और पित्त वेदना उत्पन्न करते हैं। मध्याह्न के उपरान्त कफ पिघल कर स्थानान्तरित हो जाता है जिससे वायु के संचार के लिये मार्ग स्वच्छ हो जाता है और पीडा की शान्ति होने लगती है। रात्रि के समय मार्ग पूर्ण शुद्ध हो जाने से तथा स्वाभाविक शीत से पित्त के शान्त हो जाने पर पीडा शान्त हो जाती है। रात्रि में सोने से पुनः पूर्ववत् कफ का संचय होता है और प्रातःकाल सूर्योदय से वही क्रम जारी हो जाता है। इस तथ्य का वर्णन आचार्य निमि ने भी उपर्युक्त प्रकार से ही किया है (मूल श्लोक मधुकोश में देखें)। वाग्भट ने भी इस रोग को वातसहकारी पित्तोल्बण सन्निपातज माना है*। महर्षि चरक इसमें वायु और रक्त की प्रबलता बताते हैं। उनका कहना है कि सूर्योदय के समय मस्तिष्कगत श्लेष्मा पिघलने लगता है जिससे पीडा प्रारम्भ हो जाती है। मध्याह्न में अधिक पिघलने से पीडा बढ़ जाती है। सायंकाल पुनः मस्तुलुङ्ग जम जाता है†।

* पित्तानुबद्धः शङ्खाक्षिभ्रूललाटेषु मारुतः। रुजं सस्पन्दनां कुर्यादनुसूर्योदयोदयाम्।
आमध्याह्नं विवर्धिष्णुः क्षुद्वतः सा विशेषतः। अव्यवस्थितशीतोष्णसुखा शाम्यत्यतः परम्॥

† सन्धारणादजीर्णाद्यैर्मस्तिष्कं रक्तमारुतौ। दुष्टौ दूषयतस्तच्च दुष्टं ताभ्यां विमूर्च्छितम्।
सूर्योदयेंऽशुसंतापाद् द्रवः विष्यन्दते शनैः। तदा दिने शिरःशूलं दिनवृद्ध्या च वर्धते॥
दिनक्षये ततः स्त्याने मस्तिष्के सम्प्रशाम्यति। सूर्यावर्तः स एव स्यात्……।

१. 'वायुर्निवर्तते' क.।

आधुनिक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होगा कि इस रोग में प्रतिश्याय का इतिहास अवश्य रहता है। वास्तव में प्रतिश्यायजनक दोष का स्राव भलीभाँति न होने से इस रोग की उत्पत्ति होती है। प्रतिश्यायजनक दोष अथवा विविध जीवाणु (इन्फ्लुयेञ्जा का दण्डाणु, माला-गोलाणु या स्तवकगोलाणु) के उपसर्ग से अस्थिविवरों की श्लेष्मलकला में शोथ हो जाने से इस प्रकार की स्थानीय पीडा तथा मन्दज्वर रहने लगते हैं। इसे अस्थिविवरकला का मन्द शोथ (Sub-acute sinusitis) कहते हैं। विकृति के स्थान की दृष्टि से वेदना का स्थान भी भिन्न होता है। यथा यदि विकृति पुरः कपालास्थि में है तो वेदना भी ललाट प्रदेश में होती है। ऊर्ध्वहन्वस्थि विवरों (Maxillary sinuses) में शोथ होने से कपोल प्रदेश में पीड़ा मिलेगी। सूर्योदय के पश्चात् विवरस्थित श्लेष्मा का स्राव प्रारम्भ होने से पीड़ा प्रारम्भ हो जाती है जो क्रमशः बढ़ती है।

विदेह ने वातानुबन्धी प्रबल पित्त दोष के कारण केवल मध्याह्न में तीव्र पीडायुक्त 'सूर्यापवर्त विपर्यय' नामक रोग का भी वर्णन किया है (जिसका उल्लेख मधुकोष में है) वस्तुतः इसका भी समावेश 'सूर्यावर्त' में ही हो जाता है।

अनन्तवातमुदाहरति—

दोषास्तु दुष्टास्त्रय एव मन्यां संपीड्य घाटासु रुजां सुतीव्राम् ।
कुर्वन्ति योऽक्षिभ्रुवि शङ्खदेशे स्थितिं करोत्याशु विशेषतस्तु ॥ ९ ॥
गण्डस्य पार्श्वे तु करोति कम्पं हनुग्रहं लोचनजांश्च रोगान् ।
अनन्तवातं तमुदाहरन्ति दोषत्रयोत्थं शिरसो विकारम् ॥१०॥
(सु. उ. २५)

प्रकुपित हुए वात, पित्त और कफ ये तीनों ही दोष ग्रीवा की मन्या नाडियों को पीडित करके ग्रीवा के पश्चाद् भाग में भयंकर पीडा उत्पन्न कर देते हैं। यह पीडा शीघ्र ही फैलकर नेत्र, भृकुटि और शंखप्रदेश में विशेषतः स्थिर हो जाती है इससे कपोल के पार्श्व में कम्पन, हनुग्रह (ठोड़ी का जकड़ जाना) तथा नेत्र के अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। इस त्रिदोषज शिरोरोग को अनन्तवात कहते हैं ॥ ९-१० ॥

अनन्तवातलक्षणमाह—दोषा इत्यादि। मन्या ग्रीवासिराद्वयं, तां संपीड्य; घाटासु-ग्रीवापश्चाद्भागेषु, दोषास्त्रय एव रुजां वेदनां सुतीव्रां कुर्वन्ति, तथा अक्षिभ्रुवि शङ्खदेशे च स्थितिमारब्धत्वं यो विशेषतः करोति, तथा गण्डपार्श्वे कम्पं हनुग्रहादिकं च यः करोति, तमनन्तवातमुदाहरन्तीति योज्यम्। गण्डस्य कपोलस्य, पार्श्वे एकदेशे। हनुग्रहो वातव्याधिविशेषः। अमुं च सुश्रुते अन्यतोवातेनैव तुल्यत्वादनन्तवातं परित्यज्य दश शिरोरोगा अभिहिताः, एवं तन्त्रान्तरेऽपि 'कीर्तितास्तद्विदा दश' इत्यभिधानं माधवकरेण तु त्रिदोषजत्वेन तदधिककम्पहनुग्रहलिङ्गयोगाच्च केवलवातजादन्यतोवाताद्विलक्षण एवायमिति अनन्तवातोऽधिकः पठितः, भेदो हि भेदवतां कारणभेदाद्विरुद्धधर्माध्यासाच्च भवतीति ॥

विमर्श—कुछ ग्रन्थों में अनन्तवात का समावेश अन्यतोवात में ही करके दश शिरोरोगों का ही वर्णन किया है—**'कीर्तितास्तद्विदा दश'**। किन्तु माधव ने त्रिदोषज तथा कम्प और हनुग्रह जैसे लक्षणों से युक्त होने के कारण अनन्तवात का पृथक् वर्णन किया है। अन्यतोवात का वर्णन पीछे (पृ० २७८) नेत्ररोगों में किया जा चुका है। इसमें केवल वायुदोष रहता है और इसमें पीड़ा विशेषतः नेत्र में होती है जब कि अनन्तवात त्रिदोषज होता है और इसमें पीड़ा नेत्र आदि के साथ

१. 'सुश्रुतेन नेत्ररोगोक्तान्यतोवातेन सह तुल्यत्वादस्य एनमपि हित्वा दश शिरोरोगा अभिहिताः' क.।

शिर में विशेषतः होती है अतः यह 'अन्यतोवात' से भिन्न है अतः इसका पाठ शिरोरोग में किया है। लक्षणों के अनुसार इसे आधुनिक त्रिशाखा नाडीशूल (Trigeminal neuralgia) कह सकते हैं। इस अवस्था में त्रिशाखा नाडी या पंचम शिरस्कानाडी (Fifth cranial nerve) के पूरे क्षेत्र में दौरे के साथ तीव्र शूल अथवा मन्द-मन्द तोद होता है। नाडी के किसी भी भाग में विकृति का कोई प्रत्यक्ष चिह्न नहीं दिखाई पड़ता। यह रोग अधिकतर प्रौढ अवस्था के स्त्री और पुरुष दोनों में समान रूप से होता है। शीत इसके लिये अनुकूल ऋतु है। प्रारम्भ में यह सौम्य स्वरूप का होता है किन्तु पचास साल की आयु के बाद इसकी वृद्धि होजाती है। तीव्र औपसर्गिक ज्वरों से साधारण स्वास्थ्य गिर जाने पर अथवा कृमिदन्त और अस्थ्यावरण शोथ के कारण नाड़ी में क्षोभ होने के बाद शूल प्रारम्भ हो जाता है। कभी कभी नाड़ी की किसी शाखा के मार्ग में पूयोत्पादन का स्थान उपस्थित होने से भी शूल का प्रारम्भ हो जाता है। शीत, कंघी करने तथा चर्वण से रोग का आक्रमण हो जाता है। कुलज प्रवृत्ति भी इस रोग में कारण है।

लक्षण—पीड़ा ही इसका प्रधान लक्षण है। नासारन्ध्र या नेत्राधः प्रदेश (Infra-orbital foramen) की त्वचा में पीड़ा प्रारम्भ होकर शीघ्र ही सम्पूर्ण नाड़ी के क्षेत्र में फैल जाती है। पीड़ा की प्रकृति गोली लगने जैसी दाह तथा तोदयुक्त (Shooting, burning and penitrating) होती है। यह कुछ मिनट से लेकर बहुत दिनों तक रह सकती है। बीच-बीच में शान्ति काल (Period of remission) भी होता है। आक्रमणों की पुनरावृत्ति के परिणामस्वरूप पीड़ा की तीव्रता बढ़ती जाती है और शान्तिकाल निरन्तर कम हो जाता है। शान्तिकाल में भी मन्द मन्द पीड़ा होती रहती है, कहीं कहीं स्पर्शनाक्षमता (Tenderness) का भी अनुभव होता है। पीड़ा के अतिरिक्त विकृत भाग में लाली तथा स्वेद, लालास्राव, अश्रुस्राव, नासास्राव, जिह्वा में एक ओर विदार (Unilateral furing of the tongue) तथा पेशीसंकोच (मन्याग्रह, हनुग्रह) आदि भी मिलते हैं।

अनन्तवात को साधारण बोलचाल में सबलवायु या समलवायी भी कहते हैं।

अर्धावभेदस्य सनिदानसम्प्राप्तिकं लक्षणमाह—

रूक्षाशनात्यध्यशनप्राग्वातावश्यमैथुनैः ।
वेगसंधारणायासव्यायामैः कुपितोऽनिलः ॥ ११ ॥
केवलः सकफो वाऽर्धं गृहीत्वा शिरसो बली ।
मन्याभ्रूशङ्खकर्णाक्षिललाटार्धेऽतिवेदनाम् ॥ १२ ॥
शस्त्रारणिनिभां कुर्यात्तीव्रां सोऽर्धावभेदकः ।
नयनं वाऽथवा श्रोत्रमतिवृद्धो विनाशयेत् ॥ १३ ॥

रूक्षभोजन, अधिक भोजन, अध्यशन, पूर्वीवायु, ओस, मैथुन, वेगविधारण, परिश्रम तथा व्यायाम से कुपित वायु अकेला या कफ के साथ मिलने से बलवान् होकर सिर के आधे भाग को जकड़ कर मन्या, भ्रुकुटि, शंख, कर्ण, नेत्र तथा मस्तक के आधे भाग में शस्त्र से कटने अथवा अग्नि से जलने या मथने के समान अत्यधिक तीव्रवेदना को उत्पन्न करता है, उसे अर्धावभेद कहते हैं। अधिक बढ़ने पर यह आँख या कान को नष्ट कर सकता है ॥ ११–१३ ॥

अर्धावभेदलक्षणमाह—रूक्षाशनेत्यादि । अध्यशनमजीर्णे भोजनम् । अवश्येति अवश्यायो हिममुच्यते, छन्दोऽनुरोधेन यकारलोपो ह्रस्वत्वं चेति व्याचक्षते । कदाचित्

सश्लेष्मवातजत्वमिति विकल्पं दर्शयति—केवल इत्यादि । शस्त्रारणिनिभां शस्त्रच्छेदनिभामरणिनिभां च, अरणिरग्न्युत्थापनकाष्ठयन्त्रं तस्य मन्थनवत् पीडा; किंवा अरणिना कारणेनाग्निरेवोच्यते, तेनाग्निनिभां वेदनाम् । सुश्रुते त्वयं त्रिदोषजः पठितः । तद्यथा—'यस्योत्तमाङ्गं रुजतेऽर्धमात्रं सतोदभेदभ्रममोहशूलैः । पक्षाद्दशाहादथवाऽप्यकस्मात्तमर्धभेदं त्रितयाद्व्यवस्येत् ॥' (सु. उ. २५) इति । अत्र तु केवलोऽनिलः सकफो वेत्यौत्कर्ष्यादभिधानं, 'सोऽर्धभेदः कफानिलात्' इति विदेहेऽप्येवं बोद्धव्यम् । अयमुपेक्ष्यमाणो नयनादिकं हन्यादित्याह—नयनमित्यादि । अत्रैव विदेहः—'शिरसोऽन्यतरे पार्श्वे कुपितो मारुतो यदा । श्लेष्मणा रुध्यते जन्तोस्तोदस्फुटनदालनैः ॥ शूलावदारणैर्गाढमर्धं तदवरुध्यते । नयनं चावदीर्येत सोऽर्धभेदः कफानिलात् ॥ तथा त्र्यहात् स पक्षाहात् पक्षान्मासाच्च देहिनाम् ।' इति । सुश्रुते—'पवनात् सपित्तात्' इति केचित् पठन्ति । तेन वातपित्तजत्वमस्य । सात्यकिना 'वायुः शिरःशङ्खभ्रूनेत्रमवगृह्य' इत्यादिना वातजत्वमस्य दर्शितम् । अन्ये तु सन्निपाताधिकारात् सन्निपातजं पठन्ति, तथा च सुश्रुतः—'त्रितयाद्व्यवस्येत्' (सु. उ. २५) इति । व्याधिस्वभावादचिरानुबन्धकत्वं सान्निपातिकत्वेऽपि ॥ ११-१३ ॥

विमर्श—माधव इसे केवल वातज या वातकफज मानते हैं किन्तु सुश्रुत त्रिदोषज मानते हैं—'जिसका आधा सिर तोद, भेद, भ्रम, मोह और शूल से पीडित रहता है, जिसमें पन्द्रह दिन, दस दिन पर अथवा अकस्मात् ही पीडा आरम्भ हो जाती है उस त्रिदोषज व्याधि को अर्धावभेद कहते हैं'।

माधव ने इसे दोषों की उल्वणता के आधार पर वातज या वातकफज माना है । आचार्य विदेह भी इसी सिद्धान्त से इसे वातकफज स्वीकार करते हैं—**'नयनं चावदीर्येत सोऽर्धभेदः कफानिलात्॥** वाग्भट ने इसे वातिक शिरःशूल का ही भेद माना है—**शिरस्तापोऽयमर्धे तु मूर्ध्नः सोऽर्धावभेदकः ॥** इस व्याधि में कफ वायु को अवरुद्ध करके आधे सिर में पीडा उत्पन्न करता है कुछ लोग इसे वातपैत्तिक और सात्यकि केवल वातिक मानते हैं तथा दूसरे विद्वान् सान्निपातिक रोगों के साथ वर्णित होने से इसे भी सान्निपातिक मानते हैं । किन्तु निदान और लक्षणों का अध्ययन करने से यह वातिक या वातकफज ही प्रतीत होता है शुद्ध या कफयुक्त वायु ही इस रोग का आरम्भक होता है किन्तु व्याधिस्वभाव से शीघ्र ही यह सान्निपातिक रूप भी धारण कर सकता है । अतः पूर्वोक्त सभी मत अपने-अपने क्रम से उचित ही हैं ।

आधुनिक दृष्टि से इसे हेमिक्रेनिया या मिग्रेन (Hemicrania or migrain) कह सकते हैं यह एक प्रावेगिक शिरःशूल (Paroxysmal headache) है जो बाल्यावस्था में अधिक होता है और आयु की वृद्धि के साथ-साथ यह कम होता जाता है । वृद्धावस्था में इसकी सम्भावना बहुत कम होती है । यह अधिकतर बुद्धिजीवी वर्ग और अधिक चिन्तनशील स्त्रियों में होता है । इस रोग का कोई निश्चित कारण नहीं ज्ञात है सम्भवतः समवर्तजन्य (Metabolic) या अन्य प्रकार का विष समय-समय पर रक्त में संचार करके शिरःशूल पैदा करता है । मस्तिष्कगत धमनियों में संकोच के परिणामस्वरूप रक्ताल्पता के साथ-साथ शिरःशूल उत्पन्न होता है । कभी-कभी रक्तवाहिनियों के विस्फार से मुख पर लाली के साथ शिरःशूल होता है । चिन्ता, परिश्रम की अधिकता, भोजन की अनियमितता तथा वंशपरम्परा भी इसमें कारण हैं ।

लक्षण—रोगी जब प्रातःकाल उठता है तो उसे चक्कर, मिचली, आँखों के आगे चिनगारी, झुनझुनी तथा शून्यता का अनुभव होता है । ये लक्षण प्रथम शाखाओं में उत्पन्न होते हैं और फिर धीरे-धीरे बढ़कर आधे घण्टे में अर्धावभेदक (Hemicrania) में परिवर्तित हो जाते हैं ।

---

१. 'अरणिरग्न्युत्पादमन्थानकाष्ठयन्त्रं, तत्कृतमन्थननिभां वेदनां करोति' क. ।

शिरःशूल सर्वप्रथम शंखप्रदेश के किसी भाग में प्रारम्भ होकर फैल जाता है। पीडा संचायी-स्वरूप (Cumulative) या विदारणवत् (Boring) होती है यह कुछ घण्टे से लेकर कुछ सप्ताह तक रहती है। रोगी का मुख पीला पड़ जाता है। कभी-कभी इससे मूकता (Aphasia), एकांगघात (Monoplegia) या अर्धांगघात (Hemiplegia) की अवस्था भी उपद्रव स्वरूप उत्पन्न हो सकती है। नेत्र-पेशीघात (Opthalmoplegia) या अन्य अंगों की नाडियों पर प्रभाव पड़ने से उन-उन अंगों की विकृति या विनाश भी हो सकता है। माधव ने इसका वर्णन—**'नयनं वाऽथवा श्रोत्रमतिवृद्धो विनाशयेत्'** के द्वारा किया है। इस रोग में शिरःशूल का दौरा रात्रि और दिन के किसी भी समय आ सकता है।

शंखकलक्षणमाह—

रक्तपित्तानिला दुष्टाः शङ्खदेशे विमूर्च्छिताः।
तीव्ररुग्दाहरागं हि शोथं कुर्वन्ति दारुणम् ॥ १४ ॥
स शिरो विषवद्वेगी निरुध्याशु गलं तथा।
त्रिरात्राज्जीवितं हन्ति शङ्खको नामतः परम्।
त्र्यहाज्जीवति भैषज्यं प्रत्याख्याय समाचरेत् ॥ १५ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने शिरोरोगनिदानं समाप्तम् ॥ ६० ॥

दुष्ट हुए रक्त, पित्त और वायु शंखप्रदेश में परस्पर मिलकर तीव्र पीडा, जलन और लालिमा से युक्त भयंकर शोथ को उत्पन्न कर देते हैं। विष के समान तीव्र वेग वाला यह शोथ शीघ्र ही सिर तथा गले को अवरुद्ध करके तीन दिन में ही रोगी के प्राण हर लेता है इसे शंखक कहते हैं। यदि तीन दिन के बाद भी रोगी जीवित रह जाय तो प्रत्याख्यानपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिये। अथवा (विदेहमतानुसार) तीन दिन के भीतर प्रत्याख्यानपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिए; तीन दिन बीतने पर तो निश्चय असाध्य हो जाता है ॥ १४-१५ ॥

शङ्खकलक्षणमाह—रक्तपित्तानिला इत्यादि। दुष्टाश्चयादिमन्तः। मूर्च्छिता[1] अन्योन्यमेकीभूताः। कफोऽप्यत्र बोद्धव्यः, तथा च सुश्रुतः—'शङ्खाश्रितो वायुरुदीर्णवेगः कृतानुतापः कफपित्तरक्तैः।' (सु. उ. २५) इति।[2] (मारकत्वमाह—त्रिरात्राज्जीवितं हन्तीति। कुशलेनोपक्रमे क्रियमाणे त्रिरात्रात् परतो जीवत्येवेत्यत आह—परं त्र्यहाज्जीवतीति। अत्र अहःसंबन्धिनी रात्रिरुपलक्ष्यते, तेन त्रिरात्रात् परं जीवतीत्यर्थः।। तत् किमस्य त्रिरात्राभ्यन्तरे साध्यत्वमसाध्यत्वं वेत्यत आह—भैषज्यमित्यादि। तदनेन त्रिरात्राभ्यन्तरे विकल्पितासाध्यत्वं त्रिरात्रात् परमसाध्यत्वं दर्शितम्। तत्रैव विदेहः—'चीयते तु तदा पित्तं शङ्खयोरनिलाचितम्। निरुणद्धि ततो मर्म परिपूरितमुल्बणम् ॥ ततः शङ्खौ प्ररुज्येते दह्येते इव वह्निना। सूचीभिरिव तुद्येते निकृत्येते इवासिना ॥ शङ्खको नाम शिरसि व्याधिरेषः सुदारुणः। तृष्णामूर्च्छाज्वरकरस्त्रिरात्रात् परमन्तकृत् ॥ कुशलेन तूपक्रान्तस्त्रिरात्रादेव जीवति' इति)॥ १४-१५ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां शिरोरोगनिदानं समाप्तम् ॥ ६० ॥

विमर्श—उपर्युक्त दोषों के साथ कफ का भी सम्बन्ध रहता है जैसा कि सुश्रुत को अभिमत है—

'शंखाश्रितो वायुरुदीर्णवेगः कृतानुतापः कफपित्तरक्तैः' (सु०)

सिर के निम्नलिखित तीन भागों में से किसी एक में भी विकृति होने से शिरःशूल की उत्पत्ति

१. 'विमूर्च्छिता विशेषेण वृद्धा इत्यर्थः' क.। २. () एतच्चिह्नमध्यस्थः पाठः क. पुस्तके नोपलभ्यते।

होती है। शिरोगुहा की बाह्यरचना पेशी तथा रक्तवाहिनियों से बनी होती है। इसमें वातिक, पैत्तिक आदि शिरोरोगों का ग्रहण किया जा सकता है। दूसरी रचना नाड़ियों की है। इसमें अनन्त वात का समावेश करते हैं। तीसरी रचना करोटिगुहा (Skull) के अन्दर रहती है। इसमें होने वाली विकृति के परिणाम-स्वरूप ही सम्भवतः शंखक की उत्पत्ति होती है। कतिपय लक्षणों की विशेषता के कारण शंखक को अन्य शिरोरोगों से पृथक् किया जा सकता है। यथा—

(१) इसमें पीडा सारे सिर में न होकर केवल शंखप्रदेश (Tempro-parietal-region) में ही होती है।

(२) इस पीडा का स्वरूप अत्यधिक दारुण होता है।

(३) इसकी मर्यादा केवल तीन दिन की है।

(४) इसमें उष्ण स्वेद का निषेध किया जाता है।

(५) इसमें विषमयता के कारण ज्वर और तृष्णा की उत्पत्ति होती है।

(६) मूर्च्छा होती है।

सम्भवतः सिर की बड़ी-बड़ी सिराकुल्या (Veinous sinuses) की पार्श्वीय शाखाओं की विकृति स्वरूप शंखक की अवस्था उत्पन्न हो सकती है। कुछ विद्वान् आधुनिक कर्णमूलिक गोस्तन-प्रवर्धन की विद्रधि (Mastoid abscess) से इसकी तुलना करते हैं पर वह इस प्रकार का घातक या असाध्य नहीं होता।

समाप्तं चेदं शिरोरोगनिदानम्

अथासृग्दरनिदानम्

असृग्दरस्य निदानं भेदांश्चाह—

विरुद्धमद्याध्यशनादजीर्णाद्गर्भप्रपातादतिमैथुनाच्च ।
यानाध्वशोकादतिकर्षणाच्च भाराभिघाताच्छयनाद्दिवा च ।
तं श्लेष्मपित्तानिलसंनिपातैश्चतुष्प्रकारं प्रदरं वदन्ति ॥ १ ॥

विरुद्धाशन, मद्यपान, अध्यशन, अजीर्ण, गर्भपात, अत्यधिक मैथुन, सवारी पर चलने, अधिक पैदल चलने, अधिक शोक, (तथा लंघन आदि करने से) अधिक कर्षण होने से, भार वहन करने से चोट लगने तथा दिन में सोने से वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक तथा सान्निपातिक भेद से चार प्रकार का प्रदर या असृग्दर उत्पन्न होता है ॥ १ ॥

स्त्रीपुंसां साधारणान् विकारानभिधाय पुंप्रतिनियतस्योपदंशादेरुक्तत्वात् स्त्रीनियतरोगाभिधानम्। तत्र च योनिव्यापत्तिविशेषेऽप्यार्तवप्रवृत्तिसद्भावात् प्रथमं दुष्टार्तवप्रवृत्तिस्वरूपं प्रदरमाह-विरुद्धेत्यादि। विरुद्धमद्यम् दुष्टमद्यम् अथवा विरुद्धं संयोगादिविरुद्धं, मद्यं च स्वरूपतः। अजीर्णादपक्वभोजनात्। अतिकर्षणात् लङ्घनाद्यतियोगेन क्षीणधातुत्वात्। तं श्लेष्मपित्तानिलसन्निपातैरित्यत्र श्लेष्मणोऽग्रेऽभिधानं श्लेष्मजेऽपि वेदनासूचनार्थम्[1] ॥ १ ॥

असृग्दरस्य सामान्यलक्षणान्याह—

असृग्दरं भवेत् सर्वं साङ्गमर्दं सवेदनम् ।

---

१. 'श्लैष्मिकेऽतिप्रवृत्तिबोधार्थम्' क.।

सभी प्रदरों में अंगमर्द तथा वेदना सामान्य रूप से पायी जाती है।

तस्य सामान्यरूपमाह—असृग्दरमित्यादि। सवेदनं सशूलम्, असृग् दीर्यते च्यवते यस्मिन्नित्यसृग्दरं, तन्त्रान्तरमत्र—'तदेवातिप्रसङ्गेन प्रवृत्तमनृतावपि। असृग्दरं विजानीयात् पुरस्तादुक्तलक्षणम्।' (सु. शा. २) इति। तदेवेति आर्तवम्।

विमर्श—'असृक् रक्तं दीर्यते च्यवते प्राचुर्येण यस्मिन् रोगे सोऽसृग्दरः' जिस व्याधि में योनि से रक्त अधिक मात्रा में निकले उसे असृग्दर कहते हैं। सुश्रुत ने भी कहा है—ऋतुकाल में यदि योनि से अत्यधिक रक्त का स्राव हो अथवा ऋतुकाल के अतिरिक्त काल में भी रक्तस्राव पाया जाय तो उसे असृग्दर कहते हैं। इसमें आर्तव रक्त के ही लक्षण होते हैं। विशेष विवेचन अध्याय के अन्त में (पृष्ठ ३५०) देखें।

आर्तवस्यातिप्रवृत्तौ उपद्रवानाह—

तस्यातिवृत्तौ[1] दौर्बल्यं भ्रमो मूर्च्छा मदस्तृषा।
दाहः प्रलापः पाण्डुत्वं तन्द्रा रोगाश्च वातजाः॥ २॥ (सु. शा. २)

रक्त के अधिक निकल जाने पर दुर्बलता, भ्रम, मूर्च्छा, मद, प्यास, जलन, प्रलाप, पाण्डुता, तन्द्रा तथा अन्य वातिक रोग (आक्षेप, कम्प आदि) उत्पन्न हो जाते हैं॥ २॥

आर्तवातिप्रवृत्तौ उपद्रवानाह—तस्यातिवृत्तौ दौर्बल्यमित्यादि। रोगाश्च वातजा इति आक्षेपककम्पादयः॥ २॥

विमर्श—अधिक रक्त निकल जाने पर मस्तिष्कगत रक्त की भी कमी हो जाती है जिससे भ्रम, मूर्च्छा तथा मद जैसे लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। शरीर के जलीयांश की कमी से प्यास बढ़ जाती है। पोषणाभाव से रोगिणी दुर्बल हो जाती है। रक्त की अत्यधिक कमी से नाडीशोथ (Neuritis) होकर दाह का अनुभव होने लगता है। मार्ग के आवरण और धातुक्षय से वायु का प्रकोप होता है। यहाँ भी रक्तधातु के क्षीण होने से प्रकुपित वायु प्रलाप तथा अन्य वातिक उपद्रवों (कृशता, कम्प, निद्रानाश, अनवस्थितचित्तता, कर्णनाद तथा स्वभाव का चिड़चिड़ापन आदि) को उत्पन्न करती है। पाण्डुता (Anaemia) रक्तक्षय का एक प्रधान लक्षण है।

श्लैष्मिकादिभेदेनासृग्दरस्य लक्षणान्याह –

आमं सपिच्छाप्रतिमं सपाण्डु पुलाकतोयप्रतिमं कफात्तु।
सपीतनीलासितरक्तमुष्णं पित्तार्तियुक्तं भृशवेगि पित्तात्॥ ३॥
रूक्षारुणं फेनिलमल्पमल्पं वातार्ति वातात् पिशितोदकाभम्।
सक्षौद्रसर्पिर्हरितालवर्णं मज्जप्रकाशं कुणपं त्रिदोषात्॥ ४॥

आमरस से युक्त, पिच्छिल, पाण्डुवर्ण और मांस या पुआल धोये हुए जल के समान स्राव को **कफज** समझना चाहिये। यदि असृग्दर का स्राव पीला, नीला, कृष्ण या रक्तवर्ण का और उष्ण हो, जिसमें (ओष, चोष, दाह आदि) पैत्तिक वेदनायें हों, व जिसका वेग तीव्र हो उसे **पित्तज** समझना चाहिये। **वातिक** असृग्दर में स्राव रूक्ष, अरुण, फेनयुक्त, मात्रा में कम वातिक वेदनाओं से युक्त और मांस-प्रक्षालित जल के सदृश होता है। **सन्निपातज** असृग्दर का स्राव मधु, घृत तथा हरताल अथवा मज्जा के वर्ण का और शव के समान दुर्गन्धित होता है॥ ३-४॥

---

१. 'तस्यातिवृद्धौ' क.।

असृग्दरस्यासाध्यलक्षणं प्राह—

तं चाप्यसाध्यं प्रवदन्ति तज्ज्ञा न तत्र कुर्वीत भिषक् चिकित्साम्।

वैद्य इस सन्निपातज को असाध्य कहते हैं, अतः उसकी चिकित्सा न करनी चाहिये।

शश्वत् स्रवन्तीमास्रावं तृष्णादाहज्वरान्विताम्।
क्षीणरक्तां दुर्बलां च तामसाध्यां विनिर्दिशेत्॥ ५॥

जिस रोगिणी को निरन्तर रक्तस्राव हो रहा हो, जो प्यास, दाह और ज्वर से युक्त हो, जिसका रक्त बहुत क्षीण हो गया हो तथा जो अधिक दुर्बल हो गई हो उसे असाध्य समझना चाहिये॥५॥

श्लैष्मिकादिभेदेन विशेषलक्षणान्याह—आममित्यादि। आममामरसानुविद्धम्। सपिच्छाप्रतिममिति पिच्छा शाल्मल्यादिनिर्यासः, तत्सदृशं पिच्छिलमित्यर्थः, सशब्द ईषदर्थे। पुलाकतोयप्रतिमं प्रक्षालितपललतोयसदृशम्, अन्ये पुलाकं गवेधुकमाहुः। पित्तार्तियुक्तं दाहचिमिचिमादियुक्तम्। भृशवेगि बहुवेगि। वातार्ति तोदादिलक्षणम्। पिशितोदकाभं मांसप्रक्षालनजलसदृशम्[1]। सक्षौद्रसर्पिर्हरितालवर्णमिति नानावर्णत्वं त्रिदोषकोपादेव। क्षौद्रवर्णं मनाक्कपिलं, सर्पिर्वर्णं विलीनघृतवत् किञ्चिदरुणं च, मज्जप्रकाशं मज्जा अस्थिस्नेहः तत्समं, कुणपं शवगन्धि। तच्चाप्यसाध्यमिति चिकित्सानिवृत्त्यर्थम्॥ ३-५॥

विशुद्धार्तवस्य लक्षणं व्याचष्टे—

मासान्निष्पिच्छदाहार्ति पञ्चरात्रानुबन्धि च।
नैवातिबहुलात्यल्पमार्तवं शुद्धमादिशेत्॥ ६॥
शशासृक्प्रतिमं यच्च यद्वा लाक्षारसोपमम्।
तदार्तवं प्रशंसन्ति यच्चाप्सु न विरज्यते॥ ७॥ (सु. शा. २)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽसृग्दरनिदानं समाप्तम्॥ ६१॥

एक मास पर पिच्छिलता, दाह और पीडा से रहित, (अधिक से अधिक) पाँच दिन तक रहनेवाला न बहुत अधिक और न बहुत कम जो आर्तवस्राव होता है उसे शुद्ध समझना चाहिए। जो खरगोश के रक्त के वर्ण का अथवा जो लाक्षारस के समान वर्ण का हो और प्रक्षालन करने के उपरान्त जिसका धब्बा वस्त्र पर न रहे उस आर्तव को शुद्ध समझना चाहिये॥ ६-७॥

विशुद्धार्तवलक्षणमाह—मासादित्यादि। निष्पिच्छदाहार्तीति अपिच्छिलमदाहमशूलादिवेदनम्[2], एतेन विकृतवातादिलिङ्गरहितमित्यर्थः। पञ्चरात्रानुबन्धीति पञ्चरात्रं प्रभूतप्रवृत्त्याऽनुबध्नातीत्यर्थः[3]। अल्पप्रवृत्त्या पञ्चरात्रात् परतोऽप्यनुबध्नाति। तदुक्तं हारीते—'षोडशदिवसान्यृतुकालः' इति। विदेहेऽप्युक्तम्—'स्त्रीणामृतुर्भवति षोडशवासराणि' इति। शशासृगित्यादिना वर्णद्वयं वातादिप्रकृतिभेदात्। यच्चाप्सु न विरज्यत इति येनार्तवेन रञ्जितं वस्त्रमप्सु प्रक्षालितं सल्लोहितं न भवति तद्विशुद्धम्। तथा च हिरण्याक्षः—'सुरेन्द्रगोपसङ्काशं स्निग्धं च मधुगन्धि च। अपिच्छिलमशीतं च यद्वासो न विरञ्जयेत्' इति॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायामसृग्दरनिदानं समाप्तम्॥ ६१॥

विमर्श—आर्तव—१२ से ५० वर्ष तक की आयुवाली स्त्रियों में प्रतिमास ३ से ५ या ७ दिन

---

१. 'तुच्छधान्यप्रक्षालनजलसदृशम्' क.। २. 'निर्दोषत्वाद्दाहपित्तादिरहितम्' क.।
३. 'उद्भूतप्रवृत्त्या पञ्चरात्रं, ततः परं स्वल्पप्रवृत्त्या तु षोडशदिनानि' क.।

तक योनिमार्ग से रक्तसदृश स्राव होता है उसे 'आर्तव' या 'रज' कहते हैं। इसका समय नियत है और गर्भाशय गर्भग्रहण के योग्य है इसका निदर्शक होता है अतः इसकाल को 'ऋतु' कहते हैं। ऋतु में होने से ही इस स्राव को आर्तव कहते हैं तथा ऋतुकाल प्रतिमास होने से इसे मासिक धर्म भी कहते हैं। यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। इसका आरम्भ कन्याओं के यौवनारम्भ का सूचक है। सर्वप्रथम आर्तव-प्रवृत्ति को 'रजोदर्शन' कहते हैं। इसके साथ ही बालिकाओं में स्तनवृद्धि, श्रोणिविस्तृति, संकोचशीलता आदि अनेक यौवन के लक्षण भी प्रारम्भ होते हैं।

सगर्भावस्था एवं प्रसूतिकाल को छोड़कर गर्भाशय के दोनों ओर स्थित बीजग्रन्थियों (Ovaries) में पर्यायक्रम से प्रायः प्रतिमास एक डिम्भ परिपक्व होकर बीजवाहिनी द्वारा गर्भाशय में आता है और वहाँ मैथुन द्वारा पहुँचे हुए शुक्रगत बीजभाग (शुक्रकीट) से मिलकर गर्भ के रूप में परिणत होता है। इस डिम्भ की परिपक्वता के साथ ही गर्भाशयगत श्लैष्मिककला का रक्तसञ्चार बढ़ जाता है और उस कला के नीचे रक्त अधिकाधिक मात्रा में सञ्चित होने लगता है और उसके दबाव से श्लैष्मिककला विदीर्ण हो जाती है और योनि से रक्त का स्राव होने लग जाता है जो तीन से पाँच दिन और कभी-कभी सातदिन तक भी होता रहता है। गर्भाशय की श्लैष्मिककला का रोहण होने के बाद उसकी निवृत्ति हो जाती है। इस समय गर्भाशय गर्भस्थिति के अनुकूल हो जाता है। वस्तुतः यह प्रतीक्षित गर्भरूप अतिथि के स्वागतार्थ किया गया एक सुप्रबन्ध ही होता है। इसकी श्रेष्ठता या सदोषता का ज्ञान आर्तव के द्वारा ही होता है।

उपर्युक्त श्लोकों में आर्तव रक्त की प्रशस्तता का विवेचन अनेक दृष्टिकोणों से किया गया है—

(१) **मासात्**—आर्तव-प्रवृत्ति का कालचक्र (Period of menstrual cycle) एक मास का बताया गया है-**'मासे मासे गर्भकोष्ठमनुप्राप्य'** (वाग्भटः) तथा **'मासि मासि रजः स्त्रीणाम्'** अथवा **'मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्तवम्'** (सुश्रुतः)। मास से यहाँ—चान्द्र मास लिया जाता है। यह मास साधारणतया २८ दिन का होता है। इस प्रकार दो आर्तव-प्रवृत्ति-कालों के बीच का समय २८ दिन होना आर्तव की प्रशस्तता का निदर्शक है। इसी सिद्धान्त पर इसे मासिक धर्म भी कहा जाता है। आधुनिक विद्वानों को भी यही अभिमत है—'In human subject menstruation occurs on an average every four weeks' (Halliburton's Physiology) अधिकसंख्य स्त्रियों में आर्तवचक्र का यही निश्चित काल मिलता है। कुछ स्त्रियों में स्वास्थ्य, प्रकृति तथा आयु के अनुसार इसमें कुछ कमी या अधिकता भी मिल सकती है। किन्तु बहुत अधिक या कम दिन पर होना प्रशस्तता का लक्षण नहीं है। धर्मशास्त्र में इसकी कम से कम अवधि २१ दिन की मानी है—

अष्टादश दिनादूर्ध्वं स्नानप्रभृति संख्यया। यद्रजस्तु समुत्पन्नं तत्कालोत्पन्नमुच्यते॥

(२) **निष्पिच्छदाहार्ति**—प्रशस्त आर्तव-काल में साधारणतया किसी प्रकार की वेदना नहीं होनी चाहिये, यही इसका अर्थ है। किन्तु फिर भी अधिकसंख्य स्त्रियों में मासिक के समय श्रोणि-भाग में पीडा, सिरदर्द, गुरुता, थकावट, बेचैनी, चिड़चिड़ापन जैसे कुछ लक्षण मिलते हैं। इन लक्षणों की यदि अधिकता पाई जावे तो उसे कृच्छ्रार्तव (Dysmenorrhoea) की श्रेणी में रख सकते हैं। किन्तु इनका सौम्यस्वरूप होने पर आर्तवकाल को सर्वथा अप्रशस्त नहीं कहा जा सकता।

(३) **'पञ्चरात्रानुबन्धि'** यह आर्तव प्रवृत्तिकाल की औसत अवस्था है—स्त्रियों के साधारण स्वास्थ्य, प्रकृति तथा आयु के अनुसार रजःस्राव का काल भिन्न-भिन्न हो सकता है। साधारणतया इसकी अवधि तीन दिन से सात दिन की होती है—**'मासि मासि रजः स्त्रीणां रसजं स्रवति त्र्यहम्'** (वाग्भट), **'पञ्चरात्रानुबन्धि च'** (सुश्रुतः), **'रजः सप्तदिनं यावत्'** (हारीतः) आधुनिक विद्वान् भी इसका काल तीन से पाँच दिन का ही मानते हैं—'The flow lasts from

three to five days (Halliburton's physiology',) 'The stage lasts for four or five days' (Midwifery by johnstone). 'The number of days during which the flow persists also varies in different women; within normal limits four to five days being the commonest length of time' (Ten teacher's midwifery) ब्लंडसटन ने स्राव की मर्यादा दो से सात दिन मानी है—'The flow lasts from two to seven days'.

(४) **राशि**—स्वास्थ्य और प्रकृति के अनुसार आर्तव-रक्त की राशि भी विभिन्न स्त्रियों में भिन्न हो सकती है। एक स्त्री में जो राशि प्रकृत है वही दूसरी में विकृति का सूचक हो सकती है। आयुर्वेद ने इसी लिये निश्चित प्रमाण न बताकर—**'नैवातिबहुलात्यल्पमार्तवं शुद्धमादिशेत्'** कह कर ही विराम ले लिया है। बहुत कम या बहुत अधिक स्राव अप्रशस्त माना जाता है। साधारणतया एक स्त्री में जितना स्राव पहिले आर्तवकालों में हुआ है, उतना ही यदि आगे आर्तव-कालों में होता है तो उसे प्रशस्त ही मानना उचित होगा। पाश्चात्त्य विद्वान् इसकी प्रायिक मात्रा लगभग १ से ४ छटांक की मानते हैं—'The amount of blood lost naturally varies very much within normal limits but has been estimated at from 2 to 8 Ounces' (Ten teacher's midwifery).

(५) **वर्ण**—सुश्रुत ने इसका वर्णन खरगोश के रक्त अथवा लाक्षारस के समान लाल माना है। चरक ने इसे गुञ्जाफल, वीरवहूटी, रक्तकमल या आलता के सदृश माना है—

गुञ्जाफलसवर्णं च पद्मालक्तकसन्निभम्। इन्द्रगोपकसंकाशमार्तवं शुद्धमादिशेत्॥

आधुनिक विद्वान् इसका वर्णन कृष्णाभ रक्त या सिरागत रक्त के समान मानते हैं—'The latter has all the characteristics of ordinary veinous blood' Bland Suttan and Giles. सुश्रुत ने भी **शारीर** के तीसरे अध्याय में इसका उल्लेख किया है—

'मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्तवम्। ईषत्कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखं नयेत्॥

'ईषद्विवर्णं कृष्णं च वायुर्योनिमुखं नयेत्'।

भावप्रकाश भी यही वर्ण मानते हैं—**'ईषद्विवर्णं कृष्णं च वायुर्योनिमुखं नयेत्'।** स्वाभाविक राशि से अधिक रक्तस्राव होने पर वर्ण सुर्ख होता है—'When abundant it may be bright red' Bland Sutton and Giles.

(६) **यद्वासो न विरञ्जयेत्**—यही शुद्ध या शरीरधारक जीवरक्त की भी परीक्षा चरक में बताई गई है—

शुक्रं वा भावितं वस्त्रमावान कोष्णवारिणा। प्रक्षालितं विवर्णं स्यात् पित्ते शुद्धं तु शोणिते॥

शुद्ध रक्त होने पर सुखाकर धोनेपर वस्त्र में किसी प्रकार का धब्बा नहीं रहता; अशुद्ध होने पर दाग रह जाता है। पाश्चात्त्य विद्वान् भी शुद्ध रक्त या आर्तव रक्त की यही परीक्षा बताते हैं—'It is almost impossible to state whether stains have been caused by ordinary or menstrual blood' Manual of medical jurisprudence by Aitchison Robrtson.

(७) **स्राव का संगठन**—रक्त के अतिरिक्त इसमें गर्भाशय श्लैष्मिक कला का अंश और स्राव या श्लेष्मा (Mucous), गर्भाशय और योनि की दीवार की शीर्ण कोषायें भी मिलती हैं। श्लेष्मा का स्राव आर्तव के पूर्व या पश्चात् होता है। आर्तव रक्त में चूना (Calcium) भी साधारण रक्त की अपेक्षा अधिक होता है। इसके अतिरिक्त यह साधारण रक्त के समान जमता नहीं है। इसका कारण इसमें श्लेष्मा की उपस्थिति है जो रक्तरस तथा अन्य घन पदार्थों को पिच्छिलता के कारण पृथक् नहीं होने देता। कुछ विद्वानों का कहना है कि इसमें रक्त जमाने वाला परमोपयोगी फैब्रिन नामक तत्त्व अनुपस्थित रहता है 'It is said by Blair Bell to contain a much larger

proportion of calcium salts than circulating blood and under normal conditions no fibrin ferment (Ten teacher's midwifery).

(८.) **प्रदर**—ऋतुकाल या उसके अतिरिक्त काल में योनि से जो अत्यधिक मात्रा में और अधिक कालतक रक्तस्राव होता है उसे असृग्दर या प्रदर कहते हैं। डल्हणाचार्य का कथन है कि ऋतुकाल के अतिरिक्त काल में अल्प मात्रा में और अल्पकाल तक होने वाले रक्तस्राव को भी असृग्दर की श्रेणी में रख सकते हैं—**'अनृतावल्पमदीर्घकालमपि प्रवृत्तमसृग्दरं विजानीयात्'** किन्तु महर्षि चरक ने असृग्दर की सम्प्राप्ति में रक्तप्रमाण की वृद्धि का स्पष्ट उल्लेख किया है—

'रक्तं प्रमाणमुत्क्रम्य गर्भाशयगताः सिराः। रजोवहाः समाश्रित्य रक्तमादाय तद्रजः। यस्माद्विवर्धयत्याशु रसभावाद्विमानता। तस्मादसृग्दरं प्राहुरेतत्तन्त्रविशारदाः'॥(च. चि.३०)

असृग्दर को रक्तप्रदर भी कहते हैं। पाश्चात्त्य ग्रन्थों में भी रक्त की प्रचुरता तथा उसकी दीर्घकाल तक प्रवृत्ति के आधार पर ही इस पर विचार किया जाता है। इसके लिये वहां दो नामों का व्यवहार किया जाता है। जब आर्तव की प्रवृत्ति अधिक मात्रा में होते हुए भी आर्तवकाल की स्वाभाविक अवधि (२ से ७ दिन) तक ही होती है तो उसे 'मैनोरेजिया' (Menorrhagia) कहते हैं। किन्तु जब आर्तवस्राव ऋतुकाल से अतिरिक्त काल में भी होता है तो उसे मैट्रोरेजिया (Metrorrhagia) कहते हैं। 'Menorrhagia means excessive haemorrhage at the menstrual period' 'Metrorrhagia means bleeding from the uterus in the intervals between menstrual period' Johnstone.

आयुर्वेद में इन दोनों के लिये सामान्यतया असृग्दर शब्द का ही व्यवहार किया जाता है; क्योंकि दोनों अवस्थायें परस्पर बहुत सम्बन्धित रहती हैं। स्राव की अधिकता उत्पन्न करने वाले कारण ही कुछ दिन बाद काल में वृद्धि या अनियमितता भी उत्पन्न कर देते हैं—'It is most friquently found in association with menorrhagia,'

(Gynaecology by Henry Jellet)

ब्लंड सटन और गिल्स ने भी यही माना है—

'Menorrhagia passes insensibly into metrorrhagia, and it is therefore convinient to consider the two conditions together. Many diseases lead at first to menorrhagia and subsequently to metrorrhagia.'

पीछे संक्षेप से असृग्दर के कारणों पर विचार किया जा चुका है पुनः यहाँ विस्तारपूर्वक दिया जा रहा है—

(१) **भोजन**—चरक ने गुरु, विदाही, अम्ल, मद्य तथा सिरके आदि के अति सेवन से प्रदर की उत्पत्ति माना है।* पाश्चात्त्य विद्वान् भी भोजन और मद्य के अति सेवन को कारण मानते हैं—'Over indulgence in food and alcoholic drinks' (Bland-suttan and Giles)

(२) **अतिमैथुन**—अतिमैथुन के कारण स्त्रियों की जननेन्द्रिय की ओर रक्तप्रवाह बढ़ जाता

---

* याऽत्यर्थं सेवते नारी लवणाम्लगुरूणि च।
कट्वन्यथ विदाहीनि स्निग्धानि पिशितानि च॥
ग्राम्यौदकानि मद्यानि कृशरां पायसं दधि।
शुक्तमस्तुसुरादीनि भजन्त्याः कुपितोऽनिलः॥ (चरकः)

है जो आर्तवस्राव भी अधिक कराता है। नवविवाहिता स्त्रियों में अधिक मैथुन करने से यह अवस्था उत्पन्न हो जाती है—'Such cases occur chiefly in the newly married. There in no doubt that sexual excess often in the first months of married life is a reflex cause of uterine congestion and may cause metrorrhagia as well as menorrhagia' (Differential diagnosis By Herbert french.)

(३) **गर्भप्रपात**— प्रसव के उपरान्त साधारणतया अपरा आदि सब गर्भ के अंग बाहर निकल जाते हैं जिससे गर्भाशय धीरे-धीरे अपनी पूर्व स्थिति में आ जाता है। किन्तु जब अपरा का कुछ भाग अन्दर रह जाता है तो वह अपनी पूर्वावस्था में नहीं आता अपितु वह मृदु और स्थूल हो जाता है एवं रक्ताधिक्य के कारण उससे रक्तस्राव हुआ करता है। यह स्थिति गर्भपात के कारण अधिक होती है अतः उसका ही नामोल्लेख किया गया है।

(४) **यानाध्व**—घोड़ा, ऊंट, साइकिल आदि की अधिक सवारी करना। हर्बर्ट फ्रेंच ने नृत्य जिमनास्टिक, साइकिल की सवारी तथा शिकार को इसका कारण बताया है।

(५) **शोक**—इससे भय, काम, क्रोध तथा चिन्ता जैसे सभी मानसिक उत्तेजनाओं का ग्रहण होता है। इससे शरीर के अन्तःस्रावों (Internal secretions) में वृद्धि कोकर रक्तभार (Blood pressure) स्थायी रूप से बढ़ जाता है। इसके परिणामस्वरूप गर्भाशय में रक्ताधिक्य (Congestion) होकर असृग्दर की उत्पत्ति होती है।

हेनरी जिलेट ने इसके कारणों को चार भागों में विभक्त कर दिया है—

(१) **उत्पादकसंस्थान** (Genital system)—'all the causes of menorrhagia and metrorrhagia arising as a result of diseases of genital system' कोई भी कारण जो गर्भाशय में रहकर वहां रक्ताधिक्य उत्पन्न करे वह असृग्दर उत्पन्न कर सकता है। यथा गर्भाशयकलाशोथ (Endometritis). गर्भाशय तथा बीजग्रन्थि के अर्बुद, अपरा के अवशेष तथा अपसंवृत्ति (Subinvolution)।

(२) **रक्तवहसंस्थान** (Circulatory system)—रक्तभार की वृद्धि करने वाले सब कारण असृग्दर उत्पन्न करते हैं। यथा—वृक्क तथा हृदय के रोग, यकृद्दाल्युदर तथा श्वसनी-शोथ (Bronchitis)।

(३) **वातनाडीसंस्थान** (Nervous system)—अत्यधिक मैथुन, अत्युष्ण जल में स्नान तथा भावावेश से प्रत्यावर्तन क्रिया (Reflex action) के द्वारा असृग्दर की उत्पत्ति होती है।

(४) **अन्तःस्रावी ग्रन्थियां** (Ductless glands)—बीजग्रन्थि (Ovary) तथा चुल्लिका ग्रन्थि (Thyroid) का अत्यधिक अन्तः स्राव असृग्दर (Menorrhagia) को उत्पन्न करता है।

असृग्दर या रक्तप्रदर के प्रकरण में इसी से सम्बन्धित एक अन्य रोग का वर्णन करना भी अप्रासंगिक न होगा अतः आगे उसका वर्णन भी किया जाता है—इसे श्वेत प्रदर (Leucorrhoea) कहते हैं। 'Leucorrhoea is the term applied to discharge of a non-sanguineous character coming from the genital tract' (Henry Jellett) स्त्री जननेन्द्रिय से निकलने वाला रक्तरहित श्वेत स्राव ही श्वेतप्रदर कहलाता है। इसके कारणों के दो विभाग कर सकते हैं—

(१) जननाङ्गगत कारण (Causes situated in the genital tract)

(२) जननाङ्ग बाह्य कारण (Extra genital causes)

जननाङ्गगत कारण—(१) गर्भाशय तथा योनि के शोथ।

(२) गर्भाशय ग्रीवा की कला का परमोपचय (Hypertrophy) और वहां की ग्रन्थियों के स्राव की अधिकता।

(३) बीजग्रन्थि की अत्यधिक क्रियाशीलता (Excessive ovarian action)—इससे श्लेष्मल कलागत ग्रन्थियों का स्राव बढ़ जाता है।

(४) अर्बुद—ये गर्भाशय तथा योनि की श्लेष्मलकला पर प्रभाव डाल कर श्वेतवर्ण का स्राव कराते हैं।

गर्भाशयकला तथा गर्भाशयग्रीवा (Cervix) की ग्रन्थियों के परिवर्तन तथा उपसर्ग को श्वेत प्रदर का मुख्य कारण कहा जा सकता है। उपसर्ग की क्रिया दो प्रकार से होती है। प्रथम तो यह गर्भाशय तथा उसकी ग्रीवा की ग्रन्थियों को अधिक क्रियाशील बनाकर स्राव की वृद्धि करता है। दूसरे यह योनि की श्लेष्मलकला को अस्वस्थ बना देता है, जिससे उसका उत्तान स्तर (Superficial epithelium) अनेक स्थानों पर नष्ट हो जाती है, एवं उपसर्ग को अधिक गहराई में जाने का खुला अवसर मिल जाता है। परिणामस्वरूप योनि की रक्तवाहिनियों से लसिका का स्राव होने लगता है। उपसर्गकारी जीवाणुओं में पूयमेह का गोलाणु (Gonococcus), मालागोलाणु (Streptococcus) तथा स्तवकगोलाणु (Staphylococcus) मुख्य हैं। अत्यधिक कामोत्तेजना के फलस्वरूप बीजग्रन्थि की क्रिया बढ़ जाने पर भी स्राव की उत्पत्ति होती है।

जननाङ्गबाह्य कारण—

ये कोई महत्त्व के कारण नहीं हैं फिर भी इनका विचार करना आवश्यक है। इसमें निम्न कारण मुख्य हैं—

(१) स्वास्थ्यहीनता (Ill Health)—जैसे पाण्डुता (Anaemia) इससे रक्त जलबहुल हो जाता है। परिणामस्वरूप श्लेष्मलकला की वाहिनियों से लसिका (Serum) का स्राव प्रारम्भ हो जाता है।

(२) जननाङ्गों में रक्ताधिक्य (Congeston of the genitals)—कोई भी कारण जो जननाङ्गों में रक्ताधिक्य उत्पन्न करे वह श्वेत प्रदर का कारण होता है। इसके अन्तर्गत अत्यधिक कोष्ठबद्धता, औदरिक अर्बुदों का दबाव, जलोदर तथा अर्श आदि का समावेश होता है।

इस रोग में सफेद स्राव के अतिरिक्त शारीरिक एवं मानसिक दुर्बलता, सिर में चक्कर, कटिप्रदेश में शूल, टांगों में (घुटनों से नीचे) कटने जैसी पीडा तथा अरति ये लक्षण भी मिलते हैं।

समाप्तं चेदमसृग्दरनिदानम्

अथ योनिव्यापन्निदानम्

योनिरोगाणां सामान्यं कारणमाह—

विंशतिर्व्यापदो योनौ निर्दिष्टा रोगसंग्रहे।
मिथ्याचारेण ताः स्त्रीणां प्रदुष्टेनार्तवेन च ॥ १ ॥
जायन्ते बीजदोषाच्च दैवाच्च शृणु ताः पृथक्। (च. चि. ३०)

रोगसंग्रह (चरक के अष्टोदरीय नामक सूत्रस्थान के १९ वें अध्याय) में योनि के बीस रोग बताये गए हैं। वे स्त्रियों के मिथ्या आहार-विहार, आर्तव की दुष्टता, बीजदोष तथा दैव के प्रभाव से उत्पन्न होते हैं ॥ १ ॥

स्त्र्यधिकारानुवृत्तेः प्रदुष्टार्तवकार्यत्वाच्च योनिव्यापन्निदानमाह—विंशतिरित्यादि। रोगसंग्रह इति अष्टोदरीये, चरकोक्तत्वादस्य वाक्यस्य। मिथ्याचारेण असम्यगाहाराचारेण चरतेर्गतिभक्षणार्थत्वात्। प्रदुष्टेनार्तवेनेति वातादिदुष्टरजसेत्यर्थः। तेन, वन्ध्यादिष्वार्तवदुष्टि-

रपि कारणं भवति । बीजदोषान्मातापित्रोरारम्भकबीजदोषात् । दैवात् प्राक्तनाधर्मकारणात्, दैवस्य सर्वत्र कारणत्वे सिद्धेऽत्र विशेषेण कारणत्वमुक्तम् ॥ १ ॥

विमर्श—'योनि' शब्द यहां प्रजनन संस्थान के अर्थ में प्रयुक्त है इससे गर्भाशय (Uterus), योनि (Vagina & vulva) आदि सभी स्त्रीप्रजनन अंगों का बोधक है ।

वातादि से दुष्ट आर्तव भी योनि रोग पैदा करता है । इससे वन्ध्यात्व आदि की उत्पत्ति में आर्तव की दुष्टि प्रधान कारण होती है । गर्भ के आरम्भक स्त्रीबीज और पुरुषबीज की खराबी से भी यह रोग उत्पन्न होता है । इस प्रकार वंशपरम्परा (Heridity) से भी योनिरोगों की उत्पत्ति होती है । अन्य रोगों के समान पूर्वजन्म के शुभाशुभ कर्मानुसार दैव इसमें भी कारण होते हैं ।

आयुर्वेदिक सिद्धान्त के अनुसार बीस योनिरोग होते हैं । उनमें माधव के अनुसार पांच वातिक, पांच पैत्तिक, पांच कफज और पांच सन्निपातज होते हैं । प्राचीन चरक, सुश्रुत, वाग्भट आदि आचार्यों ने भी बीस-बीस ही योनिव्यापदों का वर्णन किया है किन्तु आरम्भक दोषों और नाम के सम्बन्ध में कुछ मतभेद है । यदि क्रिमि या प्रमेह रोगों के समान यहां भी बीस को निश्चित संख्या न मानकर अतिसंख्या का निदर्शक माना जाय तो प्रत्यक्षतः कुछ असंगति न होगी ।

तत्र पञ्चयोनिव्यापत्सु प्रथममुदावर्तां प्राह—

सा फेनिलमुदावर्ता रजः कृच्छ्रेण मुञ्चति ॥ २ ॥

उदावर्ता योनि से झागयुक्त रज का स्राव कठिनता से होता है ॥ २ ॥

वन्ध्याविप्लुतापरिप्लुतानां लक्षणान्याह—

वन्ध्यां नष्टार्तवां विद्याद्विप्लुतां नित्यवेदनाम् ।
परिप्लुतायां भवति ग्राम्यधर्मेण रुग्भृशम् ॥ ३ ॥

जिसका आर्तव नष्ट हो गया हो उसे वन्ध्या और जिसमें नित्य वेदना होती हो उसे विप्लुता समझना चाहिये । परिप्लुता योनि में मैथुन करने से अत्यधिक पीडा होती है ॥ ३ ॥

वातलायोनिं वर्णयति—

वातला कर्कशा स्तब्धा शूलनिस्तोदपीडिता ।
चतसृष्वपि चाद्यासु भवन्त्यनिलवेदनाः ॥ ४ ॥ (सु. उ. ३८)

वात से दूषित योनि कर्कश जकड़ी हुई तथा शूल और तोद से पीडित होती है । इससे पूर्व की चारो अवस्थाओं में भी वातिक वेदनायें होती हैं ॥ ४ ॥

वातिका आह—सा फेनिलमित्यादि । सा योनिः फेनवदार्तवं मुञ्चति । उदावर्तेति ऊर्ध्वमावर्तः समन्ताद्वर्तनं वायोर्यत्र सा तथेति, अर्शआदित्वादच् । विप्लुतामिति विप्लुतां वातवेदनया विप्लुतत्वात् । नित्यवेदनामतिकुपितेनैव वातेनेति । परिप्लुतायामिति परि सर्वतो वातविकारेण प्लुतत्वात् परिप्लुतासंज्ञा । परिप्लुतायां बाह्याभ्यन्तरवातवेदनाभियुक्तायाम् । 'ग्राम्यधर्मेण रुग्भृशम्' इत्यत्र 'ग्राम्यधर्मे रुचिर्भृशम्' इति पाठान्तरं, तत्र रुचिरभिलाषः; ग्राम्यधर्मे मैथुने । वातलेत्यादि योनिविशेषणं, वातलया सह पञ्च योनिव्यापदः । वातलायाः पृथगभिधानं वातलायां विशेषेण वातवेदनाप्रादुर्भावार्थम् । एवं पित्तलादिष्वपि बोद्धव्यम् । चतसृष्विति उदावर्तावन्ध्याविप्लुतापरिप्लुतासु ॥ २–४ ॥

---

१. 'उदावृत्ता' क. । २. उदावृत्तेति ऊर्ध्वम् आ समन्ताद् वृत्तं वर्तुलं यत्र वायुना सा तथा, उदावर्तेति पाठेऽप्ययमेवार्थः, क. ।

विमर्श—उदावर्ता—महर्षि चरक ने इसका वर्णन अधिक स्पष्ट किया है—वेगावरोध के कारण प्रकुपित वायु (रज के वेग को रोक कर) योनि में उदावर्त उत्पन्न कर देती है। इससे पीडा के साथ रजःस्राव होता है। रजःस्राव हो जाने पर क्षण भर के लिये आराम हो जाता है*।

नष्टार्तवा या **वन्ध्या** कुछ लोग इसे चरकोक्त 'अरजस्का' मानते हैं किन्तु वन्ध्या या नष्टार्तवा यहाँ वातिक वर्णित है जब कि महर्षि चरक अरजस्का पित्तज मानते हैं :—

योनिगर्भाशयस्थं चेत् पित्तं संदूषयेदसृक्। साऽरजस्का मता कार्श्यवैवर्ण्यजननी भृशम्॥

वाग्भट अरजस्का को वातपित्तज मानकर 'लोहितक्षया' कहते हैं—

..................वातपित्ताभ्यां क्षीयते रजः।
सदाहकार्श्यवैवर्ण्यं यस्यां सा लोहितक्षया॥ वा. उ. ३३॥

चरकोक्त 'अरजस्का' और वाग्भटोक्त 'लोहितक्षया' दोनों में ही वन्ध्यात्वलक्षण न होने से यह भिन्न ही प्रतीत होता है।

प्रजोत्पादन की असमर्थता को ही वन्ध्यात्व या बांझपन (Sterility) कहते हैं। केवल रज की प्रवृत्ति न होने मात्र से बन्ध्यात्व नहीं होता अतएव सुश्रुत ने कहा है कि-**'अदृष्टार्तवाप्यस्तीत्येके भाषन्ते'** (सु० शा० ३) और अदृष्टार्तवा को भी सन्तान हो सकती है। इसी प्रकार रजःस्राव होने पर भी उसके बीजभाग की अनुपस्थिति या दुष्टि से भी सन्तानोत्पत्ति नहीं हो सकती है। अतः यहाँ 'नष्टार्तवा' में बीज शब्द का अध्याहार कर 'नष्ट हो गया है आर्तव का बीजभाग जिसमें यह अर्थ करना चाहिये।

गर्भाधान पुरुष और स्त्री में से किसी एक या दोनों के कारण हो सकता है। उसके लिये निम्न बातों का होना अनिवार्य है—

(१) गर्भाशय-ग्रीवा नलिका से लेकर बीजवाहिनी तक कहीं भी स्त्रीबीज और पुरुषबीज का आपस में मिलना।

(२) स्त्रीबीज और पुरुषबीज का पूर्ण स्वस्थ होना।

स्त्रीरोगों का प्रकरण होते हुए भी प्रथम संक्षेप से **पुरुषगत** कारणों पर विचार किया जाता है—

(१) शुक्रवाहिनी नलिकाओं में अवरोध (Closure of the spermatic ducts)–यह पूयमेह आदि के कारण हो सकता है। इसके कारण पुरुषबीज का स्त्रीबीज से सम्पर्क नहीं हो पाता।

(२) शुक्र की अनुपस्थिति (Absence of semen)—पुरुषबीज एक तरल पदार्थ में मिलकर ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है। द्रवभाग की अनुपस्थिति से गर्भाशय तक पहुँचने में भी असमर्थ रहता है। यह स्थिति शुक्र (Semen) बनाने वाले अङ्गों के शोथ के कारण तथा सहज भी हो सकती है।

(३) अशुक्राणुता (Azoospermia)—शुक्र में शुक्राणु या पुरुषबीज की अनुपस्थिति से भी गर्भधारणा नहीं हो सकती। इसके निम्न कारण हैं—

(क) अण्डग्रन्थि की अनुपस्थिति या उसकी रुग्णता।

(ख) उपाण्डग्रन्थि (Epididymis) की अनुपस्थिति।

(ग) अतिमैथुन (Sexual excess)।

(घ) आयु–बाल्यावस्था में (लगभग १४ वर्ष तक) शुक्राणु की उत्पत्ति नहीं होती।

---

* वेगोदावर्तनाद्योनिमुदावर्तयतेऽनिलः
सा रुगार्ता रजः कृच्छ्रेणोदावृत्तं विमुञ्चति। आर्तवे सा विमुक्ते तु तत्क्षणं लभते सुखम्॥
रजसो गमनादूर्ध्वं ज्ञेयोदावर्तिनी बुधैः। (च० चि० ३०)

(ङ) शुक्रवाहिनी तथा पौरुषग्रन्थि का जीर्ण शोथ।

इन कारणों के अतिरिक्त उत्पादक अङ्गों की स्वाभाविक विकृति, उनकी अनुपस्थिति तथा आघात और शस्त्रकर्मजन्य विकृति भी पुरुषगत कारणों में समझनी चाहिये।

स्त्रीरोगों का प्रकरण होने से **स्त्रीगत** कारणों का विवेचन कुछ विस्तार से किया जायगा। इसके प्रथम दो विभाग किये जा सकते हैं—

(१) सहज (Congenital)   (२) जातोत्तरकालज (Acquired)

सहज में उत्पादक अङ्गों की रचनासम्बन्धी विकृति (Malformation) या उनकी अनुपस्थिति मुख्य है। जातोत्तर-कालज में विभिन्न रोग तथा अन्य आगन्तुज कारण सहायक होते हैं। अगले पृष्ठ में कारणों की एक तालिका (Table) दी जा रही है।

कारणों का जातोत्तरकालज (Acquired) वर्ग बहुत बड़ा है। आगे इसके भी अनेक भेद तथा उपभेद किये गये हैं। यह (३५६ पृष्ठ की) तालिका में स्पष्ट किया गया है। किसी शोथ या अर्बुद के कारण बीजग्रन्थियाँ नष्ट हो सकती हैं या अन्य अङ्गों से संसक्ति (Adheison) के कारण उनसे स्त्रीबीज नहीं निकल पाता। पूयमेह या अन्य प्रकार के उपसर्गों से बीजवाहिनी के शोथजन्य अवरोध से भी स्त्रीबीज और पुरुषबीज का संयोग नहीं हो पाता। गर्भाशयकला का शोथ (Inflammation) भी गर्भाधान में बाधा उत्पन्न करता है। गर्भाशय तथा उसकी ग्रीवा के उपसर्गजन्य स्राव शुक्रकीट को नष्ट कर देते हैं। योनि के रोग स्वयं बन्ध्यता उत्पन्न नहीं करते किन्तु परम्परया मैथुन की असमर्थता आदि उत्पन्न करने से इन्हें भी इसका कारण माना गया है।

अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के अन्तःस्रावों की विकृति से भी बन्ध्यता उत्पन्न होती है। बीजग्रन्थि के स्राव की कमी से गर्भाशय का पूर्ण विकास और स्त्रीबीज का पूर्ण परिपाक नहीं होने पाता। स्राव अधिक होने पर गर्भाशय का परमचय (Hypertrophy) हो जाता है। चुल्लिका ग्रन्थि (Thyroid gland) और पीयूषग्रन्थि (Pituitary gland) के अन्तःस्रावों की कमी से भी बन्ध्यता उत्पन्न होती है।

उत्पादक अङ्गों के तीव्र आघात या शस्त्रकर्म द्वारा उन्मूलन होने से भी बन्ध्यता उत्पन्न होती है। रजोदर्शन काल से पूर्व लड़कियों में स्वाभाविक (Physiological) बन्ध्यता रहती है। इसी तरह जराजन्य-रजोनिवृत्ति (Menopause) हो जाने पर भी इस प्रकार की बन्ध्यता उत्पन्न हो जाती है।

एकापत्यबन्ध्यता (One child sterility)—एक बच्चा होने के पश्चात् दूसरा बच्चा नहीं होता। प्रसव के उपरान्त जीवाणु का उपसर्ग हो जाने से शोथ होकर बीजवाहिनियों का मार्ग बन्द हो जाता है। इसके अतिरिक्त प्रसव के उपरान्त पूयमेह के उपसर्ग, प्रसवकालीन तीव्र आघात (गर्भाशय-ग्रीवा का अत्यधिक विदार) अथवा अपसंवृति (Subivolution) से भी एकापत्य बन्ध्यता उत्पन्न होती है। प्राचीन ग्रन्थों में इसका वर्णन सूत्रमात्र से ही मिलता है।

विप्लुता और परिप्लुता—विप्लुता और परिप्लुता दोनों ही में पीडा होती है किन्तु विप्लुता में योनिमात्र में सदैव मन्द-मन्द पीडा होती रहती है जब कि परिप्लुता में केवल मैथुन के समय तीव्र एवं योनि के समीपस्थ वंक्षण, श्रोणि आदि अवयवों में भी पीड़ा होती है। यहाँ यह दोनों ही वातजनित मानी गयी हैं किन्तु वाग्भट ने विप्लुता को क्रिमिजनित और परिप्लुता को वातपैत्तिक माना है तथा उन दोनों के अतिरिक्त वातकफजनित उपप्लुता नामक एक अतिरिक्त रोग का भी उल्लेख किया है।

वन्ध्यात्व के कारण
(Causes of sterility)

- सहज (Congenital)
  - जननाङ्गों की रचना सम्बन्धी विकृति या अनुपस्थिति (Congenital malformations or absence of reproductive organs)
    - बीजग्रन्थि (Ovaries)
    - बीजवाहिनी (Fallopian tubes)
    - गर्भाशय (Uterus)
    - योनि (Vagina)
    - योनिमुख (Vulva)
- जातोत्तरकालज (Acquired)
  - रोग
    - स्थानीयरोग (Local diseass)
      - बीजग्रन्थि
      - बीजवाहिनी
      - योनि
      - श्रोणिगुहागत उदरावरण (Pelvic Peri-toneum)
    - अन्तःस्रावी ग्रन्थिसम्बन्धी (Endocrine)
      - बीजग्रन्थिसम्बन्धी (Oviarian)
      - अन्य ग्रन्थियाँ जैसे (Pituitary
  - शस्त्रकर्म
    - आवश्यक जननाङ्गों का निकाल देना
  - स्वभाविक (Physiological' causes)
    - आयु (Age)
    - बच्चे के दूध पीने का काल (Lactation Period)
  - विहार
    - व्यवसाय (Occupatiou)
    - अतिमैथुन (Sexual excess)
    - भोजन (Diet)
    - जलवायु (Climate)

पित्तलाया नृसंवासे क्षवथूद्गारधारणात्। पित्तयुक्तेन मरुता योनिर्भवति दूषिता ॥ १५
शूना स्पर्शासहा सार्तिनीलपीतास्रवाहिनी। वस्तिकुक्षिगुरुत्वातिसारारोचककारिणी ॥
श्रोणिवंक्षणरुक्तोदज्वरकृत् सा परिप्लुता। (अ० हृ० उ० तं० २४)

तथा च – **वातश्लेष्मामयव्याप्ता श्वेतपिच्छिलवाहिनी।** उपप्लुता **स्मृता योनिः ॥**
विप्लुताख्यास्त्वधावनात्। **संजातजन्तुः कण्डूला कण्ड्वा चातिरतिप्रिया ॥**

चरक ने भी वाग्भट के अनुसार विप्लुता के लक्षणों का उल्लेख 'अचरणा' में किया है और उसे क्रिमिज माना है। उपप्लुता को वातकफज एवं परिप्लुता को वातपैत्तिक मानते हैं। वस्तुतः वाग्भट ने ही परिप्लुता आदि के लक्षणों को चरक के ही श्लोकों में थोड़ा सा अंश और जोड़कर अथवा कुछ पाठभेद कर लिखा है।

वातला—चरक और वाग्भट ने इसके लक्षणों को और भी विस्तार से लिखा है:—वातिक आहार-विहार करने वाली स्त्री का वायु प्रकुपित होकर योनि में चुभन, कर्कशता, जकड़ाहट, चींटियों के रेंगने जैसी अनुभूति तथा संज्ञाशून्यता उत्पन्न करता है। पीडा और फेन से युक्त आर्तव का कठिनता से स्राव होता है*।

पैत्तिकाः पञ्च योनिव्यापदः प्राह—

सदाहं क्षीयते रक्तं यस्यां सा लोहितक्षया।
सवातमुद्गिरेद्बीजं वामिनी रजसा युतम् ॥ ५ ॥
प्रस्रंसिनी स्रंसते च क्षोभिता दुष्प्रजायिनी।
स्थितं स्थितं हन्ति गर्भं पुत्रघ्नी रक्तसंक्षयात् ॥ ६ ॥
अत्यर्थं पित्तला योनिर्दाहपाकज्वरान्विता।
चतसृष्वपि चाद्यासु पित्तलिङ्गोच्छ्रयो भवेत् ॥ ७ ॥ (सु. उ. ३८)

जिसमें रजःस्राव जलन के साथ (अतिमात्रा में) हो उसे **लोहितक्षया** कहते हैं। जिस योनि से वायुसहित बीज और रज निकल जाये उसे **वामिनी** कहते हैं। क्षोभ के कारण जो बार बार अपने स्थान से च्युत होकर निकल पड़ती है उसे **प्रस्रंसिनी** कहते हैं; यह कठिनता से सन्तान उत्पन्न करती है। जो आर्तव रक्त के क्षीण (या क्षरण?) होने से स्थित गर्भ को बार बार गिरा देती है उसे पुत्रघ्नी कहते हैं। जब योनि में अत्यधिक जलन, पाक और ज्वर ये लक्षण होते हैं तो उसे **'पित्तला'** कहते हैं। पहिली चारों में भी पैत्तिक लक्षणों का प्राधान्य रहता है ॥ ५-७ ॥

पैत्तिका आह—सदाहमित्यादि। क्षीयते रक्तमिति अतिप्रवृत्त्या रक्तस्य क्षयः। वामिन्युद्गिरेद्बीजमिति शुक्रं शुद्धमपि वमतीत्यर्थः। प्रस्रंसिनी स्रंसत इति स्वस्थानाच्च्यवते निःसरतीति यावत्। अत एव 'क्षीरस्विन्नां प्रवेशयेत्' (सु. उ. ३८)' **इति चिकित्सितम्। क्षोभिता विमर्दिता। दुष्प्रजायिनी दुःखप्रसवा। रक्तसंक्षयादार्तवस्य वायुना क्षयात्। पुत्रघ्नीति व्यपदेशः। पित्तलया यद्यपि सर्वस्यैवापत्यस्य नाशस्तथाऽपि पुत्रस्य प्राधान्यात् पुत्रघ्नीति व्यपदेशः। दाहपाकेत्याद्युपलक्षणं, तेन नीलपीतासितार्तवा च भवतीत्यर्थः। सह पञ्च पित्तजाः।**

* वातलाहारचेष्टाया वातलायाः समीरणः। विवृद्धो योनिमाश्रित्य योनेस्तोदं सवेदनम् ॥
स्तम्भं पिपीलिकासृप्तिमिव कर्कशतां तथा। करोति सुप्तिमायासं वातजांश्चापरान् गदान् ॥
सा स्यात् सशब्दरुक्फेनतनुरूक्षार्तवानिलात् ॥ (च. चि. ३०)

यदुक्तमन्यत्र—'व्यापन्नवगकट्वम्लक्षाराद्यैः पित्तजा भवेत्। दाहपाकज्वरोष्णार्ता नीलपीता-सितार्तवा ॥' इति। आद्यास्विति रक्तक्षयवामिनीप्रस्रंसिनीपुत्रघ्नीषु ॥ ५-७ ॥

विमर्श—लोहितक्षया—माधव ने इन श्लोकों का संग्रह सुश्रुत संहिता से किया है। कहीं कहीं कुछ पाठ-परिवर्तन भी कर दिया। सुश्रुत में इसे 'लोहितक्षरा' कहा है—**'सदाहं क्षरत्यस्रं यस्यां सा लोहितक्षरा।'** वस्तुतः पित्तकृत विकार में रक्त की अतिप्रवृत्ति ही सम्भावित होती है। अतः सुश्रुतोक्त मूल पाठानुसार इसे 'लोहितक्षरा' ही मानना उचित है। मधुकोषकार ने भी **'क्षीयते रक्तमिति अतिप्रवृत्त्या रक्तस्य क्षयः'** स्वीकार किया है। चरक ने इसे रक्तपित्तजनित माना है और 'अस्रजा' (रक्तजा) या पाठान्तर (चक्रपाणि) के अनुसार 'अप्रजा' नाम दिया है:—

रक्तपित्तकरैर्नार्या रक्तं पित्तेन दूषितम्। अतिप्रवर्तते योन्यां लब्धे बीजेऽपि सास्रजा(साऽप्रजा

(च. चि . ३०)

कुछ लोग इसे 'अरजस्का' के ही लक्षणों का अंश मानते हैं और इसके 'अप्रजा' शब्द को लक्षणमात्र मानकर पूर्वोक्त वन्ध्या या नष्टार्तवा योनिव्यापत् से इसकी तुलना करते हैं। किन्तु उसमें आर्तव नष्ट होता है और यहाँ आर्तव की अतिप्रवृत्ति बताई गयी है अतः दोनों को पृथक् मानना ही उचित है।

वामिनी—गर्भाशय की ग्रीवा या योनि में अवरोध होने से शुक्र गर्भाशय में न जाकर बाहर निकल आता है; कभी-कभी योनि में संकोच होने से कुछ काल तक रुक कर भी बाहर निकल आता है। योनि की इस स्थिति को वामिनी योनिव्यापत् कहते हैं। चरक ने इसे वात पैत्तिक माना है और इसका लक्षण निम्न प्रकार से लिखा है।

व्यवायकाले रुन्धत्या वेगान्प्रकुपितोऽनिलः। कुर्याद्विण्मूत्रसङ्गार्ति शोषं योनिमुखस्य च। षडहात्सप्तरात्राद्वा शुक्रं गर्भाशयं गतम्। सरुजं नीरुजं वाऽपि या स्रवेत्सा च वामिनी॥

चरकोक्त इस प्रथम श्लोक में वामिनी के हेतु और सम्प्राप्ति का वर्णन है किन्तु इसे कुछ विद्वान् वाग्भटोक्त 'शुष्कायोनि' का लक्षण मानते हैं। अनेक प्राचीन टीकाकारों एवं संग्रहकारों ने भी 'शुष्कायोनि' का वर्णन किया है। इसमें से कुछ लोग संख्यावृद्धि न हो इस लिए अप्रजा या रक्तजा और अरजस्का को तथा कुछ लोग असंवृतमुखी और महायोनि को एक मानते हैं।

प्रस्रंसिनी—जब योनि या गर्भाशय अपने स्थान से च्युत हो जाता है तो उसे प्रस्रंसिनी कहते हैं। यह कई प्रकार से होता है। कभी थोड़ा स्रंसन मात्र होकर इनकी स्वाभाविक स्थिति में वक्रतामात्र आ जाती है तो उसे विवर्तन (Vertion) और दिशा के अनुसार पूर्व विवर्तन (Antivertion) या पश्चात्स्रंस या वर्तन (Rtrovertion) कहते हैं। इसी को चरक ने 'अन्तर्मुखी' कहा है *। अधिक भ्रंश होने पर ये योनिद्वार से बाहर दिखाई देने लगते हैं। इस अवस्था को गर्भाशय या योनि का भ्रंश (Prolapse of uterus or vagina) कहते हैं। यह भी पूर्ण और अपूर्ण भेद से दो प्रकार का होता है। अपूर्ण भ्रंश में गर्भाशय का कुछ भाग विशेषतः योनिभित्ति (Vaginal wall) का कुछ भाग ही बाहर से दिखाई देने लगता है जिससे योनिद्वार खुला ही रहता है। इसी को सुश्रुत और माधव ने 'विवृता' और चरक ने 'असंवृतमुखी'† कहा है। पूर्णभ्रंश में सारी योनि और गर्भाशय बाहर निकल आता है जिससे पुरुषों के अण्डकोष

---

*व्यवायमतितृप्ताया भजन्त्यास्त्वन्नपीडितः। वायुर्मिथ्यास्थिताङ्गाया योनिस्रोतसि संस्थितः॥ वक्रयत्याननं योन्याः सास्थिमांसानिलार्तिभिः। भृशार्तिमैथुनाशक्ता योनिरन्तर्मुखी मता॥

† विषमदुःखशय्यातिमैथुनात्कुपितोऽनिलः। गर्भाशयस्य योन्याश्च मुखं विष्टम्भयेत् स्त्रियाः॥ असंवृतमुखी सार्तिः सफेनार्तववाहिनी।

के समान योनि के बाहर लटकने लगता है। इसी को सुश्रुत ने फलिनी, माधव ने 'अण्डिनी' तथा चरक एवं वाग्भट ने 'महायोनि'‡ कहा है। वाग्भट तथा उन्हीं के अनुसार अन्य कतिपय टीकाकार 'विवृता' असंवृतमुखी' एवं 'महायोनि' तीनों को एक ही मानते हैं। इस मत से पूर्ण और अपूर्ण दोनों ही प्रकार के भ्रंशों को एक ही माना जा सकता है। किन्तु सुश्रुत स्पष्ट ही 'फलिनी' नाम से पूर्णभ्रंश का पृथक् उल्लेख करते हैं जिसका वर्णन आगे आयेगा। सुश्रुत ने इसे पैत्तिक किन्तु चरक और वाग्भट ने वातिक विकार माना है। वस्तुतः स्थानभ्रंश का आरम्भक दोष वायु ही होता है। बाद में पित्त का सम्बन्ध ही नहीं उसके लक्षणों की प्रधानता भी हो जाती है।

पुत्रघ्नी—इसके लक्षण सभी ग्रन्थों में समान रूप से पठित हैं, केवल वाग्भट ने 'जातघ्नी' नाम दिया है किन्तु सुश्रुत इसको पित्तजा और चरक, वाग्भट वातजा मानते हैं—

रौक्ष्याद्वायुर्यदा गर्भं जातं जातं विनाशयेत्। दुष्टशोणितजं नार्याः पुत्रघ्नी नाम सा स्मृता॥
(च. चि. ३०)

आधुनिकदृष्ट्या इसे गर्भस्रावी प्रवृत्ति (Habitual abortion) कहते हैं, फिरंग रोग से दूषित रक्त इसका प्रधान कारण माना जाता है।

पित्तला—इसका वर्णन चरक ने अधिक विचार से किया है:—

'कटु, अम्ल, क्षार आदि पित्तवर्धक पदार्थों के सेवन से पित्त प्रकुपित होकर उपर्युक्त लक्षणों से युक्त नील, पीत या कृष्णवर्ण का आर्तव स्राव कराता है। इस प्रकार की योनि से अत्यधिक दुर्गन्ध आती है †।'

पञ्चश्लैष्मिकीर्योनिव्यापदः प्राह—

अत्यानन्दा न सन्तोषं ग्राम्यधर्मेण गच्छति।
कर्णिन्यां कर्णिका योनौ श्लेष्मासृग्भ्यां प्रजायते॥ ८॥
मैथुनेऽचरणा पूर्वं पुरुषादतिरिच्यते।
बहुशश्चातिचरणा तयोर्बीजं न विन्दति॥ ९॥
श्लेष्मला पिच्छिला योनिः कण्डूग्रस्ताऽतिशीतला।
चतसृष्वपि चाद्यासु श्लेष्मलिङ्गोच्छ्रयो भवेत्॥ १०॥ (सु. उ. ३८

जो योनि मैथुन करने से सन्तुष्ट न हो उसे **अत्यानन्दा** कहते हैं। **कर्णिनी** नामक योनि में कफ और रक्त के प्रकोप से मांस के समान ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है। मैथुन करते समय जो योनि पुरुष के पूर्व ही स्खलित हो जाये उसे **अचरणा** कहते हैं। जो बहुत अधिक मैथुन करने पर ही स्खलित हो उसे **अतिचरणा** कहते हैं। इन दोनों अवस्थाओं में ही बीज का आधान नहीं होता। **श्लेष्मदूषित** योनि पिच्छल, खुजली से युक्त तथा अत्यधिक शीतल होती है। पूर्व की चारों व्याधियों में भी कफज लक्षणों की विशेषता रहती है॥ ८-१०॥

श्लैष्मिका आह—अत्यानन्देत्यादि। ग्राम्यधर्मेण मैथुनेन। कर्णिन्यां कर्णिकेति कर्णिका

---

‡ मांसोत्सन्ना महायोनिः पर्ववंक्षणशूलिनी॥ (च. चि. ३०)

† व्यापत्कट्वम्ललवणक्षाराद्यैः पित्तजा भवेत्। दाहपाकज्वरोष्णार्ता नीलपीतासितार्तवा। भृशोष्णकुणपस्रावा योनिः स्यात् पित्तदूषिता॥ (च. चि. ३०)

मांसकन्दाकारग्रन्थिः। मैथुनेऽचरणा पूर्वं पुरुषादतिरिच्यत इति अचरणा सम्यङ्मैथुनाचरणात् पूर्वं प्रथमं, पुरुषादतिरिच्यते विरमति[1], तेन बीजं न गृह्णाति। अत्राचरणशब्देनोपचारात्तद्वती स्त्री भण्यते। बहुशश्चातिचरणेति बहुशो मैथुनाचरणादतिचरणा, सा[2] च श्लेष्मजनितकण्डूभिराजगेव (?) बहुमैथुनाचरणाद्बीजं न धत्ते। अत उक्तं—तयोर्बीजं न विन्दतीति। तयोरिति अचरणातिचरणयोः। श्लेष्मलायामतिशीतलेत्युपलक्षणं, तेन वेदनादिकमपि ज्ञेयम्। तथा च तन्त्रान्तरे—'कफोऽभिष्यन्दिभिर्वृद्धो योनिं चेद् दूषयेत् स्त्रियः। स कुर्यात् पिच्छिलां शीतां कण्डूग्रस्तां सवेदनाम्॥' इति॥ ८-१०॥

विमर्श—अभिष्यन्दि पदार्थों के सेवन से बढ़ा हुआ कफ स्त्री की योनि को दूषित कर देता है। इससे योनि चिपचिपी, शीतल, खुजली और मन्द वेदना से युक्त तथा पाण्डु वर्ण की हो जाती है। इससे पाण्डु वर्ण का पिच्छिल आर्तव स्राव होता है (मूल श्लोक मधुकोश में देखिए।) चरक ने अत्यानन्दा का वर्णन नहीं किया है। उन्होंने इसके स्थान पर अचरणा का वर्णन किया है जिसके लक्षण सुश्रुतोक्त अचरणा से भिन्न हैंः—

'योन्यामधावनात् कण्डूं जाताः कुर्वन्ति जन्तवः।
सा स्यादचरणा कण्ड्वा तयाऽतिनरकाङ्क्षिणी॥'

वाग्भट ने चरकोक्त अचरणा के समान ही लक्षणवाली 'विप्लुता' का वर्णन किया है। इनमें भी अतिरतिप्रियता के लक्षण होने से ही कुछ लोग इसको अत्यानन्दा के समान ही मानते हैं। किन्तु सुश्रुतोक्त 'अत्यानन्दा' कफ दोष से और चरकोक्त 'अचरणा' एवं वाग्भटोक्त 'विप्लुता' क्रिमिदोष से वर्णित है। कर्णिका एक प्रकार का योनि का अर्बुद है उससे युक्त योनि को कर्णिनी कहते हैं। **चरक** और **वाग्भट** ने इसे कफरक्तजनित बताया है। चरकोक्त 'अतिचरणा' के लक्षण भी सुश्रुत या माधव सम्मत 'अतिचरणा' से भिन्न हैंः—

पवनोऽतिव्यवायेन शोफसुप्तिरुजः स्त्रियाः। करोति कुपितो योनौ सा चातिचरणा मता॥
(च. नि. ३०)

इनके अतिरिक्त चरक ने 'प्राक्चरणा' नाम से भी एक योनिव्यापत् का वर्णन किया हैः—
मैथुनादतिबालायाः पृष्ठकट्यूरुवङ्क्षणम्। रुजयन् दूषयेद्योनिं वायुः प्राक्चरणा हि सा॥
चरक ने इन सभी को वातजनित बताया है। (च. चि. ३०)

सान्निपातिकीः पञ्च योनिव्यापदः प्राह—

**अनार्तवाऽस्तनी षण्डी खरस्पर्शा च मैथुने।
अतिकायगृहीतायास्तरुण्यास्त्वण्डली[3] भवेत्॥ ११॥
विवृता च महायोनिः सूचीवक्त्राऽतिसंवृता।
सर्वलिङ्गसमुत्थाना सर्वदोषप्रकोपजा॥ १२॥**

---

१. अस्याग्रे क. पुस्तके 'अयमर्थः-यावत्पुरुषस्तु सुखं नाप्नोति तावदसौ विरमति' इत्यधिकमुपलभ्यते। २. 'इयं पुरुषादतिरिच्यते पश्चाद्द्रवति तेन बीजं न गृह्णाति' क.।
३. 'अण्डिनी' क.।

चतसृष्वपि चाद्यासु सर्वलिङ्गोच्छ्रयो[1] भवेत् ।
पञ्चासाध्या भवन्तीह योनयः सर्वदोषजाः ॥ १३ ॥ (सु. उ. ३८)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने योनिव्यापन्निदानं समाप्तम् ॥ ६२ ॥

जिसे मासिक धर्म न हो एवं जिसके स्तन न हों या बहुत छोटे हों तथा मैथुन में जिस योनि का स्पर्श खुरदरा हो उसे **षण्डी** कहते हैं। अत्यधिक बड़े या मोटे शिश्नवाले पुरुष के संभोग से विकृत तरुणी की योनि को (शोथयुक्त और अण्डे के समान होनेसे) **अण्डली** कहते हैं। जिसका मुख बहुत बड़ा हो उस योनि को **विवृता** और जिसका मुख अत्यधिक छोटा हो उसे **सूचीमुखी** कहते हैं। **त्रिदोषजा योनि** सब दोषों के लक्षण और निदानों से युक्त होती है। आदि के चार योनिरोगों में भी त्रिदोषज लक्षण पाये जाते हैं। ये त्रिदोषज पांच योनिविकार असाध्य होते हैं ॥ ११-१३ ॥

सान्निपातिका आह—अनार्तवेत्यादि। अनार्तवा रजःशून्या। अस्तनी ईषत्स्तनी। अतिकायगृहीताया महामेहनेन गृहीतायाः। अण्डली अण्डवन्निःसृता योनिः। विवृता महायोनिरतिविवृतमुखी। सूचीवक्त्राऽतिसंवृता सूचीरन्ध्राऽतिसङ्कटमुखी। सर्वलिङ्गसमुत्थानेति सर्वदोषलिङ्गानां समुत्थानं यत्र सा तथा। अन्ये त्वाहुः—सर्वदोषसमुत्थाना सर्वदोषहेतुजेत्यर्थः। चरकोक्ता अधिका रक्तयोन्यादयः सुश्रुतोक्तानामदूरान्तरत्वेनावबोद्धव्याः॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां योनिव्यापन्निदानं समाप्तम् ॥ ६२ ॥

विमर्श—चरक ने बीजदोष के कारण षण्डी योनि की उत्पत्ति मानी है:—

बीजदोषात्तु गर्भस्थमारुतोपहताशया। नृद्वेषिण्यस्तनी चैव षण्डी स्यादनुपक्रमा॥

कहा भी है—जब स्त्री-बीज में गर्भाशयोत्पादक बीजावयव नहीं होता तो षण्डी या वन्ध्या की उत्पत्ति होती है—**'यदा ह्यस्याः शोणिते गर्भाशयबीजभागः प्रदोषमापद्यते तदा वन्ध्यां जनयति'** (च० शा० ४)॥ स्तन और गर्भाशय का घनिष्ठ सम्बन्ध है। बीजग्रन्थि के अन्तःस्राव का परिणाम स्तनों के विकास पर होता है। जब बीजग्रन्थियों का स्राव ठीक नहीं होता तो स्तन भी पूर्ण विकसित न होने से छोटे-छोटे रह जाते हैं। सहज दोष होने से इसे चरक ने असाध्य माना है। यह वन्ध्यात्व का ही एक प्रकार है।

अण्डली—इसमें योनि अण्डे के समान बाहर निकल आती है। यह भी गर्भाशय-योनिभ्रंश (Prolapse of uterus or vagina) का ही प्रकार है। सुश्रुत इसे 'फलिनी' और 'महायोनि' कहते हैं। (प्रस्रंसनी का विमर्श देखें)

विवृता—चरक इसे असंवृतमुखी कहते हैं। (इसके लिए भी प्रस्रंसनी का विमर्श देखें)।

सूचीमुखी—इसमें गर्भाशय-ग्रीवा का मुख सुई के समान (Pin holes of the cervix) सूक्ष्म हो जाता है। बीजदोष से तरुणी के अविकसित गर्भाशय में भी यही लक्षण मिलता है। इसे शैशव गर्भाशय (Infantile uterus) कहते हैं। इसके कारण मैथुन तथा आर्तवस्राव में कठिनाई होती है। शुक्रकीट इसके कारण अन्दर नहीं जा सकता। इसलिये स्त्री गर्भधारण नहीं कर सकती। चरक भी इसे बीजदोषजन्य मानते हैं—

गर्भस्थायाः स्त्रिया रौक्ष्याद् वायुर्योनिं प्रदूषयन्। मातृदोषादणुद्वारां कुर्यात् सूचीमुखी तु सा॥

समाप्तं चेदं योनिव्यापन्निदानम्।

---

१. 'सर्वलिङ्गनिदर्शनम्' इति ख.।

अथ योनिकन्दनिदानम्

योनिकन्दस्य हेतुं स्वरूपं चाह—

दिवास्वप्नादतिक्रोधाद् व्यायामादतिमैथुनात् ।
क्षताच्च नखदन्ताद्यैर्वाताद्याः कुपिता यदा ॥ १ ॥
पूयशोणितसंकाशं निकुचाकृतिसंनिभम् ।
जनयन्ति यदा योनौ नाम्ना कन्दः स योनिजः ॥२॥ (सु.उ.८)

दिन में सोने, अत्यधिक क्रोध, व्यायाम व अधिक मैथुन करने से, नख एवं दन्त आदि के द्वारा क्षत होने से वात आदि दोष कुपित होकर योनि में पूय मिश्रित रक्त के वर्ण का लकुच फल (बड़हल) की आकृति के तुल्य (विषम और वर्तुल) एक पिण्ड उत्पन्न कर देते हैं, उसे योनिकन्द कहते हैं ॥

योन्याश्रयत्वाद्योनिकन्दनिदानमाह—दिवास्वप्नादित्यादि । नखदन्ताद्यैरित्यत्रादिशब्दात् कण्टकादिपरिग्रहः । वाताद्याः कुपिता इति यथानिदानं प्रत्येकं वातादयः कुपिताः । निकुंचाकृतिसंनिभमिति[2] वर्तुलमित्यर्थः; अस्यानन्तरं गुडकमिति द्रष्टव्यं तेन नपुंसकलिङ्गता सङ्गता भवति । कन्दः प्रायेण जरन्नारीयोनिगतो निकुचाकारो रोगः ॥ १–२ ॥

विमर्श—इस रोग के निदान-वर्णन में विभिन्न दोष-प्रकोपक कारणों का एक साथ वर्णन कर दिया गया है और '**वाताद्याः कुपिता यदा**' इस वचन से भी साधारणतः यही प्रतीत होता है कि इस रोग में पूर्वोक्त निदानों से त्रिदोष प्रकोप होता है और यह रोग त्रिदोषज ही होता है किन्तु आगे इसके चार भेद वर्णित हैं अतः यथायोग्य कारण से वातादि दोषों का पृथक्-पृथक् प्रकोप होना भी मानना उचित है । अथवा त्रिदोषज होने पर भी दोषों की उल्बणता के आधार पर वातिक आदि भेदों को मानना चाहिए। सम्भवतः इसी आधार पर कफज में नीलवर्णता भी बतायी गयी है । इसके अन्तर्गत योनि के विभिन्न अर्बुद और ग्रन्थि आ जाते हैं । योनि में निम्न अर्बुद होते हैं—

(१) **सौम्य अर्बुद** (Benign neoplasm)—इसमें दो प्रकार के अर्बुद होते हैं—

(क) मेदोऽर्बुद (Lipoma)—यह बहुत कम होता है ।

(ख) सौत्रिकार्बुद तथा पेश्यर्बुद ।

(२) **घातक अर्बुद**—(Malignant neoplasm)

(क) कर्कटार्बुद (Carcinoma)—यह प्रायः गर्भाशय-ग्रीवा के कर्कटार्बुद की वृद्धि होने पर उपद्रव स्वरूप होता है। प्राथमिक स्वरूप में यह बहुत कम होता है । इसमें रोगिणी की योनि से रक्तमिश्रित स्राव होता है । वंक्षण की ग्रन्थियाँ भी प्रभावित हो जाती हैं ।

(ख) **सार्कोमा**—इसकी बहुत कम सम्भावना होती है । उत्पन्न होने पर इसकी वृद्धि बड़ी तीव्रता से होती है और एक बार निकाल देने के बाद भी होने की सम्भावना रहती है ।

(३) **अन्तस्तरीय अर्बुद** (Endothelioma)

---

१. 'लिकुचाकृतिसन्निभम' क. ।

२. 'लकुचाकृति वर्तुलं' 'गुडकम्' इति शेषः, तेन 'नपुंसकलिङ्गता भवति' क. ।

इनके अतिरिक्त योनि में मेदोग्रन्थि (Cyst) और रक्तार्बुद (Haematoma) की उत्पत्ति भी हो जाती है।

योनिकन्दस्य वातिकादिभेदेन लक्षणान्याह—

रूक्षं विवर्णं स्फुटितं वातिकं तं विनिर्दिशेत् ।
दाहरागज्वरयुतं विद्यात् पित्तात्मकं तु तम् ॥ ३ ॥
नीलपुष्पप्रतीकाशं कण्डूमन्तं कफात्मकम् ।
सर्वलिङ्गसमायुक्तं सन्निपातात्मकं विदुः ॥ ४ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने योनिकन्दनिदानं समाप्तम् ॥ ६३ ॥

वातिक योनिकन्द रूक्ष, विवर्ण तथा फटा हुआ होता है। जलन, लालिमा और ज्वर से युक्त योनिकन्द को पैत्तिक समझना चाहिये। नीलपुष्प के समान और खुजली युक्त योनिकन्द को कफज तथा सब दोषों के लक्षणों से युक्त कन्द को सन्निपातज समझना चाहिये ॥ ३-४ ॥

वातजादिभेदेन रूपमाह—रूक्षमित्यादि । नीलपुष्पप्रतीकाशमिति अतसीकुसुमवर्णम् । कफजेऽपि नीलता व्याधिप्रभावादेव; अन्ये तु पैत्तिकलक्षण एव सम्बध्नन्ति, योग्यत्वात् ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायायां मधुकोशव्याख्यायां योनिकन्दनिदानंसमाप्तम् ॥ ६३ ॥

विमर्श—कुछ विद्वान् **'नीलपुष्पप्रतीकाशम्'** को पित्तज योनिकन्द के ही लक्षणों में मानते हैं और **'कण्डूमन्तं कफात्मकम्'** इतना ही कफज का लक्षण स्वीकार करते हैं। क्योंकि कफज में नीलवर्णता होना उचित नहीं मालूम होता है। किन्तु पूर्ववर्णित रीति से इस रोग को सदैव त्रिदोषज और केवल दोषों की उल्बणता के अनुसार वातिक आदि भेदों की कल्पना करने पर कफज में भी पित्त सम्बन्ध से नीलवर्णता असम्भव नहीं है।

समाप्तं चेदं योनिकन्दनिदानम्

अथ मूढगर्भनिदानम्

(सर्वावयवसम्पूर्णो मनोबुद्ध्यादिसंयुतः ।
विगुणापानसंमूढो मूढगर्भोऽभिधीयते ॥ १ ॥)

जिसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग पूर्ण विकसित हो चुके हैं और जो मन, बुद्धि आदि से युक्त हो गया है ऐसा गर्भ यदि विगुण अपानवायु के कारण मूढ (मार्गमें अवरुद्ध) हो जाता है तो उसे 'मूढगर्भ' कहते हैं॥

विमर्श—गर्भ का पूर्ण विकास हो जाने पर वह नवम से बारहवें मास तक गर्भाशय को छोड़कर योनिमार्ग से बाहर आ जाता है; इसे 'प्रसव' कहते हैं। स्वभावतः गर्भाशय में गर्भ माँ की पीठ की ओर मुख कर रहता है; उसका सिर आगे की ओर वक्ष पर झुका रहता है। दोनों जांघें उदर पर, टांगें जांघ पर और दोनों हाथ वक्ष पर एक दूसरे के ऊपर मुड़े रहते हैं और शिर ऊपर की ओर होता है-**'गर्भस्तु खलु मातुः पृष्ठाभिमुखः, ऊर्ध्वशिराः संकुच्याङ्गान्यास्ते जरायुवृत्तः कुक्षौ'**। (चरक शा. ६) किन्तु प्रसव के कुछ काल पूर्व उसका शिर नीचे की ओर आ जाता और नितम्ब ऊपर की ओर हो जाता है। प्रसव के समय सर्वप्रथम शिर फिर क्रमशः

ग्रीवा, कन्धे, ऊर्ध्व शाखाएँ और वक्ष, उदर, नितम्ब एवं अधःशाखाएँ बाहर आती हैं। यह स्वाभाविक और सबसे सरल प्रकार है। आधुनिक विद्वान् इसे शीर्षाग्रप्रसव (Vertex presentation) कहते हैं। इसके अतिरिक्त प्रकार से प्रसव में न्यूनाधिक रूप में प्रसव में कठिनाई होती है। कुछ में प्रसव में कठिनाई होते हुए भी प्रसव हो जाता है और कुछ में गर्भ अपत्यपथ में इस प्रकार अड़ जाता है कि उसका निकलना प्रायः असम्भव हो जाता है। प्राचीन और अर्वाचीन विद्वान् प्रथम अवस्था को स्वाभाविक संग और केवल द्वितीय अवस्था को मूढगर्भ (Malpresentatiion) कहते हैं।

'मूढगर्भ' गर्भ की विकृति है; उसीका वर्णन इस अध्याय में किया गया है। प्रसङ्गात् गर्भ की कुछ अन्य विकृतियों का भी वर्णन यहीं कर दिया गया है। कुछ प्राचीन विद्वान् गर्भ की समस्त विकृतियों को 'मूढगर्भ' मानते हैं अतः गर्भस्राव और पात आदि का भी समावेश उसी में करते हैं किन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि उनमें पूर्वोक्त सम्प्राप्ति नहीं मिलती। अत एव डल्हण ने भी कहा है। **'तत्र द्रवस्य स्रवणे मूढगर्भनाम नास्ति विगुणानिलसंमोहःनिर्गमलक्षणस्याभावात्।'** स्राव में तो सर्वाङ्गविकास और मनोबुद्धियुक्तता भी नहीं होती और गर्भ मार्ग में अवरुद्ध होने के बजाय बाहर आ जाता है।

गर्भपातमाह—

भयाभिघातात्तीक्ष्णोष्णपानाशननिषेवणात् ।
गर्भे पतति रक्तस्य सशूलं दर्शनं भवेत् ॥ १ ॥

भय, चोट लगने तथा तीक्ष्ण और उष्ण प्रकृति के पेय एवं खाद्य पदार्थों का सेवन करने से गर्भ गिरते समय पीड़ा के साथ रक्त का स्राव होता है। अर्थात् पूर्वोक्त कारणों से गर्भ का पात होता है और उस समय पीड़ा के साथ (योनिमार्ग से) रक्त का स्राव भी होता है ॥ १ ॥

[1]योनिस्थानविकारानुवृत्ते स्त्रीरोगनिदानारम्भः। तत्र गर्भपातनिदानमाह—भयाभिघातादित्यादि। एतच्चोपलक्षणं, तेनान्येऽपि सुश्रुतोक्ता ग्राम्यधर्मयानवाहनपतनस्खलनादयो बोद्धव्याः। पततीति स्रंसमाने, तेन स्रावपातयोरपि सशूलं रक्तदर्शनं भवति, एतत्तु पूर्वरूपमिति दर्शयति ॥ १ ॥

विमर्श—भय और अभिघात उपलक्षण मात्र है अतः सुश्रुत-प्रतिपादित ग्राम्य धर्म, यानवाहनस्खलन, पतन आदि* गर्भपात के सब कारणों का ग्रहण हो जाता है। इसी प्रकार 'पात' शब्द स्राव का भी निर्देशक समझना चाहिये। उपर्युक्त कारणों से गर्भ गर्भशय्या को छोड़कर गिर पड़ता है और इसके परिणामस्वरूप रक्तस्राव तथा पीड़ा ये लक्षण होते हैं। वस्तुतः रक्तस्राव और पीड़ा गर्भपात के पूर्वरूप हैं। क्योंकि गर्भस्थितिकाल से ही **'रजःस्राव'** बन्द हो जाता है और प्रसव के कुछ काल बाद तक बन्द रहता है।

कालभेदेन गर्भपातस्य द्वैविध्यं प्राह—

आचतुर्थात्ततो मासात्प्रस्रवेद्गर्भविद्रवः ।
ततः स्थिरशरीरस्य पातः पञ्चमषष्ठयोः ॥ २ ॥

---

* 'ग्राम्यधर्मयानवाहनाध्वगमनप्रस्खलनप्रपतनप्रपीडनधावनाभिघातविषमशयनासनोपवासवेगाभिघातातिरूक्षकटुतिक्तभोजनशोकातिक्षारसेवनातिसारवमनविरेचनप्रेङ्खोलनाजीर्णगर्भपातनप्रभृतिभिर्विशेषैर्बन्धनान्मुच्यते गर्भः फलमिव बन्धनादभिघातविशेषैः।' (सु० नि० ८)

---

१. 'योनिस्थानसाम्यादधिकारानुवृत्तेः' क।

चौथे मास तक प्रायः द्रवरूप गर्भ गिरता है उसे गर्भस्राव कहते हैं, किन्तु गर्भशरीर स्थिर हो जाने पर पांचवें या छठे महीने में जो गर्भ गिरता है उसे गर्भपात कहते हैं ॥ २ ॥

एतयोः कालभेदमाह—आचतुर्थादित्यादि। गर्भविद्रव इति अनतिघनावयवत्वेन विशेषेण द्रवरूपतया गर्भविद्रवो भण्यते; स्रावो नातिघनत्वात्, पातस्तु घनत्वात्। यत्तु भोजेऽभिहितम्; 'आतृतीयात्ततो मासाद्गर्भः स्रवति शोणितम्। ऊर्ध्वं संघातभूतस्तु गर्भः पतति योषिताम् ॥' इति। संघातभूतः कोमलाङ्गः, पिण्डितावस्थ इत्यर्थः। अत एव सुश्रुते चतुर्थमासेऽप्यदृढत्वात् स्रावः कथितः। स्थिरशरीरस्येति कठिनशरीरावयवस्य। पञ्चमषष्ठयोरिति सप्तमे अनुगुणजनने जीवदर्शनायोक्तं, विगुणजनने तु सप्तमादिमासेष्वपि गर्भपातः। अन्ये तु पञ्चमषष्ठयोरेव पातः, सप्तमादिषु दोषवैगुण्याद्विप्रसव इति आचार्यप्रामाण्याद् व्यवहाराच्च मन्यन्ते ॥ २ ॥

विमर्श—तीसरे या चौथे महीने तक गर्भ अधिक घन नहीं हो पाता अतः उसके लिये गर्भस्राव शब्द का व्यवहार किया जाता है—**'गर्भविद्रवः'** (मूलश्लोक)। गर्भस्राव को आजकल अबोर्शन (Abortion) कहते हैं। आधुनिक विद्वान् भी इसका काल तीन-चार मास ही मानते हैं। आचार्य भोज ने भी इसका काल तीन मास माना है—

'आतृतीयात्ततो मासाद् गर्भः स्रवति शोणितम्'।

चौथे महीने के पश्चात् गर्भशरीर स्थिर और संघातरूप हो जाता है। इस तरह पांचवें और छठे महीने में गिरने पर इसे गर्भपात कहते हैं। आधुनिक विद्वान् इसे मिस्कैरियेज (Miscarriage) कहते हैं। सातवें और आठवें मास में दोषप्रकोपजन्य प्रसव हो तो उसे जात या विप्रसव (Abnormal or pemature birth) कहते हैं—**'सप्तमादिषु'** (मधुकोश)।

नवम और दशम मास के प्रसव को 'काल प्रसव' और उसके बाद से प्रसव को विलम्बित या या वैकारिक प्रसव कहते हैं। सुश्रुत नव से बारह मास तक 'काल प्रसव' मानते हैं—**'नवमदशमैकादशद्वादशानामन्यतमस्मिन् जायते'** (सु. शा. ५) वस्तुतः नवम-दशम मास में प्रसव प्रशस्त 'काल प्रसव' है ग्यारहवें और बारहवें में अल्पदोष होने से ही सुश्रुत ने उसे भी 'काल प्रसव' माना है। विलम्बित प्रसव कभी-कभी वर्षों बाद भी होता है जैसा कि चरक ने कहा है—

आहारमाप्नोति यदा न गर्भः शोषं समाप्नोति परिस्रुतिं वा।
तं स्त्री प्रसूते सुचिरेण गर्भं पुष्टो यदा वर्षगणैरपि स्यात् ॥ (च० शा० २)

काल और विलम्बित प्रसव को अर्वाचीन विद्वान् क्रमशः (Normal & delayed labour) कहते हैं और प्रशस्त काल दशम मास का अन्त या ४० सप्ताह या २८० दिन मानते हैं।

गर्भपातहेतूनाह

गर्भोऽभिघातविषमाशनपीडनाद्यैः पक्वं द्रुमादिव फलं पतति क्षणेन।

आघात, विषमाशन तथा पीडन आदि के कारण गर्भ वृक्ष से पके हुए फल के समान एकदम गिर पड़ता है।

गर्भस्याकालपाते निदानपूर्वकं दृष्टान्तमाह—गर्भोऽभिघातेत्यादि। पक्वं द्रुमादिवेति

---

१. 'संघावभूतस्तु' क.। २. 'संघावभूतः' क.।
३. 'अनुगुणपवने' क.। ४. 'विगुणपवने' क.।

दृष्टान्तेनैव दर्शयति यथा वृन्तलग्नं पक्वफलमभिघातेनाकाल एव पतति, तथोक्तहेतुभिरकाले गर्भपातः ॥

विमर्श—पक्वं द्रुमादिव फलं पतति क्षणेन-इससे दृष्टान्त देकर एक प्रकार से गर्भस्राव या पात की सम्प्राप्ति बतलायी गयी है। जिस प्रकार चोट आदि से पक्वफल वृक्ष की टहनी से अलग होकर अकस्मात् असमय में ही गिर जाता है उसी प्रकार चोट आदि से गर्भ भी गर्भाशय से पृथक् होकर असमय में ही गिर जाता है। दृष्टान्त में सर्वात्मना सादृश्य नहीं होता। फल अभिघात आदि से टहनी या डंठल से अलग होकर पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से खिंचकर गिरता है किन्तु गर्भ में अभिघात आदि के द्वारा गर्भाशय में क्षोभ होने से उसमें संकोच की तरङ्गें (आवी) उत्पन्न होती हैं जिससे गर्भाशय से संसक्त अपरा का विश्लेष होने लगता है और यही संकोच-तरङ्गें (गर्भ नाडी द्वारा अपरा से सम्बद्ध) गर्भ को गर्भाशय मुख और अपत्यपथ द्वारा बाहर ढकेल देती है। वस्तुतः कालप्रसव में भी यही सारी बातें होती हैं किन्तु अभिघात आदि से यह क्रिया असमय में ही हो जाती है। फल को पृथ्वी की आकर्षणशक्ति सदा अपनी ओर खींचती रहती है किन्तु डंठल की मजबूती उसे गिरने से रोकती है। जब कालपरिणाम से डण्ठल और फल का संयोग शिथिल हो जाता है और आकर्षणशक्ति संयोगशक्ति से प्रबल पड़ जाती है तो फल गिर जाता है। अथवा चोट आदि से जब असमय में ही डंठल और फल का संयोग विच्छिन्न हो जाता है तो फल असमय में ही गिर जाता है। कच्चे फल की अपेक्षा पके फल पर थोड़ी सी चोट का भी अधिक शीघ्रता से प्रभाव पड़ता है अतः यहाँ पक्वफल का ही दृष्टान्त दिया है। इसी प्रकार गर्भाशय स्वाभाविक अवस्था में गर्भ का रक्षण करता रहता है, उससे संसक्त अपरा गर्भनाडी द्वारा गर्भ का पोषण करती है और गर्भ उत्तरोत्तर वृद्धि करता रहता है। गर्भ की वृद्धि के साथ गर्भाशय भी वृद्धि करता जाता है पर उसके बढ़ने की भी एक सीमा होती है। जब इस वृद्धि सीमा का अतिक्रमण हो जाता है तब गर्भाशय का मुख खुल जाता है और गर्भाशय में संकोच तरङ्गें उत्पन्न होकर गर्भ को बाहर ढकेल देती हैं। इस गर्भाशय-वृद्धिसीमा के अतिक्रमण के अतिरिक्त भी आवी-प्रादुर्भाव के कतिपय कारण अर्वाचीन ग्रन्थों में वर्णित हैं। जैसे (१) अपरा का गर्भाशय से कुछ विच्छिन्न होना (२) गर्भ के अन्तिम दिनों में प्रांगार द्विजारेय गैस (Co_2) की अधिकता (३) आर्तवजन्य उत्तेजना। सगर्भावस्था में आर्तव बन्द होने पर भी प्रत्येक ऋतुकाल में गर्भाशय में कुछ न कुछ हलचल होती है। (४) गर्भज कुछ उत्तेजक पदार्थ। किन्तु प्राचीनों ने सब का निष्कर्ष रूप 'स्वभाव' ही कारण माना है। अभिघात आदि से आवी-प्रादुर्भाव असमय में ही हो जाता है जिससे गर्भस्राव या पात हो जाता है।

गर्भस्राव के निम्न कारण अर्वाचीन ग्रन्थों में वर्णित हैं—

(१) रक्तस्राव (Haemorrhage)

(२) गर्भ की मृत्यु—यह रक्तस्राव या अन्य कारण से हो सकती है।

(३) अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की विकृति।

(४) अधिक परिश्रम तथा मानसिक क्षोभ।

(५) गर्भाशय की रचना-सम्बन्धी विकृति, स्थानच्युति तथा उसमें सौत्रिकार्बुद की उपस्थिति।

(६) माता के पोषण का अभाव (Dietary deficiency in the mother) विटामिन ई० की कमी इसमें मुख्य है।

(७) आघात (Trauma)—इससे अपरा का पृथक्करण हो जाता है।

(८) औषधियाँ—किनीन, अर्गट तथा पीयूषग्रन्थि के पश्चाद् भाग का सार (Posterior

pituitary extract) के सेवन से गर्भस्राव या गर्भपात हो सकता है। इसके अतिरिक्त एरण्ड तैल तथा मुसब्बर (Aloe) जैसे विरेचक द्रव्यों से भी गर्भस्राव हो जाता है।

गर्भस्राव के लक्षण—(१) रक्तस्राव (Haemorrhage) यह प्राथमिक लक्षण है। प्रारम्भ में रक्तस्राव कम होता है और ज्यों-ज्यों गर्भस्राव की अवस्था समीप आती है बढ़ता जाता है। गर्भस्राव हो जाने पर बन्द हो जाता है।

(२) पीडा (Pain)—यह पीठ से प्रारम्भ होकर घूमकर आगे की ओर आती है और प्रारम्भ में कम रहती है तथा गर्भस्राव पर्यन्त बढ़ती जाती है।

(३) गर्भाशय-ग्रीवा का विस्फार (Dilatation of os uteri)—यह पीडा के बाद प्रारम्भ हो जाता है।

(४) गर्भाशयिक पदार्थ का प्रवर्धन और पात (Protusion and expulsion of the uterine content)

मूढगर्भं लक्षयति—

मूढः करोति पवनः खलु मूढगर्भं शूलं च योनिजठरादिषु मूत्रसङ्गम् ॥

अपानवायु मूढ (विगुण) होकर मूढगर्भ उत्पन्न करता है। इससे योनि तथा उदर आदि में पीड़ा और मूत्रावरोध हो जाता है ॥ ३ ॥

उचितप्रसवकाले यथा मूढो गर्भः स्यात्तदाह—मूढः करोतीत्यादि। मूढो व्यासक्तगतिः शूलं च योनिजठरादिषु 'करोति' इति शेषः; मूत्रसङ्गमित्यत्र करोतीति संबध्यते॥ ३॥

विमर्श—सुश्रुत ने मूढगर्भ की विस्तृत सम्प्राप्ति का वर्णन किया है, उसका तात्पर्य संक्षेप से यहाँ दिया जा रहा है—जब अकाल में गर्भ गर्भशय्या से पृथक् हो जाता है तो उदर के क्षोभ से अपान वायु प्रकुपित होकर पार्श्व, वस्ति, सिर, उदर तथा योनि में शूल या आनाह उत्पन्न करके रक्त स्राव पूर्वक गर्भपात करा देता है। यदि वही गर्भ अधिक बड़ा होने के कारण अथवा अयोग्य रीति से आकर अपत्यमार्ग का अवरोध कर लेता है तो वह बाहर नहीं निकल पाता। अपानवायु के वैगुण्य से युक्त इस गर्भ को मूढगर्भ कहते हैं। जिस अवस्था में अपत्यमार्ग की अपेक्षा बालक का आकार बड़ा होता है तो भी वह मार्ग में अटक जाता है। अपत्यमार्ग में गर्भ के अटकने के निम्न कारण अर्वाचीन ग्रन्थों में भी वर्णित हैं :—(१) संकुचित श्रोणिगुहा (Contracted pelvis) (२) गर्भाशय के अर्बुद (३) गर्भाशय की वक्रता (४) अपरा की गर्भाशय के मुख के समीप स्थिति (Placenta praevia) (५) गर्भ की अस्वाभाविक स्थिति (Malposition) (६) गर्भ की विकृति—यथा-युग्मगर्भ, जलशीर्ष (Hydrocephalus) आदि।

जैसा पहले ही बताया जा चुका है सर्वावयव-सम्पन्न गर्भ का अपत्यमार्ग में अयोग्य रीति से अटक जाना ही मूढगर्भ कहलाता है—गर्भाशय में गर्भ की स्वाभाविक स्थिति का वर्णन और शीर्षाग्र-प्रसव ही स्वाभाविक है यह पहिले ही पृ. ३६३ में बताया जा चुका है। उससे भिन्न स्थिति में गर्भ का प्रसव कष्ट के साथ होता है या प्रायः प्रसव असम्भव हो जाता है। गर्भ की इस वैकारिक स्थिति को ही मूढगर्भ या अर्वाचीन ग्रन्थों के अनुसार माल प्रेजेन्टेशन (Mal presentatian) कहते हैं। इन वैकारिक स्थितियों का विस्तृत वर्णन अर्वाचीन प्रसूतितन्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों में देख सकते हैं। प्राचीन आचार्यों के अनुसार अतिमहत्त्व की वैकारिक स्थितियों का वर्णन आगे किया जा रहा है।

मूढगर्भस्याष्टौ भदान् निरूपयति—

भुग्नोऽनिलेन विगुणेन ततः स गर्भः संख्यामतीत्य बहुधा समुपैति योनिम्।

**द्वारं निरुध्य शिरसा जठरेण कश्चित् कश्चिच्छरीरपरिवर्तितकुब्जदेहः ॥
एकेन कश्चिदपरस्तु भुजद्वयेन तिर्यग्गतो भवति कश्चिदवाङ्मुखोऽन्यः ।
पार्श्वापवृत्तगतिरेति तथैव कश्चिदित्यष्टधा गतिरियं ह्यपरा चतुर्धा ॥५॥**

विगुण वायु से विकृत हुआ वह गर्भ योनि (अपत्यमार्ग) में असंख्य प्रकार से आता है। उनमें से कोई सिर से और कोई उदर से द्वार को रोक कर योनिमार्ग में आता है। कोई शरीर के घूम जाने से कुबड़ा शरीर बनाकर (दोहरा होकर नितम्ब के द्वारा), कोई एक बाहु से और कोई दोनों बाहु से आकर अपत्यमार्ग को रोक देता है। कोई तिरछा और कोई नीचे को मुख किये रहता है। कोई पार्श्व की ओर झुक कर योनिमार्ग में आता है। गर्भ की यह आठ प्रकार की विपरीत गतियाँ होती हैं (आगे चार भेद और बताये जायेंगे) ॥ ४-५ ॥

विगुणानिलत्वादसंख्येयत्वेऽपि विशिष्टा अष्टौ गतीराह—भुग्नोऽनिलेनेत्यादि। भुग्नो विगुणीकृतः। बहुधेति कथितप्रकारादप्यधिकं दर्शयति। द्वारं निरुध्य शिरसेत्येकः प्रकारः, शिरसा विपुलेन द्वारं योनिमुखं पिधाय लग्नो भवतीत्यर्थः। जठरेण कश्चिदित्यपरः, जठरेणोदरेण योनिद्वारं पिधाय सक्तो भवतीत्यर्थः। कश्चित् शरीरपरिवर्तितकुब्जदेह इति शरीरपरिवर्तनेन कुब्जदेहः कश्चित् सक्तो भवति, अनेना[1]न्तःकुब्जपृष्ठकुब्जयोः परिग्रहः। एकेनेति बाहुना, अयं चतुर्थः। तिर्यग्गत इति अर्गलायमानः। कश्चिदवाङ्मुखोऽन्य इति ग्रीवाभङ्गा[2]दधः संलग्नः। पार्श्वापवृत्तगतिरिति पार्श्वभङ्गेन विगुणीकृतः[3] पार्श्वनत इति यावत्। एतीति स्वस्थानादपैति तथैवेति अवाङ्मुखः सन्। सुश्रुतेऽप्यष्टधा गतिरेव पठ्यते। यथा, 'कश्चिद्द्वाभ्यां सक्थिभ्यां योनिमुखं प्रपद्यते, कश्चिदाभुग्नैकसक्थिरेकेन सक्थ्ना, कश्चिदाभुग्नसक्थिशरीरः स्फिग्देशेन तिर्यगागतः, कश्चिदुदरपृष्ठपार्श्वानामन्यतमेन योनिद्वारं पिधायावतिष्ठते, अन्तःपार्श्वाप्रवृत्तशिराः कश्चिदेकेन बाहुना, कश्चिदाभुग्नशिरा बाहुद्वयेन, कश्चिदाभुग्नमध्यो हस्तपादशिरोभिः, कश्चिदेकेन सक्थ्ना योनिमुखमभिप्रपद्यतेऽपरेण पायुम्' (सु. नि. ८) इति ॥ ४-५ ॥

विमर्श—मूढगर्भ के कारणों का उल्लेख पहिले हो चुका है। संक्षेप में उन्हें तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। (१) गर्भदोष (२) मार्गदोष (३) अवान्तर कारण। यहाँ पर केवल प्रथम और उसमें भी गर्भ की स्थिति का ही वर्णन किया गया है। इनके अतिरिक्त कुछ और भी कारण हो सकते हैं जिनमें गर्भ के प्रसव में कठिनता हो सकती है। गर्भ के अपत्य मार्ग में आने की असंख्य स्थितियाँ हो सकती हैं। सुश्रुत ने भी कहा है—**'स यदा विगुणानिलप्रपीडितोऽपत्यपथमनेकधा प्रतिपद्यते तदा संख्या हीयते'**। किन्तु इन सबको संक्षेप में तीन ही वर्ग में प्राचीन और अर्वाचीन विद्वान् विभक्त करते हैं। यथा—**'स्वभावगता अपि त्रयः सङ्गा भवन्ति-शिरसो वैगुण्यादंसयोर्जघनस्य वा'** (सुश्रुत चि० १५) तथा—**'समासतस्तु त्रिविधा गतिरूर्ध्वा तिर्यङ्न्युब्जा च'** (अ० सं०) अर्वाचीन ग्रन्थों में भी यही वर्गीकरण स्वीकृत है। यथा—

(१) शिरोगति या न्युब्जागति—Cephalic presentation
(२) अंस या तिर्यग्गति—Shoulder or transverse presentation
(३) जघन या ऊर्ध्वगति—Pelvic presentation

१. 'अनेन सहजकुब्जत्वग्रहणं' क.। २. 'ग्रीवाभङ्गादन्तर्लग्नः' क.।
३. 'विगुणीभूतो रतिद्वारं गच्छति' क.।

इन तीनों में अनेक भेद हो सकते हैं किन्तु उनमें अधिक महत्त्व के और व्यवहार में प्रायः मिलने वाली आठ गतियों का वर्णन यहाँ किया गया है तथा प्रकारान्तर से अन्य चार गतियों का वर्णन अगले श्लोक में करेंगे। सुश्रुत ने भी कुछ परिवर्तन के साथ इसकी आठ ही गतियों का उल्लेख किया है—(१) **'तत्र कश्चिद्द्वाभ्यां सक्थिभ्यां योनिमुखं प्रतिपद्यते'** कोई दोनों टाँगों के द्वारा अपत्यमार्ग में आता है। यह जघनगति (Pelvic presentation) का एक प्रकार है। इसे दोनों जानु की गति (Both knees presentation) कहते हैं।

(२) **कश्चिदाभुग्नैकसक्थिरेकेन सक्थ्ना**—कोई एक टाँग को मोड़कर दूसरी से अपत्यमार्ग को रोक देता है। यह भी जघनगति का ही प्रकार है। इसे एकजानुकगति (One knee presentation) कहते हैं।

(३) **'कश्चिदाभुग्नसक्थिशरीरः स्फिग्देशेन तिर्यगागतः'** कोई गर्भ-टाँग और शेष शरीर को मोड़कर नितम्ब के बल आता है। यह भी जघनगति का ही प्रकार है। इसे (Breech presentation-with thighs flexed and legs extended) कहते हैं।

(४) **'कश्चिदेकेन सक्थ्ना योनिमुखं प्रतिपद्यतेऽपरेण पायुम्'** कोई एक टाँग से योनिमुख में और एक सक्थि से गुदा में प्राप्त होता है। इसे (Footling presentation) कहते हैं।

(५) **'कश्चिदुरः पृष्ठपार्श्वानामन्यतमेन योनिद्वारं पिधायावतिष्ठते'** कोई वक्ष, पृष्ठ या पार्श्व से योनिमार्ग को अवरुद्ध कर वहीं रुक जाता है। इसे व्यत्यस्त मूढगर्भ (Transverse presentation) कहते हैं। यह योनिमार्ग की अनुप्रस्थ दिशा में अर्गला के समान अवरोध उत्पन्न कर देता है।

(६) **'अन्तः पार्श्वापवृत्तशिराः कश्चिदेकेन बाहुना'** कोई पार्श्व की ओर सिर को झुकाकर एक हाथ से आता है। इसमें केवल एक बाहु अपत्यमार्ग से पहिले निकलती है। इसे (With one hand prolapsing) कहते हैं।

(७) **'कश्चिदाभुग्नशिरा बाहुद्वयेन'** कोई सिर को झुकाकर दोनों हाथों से आता है। इसे दोनों हाथों का भ्रंश (Both the hands prolapsing) कहते हैं।

(८) **'कश्चिदाभुग्नमध्यो हस्तपादशिरोभिः'**—कोई मध्य में झुक कर हाथ, पैर और सिर तीनों से अपत्यमार्ग में अवरोध उत्पन्न करता है। इसे शाखाशिरस्कस्थिति (Presentation of head, two hands and two legs) कह सकते हैं।

सिर के बल जन्म लेने पर प्रायः गर्भसंग नहीं होता। माधव ने जो 'शिरसा' लिखा। उसका तात्पर्य **'विपुलेन शिरसा'** बड़े सिर से है। इस प्रकार का सिर जलशीर्ष (Hydroecephelus) में होता है।

चतुष्प्रकारां विशिष्टगतिं वर्णयति—

संकीलकः प्रतिखुरः परिघोऽथ बीजस्तेषूर्ध्वबाहुचरणैः शिरसा च योनिम्।
सङ्गी च यो भवति कीलकवत् स कीलो दृश्यैः खुरैः प्रतिखुरं स हि कायसङ्गी।
गच्छेद्भुजद्वयशिराः स च बीजकाख्यो योनौ स्थितः स परिघः परिघेण तुल्यः

मूढगर्भ की संकीलक, प्रतिखुर, परिघ तथा बीजक नाम की चार प्रकार की विशेष गतियां भी पाई जाती हैं। जो हाथ, पैर और सिर को ऊपर करके योनिमार्ग को अवरुद्ध कर देता है और कील के समान संसक्त हो जाता है उसे कीलक या **संकीलक** कहते हैं। जो दृश्य खुरों (हाथ, पैर और सिर) से अपत्यमार्ग को अवरुद्ध करता है उसे **प्रतिखुर** कहते हैं। इसमें भी शरीर

संसक्त हो जाता है। जिसमें दोनों भुजायें और सिर आयें उसे **बीजक** कहते हैं। जो अर्गला की तरह (आड़ा या तिरछा) योनिमार्ग को रोकता है उसे **परिघ** कहते हैं ॥ ६ ॥

इत्यष्टविधा गतीः प्रदर्श्य चतुःप्रकारेण ये गतिविशेषाः कथितास्तानाह—संकीलक इत्यादि। सम्यक् कीलवत् संकीलकः, स्वार्थे कन्। तेनोर्ध्वबाहुचरणशिरोभिः कीलवल्लग्नो योन्यां संकीलकः। पृष्ठेन योन्यां तथैतद्विपरीतेन दृश्यैर्हस्तपादशिरोभिः प्रतिखुरः, खुरसाधर्म्यात्; खुरशब्देन हस्तपादावुच्येते। गच्छेद्भुजद्वयशिरा इति भुजद्वयोपहितं शिरो यस्य स तथाभूतः सन् यो गच्छेत् स बीजकः कायसङ्गी। भोजेऽप्येता गतयः पठ्यन्ते। तथाहि, 'ऊर्ध्वबाहुशिरःपादो रुन्ध्याद्योनिमुखं तु यः। प्रतिकीलोपमस्थित्या स च कीलकसंज्ञितः॥ अधस्तात् पार्श्वतो वाऽपि तथैवाकुञ्चितोऽपि वा। यो निःसृत्य मुखं योनेर्ज्ञेयः प्रतिखुरस्तु सः॥ योनिद्वारात्तु निर्गच्छेद्यश्चैकः सशिरोभुजः। तमाहुर्बीजकं नाम मूढगर्भचिकित्सकाः॥ योनिमावृत्य यस्तिष्ठेत् परिघो गोपुरं यथा। तथाऽन्तर्गर्भमायान्तं विद्यात् परिघसंज्ञितम्' इति ॥ ६ ॥

विमर्श—सुश्रुत और भोज ने बीजक में केवल एक बाहु का आगमन ही बताया है।

(१) कील—Chest back and side presentation

(२) प्रतिखुर—Presentation of the head with two hands and two legs.

(३) बीजक—Head presentation with one or two hands prolapsing

(४) परिघ—Transverse presentation

असाध्यमूढगर्भगर्भिण्योर्लक्षणमाह—

अपविद्धशिरा या तु शीताङ्गी निरपत्रपा।
नीलोद्गतसिरा हन्ति सा गर्भं स च तां तथा ॥ ७ ॥ (सु. नि. ८)

जो गर्भिणी अपने सिर को नहीं सम्हाल सकती (वह इधर-उधर ढुलक जाता है) जिसके सब अंग ठण्डे पड़ गये हों एवं जिसे (बेहोशी के कारण) लज्जा की अनुभूति न हो एवं जिसकी कुक्षि में नील वर्ण की सिरायें स्पष्ट दिखाई दें वह गर्भ को और गर्भ उसको मार डालता है ॥ ७ ॥

असाध्यमूढगर्भगर्भिण्योर्लक्षणमाह—अपविद्धशिरा या त्वित्यादि। अपविद्धशिरा शिरो धारयितुमशक्तेत्यर्थः, अवनतशिरा इति गदाधरः। निरपत्रपा लज्जाशून्या। नीलोद्गतसिरा इति नीलवर्णा उद्गताः सिराः कुक्षौ यस्याः सा तथा। स चेति गर्भः ॥ ७ ॥

विमर्श—चिरकाल तक अपत्यपथ में संसक्त गर्भ के कारण अत्यधिक वेदना-जनित अवसाद (Shock), अति रक्तस्राव एवं अतीव संपीडन के कारण यह सब लक्षण उत्पन्न होते हैं और प्रायः स्त्री की मृत्यु हो जाती है। एवं माता की मृत्यु से गर्भ की भी मृत्यु हो जाती है। इन उपद्रवों का कारण विगुण गर्भ ही होता है अतः वह भी माता का घातक बताया गया है। कभी-कभी प्रसव पूर्व गर्भापतानक (Antepartum eclampsia) में भी यही लक्षण उत्पन्न होकर माता की मृत्यु के कारण होते हैं।

मृतगर्भलक्षणं प्राह—

गर्भास्पन्दनमावीनां प्रणाशः श्यावपाण्डुता।

१. 'भागुरूतः कीलकः' संशब्दप्रयोगश्छन्दोऽनुरोधात्, क.। २. योनिं प्रति दृश्यैः खुरैः प्रतिखुरः' क.। ३. 'भुजद्वययोः पिहितं' क.। ४. 'अधः पार्श्वगतो वाऽपि' क.। ५. 'योन्यन्तर्गर्भमायातं' क.।

भवेदुच्छ्वासपूतित्वं शूनताऽन्तर्मृते शिशौ ॥८॥ (सु. नि. ८)

गर्भ की निश्चलता, प्रसव-वेदनाओं का बन्द हो जाना, त्वचा पर कालिमायुक्त पाण्डुता, श्वास में दुर्गन्ध तथा सूजन ये लक्षण गर्भाशय में गर्भ के मर जाने पर उत्पन्न होते हैं ॥ ८ ॥

मृतगर्भलक्षणमाह[1]—गर्भास्पन्दनमित्यादि। अस्पन्दनं निश्चलत्वं, जीवतो गर्भस्यावयवचलनं भवति। आवीनां प्रणाशः प्रसववेदनानामभावः, अथवा आवीशब्देन प्रसवलिङ्गान्युच्यन्ते, तानि च मूत्रकफप्रसेकादीनि, तेषां नाशः। शूनतेति उच्छूनता अन्तर्गतस्य मूढगर्भस्याध्मापनेन ॥ ८ ॥

विमर्श—गर्भाशयस्थ गर्भ के मर जाने पर उसके हृदय के स्पन्दन की ध्वनि तथा गर्भ की हलचल दोनों ही बन्द हो जाती हैं। और मृत गर्भ भीतर ही कोथ को प्राप्त होता है एवं उसके दूषित अंश तथा विष का संचार माता के रक्त में होने लग जाता है अतः उसके भी श्वास में दुर्गन्ध और पाण्डुता आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

गर्भस्य मरणहेतुं व्याचष्टे—

मानसागन्तुभिर्मातुरुपतापैः प्रपीडितः।
गर्भो व्यापद्यते कुक्षौ व्याधिभिश्च निपीडितः ॥ ९ ॥

माता के मानसिक एवं आगन्तुज दुःखों से तथा अपनी विकृतियों से पीडित गर्भ गर्भाशय में ही मर जाता है ॥ ९ ॥

तस्यान्तर्गतस्य मानसागन्तुदुःखव्याधिभेदेन द्विविधं मरणहेतुमाह—मानसागन्तुभिरित्यादि। उपतापैः दुःखैः ॥ ९ ॥

विमर्श—पाश्चात्त्य विद्वानों ने भी इन कारणों का वर्गीकरण उक्त प्रकार से ही किया है—

(१) **माता के विकार**—फिरंग, वृक्कशोथ, गर्भाशयकलाशोथ (Endometritis), तीव्रज्वर, राजयक्ष्मा, मधुमेह, सीसविष, संखियाविष, पाण्डुरोग और गर्भापतानक (Eclampsia)।

(२) **पिता के विकार**—फिरंग, राजयक्ष्मा और सीस विष प्रधान है।

(३) **गर्भ के विकार**—अपरा (Plecenta) या नाभिनाडी (Unblical cord) में दबाव, ऐंठन या गांठ पड़ने से रक्तसंचार में बाधा होना।

(४) माता के उदर पर प्रत्यक्ष आघात।

मूढगर्भस्यासाध्यतां प्राह—

योनिसंवरणं सङ्गः कुक्षौ मकल्ल एव च।
हन्युः स्त्रियं मूढगर्भा यथोक्ताश्चाप्युपद्रवाः ॥ १० ॥ (सु. नि. ८)

योनि का संवरण, कुक्षि में गर्भ की संसक्ति, मक्कल तथा अन्य उपद्रव मूढगर्भयुक्त स्त्री को मार डालते हैं ॥ १० ॥

(वायुः प्रकुपितः कुर्यात् संरुध्य रुधिरं स्तुतम्।
सूताया हृच्छिरोबस्तिशूलं मकल्लसंज्ञकम् ॥ १ ॥)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने मूढगर्भनिदानं समाप्तम् ॥ ६४ ॥

---

१. 'मृतमूढगर्भस्य परिपाट्याकर्षणार्थं लक्षणमाह–' क.।

प्रसूता स्त्री का प्रकुपित हुआ वायु निकले हुए रक्त को पुनः रोककर हृदय, सिर और वस्ति में शूल उत्पन्न करता है इसे मक्कल्ल कहते हैं ॥ १ ॥

अपरमसाध्यगर्भिणीलक्षणमाह—योनिसंवरणमित्यादि । योनिसंवरणं तन्त्रान्तरपठितो रोगः । तथाहि, 'वातलान्यन्नपानानि ग्राम्यधर्मं प्रजागरम् । अत्यर्थं सेवमानाया गर्भिण्या योनिमार्गगः ॥ मातरिश्वा प्रकुपितो योनिद्वारस्य संवृतिम् । कुरुते रुद्धमार्गत्वात् पुनरन्तर्गतोऽनिलः ॥ निरुणद्ध्याशयद्वारं पीडयन् गर्भसंस्थितिम् । निरुद्धवदनोच्छ्वासो गर्भश्चाशु विपद्यते॥ बद्ध्वां संरुद्धहृदयां नाशयत्याशु गर्भिणीम् । योनिसंवरणं विद्याद्व्याधिमेनं सुदारुणम् ॥ अन्तकप्रतिमं घोरं नारभेत चिकित्सितम्' । इति । सङ्गः कुक्षाविति योनिसंवरणे प्रतिनिवृत्तो वायुर्गर्भाशयं यदा निरुणद्धि तदा गर्भः कुक्षौ सक्तो भवति स उच्यते-सङ्गः कुक्षाविति । मक्कल्लो रक्तमारुतजः शूलविशेषः । यद्यपि प्रसूतायाः शूलं मक्कल्लमुक्तं सुश्रुते, 'प्रजातायाश्चोत्तरकालं तीक्ष्णैरविशोधितं रक्तं मक्कल्लं करोति' (सु. शा. १०) इति, तथाऽपि प्रजातायाश्चेति चकारेणाप्रजाताया अपि शूलं मक्कल्लमिति । यथोक्ताश्चाप्युपद्रवा इति यथोक्ता ये ये उक्तास्ते पुनराक्षेपकश्वासादयः ॥ १० ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां मूढगर्भनिदानं समाप्तम् ॥ ६४ ॥

विमर्श—योनि-संवरण से गर्भाशय का आक्षेप या उसका संकोच (Tetanus uteri or clonic spasm of the uterus) का ग्रहण करना चाहिये । इसका प्रधान कारण गर्भसंग की स्थिति में गर्भ को बाहर फेंकने का अत्यधिक प्रयास है । मक्कल्ल का वर्णन आगे किया जायगा। अन्य उपद्रवों से आक्षेपक, कास, श्वास तथा भ्रम आदि का ग्रहण होता है-**'तत्र द्वावन्त्यावसाध्यौ मूढगर्भौ, शेषानपि विपरीतेन्द्रियार्थाक्षेपकयोनिभ्रंशसंवरगमक्कल्लश्वासभ्रमनिपीडितान् परिहरेत्'** (सु० नि०)

मक्कल्ल—स्वाभाविक प्रसवकाल में गर्भाशयसंकोचजन्य पीड़ा को आवी और गर्भसंग की अवस्था में गर्भ को बाहर फेंकने के लिये जो गर्भाशय को प्रयत्न करने पड़ते हैं उससे उत्पन्न शूल को मक्कल्ल कहते हैं । किन्तु व्यवहार में प्रसव के उपरान्त जो उदर में शूल होता है उसी को विशेषतया मक्कल्ल संज्ञा दी जाती है । पाश्चात्यों ने इसके दो विभाग कर दिये हैं ।

(१) **गर्भाशयशूल**—इसे प्रसवोत्तर वेदना After pains) कहते हैं ।

(२) **नाभि-वस्ति-उदरशूल**—इसको मिथ्याशूल (False pains) भी कहते हैं ।

इन दोनों में निम्न अन्तर हैं—

प्रसवोत्तर वेदना (After pains)	**मिथ्यावेदना** (False pains)
(१) यह गर्भाशय संकोच के कारण होती है ।	(१) यह आन्त्रगत वायु या मूत्रसंग से होती है।
(२) यह नियमित समय पर होती है ।	(२) यह अनियमित समय पर होती है ।
(३) इसमें गर्भाशय स्पर्श में कड़ा होता है ।	(३) इसमें गर्भाशय कड़ा नहीं होता ।
(४) बच्चे को दूध पिलाते समय यह वेदना बढ़ जाती है ।	(४) इसमें स्तनपान का कोई प्रभाव नहीं होता ।
(५) मल-मूत्र आदि के त्याग से इसमें कोई कमी नहीं होती ।	(५) मलमूत्र निकल जाने से वेदना कम या बन्द हो जाती है ।

समाप्तं चेदं मूढगर्भनिदानम् ।

अथ सूतिकारोगनिदानम्

सूतिकारोगस्य लक्षणान्याह—

अङ्गमर्दो ज्वरः कम्पः पिपासा गुरुगात्रता ।
शोथः शूलातिसारौ च सूतिकारोगलक्षणम् ॥ १ ॥

अंगों में पीड़ा, ज्वर, कम्पन, प्यास, शरीर में भारीपन, शोथ, शूल तथा अतिसार ये सूतिका रोग के लक्षण हैं ॥ १ ॥

क्रमप्राप्तत्वात् सूतिकारोगनिदानारम्भः—अङ्गमर्द इत्यादि। सूतिकारोगलक्षणमिति सूतिकारोग एव लक्षणम्, अङ्गमर्दादिव्यतिरिक्तस्य रोगस्यानभिधानात्। एतेऽङ्गमर्दादयः प्रायेण सूतिकाया भवन्तः सूतिकारोगत्वेन लक्ष्यन्त इत्यर्थः ॥ १ ॥

विमर्श—गर्भसम्बन्ध से स्त्रियों में होने वाले रोगों को तीन भागों में विभक्त किया जासकता है।

(१) **गर्भिणी-व्यापत्**—गर्भ धारण से प्रसवकाल पर्यन्त होने वाले रोग। ये दो प्रकार के होते हैं।

(क) **साधारण**—जो गर्भ के विना भी हो सकते हैं। जैसे—ज्वर, प्रतिश्याय, यक्ष्मा आदि। गर्भिणी में इन रोगों के होने पर सामान्य अवस्था में उत्पन्न होने पर जो लक्षण होते हैं वही होते हैं किन्तु सगर्भा होने के कारण चिकित्सा में कुछ अन्तर करना पड़ता है। **'व्याधींश्चास्या मृदुमधुरशिशिरसुखसुकुमारप्रायैरौषधाहारोपचारैरुपचरेत्, न चास्या वमनविरेचनशिरोविरेचनानि प्रयोजयेत्; न रक्तमवसेचयेत्, सर्वकालञ्च नास्थापनमनुवासनं वा कुर्यादन्यत्रात्ययिकाद्व्याधेः।'** (च. शा. ८)

तथा—**ज्वरादीनां विकाराणां यत्र यत्रेह लक्षणम् ।**
अन्नादानां प्रवक्ष्यामि तज्ज्ञेयं गर्भिणीष्वपि ॥ (काश्यप० खिल० १०)

(ख) **गर्भजरोग**—गर्भ के परिणामस्वरूप उत्पन्न सम्पीडन (Pressure) या विषमयता (Toxaemia) से उत्पन्न रोग। चरक और सुश्रुत आदि ने इनका निर्देशमात्र किया है किन्तु काश्यप ने ज्वर, अतिसार, परिकर्तिका, मुखपाक, आक्षेपक, अपतानक, छर्दि, कामला, हृद्रोग, कास, श्वास, ऊर्ध्ववात, हिक्का, मूत्राघात और गुल्म रोगों का विशेषरूप से वर्णन किया है। आधुनिक विद्वानों ने भी सिरा कुटिलता, अर्श, वृक्करोग और मधुमेह आदि सम्पीडनजन्य एवं अन्तःसत्त्वातिवान्ति (Hyperemasis gravidarum), तीव्रपीतयकृच्छोथ या हारिद्रकज्वर (Acute yellow atrophy of the liver), शुक्लिमेह (Albuminurea), गर्भापतानक (Eclampsia) आदि विषमयताजन्य रोगों का वर्णन किया है। इनका अध्ययन काश्यपसंहिता (अन्तर्वत्नीचिकित्साध्याय) या अर्वाचीन प्रसूतितन्त्र-सम्बन्धी किसी ग्रन्थ से कर सकते हैं।

(२) **प्रसवकालीन**—मूढगर्भ, विटपविदार, अवसाद आदि।

(३) **सूतिका रोग**—प्रसवोत्तर स्त्रीजननेन्द्रियों को स्वाभाविक स्थिति में आने में जितना समय लगता है उस अवधि को सूतिकाकाल (आधुनिक ग्रन्थों में प्यूरपेरल पीरियड = Puerperal period) कहते हैं और इस काल में प्रसूता स्त्री को सूतिका कहते हैं। यह काल प्रायः १॥ मास अथवा पुनः रजोदर्शन तक माना जाता है। **'अनेन विधिनाऽध्यर्धमासमुपसंस्कृता विमुक्ताहाराचारा विगतसूतिकाऽभिधाना स्यात्, पुनरार्तवदर्शनादित्येके।'** (सु० शा० १०)। इस

अवस्था में होने वाले रोगों को सूतिका रोग (Puerperal diseases) कहते हैं । गर्भिणी अवस्था में जो स्थिति रहती है प्रसवोत्तर उसमें आकस्मिक परिवर्तन होने एवं प्रसवकालीन क्षोभ, रक्तस्राव, वेदना आदि के परिणाम स्वरूप अङ्गमर्द, पाण्डुता, अभिघात ज्वर आदि कुछ स्वाभाविक लक्षण उत्पन्न होते हैं । प्रसूता स्त्री का विशिष्ट उपचार करना पड़ता है । इन कारणों से स्वयं सूतिकावस्था ही एक रोग है । प्रसूता में रक्तक्षय आदि कारणों से शरीर और अग्निबल क्षीण होने से इस अवस्था में मिथ्योपचार से उत्पन्न साधारण रोग भी दुरुपक्रम या कष्टसाध्य होते हैं और शीघ्र ही उपद्रवयुक्त होकर असाध्य भी हो सकते हैं । अवस्था-विशेष के कारण कुछ विशिष्ट रोगों की उत्पत्ति भी प्रायः सम्भव है—

'मिथ्याचारात् सूतिकाया यो व्याधिरुपजायते। स कृच्छ्रसाध्योऽसाध्यो वा भवेदत्यपतर्पणात्।
तस्मात्तां देशकालौ च व्याधिसात्म्येन कर्मणा। परीच्योपचरेन्नित्यमेवं नात्ययमाप्नुयात् ॥
(सु० शा० १०)

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि—

(१) सूतिकावस्था स्वयं एक रोग ही है उसमें कुछ लक्षण स्वभावतः होते हैं ।

(२) सूतिकावस्था में मिथ्या आहारविहार से साधारण रोगों की उत्पत्ति भी अधिक सम्भव है और इस अवस्था में उत्पन्न सामान्य सुखसाध्य रोग भी कष्टसाध्य होते हैं ।

(३) सूतिकावस्था में स्त्री के विभिन्न अंगों की विशेषतः प्रजननाङ्गों की विशिष्ट परिस्थिति के कारण कुछ विशिष्ट रोगों की भी उत्पत्ति हो सकती है ।

इन सभी रोगों को 'सूतिका रोग' कहते हैं । प्राचीन आचार्यों ने इनका निर्देशमात्र किया है। केवल काश्यपसंहिता में सूतिकावस्था के विशिष्ट रोगों का वर्णन 'दुष्प्रजातारोग' के नाम से विस्तार से किया गया हैः—

दुष्प्रजातामयाः सन्ति चतुःषष्टिरिति स्थितिः। योनिभ्रष्टा च्युता चैव विभिन्ना मूत्रसङ्गिनी ॥
सशोफस्राविणी चैव प्रसुप्ता वेदनावती। पार्श्वपृष्ठकटीशूलं हृदि शूलं विसूचिका ॥
प्लीहा महोदरस्त्वश्च शाखावातोऽङ्गमर्दकः। भ्रूक्षेपको हनुस्तम्भो मन्यास्तम्भोऽपतानकः ॥
मक्कल्लो विद्रधिः शोफः प्रलापोन्मादकामलाः। दौर्बल्यं भ्रमली कार्श्यं भक्तद्वेषोऽविपाचकः ॥
ज्वरातिसारौ वैसर्पश्छर्दिस्तृष्णा प्रवाहिका। हिक्का श्वासश्च कासश्च पाण्डुर्गुल्मश्च रक्तजः ॥
आनाहाध्मापने चोभे वर्चोमूत्रग्रहावपि। मुखरोगोऽक्षिरोगश्च प्रतिश्यायगलग्रहौ ॥
राजयक्ष्माऽर्दितं कम्पः कर्णस्रावः प्रजागरः। उष्णवातो ग्रहाबाधः स्तनरोगोऽथ रोहिणी ॥
वाताष्ठीला वातगुल्मरक्तपित्तविचर्चिकाः। इत्येते सूतिकारोगाश्चतुःषष्टिरुदाहृताः ॥
(काश्यपसंहिता, खिलस्थान, अ० ११)

अर्वाचीन ग्रन्थों में भी प्रसवोत्तर वेदना (After pains), श्रोणिपाक (Pelvic cellulitis), मूत्रसङ्ग (Retention of urine), सूतिका ज्वर (Puerperal fever), श्वेतपाद (Phlegmasia albadolens), सूतिकोन्माद तथा विविध स्तनरोग आदि रोगों एवं इनके उपद्रवों का वर्णन मिलता है । इनका विस्तृत वर्णन 'अभिनव प्रसूतितन्त्र' आदि ग्रन्थों में देख सकते हैं ।

मूलग्रन्थ के प्रस्तुत श्लोक में सूतिका में प्रायोभावी लक्षणों या रोगों का ही उल्लेख है । सूतिका में प्रसवव्यथा, श्रम, रक्तक्षय आदि कारणों से अङ्गमर्द और कुछ ज्वर, दौर्बल्य से कम्प, रक्तक्षय से तृष्णा, दौर्बल्य आदि से ही अपने शरीर का भी भार अधिक प्रतीत होने से गुरुगात्रता, रक्तक्षय आदि कारणों से अपतर्पणजनित किञ्चित् शोथ, गर्भाशय के प्रसवोत्तर संकोच से शूल एवं सगर्भ गर्भाशय से पीडित औदर्य अवयवों के पुनः स्वस्थान में आगमन और सञ्चित मल आदि

के संक्षोभ से मलभेद या अतिसार न्यूनाधिक मात्रा में स्वाभाविक रूप में होते हैं। मिथ्योपचार से ये सभी लक्षण अधिक मात्रा में हो सकते हैं अथवा अगले श्लोक में निर्दिष्ट या ग्रन्थान्तरों में प्रतिपादित जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है—अन्य रोग भी उत्पन्न हो सकते हैं। यह सभी 'सूतिका रोग' नाम के भागी होते हैं।

सूतिकारोगस्य हेतुं वर्णयति—

मिथ्योपचारात् संक्लेशाद्विषमाजीर्णभोजनात्।
सूतिकायाश्च ये रोगा जायन्ते दारुणास्तु ते ॥ २ ॥

प्रसव पूर्ण शुद्धता और सावधानी से न कराने से, दोषजनक अन्न के सेवन या मानसिक क्लेश और विषम भोजन तथा अपक्व पदार्थों के भोजन या अजीर्ण में भोजन करने आदि कारणों से सूतिका में जिन रोगों की उत्पत्ति होती है वे भयानक (कष्टसाध्य) होते हैं ॥ २ ॥

सूतिकारोगानाह—

ज्वरातीसारशोथाश्च शूलानाहबलक्षयाः।
तन्द्रारुचिप्रसेकाद्याः कफवातामयोद्भवाः ॥ ३ ॥

ज्वर, अतिसार, शोथ, शूल, आनाह, बलहानि तथा कफ और वात से उत्पन्न होने वाले तन्द्रा, अरुचि और लालाप्रसेक आदि रोग प्रसवोत्तरकाल में उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥

कष्टसाध्यतामाह—

कृच्छ्रसाध्या हि ते रोगाः क्षीणमांसबलाग्नितः।
ते सर्वे सूतिकानाम्ना रोगास्ते चाप्युपद्रवाः ॥ ४ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने सूतिकारोगनिदानं समाप्तम् ॥ ६५ ॥

बल और मांस की क्षीणता एवं अग्निबल की हीनता के कारण उपर्युक्त रोग कृच्छ्रसाध्य होते हैं। इन सब को 'सूतिका रोग' कहते हैं। इन रोगों के विभिन्न उपद्रव भी हो सकते हैं और वे भी 'सूतिका रोग' से ही अभिहित होते हैं ॥ ४ ॥

सूतिकारोगनिदानमाह—मिथ्येत्यादि। संक्लेशादिति संक्लिश्यते उत्क्लिश्यते दोषोऽनेनेति संक्लेशो दोषजनकमन्नम्। विषमाजीर्णभोजनादिति विषमभोजनादजीर्णभोजनाच्च। ज्वरातीसारादीनामङ्गमर्दादिभ्यः पृथक् पुनरुपादानं रोगाधिक्यं कृच्छ्रत्वमुपद्रवत्वं च ख्यापयितुम्। कफवातामयोद्भवा इति तन्द्रारुचिप्रसेकाद्या इत्यस्य विशेषणं मन्यन्ते केचित्, अन्ये सर्वस्य ज्वरातिसारादेः। कफवातजे विकारे सति येषामुद्भवस्ते कफवातामयोद्भवा ज्वरातीसारादयः कृच्छ्रसाध्या इत्यर्थः। ते सर्वे सूतिकानाम्नेति ते ज्वरातीसारादयः सर्वे सूतिकाभवत्वेनाश्रयाश्रितयोरभेदोपचारात् सूतिकानाम्नोच्यन्ते; ते चाप्युपद्रवाः ते उपद्रवाश्च भवन्ति उक्तानां रोगाणामन्यतमं प्रधानीकृत्य ॥ २-४ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां सूतिकारोगनिदानं समाप्तम् ॥ ६५ ॥

विमर्श—'अङ्गमर्दो ज्वरः कम्पः' आदि द्वारा सूतिका के स्वाभाविक लक्षणों का निर्देश करने के बाद **'मिथ्योपचारात्'** आदि से सूतिका के लिए उचित आहार विहार-जिनका निर्देश चरक शारीर आठवें और सुश्रुत शारीर दसवें अध्याय में एवं विशद वर्णन काश्यपसंहिता खिलस्थान के ग्यारहवें अध्याय में है—उनका परित्याग कर अनुचित आहार-विहार सेवन से उत्पन्न होने वाले कुछ रोगों का नामोल्लेख किया गया है। सूतिका में बल, मांस और अग्निबल हीन होने से अल्प-

दोषज सामान्य विकार भी कष्टसाध्य होते हैं और शीघ्र ही उपद्रवयुक्त भी हो जाते हैं। इस अवस्था में स्वभावतः वात प्रकुपित रहता है और उसके उपचारार्थ प्रयुक्त स्निग्ध, गुरु आदि द्रव्यों से कफ प्रकोप की भी सम्भावना रहती है अतः कफ और वातजनित रोगों का ही उल्लेख किया गया है किन्तु पैत्तिक और त्रिदोषज विकार भी हो सकते हैं अतएव **'कफवातामयोद्भवाः'** कहा है।

सूतिका में होने के कारण ही इन रोगों को सूतिका रोग कहते हैं। इस विषय का विशद वर्णन एवं सूतिका में होने वाले रोगों की सूची प्रथम श्लोक के विमर्श में दी जा चुकी है। इन सब में ज्वर अतिमहत्त्व का होता है। **'सर्वेषामेव रोगाणां ज्वरः कष्टतमो मतः।'** (का० सं० खिल ११) अतः उसका ही कुछ अधिक विवेचन यहाँ किया जा रहा है। अन्य रोगों का वर्णन 'काश्यपसंहिता' तथा 'अभिनव प्रसूतितन्त्र' आदि अर्वाचीन ग्रन्थों में देख सकते हैं।

वृद्धजीवकीय तन्त्र में सूतिका ज्वर के वातिक, पैत्तिक, कफज, त्रिदोषज, स्तन्यागमोत्थ ग्रहबाधा एवं दुष्प्रजनन जनित ६ प्रकार बताये गए हैं:—

षड्विधस्तु प्रसूतानां नारीणां जायते ज्वरः। निजागन्तुविभागेन निदानं तस्य मे शृणु॥
वेगसन्धारणाद्रौक्ष्याद् व्यायामादत्यसृक्क्षयात्।
शोकादत्यग्निसन्तापात् कट्वम्लोष्णातिसेवनात्॥
दिवास्वप्नात्पुरोवाताद् गुर्वभिष्यन्दिभोजनात्।
स्तन्यागमाद् ग्रहाबाधादजीर्णाद् दुष्प्रजायनात्॥
ज्वरः संजायते नार्याः षड्विधो हेतुभेदतः। स एव पूर्वरूपेषु व्यभिचीर्णो विरोधिभिः॥
संसृष्टैः स्नेहशीताम्बुस्नानपानाशनादिभिः। सन्निपातज्वरो घोरो जायते दुरुपक्रमः॥
(का. सं. खिल. ११)

इनमें से स्तन्यागमोत्थ ज्वर (दूध उतरने का ज्वर = Lactation fever) प्रसव के तीसरे या चौथे दिन स्तनों में दूध उतरने पर होता है, उस समय ज्वर के साथ स्तनों में स्तब्धता, तृष्णा, हृदय, कुक्षि, पार्श्व, कटि और शिर में पीड़ा और समस्त शरीर में मन्द-मन्द पीडा आदि होते हैं। क्षीर शुद्धि हो जाने पर यह सभी लक्षण और ज्वर स्वतः निवृत्त हो जाते हैं।

ग्रहबाधा या भूताभिषङ्गज ज्वर को आजकल औपसर्गिक और सूतिका में होने से सूतिकोपसर्गज ज्वर (Septic or puerperal fever) कहते हैं। उसके कारण और लक्षण आदि नीचे दिये जा रहे हैं।

यह प्रसव के समय या प्रसवोत्तर काल में किसी प्रकार का बाह्य उपसर्ग हो जाने से होता है। साधारण स्वस्थ एवं सगर्भा या अगर्भा स्त्री की योनि से एक श्वेताभ स्राव निकला करता है। इसमें अपिस्तरीय कोषायें (Epithelial cells) और कुछ योनिगत डोडर्लीन (Doderlein) के दण्डाणु मिले रहते हैं। ये दण्डाणु एक प्रकार के अम्ल की उत्पत्ति करते हैं जिससे किसी भी पूयजनक जीवाणु का वहां कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ने पाता। यदि अशुद्ध हाथ आदि का स्पर्श न हो तो गर्भाशय का आन्तरिक भाग सभी अवस्थाओं में साधारणतया निर्जीवाणुक (Sterile) रहता है। किन्तु प्रसव के उपरान्त गर्भाशय और योनि लोकिया नामक क्षारीय स्राव से पूर्णतया लिप्त रहते हैं। इस प्रकार अम्लता की कमी से पूयजनक जीवाणुओं की वृद्धि वहां हो सकती है। जीवाणुओं में मालागोलाणु (Streptococci), स्तबक गोलाणु (Staphylococci) तथा बी० कोलाई मुख्य है।

प्रसव के समय या प्रसवोत्तर काल में अशुद्ध हाथ, यन्त्र अथवा वस्त्र के स्पर्श से उपसर्ग होने की बहुत सम्भावना रहती है। गर्भाशयग्रीवा, योनि तथा गुद-भगप्रदेश (Perineum) के

प्रसवकालीन विदार (Laceration) भी उपसर्ग कराने में सहायक होते हैं। गर्भाशय-गात्र के अन्दर अपरा के स्थान पर उपसर्ग होने की सम्भावना सबसे अधिक रहती है। प्रथमगर्भता (Primiparity), उपद्रुत प्रसव तथा यान्त्रिक प्रसव (Instrumental labour) में उपसर्ग होने का अधिक अवसर रहता है। अजीर्ण भी इसका सहायक कारण है। उपसर्ग होने से गर्भाशय-कलाशोथ (E dometritis), तथा अन्य सार्वदेहिक लक्षण उत्पन्न होते हैं।

(१) स्थानीय लक्षण (Local symptoms)—यदि उपसर्ग प्रसवकाल में हुआ है तो दो-तीन दिन के पश्चात् लक्षण प्रकट होने लगते हैं। यदि इसके बाद हुआ है तो कुछ अधिक देर से प्रकट होते हैं। इसमें निम्न लक्षण मुख्य हैं—

(क) लोकियल स्राव (Lochial discharge) की वृद्धि। यह गँदला, रक्ताभ एवं दुर्गन्धित होता है।

(ख) गर्भाशय की स्वसंवृति (Involution) का अवरोध। इस प्रकार वह बहुत बढ़ा हुआ, कोमल और स्पर्शासह प्रतीत होता है।

(ग) गर्भाशयान्तःकलाशोथ (Endometritis)

(घ) शूल—यह गर्भाशय में अपरा आदि के कुछ भाग रह जाने से होता है। पीछे इसका वर्णन मक्कल शूल के नाम से भी किया गया है।

(ङ) रक्तस्राव (Haemorrhage)—यह प्रसव के ६ घण्टे के पश्चात् कभी भी हो सकता है। इसे प्रसवोत्तरकालीन रक्तस्राव (Puerperal haemorrhage or secondary post partem haemorrhage) कहते हैं। प्रारम्भ में लोकिया के सदृश स्राव होता है; बाद में रक्तवर्ण का स्राव आने लगता है। इसका प्रधान कारण गर्भाशय में अपरा के कुछ भाग का अवशिष्ट रह जाना है।

(२) सार्वदेहिक लक्षण (General symptoms)—

(क) तापक्रम की वृद्धि—यह लगभग १०१ या अधिक अंश तक होती है इसके पूर्व रोगी को कुछ ठण्ड लगती है।

(ख) नाडी की गति में वृद्धि।

(ग) **शिरःशूल।**

(घ) **अरति और बेचैनी।**

(ङ) **तृणाणुमयता** (Septicaemia) के लक्षण।

(च) **अङ्गमर्द** —यह ज्वर के कारण होता है।

समाप्तं चेदं सूतिकारोगनिदानम्।

अथ स्तनरोगनिदानम्

स्तनरोगस्य सम्प्राप्तिमाह—

सक्षीरौ वाऽप्यदुग्धौ वा प्राप्य दोषः स्तनौ स्त्रियाः ।
प्रदूष्य मांसरुधिरं स्तनरोगाय कल्पते ॥ १ ॥

स्त्री के दुग्धयुक्त अथवा दुग्धरहित स्तनों में दोष पहुँच कर मांस और रक्त को दूषित करके स्तनरोग उत्पन्न करते हैं ।

सूतिकारोगाधिकारात् स्तनरोगा उच्यन्ते। पारिभाषिकस्तनरोगसंप्राप्तिमाह—सक्षीरौ वाऽपीत्यादि । सक्षीरौ गर्भवत्याः, अदुग्धौ वेति दोहदायोगेन प्रसूतायाः, स्तनौ प्राप्येति विवृतधमनीमुखेनाविश्य, स्तनरोगशब्देन स्तनकोप इति प्रसिद्धो रोग उच्यते ॥ १ ॥

वातादिभेदेन स्तनरोगस्य लक्षणान्याह—

पञ्चानामपि तेषां हि रक्तजं विद्रधिं विना ।
लक्षणानि समानानि बाह्यविद्रधिलक्षणैः ॥ २ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने स्तनरोगनिदानं समाप्तम् ॥ ६६ ॥

(स्तनरोग पाँच होते हैं) पाँचों स्तन रोगों के लक्षण रक्तज विद्रधि को छोड़ कर शेष पाँच बाह्यविद्रधियों के समान होते हैं ॥ २ ॥

तेषां वातपित्तकफसन्निपातागन्तुजानामतिदेशेन लक्षणमाह—पञ्चानामपीत्यादि। एतत् सुबोध्यम् । आगन्तुस्तनरोगोऽभिघातेन शल्येन च । रक्तजस्यासंभवो व्याधिस्वभावात् ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां स्तनरोगनिदानं समाप्तम् ॥ ६६ ॥

विमर्श—सुश्रुत विद्रधि के स्थान पर नाडी के समान स्तनरोग भी वात, पित्त, कफ, सन्निपात और आगन्तुज या शल्यज भेद से पाँच प्रकार के मानते हैं । इनके उत्पादक कारण भी नाडी के समान ही होते हैं ।

यावतो गतयो यैश्च कारणैः संभवन्ति हि। तावन्तः स्तनरोगाः स्युः स्त्रीणां तैरेव हेतुभिः॥
(सु० नि० १०)

सक्षीरौ वाऽप्यदुग्धौ—गर्भवती स्त्री या प्रसूता स्त्री के स्तन सक्षीर होते हैं। दुग्ध जिनमें एकत्रित नहीं है और दुग्धोत्पादन की सामर्थ्य है ऐसे स्तनों को अदुग्ध कहते हैं। इस प्रकार के स्तन प्रसव होने के कुछ मास बाद हो जाते हैं। इस वक्तव्य से एक बात और स्पष्ट हो जाती है कि कुमारी लड़कियों में स्तन के रोग नहीं होते हैं। सुश्रुत ने इसका सहेतुक वर्णन किया है—

धमन्यः संवृतद्वाराः कन्यानां स्तनसंश्रिताः । दोषाविसरणात्तासां न भवन्ति स्तनामयाः॥

साधारणतया जिसको एक बार भी गर्भधारणा न हुई हो उसके लिये ही यहाँ कन्या शब्द का व्यवहार किया गया है। इस प्रकार विवाह के पूर्व और विवाह हो जाने पर भी प्रथम गर्भधारणा से पूर्व का काल इससे लिया जाता है। धमनी से दुग्धवह नलिकाओं (Lacteals) का ग्रहण होता है। क्योंकि चिकित्सा में दुग्धवाहक नलिकाओं को बचाकर छेदन करने का उपदेश किया गया है—

पक्के च दुग्धहरणीः परिहृत्य नाडीः ।

आधुनिक शरीरक्रियाविज्ञान की दृष्टि से भी यह सिद्ध हो चुका है कि कन्यकावस्था में दुग्धवाहिनी नलिकायें संकुचित रहती हैं। क्रियाशील न होने से उनमें रोग की सम्भावना नहीं होती। वे प्रथम सगर्भावस्था में क्रियाशील होती हैं। उसके बाद दोषों का प्रवेश भी उनमें हो सकता है। इसीलिये सुश्रुत ने कहा है कि सगर्भा अथवा प्रसूता स्त्री में उनका द्वार खुल जाता है जिससे दोष-प्रवेश होकर रोगों की उत्पत्ति भी हो सकती है—

तासामेव प्रजातानां गर्भिणीनां च ताः पुनः। स्वभावादेव प्रसृता जायन्ते सम्भवन्त्यतः॥

गर्भाशय, बीजग्रन्थि तथा स्तनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। गर्भाधान होने के उपरान्त गर्भवृद्धि के साथ-साथ स्तनों की वृद्धि भी होने लगती है। स्तनों की रक्तवाहिनियाँ और दुग्धवाहिनियाँ फूलने लगती हैं। ये सब परिवर्तन बीजग्रन्थि (Ovary) के अन्तःस्राव (Internal secretion) के कारण होते हैं।

स्तनरोग से मुख्यतः स्तनप्रकोप और स्तन-शोथ नामक रोगों का ग्रहण किया जाता है।

आधुनिक मत से स्तन में निम्नलिखित रोग होते हैं—

(१) **स्तनकोप या स्तनातिपूरण** (Engarged breasts)— प्रसव के तीसरे या चौथे दिन स्तनों से दूध आने लगता है। इसे स्तन्योद्गम या दूध उतरना कहते हैं। यदि इस क्षीर का पूर्ण निर्हरण नहीं होता है तो स्तन की रक्तवाहिनियाँ और दुग्धवाहिनियाँ अधिक विस्तृत हो जाती हैं और स्तन फूल जाते हैं जिससे वे रक्तवर्ण, कठिन, गँठीले और स्पर्शनाक्षम हो जाते हैं। पीड़ा अधिक होने से निद्रानाश भी हो जाता है। कक्षा की लसीकाग्रन्थियाँ भी बढ़ जाती हैं।

(२) **चूचुकविदार** (Crached nipple)—स्तन का उचित शोधन न करने, चिपटे चूचुक का उचित उपचार न करने, अति बुभुक्षित शिशु द्वारा जोर से खींच कर स्तनपान करने, शिशु को बार-बार स्तनपान कराने और बच्चे में मुखपाक होने आदि कारणों से स्तनचूचुक विदारित हो जाते हैं। जिससे स्तन में स्पर्शासहता और पीड़ा होती है। कभी-कभी स्तनविद्रधि हो जाती है। कई बार बच्चा स्तन्य के साथ रक्त का भी पान करता है और उसे रक्तयुक्त वमन होने लगते हैं।

(३) **स्तनशोथ** (Mastitis)—विदीर्ण चूचुक द्वारा उपसर्ग पहुँचने से स्तन में शोथ हो जाता है जिससे शोथ के सामान्य लक्षणों के साथ तीव्र ज्वर भी होता है और उपद्रव रूप में स्तनविद्रधि भी हो सकती है। कभी-कभी नवजात शिशु में भी स्तनशोथ हो जाता है जिसे (Mastitis neonatorum) कहते हैं। तथा पाषाणगर्दभ रोग के उपद्रव स्वरूप भी यह हो सकता है।

(४) **स्तनविद्रधि** (Mammary abscess)—चूचुक-विदार या स्तनशोथ के उपद्रव स्वरूप इसकी उत्पत्ति होती है। स्तनशोथ के लक्षणों के बाद विद्रधि के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। कक्षीय लसीकाग्रन्थियाँ भी शोथयुक्त और स्पर्शासह हो जाती हैं।

स्थान के अनुसार विद्रधि के भेद—

(१) **उत्तानविद्रधि** (Superficial abscess)—यह स्तन की उत्तान धातुओं में होती है।

(२) **स्तनमध्यविद्रधि** (Intramammary)—इसमें पूरे स्तन में पूय का संचय रहता है।

(३) **स्तनाधोविद्रधि** (Retromammary)—यह विद्रधि स्तन और वक्ष की पेशियों के मध्य में बनती है। इनके लक्षण भी स्तनकोप के समान ही होते हैं।

(४) क्षीरवाहिनीय ग्रन्थि (Galactocele)—किसी दुग्धवाहिस्रोत में अवरोध होने से उसमें ग्रन्थि बन जाती है। उसमें केवल दूध भरा रहता है। कभी-कभी स्तनशोथ के परिणाम स्वरूप भी होती है तो उसमें पूय और रक्त भी मिल सकते हैं। इसमें पीड़ा और ज्वरादि सार्वदेहिक लक्षणों के बिना ही विद्रधि के समान शोथ, पूयतरंग-प्रतीति आदि लक्षण मिलते हैं।

(५) स्तन्याधिक्य (Calactorrhoea)—इसमें चूचुकों से निरन्तर पानी जैसे पतले, भूरे रंग के दूध का अत्यधिक मात्रा में स्राव होता रहता है। दिन में अत्यधिक स्राव होता है। कभी-कभी एक ही स्तन में विकार होता है। इस रोग का कारण अज्ञात है।

(६) स्तन का रक्तार्बुद (Breast cancer)—दूध पिलाने वाली माता में यह रोग तीव्र गति से बढ़ता है और अतीव घातक होता है।

इन रोगों के अतिरिक्त स्तनों में मेदोग्रन्थि (Cyst) तथा विविध अर्बुद भी होते हैं।

प्रसूता के आहार-विहार दोष से स्तन्य की अल्पप्रवृत्ति और दबाव के कारण चूचुक का चिपटा होना आदि कतिपय क्षुद्र रोग भी हो सकते हैं। काश्यपसंहिता में स्तनकील नामक एक रोग का विस्तृत वर्णन है उसकी विभिन्न अवस्थाओं में उपर्युक्त अनेक रोगों-विशेषतः स्तन्यवाहिनी-ग्रन्थि, स्तनपाक, विद्रधि और अर्बुद-के लक्षण मिलते हैं। सम्भवतः इस रोग के आरम्भ में स्तन्यवाहिनियों में अश्मरीसदृश विकार उत्पन्न होता है उसके परिणामस्वरूप ग्रन्थि, पाक, विद्रधि और अर्बुद की उत्पत्ति होती है। विस्तृत वर्णन काश्यपसंहिता में देखें।

समाप्तं चेदं स्तनरोगनिदानम्।

अथ स्तन्यदुष्टिनिदानम्

शुक्रवत् स्तन्यस्याप्यवस्थानं बहिःप्रवृत्तिं च दर्शयति—

(विशस्तेष्वपि गात्रेषु यथा शुक्रं न दृश्यते।
सर्वदेहाश्रितत्वाच्च शुक्रलक्षणमुच्यते ॥ १ ॥
तदेव चेष्टयुवतेर्दर्शनात्स्मरणादपि।
शब्दसंश्रवणात्स्पर्शात्संहर्षाच्च प्रवर्तते ॥ २ ॥
सुप्रसन्नं मनस्तत्र हर्षणे हेतुरुच्यते।
आहाररसयोनित्वादेवं स्तन्यमपि स्त्रियाः ॥ ३ ॥
तदेवापत्यसंस्पर्शाद्दर्शनात्स्मरणादपि।
ग्रहणाच्च शरीरस्य शुक्रवत्संप्रवर्तते।
स्नेहो निरन्तरस्तत्र प्रस्रवे हेतुरुच्यते ॥ ४ ॥) (सु. नि. १०)

सर्वदेहव्यापी होने के कारण अङ्गों का छेदन कर देने पर भी जो शुक्र दिखाई नहीं देता वही शुक्र अभीष्ट युवती के दर्शन, स्मरण, शब्दश्रवण और स्पर्श (मैथुन) से उत्पन्न हर्ष से बाहर निकल पड़ता है। हर्षण के लिये मन की प्रसन्नता ही कारण है। आहार रस से उत्पन्न

होने के कारण स्तन्य भी इसी प्रकार सर्वदेहव्यापी होता है। वही स्तन्य या दूध बच्चे के स्पर्शन, दर्शन, स्मरण और ग्रहण करने से (शिश्न द्वारा शुक्र के समान) स्तनों द्वारा बाहर निकलता है। निरन्तर स्राव में भी स्नेह ही कारण है॥ १-४॥

स्तन्यस्य दुष्टिहेतुं तस्या बालरोगहेतुत्वं च व्याचष्टे—

गुरुभिर्विविधैरन्नैर्दुष्टैर्दोषैः प्रदूषितम् ।
क्षीरं मातुः कुमारस्य नानारोगाय कल्पते ॥ १ ॥

विविध प्रकार के गुरु पदार्थों के सेवन से दुष्ट हुए दोषों से दूषित हुआ माता का दूध शिशुओं में अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न करता है॥ १॥

स्तनाश्रितत्वेन स्तन्यदुष्टिमाह—गुरुभिर्विविधैरित्यादि। गुरुभिरन्नैर्हेतुभूतैर्ये दुष्टा दोषास्तैः प्रदूषितम् ॥ १ ॥

विमर्श—सुश्रुत ने पक्व आहार रस से दुग्ध की उत्पत्ति बताई है—

रसप्रसादो मधुरः पक्वाहारनिमित्तजः। कृत्स्नदेहात् स्तनौ प्राप्तः स्तन्यमित्यभिधीयते॥

इसका तात्पर्य यह है कि आहार के परिपाक से जो प्रसादभूत और मधुर रस तैयार होता है वह समस्त शरीर में होता हुआ धमनियों द्वारा स्तनों की कोषाओं में पहुँच कर इनकी विशेष क्रियाओं से संस्कारित होकर दुग्ध रूप में परिणत हो जाता है।

पुरुष जब अत्यधिक प्रसन्न होकर मैथुन करने की इच्छा करता है तो हर्ष से मस्तिष्क और सुषुम्ना स्थित केन्द्र उत्तेजित होकर शिश्न की ओर रक्त का प्रवाह बढ़ा देते हैं। इससे शिश्न मोटा और लम्बा हो जाता है। मैथुन करने पर जब हर्ष उत्कृष्ट कोटि को पहुँच जाता है तो उत्तेजक केन्द्र शुक्राशय को उत्तेजित करके उसमें सञ्चित हुए शुक्र को बाहर निकाल देता है। इसी प्रकार जब माता हर्ष से अपनी सन्तान को देखती या पकड़ती है तो स्तनों में भी रक्त-प्रवाह बढ़ने से दुग्ध की अधिक उत्पत्ति होने लगती है। कभी-कभी तो अतिवात्सल्य के कारण दुग्ध का स्वयमेव क्षरण होने लगता है। साधारणतया सभी अवस्थाओं में शुक्र या दूध की उत्पत्ति होती रहती है, किन्तु आवश्यकता के समय इसकी मात्रा बढ़ जाती है।

वातादिभेदेन दुष्टस्तन्यलक्षणमाह—

कषायं सलिलप्लावि स्तन्यं मारुतदूषितम् ।
कट्वम्ललवणं पीतराजीमत् पित्तसंज्ञितम् ॥ २ ॥
कफदुष्टं घनं तोये निमज्जति सपिच्छलम् ।
द्विलिङ्गं द्वन्द्वजं विद्यात् सर्वलिङ्गं त्रिदोषजम् ॥ ३ ॥

वायु से दूषित दुग्ध कसैला और जल पर तैरने वाला होता है। पित्त से चरपरा, खट्टा अथवा नमकीन होता है और पानी में डालने पर पीली रेखायें उत्पन्न करता है। कफ से दूषित दूध गाढ़ा तथा पिच्छिल होता है और जल में डालने पर डूब जाता है। दो दोषों के लक्षणों से युक्त को द्वन्द्व-दुष्ट और तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त दूध को त्रिदोष-दुष्ट समझना चाहिये॥ २-३॥

स्तन्यदुष्टिलक्षणमाह—कषायमित्यादि। सलिलप्लावीति सलिले यदुत्प्लवते लाघवात् तत् सलिलप्लावि। एतदुपलक्षणं, तनुत्वाद्यपि बोद्धव्यम्। कट्वम्ललवणमिति कटु

---

१. 'धात्र्याः' क.।

तिक्तं, तिक्तेऽपि कटुशब्दप्रवृत्तेरिति वदन्ति। पीतराजीमदिति पीतरेखायुक्तं, तत्रापि नील-लोहिताश्च राज्यो ज्ञेयाः। पित्तसंज्ञितमित्यत्र संयुतमिति पाठान्तरम्। तोये निमज्जति गुरुत्वात्। अतिमाधुर्याद्यपि बोध्यम्। प्रसन्नस्य तु साधारणं मधुरपाण्डुत्वम्। अभिघातेनापि स्तन्यं दुष्टं संभवत्येव, किन्तु तस्य वातिकस्तन्यलक्षणैरेव संग्रहणं कर्तव्यम्। स्तन्यस्वरूपं च सुश्रुतेनोक्तं—तद्यथा—'रसप्रसादो मधुरः पक्वाहारनिमित्तजः। कृत्स्नदेहात् स्तनौ प्राप्तः स्तन्यमित्यभिधीयते ॥' (सु. नि. १०) इति ॥ २-३ ॥

शुद्धदुग्धस्वरूपं विवेचयति—

अदुष्टं चाम्बुनिक्षिप्तमेकीभवति पाण्डुरम्।
मधुरं चाविवर्णं च प्रसन्नं तत् प्रशस्यते ॥ ४ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने स्तन्यदुष्टिनिदानं समाप्तम् ॥ ६७ ॥

जो दूध जल में डालने पर उसमें मिल जाये, जिसका वर्ण सफेद हो, जो मधुर हो, जिसका वर्ण विकृत न हो तथा जो स्वच्छ हो उसे शुद्ध कहना चाहिये ॥ ४ ॥

समाप्तं चेदं स्तन्यदुष्टिनिदानम्

अविकृतस्तन्यमाह—अदुष्टमित्यादि। अम्बुनिक्षिप्तमेकीभवति सर्वात्मना जलेन सहैकीभवतीति बोध्यं, वातादिदुष्टस्याप्येकदेशेनैकीभावोपलम्भात्। अविवर्णमिति अविद्यमानवातादिदुष्टवर्णम्। एतत् समदोषप्रकृतिक्षीरस्य प्रसन्नस्य लक्षणम्। अन्ये त्वविवर्णमित्यत्र नञ् ईषदर्थे, तेन यद्वातादिप्रकृतिवर्णानुविद्धमपि पाण्डुरमल्पदुष्टत्वात्तद् गृह्णन्ति। केचित् पाण्डुरस्थाने 'सर्वशः' इति पठन्ति, तदा सर्वात्मना जलेन सहैकीभवतीति व्यक्तोऽर्थः। अत्र पक्षे अविवर्णमित्यनेनैवादुष्टशुक्लवर्णता ज्ञेया। प्रसन्नं प्रकृतिस्थम् ॥ ४ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां स्तन्यदुष्टिनिदानं समाप्तम् ॥ ६७ ॥

अथ बालरोगनिदानम्

वातदुष्टस्तन्यपानजन्यं बालरोगमाह—

वातदुष्टं शिशुः स्तन्यं पिबन् वातगदातुरः।
क्षामस्वरः कृशाङ्गः स्याद्बद्धविण्मूत्रमारुतः ॥ १ ॥

बालक वात से दूषित दुग्ध का पान करने से वातिक रोग से पीड़ित हो जाता है। इससे उसका स्वर क्षीण और अङ्ग कृश हो जाता है। मल, मूत्र और वायु का निस्सरण बन्द हो जाता है॥

पित्तदुष्टस्तन्यपानजन्यं रोगं व्याचष्टे—

स्विन्नो भिन्नमलो बालः कामलापित्तरोगवान्।
तृष्णालुरुष्णसर्वाङ्गः पित्तदुष्टं पयः पिबन् ॥ २ ॥

पित्त से दूषित दुग्ध का पान करने वाला बालक अत्यधिक स्वेद, मलभेद या अतिसार, कामला तथा अन्य पित्तजन्य रोगों से पीड़ित रहता है। उसे प्यास बहुत लगती है और सम्पूर्ण शरीर उष्ण रहता है ॥ २ ॥

कफदुष्टस्तन्यपानजन्यलक्षणान्याह—

कफदुष्टं पिबन् क्षीरं लालालुः श्लेष्मरोगवान्।
निद्रान्वितो जडः शूनवक्त्राक्षश्छर्दनः शिशुः॥ ३॥

कफ से दूषित दुग्ध के पीने से बालक को लालास्राव अधिक होता है, वह कफ के रोगों से पीडित रहता है, निद्रा बहुत आती है, रोगी जडवत् दिखाई देता है, उसका मुख और नेत्र सूज जाते हैं तथा वमन होता है॥ ३॥

द्वन्द्वत्रिदोषदुष्टस्तन्यपानजबालरोगलक्षणमाह—

द्वन्द्वजे द्वन्द्वजं रूपं सर्वजे सर्वलक्षणम्।

दो दोषों से दुष्ट दूध के पीने से दो दोषों के तथा त्रिदोष-दुष्ट दूध के पीने से त्रिदोष के लक्षण उत्पन्न होते हैं॥

बालरोगाणां दुष्टस्तन्येन संभवात्तदनन्तरं तानाह—वातदुष्टमित्यादि। वातगदातुर इति वक्ष्यमाणक्षामस्वरादियुक्तः। तृष्णालुरिति तृष्णावान्। लालालुरिति लालास्रावयुक्तः। छर्दन इति स्तन्यवान्तिकरः॥ १-३॥

विमर्श—पूर्वाध्याय में जहाँ पर स्तन्यदुष्टि का वर्णन है, वहीं इस बात का भी उल्लेख है कि दूषित क्षीर का पान करने से शिशुओं में अनेक रोगों की उत्पत्ति होती है, इन्हीं दूषित क्षीर-पान जनित रोगों का वर्णन संक्षेप में ऊपर किया गया है। चरक संहिता चिकित्सा स्थान अध्याय ३० में विभिन्न दोषों से आठ प्रकार की स्तन्यदुष्टि और प्रत्येक से उत्पन्न रोगों का भी वर्णन विस्तार के साथ किया गया है। वाग्भट ने त्रिदोष-दुष्टक्षीर के पान से उत्पन्न रोग का विशिष्ट नाम 'क्षीरालसक' लिखा है:—

स्तन्ये त्रिदोषमलिने दुर्गन्ध्यामं जलोपमम्। विबद्धमच्छं विच्छिन्नं फेनिलं चोपवेश्यते॥
शकृन्नानाव्यथावर्णं मूत्रं पीतं सितं घनम्। ज्वरारोचकतृट्छर्दिशुष्कोद्गारविजृम्भिकाः॥
अङ्गभङ्गोऽङ्गविक्षेपः कूजनं वेपथुर्भ्रमः। घ्राणाक्षिमुखपाकाद्या जायन्तेऽन्येऽपि तं गदम्॥
क्षीरालसकमित्याहुरत्ययं चातिदारुणम्॥ (अ. हृ. उ. २)

अर्थात् त्रिदोषदूषित क्षीर के पीने से बच्चा दुर्गन्धित, आमयुक्त, पानी के समान पतला, गांठदार, स्वच्छ, फटा हुआ, झागदार और अनेक प्रकार की पीडाओं से युक्त तथा अनेक वर्ण के मल का त्याग करता है। मूत्र पीला या श्वेत और गाढ़ा होता है। साथ में ज्वर, अरोचक, तृष्णा, वमन, सूखी डकारें, जम्भाई, विभिन्न अङ्गों में पीड़ा (बदन का टूटना), अङ्गों में विक्षेप (हाथ-पैर फेंकना, पटकना आदि), पेट में गुड़गुड़ाहट, कम्पन, चक्कर आना, नासा, नेत्र और मुख का पाक आदि तथा अन्य अनेक लक्षण होते हैं। इस अति भयानक और घातक रोग को 'क्षीरालसक' कहते हैं।

आजकल 'शैशव यकृद्दाल्युदर' (Infantile cirrhosis) में भी प्रायः यही लक्षण और उपद्रव मिलते हैं। अन्य लक्षणों के साथ यकृत् की वृद्धि होना इस रोग का प्रधान लक्षण होता है। बहुसंख्य रोगियों में प्लीहा भी बढ़ी होती है। पाण्डुता, रक्तच्छर्दि, रक्तपित्त, कामला सर्वांग शोथ, जलोदर आदि उपद्रव होकर मृत्यु हो जाती है। विस्तृत वर्णन के लिए अर्वाचीन 'कौमारभृत्य' देखें। यद्यपि वाग्भट के वचनों में यकृत्प्लीहा की वृद्धि का स्पष्ट उल्लेख नहीं है पर इस प्रकार के दूषित क्षीर के सेवन से आमदोष और उससे यकृत् आदि के विकार का होना असम्भव नहीं है।

---

१. 'शूनः शुक्लाक्षः' क.।

शिशोरन्तर्गतवेदनाज्ञानोपायमाह—

शिशोस्तीव्रामतीव्रां च रोदनाल्लक्षयेद्रुजम् ॥ ४ ॥
स यं स्पृशेद् भृशं देशं यत्र च स्पर्शनाक्षमः ।
तत्र विद्याद्रुजं, मूर्ध्नि रुजं चाक्षिनिमीलनात् ॥ ५ ॥
कोष्ठे विबन्धवमथुस्तनदंशान्त्रकूजनैः ।
आध्मानपृष्ठनमनजठरोन्नमनैरपि ॥ ६ ॥
बस्तौ गुह्ये च विण्मूत्रसंगत्रासदिगीक्षणैः ।
स्रोतांस्यङ्गानि सन्धींश्च पश्येद्यत्नान्मुहुर्मुहुः ॥ ७ ॥

रोने की स्थिति से बालक की तीव्र या मन्द वेदना का अनुमान करना चाहिये। वह जिस स्थान को बार-बार स्पर्श करता है अथवा जहाँ स्पर्श करने से पीड़ा होती है वहीं पीड़ा की स्थिति जाननी चाहिये। यदि बच्चा आँखें प्रायः बन्द रखे तो शिरःशूल का अनुमान करना चाहिये। विबन्ध, वमन, स्तन को काटने की प्रवृत्ति, आन्त्र की गुड़गुड़ाहट, आध्मान, पीठ या उदर के झुकने की प्रवृत्ति को देखकर कोष्ठगत पीड़ा या विकृति का अनुमान करना चाहिये। मल, मूत्र की रुकावट, भय तथा दिशावलोकन (इधर-उधर देखने और चौंकने) से पीड़ा का स्थान बस्ति और गुह्य प्रदेश समझना चाहिये। इसलिए वैद्य को विभिन्न स्रोतों, अङ्गों और सन्धियों को सावधानी से बार-बार देखना चाहिये ॥ ४-७ ॥

शिशोर्वक्तुमक्षमस्यान्तर्गतवेदनाज्ञानोपायमाह—शिशोरित्यादि। तीव्रां रुजं बहुरोदनात्, अतीव्रामल्परोदनाल्लक्षयेत् ॥ ४-७ ॥

विमर्श—आतङ्कदर्पणकार ने 'हृदि जिह्वोष्ठदशनश्वासमुष्टिनिपीडितैः' अर्थात् जीभ और होंठ काटने, श्वास और मुट्ठी बाँधने से हृदय में विकार समझना चाहिए, इतना अधिक पाठ किया है। जो बच्चे बोल नहीं पाते वे अपनी आवश्यकता को व्यक्त करने के निमित्त रोने की क्रिया को अपनाते हैं। कुछ बच्चे स्वभाव से ही अधिक रोते हैं और कुछ कम। स्वाभाविक से अधिक रोना विकृति का निदर्शक है। पीडा को व्यक्त करने के लिये भी बच्चा रोता है। यदि पीडा तीव्र हुई तो बच्चा अधिक जोर से रोता है और यदि वह कम हुई तो कम रोता है।

शरीर के किसी भी भाग में विकृति होने पर स्थानीय पेशियों का सङ्कोच होता है और हाथ बार बार उस स्थान पर पहुँच जाता है। आँख में पीड़ा होने पर पलक बन्द हो जाते हैं और हाथ विना विचार के स्वयमेव वहाँ पहुँच जाता है। प्रत्येक सजीव प्राणी की यह विशेषता है। इस प्रकार सूक्ष्म से सूक्ष्म प्राणी से लेकर बड़े से बड़े प्राणी तक में यह प्रतिक्रिया दिखाई देती है। इस क्रिया को प्रत्यावर्तन क्रिया (Reflex action) कहते हैं। बालक में भी यह क्रिया स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। जिस स्थान को बालक बार-बार स्पर्श करे तो सहज ही यह अनुमान लगा लेना चाहिये कि उस स्थान या उसके समीपस्थ किसी भाग में पीडा है। महर्षि सुश्रुत ने भी इस उपाय का वर्णन किया है—

अङ्गप्रत्यङ्गदेशे तु रुजा यत्रास्य जायते। मुहुर्मुहुः स्पृशति तं स्पृश्यमाने च रोदिति ॥

यदि उस पीडायुक्त स्थान पर स्पर्श किया जाय या दबाया जाय तो बालक को अधिक वेदना का अनुभव होता है। इसे स्पर्शासहता या स्पर्शनाक्षमता (Tenderness) कहते हैं। सिर में पीडा

होने पर रोगी बालक आँखें बन्द कर लेता है अथवा सिर को नहीं सम्भाल पाता। या तो सिर काँपता रहता है या शय्या पर एक ओर को ढुलका रहता है। इसके अतिरिक्त अवकूजन (Low muttering) और निद्रा का ठीक न आना ये लक्षण होते हैं। काश्यपसंहिता ('विद्योतिनी' हिन्दी टीका) में इस विषय का विस्तृत और विशद वर्णन है। विभिन्न रोगों के निदर्शक विशिष्ट लक्षणों के लिए उसके सूत्रस्थान के २५ वें अध्याय का अवलोकन करें।

कुकूणकं लक्षयति—

कुकूणकः क्षीरदोषाच्छिशूनामक्षिवर्त्मनि ।
जायते तेन तन्नेत्रं कण्डूरं च स्रवेन्मुहुः ॥ ८ ॥
शिशुः कुर्याल्ललाटाक्षिकूटनासावघर्षणम् ।
शक्तो नार्कप्रभां द्रष्टुं न वर्त्मोन्मीलनक्षमः ॥ ९ ॥

दुग्ध के दोष से बच्चों के नेत्रवर्त्म में 'कुकूणक' नामक रोग होता है। इससे नेत्र में अत्यधिक खुजली और स्राव होता है। बालक, मस्तक, नेत्रकूट तथा नासिका को बार-बार रगड़ता है, वह सूर्यप्रकाश को नहीं देख सकता उसके नेत्रवर्त्म भी बन्द नहीं हो पाते॥ ८-९॥

बालानामेव दुष्टस्तन्यपानाद्वर्त्मरोगमाह—कुकूणक इत्यादि। कुकूणकः 'कोथ' इति ख्यातः। स्रवेन्मुहुरिति पिच्चिटस्रुतियुक्तं भवतीत्यर्थः। न वर्त्मोन्मीलनक्षम इति न वर्त्मचालनपटुः॥ ८-९॥

विमर्श—यह एक नेत्रवर्त्म का विकार है। वाग्भट इसे दन्तोपत्ति-काल में उत्पन्न होने वाला नेत्रवर्त्म का विकार मानते हैं—**'कुकूणको हि बालानां दन्तोत्पत्तिनिमित्तजः।'** महर्षि सुश्रुत इसे दुग्धदोषजन्य मान कर इसके वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और रक्तज चार भेद करते हैं—

स्तन्यप्रकोपकफमारुतपित्तरक्तैर्बालाक्षिवर्त्मभव एव कुकूणकोऽन्यः॥

काश्यपसंहिता में इसका विस्तृत वर्णन मिलता है। वहाँ भी इसे दुष्टस्तन्यजन्य ही माना है। उनका कहना है कि मीठी चीजें, मछली, मांस, शराब, कांजी, दही तथा अन्य अभिष्यन्दि पदार्थों के सेवन करने तथा दिन में सोने वाली माता के प्रकुपित दोष दूध को दूषित कर देते हैं। इस दूषित दूध के पीने से बालकों में इस रोग की उत्पत्ति होती है*। इसमें निम्न विशिष्ट लक्षण होते हैं—

(१) अत्यधिक अश्रुस्राव (Lacrymation) (२) मस्तक और आँखों को हाथ से रगड़ना।
(३) मस्तक में खुजली। (४) प्रकाशसंत्रास (Photophobia)
(५) पलकों में सूजन। (६) छींक का अभाव।

---

* यदा माता कुमारस्य मधुराणि निषेवते। मत्स्यं मांसं पयः शाकं नवनीतं तथा दधि॥
सुरासवं पिष्टमयं तिलपिष्टाम्लकाञ्जिकम्। अभिष्यन्दीनि सर्वाणि काले काले निषेवते॥
भुक्त्वा भुक्त्वा दिवा शेते विसंज्ञा च विबुध्यते। तस्य दोषाः प्रकुपिता दूरं गत्वा च तिष्ठते॥
दोषेणावृतमार्गायास्ततः स्तन्यं च दुष्यते। प्रदुष्टदोषसंज्ञं तु यदा पिबति दारकः॥
लवणाम्लनिषेवित्वान्मातापुत्रौ रसादिह। आहारदोषात्तस्यास्तु बालस्यानन्नभोजिनः।
अनुप्रवेशादाक्षेपादुष्णसत्त्वावनादपि। जायते नयनव्याधिः श्लेष्मलोहितसम्भवः॥ (का.सं.)

अभीक्ष्णमस्रं स्रवति न च क्षीवति दुर्मनाः। नासिकां परिमृद्नाति कर्णं वाञ्छति दुःखितः। ललाटमक्षिकूटं च नासां च परिमर्दति। नेत्रे कण्डूयतेऽभीक्ष्णं पाणिना चाप्यतीव तु॥ स प्रकाशं न सहते अश्रु चास्य प्रवर्तते। वर्त्मनि श्वयथुश्चास्य जानीयात्तं कुकूणकम्॥

उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर इसे पोथकी (Trachoma) का ही एक प्रकार (Follicular conjuncivitis) कह सकते हैं। इसका वर्णन पीछे नेत्ररोगों के प्रकरण में किया जा चुका है। लोकभाषा में इसे 'कोथ' या 'खुथुवा' कहते हैं।

पारिगर्भिकरोगं विवेचयति—

मातुः कुमारो गर्भिण्याः स्तन्यं प्रायः पिबन्नपि।
कासाग्निसादवमथुतन्द्राकार्श्यारुचिभ्रमैः ॥ १० ॥
युज्यते कोष्ठवृद्ध्या च तमाहुः पारिगर्भिकम्।
रोगं परिभवाख्यं च युञ्ज्यात्तत्राग्निदीपनम्॥ ११ ॥

गर्भिणी माता का दूध पीने से प्रायः बालकों को खांसी, अग्निमान्द्य, वमन, तन्द्रा, कृशता, अरुचि, भ्रम और उदर की वृद्धि हो जाती है। इस रोग को पारिगर्भिक या परिभव कहते हैं। इसमें अग्निदीपक पदार्थों का प्रयोग हितकर होता है॥ १०-११॥

पारिगर्भिकमाह—मातुरित्यादि। पिबन्नपीति अपिशब्दादपिबन्नपि तमाहुः, पारिगर्भिकमिति पारिगर्भिकोऽहिण्डीति ख्यातः; तस्यैव परिभवाख्य इति नामान्तरं बालं परिभवतीति परिभवः,स एव आख्या यस्य तम्। उपशयेनापि तज्ज्ञानमाह-युञ्ज्यादित्यादि॥

विमर्श—सगर्भावस्था में गर्भ का पोषण विशेष रूप से होता है। उस समय समवर्तजन्य विकृति से दुग्ध की पोषकता कम हो जाती है। समवर्त की विकृति से उत्पन्न अपुष्टिकर दुग्ध के सेवन से ही इस रोग की उत्पत्ति होती है। इसे 'अहिण्डी' या 'दुधकट्टा' कहते हैं।

तालुकण्टकं प्राह—

तालुमांसे कफः क्रुद्धः कुरुते तालुकण्टकम्।
तेन तालुप्रदेशस्य निम्नता मूर्ध्नि जायते॥ १२ ॥
तालुपातः स्तनद्वेषः कृच्छ्रात् पानं शकृद्द्रवम्।
तृडक्षिकण्ठास्यरुजा ग्रीवादुर्धरता वमिः॥ १३ ॥

तालुमांस में प्रकुपित हुआ कफ तालुकण्टक नामक रोग को उत्पन्न करता है। इससे सिर का तालुप्रदेश (Anterior fontanelles) नीचा हो जाता है। इसमें तालुपात, स्तनद्वेष तथा दूध के पीने में कठिनता हो जाती है। बालक जलयुक्त मल का त्याग करता है। इसके अतिरिक्त प्यास, नेत्र, कण्ठ तथा मुख में पीड़ा होती है, गर्दन गिरी जाती है और वमन होता है॥ १२-१३॥

तालुकण्टकमाह—तालुमांस इत्यादि। अस्यैव लक्षणं तालुपात इत्यादि। तालुपात इत्यभ्यन्तरे तालुनोऽधःपातः। कृच्छ्रात् पानमित्यत्र 'स्तन्यस्य' इति शेषः। शकृद्द्रवं भिन्नपुरीषता। ग्रीवादुर्धरता ग्रीवाया दुःखेन धारणम्। वमिः स्तन्यस्य वान्तिः॥१२-१३॥

विमर्श—मुख में कंटक के समान दाने या व्रण बन जाने के कारण बालक को दूध पीने में कठिनाई होती है। उदर की विकृति से जलबहुल मल निकलता है। शरीर में जल की कमी (Dehydration) के कारण मस्तिष्क-सुषुम्ना-जल (Cerebrospinal fuid) की भी कमी

हो जाती है, जिससे शीर्षतालु (Anterior fontanelles) नीचे को दब जाता है। सुश्रुत ने भी इस तथ्य का समर्थन किया है—

'मस्तुलुङ्गक्षयाद्यस्य वायुस्तात्वस्थि नामयेत् ।' (सु० शा० १०)

मस्तुलुङ्गक्षय से उसके जल का क्षय लेना चाहिये। जल की कमी से अन्दर का दबाव कम हो जाता है, जिससे बाह्य वायु तालु को अन्दर की ओर दबा देता है। 'रसरत्नसमुच्चय' आदि के पाठों से तालुकण्टक और तालुपाक दोनों ही एक मालूम होते हैं :—

'श्लेष्मा हृत्तालुमांसस्थः करोति कुपितः शिशोः। तालुकण्टकमेतेन तालुस्थाने च निम्नता॥' (रस० र० स० अ० २२)

किन्तु श्री वाचस्पति आदि 'तालुकण्टक' और 'तालुपात' ये दो रोग मानते हैं। 'तालुकण्टक' को कुछ विद्वान् आधुनिक 'एडिनायड' (Adenoids) स्वीकार करते हैं। तालुपात विशेषतः बालशोष में मिलता है।

महापद्मनामानं शिशुविसर्पं प्राह—

विसर्पस्तु शिशोः प्राणनाशनो बस्तिशीर्षजः ।
पद्मवर्णो महापद्मनामा दोषत्रयोद्भवः ॥ १४ ॥
शङ्खाभ्यां हृदयं याति हृदयाद्वा गुदं व्रजेत् ।

वस्तिप्रदेश और सिर में होने वाला बालकों का विसर्प प्राणनाशक होता है। लालकमल के वर्ण का होने के कारण इस त्रिदोषज विकार को महापद्म भी कहते हैं। यह शंखप्रदेश से हृदयप्रदेश में अथवा हृदयप्रदेश से गुदा तक जाता है॥ १४॥

महापद्मनामानं विसर्पमाह—विसर्पस्त्वित्यादि। बस्तिशीर्षज इति बस्तिजः शीर्षजश्च, शीर्षं शिरः। पद्मवर्ण इति लोहितपद्मवर्णः। शङ्खाभ्यां हृदयं यातीति शीर्षजः। पद्मपत्रतुल्यवर्णतां मुखतालुनि बहिर्देशे वेति वदन्ति। हृदयाद् गुदं यातीति बस्तिजः, ऊर्ध्वं हृदयं गत्वा गुदं यातीत्यर्थः। अत्र पद्मसवर्णता बस्तिदेशे गुदे च। वाशब्दश्चात्र व्यवस्थितविकल्पवचनः॥ १४॥

विमर्श—शंखप्रदेश से हृदयप्रदेश तक फैलने वाला विसर्प शीर्षज होता है। हृदय से गुदा तक जाने वाला बस्तिज विसर्प कहलाता है। इस रोग को नवजात शिशु का विसर्प (Erysipelas neonatorum) भी कहते हैं। त्वचा के साधारण क्षत में विसर्पोत्पादक मालागोलाणु (Strepto coccus erysipelatis) का उपसर्ग हो जाने से यह रोग उत्पन्न हो जाता है। इसमें सर्वप्रथम त्वचा पर लाल वर्ण के उभरे हुए चकत्ते बन जाते हैं और ये फिर बराबर बढ़ते जाते हैं। इस रोग के बाह्य और आभ्यन्तर दो प्रकार होते हैं। इनमें बाह्य साध्य, आभ्यन्तर कृच्छ्रसाध्य और बाह्याभ्यन्तर असाध्य होता है—

बहिर्मार्गाश्रितं साध्यमसाध्यमुभयाश्रितम्। विसर्पं दारुणं विद्यात् सुकृच्छ्रं त्वन्तराश्रितम्॥

विसर्प के अन्तराश्रित हो जाने पर उदरावरण शोथ हो जाता है। इससे ज्वर जैसे सार्वदैहिक लक्षण एवं वमन तथा अजीर्ण भी प्रकट हो जाते हैं। मृत्यु का कारण हृद्भेद तथा शोथयुक्त उपजिह्विका (Glottis) से श्वासमार्ग का अवरोध होता है।

अजगल्लिकामहिपूतनां च वर्णयति—

क्षुद्ररोगे च कथिते त्वजगल्ल्यहिपूतने ॥ १५ ॥

अजगल्लिका तथा अहिपूतना नामक बालरोगों का वर्णन क्षुद्ररोग के प्रकरण में कर दिया गया है॥

अन्यौ द्वौ विकारौ बालानां भवतस्तावाह—चुद्रेत्यादि। स्निग्धा सवर्णेत्यादिनाऽजगल्लिका, कण्डूयनादित्यादिनाऽहिपूतना ॥ १५ ॥

विमर्श—ये रोग प्रायः बालकों ही में होते हैं। अतः इनका संग्रह बाल रोगों में किया गया है किन्तु वयस्कों में भी हो सकते हैं अतः क्षुद्र रोगों में भी इनका वर्णन है।

बालानां ज्वरादिविकारानाह—

ज्वराद्या व्याधयः सर्वे महतां ये पुरेरिताः।
बालदेहेऽपि ते तद्वद्विज्ञेयाः कुशलैः सदा ॥ १६ ॥

बड़ों में होने वाली जिन ज्वर, अतिसार आदि व्याधियों का पहिले वर्णन किया गया है वे सब उसी प्रकार बालकों के शरीर में भी होती हैं, ऐसा विद्वानों को समझना चाहिये ॥ १६ ॥

अन्येऽपि विकारा बालानां संभवन्तीत्यतिदेशेन तानाह—ज्वराद्या इत्यादि। पुरेरिता इति पूर्वोक्ताः। ते तद्वदिति ते ज्वरादयस्तादृशा ज्ञेयाः। कुशलैरिति विज्ञैः ॥ १६ ॥

विमर्श—बालरोगों से सम्बद्ध 'कौमारभृत्य' आयुर्वेद के आठ अङ्गों में से एक स्वतन्त्र अङ्ग है। इसपर अनेक संहिताओं का निर्माण प्राचीन काल में भी हो चुका था किन्तु दैवदुर्विपाक से आज अतिखण्डित रूप में केवल काश्यपसंहिता मात्र मिलती है। इसमें बालरोगों का विस्तृत वर्णन भी मिलता है। अन्य तन्त्रों में स्वविषय न होने से इनका विस्तृत विवेचन नहीं मिलता किन्तु सूत्र रूप में एवं विकीर्ण स्थलों पर पूर्वोक्त रोगों के अतिरिक्त अनेक रोगों का परिचय चरक, सुश्रुत, वाग्भट आदि के ग्रंथों में भी मिलता है। सबका संग्रह करने पर अर्वाचीन विद्वानों द्वारा वर्णित प्रायः सभी बालरोगों के अतिरिक्त भी कुछ रोग मिल सकते हैं। जिनका मनन करने से भविष्य से अर्वाचीन 'कौमारभृत्य' (Pediatrics) के विषय में और भी प्रगति में सहायता मिल सकती है। ग्रन्थ-विस्तार के भय से उनका उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं है। प्राच्य और अर्वाचीन आचार्यों द्वारा वर्णित बाल रोगों का उत्तम संग्रह एवं तुलनात्मक विवेचन श्रीरघुवीर प्रसाद त्रिवेदी लिखित 'कौमारभृत्य' नामक पुस्तक में देख सकते हैं। केवल कुछ महत्त्व के रोगों का निर्देश मात्र यहाँ कर दिया जाता है।

बालकों में भी वयस्कों की ही भाँति ज्वरादि रोग होते हैं किन्तु उनके लक्षण, परिणाम और चिकित्सा में कुछ अन्तर भी रहता है। यथा—जो ज्वर वयस्कों में जाड़ा देकर आता है वही बच्चों में प्रायः आक्षेपपूर्वक होता है। आमवात रोग वयस्कों में प्रायः सन्धियों को ही आक्रान्त करता है और हृद्रोग बाद में उपद्रव स्वरूप होता है पर बच्चों में प्रायः मांसपेशियों और हृदय में ही रोग का प्रारम्भ होता है।

शिशु भी तीन प्रकार के वर्णित हैं। (१) **क्षीराद**—जो आहार रूप में प्रायः दूध ही लेते हैं। जन्म से प्रायः नवम मास या कभी-कभी वर्षान्त तक यह अवस्था रहती है। (२) **क्षीरान्नाद**-जो दूध के साथ अन्न भी लेने लगते हैं। यह स्थिति प्रायः नव मास से १॥ या दो वर्ष की आयु तक रहती है। (३) **अन्नाद**—जो प्रायः अन्नमात्र पर ही जीवन यापन करते हैं अर्थात् जिनका आहार प्रधानतः अन्न हो जाता है।

इन अवस्था विशेषों में भी उत्पन्न विभिन्न सामान्य रोगों के लक्षण आदि में भी विशेषताएँ होती हैं। तथा कुछ रोग स्वभावतः अवस्था विशेष में ही होते हैं। जैसे—नाभिपाक, उत्तुण्डिका आदि प्रायः नवजात शिशुओं में ही होते हैं। दन्तोद्भेदकृत विकार प्रायः शैशव की प्रथमावस्था के अन्त और द्वितीयावस्था में ही सम्भावित हैं। कुछ विकार सहज भी होते हैं यथा—खण्डौष्ठ, खण्डतालु,

संवृतगुद आदि । और कुछ प्रसव काल की विकृति से होते हैं । यथा—कपालशोणवृद्धि । इन सभी विषयों का विस्तृत अध्ययन के लिए काश्यपसंहिता, शार्ङ्गधरसंहिता और अर्वाचीन 'कौमारभृत्य' सम्बन्धी ग्रन्थों का अवलोकन करें ।

ग्रहजुष्टानां सामान्यलक्षणं व्याचष्टे—

क्षणादुद्विजते बालः क्षणात्त्रस्यति रोदिति ।
नखैर्दन्तैर्दारयति धात्रीमात्मानमेव वा ॥ १७ ॥
ऊर्ध्वं निरीक्षते दन्तान् खादेत् कूजति जृम्भते ।
भ्रुवौ क्षिपति दन्तौष्ठं फेनं वमति चासकृत् ॥ १८ ॥
क्षामोऽति निशि जागर्ति शूनाक्षो भिन्नविट्स्वरः ।
मांसशोणितगन्धिश्च न चाश्नाति यथा पुरा ॥ १९ ॥
सामान्यं ग्रहजुष्टानां लक्षणं समुदाहृतम् ।

ग्रह से आक्रान्त बालकों में निम्न सामान्य लक्षण होते हैं । बालक क्षण-क्षण उद्विग्न होता है, बार-बार रोता है, नाखून और दाँतों से धात्री तथा अपने आप को काटता है, ऊपर को देखता है, दाँत किटकिटाता एवं दीनतायुक्त आवाज करता है और बार-बार जम्भाई लेता है । भ्रुकुटि, दाँत तथा ओष्ठों को इधर-उधर चलाता है, बार-बार मुख से झाग निकालता है । बालक बहुत क्षीण हो जाता है, रात्रि में जागता है, उसकी आँखें सूज जाती हैं, अतिसार और स्वर की विकृति होती है । उसमें मांस और रक्त की गन्ध आती है । पहिले के समान वह भोजन नहीं करता ॥ १७-१९ ॥

प्रायेण शौचभ्रंशादिना स्कन्दग्रहादयो नव बालेष्वावेशं कुर्वन्त्यतस्तत्परिज्ञानाय सामान्यलक्षणमाह—क्षणादुद्विजते बाल इत्यादि । एते ग्रहाः पूजार्थं बालान् हिंसन्ति । यदुक्तं सुश्रुते—'धात्रीमात्रोः प्राक् प्रदिष्टापचाराच्छौचभ्रष्टान् मङ्गलाचारहीनान् । त्रस्तान्[1] हृष्टांस्तर्जितान् क्रन्दितान् वा पूजाहेतोर्हिंस्युरेते कुमारान् ॥' (सु. उ. २७) इति । उद्विजत इत्युद्विग्नो भवति; उद्विग्नो विह्वलः, न तु बिभेतीत्यर्थः, त्रस्यतीत्यनेन पौनरुक्त्यप्रसङ्गात्[2] । कूजत्यार्तनादं करोति । भ्रुवौ क्षिपतीति भ्रूभङ्गं रचयति । दन्तौष्ठमित्यत्र क्षिपतीति संबध्यते । क्षिपति खादति, धातूनामनेकार्थत्वात् । भिन्नविट् भिन्नशकृत्, भिन्नस्वरः स्वरभेदवान् । मांसशोणितगन्धिरिति विस्रगन्धि । न चाश्नाति यथा पुरेति पूर्ववन्न भक्षयतीत्यर्थः ॥ १७-१९ ॥

विमर्श—आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों तथा पुराणों में ग्रहों का वर्णन मिलता है । इनके विषय में साधारण कथा प्रचलित है कि पूर्वकाल में भगवान् शङ्कर ने कार्तिकेय की रक्षा के निमित्त बारह (पुरुष ५ स्त्री ७) ग्रहों की सृष्टि की । उनका वर्णन संक्षेप में आगे किया जाता है—

पुरा गुहस्य रक्षार्थं निर्मिताः शूलपाणिना । मनुष्यविग्रहाः पञ्च सप्त स्त्रीविग्रहा ग्रहाः ॥

उनमें—स्कन्द, विशाख, मेष, श्वग्रह तथा पितृसंज्ञक पाँच पुरुष ग्रह हैं । शकुनि, पूतना, शीतपूतना, दृष्टिपूतना, मुखमण्डलिका, रेवती तथा शुष्करेवती ये सात स्त्री रूपधारी ग्रह हैं—

स्कन्दो विशाखो मेषाख्यः श्वग्रहः पितृसंज्ञितः । शकुनिः पूतना शीतपूतना दृष्टिपूतना ।
मुखमण्डलिका तद्वद् रेवती शुष्करेवती ॥

---

१. 'हृतान् त्रस्तान् तर्जितान् ताडितांश्च' क. । २. 'त्रस्यतीत्यस्योपात्तत्वात्' क. ।

सुश्रुत तथा योगरत्नाकर में केवल नौ ग्रहों का ही वर्णन मिलता है। रावणकृत बालतन्त्र और काश्यपसंहिता आदि में १६ ग्रहों का वर्णन है। विस्तारभय से उन सबका अविकल वर्णन करना प्रकृत में अभीष्ट नहीं है। ज्ञानपिपासु उनका विस्तृतवर्णन एतद्विषयक पुराण आदि ग्रन्थों में या पूर्वोक्त 'कौमारभृत्य' ग्रन्थ में भी देख सकते हैं। हिंसा, रति और पूजा की इच्छा से ग्रहों का आक्रमण होता है—**'हिंसारत्यर्चनाकाङ्क्षा ग्रहग्रहणकारणम्'** इस विषय का विवेचन उन्माद निदान में भी हो चुका है।

वस्तुतः ग्रह क्या है ? इस विचारणीय किन्तु गम्भीर विषय का सन्तोषजनक उत्तर देना बहुत कठिन है, किन्तु फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ऐसे कुछ रोग जिनके दोष-दूष्य आदि का विवेचन के विना ही केवल कुछ लक्षण-समूह के आधार पर ही दोषादि-निरपेक्ष चिकित्सा की जा सके और दोषादि-सम्बन्ध में विचित्रता रहे उसको ग्रह के अन्तर्गत समझ सकते हैं। इन लक्षण समूहों का साम्य कुछ आधुनिक रोगों से भी होता है, उनका यथास्थान वर्णन किया जायगा। आधुनिकों ने उनके हेतु एवं सम्प्राप्ति के भी विवेचन करने का पर्याप्त प्रयास किया है।

स्कन्दग्रहगृहीतस्य लक्षणमाह—

एकनेत्रस्य गात्रस्य स्रावः स्पन्दनकम्पनम् ॥ २० ॥
ऊर्ध्वं दृष्ट्या निरीक्षेत वक्रास्यो रक्तगन्धिकः ।
दन्तान् खादति वित्रस्तः स्तन्यं नैवाभिनन्दति ॥ २१ ॥
स्कन्दग्रहगृहीतानां रोदनं चाल्पमेव च ।

स्कन्द ग्रह से पीडित बालक के दक्षिण या वाम किसी भी एक नेत्र से अश्रुस्राव होने लगता है। शरीर के भी एक ही भाग से स्वेद निकलने लगता है। नेत्र और अङ्गों में फड़कन और कम्पन होता है। बच्चा ऊपर को देखता है, उसका मुख एक ओर से टेढ़ा हो जाता है। त्वचा से रक्तसदृश गन्ध आती है। भयभीत होकर दाँतों को काटता है, दूध पीना पसन्द नहीं करता और कम रोता है ॥ २०–२१ ॥

सामान्यलिङ्गमभिधाय विशेषग्रहलिङ्गमाह–एकनेत्रस्येत्यादि। एकनेत्रस्य वामस्य दक्षिणस्य वा स्रावोऽश्रुस्रुतिः प्रभावात्, गात्रस्य स्रावो घर्मयुक्तगात्रतेत्यर्थः। स्पन्दन-कम्पनमिति स्पन्दनं मनाक् चलनं, कम्पनं महता वेगेन वेपनं; स्पन्दनं कम्पनं वा भवतीत्यर्थः। वक्रास्यो वक्रमुखः। रक्तगन्धिक इत्येतत् सामान्यलक्षणलब्धमप्यतिशयार्थमुक्तम्; एवमन्यत्रापि सामान्यलक्षणे पुनरुक्ते व्याख्येयम् ॥ २०–२१ ॥

विमर्श—इस प्रकार के लक्षण अर्दित सहित पक्षाघात (Hemiplegia with facial paralysis) से मिलते हुए प्रतीत होते हैं केवल एक नेत्र से अश्रुस्राव मुख की वक्रता तथा गात्रस्पन्दन आदि लक्षण इसके निदर्शक हैं। कारणभूत शैशवीय पक्षाघात (Infantile paralysis) का विस्तृत वर्णन एतद्विषयक पाश्चात्त्य ग्रन्थों से देखना चाहिये।

स्कन्दापस्मारं लक्षयति—

नष्टसंज्ञो वमेत् फेनं संज्ञावानतिरोदिति ।
पूयशोणितगन्धित्वं स्कन्दापस्मारलक्षणम् ॥ २२ ॥

बच्चा मूर्च्छित हो कर मुख से झाग निकालता है, और होश में आने पर बहुत रोता है; उसके शरीर से पूय और रक्त की गन्ध आती है। ये स्कन्दापस्मार के लक्षण हैं ॥ २२ ॥

स्कन्दापस्मारलक्षणमाह—नष्टेत्यादि। नष्टसंज्ञो मूर्च्छितः सन् फेनं वमति, तथा-संज्ञावान् सन्नतिरोदिति ॥ २२ ॥

विमर्श—इसमें रोगी कभी बेहोश (Unconcious) रहता और कभी होश में आकर हाथ-पैरों को इधर-उधर फेंकने लगता है। मल और मूत्र का स्वतः त्याग हो जाता है—

निःसंज्ञो भवति पुनर्भवति ससंज्ञः संरब्धः करचरणैश्च नृत्यतीव।
विण्मूत्रे सृजति विनद्य जृम्भमाणः फेनञ्च प्रसृजति तत्सखाभिपन्नः ॥
(सु. उ. त. २७)

इस ग्रह कृत रोग में अपस्मार (Epilepsy) के लक्षण भी पाये जाते हैं। आधुनिक ग्रंथों में अपस्मार दो प्रकार का माना है—

(१) अज्ञातकारणजन्य (Idiopathic) (२) ज्ञातकारणजन्य (Symptomatic)

इसका विस्तृत वर्णन पीछे अपस्मार के प्रकरण में किया जा चुका है, पाठक वहीं देख सकते हैं

शकुनीग्रहस्य लक्षणमाह—

स्रस्ताङ्गो भयचकितो विहङ्गगन्धिः
सास्रावव्रणपरिपीडितः समन्तात्।
स्फोटैश्च प्रचिततनुः सदाहपाकै-
र्विज्ञेयो भवति शिशुः क्षतः शकुन्या ॥ २३ ॥

शकुनीग्रह से पीडित बालक के सब अंग शिथिल हो जाते हैं वह भयभीत और चकित सा रहता है। उसके शरीर से जलचर मांसभक्षी पक्षियों के समान गन्ध आती है। सारा शरीर स्रावयुक्त व्रणों से पीडित रहता है उसका शरीर जलन और पाक से युक्त फोड़ों से व्याप्त रहता है ॥ २३ ॥

शकुनीलक्षणमाह—स्रस्ताङ्ग इत्यादि। स्रस्ताङ्ग इति अङ्गस्रंसवद्व्यथावान्। भयचकित इति भयहेतुर्भयं भयानकमुच्यते, ततश्चकितः, असति भयहेतौ त्रस्यतीत्यर्थः। विहङ्गगन्धिरिति विहङ्गस्येव गन्धो यस्य स तथा, उपमानाच्चेति समासान्त इत्यप्रत्ययः। विहङ्गशब्देन चलचरा मांसादाश्च पक्षिणो गृह्यन्ते, विस्रगन्धित्वात्। हिरण्याक्षेऽप्युक्तं 'संस्रावदाहपाकाद्यैश्चितः स्फोटैर्भयान्वितः। स्रस्ताङ्गो विस्रगन्धिः स्याच्छकुन्या पीडितः शिशुः ॥' इति। सास्रावव्रणपरिपीडित इति स्फोटैरेव विदीर्णैर्व्रणरूपमापन्नैः परिपीडितः स्फोटैश्च प्रचिततनुरिति नवनवैः स्फोटैर्व्याप्ततनुः। क्षत इत्यभिभूतः ॥ २३ ॥

विमर्श—इस रोग में समस्त शरीर पर फफोले पड़ते, फूटते और नये नये उत्पन्न होते रहते हैं। यह विकृति प्रायः स्तवक गोलाणु के त्वचागत उपसर्ग के कारण होती है।

रेवतीग्रहं लक्षयति—

व्रणैः स्फोटैश्चितं गात्रं पङ्कगन्धं स्रवेदसृक्।
भिन्नवर्चा ज्वरी दाही रेवतीग्रहलक्षणम् ॥ २४ ॥

रेवती ग्रह से पीड़ित बालक का शरीर व्रण और फोड़ों से व्याप्त रहता है, व्रणों से कीचड़ के समान गन्ध वाला रक्त निकलता है। बालक अतिसार, ज्वर तथा दाह से पीड़ित रहता है ॥ २४ ॥

विमर्श—आधुनिकदृष्ट्या यह लक्षण भी पूर्वोक्त रोग के जीर्ण, उग्र और गम्भीर प्रकार एवं पूयमयता में मिलते हैं।

पूतनाग्रहगृहीतस्य शिशोर्लक्षणान्याह—

अतीसारो ज्वरस्तृष्णा तिर्यक्प्रेक्षणरोदनम्।
नष्टनिद्रस्तथोद्विग्नो ग्रस्तः पूतनया शिशुः ॥ २५ ॥

अतिसार, ज्वर, प्यास, तिरछा देखना, अधिक रोना, निद्रानाश तथा उद्विग्नता ये पूतना ग्रह से आक्रान्त बालक के लक्षण हैं*॥ २५ ॥

अन्धपूतनागृहीतस्य बालकस्य लक्षणानि प्राह—

छर्दिः कासो ज्वरस्तृष्णा वसागन्धोऽतिरोदनम्।
स्तन्यद्वेषोऽतिसारश्च अन्धपूतनया भवेत् ॥ २६ ॥

वमन, खाँसी, ज्वर, प्यास, शरीर में चर्बी के सदृश गन्ध, अधिक रोना, दूध न पीना तथा अतिसार ये अन्धपूतना से आक्रान्त बालक के लक्षण हैं ॥ २६ ॥

शीतपूतनाग्रहं लक्षयति—

वेपते कासते क्षीणो नेत्ररोगो विगन्धिता।
छर्द्यतीसारयुक्तश्च शीतपूतनया शिशुः ॥ २७ ॥

शीतपूतना ग्रह के आक्रमण से बालक में कम्पन, खाँसी, क्षीणता, नेत्ररोग, शरीर में विकृत गन्ध, वमन तथा अतिसार ये लक्षण होते हैं ॥ २७ ॥

विमर्श—यह तीनों पूतनाग्रहों के लक्षण विभिन्न दूषित प्रवाहिका और अतिसार के कारण मिलते हैं।

मुखमण्डिकाग्रहलक्षणमाह—

प्रसन्नवर्णवदनः सिराभिरभिसंवृतः ।
मूत्रगन्धी च बह्वाशी मुखमण्डिकया भवेत् ॥ २८ ॥

मुखमण्डिका से आक्रान्त रोगी का वर्ण और मुख स्वच्छ होता है, उसका शरीर सिराओं से व्याप्त रहता है, शरीर से मूत्र के समान गन्ध आती है और बालक बहुत भोजन करता है ॥ २८ ॥

विमर्श—क्रिमि और वृक्क रोग के कारण भी यह लक्षण मिल सकते हैं।

नैगमेषग्रहगृहीतस्य लक्षणान्याह—

छर्दिस्प(स्य)न्दनकण्ठास्यशोषमूर्च्छाविगन्धिताः।
ऊर्ध्वं पश्येद्दशेदन्तान् नैगमेषग्रहं वदेत् ॥ २९ ॥

वमन, फड़कन, गले और मुख का सूखना, मूर्च्छा, शरीर से विकृत गन्ध का आना ये नैगमेष ग्रह से गृहीत बालक के लक्षण हैं। इसमें बालक ऊपर को देखता है और दाँतों को काटता है ॥२९॥

विमर्श—वमनातिरेक के कारण उत्पन्न जलीय धातु की अत्यन्त कमी से भी यही लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं।

---

* इस रोग में वमन, तन्द्रा, हिक्का, आध्मान, काकगन्धिता, मूत्रावरोध, रोमहर्ष तथा बेचैनी ये लक्षण भी पाये जाते हैं। (अ. हृ. उ. ३)

ग्रहगृहीतस्य साध्यासाध्यतां निरूपयति—

प्रस्तब्धाक्षः स्तनद्वेषी मुह्यते चानिशं मुहुः।
तं बालमचिराद्धन्ति ग्रहः संपूर्णलक्षणः॥ ३०॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने बालरोगनिदानं समाप्तम्॥ ६८॥

जिसकी इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो गई हों, जो दूध से द्वेष करता हो, जो बार-बार मूच्छित होता हो ऐसे बालक को सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त ग्रह शीघ्र ही मार डालता है॥ ३०॥

रेवतीग्रहलक्षणमाह—व्रणैरित्यादि। व्रणैः पुराणैः, स्फोटैरविदीर्णैर्नूतनैः, चितं व्याप्तम्। गात्रं पङ्कगन्धं स्वेदसृगिति गात्रमिति कर्तृपदं, पङ्कगन्धं शटितकर्दमगन्धं, समासविधेरनित्यत्वादिप्रत्ययो न भवति। पूतनालक्षणमाह—अतीसार इत्यादि। ग्रस्त इति गृहीत इत्यर्थः॥ २४-३०॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां बालरोगनिदानं समाप्तम्॥ ६८॥

विमर्श—अन्य तन्त्रों में वर्णित विविध ग्रहों का वर्णन कौमारभृत्य (रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी सम्पादित) ग्रन्थ में देखें।

समाप्तं चेदं बालरोगनिदानम्।

अथ विषरोगनिदानम्

विषस्य द्वैविध्यं प्रतिपादयति—

स्थावरं जङ्गमं चैव द्विविधं विषमुच्यते।
मूलाद्यात्मकमाद्यं स्यात् परं सर्पादिसंभवम्॥ १॥

स्थावर और जङ्गम भेद से विष दो प्रकार का होता है। मूल, पत्र, पुष्प आदि से स्थावर विष की और सर्प आदि से जङ्गम विष की उत्पत्ति होती है॥ १॥

पारिशेष्याद्विषरोगनिदानमुच्यते—स्थावरमित्यादि। विषादजनकत्वाद्विषं, तच्च द्विविधं स्थावरं जङ्गमं च। मूलाद्यात्मकमिति आद्यं स्थावरं मूलादिरूपं दशविधं, यदुक्तं सुश्रुते-'मूलं पत्रं फलं पुष्पं त्वक् क्षीरं सार एव च। निर्यासो धातवश्चैव कन्दश्च दशमः स्मृतः' (सु. क. २) इति तत्र क्लीतकाश्वमारकगुञ्जासुगन्धगर्गरकरघाटविद्युच्छिखानन्ताविजयानीत्यष्टौ मूलविषाणि विषपत्रिकालम्बासुरदारुकरम्भमहाकरम्भाणि पञ्च पत्रविषाणि, कुमुद्वतीरेणुकाकरम्भमहाकरम्भकर्कोटकरेणुकखद्योतकचर्मरीभगन्धासर्पघातिनन्दनसारपाकानि द्वादश फलविषाणि, वेत्रकादम्बवल्लीजकरम्भमहाकरम्भाणि पञ्च पुष्पविषाणि, अन्त्रपाचककर्तरीयशैलेयकरम्भनन्दनकरघाटवाराटकानि सप्त त्वङ्निर्याससारविषाणि, कुमुदघ्नीस्नुहीजालक्षीरीणि त्रीणि क्षीरविषाणि, फेनाश्मभस्म हरितालं च द्वे धातुविषे, कालकूटवत्सनाभसर्षपकपालकर्दमकवैराटकमुस्तकमहाविषप्रपौण्डरीकमूलकहलाहलश्शृङ्गिमर्कटकानि त्रयोदश कन्दविषाणि, एतानि प्राणहराणि, एवं पञ्चपञ्चाशत् स्थावराणि विषाणि भवन्ति। एषां च व्याधपुलिन्दादिभ्यो व्यक्तिज्ञानं कर्तव्यम्। परं सर्पादिसम्भवमिति परं जङ्गमं, तच्च षोडशाभिधानं—दृष्टिनिःश्वासदंष्ट्रानखमूत्रपुरीषशुक्रलालार्तवमुखसंदंशपर्दितगुदास्थिपित्तशूक-

१. 'समासान्तविधेरनित्यत्वादुपमानाच्चेतीप्रत्ययो न भवति' क.।

शवभेदात्। पर्दितं पायुकृतः कुत्सितशब्दः, 'पर्द' कुत्सिते शब्दे, इत्यस्य प्रयोगात्। तत्र दृष्टिनिःश्वासविषा दिव्याः सर्पाः, भौमाः सर्पा दंष्ट्राविषाः, मार्जारमकरव्याघ्रादयो दंष्ट्रानखविषाः, पिच्चिटकौण्डिन्यादयो मूत्रपुरीषविषाः, मूषिकाः शुक्रविषाः, वृश्चिकवरटयुच्चिटिङ्गादय आरविषाः, लूता लालार्तवविण्मूत्रशुक्रमुखसंदंशविषाः, चित्रशीर्षकशतदारुकशारिकादयो मुखसन्दंशदंष्ट्रापर्दितगुदपुरीषविषाः, विषहतास्थिमत्स्यास्थिप्रभृतयोऽस्थिविषाः, शकुलीमत्स्यादयः पित्तविषाः, सूक्ष्मतुण्डभ्रमरादयः शूकविषाः, कीटसर्पदेहा गतासवः शवविषाः। एषां च सुश्रुतस्य कल्पस्थाने विस्तरो द्रष्टव्यः ॥ १ ॥

विमर्श—'कोई भी निश्चित प्रमाणवाली वस्तु जो शरीर में पहुँच कर शरीर की धातुओं के सम्पर्क में आकर सामान्य जनों के शरीर पर विनाशक प्रभाव उत्पन्न करे उसे विष कहते हैं'। **'विषादजनकत्वाद्विषम्'** (एक निश्चित प्रमाणवाली) कोई भी वस्तु जो विषाद उत्पन्न करे विष कहलाती है, 'मधुकोश व्याख्या'। अधिकसंख्य वस्तुयें अल्पमात्रा में प्रयोग करने पर कोई हानि नहीं करतीं। सामान्यरूप से विष समझे जाने वाले संखिया, पारद, अफीम, वत्सनाभ, कुचला जैसे पदार्थ भी अल्पमात्रा में प्रयोग करने पर अमृतवत् औषध का कार्य करते हैं। इसके विपरीत लवण सदृश कुछ साधारण पदार्थ भी जिनका हम नित्य व्यवहार करते हैं, अधिक मात्रा में लेने पर विष का कार्य कर सकते हैं। इन्हीं अपवादों एवं दोषों को ध्यान में रखते हुए 'निश्चित प्रमाण', पद को परिभाषा में स्थान दिया गया है। इसके अतिरिक्त शरीर की कुछ विशेष अवस्थाओं एवं व्यक्तिविशेष के आधार पर उक्त द्रव्यों की विषात्मकता निर्भर करती है। यदि संखिये का प्रयोग भोजन के पूर्व किया जाय तो वह शीघ्र क्रिया दिखायेगा, यदि भोजनोपरान्त सेवन करें तो कुछ देर में क्रिया करता है। ५ ग्रेन शुद्ध अफीम से मृत्यु हो सकती है किन्तु अभ्यासबल से इससे बहुत अधिक मात्रा में सेवन करने वाले व्यक्ति भी देखे जाते हैं, जिनमें विष के लक्षण प्रकट नहीं होने पाते। उन्हें वह मात्रा सात्म्य हो जाती है। उनमें विष-प्रभाव उत्पन्न करने के लिये अधिक मात्रा की आवश्यकता पड़ती है।

आयुर्वेद में उत्पादक कारण के अनुसार विषों के स्थावर तथा जंगम दो भेद किये हैं। मूल आदि से उत्पन्न विष को स्थावर कहते हैं और इनके दस आश्रय हैः—

मूलं पत्रं फलं पुष्पं त्वक् क्षीरं सार एव च। निर्यासो धातवश्चैव कन्दश्च दशमः स्मृतः ॥
(सु. क. २)

धातुविष से संखिया जैसे और कन्दविष से वत्सनाभ जैसे पदार्थ लेने चाहिये। सर्प, वृश्चिक आदि के विष को जंगम विष कहते हैं। इसके सोलह अधिष्ठान हैं—**'दृष्टिनिश्वासदंष्ट्रानखमूत्रपुरीषशुक्रलालार्तवमुखसंदंशविशर्धिततुण्डास्थिपित्तशूकशवानीति'** (सु० क० ३)। इन सबके उदाहरण सुश्रुतसंहिता के कल्पस्थान में दिये गये हैं, विस्तार-भय से सबका वर्णन करना प्रकृत में अभीष्ट नहीं है।

विषतन्त्र भी आयुर्वेद के आठ अंगों में से एक है। इस अंग पर भी अनेक संहिताओं के निर्माण का निर्देश मिलता है किन्तु उपलब्ध साहित्य में सुश्रुतसंहिता में ही सबसे अधिक वर्णन मिलता है। अर्वाचीन ग्रन्थों में प्राचीन अनेक विषों का उल्लेख न कर उनके स्थान पर अनेक नवीन विषों का वर्णन किया गया है और विषों का वर्गीकरण उनके प्रभावानुसार दाहक, क्षोभक,

१. 'आरशब्देनात्र वृश्चिकादिलाङ्गूलस्थितः कण्टको भण्यते, तस्य च स्थूलशूकरूपत्वाच्छूकग्रहणेनैव ग्रहणमत एव दृष्टिनिःश्वासेत्यादिसूत्रे पृथङ्नोदाहृतमारग्रहणम्' इति डल्हणः।

उन्मादक, स्थापक आदि भेद से किया है। इनका विस्तृत वर्णन अर्वाचीन अगदतन्त्र (Toxicology) [श्री रमानाथ द्विवेदी सम्पादित] में देखना चाहिये।

जङ्गमविषस्य सामान्यलक्षणानि निरूपयति—

निद्रां तन्द्रां क्लमं दाहमपाकं लोमहर्षणम्।
शोथं चैवातिसारं च जङ्गमं कुरुते विषम्॥ २॥

निद्रा, तन्द्रा, बिना परिश्रम के थकावट, जलन, अपचन, रोमहर्ष, सूजन तथा अतिसार ये जंगम विष के सामान्य लक्षण हैं॥ २॥

तत्र जङ्गमविषस्य बह्वधिष्ठानत्वेन प्राधान्यात् सर्ववेगानुगतं सामान्यलिङ्गमाह—निद्रामित्यादि। एतत् सुबोध्यम्॥ २॥

स्थावरविषस्य सामान्यलक्षणानि व्याचष्टे—

स्थावरं च ज्वरं हिक्कां दन्तहर्षं गलग्रहम्।
फेनच्छर्द्यरुचिश्वासं मूर्च्छां च कुरुते भृशम्॥ ३॥

स्थावर विष ज्वर, हिचकी, दन्तहर्ष, गले में जकड़ाहट, फेनयुक्त वमन, अरुचि, श्वास तथा मूर्च्छा को उत्पन्न करता है॥ ३॥

स्थावरस्य सामान्यलिङ्गमाह—स्थावरं चेत्यादि। फेनच्छर्दिरिति फेनस्य छर्दिः॥ ३॥

प्रसङ्गाद्विषदातारं लक्षयति—

इङ्गितज्ञो मनुष्याणां वाक्चेष्टामुखवैकृतैः।
जानीयाद्विषदातारमेभिर्लिङ्गैश्च बुद्धिमान्॥ ४॥
न ददात्युत्तरं पृष्टो विवक्षुर्मोहमेति च।
अपार्थं बहु संकीर्णं भाषते चापि मूढवत्॥ ५॥
हसत्यकस्मात् स्फोटयत्यङ्गुलीर्विलिखेन्महीम्।
वेपथुश्चास्य भवति त्रस्तश्चान्योन्यमीक्षते॥ ६॥
विवर्णवक्त्रो ध्यामश्च नखैः किंचिच्छिनत्त्यपि।
आलभेतासनं दीनः करेण च शिरोरुहम्॥ ७॥
वर्तते विपरीतं च विषदाता विचेतनः। (सु. क. १)

मनुष्यों के संकेतों को समझने वाले बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि वह वाणी, चेष्टा व मुख की विकृति तथा निम्न लक्षणों को देखकर विष देने वाले व्यक्ति का पता चला ले। विष देनेवाला पूछने पर या तो उत्तर ही नहीं देता या यदि कुछ बोलना चाहता है तो घबड़ा जाता है वह मूर्खों के समान अनर्थक, अधिक और अस्पष्ट बात कहता है। अचानक हँसने लगता है, (भयजन्य वायु से उत्पन्न पर्व की व्यथा को दूर करने के निमित्त) अंगुलियों को चटकाता है, व्यर्थ ही भूमि को कुरेदता है। वह काँपता रहता है और डरकर एक दूसरे को देखता रहता है। इसके मुख का वर्ण विकृत एवं झुलसे हुए के समान हो जाता है। नाखूनों से तिनके आदि तोड़ता रहता है। वह

दीन होकर हाथ से आसन और सिर के बालों को बार बार स्पर्श करता है। विष देने वाला व्यक्ति बार-बार आसन-परिवर्तन करता है और उसका होश ठिकाने नहीं रहता ॥ ४–७ ॥

विषदातृलक्षणमाह—इङ्गितज्ञ इत्यादि। अभिप्रायसूचकमीहितमिङ्गितं तज्ज्ञो वैद्यो वाचा, क्रियया, मुखवैकृत्यादिना च विषदातारं जानीयात्। एभिर्वक्ष्यमाणलक्षणैः। न ददात्युत्तरं पृष्ट इति स्वीयासत्कर्मजनितव्यामोहात्। अपार्थमित्यनर्थकम्। संकीर्णमित्यस्फुटम् हसत्यकस्मादिति अहेतोरपि हसति। भयजवायुजनितपर्वव्यथापनोदनायाङ्गुलीः स्फोटयति। क्रियान्तरकरणसूचनाय महीं विलिखति। भीतः सन् प्रत्येकं वीक्षते, ध्याम इति दग्धसमवर्णः, किञ्चित्तृणादिकं, वर्तते विपरीत इति वारंवारं परिवर्त्य तिष्ठति ॥ ४–७ ॥

मूलादिविषाणां सामान्येन लक्षणमाह—

उद्वेष्टनं मूलविषैः प्रलापो मोह एव च ॥ ८ ॥
जृम्भणं वेपनं श्वासो मोहः पत्रविषेण तु।
मुष्कशोथः[1] फलविषैर्दाहोऽन्नद्वेष एव च ॥ ९ ॥
भवेत् पुष्पविषैश्छर्दिराध्मानं श्वास एव च।
त्वक्सारनिर्यासविषैरुपयुक्तैर्भवन्ति हि ॥ १० ॥
आस्यदौर्गन्ध्यपारुष्यशिरोरुक्कफसंस्रवाः।
फेनागमः क्षीरविषैर्विड्भेदो गुरुगात्रता ॥ ११ ॥
हृत्पीडनं धातुविषैर्मूर्च्छा दाहश्च तालुनि।
प्रायेण कालघातीनि विषाण्येतानि निर्दिशेत् ॥ १२ ॥ (सु. क. २)

मूलविष से शरीर में ऐंठन, प्रलाप और मूर्च्छा ये लक्षण होते हैं। **पत्रविष** से जम्भाई, कम्पन, श्वासकृच्छ्रता तथा मोह होते हैं। **फलविष** के कारण अण्डकोष में सूजन, जलन तथा भोजन के प्रति अरुचि हो जाती है। **पुष्पविषों** से वमन, आध्मान तथा श्वास होते हैं। **त्वचा, सार** और **गोंद** के विषों के प्रयोग करने से मुख में दुर्गन्धि, कड़ापन, शिरःशूल तथा मुख से कफ का स्राव ये लक्षण होते हैं। **क्षीरविषों** के प्रयोग से मुख से झागों का आना, अतिसार तथा शरीर का भारीपन ये लक्षण होते हैं। **धातुविषों** से हृदय प्रदेश में पीड़ा, मूर्च्छा तथा तालु में जलन ये लक्षण होते हैं। ये नौ प्रकार के विष **कालान्तर** में मारक होते हैं ॥ ८–१२ ॥

मूलादिविषाणां प्रमादादुपयुक्तानां प्रत्येकं लक्षणमाह—उद्वेष्टनमित्यादि। उद्वेष्टनं दण्डविमर्दनवद्व्यथा। मूलविषैरित्यष्टविधैरपि, एवं पत्रादीनामुक्तानां यावत्संख्याकानामेकं सामान्यलक्षणमवगन्तव्यम्। प्रायेण कालघातीनीति एतानि नव मूलादिविषाणि कालान्तरेण मारकाणि भवन्तीत्यर्थः। कन्दविषं तु त्रयोदशविधमतितीक्ष्णत्वाद्व्यवायिविकास्यादिगुणयोगात्तदात्वेन मारकम् ॥ ८–१२ ॥

विमर्श—यहाँ केवल नौ प्रकार के विषों के लक्षण बताये गये हैं ये अल्पशक्ति वाले होने से कालान्तर में घातक होते हैं। दसवाँ कन्द-विष इस कोटि में नहीं आता। वह अत्यधिक तीक्ष्ण व्यवायी और विकासी होने के कारण सद्योमारक होता है।

---

१. 'मुखशोथः' इति क.।

विषलिप्तशस्त्रहतं लक्षयति—

सद्यः क्षतं पच्यते यस्य जन्तोः स्रवेद्रक्तं पच्यते चाप्यभीक्ष्णम्।
कृष्णीभूतं क्लिन्नमत्यर्थपूति क्षतान्मांसं शीर्यते चापि यस्य ॥१३॥
तृष्णा मूर्च्छा ज्वरदाहौ च यस्य दिग्धाहतं तं पुरुषं व्यवस्येत्।
लिङ्गान्येतान्येव कुर्यादमित्रैर्व्रणे विषं यस्य दत्तं प्रमादात् ॥१४॥

जिसका सद्योव्रण (तत्कालीन व्रण) पक जाये और जिससे निरन्तर रक्तस्राव हो और पाक निरन्तर बढ़ता जावे जो काला गीला और अत्यधिक दुर्गन्धयुक्त हो जिस व्यक्ति के व्रण से मांस कटकर स्वयं गिरता हो, जो प्यास, मूर्च्छा, ज्वर तथा जलन से पीडित हो उसे विषलिप्तशस्त्र से आहत समझना चाहिये। सावधानी न रखने पर जिस व्यक्ति के व्रण में शत्रु लोग विष डाल दें उसमें भी इसी प्रकार के लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसे 'विषदिग्ध' व्रण कहते हैं ॥ १३-१४ ॥

विषलिप्तशस्त्रहतस्य लिङ्गमाह—सद्य इत्यादि। पच्यते चाप्यभीक्ष्णमिति सद्यस्तावत् पच्यते पश्चादपि पुनः पुनः पाकमेति ॥ १३-१५ ॥

विषपीतस्य लक्षणमाह—

सपीतं गृहधूमाभं पुरीषं योऽतिसार्यते।
फेनमुद्वमते चापि विषपीतं तमादिशेत् ॥ १५ ॥

जो व्यक्ति पीले और गृहधूम के वर्ण का मलत्याग बार-बार करता है और मुख से झाग निकलता है तो समझ लेना चाहिये कि उसने विष पान किया है ॥ १५ ॥

जङ्गमविषे सर्पविषस्यातितीक्ष्णत्वात्तदाश्रयान् सर्पानाह—

वातपित्तकफात्मानो भोगिमण्डलिराजिलाः।
यथाक्रमं समाख्याता, द्व्यन्तरा द्वन्द्वरूपिणः ॥ १६ ॥

भोगी, मण्डली और राजिल जाति के सर्प क्रमशः वात, पित्त और कफ दोषप्रधान होते हैं। दो जातियों के मिलने से द्वन्द्वलक्षणयुक्त सर्प उत्पन्न होते हैं। इन्हें द्व्यन्तर कहते हैं ॥ १६ ॥

स्थावरमभिधाय जङ्गमेष्वतितीक्ष्णत्वेन सर्पविषे वाच्ये तदाश्रयान् सर्पानाह—वातपित्तकफात्मान इत्यादि। भोगी फणी, मण्डली मण्डलवद्गथाङ्गलाङ्गलादिरूपमण्डलैर्युक्तः राजिलश्चित्रदीर्घरेखावान् एते यथाक्रमं वाताद्यात्मानो वातादिप्रकृतयः। व्यतिकरजान् सर्पान् दर्शयति—द्व्यन्तरा द्वन्द्वरूपिण इति। द्वयोरन्तरं विशेषो येषु ते तथा। यथा—फणिना मण्डलिन्यां गोनसा जाताः, मण्डलिना गोनसेन च फणिन्यां कृष्णसर्पाः, एवमन्येऽपि जातिसंकरा ऊह्याः। व्यन्तरा इति पाठे स एवार्थः, विशब्दस्य द्व्यर्थत्वात्; तथा 'विभवान्महानाकाशः' इत्यत्र व्याख्यातं, विभवादिति द्विभावात्, द्विभावश्च सर्वमूर्तद्रव्यैः संयोगः सर्वत्रोपलम्भश्चेति। द्वन्द्वरूपिण इति द्वयोः फणिमण्डलिनोर्वातपित्तप्रकृत्योर्यत् प्रकृतित्वं तन्मिलितप्रकृतित्वमेषामित्यर्थः, वातपित्तप्रकृत्योरथवा द्वयोर्यद्दोषयो रूपं तद्रूपमित्यर्थः ॥

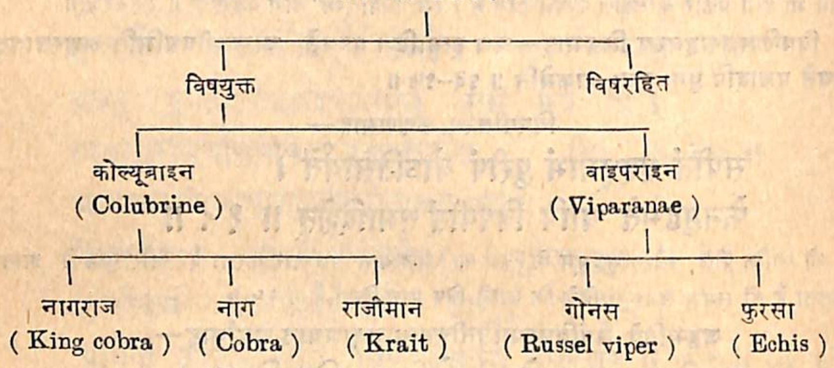
विमर्श—बड़े फण वाले सर्प को भोगी या फणी कहते हैं। जिस पर गोल धब्बे होते हैं उसे मण्डली और जिस पर चित्र वर्ण की लम्बी रेखायें होती हैं उससे राजिल कहते हैं।

दर्वीकरः फणी ज्ञेयो मण्डली मण्डलाफणः।
बिन्दुलेखो विचित्राङ्गः पन्नगः स्यात्तु राजिमान् ॥ (चरक)

द्व्यन्तरा द्वन्द्वरूपिणः—फणी सर्प का मण्डलिनी से सम्पर्क होने पर दोनों केल क्षणों से युक्त गोनस नामक तीसरी जाति की उत्पत्ति होती है। मण्डली या गोनस सर्प का फणिनी से सम्पर्क होने पर कृष्णसर्प की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार जातिसंकर से अनेक प्रकार के सर्पों की उत्पत्ति होती है।

अब तक के ज्ञात आँकड़ों से विदित हुआ है कि भारतवर्ष में साँप के काटनेसे प्रतिदिन १०० व्यक्तियों की मृत्यु होती है। विश्व में साँपों की १७०० जातियाँ पाई जाती हैं। भारतवर्ष में उनमें से केवल ३०० जातियाँ मिलती हैं। इनमें से प्रत्येक सर्प न तो विषैला ही है और न तो प्रत्येक सर्प का विषमारक ही होता है। पीछे आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार त्रिदोष के आधार पर इनका वर्गीकरण किया गया है। आधुनिक विद्वानों ने जीव-विज्ञान के आधार पर इसका वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया है—

सर्पों का वर्गीकरण



कोल्यूब्राइन—इसकी ४८ उपजातियाँ होती हैं और ये अण्डे रखते हैं। इनका दृष्टिमण्डल गोल होता है। इसकी एक जाति भूमि पर रहती है जिसे भूमिशायी कहते हैं। नागराज, नाग और राजीमान उसी के भेद हैं। इनमें राजीमान सबसे अधिक विषैला होता है।

वाइपराइन—इसकी १९ जातियाँ पाई जाती हैं। ये शिशु सर्प को जन्म देते हैं और इनका दृष्टिमण्डल कुछ लम्बा होता है। गोनस और फुरसा इस के भेद हैं इनमें गोनस नामक सर्प की फूत्कार सब से तेज होती है।

सर्प एक शीतरक्त पृष्ठवंशी प्राणी है। इसमें सिर, गात्र तथा पुच्छ ये तीन भाग होते हैं। इसके पैर नहीं होते अतः यह अपनी पार्श्वीय गतियों से सरक-सरक कर चलता है। इसीलिये इसे सरीसृप और जिह्मग नाम दिये जाते हैं। इसकी आँखें एक पारदर्शक झिल्ली से आवृत रहती हैं। इसके कान नहीं होते। कानों का कार्य भी यह आँखों से लेता है। अतः इसे चक्षुःश्रवा भी कहते हैं। इसकी जिह्वा द्विविभक्त होती है अतः इसे द्विजिह्व कहते हैं। इसकी दंष्ट्रा में विष की थैली रहती है जिससे इसे आशीविष भी कहते हैं। शीतकाल में बाहर नहीं रह सकता। इस लिये उन दिनों वह भूमि के अन्दर महीनों तक बिना भोजन के पड़ा रहता है। इसी आधार पर उसे बिलेशय नाम दिया गया है। कुछ सर्प बच्चे देते हैं, वे बच्चे महीनों तक वायु पर ही अपना जीवन यापन करते हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए ही इसे पवनाशन संज्ञा दी गई है। सर्प का शरीर जहाँ पुच्छ से मिलता है वहाँ एक छिद्र होता है जिसे गुदा या मलद्वार कह सकते हैं। मल, मूत्र और शुक्र इस मार्ग से ही बाहर निकलते हैं। सर्प संगीत और वाद्य से

बहुत प्रसन्न रहते हैं। बीन के द्वारा बड़े-बड़े विषधरों को भी वश में कर लेना सरल हो जाता है। चूँकि सुनने और देखने दोनों का कार्य चक्षु के द्वारा ही होता है अतः जिस समय सर्प बीन का मधुर शब्द मस्त होकर सुनता है तो देख नहीं पाता। ऐसे समय पर ही सपेरे साँप को पकड़ने में समर्थ हो पाते हैं।

विभिन्नसर्पदष्टानां लक्षणानि निरूपयति—

दंशो भोगिकृतः कृष्णः सर्ववातविकारकृत् ।
पीतो मण्डलिजः शोथो मृदुः पित्तविकारवान् ॥ १७ ॥
राजिलोत्थो भवेद्दंशः स्थिरशोथश्च पिच्छिलः ।
पाण्डुः स्निग्धोऽतिसान्द्रासृक् सर्वश्लेष्मविकारकृत् ॥ १८ ॥

भोगी (फणधर), सर्प के काटने से दंशस्थान काला पड़ जाता है और रोगी में वातिक लक्षण प्रकट होते हैं। मण्डली के काटने से दंशस्थान पीला पड़ जाता है और शोथ मृदु एवं पित्त के विकारों को करने वाला होता है। राजिल नामक सर्प का दंश स्थिर शोथ वाला, पिच्छिल, पाण्डु वर्ण का और स्निग्ध होता है; इसमें रक्त बहुत गाढ़ा हो जाता है तथा श्लेष्मा के अन्य विकार उत्पन्न होते हैं ॥ १७–१८ ॥

भोगिप्रभृतिकृतदंशेषु वातादीनां लिङ्गमाह—दंशो भोगिकृत इत्यादि। सर्ववातविकारकृदित्यनेनैव कृष्णत्वे सिद्धे तदुक्तिरवश्यंभावित्वख्यापनार्थं, एवमुत्तरत्रापि पीताद्यभिधानम्॥

विमर्श—सर्प विष में एक शक्तिशाली फाइब्रिन नामक तत्त्व रहता है। जो रक्त को जमा देता है। इसके अतिरिक्त इसके विपरीत एक दूसरा पदार्थ भी रहता है जिसे एन्टीफाइब्रिन (Antifibrin) कहते हैं। यह पदार्थ मृत्यु के उपरान्त रक्त को पुनः तरल बना देता है। सर्पदष्ट में निम्न लक्षण पाये जाते हैं—

(१) लालास्राव (Salivation) (२) मिचली (Nausia)
(३) दाह (Burning sensation) (४) दंशस्थान पर सूजन।
(५) मूर्च्छा (Fainting)
(६) श्वास की मन्दता (Slow respiration) (७) चक्कर।
(८) शीतस्वेद (Cold sweat)
(९) हृदय की धड़कन (Palpitation) (१०) वमन (Vomiting)
(११) आक्षेप (Convulsion) (१२) प्यास की अधिकता।
(१३) उदरशूल। (१४) रक्तमेह (Haematuria)
(१५) रक्तस्रावावरोध (Haemostasis) (१६) श्वासावरोध।
(१७) जिह्वाशोथ। (१८) मुखवैवर्ण्य (Cyanosis)
(१९) रसज्ञान का अभाव।

विशिष्टदेशादिदष्टस्यासाध्यत्वमाह—

अश्वत्थदेवायतनश्मशानवल्मीकसन्ध्यासु चतुष्पथेषु ।
याम्ये च दष्टाः परिवर्जनीया ऋक्षे सिरामर्मसु ये च दष्टाः ॥ १९ ॥

पीपल के पेड़ के नीचे, देवालय, श्मशान और बमी के पास, सन्ध्या समय, चौराहे पर,

भरणी, आर्द्रा आदि नक्षत्रों में तथा सिरा और मर्मस्थानों पर जिन व्यक्तियों को साँप काटते हैं उन्हें असाध्य समझना चाहिये ॥ १९ ॥

विशिष्टदेशादिदष्टस्यासाध्यत्वमाह—अश्वत्थेत्यादि। याम्ये चेति भरण्याम्। ऋक्षे नक्षत्रे। मर्मस्विति आशुघातिषु। याम्ये चेति चकारेणार्द्राश्लेषामघामूलकृत्तिकानां ग्रहणम्। यदुक्तमन्यत्र-'चैत्यायतनवल्मीकश्मशानेषु चतुष्पथे। आर्द्राश्लेषामघामूलकृत्तिकाभरणीषु च॥ पञ्चम्यां सन्ध्ययोर्दंशे मर्मस्वाशुहरेषु च। दष्टाः कष्टेन जीवन्ति यदि दूतादिसंपदः॥' इति ॥ १९ ॥

सर्पविषस्य कालवशादाशुघातित्वं निरूपयति—

दर्वीकराणां विषमाशुघाति सर्वाणि चोष्णे द्विगुणीभवन्ति।

बड़े फण वाले सर्पों का विष शीघ्रता से मार डालता है। इसके अतिरिक्त उष्णकाल में अन्य सभी के विषों का प्रभाव पूर्वापेक्षा दूना हो जाता है।

दर्वीत्यादि। दर्वीकराणां विषमाशु हन्ति अश्वत्थादौ विशेषेण दर्वीकराणामाशुमारकं, दर्वीकराः फणिनः। सर्वाणि चोष्णे द्विगुणीभवन्तीति उष्णसंयोगे सति सर्वाणि विषाणि स्वरूपतो द्वैगुण्यं भजन्ते; 'सर्वाणि चोक्तानि यथाक्रमेण' इति पाठान्तरे अयमर्थः-सर्वाणि भोगिमण्डलिराजिलविषाणि यथाक्रमेण यथोद्दिष्टक्रमेणोक्तान्यश्वत्थादिष्वाशुघातीनि। दर्वीकरविषस्य पृथगुपादानं विशेषार्थम्॥

अवस्थाविशेषे सर्पविषस्यासाध्यत्वं प्राह—

अजीर्णपित्तातपपीडितेषु बालेषु वृद्धेषु बुभुक्षितेषु ॥ २० ॥
क्षीणक्षते मेहिनि कुष्ठयुक्ते रूक्षेऽबले गर्भवतीषु चापि।

अजीर्ण, पत्ति और धूप से पीडित व्यक्तियों में, बालकों, वृद्धों और भूखों में, क्षतक्षीण, मेह से पीडित, कुष्ठी, रूक्ष, निर्बल व्यक्तियों एवं गर्भवती स्त्रियों में सर्पविष असाध्य होता है॥ २० ॥

एवमपरेष्वप्याशुघातित्वं संभवति, तानाह—अजीर्णेत्यादि। अजीर्णपित्तातपपीडितेष्विति अजीर्णिनि दोषत्रयप्रकोपात्, पित्तातपपीडितयो रौक्ष्यात्, बालवृद्धयोरसंपूर्णक्षीणधातुत्वेन विषवेगासहत्वात्, बुभुक्षितेष्विति पित्तवृद्धयोष्णदेहत्वात्, क्षीणक्षत इति क्षतक्षीणे बहुलवातदुष्टेः, मेहिनि दोषत्रयप्रकोपात्, कुष्ठयुक्ते रक्तादिदोषात्, रूक्षे वातकोपात्, अबले क्लेशासहत्वात्, गर्भवतीषु गर्भेणोत्क्षिप्तदोषत्वात्, एषु विषमाशुघातीति॥

अन्यदप्यसाध्यलक्षणमाह—

शस्त्रक्षते यस्य न रक्तमेति राज्यो लताभिश्च न संभवन्ति ॥ २१ ॥
शीताभिरद्भिश्च न रोमहर्षो विषाभिभूतं परिवर्जयेत्तम्।
जिह्मं मुखं यस्य च केशशातो नासावसादश्च सकण्ठभङ्गः ॥ २२ ॥
कृष्णः सरक्तः श्वयथुश्च दंशे हन्वोः स्थिरत्वं च विवर्जनीयः।
वर्तिर्घना यस्य निरेति वक्त्राद्रक्तं स्रवेदूर्ध्वमधश्च यस्य ॥ २३ ॥
दंष्ट्रानिपाताश्चतुरश्च यस्य तं चापि वैद्यः परिवर्जयेच्च।

उन्मत्तमत्यर्थमुपद्रुतं वा हीनस्वरं वाऽप्यथवा विवर्णम् ॥ २४ ॥
सारिष्टमत्यर्थमवेगिनं च ज्ञात्वा नरं कर्म न तत्र कुर्यात् ।

शस्त्र से क्षत होने पर भी जिसका रक्त नहीं निकलता, लताओं से मारने या बाँधने पर जिसके रेखायें नहीं उभरतीं, ठण्डे जल से जिसको रोम-हर्ष नहीं होता उस विषयुक्त रोगी की चिकित्सा न करनी चाहिये । जिसका मुख टेढ़ा हो जाये, जिसके बाल गिरने लगें, जिसका नासाभंग और स्वरभंग हो जाये, जिसके दंशस्थान पर रक्तिमायुक्त कृष्णवर्ण का शोथ हो और जिसका हनुस्तम्भ (Lock-jaw) हो जाये उसे भी असाध्य समझना चाहिये । जिसके मुख से मोटी बत्ती सी लार निकले, जिसके निम्न (गुदा आदि) और ऊर्ध्व (नासा आदि) दोनों मार्गों से रक्त का स्राव हो और जिसमें चार दंष्ट्राओं के चिह्न हों उसकी भी चिकित्सा वैद्य को न करनी चाहिये । जो उन्मत्त हो, जिसमें अत्यधिक उपद्रव हों, जिसका स्वर हीन हो गया हो, जिसका वर्ण विकृत हो गया हो, जिसमें अरिष्ट लक्षण दिखाई पड़ें एवं जिसको किसी प्रकार (मल, मूत्र) का वेग या गमन आदि की शक्ति न हो उस व्यक्ति की भी चिकित्सा न करनी चाहिये ॥ २१-२४ ॥

इदानीं सर्वथा वर्जनीयानाह—शस्त्रक्षत इत्यादि । राज्यो लताभिश्चेति राज्यो लेखाः लताभिस्ताडनान्न भवन्ति । तदुक्तमालम्बायने-'नैति रक्तं क्षताद्यस्य लताघातैर्न राजिकाः । न लोमहर्षः शीताद्भिर्वर्जयेत्तं विषार्दितम् ॥' इति । जिह्मं वक्रं, स्तब्धमिति कार्तिकः । केशशात इति कर्षणात् केशोत्पाटः । कण्ठभङ्गो ग्रीवाया अविधारणम् । हन्वोः स्थिरत्वं हनुद्वयस्य लग्नत्वम् । वर्तिर्घनेति लालारूपा वर्तिः । रक्तं स्रवेदूर्ध्वमधश्च यस्येति मुखनासागुदादिभ्यः शोणितस्रावः । दंष्ट्रानिपाताश्चतुरश्चेति चत्वार इति प्राप्ते चतुर इति निर्देश आगमविधेरनित्यत्वात्, यथा 'अग्रतश्चतुरो वेदा' इत्यादि । उन्मत्तमत्यर्थमुपद्रुतमिति उन्मत्तमत्यर्थमुन्मादवन्तम्, उपद्रुतं ज्वरातिसारादिभिरत्यर्थमुपद्रुतम् । हीनस्वरं वक्तुमसमर्थम् । विवर्णं कृष्णवर्णम् । सारिष्टं नासाभङ्गादियुक्तम् । अवेगिनं गमनादिवेगरहितं, विण्मूत्रादिवेगरहितमिति कार्तिकः ॥ २१-२४ ॥

विमर्श—विष प्रभाव से स्कन्दन (Coagulation) हो जाने के कारण काटने पर भी रक्तस्राव नहीं होता । रोगी में सर्वप्रकार की प्रत्यावर्तन क्रियायें (Reflex actions) नष्ट हो जाती हैं । अतः ठण्डे पानी के छिड़कने से भी रोमहर्ष नहीं होता ।

दंष्ट्रानिपाताश्चतुरः—सर्प की चार दंष्ट्रायें शास्त्र में बताई गई हैं—

सर्पदंष्ट्राश्चतस्रस्तु तासां वामाधराऽसिता । पीता वामोत्तरा दंष्ट्रा रक्तश्यावाऽधरोत्तरा ।

इन चार दंष्ट्राओं में ही विष रहता है । सर्प यदि चारों दंष्ट्राओं को लगाता है तो शरीर में विष की अधिक मात्रा प्रविष्ट होती है । अत एव इसे असाध्य माना गया है ।

दूषीविषं वर्णयति—

जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषितं वा ॥ २५ ॥
स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं हि दूषीविषतामुपैति । (सु. क. २)

पुराना अथवा विषघ्न ओषधियों के प्रभाव से प्रभावरहित किया हुआ, वनाग्नि, अथवा धूप से सूखा हुआ अथवा स्वभाव से ही गुणहीन विष दूषीविष बन जाता है ॥ २५ ॥

स्थावरजङ्गमविषमेव जीर्णत्वादिभिर्विशेषैर्दूषीविषसंज्ञां लभते; तदाह—जीर्णमित्यादि ।

---

१. 'अनघायनेऽप्युक्तम्' क. । २. 'प्रथमादिवेगरहितम्' क. ।

विषघ्नौषधिभिरिति अगदादिभिः । दावाग्निवातातपशोषितं वेति दावाग्निर्वनाग्निः । स्वभावतो वा गुणविप्रहीनमिति स्वभावादेव किमपि विषं व्यवायिविकासिप्रभृतिषु दशसु गुणेषु मध्ये एकद्वित्र्यादिगुणहीनं यदि भवति तदा दूषीविषतामुपैति ॥ २५ ॥

गुणहीनस्य तस्य लक्षणान्याह—

वीर्याल्पभावान्न निपातयेत्तत् कफान्वितं वर्षगणानुबन्धि ॥ २६ ॥
तेनार्दितो भिन्नपुरीषवर्णो वैगन्ध्यवैरस्ययुतः पिपासी । (सु. क. २)
मूर्च्छां भ्रमं गद्गदवाग्वमिं च विचेष्टमानोऽरतिमाप्नुयाद्वा ॥ २७ ॥

शक्ति की कमी और कफ युक्त होने के कारण वह विष प्राणघातक नहीं होता। तथा पाक न होने से वर्षों तक शरीर में बना रहता है। इससे पीड़ित रोगी अतिसार, विवर्णता, विकृत गन्ध, मुखवैरस्य, प्यास, मूर्च्छा, भ्रम, गद्गद्वाक्यता (हकलापन), वमन, विरुद्धचेष्टा और अरति से पीड़ित रहता है ॥ २६-२७ ॥

गुणहीनतामेव कार्येण दर्शयति—वीर्याल्पभावादित्यादि। न निपातयेदिति न मारयति सद्यश्चिरेण वा। कफान्वितमिति कफान्वितं सत् मन्दीभूतौष्ण्यादिगुणं न मारयति। वर्षगणानुबन्धीति अपाकाच्चिरस्थायि। तेनार्दितो भिन्नपुरीषवर्ण इति तेन दूषीविशेणार्दितो[1] भिन्नशब्दोऽत्र पुरीषवर्णाभ्यां प्रत्येकमभिसंबध्यते, भिन्नवर्णो विवर्णः। वैगन्ध्यवैरस्ययुत इति विरुद्धगन्धमुखवैरस्ययुक्तः। विचेष्टमानो विरुद्धां चेष्टां कुर्वन्, अरतिमसुखं लभते॥

विमर्श—दूषीविष को आधुनिक दृष्टि से जीर्णविषता (Chronic poisoning) कह सकते हैं।

स्थानविशेषेण दूषीविषस्य विशिष्टलक्षणान्याह—

आमाशयस्थे कफवातरोगी पक्वाशयस्थेऽनिलपित्तरोगी । (सु. क. २)
भवेत् समुद्ध्वस्तशिरोरुहाङ्गो विलूनपक्षस्तु यथा विहङ्गः ॥ २८ ॥

दूषीविष यदि आमाशय में स्थित हैं तो (कफावृत वात से) कफवातज रोग की उत्पत्ति होती है। यदि यह विष पक्वाशय में रहे तो रोगी वात-पित्तजन्य व्याधि से पीड़ित रहता है तथा सिर के बाल और शरीर के रोम गिर जाने से रोगी पंख कटे हुए पक्षी के समान दिखाई देता है ॥ २८ ॥

स्थानविशेषेण विशिष्टलिङ्गमाह—आमाशयस्थ इत्यादि। कफावृतत्वेन वातकोप आमाशये, तेन कफवातरोगीत्युक्तम्। अनिलपित्तरोगीति पक्वाशये दुष्टवातसंबन्धेन प्रत्यासन्नस्याशयस्थस्य पित्तस्य कोपः। भवेत् समुद्ध्वस्तशिरोरुहाङ्ग इति अत्राङ्गशब्दात् परं रुहशब्दो द्रष्टव्यः, तेनायमर्थः—समुद्ध्वस्तशिरोरुहाङ्गः, शिरोरुहाः केशाः, अङ्गरुहं लोम, तदुक्तमालम्बायने-सीदन्ति केशलोमानि तस्मिन् पक्वाशयं गते' इत्यादि। विलूनपक्षस्तु यथा विहङ्ग इति मुण्डितपक्षशकुनिसदृशः, एतत् पक्वाशयगतस्यैव लिङ्गम् ॥ २८ ॥

रसादिधातुगतदूषीविषस्य लक्षणानि व्याचष्टे—

स्थितं रसादिष्वथवा यथोक्तान् करोति धातुप्रभवान् विकारान् ।
कोपं च शीतानिलदुर्दिनेषु यात्याशु, पूर्वं शृणु तस्य रूपम् ॥ २९ ॥
(सु, क. २)

---

१. 'गररूपेण पीडितः' क. ।

रस रक्त आदि धातुओं में स्थित दूषीविष धातुओं में होने वाले (सुश्रुत के व्याधिसमुद्देशीय अध्याय (सू० अ० १४) में बताये गये अन्न में अश्रद्धा अरुचि आदि) लक्षणों को उत्पन्न करता है। ठण्डी वायु और दुर्दिन में (आकाश में बादल होने पर) इसका शीघ्र प्रकोप होता है। उसके पूर्वरूपों का आगे वर्णन किया जाता है ॥ २९ ॥

तस्य रसादिधातुगतस्य लिङ्गमाह—स्थितं रसादिष्वित्यादि। यथोक्तान् करोति धातुप्रभवान् विकारानिति सुश्रुते व्याधिसमुद्देशीयाध्यायोक्तानन्नाश्रद्धादीन् करोति; कोपं च शीतानिलदुर्दिनेषु यातीति कफसंबन्धाच्छीतादौ काले कोपं याति। पूर्वं शृणु तस्य रूपमिति पूर्वरूपं शृण्वित्यर्थः ॥ २९ ॥

तस्यैव पूर्वरूपाणि रूपाणि च निरूपयति—

निद्रा गुरुत्वं च विजृम्भणं च विश्लेषहर्षावथवाऽङ्गमर्दम्।
ततः करोत्यन्नमदाविपाकावरोचकं मण्डलकोठजन्म ॥ ३० ॥
मांसक्षयं पादकरप्रशोथं मूर्च्छां तथा छर्दिमथातिसारम्। (सु. क. २)
दूषीविषं श्वासतृषाज्वरांश्च कुर्यात् प्रवृद्धिं जठरस्य चापि ॥ ३१ ॥

दूषीविष पूर्वरूपावस्था में निद्रा, भारीपन, जम्भाई अधिक आना, शरीर में शिथिलता, रोमहर्ष एवं अङ्गमर्द को उत्पन्न करता है बाद में (रूपावस्था में) अन्नमद (भोजन के बाद नशा जैसी स्थिति होना), अन्न का न पचना, अरुचि, त्वचा पर मण्डल और चकत्तों की उत्पत्ति, मांसक्षय, हाथ पैरों में सूजन, मूर्च्छा, वमन, अतिसार, श्वासकृच्छ्रता, प्यास, ज्वर तथा उदर की वृद्धि करता है ॥ ३०–३१ ॥

तदेवाह—निद्रेत्यादि। विश्लेषहर्षाविति विश्लेषो गात्रस्य शैथिल्यं, हर्षो रोमहर्षः। एतानि वातकफजानि लिङ्गानि। तत इति पूर्वरूपादनन्तरम्। अन्नमदाविपाकाविति अन्नमदः अन्ने भुक्ते मदो हर्षः अन्नमदः, कार्तिकस्त्वन्नविक्षेपणमन्नमदमाह, अन्नमदो रसाजीर्णमिति गदाधरः अविपाकोऽन्नस्यापाकः। पादकरप्रशोथमिति पादे करे च प्रकृष्टं शोथं करोति। 'मूर्च्छां तथा छर्दिमथातिसारम्' इत्यस्य स्थाने 'प्रलेपकं छर्दिम्' इत्यादि पाठान्तरे प्रलेपकं स्वेदप्रवृत्त्या पिच्छिलं गात्रं, ज्वरविशेषं वा[1] ॥ ३०–३१ ॥

दूषीविषस्य नानाविकारकारित्वं व्याचष्टे—

उन्मादमन्यज्जनयेत्तथाऽन्यदानाहमन्यत्क्षपयेच्च शुक्रम्। (सु. क. २)
गाद्गद्यमन्यज्जनयेच्च कुष्ठं तांस्तान्विकारांश्च बहुप्रकारान् ॥ ३२ ॥

कुछ दूषीविष उन्माद कुछ आनाह, कुछ शुक्रक्षय, कुछ गद्गद्ता (हकलापन), कुछ कुष्ठ तथा दूसरे विविध प्रकार के अनेक (विसर्प, विस्फोट आदि) विकारों को उत्पन्न करते हैं ॥ ३२ ॥

तदेव नानाप्रकारं यद्यत्करोति तत्तदाह—उन्मादमन्यदित्यादि। क्षपयेच्च शुक्रमिति षाण्ढ्यं करोतीत्यर्थः। तांस्तानिति विसर्पविस्फोटकादीन् ॥ ३२ ॥

दूषीविषस्य निरुक्तिमाह—

दूषितं देशकालान्नदिवास्वप्नैरभीक्ष्णशः।
यस्मात् संदूषयेद्धातूँस्तस्माद् दूषीविषं स्मृतम् ॥ ३३ ॥

---

१. 'प्रलेपकत्वेन स्वेदाप्रवृत्त्या गात्रलिप्तत्वं क.।

देश, काल, अन्न और दिन में सोने के प्रभाव से प्रकुपित होकर यह धातुओं को बार बार दूषित करता रहता है अतः इसे दूषीविष कहते हैं ॥ ३३ ॥

दूषीविषस्य साध्यासाध्यतां विवेचयति—

साध्यमात्मवतः सद्यो याप्यं संवत्सरोत्थितम् । (सु. क. २)
दूषीविषमसाध्यं स्यात् क्षीणस्याहितसेविनः ॥ ३४ ॥

संयमी व्यक्ति में उत्पन्न हुआ अल्पकालीन दूषीविष साध्य होता है। एक वर्ष पुराना होने पर याप्य और क्षीण एवं अपथ्यसेवी व्यक्ति का दूषीविष असाध्य होता है ॥ ३४ ॥

दूषीविषस्य निरुक्तिमाह—दूषितमित्यादि । देशकालान्नदिवास्वप्नैरिति देशः प्रचुरानिलशीतवृष्टिरनूपादिः, कालः शीतानिलदुर्दिनादिः, अन्नं सुरातिलकुलत्थादि, तैर्दूषितं कोपितम्, अभीक्ष्णशः पुनः पुनः। धातुदूषकत्वेन दूषीविषम्। संयोगजं विषं द्विविधम्; एकं सविषाविषसंयोगकृतं कृत्रिमसंज्ञम्, अपरं निर्विषद्रव्यकृतं गरसंज्ञम् । यदाह वृद्धकाश्यपः— 'संयोगजं च द्विविधं तृतीयं विषमुच्यते। गरः स्यादविषं तत्र सविषं कृत्रिमं मतम् ॥' इति । अत एव रसायने चरकः—'दंष्ट्राविषे शूलविषे सगरे कृत्रिमे विषे ।'—इति ॥ ३३-३४ ॥

विमर्श—देश से अधिक वायु, शीत और वृष्टि युक्त आनूप देश समझना चाहिये । काल से ठण्डी वायु और दुर्दिन वाला काल लिया जाता है। अन्न में शराब, तिल, कुलथी आदि द्रव्य समझने चाहिये ।

पूर्वोक्त स्थावर और जङ्गम विषों के अतिरिक्त एक तीसरा संयोगज विष भी होता है उसका भी समावेश दूषीविष में ही हो जाता है। संयोगज विष दो प्रकार के होते हैं—(१) कृत्रिम—यह सविष और निर्विष पदार्थों के संयोग से बनता है। **गर**—यह दो निर्विष पदार्थों के संयोग से बनता है । काश्यप ने कहा भी है—

संयोगजं च द्विविधं तृतीयं विषमुच्यते । गरः स्यादविषं तत्र सविषं कृत्रिमं मतम् ॥

गरविषजुष्टस्य लक्षणान्याह—

सौभाग्यार्थं स्त्रियः स्वेदं रजो नानाङ्गजान् मलान् ।
शत्रुप्रयुक्तांश्च गरान् प्रयच्छन्त्यन्नमिश्रितान् ॥ ३५ ॥
तैः स्यात् पाण्डुः कृशोऽल्पाग्निर्गरश्चास्योपजायते ।
मर्मप्रधमनाध्मानं हस्तयोः शोथलक्षणम् ॥ ३६ ॥
जठरं ग्रहणीदोषो यक्ष्मा गुल्मः क्षयो ज्वरः ।
एवंविधस्य चान्यस्य व्याधेर्लिङ्गानि दर्शयेत् ॥ ३७ ॥

कुछ स्त्रियाँ सौभाग्य की प्राप्ति (वशीकरण) के निमित्त स्वेद, रज, विविध अंगों से उत्पन्न मलों तथा शत्रुओं द्वारा प्रयुक्त गर या संयोगज विषों को अन्न में मिलाकर दे देती हैं। इससे वह व्यक्ति पाण्डुवर्ण का, कृश और मन्दाग्नि से पीडित हो जाता है। इन चीजों से उसके शरीर में गरविष की उत्पत्ति हो जाती है। इसमें मर्मव्यथा, आध्मान, हाथों में शोथ के लक्षण, उदररोग, ग्रहणीरोग, यक्ष्मा, गुल्म, क्षय, ज्वर तथा इसी प्रकार की अन्य व्याधि के लक्षण भी प्रकट होते हैं ॥

१. 'कृत्रिमं' क. । २. 'प्रयच्छन्त्यन्नमाश्रितान्' क. ।

तद् द्वयमपि दर्शयितुमाह – सौभाग्यार्थमित्यादि। स्त्रियः सौभाग्यार्थं शत्रुप्रयुक्ता वा सविषजन्तूनां स्वेदं,रजश्चूर्णं, नानाङ्गजान् नानागरकरान् मलान्; अन्नादौ ददति। तैरिति स्वेदरजःप्रभृतिभिः। गरश्चास्येति अपाकाजठरावस्थितस्वेदादिरेव गरः अत एव तस्योदरामयः; किंवा वक्ष्यमाणमर्मप्रधमनादिलक्षणो व्याधिर्गरः। मर्मप्रधमनं मर्मण्यथा। शोथलक्षणमिति शोथ एव लक्षणं, जठरमुदरम्। अन्यस्य व्याधेर्लिङ्गानि दर्शयेदिति अन्यस्य विस्फोटादेर्लिङ्गं दर्शयति ॥ ३५-३७ ॥

विमर्श—स्त्रियाँ पति या प्रेमी के वशीकरण के लिए अपना स्वेद, रज आदि खिला देती हैं। इसके अतिरिक्त कभी कभी वे शत्रुओं से मिलकर उनके द्वारा दिये हुए गरविष का भी प्रयोग लोगों पर कर देती हैं। जिससे मन्दविष के चिरकालीन प्रभावस्वरूप अनेक विकार उत्पन्न होते हैं।

लूताविषवर्णनावसरे प्रथमं तस्या निरुक्तिमाह—

यस्माल्लूनं तृणं प्राप्ता मुनेः प्रस्वेदबिन्दवः। (सु. क. २)
तस्माल्लूतास्तु भाष्यन्ते संख्यया ताश्च षोडश ॥ ३८ ॥

चूँकि क्रुद्ध महर्षि वसिष्ठ के स्वेदबिन्दु कटे हुए (लून) तृण पर पड़ गये (उसीसे इनकी उत्पत्ति हुई) इसलिये उन्हें लूता कहते हैं। इसके सोलह भेद होते हैं ॥ ३८ ॥

संप्रति लूतानां घोरविषत्वप्रतिपादनार्थमैतिह्यमाह—यस्माल्लूनं तृणमित्यादि। इति किल श्रुतिः—'विश्वामित्रो नरपतिः कामधेनोर्बलात्कारग्रहेण मुनिसत्तमं वशिष्ठं कोपयांचकार, कुपितेन तेनान्तर्ज्वलदविरलकोपानलज्वलितं कुकूलयुगलमिव बहलपाटलं लोचनद्वयं वहता भगवान् रविरवलोकितः। ततस्तस्य भ्रुकुटिभयङ्करललाटतटप्रस्यन्दी स्वेदबिन्दुस्करः प्रचण्डतरः प्रत्यासन्नलूनतृणे धेन्वर्थं संभृते निपतितो लूताऽभूत्'-इति। तास्तु षोडश। यदाह सुश्रुतः—'त्रिमण्डला तथा श्वेता कपिला पीतका तथा। लालामूत्रविषा रक्ता कठिना चाष्टमी स्मृता॥ सौवर्णिका लाजवर्णा जालिन्येकपदी तथा। कृष्णाग्निवक्त्रा काण्डा च मालागुण्यष्टमी मता॥' (सु. क. ८) इति ॥ ३८ ॥

विमर्श—इस प्रकार की एक पौराणिक कथा है कि प्राचीनकाल में जब राजा विश्वामित्र महर्षि वसिष्ठ की प्रिय गाय कामधेनु की पुत्री नन्दिनी को बलपूर्वक छीनने लगे तो मुनि वशिष्ठ को क्रोध आ गया। क्रोध से उनके मस्तक पर पसीना आ गया। उसकी कुछ बूँदें समीप में पड़े हुए कटे तिनकों पर भी पड़ गयीं। इससे ही एक सविष जीव विशेष की उत्पत्ति हो गई। लून या कटे हुए तृण से उत्पत्ति के कारण इसे लूता कहने लगे। यह एक रोचक कथानक अवश्य प्रतीत होता है किन्तु इसका वास्तविक रहस्य क्या है यह कहना दुष्कर है। कुछ विद्वानों ने इसकी व्युत्पत्ति का भिन्न प्रकार से ही वर्णन किया है—

अन्ये वदन्ति भुक्तस्य दुष्टस्यान्नस्य मूर्च्छनात्। संभवन्ति हि विस्फोटा ये लूताकीटलक्षणाः।
यथास्वं धारयन्तस्ते लूताकीटास्तु कीर्तिताः॥

वस्तुतः इस व्युत्पत्ति में सार दिखाई देता है। सुश्रुत ने मकड़ियों के सोलह भेद बताये हैं। उनके नामों को मधुकोश में देखें।

लूतानां सामान्यदंशलक्षणमाह—

ताभिर्दष्टे दंशकोथः प्रवृत्तिः क्षतजस्य च।
ज्वरो दाहोऽतिसारश्च गदाः स्युश्च त्रिदोषजाः ॥ ३९ ॥
पिडका विविधाकारा मण्डलानि महान्ति च।

शोथा महान्तो मृदवो रक्ताः श्यावाश्चलास्तथा ॥ ४० ॥
सामान्यं सर्वलूतानामेतद्दंशस्य लक्षणम् । (सु. क. २)

उनके दंश से दंशस्थान पर कोथ, रक्तस्राव, ज्वर, जलन, अतिसार तथा अन्य त्रिदोषज रोग उत्पन्न हो जाते हैं। विविध आकार की पिडकायें, बड़े बड़े चकत्ते, मृदु, या श्याववर्ण शोथ उत्पन्न हो जाते हैं। ये शोथ विसर्पी (फैलने वाले) होते हैं। सब मकड़ियों के दंश के ये सामान्य लक्षण हैं ॥ ३९-४० ॥

तासां सामान्यदंशलक्षणमाह—ताभिर्दष्ट इत्यादि। दंशकोथ इति दंशदेशे पूतिभाव इत्यर्थः। प्रवृत्तिः क्षतजस्येति रक्तस्य प्रवर्तनम्। सर्वलूतानामिति असाध्याष्टविधसौवर्णिकादिलूतानामेव सामान्यलक्षणं ज्ञेयम्। यतस्त्रिमण्डलादीनामष्टानां कृच्छ्रसाध्यत्वं, ताभिर्दष्टे शिरोदुःखमित्यादिना सामान्यलक्षणमभिधाय सौवर्णिकाद्यनन्तरमेतत् पठितवान् सुश्रुतः। माधवकरेण तु षोडशानां सामान्यलक्षणमेतदित्यभिप्रायेण पठितमिति ॥ ३९-४० ॥

विमर्श—मकड़ी को अंग्रेजी में स्पाइडर (Spider) कहते हैं। इससे एक सौम्यस्वरूप का विष निकलता है जो छोटे-छोटे जन्तुओं को मार डालता है, किन्तु मनुष्यों में उसका प्रभाव बहुत साधारण होता है। इसकी एक जाति और होती है जिसे लैट्रोडैक्टस (Latrodectus) कहते हैं। इससे अतितीव्र विष निकलता है, जिसके कारण तीव्र पीडा, स्थानीय शोथ, शोफ (Oedoma), कभी-कभी कोथ (Gangrene), रक्तमूत्रता (Haematuria) तथा नाडीसंस्थान की विकृति के लक्षण प्रकट होते हैं। इससे दंशस्थान पर संज्ञानाश हो जाता है। कभी-कभी श्वसनसंस्थानीय लक्षण तथा धनुर्वातिक पेशी-संकोच के लक्षण भी दिखाई पड़ते हैं। इसमें अन्य पूयजनक जीवाणु का उपसर्ग भी हो सकता है। उस अवस्था में ज्वर अधिक तीव्र हो जाता है।

त्रिमण्डलाद्यष्टानां दूषीविषाणां लक्षणमाह—

दंशमध्ये तु यत् कृष्णं श्यावं वा जालकाचितम् ॥ ४१ ॥
ऊर्ध्वाकृति भृशं पाकं क्लेदशोथज्वरान्वितम्। (च. चि. २५)
दूषीविषाभिर्लूताभिस्तद्दष्टमिति निर्दिशेत् ॥ ४२ ॥

दंशस्थान के मध्य में जो काला व श्याववर्ण का, जालवत् रचना से युक्त, ऊपर से उठा हुआ, या जले हुए के समान क्लिन्नता, शोथ तथा ज्वर से युक्त बहुत बड़ा पाक होता है उसे दूषीविष श्रेणी की मकड़ियों से दंष्ट (काटा हुआ) समझना चाहिये ॥ ४२ ॥

त्रिमण्डलादयोऽष्टौ दूषीविषास्तासां लक्षणमाह—दंशमध्ये त्वित्यादि। ऊर्ध्वाकृतीति ऊर्ध्वगस्वरूपम्, अन्ये 'दग्धाकृति' इति पठन्ति, तद्व्यक्तार्थम्। दूषीविषाभिरिति कालान्तरप्रकोपिविषाभिः। दष्टमिति दंशम् ॥ ४१-४२ ॥

सौवर्णिकादीनां लूतानां सामान्यलक्षणं प्राह—

शोथः[1] श्वेताः सिता रक्ताः पीता वा पिडका ज्वरः[2]।
प्राणान्तिकाश्च[4] जायन्ते श्वासहिक्काशिरोग्रहाः[3] ॥ ४३ ॥
(च. चि. २५)

---

१. 'शोथाः' क.। २. 'सपिडकाज्वराः' क.। ३. सर्पाणामेव विण्मूत्रकीटाः स्युः कीटजास्तु ताः। दूषीविषाः प्राणहरा इति संक्षेपतो मताः ॥ इति. ख.। ४. 'प्राणान्तिकाभिः' क.।

सौवर्णिक आदि आठ प्रकार की मकड़ियों के विष से शोथ, सफेद, लाल व पीले वर्ण की पिडकायें, ज्वर, श्वास, हिचकी और सिर में जकड़ाहट ये लक्षण होते हैं। ये मकड़ियाँ प्राणघातक होती हैं ॥ ४३ ॥

सौवर्णिकादीनामष्टानामसाध्यानां प्राणहराणां सामान्यलक्षणमाह—शोथ इत्यादि। प्राणान्तिका इति प्राणहराः ॥ ४३ ॥

मूषिकदूषीविषलक्षणमाह—

आदंशाच्छोणितं पाण्डुमण्डलानि ज्वरोऽरुचिः।
लोमहर्षश्च दाहश्चाप्याखुदूषीविषार्दिते ॥ ४४ ॥ (च. चि. २५)

मूषिक के दूषीविष से पीडित रोगी में दंशस्थान से रक्तस्राव प्रारम्भ हो जाता है। उसमें पाण्डुवर्ण के चकत्ते, ज्वर, अरुचि, रोमहर्ष तथा जलन के लक्षण होते हैं ॥ ४४ ॥

आखुदूषीविषलक्षणमाह—आदंशादित्यादि। आदंशाच्छोणितमित्यत्र 'गलति' इति शेषः। आखवः शुक्रविषाः। यदुक्तं—'शुक्रं पतति यत्रैषां शुक्रस्पृष्टैः, स्पृशन्ति यत्।' (सु. क.) **इति ॥ ४४ ॥**

विमर्श—चूहों के शुक्र में विष रहता है। वह जहाँ गिरता है वहीं विकार प्रारम्भ हो जाते हैं—**'शुक्रं पतति यत्रैषां शुक्रस्पृष्टैः स्पृशन्ति यत्'** आजकल इस रोग को मूषिकदंश ज्वर (Rat Bite fever) कहते हैं। स्पाइरिलम माइनस (Spirillum Minus) नामक चूहे के काटने से इस रोग की उत्पत्ति होती है। यह रोग चीन, जापान और आस्ट्रेलिया में पाया जाता है। कभी-कभी भारतवर्ष में भी इसके रोगी मिल जाते हैं। काटने के दो से छः सप्ताह के अन्दर लक्षण प्रारम्भ हो जाते हैं। शीतपूर्व ज्वर, मिचली, वमन, शाखाओं में (विशेषतया दंशस्थान पर) पीड़ा होता है। समीपस्थ लसग्रन्थियाँ सूज जाती हैं। मुख, शाखा तथा धड़ पर शीत-पित्त के समान चकत्ते भी कभी-कभी पड़ जाते हैं ज्वर धीरे-धीरे बढ़कर १०३° हो जाता है। चार-पाँच दिन में यह उतर जाता है। एक दिन रुक कर पुनः इसकी पुनरावृत्ति होती है। दंश के स्थानीय लक्षण, पुनरावर्तक ज्वर, लसग्रन्थिवृद्धि, श्वेतकायाणुमयता (Leucocytosis) तथा उपसिप्रिय की वृद्धि (Eosinophillia) से इस रोग का विनिश्चय किया जा सकता है।

प्राणहरमूषिकदंशं लक्षयति—

मूर्च्छाङ्गशोथवैवर्ण्यक्लेदशब्दाश्रुतिज्वराः। (च. चि. २५)
शिरोगुरुत्वं लालासृक्छर्दिश्चासाध्यमूषिकैः ॥ ४५ ॥

असाध्य मूषिकों के काटने से मूर्च्छा, अङ्गों में शोथ, विवर्णता (Discolouration), गीलापन, बधिरता, ज्वर, सिर में भारीपन, लालास्राव तथा रक्तवमन ये लक्षण होते हैं ॥ ४५ ॥

प्राणहरमूषिकलक्षणमाह—मूर्च्छेत्यादि। अङ्गशोथेति मूषिकाकार एवाङ्गशोथो ज्ञेयः। यदुक्तमन्यत्र—'चीयते ग्रन्थिभिश्चाङ्गमाखुशावकसन्निभैः।' (सु. क. ७) **इति। शब्दाश्रुतिः बाधिर्यम्, अन्ये 'मन्दारुचिः' इति पठन्ति। असाध्यमूषिकैः मारणात्मकैः ॥ ४५ ॥**

विमर्श—मूषिक के १८ भेद और प्रत्येक के दंश या विष के लक्षण सुश्रुत संहिता कल्पस्थान अ० ७ और अष्टाङ्गहृदय उत्तर तन्त्र अ० ३८ में देखें।

कृकलासदष्टलक्षणं व्याचष्टे—

कार्ष्ण्यं श्यावत्वमथवा नानावर्णत्वमेव वा। (च. चि. १३)

मोहोऽथ वर्चसो भेदो दष्टे स्यात् कृकलासकैः ॥ ४६ ॥

गिरगिट के द्वारा काट लेने पर दंशस्थान का वर्ण काला, श्याव या विचित्र हो सकता है। रोगी मूर्च्छा और अतिसार से पीडित रहता है ॥ ४६ ॥

कृकलासदष्टलिङ्गमाह—कार्ष्ण्यमित्यादि। वर्चसो भेदोऽतिसारः ॥ ४६ ॥

वृश्चिकविषस्य लक्षणान्याह—

दहत्यग्निरिवादौ च भिनत्तीवोर्ध्वमाशु च।
वृश्चिकस्य विषं याति दंशे पश्चात्तु तिष्ठति ॥ ४७ ॥ (च. चि. २३)

बिच्छू के दंश या डंक मारने पर प्रारम्भ में (दंशस्थान पर) अग्नि के समान दाह एवं भेदन के समान पीडा होती है। इसके बाद बिच्छू का विष शीघ्र ही ऊपर को चढ़ता है और कुछ देर बाद वह पुनः दंशस्थान में स्थिर हो जाता है ॥ ४७ ॥

वृश्चिकदंशस्यासाध्यतां निरूपयति—

दष्टोऽसाध्यश्च हृद्घ्राणरसनोपहतो नरः। (च. चि. २५)
मांसैः पतद्भिरत्यर्थं वेदनार्तो जहात्यसून् ॥ ४८ ॥

बिच्छू के दंश से जिस मनुष्य के हृदय, नासिका एवं जिह्वा में विकार हो गया हो वह असाध्य होता है। इसके अतिरिक्त बिच्छू के काटने से जिसका मांस गल कर गिरने लगे एवं अत्यधिक वेदना हो वह भी शीघ्र ही प्राण त्याग कर देता है ॥ ४८ ॥

वृश्चिकविषलिङ्गमाह—दहत्यग्निरिवेत्यादि। वृश्चिकः स्वनामख्यातः, स च आरविषः। दष्टोऽसाध्यश्च। हृद्घ्राणरसनोपहतो नर इति यदा हृदयनासाजिह्वोपघातो भवति तदा तद्दष्टो न साध्यः। मांसैः पतद्भिरत्यर्थं वेदनार्तो जहात्यसूनित्यादिनाऽयमपरोऽसाध्यप्रकारः। 'दष्टोऽसाध्यैस्तु' इति पाठपक्षेऽसाध्यैः सद्यःप्राणहरैर्वृश्चिकैर्दष्टो यथोक्तलिङ्गो भवति। चरकेऽप्ययमेव पाठः ॥ ४७–४८ ॥

विमर्श—बिच्छू भी एक विषैला प्राणी है। इसकी भी अनेक जातियाँ पाई जाती हैं। कुछ जातियों के दंश से रोगी को कष्ट तो पर्याप्त होता है किन्तु मृत्यु का भय नहीं रहता। इनके विष को केवल रुजाकर कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ बिच्छू इस प्रकार के भी पाये जाते हैं। जिनके डंक मारते ही शरीर का मांस गलकर गिरने लगता है और रोगी की मृत्यु हो जाती है। इन्हें मारक या सद्योमारक की कोटि में रखा जा सकता है। बिच्छू के काटने पर दंशस्थान से कुछ ऊपर अंगों में कई बन्ध लगा दिये जाते हैं जिससे विष का प्रसार ऊपर की ओर न हो। सर्प-विष के समान इसका भी ऊर्ध्वगमन का स्वभाव होता है। इन दोनों में एक सबसे बड़ा अन्तर यह है कि सर्पदंश में पीडा नहीं होती और इसमें पीडा की पराकाष्ठा हो जाती है। इसी आधार पर लोक में एक कहावत भी है—'साँप का काटा सोवे, बिच्छू का काटा रोवे'। सर्पदंश में निद्रा, तन्द्रा मुख्य लक्षण है।

वृश्चिक-विष का विशेष प्रभाव नाडीमण्डल पर होता है। तीव्र विष में अन्य स्थानों के दंश होने पर भी मस्तिष्क और नाडियों के द्वारा हृदय, नासिका, जिह्वा आदि अंगों में भी कम्प, स्तम्भ आदि विकार हो सकते हैं और यह स्थिति प्रायः घातक होती है। इसी आधार पर कुछ

१. 'स्याच्च कृकण्टकैः' इति पाठाभिप्रायेण।

लोग इस श्लोक में **'दष्टोऽसाध्यैः'** यह पाठान्तर मानते हैं और इसे तीव्र विष वाले असाध्य वृश्चिक के दंश का लक्षण मानते हैं।

बिच्छू के पुच्छ प्रान्त में दो विष-गर्भ ग्रन्थियाँ रहती हैं। डंक मारने से इनका विष दंश-स्थान से प्रविष्ट हो जाता है। इसके कारण दंशस्थान पर तीव्र पीडा रहती है। सार्वदैहिक लक्षणों में ज्वर होकर तीन से छः दिन तक रह सकता है, उदर में भयङ्कर शूल, वमन एवं अतिसार होते हैं। नाडीमण्डल के प्रभावित हो जाने पर सर्वाङ्ग में स्वेदप्रवृत्ति एवं पेशियों में उद्वेष्टन (Cramps) होते हैं। उद्वेष्टन अधिकतर गले और जबड़े की पेशियों में पाये जाते हैं। यदि विष बहुत ही तीव्र है तो आगे चलकर पक्षाघात, श्वासावरोध तथा संन्यास के उपरान्त मृत्यु हो जाती है। छोटे बच्चों में वृश्चिक दंश की मारकता अधिक पाई जाती है।

कणभदष्टलिङ्गमाह—

विसर्पः श्वयथुः शूलं ज्वरश्छर्दिरथापि च ।
लक्षणं कणभैर्दष्टे दंशश्चैवावसीदति[1] ॥ ४९ ॥ (च. चि. २३)

कणभ नामक विशेष कीड़े के काटने पर विसर्प, शोथ, शूल, ज्वर एवं वमन ये लक्षण होते हैं। इसके अतिरिक्त दंशस्थान कटकर गिरने लगता है ॥ ४९ ॥

कणभदष्टलिङ्गमाह—विसर्प इत्यादि । कणभः कीटविशेषः ॥ ४९ ॥

विमर्श—सुश्रुत ने १८ वातिक, २४ पत्तिक, १३ श्लष्मिक और १२ सान्निपातिक सविष क्रिमियों का वर्णन किया है। कणभ पैत्तिक और उच्चिटिङ्ग वातिक कीटों में से एक है। कीटों का विशेष वर्णन सुश्रुतसंहिता के कीटकल्पाध्याय में देखें। कणभ को कुछ लोग वृश्चिक और कुछ कृकलास का भेद (विषखोपडा) मानते हैं किन्तु इसका विष लोक में असाध्य माना जाता है श्री गंगाधर जी इसे भ्रमर विशेष मानते हैं।

उच्चिटिङ्गदष्टस्य लक्षणानि व्याचष्टे—

हृष्टलोमोच्चिटिङ्गेन स्तब्धलिङ्गो भृशार्तिमान् ।
दष्टः शीतोदकेनेव सिक्तान्यङ्गानि मन्यते ॥५०॥ (च. चि. २३)

उच्चिटिङ्ग (वृश्चिक-भेद) नामक कीट के काटने पर रोम खड़े हो जाते हैं, शिश्नोत्थापन हो जाता है, एवं अत्यधिक पीड़ा का अनुभव होता है। रोगी को ऐसी प्रतीति होती है मानो उसके सम्पूर्ण अङ्ग शीतल जल से सिंचित है ॥ ५० ॥

उच्चिटिङ्गदष्टमाह-हृष्टरोमेत्यादि ॥ ५० ॥

विमर्श—सुश्रुत के अनुसार उच्चिटिङ्ग एक वातिक सविष कीट है। वाग्भट ने इसे वृश्चिक-भेद ही माना है किन्तु यह पुच्छ से डंक न मारकर मुख से काटता है। यही इसकी विशेषता है। **'उच्चिटिङ्गस्तु वक्त्रेण दशत्यभ्यधिकव्यथः'** (वा. उ. ३७)

सविषमण्डूकदष्टलिङ्गमाह—

एकदंष्ट्रार्दितः शूनः सरुजः पीतकः सतृट् ।
छर्दिर्निद्रा च सविषैर्मण्डूकैर्दष्टलक्षणम् ॥ ५१ ॥ (च. चि. २३)

विषैले मेढकों के काटने से रोगी की एक दाढ़ में दर्द, पीले वर्ण की पीडायुक्त सूजन, प्यास, वमन और निद्रा ये लक्षण होते हैं ॥ ५१ ॥

---

१. 'दंशश्चैव विशीर्यते' इति पाठान्तरम् ।

विमर्श—चक्रपाणि आदि टीकाकारों ने इस श्लोक का निम्न लिखित अर्थ किया है—'एक ही दाढ़ से दंश हुआ हो, रोगी शोथ और पीडा युक्त हो और पीला हो जावे, प्यास, वमन और निद्रा हो तो उसे सविष मण्डूक दष्ट समझें।'

सुश्रुत ने कृष्ण, सार, कुहुक, हरित, रक्त, यववर्ण, भ्रकुटी और कोटिक भेद से आठ प्रकार के मण्डूकों का वर्णन किया है। पहिले ६ के दंश से दंशस्थान पर खुजली और मुख से पीला झाग आता है और अन्तिम दो के दंश में अत्यधिक दाह, वमन और मूर्च्छा भी होती है। कुछ आचार्य अन्तिम दो को असाध्य मानते हैं।

सविषमत्स्यजलौकसां दष्टलक्षणं प्राह—

मत्स्यास्तु सविषाः कुर्युर्दाहं शोथं रुजं तथा।
कण्डूं शोथं ज्वरं मूर्च्छां सविषास्तु जलौकसः ॥ ५२॥ (च. चि. २३)

विषैली मछलियों के दंश से जलन, शोथ और पीडा ये लक्षण होते हैं। विषैली जोंकों के काटने पर खुजली, शोथ, ज्वर और मूर्च्छा की उत्पत्ति होती है ॥ ५२ ॥

सविषमण्डूकादिदष्टलिङ्गमाह—एकदंष्ट्रार्दित इत्यादि। स्वभावादेकया दंष्ट्रया कृतो दंशो भवति ॥ ५१-५२ ॥

विमर्श—सुश्रुत ने ६ सविष और ६ निर्विष जलौका का वर्णन किया है और इन्द्रायुधादंश को असाध्य माना है। (सु. सू. १३)

गोधाया दष्टलक्षणान्याह—

विदाहं श्वयथुं तोदं स्वेदं च गृहगोधिका।

गृहगोधा (छिपकली) के काटने पर जलन, सूजन, सुई के चुभने जैसी पीडा और स्वेदप्रवृत्ति ये लक्षण होते हैं।

गृहगोधिकादष्टलिङ्गमाह—विदाहमित्यादि। गृहगोधिका ज्येष्ठी, अन्ये तु भ्रामरकमाहुः। अत्र वक्ष्यमाणं कुर्यादिति संबन्धनीयं तेन विदाहादीनां कर्मत्वम् ॥—

विमर्श—सुश्रुत ने इसके श्वेता, कृष्णा, रक्तराजी, रक्तमण्डला, सर्षपश्वेता और सर्षपिका यह ६ भेद माने हैं सर्षपिका दंश से हृदय में पीड़ा और अतिसार विशेष लक्षण होते हैं और इसका दंश असाध्य होता है।

शतपद्या दष्टलक्षणान्याह—

दंशे स्वेदं रुजं दाहं कुर्याच्छतपदीविषम् ॥ ५३ ॥ (च. चि. २३)

शतपदी या कनखजूरे (कांतर या गोजर) के विष से स्वेदप्रवृत्ति, पीडा और दाह ये लक्षण होते हैं ॥ ५३ ॥

शतपदीदष्टलक्षणमाह—दंशे इत्यादि। कुर्याच्छतपदीविषमिति शतपदी कारुण्डिका ॥

विमर्श—सुश्रुत ने इसके ८ भेद बताये हैं—**'शतपद्यस्तु परुषा, कृष्णा, चित्रा, कपिला, पीतिका, रक्ता, श्वेता, अग्निप्रभा इत्यष्टौ; ताभिर्दष्टे शोफो वेदना दाहश्च हृदये, श्वेताग्निप्रभाभ्यामेतदेव दाहो मूर्च्छा चातिमात्रं श्वेतपिडकोत्पत्तिश्च।'** (सु. क. ८)

मशकदष्टलक्षणान्याह—

कण्डूमान् मशकैरीषच्छोथः स्यान्मन्दवेदनः।
असाध्यकीटसदृशमसाध्यमशकक्षतम् ॥ ५४ ॥ (च. चि. २३)

मच्छर के काटने पर खुजली, साधारण शोथ और मन्द वेदना होती है। असाध्य कीट के समान असाध्य मच्छर का दंश भी असाध्य होता है ॥ ५४ ॥

मशकदष्टलिङ्गमाह—कण्डूमानित्यादि। असाध्यकीटसदृशमिति असाध्यकीटैर्लूतादिभिः समलक्षणमिति। असाध्यं मशकक्षतमिति। पञ्चसु मशकेषु मध्ये पर्वतीयमशकक्षतमसाध्यम्। यदाह सुश्रुतः—पर्वतीयस्तु कीटैश्च प्राणहरैस्तुल्यलक्षणः' (सु. क. ८) **इति ॥**

विमर्श—सौवर्णिक आदि आठ प्रकार की मकड़ियों के समान कुछ पहाड़ी मच्छर भी इस प्रकार के होते हैं कि उनका काटा हुआ रोगी मर जाता है। सुश्रुत ने पाँच प्रकार के मच्छरों का वर्णन किया है। उनमें पर्वतीय जाति प्राणनाशक होती है—**'सामुद्रः, परिमण्डलः, हस्तिमशकः कृष्णः, पर्वतीय इति पञ्च, पर्वतीयस्तु कीटैः प्राणहरैस्तुल्यलक्षणः'** (सु० क० अ० ८।१८)। विभिन्न मशकों के दंश द्वारा मलेरिया, श्लीपद, कालाजार आदि अनेक भयानक रोगों के हेतुभूत कीटाणुओं का भी संक्रमण एक रोगी से दूसरे पर होता है।

मक्षिकादष्टलक्षणं विवेचयति—

सद्यः प्रस्राविणी श्यावा दाहमूर्च्छाज्वरान्विता।
पिडका मक्षिकादंशे तासां तु स्थगिकाऽसुहृत् ॥ ५५ ॥ (च. चि. २३)

मक्खी (मधुमक्खी) के काटने पर शीघ्र स्राव करने वाली, श्याववर्ण की, जलन, मूर्च्छा एवं ज्वर के लक्षणों से युक्त पिडका उत्पन्न हो जाती है। उनमें स्थगिका नामक मक्खी का दंश, प्राणनाशक होता है ॥ ५५ ॥

मक्षिकादष्टलिङ्गमाह—सद्य इत्यादि। तासां च स्थगिकाऽसुहृदिति तासां सुश्रुतोक्तषण्मक्षिकाणां मध्ये स्थगिका प्राणहरेत्यर्थः ॥ ५ ॥

विमर्श—सुश्रुत ने छ प्रकार की मक्षिकाओं का वर्णन किया है—**'कान्तारिका, कृष्णा, पिङ्गला, मधूलिका, काषायी, स्थालिका (स्थगिका); काषायी स्थालिका च प्राणहरे'।** (सु० क० ८।१७)

चतुष्पदां द्विपदां च नखदन्तविषलक्षणमाह—

चतुष्पद्भिर्द्विपद्भिश्च नखदन्तविषं च यत्।
शूयते पच्यते वापि स्रवति ज्वरयत्यपि ॥ ५६ ॥ (च. चि. २३)

चतुष्पद या द्विपद जन्तुओं के नाखून और दांतों का विष लगने से दंशस्थान पर सूजन और पाक हो जाता है। पाक से स्राव होता है और रोगी ज्वर से पीडित रहता है ॥ ५६ ॥

चतुष्पद्भिरिति चतुष्पादा व्याघ्रादयः। द्विपदा वनमानुषवानरादयः ॥ ५६ ॥

प्रसङ्गाद् व्याघ्रादिहिंसकजन्तूनां विषलक्षणमाह—

श्वशृगालतरक्ष्वर्क्षव्याघ्रादीनां यदाऽनिलः।
श्लेष्मप्रदुष्टो मुष्णाति संज्ञां संज्ञावहाश्रितः ॥ ५७ ॥
तदा प्रस्रस्तलाङ्गूलहनुस्कन्धोऽतिलालवान्।
अव्यक्तबधिरान्धश्च सोऽन्योन्यमभिधावति ॥ ५८ ॥

---

१. ह्रस्वता छन्दोऽनुरोधेन।

प्रमूढोऽन्यतमस्त्वेषां खादन्विपरिधावति ।
तेनोन्मत्तेन दष्टस्य दंष्ट्रिणा सविषेण तु ॥ ५९ ॥
सुप्तता जायते दंशे कृष्णं चातिस्रवत्यसृक् ।
दिग्धविद्धस्य लिङ्गेन प्रायशश्चोपलक्षितः ॥ ६० ॥ (सु. क. ६)

कुत्ता, गीदड़, तेंदुवा, रीछ, व्याघ्र आदि हिंसक जन्तुओं में वायु कफसे दूषित होकर जब उनके संज्ञावाही स्रोतों में आ जाता है तो इससे उन जन्तुओं की ज्ञानशक्ति नष्ट हो जाती है । उस समय उनकी पूँछ, हनु (Lower jaw) तथा कन्धे नीचे गिर जाते हैं, मुख से लार टपकती रहती है, वे कुछ अन्धे और बहरे प्रतीत होते हैं और एक दूसरे की ओर दौड़ते हैं । इनमें जो कोई अधिक पागल होता है वह दूसरों की ओर काटने को दौड़ता है । उस पागल दंष्ट्री से काटे हुए व्यक्ति के दंशस्थान पर संज्ञाशून्यता, कालापन तथा अत्यधिक रक्तस्राव होता है । इसके अतिरिक्त विषलिप्त शस्त्र से आक्रान्त होने पर जो लक्षण होते हैं वे भी इसमें पाये जाते हैं ॥ ५७-६० ॥

श्वादिना दष्टस्यारिष्टलिङ्गानि प्राह—

येन चापि भवेद्दष्टस्तस्य चेष्टां रुतं नरः ।
बहुशः प्रतिकुर्वाणः क्रियाहीनो विनश्यति ॥ ६१ ॥
दंष्ट्रिणा येन दष्टश्च तद्रूपं यस्तु पश्यति ।
अप्सु चादर्शबिम्बे वा तस्य तद्रिष्टमादिशेत् ॥ ६२ ॥
त्रस्यत्यकस्माद्योऽभीक्ष्णं दृष्ट्वा स्पृष्ट्वाऽपि वा जलम् ।
जलत्रासं तु तं विद्याद्रिष्टं तदपि कीर्तितम् ॥ ६३ ॥

पागल कुत्ते आदि जिस जानवर ने काटा हो मनुष्य बार-बार उसके समान चेष्टायें और ध्वनि करता है; अपने प्रकृत कार्यों को नहीं कर पाता एवं उसकी मृत्यु हो जाती है । यदि मनुष्य कुत्ते आदि किसी विशेष जानवर से काटे जाने पर जल या दर्पण में उसी का प्रतिबिम्ब देखता है तो उसे अरिष्ट लक्षणों से युक्त समझना चाहिये । जिसमें जल को देखकर या छूकर बार-बार अचानक डरता है उस रोग को **जलत्रास** कहते हैं । यह भी अरिष्ट लक्षण है ॥ ६१-६३ ॥

अन्यदरिष्टलक्षणमाह—

अदष्टो वा जलत्रासी न कथंचन सिद्ध्यति ।
प्रसुप्तो वोत्थितो वाऽपि स्वस्थस्त्रस्तो न सिद्ध्यति ॥ ६४ ॥

बिना किसी जानवर के काटे ही जिसको जलत्रास हो जाये वह भी किसी प्रकार ठीक नहीं हो सकता । साधारणतया स्वस्थ दिखाई देने वाला व्यक्ति भी सोते या जागते इस प्रकार डरता हो तो उसे भी असाध्य ही समझना चाहिये ॥ ६४ ॥

विमर्श—जिस प्रकार विषलिप्तशस्त्र के लगने से शरीर में विष के लक्षण प्रकट होने लगते हैं, वैसे ही किसी विष से आक्रान्त कुत्ते आदि प्राणी के काटने से भी विष के वही लक्षण प्रकट होते हैं जिससे वह प्राणी आक्रान्त है । विषाक्रान्त होने पर रोगी दर्पण या जल में उसी पशु को

देखता है, जिसने उसे काटा है। इसे **अलर्कविष** और अंग्रेजी में रेबिस (Rabis) कहते हैं। प्रकृत में उसके एक लक्षण स्वरूप **जल संत्रास** रोग का वर्णन किया गया है। आजकल इसे हाइड्रोफोबिया (Hydrophobia) कहते हैं। विषाक्रान्त कुत्ते, बिल्ली, गीदड़ और भेड़िये के काटने से इस रोग की उत्पत्ति होती है। कभी-कभी बिना किसी जन्तु के काटे निज कारणों से भी आयुर्वेद में इसकी उत्पत्ति मानी गई है—

अदष्टस्यापि जन्तोर्हि जलत्रासो भवेद्यदि। तस्यारिष्टं हि भिषजो ब्रुवते विषचिन्तकाः। जलं विना जलत्रासो जायते श्लेष्मसञ्चयात्॥

इस प्रकार का जलसंत्रास असाध्य होता है। इसका कारण श्लेष्मा द्वारा बुद्धिस्थान का अवरोध होने पर रोगी सोते-जागते सर्वदा अपने को जल में डूबता हुआ सा देखता है। जल को देखकर डरता है—

'बुद्धिस्थानं यदा श्लेष्मा केवलः प्रतिपद्यते। तदा बुद्धौ निरुद्धायां श्लेष्मणाधिष्ठितो नरः॥ जाग्रत्सुप्तोऽथवात्मानं मज्जन्तमिव मन्यते। सलिलात् त्रस्यति तदा जलत्रासं तु तं विदुः॥

जलसंत्रास नाडीमण्डल का रोग है। सर्वप्रथम यह किसी जानवर (कुत्ता, बिल्ला) आदि में होता है। इनके काटने पर मनुष्य में इस रोग की उत्पत्ति होती है। लक्षणोत्पत्ति के पश्चात् चार-पाँच दिन में ही रोगी का प्राणान्त हो जाता है। इस रोग का संचय काल १ से २ मास होता है। कभी-कभी दो सप्ताह में और कभी आठ मास के पश्चात् भी लक्षण प्रारम्भ होते हैं।

इसमें विशेष प्रकार का मस्तिष्कशोथ (Encephalitis) होता है। सुषुम्नाशीर्ष में इसकी स्पष्ट प्रतीति होती है। मस्तिष्कावरण में स्थानीय रक्तस्राव मिलते हैं। मस्तिष्कसुषुम्ना जल की वृद्धि हो जाती है। इसका उत्पादक कारण एक सूक्ष्मदर्शकातीत एवं निःस्यन्दनातीत (Ultra Microscopic and Filterable) विषाणु है। यह रुग्ण पशु के मस्तिष्क और लालारस में रहता है। काटने से इसका संक्रमण मनुष्य में हो जाता है। सुषुम्नाशीर्ष (Medulla) और लघुमस्तिष्क (Cerebellum) में नैग्री बाडी (एक अण्डाकार सूक्ष्म रचना) पाई जाती है। विषाक्रान्त पशु की प्रकृति बदल जाती है—

(१) यह उत्तेजित होकर दूसरे पशुओं को काटता है इसका निर्देश माधव ने **'अन्योऽन्यमभिधावति'** के द्वारा किया है।

(२) लालास्राव—इसका निर्देश **'अतिलालवान्'** के द्वारा किया गया है।

(३) पिछली टाँगों में घात (Paralysis of hind limbs) हो जाता है। इससे उसकी पुच्छ नीचे गिर जाती है। इसी को प्रस्रस्त लाङ्गूल कहते हैं। घात आगे बढ़ता है जिससे हनु और कन्धे भी लटक जाते हैं।

जलसंत्रास के लक्षण तीन अवस्थाओं में विभक्त किये गये हैं—

(१) प्रथम अवस्था (First stage) इसे पूर्वरूप की अवस्था भी कहते हैं। इनमें निम्न लक्षण होते हैं—

(क) दंशस्थान पर पीडा।

(ख) मस्तिष्कावसाद (Mental depression)

(ग) बेचैनी और निद्रानाश।

(घ) नाडी की गति तीव्र हो जाती है।

(ङ) बोलने में कठिनता (Dysphagia)

(१) द्वितीय अवस्था (Second stage)—इसे उत्तेजना की अवस्था भी कहते हैं। एक या

दो दिन बेचैनी और ज्वर बढ़ जाता है। चेहरे पर भयानकता आ जाती है। गले की पेशियों में संकोच हो जाने से बोलने और निगलने में कठिनाई होती है। रोगी जल या लालारस को भी नहीं निगल पाता। वाणी कर्कश (Hoarse) हो जाती है। इसके बाद शरीर की अन्य पेशियाँ भी आक्रान्त हो जाती हैं और वायु शीत आदि साधारण बाह्य उत्तेजनाओं से भी बाह्यायाम (Opisthotonos) से युक्त आक्षेप होने लगते हैं। यह अवस्था दो से तीन दिन तक रहती है।

(३) तृतीयावस्था (Third stage)—इसे घात (Paralysis) की अवस्था भी कहते हैं। परिश्रान्त होने पर पेशी-संकोच पूर्णतया बन्द हो जाते हैं, रोगी संन्यस्तावस्था में पहुँचकर मृत्यु मुख में चला जाता है।

साध्यासाध्यता—शंखप्रदेश (scalp) चेहरे तथा गर्दन के दंश अधिक भयानक या असाध्य होते हैं।

निर्विषपुरुषलक्षणमाह—

प्रशान्तदोषं प्रकृतिस्थधातुमन्नाभिकामं सममूत्रविट्कम्।
प्रसन्नवर्णेन्द्रियचित्तचेष्टं वैद्योऽवगच्छेदविषं मनुष्यम्॥ ६५॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने विषनिदानं समाप्तम्॥ ६९॥

जिसका दोष प्रकोप शान्त हो गया हो, जिसकी धातुयें प्रकृतिस्थ (निर्मल) हो गई हों, जो अन्न की इच्छा करता हो, जिसको मलमूत्र का त्याग ठीक समय पर और उचित रूप में होता हो, जिसका वर्ण, इन्द्रिय, मन और चेष्टायें प्राकृत हों उस मनुष्य को वैद्य निर्विष समझे॥ ६५॥

विषातुरः कीदृशो निर्विषो भवतीति दर्शयितुमाह—प्रशान्तदोषमित्यादि। अन्नाभिकाममित्यनेन प्रकृतिस्थाग्नितोक्ता। यदाह चरकः—'प्रायेणोपहताग्नित्वात् सपिच्छमतिसार्यते। प्राप्नोति चास्यवैरस्यं न चान्नमभिनन्दति॥' इति। सममूत्रविट्कमिति अक्षीणानतिरिक्तमूत्रपुरीषम्। अन्ये—'समसूत्रजिह्वं' इति पठन्ति, तदाऽयमर्थः—सममविकृतं सूत्रं जिह्वा च यस्य स तथा, एतेन विषजुष्टा जिह्वा न रसबोधिनी भवति, सूत्रमपि जिह्वायां विषप्रभावेण वैकृतं भवतीति प्रतिपादयति। जिह्वाग्रहणेनैव सूत्रग्रहणे सिद्धे तस्य च रसग्रहणे अनुगुणत्वप्रतिपादनार्थं पृथगुपादानम्। अनेन श्लोकेन 'समदोषः समाग्निश्च' (सु. सू. १५) इत्यादिश्लोकस्य सकल एवार्थः उपबद्धः॥ ६५॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां विषनिदानं समाप्तम्॥ ६९॥

सूक्तिमुक्तावलीग्रन्थे[1] गुरुणा यत्र गुम्फितम्। मया समस्तमग्रन्थि तद्गिरा शुद्धियुक्तया[2]॥१॥

गुणनिधिगुरुबद्धे दाम्नि वाङ्मालतीनां, परमपरिमलश्रीधाम्नि लब्धावलम्बम्।
स्फुरति वचनकुन्दं मन्दसौरभ्यलेशाद्वचनमपि मदीयं किंचिदेतत् कदाचित्॥ २॥

इति श्रीविजयरक्षितश्रीकण्ठदत्तविरचिता मधुकोशव्याख्या समाप्ता॥

विमर्श—इस श्लोक में स्वस्थ के सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त पुरुष को निर्विष माना है। स्वस्थ लक्षण—**समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः। प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥**

समाप्तं चेदं विषरोगनिदानम्।

---

१. 'गुम्फ' क.। २. 'शुद्धमुक्तया' क.।

अथ विषयानुक्रमणिका

ज्वरोऽतिसारो ग्रहणी चार्शोऽजीर्णं विसूचिका ।
अलसश्च विलम्बी च क्रिमिरुक्पाण्डुकामलाः ॥ १ ॥
हलीमकं रक्तपित्तं राजयक्ष्मा उरःक्षतम् ।
कासो हिक्का सह श्वासैः स्वरभेदस्त्वरोचकः ॥ २ ॥
छर्दिस्तृष्णा च मूर्च्छाद्या रोगाः पानात्ययादयः ।
दाहोन्मादावपस्मारः कथितोऽथानिलामयः ॥ ३ ॥
वातरक्तमूरुस्तम्भ आमवातोऽथ शूलरुक् ।
पक्तिजं शूलमानाह उदावर्तोऽथ गुल्मरुक् ॥ ४ ॥
हृद्रोगो मूत्रकृच्छ्रं च मूत्राघातस्तथाऽश्मरी ।
प्रमेहो मधुमेहश्च पिडकाश्च प्रमेहजाः ॥ ५ ॥
मेदस्तथोदरं शोथो वृद्धिश्च गलगण्डकः ।
गण्डमालाऽपची ग्रन्थिरर्बुदः श्लीपदं तथा ॥ ६ ॥
विद्रधिर्व्रणशोथश्च द्वौ व्रणौ भग्ननाडिके ।
भगन्दरोपदंशौ च शूकदोषस्त्वगामयः ॥ ७ ॥
शीतपित्तमुदर्दश्च कोठश्चैवाम्लपित्तकम् ।
विसर्पश्च सविस्फोटः सरोमान्त्यो मसूरिकाः ॥ ८ ॥
क्षुद्रास्यकर्णनासाक्षिशिरःस्त्रीबालकामयाः ।
विषं चेत्ययमुद्दिष्टो रुग्विनिश्चयसंग्रहः ॥ ९ ॥

ज्वर, अतिसार, ग्रहणी, अर्श, अजीर्ण, विसूचिका, अलसक, विलम्बिका, क्रिमिरोग, पाण्डु, कामला, हलीमक, रक्तपित्त, राजयक्ष्मा, उरःक्षत, कास, हिक्का, श्वास, स्वरभेद, अरोचक, छर्दि, तृष्णा, मूर्च्छा, भ्रम, निद्रा, तन्द्रा, संन्यास, पानात्यय, परमद, पानाजीर्ण, पानविभ्रम, दाह, उन्माद, अपस्मार, वातव्याधि, वातरक्त, ऊरुस्तम्भ, आमवात, शूल, परिणामशूल, अन्नद्रवशूल, आनाह, उदावर्त, गुल्म, हृद्रोग, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, अश्मरी, प्रमेह, मधुमेह, प्रमेहपिडिका, मेदोरोग, उदररोग, शोथ, वृद्धि, गलगण्ड, गण्डमाला, अपची, ग्रन्थि, अर्बुद, श्लीपद, विद्रधि, व्रणशोथ, शारीरव्रण, सद्योव्रण, भग्न, नाडीव्रण, भगन्दर, उपदंश, शूकदोष, कुष्ठ, शीतपित्त, उदर्द, कोठ, अम्लपित्त, विसर्प, विस्फोट, रोमान्तिका, मसूरिका, क्षुद्ररोग, मुखरोग, कर्णरोग; नासारोग,

नेत्ररोग, शिरोरोग, स्त्रीरोग (प्रदर, योनिव्यापत् , योनिकन्द, मूढगर्भ, सूतिकारोग, स्तनरोग, स्तन्यदुष्टि), बालरोग तथा विषरोग इन सबका रोगविनिश्चय नामक ग्रन्थ में संग्रह किया गया है।

सुभाषितं यत्र यदस्ति किंचित्तत्सर्वमेकीकृतमत्र यत्नात् ।
विनिश्चये सर्वरुजां नराणां श्रीमाधवेनेन्दुकरात्मजेन ॥ १० ॥

जहाँ कहीं भी मनुष्यों के रोग-निदान के विषय में उपयुक्त तत्त्व पाये गये हैं उन सब का संग्रह इन्दुकर के पुत्र श्री माधव ने इस **रोग-विनिश्चय** नामक ग्रन्थ में यत्नपूर्वक किया है ॥

रोगिणां कृते माधवस्य शुभाशंसा—

यत्कृतं सुकृतं किंचित्कृत्वैवं रुग्विनिश्चयम् ।
मुञ्चन्तु जन्तवस्तेन नित्यमातङ्कसन्ततिम् ॥ ११ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचितं माधवनिदानं समाप्तम् ॥

इस रोगविनिश्चय नामक ग्रन्थ की रचना करके मैंने जो कुछ भी पुण्य किया है उसके सहारे सम्पूर्ण मानवजाति सदा रोग-समूह से मुक्ति पाती रहे ॥ ११ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचितस्य रोगविनिश्चयापरपर्यायमाधवनिदानस्य काशीहिन्दूविश्वविद्यालयीयायुर्वेदमहाविद्यालयाध्यापकेन श्रीयदुनन्दनशर्मणा सुसंशोध्य सम्पादिता तच्छिष्येण ऋषिकुलायुर्वेदविद्यालयाध्यापकेन श्रीसुदर्शनशास्त्रिणा कृता विमर्शयुता विद्योतिनी व्याख्या समाप्ता ।

समाप्तश्चायं ग्रन्थः

परिशिष्टम्

अथ सामान्यसन्निपातज्वरस्य भेदाः

एकोल्बणास्त्रयस्तेषु द्व्युल्बणाश्च तथेति षट्। त्र्युल्बणश्च भवेदेको विज्ञेयः स तु सप्तमः॥१॥
प्रवृद्धमध्यहीनैस्तु वातपित्तकफैश्च षट्। सन्निपातज्वरस्यैवं स्युर्विशेषास्त्रयोदश॥२॥

सामान्यरूप से सन्निपात ज्वर के १३ भेद—त्रिदोष से उत्पन्न होने वाले सन्निपात ज्वरों में केवल एक-एक दोष की उल्बणता (अधिकता) से तीन भेद और दो-दो दोषों की अधिकता से भी तीन भेद इस प्रकार मिलकर ६ भेद हुए और तीनों दोषों की अधिकता से एक सातवाँ भेद होता है। प्रवृद्ध, मध्य तथा हीन वात, पित्त तथा कफ के द्वारा ६ भेद होते हैं। इस भाँति सन्निपात ज्वर के सामान्यरूप से कुल १३ भेद होते हैं॥ १-२॥

विमर्श—चरकसंहिता चिकित्सास्थान अध्याय ३ में प्रत्येक के अलग-अलग लक्षण भी दिये हैं और कुछ ग्रंथों में प्रत्येक के लिए विभिन्न नाम भी मिलते हैं जिनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है। इनमें से कुछ का वर्णन पूर्वार्ध पृष्ठ ९७ पर भी हो चुका है। विभिन्न ग्रन्थों में इनके विशिष्ट नाम और लक्षण भी दिए गये हैं उनका वर्णन नीचे किया जा रहा है।

अथानुक्रमेण त्रयोदशसन्निपातनामानि—

विस्फारकश्चाशुकारी कम्पनो बभ्रसंज्ञकः। शीघ्रकारी तथा भल्लुः सप्तमः कूटपाकलः॥३॥
संमोहकः पाकलश्च याम्यः क्रकच इत्यपि। ततः कर्कटकः प्रोक्तस्ततो वैदारिकाभिधः॥४॥

क्रम से उपर्युक्त १३ सन्निपात ज्वरों के नाम ये हैं—१ विस्फारक, २ आशुकारी, ३ कम्प, ४ बभ्र, ५ शीघ्रकारी, ६ भल्लु, ७ कूटपाकल, ८ संमोहक, ९ पाकल, १० याम्य, ११ क्रकच, १२ कर्कटक और १३ वैदारिक॥ ३-४॥

१ वातोल्बणविस्फारकलक्षणम्—

श्वासः कासो भ्रमो मूर्च्छा प्रलापो मोहवेपथू। पार्श्वस्य वेदना जृम्भा कषायत्वं मुखस्य च॥
वातोल्बणस्य लिङ्गानि सन्निपातस्य लक्षयेत्। एष विस्फारको नाम्ना सन्निपातः सुदारुणः॥

श्वास, कास, भ्रम, मूर्च्छा, प्रलाप, मोह, कँपकँपी, पँसुलियों में पीड़ा, अधिक जंभाई आना और मुख में कषैलापन ये सब लक्षण त्रिदोष में वात की अधिकता होने पर मिलते हैं और उसका नाम 'विस्फारक' है, यह अत्यन्त भयङ्कर होता है॥ ५-६॥

विमर्श—कुछ ग्रन्थों में 'विस्फोटक' या 'विस्फुरक' पाठ मिलता है तथा लक्षणों में भी कुछ अन्तर है। (देखिए पूर्वार्ध पृ० ९४ मधुकोश)

२ पित्तोल्बणाशुकारिलक्षणम्—

अतिसारो भ्रमो मूर्च्छा मुखपाकस्तथैव च। गात्रे च बिन्दवो रक्ता दाहोऽतीव प्रजायते॥
पित्तोल्बणस्य लिङ्गानि सन्निपातस्य लक्षयेत्। भिषग्भिः सन्निपातोऽयमाशुकारी प्रकीर्त्तितः॥

अतिसार, भ्रम, मूर्च्छा, मुख का पक जाना, शरीर में लाल-लाल बिन्दुओं का दिखाई पड़ना तथा अधिक दाह होना ये सब लक्षण पित्तप्रधान सन्निपातज्वर के होते हैं। वैद्य लोग इस सन्निपात ज्वर को 'आशुकारी' कहते हैं॥ ७-८॥

विमर्श—भालुकि तन्त्र के अनुसार इसका विशिष्ट वर्णन पूर्वार्ध पृ० ९४ पर मधुकोष में देखें। वहाँ इसे 'शीघ्रकारी' संज्ञा दी गई है।

३ कफोल्बणकम्पनलक्षणम्—

जडता गद्गदा वाणी रात्रौ निद्रा भवत्यपि । प्रस्तब्धे नयने चैव मुखमाधुर्यमेव च ॥ ९ ॥
कफोल्बणस्य लिङ्गानि सन्निपातस्य लक्षयेत् । मुनिभिः सन्निपातोऽयमुक्तः कम्पनसंज्ञकः ॥

शरीर में जडता होना, गद्गद कण्ठ से बोलना, रात्रि में अवश्य नींद आना, नेत्रों में स्तब्धता तथा मुख में मधुरता (मीठा खाये हुए के समान मुख का स्वाद रहना) ये सब लक्षण कफ प्रधान सन्निपात ज्वर में होते हैं । ऋषियों ने इस सन्निपात ज्वर का नाम 'कम्पन' कहा है ॥ ९–१० ॥

विमर्श—भालुकि तन्त्र में इसे कफ्फण या फम्फण कहा है और विशद सम्प्राप्ति के साथ लक्षणों का भी विस्तृत वर्णन किया है (मधुकोश पू० पृ० ९४ देखें)

४ वातपित्तोल्बणबभ्रुलक्षणम्—

वातपित्ताधिको यस्तु सन्निपातः प्रकुप्यति । तस्य ज्वरो मदस्तृष्णा मुखशोषः प्रमीलकः ॥
आध्मानारतितन्द्राश्च कासश्वासभ्रमश्रमाः । मुनिभिर्बभ्रुनामाऽयं सन्निपात उदाहृतः ॥

जिस सन्निपात ज्वर में वात तथा पित्त ये दोनों दोष कफ की अपेक्षा अधिक कुपित हों तब मद (नशा चढ़े के समान मालूम पड़ना), अधिक प्यास, मुख का सूखना, नेत्रों का मिचे से रहना, आध्मान (अफारा), अरति, तन्द्रा, खांसी, श्वास, भ्रम तथा श्रम (थकावट) ये सब लक्षण उत्पन्न होते हैं और इसे मुनियों ने 'बभ्र' नामक सन्निपात ज्वर कहा है ॥ ११–१२ ॥

विमर्श—कुछ लोग इसे 'बभ्रु' 'विभु' या 'विधु' भी कहते हैं । (मधुकोश पू० पृ० ९४ देखें)

५ वातकफोल्बणशीघ्रकारिलक्षणम्—

वातश्लेष्माधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति । तस्य शीतज्वरो मूर्च्छा क्षुत्तृष्णा पार्श्वनिग्रहः ॥
शूलमस्विद्यमानस्य तन्द्रा श्वासश्च जायते । असाध्यः सन्निपातोऽयं शीघ्रकारीति कथ्यते ।
न हि जीवत्यहोरात्रमनेनाविष्टविग्रहः ॥ १४ ॥

जिसके वातकफप्रधान त्रिदोष प्रकुपित होता है उसे शीतज्वर, मूर्च्छा, भूख तथा प्यास अधिक लगना, पंसुलियों में पीड़ा, पसीने का न निकलना, तन्द्रा तथा श्वास ये सब प्रगट होते हैं, यह सन्निपातज्वर असाध्य होता है, इसे वैद्य लोग 'शीघ्रकारी' कहते हैं, इससे युक्त रोगी अहोरात्र (२४ घण्टे) तक नहीं जीता है ॥ १३–१४ ॥

विमर्श—मधुकोश में संगृहीत भालुकि तन्त्र के पाठ में वातकफाधिक सन्निपात ज्वर का नाम 'मकरी' दिया गया है और उसमें प्रस्तुत पाठ के प्रथम श्लोक के ही लक्षणों के साथ अन्य लक्षणों का भी उल्लेख है । शेष १॥ श्लोक में वर्णित लक्षणों का वर्णन 'शीघ्रकारी' में किया गया है जो कि वहाँ पित्तोल्बण सन्निपात ज्वर माना गया है (पूर्वार्ध पृष्ठ ९४ देखें ।)

६ पित्तकफोल्बणभल्लुलक्षणम्—

पित्तश्लेष्माधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति । अन्तर्दाहो बहिः शीतं तस्य तृष्णा प्रवर्द्धते ॥
तुद्यते दक्षिणे पार्श्व उरःशीर्षगलग्रहः । ष्ठीवति श्लेष्मपित्तं च कृच्छ्रात्कोठश्च जायते ॥१६॥
विड्भेदश्वासहिक्काश्च वर्द्धन्ते सप्रमीलकाः । ऋषिभिर्भल्लुनामाऽयं सन्निपात उदाहृतः ॥१७॥

जब पित्तकफप्रधान त्रिदोष प्रकुपित होता है और उससे जब ज्वर होता है तब शरीर के अन्दर दाह, ऊपर से सर्दी लगना, प्यास की अधिक वृद्धि, दाहिने पार्श्व में सुई चुभने की सी पीड़ा, हृदय, मस्तक तथा गले में दबाने की सी पीड़ा होना, थूक के साथ कठिनता से कफ तथा पित्त का निकलना, कोठ (वर्रे के काटे हुए के समान चकत्ता), दस्त पतला होना, श्वास, कास,

हिचकी तथा प्रमीलक (नेत्रों का मिचे से रहना), ये सब प्रकट होने लगते हैं। ऋषियों ने इसे 'भल्लु' नामक सन्निपात ज्वर कहा है ॥ १५-१७ ॥

विमर्श—इसे 'फल्गु' भी कहते हैं (देखें पू० पृ० ९४ मधुकोश)

७ वातपित्तकफोल्बणकूटपाकलक्षणम्—

सर्वदोषोल्वणो यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति । त्रयाणामपि दोषाणां तस्य रूपाणि लक्षयेत् ॥
व्याधिभ्यो दारुणश्चैव वज्रशस्त्राग्निसन्निभः । केवलोच्छ्वासपरमः स्तब्धाङ्गः स्तब्धलोचनः ॥
त्रिरात्रात्परमेतस्य जन्तोर्हरति जीवितम् । तदवस्थन्तु तं दृष्ट्वा मूढो व्याहरते जनः ॥२०॥
धर्षितो राक्षसैर्नूनमवेलायां चरन्ति ये । अम्बया ब्रवते केचिद् यक्षण्या ब्रह्मराक्षसैः ॥२१॥
पिशाचैर्गुह्यकैश्चैव तथाऽन्यैर्मस्तके हतम् । कुलदेवार्चनाहीनं धर्षितं कुलदैवतैः ॥२२॥
नक्षत्रपीडामपरे गरकर्मेति चापरे । सन्निपातमिमं प्राहुर्भिषजः कूटपाकलम् ॥२३॥

जिसमें सभी दोष प्रधान रूप से प्रकुपित होते हैं, वह सन्निपात ज्वर अन्य रोगों की अपेक्षा अधिक भयङ्कर होता है और वह वज्र, विजुली, शस्त्र तथा अग्नि के समान शीघ्र प्राणनाशक होता है । इसमें रोगी केवल ऊंचा श्वास लेता रहता है, सम्पूर्ण शरीर जकड़ जाता है, आँखें पथरा जाती हैं एवं तीन रात्रि में ही यह सन्निपात ज्वर रोगी का प्राण हर लेता है। अपढ़ ग्रामीण लोग इस रोगी को भूत-प्रेत, ब्रह्म, पिशाचादि दैवी पीड़ा अथवा विषादि प्रकोप से आक्रांत समझकर तंत्र-मंत्रों से झाड़-फूँक करते हैं किन्तु सद्वैद्य लोग इस सन्निपात ज्वर को 'कूटपाकल' कहते हैं ॥ १८-२३ ॥

विमर्श—सुश्रुत ने इसी को अभिन्यास ज्वर कहा है (देखिये पूर्वार्ध पृ० ९४)

८ अधिकवातमध्यपित्तहीनकफसंमोहकलक्षणम्—

प्रवृद्धमध्यहीनैस्तु वातपित्तकफैश्च यः । तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः ॥ २४ ॥
प्रलापायाससंमोह-कम्पमूर्च्छाऽरतिभ्रमाः । एकपक्षाभिघातश्च तत्राप्येते विशेषतः ॥ २५ ॥
एष संमोहको नाम्ना सन्निपातः सुदारुणः ॥ २६ ॥

प्रवृद्ध (अधिक बढ़ा हुआ) वात-मध्यपित्त-हीनवृद्ध कफ ये तीनों दोष जहां पर मिलकर सन्निपात ज्वर को उत्पन्न करते हैं उसमें वातादिकों के जो रोग (लक्षण) पृथक्-पृथक् कहे हुए हैं वे सब दोष-बलानुरूप सामान्य रूप से अवश्य होते हैं, साथ-साथ में प्रलाप, श्रम, मोह, कम्प, मूर्च्छा, अरति (किसी कार्य में चित्त का न लगना) भ्रम, तथा एक भाग में पक्षाघात (लकवा) हो जाना ये सब लक्षण विशेषरूप से रहते हैं, इस भयंकर सन्निपात का नाम मुनियो ने 'संमोहक' रखा है ॥ २४-२६ ॥

विमर्श—यहां पर मूल में 'रोगास्त एवोक्ताः' अर्थात् 'वातादिकों के जो रोग पृथक्-पृथक् कहे गये हैं' इस वाक्य से निम्न लिखित रोग (लक्षण) समझना चाहिये। वातसम्बन्धी रोग-पीड़ा, कँपकँपी, नींद न आना तथा विष्टम्भ आदि । पित्तसम्बन्धी रोग—दाह, अधिक प्यास तथा गर्मी मालूम पड़ना और पसीना निकलना इत्यादि। कफसम्बन्धी रोग—शरीर में गुरुता, अग्नि की मन्दता, अधिक खाँसी तथा नाक और मुख से पानी गिरना आदि। यहाँ पर उपर्युक्त वातादिजन्य लक्षण दोष-बलानुसार होते हैं अर्थात् इस सन्निपात में वायु का अधिक बल होने से वातजन्य लक्षण प्रबल रूप से होते हैं, पित्त का बल मध्यम होने से पित्तजन्य लक्षण मध्यमरूप से होते हैं तथा कफ का बल हीन होने से कफजन्य लक्षण हीनरूप से होते हैं। किन्तु इन सब रोगों के होते हुये भी इस सन्निपात में प्रलाप से लेकर पक्षाघात पर्यन्त विकार विशेष रूप से होते हैं।

९ मध्यवाताधिकपित्तहीनकफपाकलक्षणम्—

मध्यप्रवृद्धहीनैस्तु वातपित्तकफैश्च यः। तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः॥ मोहप्रलापमूर्च्छाः स्युर्मन्यास्तम्भः शिरोग्रहः। कासः श्वासो भ्रमस्तन्द्रा संज्ञानाशो हृदि व्यथा॥ खेभ्यो रक्तं विसृजति सरक्तस्तब्धनेत्रता। तत्राप्येते विशेषाः स्युर्मृत्युरर्वाक् त्रिवासरात्। भिषग्भिः सन्निपातोऽयं कथितः पाकलाभिधः॥ २९॥

मध्यवात, अधिक पित्त तथा हीन वृद्ध कफ के द्वारा जो सन्निपात ज्वर होता है, उसमें वातादि दोष जनित जो पूर्वोक्त रूप हैं, वे ही सब दोष बलानुसार प्रकट होते हैं। और विशेषतः मोह प्रलाप, मूर्च्छा, मन्यास्तम्भ, शिरोग्रह (सिर में पीड़ा) खाँसी, श्वास, भ्रम, तन्द्रा, संज्ञा का नाश, हृदय में व्यथा, मुख, नासिका आदि इन्द्रियों के छिद्रों से रक्त गिरना, नेत्रों में लालिमा तथा स्तब्धता (जड़ता) हो जाना ये सब भी होते हैं। इस सन्निपात में तीन दिन पूर्ण होने के पहले ही रोगी की मृत्यु हो जाती है। एवं वैद्य लोग इसे 'पाकल' नामक सन्निपात कहते हैं॥ २७–२९॥

१० हीनवाताधिकपित्तमध्यकफयाम्यलक्षणम्—

हीनप्रवृद्धमध्यैस्तु वातपित्तकफैश्च यः। तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः॥३०॥ हृदयं दह्यते चास्य यकृत्प्लीहान्त्रफुफ्फुसाः। पच्यन्तेऽत्यर्थमूर्ध्वाधः पूयशोणितनिर्गमः॥३१॥ शीर्णदन्तश्च मृत्युश्च तत्राप्येतद्विशेषतः। भिषग्भिः सन्निपातोऽयं याम्यो नाम्ना प्रकीर्तितः॥

हीनवात, अधिक-पित्त तथा मध्यकफ के द्वारा जो संनिपात ज्वर होता है उसमें पूर्वोक्त वातादिकों के दोष बलानुसार लक्षण प्रकट होते हैं तथापि विशेष रूप से रोगी के हृदय में दाह होता है, और यकृत्-प्लीहा, आँत तथा फुफ्फुस ये सब पक जाते हैं ऊपर मुखादिक मार्ग से तथा नीचे गुदादिक मार्ग से पूय (पीब) तथा रक्त निकलते हैं, दाँत गिरने लगते हैं, यहाँ तक कि मृत्यु भी हो जाती है। वैद्य लोग इसे 'याम्य' नामक संनिपात कहते हैं॥ ३०–३२॥

११ अधिकवातहीनपित्तमध्यकफक्रकचलक्षणम्—

प्रवृद्धहीनमध्यैस्तु वातपित्तकफैश्च यः। तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः॥३३॥ प्रलापायाससंमोहाः कम्पमूर्च्छाऽरतिभ्रमाः। मन्यास्तम्भेन मृत्युः स्यात्तत्राप्येतद्विशेषतः॥ भिषग्भिः सन्निपातोऽयं क्रकचः संप्रकीर्त्तितः॥ ३५॥

अधिक वात, हीनपित्त तथा मध्यकफ के द्वारा जो सन्निपात ज्वर होता है उसमें पूर्वोक्त वातादिकों के लक्षण दोष-बलानुसार प्रकट होते ही हैं किन्तु विशेष रूप से प्रलाप, आयास, मोह, कम्प, मूर्च्छा, अरति (बेचैनी), भ्रम ये सब भी प्रकट होते हैं। तथा मन्यास्तम्भ से मृत्यु भी हो जाती है। वैद्य लोग इस सन्नियात का नाम 'क्रकच' कहते हैं॥ ३३–३५॥

१२ मध्यवातहीनपित्तमध्यकफकर्कटकलक्षणम्—

मध्यहीनाप्रवृद्धैस्तु वातपित्तकफैश्च यः। तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः॥ ३६॥ अन्तर्दाहो विशेषोऽत्र न च वक्तुं स शक्यते। रक्तमालक्तकेनैव लक्ष्यते मुखमण्डलम्॥३७॥ पित्तेनाकर्षितः श्लेष्मा हृदयान्न प्रसिच्यते। इषुणेवाहतं पार्श्वं तुद्यते खन्यते हृदि॥ ३८॥ प्रमीलकश्वासहिक्का वर्द्धन्ते तु दिने दिने। जिह्वा दग्धा खरस्पर्शा गलः शूकैरिवावृतः॥३९॥ विसर्गं नाभिजानाति कूजेच्चापि कपोतवत्। अतीव श्लेष्मणा पूर्णः शुष्कवक्त्रौष्ठतालुकः॥ तन्द्रानिद्राऽतियोगार्त्तो हतवाङ् निहतद्युतिः। अरतिं लभते नित्यं विपरीतानि चेच्छति॥ आयम्यते च बहुशो रक्तं ष्ठीवति चाल्पशः। एष कर्कटको नाम्ना सन्निपातः सुदारुणः॥४२॥

मध्यवात-हीनपित्त-मध्यकफ के द्वारा जो सन्निपात ज्वर होता है उसमें वातादिकों के पूर्वोक्त लक्षण दोष-बलानुसार प्रकट होते ही हैं किन्तु विशेष रूप से शरीर के अन्दर दाह होता

है, बोलने में असमर्थता हो जाती है, मुख आलता लगे हुए के समान लाल रङ्ग का हो जाता है, पित्त से खींचा हुआ (शोषित) कफ हृदय से बाहर नहीं निकलता है, पसुलियों में बाण चुभने के समान और हृदय में खोदने के समान पीड़ा होती है एवं प्रमीलक (सम्पूर्ण इन्द्रियों को अपने २ विषय को ग्रहण करने में असमर्थता), श्वास, हिचकी ये सब रोग दिन पर दिन बढ़ने लगते हैं, जिह्वा जली हुई के समान तथा स्पर्श में खुरदरी हो जाती है, गले के अन्दर शूकधान्य जौ आदि के अग्रभाग के समान कांटे चारों तरफ निकल आते हैं, मल-मूत्रादि के त्याग का ज्ञान नहीं रह जाता है, कबूतर के समान अस्फुट शब्द गले से निकलने लगता है, कण्ठ कफ से अत्यन्त भरा रहता है, मुख, ओष्ठ, तालु सूखने लगते हैं, तन्द्रा तथा निद्रा अधिक रहती है, बोलने की शक्ति तथा शरीर की कान्ति नष्ट हो जाती है, किसी भी अवस्था में शान्ति नहीं मिलती, विपरीत पदार्थों की सर्वदा इच्छा होती है और बारम्बार हाथ-पैर को फैलाता रहता है, थूक के साथ किञ्चित्-किञ्चित् रक्त जाने लगता है। इन सब लक्षणों से युक्त अत्यन्त भयङ्कर इस सन्निपात को वैद्य लोग 'कर्कटक' कहते हैं ॥ ३६-४२ ॥

१३ हीनवातमध्यपित्ताधिककफवैदारिकलक्षणम्—

हीनमध्यप्रवृद्धैस्तु वातपित्तकफैश्च यः। तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः ॥४३॥
अल्पशूलं कटीतोदो मध्ये दाहो रुजा भ्रमः। भृशं क्लमः शिरोबस्तिमन्याहृदयवाग्रुजः ॥४४॥
प्रमीलकः श्वासकासहिक्काजाड्यविसंज्ञताः। प्रथमोत्पन्नमेनन्तु साधयन्ति कदाचन ॥४५॥
एतस्मिन् सन्निवृत्ते तु कर्णमूले सुदारुणा। पिडका जायते जन्तोर्यया कृच्छ्रेण जीवति ॥४६॥
स वैदारिकसंज्ञोऽयं सन्निपातः सुदारुणः। त्रिरात्रात्परमेतस्य व्यर्थमौषधकल्पनम् ॥४७॥

हीनवात-मध्यपित्त-अधिककफ के द्वारा जो सन्निपात ज्वर होता है उसमें वातादिकों के पूर्वोक्त दाहादिक लक्षण दोष-बलानुसार होते ही हैं, किन्तु विशेष रूप से उसमें थोड़ा-थोड़ा शूल, कमर में सूई चुभोने की सी पीड़ा, छाती में दाह तथा पीड़ा, भ्रम, अत्यन्त क्लान्ति एवं सिर, मूत्राशय, गरदन, हृदय इन स्थानों में तथा बोलने में पीड़ा, प्रमीलक (नेत्रों का मिचते जाना), श्वास, खाँसी, हिचकी, शरीर में जड़ता और अत्यन्त बेहोशी होना ये सब लक्षण प्रकट होते हैं। रोग उत्पन्न होने के साथ ही यदि चिकित्सा की जाय तो कदाचित् रोगी बच सकता है, अन्यथा उसकी मृत्यु निश्चित रहती है। इस सन्निपात ज्वर के निवृत्त होने पर रोगी के कान के मूल भाग में अत्यन्त भयङ्कर फोड़ा उत्पन्न होता है, जिससे रोगी बड़ी कठिनता से मरने से बचता है, अन्यथा प्रायः मृत्यु हो जाती है। इस भयङ्कर सन्निपात को वैद्य लोग 'वैदारिक' कहते हैं। तीन रात्रि के अन्दर यदि इसकी उचित चिकित्सा न की जाय तो बाद में औषध देना व्यर्थ हो जाता है, अर्थात् रोगी मरने से नहीं बचता है ॥ ४३-४७ ॥

अथ पूर्वोक्तत्रयोदशसन्निपातज्वरविशेषाणां तन्त्रान्तरस्थनामानि।

शीताङ्गस्त्रिमलोद्भवज्वरगणे तन्द्री प्रलापी ततो-
रक्तष्ठीवयिता च तत्र गणितः सम्भुग्ननेत्रस्तथा।
साभिन्यासकजिह्वकश्च कथितः प्राक्सन्धिगोऽथान्तको-
रुग्दाहः सहचित्तविभ्रम इह द्वौ कर्णकण्ठग्रहौ ॥ ४८ ॥

पूर्वोक्त १३ सन्निपात ज्वर विशेषों के तन्त्रान्तरस्थ नाम—१. शीताङ्ग, २. तन्द्री, ३. प्रलापी, ४. रक्तष्ठीवयिता, ५. संभुग्ननेत्र, ६. अभिन्यासक, ७. जिह्वक, ८. सन्धिग, ९. अन्तक, १०. रुग्दाह, ११. चित्तविभ्रम, १२. कर्णग्रह और १३. कण्ठग्रह ॥ ४८ ॥

विमर्श—मूल में 'तन्द्री' पद से 'तन्द्रिक', 'प्रलापी' पद से 'प्रलापक' 'रक्तष्ठीवयिता' पद से 'रक्तष्ठीवी', 'संभुग्ननेत्र' पद से 'भुग्ननेत्र', 'अभिन्यासक' पद से 'अभिन्यास', 'कर्णकण्ठग्रहौ' अर्थात् 'कर्णग्रह' पद से 'कर्णिक' तथा 'कण्ठग्रह' पद से 'कण्ठकुब्जक' सन्निपात का ही बोध करना चाहिये ॥

अथ तेषां प्रत्येकं लक्षणानि ।

१ तत्र शीताङ्गस्य लक्षणम्—

हिमशिशिरशरीरः सन्निपातज्वरी यः, श्वसनकसनहिक्कामोहकम्पप्रलापैः ।
क्लमबहुकफवातैर्दाहवम्यङ्गपीडा-स्वरविकृतिभिरार्त्तः शीतगात्रः स उक्तः ॥ ४९ ॥

जिस सन्निपात ज्वर में रोगी का शरीर बर्फ के समान शीतल हो और श्वास, खाँसी, हिचकी, मोह, कम्प, प्रलाप, क्लान्ति तथा कफ का अधिक निकलना एवं वायु का अधिक कुपित होना, दाह, वमन, अङ्गों में पीड़ा, स्वर में विकृति ये लक्षण हों उसे 'शीताङ्ग' सन्निपात कहते हैं ॥ ४९ ॥

२ तन्द्रिकस्य लक्षणम्—

तन्द्राऽतीव ततस्तृषाऽतिसरणं श्वासोऽधिकः कासरुक्
संतप्ताऽतितनुर्गले श्वयथुना सार्द्धञ्च कण्डूः कफः ।
सुश्यामा रसना क्लमः श्रवणयोर्मान्द्यञ्च दाहस्तथा
यत्र स्यात् स हि तन्द्रिको निगदितो दोषत्रयोत्थो ज्वरः ॥ ५० ॥

जिस ज्वर में रोगी को अधिक तन्द्रा तथा प्यास, अतीसार, श्वास और खाँसी हो, शरीर अधिक गर्म हो, गले में सूजन के साथ खुजली तथा कफ हो, जीभ काली हो एवं क्लान्ति, कानों से अत्यन्त स्वल्प सुनाई पड़ना और दाह ये सब लक्षण हों उसे वैद्य लोग 'तन्द्रिक' सन्निपात कहते हैं ॥ ५० ॥

३ प्रलापकस्य लक्षणम्—

यत्र ज्वरे निखिलदोषनितान्तरोष-जाते प्रलापबहुलाः सहसोत्थिताश्च ।
कम्पव्यथापतनदाहविसंज्ञताः स्यु-र्नाम्ना प्रलापक इति प्रथितः पृथिव्याम् ॥ ५१ ॥

जिस ज्वर में वातादिक सम्पूर्ण दोषों के प्रकुपित होने से रोगी अधिक प्रलाप करता हो तथा कम्प, शरीर में पीड़ा, उठने पर लड़खड़ा कर गिर पड़ना, दाह तथा अत्यन्त बेहोशी ये सब लक्षण प्रगट हों, उसे संसार में प्रसिद्ध 'प्रलापक' सन्निपात कहते हैं ॥ ५१ ॥

४ रक्तष्ठीविनो लक्षणम्—

निष्ठीवो रुधिरस्य रक्तसदृशं कृष्णं तनौ मण्डलं
लौहित्यं नयने तृषाऽरुचिवमिश्वासातिसारभ्रमाः ।
आध्मानं च विसंज्ञता च पतनं हिक्काऽङ्गपीडा भृशं
रक्तष्ठीविनि सन्निपातजनिते लिङ्गं ज्वरे जायते ॥ ५२ ॥

थूकने पर रक्त निकलना, शरीर में रक्तवर्ण के तथा काले चकत्तों का होना; नेत्रों में लालिमा, अधिक प्यास, अरुचि, वमन, श्वास, अतिसार, भ्रान्ति, अफरा, होश न रहना, उठते-उठते लड़खड़ा कर गिर पड़ना, हिचकी, अङ्गों में अत्यन्त पीडा होना ये सब लक्षण 'रक्तष्ठीवी' सन्निपात ज्वर में होते हैं ॥ ५२ ॥

५ भुग्ननेत्रस्य लक्षणम्—

भृशं नयनवक्रता श्वसनकासतन्द्रा भृशं, प्रलापमदवेपथुश्रवणहानिमोहास्तथा ।
पुरा निखिलदोषजे भवति यत्र लिङ्गं ज्वरे, पुरातनचिकित्सकैः स इह भुग्ननेत्रो मतः ॥५३॥

जिस सन्निपात ज्वर में रोगी के नेत्रों में टेढ़ापन हो एवं श्वास, तन्द्रा, अधिक प्रलाप, मद, कम्प, बधिरता तथा मोह ये सब लक्षण प्रकट हों, उसे प्राचीन वैद्य लोग 'भुग्ननेत्र' सन्निपात कहते हैं

६ अभिन्यासस्य लक्षणम्—

दोषास्तीव्रतरा भवन्ति बलिनः सर्वेऽपि यत्र ज्वरे
मोहोऽतीव विचेष्टनो विकलता श्वासो भृशं मूकता।
दाहश्चिक्कणमाननञ्च दहनो मन्दो बलस्य क्षयः
सोऽभिन्यास इति प्रकीर्त्तित इह प्राज्ञैर्भिषग्भिः पुरा ॥ ५४ ॥

जिस सन्निपात ज्वर में सभी वातादिक दोष अत्यन्त प्रकुपित तथा बलवान् हों एवं रोगी में अधिक मोह, चेष्टाहीनता, विकलता, श्वास, मूकता, दाह, मुख में चिकनापन, अग्नि की मन्दता तथा बल की हानि ये लक्षण हों, उसे प्राचीन वैद्यजन 'अभिन्यास' नामक सन्निपात कहते हैं ॥५४॥

७ जिह्वकस्य लक्षणम्—

त्रिदोषजनिते ज्वरे भवति यत्र जिह्वा भृशं, वृता कठिनकण्टकैस्तदनु निर्भरं मूकता।
श्रुतिक्षतिबलक्षतिश्वसनकाससन्तप्तताः, पुरातनभिषग्वरास्तमिह जिह्वकं चक्षते ॥५५॥

जिस सन्निपात ज्वर में रोगी की जिह्वा में अत्यन्त कठिन काँटे पड़ जायँ तथा उसके साथ ही अत्यन्त मूकता हो जाय अर्थात् वह किसी प्रकार से बोल न सके, सुनने की शक्ति न हो तथा बल की हानि हो एवं श्वास, खांसी तथा शरीर में अधिक ताप हो, उसे प्राचीन वैद्यजन 'जिह्वक' सन्निपात कहते हैं ॥ ५५ ॥

८ सन्धिगस्य लक्षणम्—

व्यथाऽतिशयिता भवेच्छ्वयथुसंयुता सन्धिषु, प्रभूतकफता मुखे विगतनिद्रता कासरुक्।
समस्तमिति कीर्त्तितं भवति लक्ष्म यत्रज्वरे, त्रिदोषजनिते बुधैः स हि निगद्यते सन्धिगः॥

जिस सन्निपात ज्वर में रोगी के सन्धिस्थानों में शोथ के साथ साथ अधिक पीड़ा भी हो और मुख में अत्यन्त कफ लिपटा रहता हो, नींद न आती हो तथा खांसी अधिक आती हो, उसे 'सन्धिग' या 'सन्धिक' सन्निपात कहते हैं ॥ ५६ ॥

९ अन्तकस्य लक्षणम्—

यस्मिंल्लक्षणमेतदस्ति सकलैर्दोषैरुदीते ज्वरेऽ-
जस्रं मूर्द्धविधूननं सकसनं सर्वाङ्गपीडाऽधिका।
हिक्काकाससदाहमोहसहिता देहेऽतिसन्तप्तता
वैकल्यञ्च वृथावचांसि मुनिभिः संकीर्त्तितः सोऽन्तकः॥ ५७ ॥

जिस सन्निपात ज्वर में रोगी निरन्तर सिर को हिलाया करे तथा खांसी, सर्वाङ्ग में अधिक पीड़ा, हिचकी, श्वास, दाह, मोह, देह में अत्यन्त सन्ताप, बिकलता और व्यर्थ बकवाद करना ये सब लक्षण देख पड़ते हों, उसे आयुर्वेदज्ञ मुनिजन 'अन्तक' सन्निपात कहते हैं ॥ ५७ ॥

१० रुग्दाहस्य लक्षणम्—

दाहोऽधिको भवति यत्र तृषा च तीव्रा, श्वासप्रलापविरुचिभ्रममोहपीडाः।
मन्याहनुव्यथनकण्ठरुजः श्रमश्च, रुग्दाहसंज्ञ उदितस्त्रिभवो ज्वरोऽयम् ॥ ५८ ॥

जिस सन्निपात ज्वर में रोगी को अधिक दाह होता हो तथा प्यास अधिक लगती हो एवं श्वास, प्रलाप, विरुचि (विपरीत रुचि), भ्रम, मोह, पीड़ा, मन्या (नाड़) तथा ठोड़ी में अत्यन्त वेदना, कण्ठ में पीड़ा, थकावट ये सब लक्षण हो रहे हों, उसे 'रुग्दाह' सन्निपात समझना चाहिये ॥

११ चित्तभ्रमस्य लक्षणम्—

गायति नृत्यति हसति प्रलपति विकृतं निरीक्षते मुह्येत् ।
दाहव्यथाभयार्त्तो नरस्तु चित्तभ्रमे ज्वरे भवति ॥ ५९ ॥

'चित्तभ्रम' सन्निपात ज्वर में रोगी गाना गाता है, नाचता है, हँसता है, प्रलाप करता है, बुरे ढंग से देखता है तथा मोह को प्राप्त होता है एवं दाह, व्यथा तथा भय से पीडित होता है ॥५९॥

१२ कर्णिकस्य लक्षणम्—

दोषत्रयेण जनितः किल कर्णमूले, तीव्रा ज्वरे भवति तु श्वयथुर्व्यथा च ।
कण्ठग्रहो बधिरता श्वसनं प्रलापः, प्रस्वेदमोहदहनानि च कर्णिकाख्ये ॥ ६० ॥

जिस ज्वर में तीनों दोषों के कुपित होने से रोगी के कर्णमूल भाग में सूजन के साथ तीव्र पीड़ा होती हो तथा कण्ठ का अवरोध, बधिरता, श्वास, प्रलाप, अधिक पसीना निकलना, मोह तथा दाह होता हो, उसे 'कर्णिक' सन्निपात कहते हैं ॥ ६० ॥

१३ कण्ठकुब्जस्य लक्षणम्—

कण्ठः शूकशतावरुद्धवदतिश्वासः प्रलापोऽरुचि-
र्दाहो देहरुजा तृषाऽपि च हनुस्तम्भः शिरोऽर्त्तिस्तथा ।
मोहो वेपथुना सहेति सकलं लिङ्गं त्रिदोषज्वरे
यत्र स्यात् स हि कण्ठकुब्ज उदितः प्राच्यैश्चिकित्साबुधैः ॥ ६१ ॥

जिस सन्निपात ज्वर में रोगी का कण्ठ सैकड़ों धान आदि के शूक के समान कांटों से भरा प्रतीत होता हो तथा अत्यन्त श्वास, प्रलाप, अरुचि, दाह, शरीर में पीड़ा, प्यास, हनुस्तम्भ, शिर में पीड़ा, मोह और कम्पन ये सब लक्षण हों, उसे प्राचीन चिकित्सा शास्त्र के पण्डित लोग 'कण्ठकुब्ज' सन्निपात कहते हैं ॥ ६१ ॥

अथ सन्निपातज्वरस्यासाध्यासाध्यत्वम्—

सन्धिगस्तेषु साध्यः स्यात् तन्द्रिकश्चित्तविभ्रमः ।
कर्णिको जिह्वकः कण्ठकुब्जः पञ्चापि कष्टदाः ॥ ६२ ॥
रुग्दाहस्त्वतिकष्टेन संसाध्यस्त्वेषु भाषितः । रक्तष्ठीवी भुग्ननेत्रः शीतगात्रः प्रलापकः ।
अभिन्यासोऽन्तकश्चैते षडसाध्याः प्रकीर्त्तिताः ॥ ६३ ॥

साध्य तथा असाध्य सन्निपात ज्वरों के नाम—पूर्वोक्त सन्निपात ज्वरों में सन्धिग सन्निपात साध्य है, १. तन्द्रिक, २. चित्तविभ्रम, ३. कर्णिक, ४. जिह्वक, ५. कण्ठकुब्ज ये पाँच सन्निपात ज्वर कष्टसाध्य हैं, रुग्दाह सन्निपात अत्यन्त कष्टसाध्य है एवं १. रक्तष्ठीवी, २. भुग्ननेत्र, ३. शीतगात्र ४. प्रलापक, ५. अभिन्यास, ६. अन्तक ये छः सन्निपात ज्वर असाध्य कहे गये हैं ॥ ६२–६३ ॥

अथान्यग्रन्थोक्तवातोल्बणादित्रयोदशसन्निपातानां कुम्भीपाकादीनि नामानि ।

कुम्भीपाकः प्रोर्णुनावः प्रलापी ह्यन्तर्दाहो दण्डपातोऽन्तकश्च ।
एणीदाहश्चाथ हारिद्रसंज्ञो भेदा एते सन्निपातज्वरस्य ॥ ६४ ॥
अजघोषभूतहासौ यन्त्रापीडश्च संन्यासः। संशोषी च विशेषास्तस्यैवोक्तास्त्रयोदशान्यत्र ॥६५॥

सन्निपात ज्वरों के अन्य १३ कुम्भीपाकादि नाम—१. कुम्भीपाक, २. प्रोर्णुनाव, ३. प्रलापी, ४. अन्तर्दाह, ५. दण्डपात, ६. अन्तक, ७. एणीदाह, ८. हारिद्र, ९. अजघोष, १०. भूतहास, ११. यन्त्रापीड, १२. संन्यास १३. संतोषी, ये नाम अन्यत्र क्रम से पूर्वोक्त वातोल्बणादि सन्निपात ज्वरों के कहे हुए हैं ॥ ६४–६५ ॥

अथैषां लक्षणानि—

१ तत्र कुम्भीपाकस्य लक्षणम्—

घोणाविवरञ्चरद्धहुशोणासितलोहितं सान्द्रम् ।
विलुठन्मस्तकमभितः कुम्भीपाकेन पीडितं विद्यात् ॥ ६६ ॥

जिस सन्निपात ज्वर में रोगी की नाक से काला, लाल एवं गाढ़ा रुधिर निकलता हो और वह अपने सिर को इधर-उधर बारम्बार चलाता हो, उसे 'कुम्भीपाक' सन्निपात ज्वर से पीड़ित समझना चाहिये ॥ ६६ ॥

२ प्रोर्णुनावस्य लक्षणम्—

उत्क्षिप्य यः स्वमङ्गं क्षिपत्यधस्तान्नितान्तमुच्छ्वसिति ।
तं प्रोर्णुनावजुष्टं विचित्रकष्टं विजानीयात् ॥ ६७ ॥

जिस सन्निपात ज्वर में रोगी बारम्बार अपने हाथ-पैर आदि अङ्गों को इधर-उधर फेंकता हो तथा निरन्तर जोर से श्वास लेता हो उसे अनेक प्रकार के कष्ट देने वाले 'प्रोर्णुनाव' सन्निपात ज्वर से पीड़ित समझना चाहिये ॥ ६७ ॥

३ प्रलापिनो लक्षणम्—

स्वेदभ्रमाङ्गभेदाः कम्पो दवथुर्वमिर्व्यथा कण्ठे। गात्रञ्च गुर्वतीव प्रलापिजुष्टस्य जायते लिङ्गम्॥

'प्रलापी' सन्निपात ज्वर वाले रोगी को पसीना, भ्रम, शरीर तोड़ने की सी पीड़ा, कम्प, नेत्रादिक में दाह, वमन, कण्ठ में पीड़ा और शरीर में गुरुता ये सब लक्षण प्रकट होते हैं (इस ज्वर में प्रलाप भी होता है । यह इसके नाम से ही स्पष्ट है) ॥ ६८ ॥

४ अन्तर्दाहस्य लक्षणम्—

अन्तर्दाहः शैत्यं बहिः श्वयथुररतिरति तथा श्वासः ।
अङ्गमपि दग्धकल्पं सोऽन्तर्दाहार्दितः कथितः ॥ ६९ ॥

जिस ज्वर में रोगी के शरीर के अन्दर दाह हो और ऊपर से सर्दी भी मालूम पड़ती हो तथा शोथ, बेचैनी और श्वास भी हो एवं उसे अपना शरीर जलते हुये के समान प्रतीत होता हो, उसे 'अन्तर्दाह' सन्निपात ज्वर से पीड़ित कहते हैं ॥ ६९ ॥

५ दण्डपातस्य लक्षणम्—

नक्तन्दिवा न निद्रामुपैति गृह्णाति मूढधीर्नभसः । उत्थाय दण्डपाती भ्रमातुरः सर्वतो भ्रमति॥

जिस ज्वर में रोगी को दिन या रात्रि में कभी नींद न आती हो और वह बुद्धि के भ्रम से आकाश की तरफ किसी वस्तु को पकड़ने के लिये जैसे हाथ पसारता है और एकाएक उठकर दण्ड की भाँति बारम्बार गिर पड़ता हो एवं भ्रम से युक्त चारों तरफ घूरता हो उसे 'दण्डपात' सन्निपात ज्वर से पीड़ित समझना चाहिये ॥ ७० ॥

६ अन्तकस्य लक्षणम्—

संपूर्यते शरीरं ग्रन्थिभिरभितस्तथोदरं मरुता। श्वासातुरस्य सततं विचेतनस्यान्तकार्त्तस्य॥

'अन्तक' सन्निपात ज्वर वाले रोगी के समस्त शरीर में गाँठें निकल आती हैं और उदर वायु से भर जाता है तथा वह निरन्तर श्वास से अत्यन्त पीड़ित रहता है एवं संज्ञा से रहित भी हो जाता है ॥ ७१ ॥

७ एणीदाहस्य लक्षणम्—

परिधावतीव गात्रे रुग्गात्रे भुजगपतगहरिणगणः । वेपथुमतः सदाहस्यैणीदाहज्वरार्त्तस्य ॥

जिस रोगी को 'एणीदाह' सन्निपात ज्वर होता है उसके शरीर में अत्यन्त पीड़ा होती है । तथा उसे अपने शरीर के ऊपर साँप, पांखी तथा हरिण के समूह दौड़ रहे हों ऐसा प्रतीत होता है और शरीर में कम्प तथा दाह भी होता रहता है ॥ ७२ ॥

८ हारिद्रकस्य लक्षणम् —

यस्यातिपीतमङ्गं नयने सुतरां मलस्ततोऽप्यधिकम् ।
दाहोऽतिशीतता बहिरस्य स हारिद्रको ज्ञेयः ॥ ७३ ॥

जिस त्रिदोष ज्वर में रोगी का शरीर अत्यन्त पीला हो जाता है तथा नेत्र और भी अधिक पीले हो जाते हैं एवं मल नेत्र से भी अधिक पीला हो जाता है और शरीर के अन्दर दाह होता है किन्तु ऊपर से ठण्ढक प्रतीत होती है उसे 'हारिद्रक' संनिपात कहते हैं ॥ ७३ ॥

९ अजघोषस्य लक्षणम्—

छगलकसमानगन्धः स्कन्धरुजावान्निरुद्धगलरन्ध्रः ।
अजघोषसन्निपातादाताम्राक्षः पुमान् भवति ॥ ७४ ॥

'अजघोष' संनिपात ज्वर में रोगी के नेत्र ताम्र के समान लालवर्ण के हो जाते हैं और उसके शरीर से बकरे के समान गन्ध आने लगती है, कन्धों में पीडा होती है तथा गले का छिद्र अवरुद्ध हो जाता है जिससे स्वर बकरे के स्वर के समान हो जाता है ॥ ७४ ॥

१० भूतहासस्य लक्षणम्—

शब्दादीनधिगच्छति न स्वान् विषयान् यदिन्द्रियग्रामैः ।
हसति प्रलपति पुरुषः स ज्ञेयो भूतहासार्त्तः ॥ ७५ ॥

जो रोगी अपने ज्ञानेन्द्रियों से शब्द आदिक विषयों को नहीं ग्रहण करता अर्थात् जो देख सुन आदि नहीं सकता और हंसता तथा (कर्कश स्वर से) प्रलाप करता है उसे भूतहास संनिपात ज्वर से पीड़ित समझना चाहिये ॥ ७५ ॥

११ यन्त्रापीडस्य लक्षणम्—

येन मुहुर्ज्वरवेगाद् यन्त्रेणेवावपीड्यते गात्रम् । रक्तं पित्तञ्च वमेद् यन्त्रापीडः स विज्ञेयः ॥

जिस त्रिदोष ज्वर में रोगी अपना शरीर बारंबार ज्वर के वेग से कोल्हू में पेरने की भाँति पीड़ित प्रतीत होता हो और रक्तसहित पित्त का वमन होता हो उसे 'यन्त्रापीड' संनिपात ज्वर समझना चाहिए ॥ ७६ ॥

१२ संन्यासस्य लक्षणम्—

अतिसरति वमति कूजति गात्राण्यभितश्चिरं नरः क्षिपति ।
संन्याससन्निपाते प्रलपत्युग्राक्षिमण्डलो भवति ॥ ७७ ॥

'संन्यास' संनिपात ज्वर में अतीसार और वमन होता है तथा धीरे-धीरे अव्यक्त शब्द करने लगता है एवं बहुत देर तक अपने अङ्गों को इधर-उधर फेंकता है, प्रलाप करता है तथा उसका नेत्र-मण्डल देखने में उग्र हो जाता है ॥ ७७ ॥

१३ संशोषिणो लक्षणम्—

मेचकवपुरतिमेचकलोचनयुगलो मलोत्सर्गात् ।
संशोषिणि सितपिडकामण्डलयुक्तो ज्वरे नरो भवति ॥ ७८ ॥

संशोषी संनिपात ज्वर में रोगी का शरीर और दोनों नेत्र अधिक दस्त आने से काले पड़ जाते हैं और शरीर में सफेद-सफेद फुन्सियों का मण्डल उत्पन्न हो जाता है ॥ ७८ ॥

सन्निपातज्वरस्य भयङ्करता—

नारायण एव भिषग् भेषजमेतेषु जाह्नवीनीरम् । भैषज्यहेतुरेको नित्यं मृत्युञ्जयो ध्येयः ॥

सभी संनिपात ज्वरों में श्रीनारायण ही प्रधानरूप से वैद्य रह जाते हैं, औषधियों में केवल गङ्गाजल ही रह जाता है और आरोग्य होने के लिये एक मृत्युञ्जय भगवान् शिवजी का

ध्यानमात्र आधार रह जाता है। अर्थात् अत्यन्त भयङ्कर होने से बड़ी कठिनता से रोगी के प्राण बचते हैं ॥ ७९ ॥

विमर्श—इनके अतिरिक्त भी ज्वरों के एकदोषज, द्विदोषज और त्रिदोषज ज्वर तथा विभिन्न अन्य कारणों से उत्पन्न अनेक ज्वरों का भी वर्णन भिन्न-भिन्न प्रकारों से प्राचीन अनेक ग्रन्थों में विकीर्ण रूप से मिलता है। सबका संग्रह करने से केवल ज्वर पर ही एक स्वतन्त्र ग्रन्थ बन जा सकता है। इसमें से कुछ का संग्रह भिषक्शिरोमणि श्री गोवर्धनशर्मा छांगाणीजी द्वारा सम्पादित (आन्ध्र भाषा में प्राप्त मूल ग्रन्थ नागराक्षरों में परिवर्तित) 'बसवराजीयम्' ग्रन्थ में देख सकते हैं।

सन्निपातज्वरस्य साध्यासाध्यत्वम्—

सन्निपातज्वरान् कष्टानसाध्यानपरे जगुः।

संनिपात ज्वरों की साध्यता और असाध्यता—संनिपात ज्वरों को कोई वैद्य कष्टसाध्य और कोई असाध्य बतलाते हैं अर्थात् संनिपात ज्वर सुखसाध्य किसी भी दशा में नहीं होते।

विमर्श—सन्निपात ज्वर की असाध्यता के लक्षण और कालमर्यादा आदि पूर्वार्ध पृष्ठ १०१ पर देखें। पूर्वोक्त विभिन्न सांनिपातिक ज्वरों में से किसी भी एक का अपचार या उपेक्षा से अन्यस्वरूप में परिवर्तन हो सकता है अथवा उपद्रव स्वरूप किसी एक प्रकार में दूसरा प्रकार भी उत्पन्न हो सकता है। अत एव इनकी अर्वाचीन पद्धति से वर्णित प्रचलित 'टायफायड', 'न्यूमोनिया', 'प्लेग' आदि विभिन्न ज्वरों से तुलना करना (अनेक स्थलों पर सम्भव प्रतीत होते हुए भी) ठीक नहीं। अर्वाचीन विभिन्न ज्वरों के विशिष्ट कारण, लक्षण और सम्प्राप्ति का सामान्य रूप से पृथक्-पृथक् वर्णन होते हुए भी देश, काल और व्यक्ति भेद से विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं। उपेक्षा, कुचिकित्सा और कुपथ्य के परिणाम या उपद्रव स्वरूप एक किसी भी विशिष्ट ज्वर में विभिन्न अन्य ज्वरों के लक्षण उत्पन्न हो जा सकते हैं। जैसे प्रचलित मलेरिया ज्वर में सामान्यतः वातपैत्तिक या वातपित्तोल्बण त्रिदोष ज्वर के लक्षण मिलते हैं किन्तु शीत देश व काल अथवा शीतोपचार आदि से श्लेष्मपित्त ज्वर के लक्षण और कभी-कभी अवस्था विशेष में उपद्रव स्वरूप त्रिदोष ज्वर के पूर्वोक्त विभिन्न स्वरूपों में से किसी एक के लक्षण उत्पन्न हो जा सकते हैं। यही स्थिति अन्य रोगों में भी मिलती है। अतः प्राचीन आचार्यों ने दोषानुसार लक्षणों का निर्देश मात्र ही विशेष महत्त्व का माना है। किन्तु पूर्वोक्त त्रिदोष ज्वरों के विभिन्न नाम, लक्षण, सम्प्राप्ति, चिकित्सा और साध्यासाध्यत्व आदि के वर्णनों को देखते हुए 'प्राचीनों ने अन्य दृष्टिकोणों से रोगों का विवेचन करने की उपेक्षा की है' यह भी नहीं कह सकते। इसलिए छात्रों एवं सामान्य वैद्यों के ज्ञान-वृद्धि और सद्वैद्यों के विचार के लिए आगे कुछ प्रचलित अर्वाचीन तन्त्रोक्त रोगों का भी वर्णन किया जा रहा है।

अर्वाचीन-तन्त्रोक्ता ज्वराः

तत्रादौ मन्थरकज्वरनिदानम्[1]—

बहुध्वक्रान्ततनवस्तथाऽनशनकर्षिताः। दुर्गन्धपूर्णभूमौ वा नित्यमेव निवासिनः ॥१॥
यद्यप्येषां मलोन्मिश्रभक्ष्यपानादिसेवनात्। भवेदृतुषु सर्वेषु घोरो मन्थरको ज्वरः ॥२॥
तथाऽपि बहुशो लोके ग्रीष्मप्रावृट्शरत्स्वसौ। भीमलक्षणसंयुक्तो लक्ष्यते वैद्यसत्तमैः ॥३॥
आन्त्रिकेत्यभिधानं चापरमस्यैव कथ्यते। सामान्यं कारणं प्रोक्तं विशिष्टं तु निगद्यते ॥४॥
कीटाणवो 'बेसिलस-टाईफोसस' नामकाः। दण्डाकाराः कृतावासा रक्ते मूत्राशये मले ॥५॥

1. Typhoid fever.

स्वेदे पित्ताशये प्लीह्नि पिडकास्वान्त्रिकव्रणे। जनयन्ति नृणां देहे ज्वरं प्रोक्तं विशेषतः ॥६॥

अत्यधिक मार्ग चलने से जिनका शरीर थक गया है या अधिक उपवास करने के कारण जो क्षीण हो गये हैं, या दुर्गन्धपूर्ण स्थान में रहने वाले हैं, ऐसे व्यक्तियों को प्रायः इस रोग से पीडित रोगियों के मल आदि के सम्पर्क से दूषित भक्ष्य (खाने योग्य) और पेय (पीने योग्य) पदार्थों के सेवन से सभी ऋतुओं में घोर मन्थरक ज्वर होता है, किन्तु साधारणतया लोगों को ग्रीष्म, वर्षा तथा शरद् ऋतु में भयानक लक्षणों से युक्त वह (मन्थरक) दिखाई पडता है। इसका दूसरा नाम 'आन्त्रिक ज्वर' भी है। सामान्य कारणों का निर्देश कर दिया गया अब विशेष कारण का उल्लेख करते हैं। वस्तुतः 'बैसिलस टाईफोसस' नामक दण्डाकार कीटाणु ही इस रोग के मूल कारण हैं जो कि रोगी के रक्त, मूत्राशय, मल, स्वेद, पित्ताशय, प्लीहा, पिडका, और आन्त्रिक व्रण में रहते हैं। खाद्य पेय वस्तुओं में इनकी उपस्थिति से ही पूर्वोक्त ज्वर मनुष्यों के शरीर में हो जाता है ॥ १-६ ॥

मन्थरकज्वरस्य सम्प्राप्तिः—

मलमूत्रस्वेदजातदोषसंसर्गदूषितैः। भक्ष्यपेयादिभिर्द्रव्यैर्नानासंक्रमकारणैः ॥ ७ ॥
कीटाणवः संक्रमणं प्रकुर्वन्ति विशेषतः। कृत्वा संक्रमणं नृणामादावन्त्रं प्रयान्ति ते ॥ ८ ॥
तत्पश्चादन्त्रभित्तिस्थान् ग्रन्थीञ्छोथसमन्वितान्। कृत्वा सद्यो रसं रक्तं दोषान् सङ्कोपयन्त्यपि॥
ततः क्षुद्रान्त्रान्त्यभागाञ्छनैः कुर्वन्ति सक्षतान्। पश्चादान्त्रक्षतानां च वृद्धिः संजायते क्रमात्॥
तया क्षुद्रान्त्रभागस्थं क्षतं तत्पारगं भवेत्। ततः शोथत्वमाप्नोति चोदरस्था कला ध्रुवम्॥
एवं रीत्या क्षते वृद्धे पुरीषोत्सर्जने क्वचित्। लक्षयेत यदि रक्तस्य स्रावो भिन्नान्त्रता तदा।
ज्ञातव्या भिषजा चापि नूनं तस्याप्यसाध्यता ॥ १२ ॥

मल-मूत्र तथा स्वेद में स्थित दोषों के संसर्ग से दूषित भक्ष्य तथा पेय पदार्थों के सेवन आदि नानाविध संक्रमण के कारणों से उक्त जीवाणु विशेष रूप से एक व्यक्ति से दूसरे पर सक्रान्त होते हैं। इस भाँति से वे संक्रमण करके प्रथम अन्त्र में प्रवेश करते हैं उसके पश्चात् अन्त्र की भित्तिओं में स्थित ग्रन्थियों को शोथयुक्त कर रस, रक्त तथा दोषों को शीघ्र ही कुपित कर देते हैं। तत्पश्चात् क्षुद्र अन्त्रों के अन्तिम भागों को धीरे धीरे क्षतयुक्त कर देते हैं। इन अन्त्र-क्षतों की क्रमशः वृद्धि होती है तथा क्षुद्र अन्त्र के भागों में स्थित यह क्षत बढ़ते-बढ़ते आन्त्र को छेद कर पार हो जाता है जिससे उदरस्था कला में शोथ उत्पन्न हो जाता है। इस रीति से क्षत के बढ़ जाने पर जब कभी मल-त्याग के समय रक्त का स्राव होने लगे तो वैद्य को समझ लेना चाहिये कि रोगी के अन्त्र भाग को क्षत आर पार कर गया है और रोग असाध्य अवस्था में पहुँच गया है ॥ ७-१२ ॥

मन्थरकज्वरस्य पूर्वरूपम्—

शिरोव्यथा स्यादरुचिस्ततोऽरतिस्तमोऽवसादोऽपि च विड्विबद्धता।
सप्ताहपर्यन्तमिति स्फुटास्फुटं ज्वरेऽग्ररूपं नियतं सदाऽऽन्त्रिके ॥ १३ ॥

आन्त्रिक (मन्थरक) ज्वर की पूर्वरूपावस्था में रोगी के सिर में व्यथा, अरुचि, बेचैनी, आँखों के सामने अँधेरा छा जाना, शरीर में अवसाद, मलबद्धता आदि लक्षण एक सप्ताह तक किसी को प्रकट किसी को अप्रकट रूप से होते हैं ॥ १३ ॥

मन्थरकज्वरस्य रूपम्—

तदग्ररूपं च ततोऽष्टमेऽहनि भवेदभिव्यक्तिमवाप्य लक्षणम्।
ज्वरोऽथ नित्यं क्रमतः प्रवर्द्धते सहापरैर्मन्थरकेऽत्र लक्षणैः ॥ १४ ॥
भवेत्तदा तु ज्वरतापसीमा चतुर्युतं पञ्चयुतं शतं वा।

प्लीह्नोऽपि वृद्धिः परिदृश्यतेऽस्मिञ्ज्वरे नृणां मन्थरकाभिधाने ॥ १५ ॥
ये भारतीयाः खलु तेषु मुक्ताफलोपमाः स्युः पिडका ज्वरेऽस्मिन् ।
लीयन्त उद्भूय च तास्तु जङ्घाग्रीवोदरे चैव गदस्वभावात् ॥ १६ ॥
किन्त्वाङ्ग्लदेशस्थनरेषु तद्वत्पूर्वोदिताङ्गेष्वरुणाश्च ताः स्युः ।
ज्वरेऽत्र जिह्वा मलिनाऽथ रूक्षा रक्ताङ्कुरैः स्यात् परितश्चिता च ॥ १७ ॥
एवं क्वचिच्च स्फुटिता तथा चोदरं सदाऽऽध्मानयुतं निरीक्ष्यते ।
एतेषु चिह्नेषु समुद्भवत्सु प्रागुक्तसीमां लभते ज्वरोऽपि ॥ १८ ॥
आद्ये तु सप्ताह इयं दशा स्यादथो द्वितीये दिनसप्तके तु ।
ज्वरस्तु पूर्वोदितसीमसंस्थः प्रलापतन्द्राकसनप्रमोहैः ॥ १९ ॥
आक्षेपदौर्बल्यमुखप्रशोषाध्मानैररत्या सहितो विशेषात् ।
जिह्वाऽत्र रक्ता परितोऽन्त्यभागे तथा च मध्ये मलिनाऽथ कर्कशा ॥ २० ॥
विलोक्यते प्रस्फुटिता च नेत्रे स्तब्धे च तेजोरहिते भवेताम् ।
नाडीगतिर्नातिचलाऽतितापश्चिन्ताविहीना वदनाकृतिः स्यात् ॥ २१ ॥
अन्यानि दोषत्रितयोदितानि चिह्नानि चाप्यत्र भवन्ति नूनम् ।
अथो द्वितीये दिनसप्तके तु क्वचिच्चतुर्थे क्रमतो ज्वरोऽयम् ॥ २२ ॥
उपद्रवैः सार्द्धमुपैति रिक्ततां प्रायस्तृतीये तु गते विमुञ्चति ॥ २३ ॥
उपद्रवसमाधिक्यं सततहितसेविनः । जायते तेन नियतं कुपथ्यं यत्नतस्त्यजेत् ॥२४॥

इसके बाद आठवें दिन पूर्वोक्त पूर्वरूप के लक्षण स्पष्ट रूप से प्रकट होकर लक्षण स्वरूप हो जाते हैं । उस समय रोगी का ज्वर क्रमशः अन्य लक्षणों के साथ बढ़ने लगता है और ज्वर का तापमान १०४ या १०५ डिग्री तक हो जाता है । मन्थरक ज्वर में रोगी की प्लीहा भी इस सप्ताह में बढ़ जाती है और जङ्घा, ग्रीवा तथा उदर भाग में मोती के समान दाने भी निकल आते हैं जो उत्पन्न होकर विलीन हो जाते हैं । यूरोप-देशवासी में वे दाने पूर्वोक्त स्थानों में ही लाल रङ्ग के होते हैं । जिह्वा मैली, रूखी तथा रक्तवर्ण के अङ्कुरों से सर्वत्र व्याप्त तथा कभी फटी हुई रहती है और उदर आध्मान युक्त रहता है । इन सब लक्षणों के क्रमशः प्रकट होने पर ज्वर का भी तापमान पूर्वोक्त (१०४-१०५) डिग्री तक पहुँच जाता है । यह दशा ज्वर होने के प्रथम सप्ताह में रहती है उसके बाद द्वितीय सप्ताह में ज्वर का तापमान पूर्वोक्त सीमा पर तो बना ही रहता है किन्तु रोगी को प्रलाप, तन्द्रा, खाँसी, प्रमोह, आक्षेप, दुर्बलता, मुखशोष, आध्मान तथा अरति (किसी काम में मन का न लगना) भी हो जाती है । जिह्वा किनारों पर रक्तवर्ण की और मध्य में मैली तथा कर्कश एवं फटी सी दिखाई पड़ती है । नेत्र स्तब्ध तथा तेजहीन हो जाते हैं । ज्वर का ताप अत्यधिक रहने पर भी नाडी की गति अत्यन्त चञ्चल नहीं होती है, मुख की आकृति चिन्तारहित सी दिखाई पड़ती है इस प्रकार अन्यान्य भी संनिपात के लक्षण रोगी में प्रकट होते हैं । इसके बाद तृतीय या चतुर्थ सप्ताह में उपद्रवों के सहित यह ज्वर शान्त हो जाता है । अधिकतर तो तीसरे ही सप्ताह में ज्वर छूट जाता है । इसमें निरन्तर कुपथ्य करने वाले रोगी को उपद्रव अधिक बढ़ जाता है । अतः यत्नपूर्वक कुपथ्य से बचना अत्यावश्यक है ॥ १४-२४ ॥

मन्थरकज्वरस्यासाध्यलक्षणम्—

यदा कुपथ्याचरणे रतस्य ज्वरार्दितस्यान्त्रगतो हि यक्ष्मा ।
भवेत्तदा तेन च फुप्फुसद्वयं ध्रुवं समाक्रान्तमपि प्रदृश्यते ॥ २५ ॥
तथा प्रजातैरितरैरुपद्रवैर्युतोऽयमान्त्रक्षयनामभाग् भवन् ।

असाध्यतां प्राप्य तदा तु याप्यतां लभेत रोगी बहुयत्नतः क्वचिद् ॥ २६ ॥
यदाऽतिसारोऽधिकतीव्रतापो विषाक्तता रक्तविनिर्गमश्च ।
शोथान्विताऽथोदरगा कला स्यात्तदाऽप्यसाध्यो गदितो गदोऽयम् ॥ २७ ॥
अन्यानि रूपाणि च यानि पूर्वप्रोक्तानि वैद्यैरपि तानि नूनम् ।
प्राबल्यमीयुर्यदि दैवतः क्वचित्तदाऽप्यसाध्यत्वमितो गदो भवेत् ॥ २८ ॥
यदा प्रदृश्येत रुजस्त्वसाध्यता चिकित्सकैर्मन्थरकज्वरार्दिते ।
विना चिकित्साऽऽगमसिद्धपादचतुष्टयं स्यान्न तदा तु साध्यता ॥ २९ ॥

जब मन्थरक ज्वर वाले रोगी को बराबर कुपथ्य करते रहने से दैवात् अन्त्रगत यक्ष्मा (क्षय) रोग हो जाता है तब रोगी के दोनों फुफ्फुस (फेफड़े) भी रोगाक्रान्त हो जाते हैं और अन्य उपद्रव भी हो जाते हैं तब यही मन्थरक ज्वर 'आन्त्रक्षय' नाम से असाध्य कहा जाने लगता है और बहुत यत्न करने से कोई-कोई रोगी बचते हैं। जब रोगी को अतिसार, अधिक तीव्र ताप, विषाक्तता (टाक्सीमिया), रक्तस्राव और उदरगा कला में शोथ उत्पन्न हो जाता है तब भी वह असाध्य समझा जाता है और इसके अतिरिक्त अन्यान्य लक्षण ऊपर जो वैद्यों द्वारा कहे गये हैं वे यदि दैवात् उग्ररूप से प्रकट होवें तो अत्यन्त असाध्य समझा जाता है। उस समय सद्वैद्यों द्वारा उत्तमोत्तम औषधादि की उचितरूपेण व्यवस्था करने से ही रोगी का बचना संभव होता है ॥ २५-२९ ॥

विमर्श—मन्थरक ज्वर प्रायः पित्तोल्बण त्रिदोषज होता है किन्तु विभिन्न अवस्थाओं में अथवा अपचार से अन्य दोषों की भी उल्बणता हो सकती है। इस ज्वर से पीडित विभिन्न रोगियों में पूर्वोक्त संनिपात ज्वर के विविध स्वरूपों में से किसी भी एक प्रकार के लक्षण मिल सकते हैं।

अथाक्षेपक[1]ज्वरनिदानम्

आक्षेपकज्वरनिरुक्तिः—

यस्मादाक्षिप्यन्ते, प्रायेणाङ्गानि यन्ति संकोचम्। घोरो ज्वरश्च संज्ञाहृदसावाक्षेपकः प्रोक्तः ॥

जिस रोग में रोगी के अङ्ग प्रायः आक्षेपयुक्त और संकुचित होते रहते हों और रोगी संज्ञाशून्य हो जाय तथा घोर ज्वर होता हो उसे 'आक्षेपक' ज्वर कहते हैं ॥ १ ॥

आक्षेपकज्वरस्य निदानम्—

बहुजनसमवायो यत्र देशे विशेषादथ च यदि सदा स्यात्पांसुधूमप्रसारः ।
नरि रचयति वासं तत्र जीवाणुजातो ज्वर इह खलु जायेतातिदुःखप्रदोऽयम् ॥ २ ॥

जहाँ पर अधिक मनुष्य निवास करते हों (घनी आबादी हो) तथा जहाँ पर धूलि या धूम अधिक हो वहाँ के रहने वाले लोगों में जीवाणुओं द्वारा यह (आक्षेपक) ज्वर उत्पन्न होता है जो अत्यन्त दुःखप्रद है ॥ २ ॥

तस्य संप्राप्तिः—

पूर्वोक्तहेतोरुदितं विषं हि, मस्तिष्कमूले मनुजस्य यस्य ।
प्रायेण नूनं परितः सुषुम्णाकाण्डं च तच्छादिकलाऽन्तराले
क्रमाद्वसीकामतिपूयतुल्यां संहत्य दोषान्निखिलान्प्रकोप्य ॥ ३ ॥
चेष्टावहनाडिकाव्रजानामत्युत्तेजनहेतुतो जनानाम् ।
बह्वाक्षिपदङ्गकानि शाखाः संकोच्य प्रणिहन्ति चेतनां च ॥ ४ ॥
आक्षेपकगदस्यैषा संप्राप्तिर्वैद्यनिश्चिता । प्रायेणात्र नृणां लोके जीवितं दुर्लभं भवेत् ॥ ५ ॥

---

1. Cerebro spinal fever or Meningitis.

पूर्वोक्त जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न हुआ विष जिस मनुष्य के मस्तिष्कमूल में संसक्त सुषुम्णा काण्ड को आच्छादित करने वाली कला के अन्दर स्थित लसीका को पूययुक्त कर बढ़ा देता है और संपूर्ण दोषों को प्रकुपित कर चेष्टावह नाडियों को अत्यन्त उत्तेजित कर देता है तब अङ्गों में आक्षेप और हाथ-पैरों में संकोच उत्पन्न हो जाता है एवं संज्ञा भी नष्ट हो जाती है, इस प्रकार से आक्षेपक ज्वर की संप्राप्ति का वर्णन वैद्यों ने किया है। प्रायः करके इसमें रोगी का जीना दुर्लभ हो जाता है ॥ ३-५ ॥

तस्य रूपम्—

उग्रा पीडा जायते यस्य शीर्ष्णि च्छर्दिः शैत्यं जातु चिद्वेपथुश्च।
ग्रीवास्तम्भोऽपि प्रसह्याथ शीर्षं पश्चाद् यत्राकृष्यतेऽद्धाऽऽमये तु ॥ ६ ॥
गच्छन्त्यङ्गान्येव संकोचभावं स्यातां वक्रे चक्षुषी नूनमेव।
शाखाः स्तब्धाः सन्ति वृद्धिर्ज्वरस्याजस्रं प्रायो लक्ष्यते स्पष्टतोऽपि ॥ ७ ॥
तन्द्रा मोहोऽपि प्रलापोऽथ शश्वत् स्यादाक्षेपो गात्रमध्ये जनानाम्।
नूनं रक्तश्यावलक्ष्मोद्भवश्च नाशो जायेतेन्द्रियाणां क्रमेण ॥ ८ ॥
आक्षेपकज्वरभवं निखिलं तु चिह्नमेतन्मतं सुभिषजां गदितं मयेत्थम्।
स्याद् यत्र रोगिपुरुषे स मृतो भवेदेकाहाच्च कश्चिदथवा त्रिदिनादवश्यम् ॥ ९ ॥
एवं क्लिश्यँस्त्रिचतुरदिनान्येव सप्ताहमद्धा कश्चिद्वाऽसूम्नियतिवशतः प्रायशः संजहाति।
कश्चित् पूर्वार्जितसुकृततः सच्चिकित्साप्रसङ्गाज्जीवेदाक्षेपकपदयुतेन ज्वरेणार्दितोऽपि ॥

जिसके मस्तक में उग्र पीड़ा और वमन हो, शीत मालूम पड़ता हो, कभी २ कम्प, ग्रीवा में स्तब्धता (जकड़ाहट) हो और सिर पीछे की ओर खिंच जावे तथा अङ्ग संकुचित हो जायें एवं आखें टेढ़ी, हाथ-पैर स्तब्ध, ज्वर की निरन्तर वृद्धि, तन्द्रा, मोह, प्रलाप तथा बराबर शरीर में आक्षेप हो और रक्त तथा श्याव वर्ण का चिह्न शरीर में उत्पन्न हो जायें, इन्द्रियों को अपने २ विषयों को ग्रहण करने की शक्ति नष्ट हो गई हो, उसे वैद्य लोग आक्षेपक ज्वराक्रान्त कहते हैं। यदि यह लक्षण रोगी में उपस्थित हो जाय तो वह १ दिन अथवा ३ या ४ दिन अथवा कोई कोई १ सप्ताह तक प्रारब्धवश क्लेश पाता हुआ मर जाता है। पूर्वार्जित पुण्यवश उत्तम चिकित्सा होने से कदाचित् ही कोई बच जाता है ॥ ६-१० ॥

अथ दण्डकज्वरनिदानम्।

तत्रादौ दण्डकज्वरस्य परिचयः—

विशिष्टमशकोद्भवो जगति दण्डकाख्यो ज्वरः, सदाऽस्थिनिचयं नरस्य परिपीडयन्निर्भरम्।
स्थितिं मुनिमितान्यहानि विदधाति नित्यं तनौ, ततो निगदितो ज्वरो मुनिभिरेष सप्ताहकः॥
एनं डेङ्ग्यूफीवरं त्वाङ्ग्लभाषा-विज्ञा वैद्या दण्डकाख्यं ज्वरं च।
अस्थ्नां नूनं भञ्जनं भूमिमध्ये संभाषन्ते नामधेयैरमीभिः ॥ २ ॥

दण्डक ज्वर एक विशेष प्रकार के मच्छड़ के द्वारा फैलता है। यह मनुष्यों के अस्थिसमूह को पीड़ित करता हुआ १ सप्ताह तक शरीर में बना रहता है। इसी से इसको विचारवान वैद्य सप्ताह-ज्वर, दण्डक ज्वर या अस्थिभञ्जन ज्वर और पाश्चात्त्य चिकित्सक डेङ्ग्यूफीवर (Dengue Fever) कहते हैं ॥ १-२ ॥

दण्डकज्वरपूर्वरूपम्—

यदा मानवस्याङ्गमध्येऽङ्गमर्दः क्लमश्चारुचिर्दृश्यते दैवयोगात्।
अथोत्क्लेशसादौ तदा दण्डकाख्य-ज्वरस्याग्ररूपं जनैर्वेदितव्यम् ॥ ३ ॥

दण्डक ज्वर की पूर्वरूपावस्था में अङ्गमर्द, क्लम, अरुचि, जी मचलना और अवसाद होते हैं॥

दण्डकज्वररूपम्—

अस्थ्नां सन्धिषु घोरा दण्डाहननजसमा पीडा।
क्षिप्रोदयलयशाली समस्ततनुगोऽपि वीसर्पः ॥ ४ ॥
संचारि सन्धिशूलं शोथयुतं लक्ष्यते यत्र।
ज्वरमध्येऽपि च कासः कण्ठे पीडा प्रतिश्यायः ॥ ५ ॥
पुनरावर्त्तनशीलो, मुञ्चत्यष्टाहतो ज्वरो यत्र।
सन्धिरुजाश्चिरकालं, सन्ति वदन्ति च दण्डकज्वरं तम् ॥ ६ ॥
प्रायो जनपदजन्मा, कफमारुतकोपजातनिजवर्ष्मा।
बालानामथ जरतां, जातः दारुण उदीरितो वैद्यैः ॥ ७ ॥

दण्डक ज्वर का लक्षण—जिस ज्वर में अस्थियों की सन्धियों में डण्डा मारने जैसी घोर पीड़ा, समस्त शरीर में उत्पन्न होकर शीघ्र नष्ट हो जाने वाला, सञ्चारी विसर्प और शोथयुक्त सन्धिशूल, कास, कण्ठ में पीड़ा तथा प्रतिश्याय (जुकाम) होता हो और जो ज्वर उतर कर पुनः चढ़ जाता हो, किन्तु ज्वर छूट जाने पर भी सन्धियों में पीड़ा बनी रहती हो उसे दण्डक ज्वर कहते हैं। यह प्रायः करके शहरों में विशेष होता है। यह कफ तथा वात के प्रकोप से उत्पन्न होता है और बालक तथा वृद्धों में प्रायः अधिक कष्टदायक होता है ॥ ४-७ ॥

विमर्श—इसमें प्रायः वातोल्बण त्रिदोष ज्वर के लक्षण मिलते हैं। ज्वर प्रायः तीसरे दिन कम होकर चौथे या पांचवें दिन पुनः बढ़कर २-३ दिन रहता है। इस प्रकार इसके २ या ३ वेग होकर प्रायः आठवें दिन रोग शान्त हो जाता है।

अथ कर्णमूलिकज्वरनिदानम्

पूर्वं भवेदेकतरे हि पार्श्वे कर्णस्य शोथो ज्वरकृद्रुजावान्।
ततो द्वितीयेऽनुपदं भिषग्वरैर्गदः स उक्तो भुवि कर्णमूलिकः ॥ १ ॥
अस्मिन् रोगे कर्णमूलस्थिता वा जिह्वाऽधःस्था ग्रन्थयोऽधोहनुस्थाः।
नूनं शूयन्ते ततः पञ्चभिर्वा षड्भिर्घस्रैरेष शान्तिं प्रयाति ॥ २ ॥
पुंसो भूयो मुष्कयोर्वै रुजाऽथो शोथो जायेत क्वचिद् योषितस्तु।
योनौ वक्षोजातयोस्तौ दशाहात् प्रायः शाम्यन्त्यत्र सर्वे विकाराः ॥ ३ ॥
अयं ज्वरो वातकफोद्भवस्तथा विशेषतो जानपदः प्रदृश्यते।
प्रवर्त्तते प्रायश एव यूनां किंवा शिशूनां ननु कर्णमूलिकः ॥ ४ ॥

इस ज्वर में प्रथम किसी भी पार्श्व में कर्णमूल में पीड़ायुक्त शोथ होता है पुनः दूसरी ओर के कर्णमूल में भी शोथ होता है। इसी से इसको वैद्यलोग 'कर्णमूलिक ज्वर' कहते हैं। इस रोग में कर्णमूल या जिह्वा के नीचे अथवा अधोहनु के नीचे होने वाली लाला ग्रन्थियों में शोथ उत्पन्न होता है। यह ज्वर ५-६ दिन में ही शान्त हो जाता है। पश्चात् कभी-कभी पुरुषों के अण्डकोश तथा स्त्रियों की योनि (भगनासा) तथा स्तनों में पीड़ा तथा शोथ हो जाता है। इस रोग में प्रायः १० दिन के अन्दर सभी विकार दूर हो जाते हैं। यह कर्णमूलिक ज्वर वात तथा कफ दोष से उत्पन्न होता है। शहरों में रहने वालों को विशेषतः होता है। प्रायः युवा तथा बच्चों में यह रोग पाया जाता है ॥ १-४ ॥

शीर्षकलायामपि च क्लोम्नि शोथश्चार्दितमप्यध्यवनि।
ज्वरे कर्णमूलिकपदवाचि सद्भिरुपद्रव एषोऽवाचि ॥ ५ ॥

कर्णमूलिक ज्वर के उपद्रव—कर्णमूलिक ज्वर में उपद्रव रूप में शीर्षावरण शोथ, क्लोमशोथ, और अर्दित (वातरोग) होते हैं, ऐसा वैद्यों ने कहा है ॥ ५ ॥

विमर्श—प्राचीन आचार्यों ने इसे पाषाणगर्दभ कहा है। (देखिए उत्तरार्ध पृष्ठ १९६) यह संक्रामक रोग है। इसे अंग्रेजी में मम्प्स (Mumps) कहते हैं।

अथ माल्टाज्वरनिदानम्

माल्टाज्वरस्य परिचयः

ज्वरः प्रागयं मालटाद्वीपमध्ये निवासं प्रकुर्वत्सु मर्त्येषु नूनम्।
अभूल्लब्धनैजोद्भवस्तेन चास्य प्रसिद्धिर्भवे मालटासंज्ञयैव॥ १॥

यह ज्वर सर्वप्रथम माल्टा द्वीप में रहने वालों को हुआ था, अतः 'माल्टाज्वर' नाम से इसकी प्रसिद्धि हुई॥ १॥

तस्य निदानम्—

गदस्यास्य कीटाणवो बिन्दुतुल्याकृतिं धारयन्तो रुजाऽऽर्त्तास्वजासु।
पयस्यालयं स्वे प्रकुर्वन्त एते विदध्युर्गदार्त्तान् सदा तत्प्रसक्तान्॥ २॥
क्वचिच्चाजमस्येक्ष्यते सन्निमित्तं मलं वाऽथ मूत्रं च रक्तं हि पित्तम्।
तथाऽऽबालवृद्धेभ्य एषोऽत्र नूनं समानां प्रवृत्तिं विधत्तेऽप्यनूनम्॥ ३॥

इसके उत्पादक जीवाणु बिन्दु के आकार वाले होते हैं और रोगिणी बकरी के दूध में पाये जाते हैं और उस दूध के पीने से ही मनुष्यों को यह रोग होता है। ये जीवाणु बकरियों के मल-मूत्र, रक्त और पित्त में भी रहते हैं। इनके संपर्क से भी यह रोग हो जाता है, यह रोग बाल, वृद्ध आदि सभी में समान रूप से पाया जाता है॥ २-३॥

तस्य संप्राप्तिः

अजादुग्धपानादिना रोगकीटाणवस्त्वन्नमार्गेण चान्त्रं प्रविष्टाः।
ततः शोणितं चोपगम्यातिदुष्टं समुत्पादयन्ति ज्वरं वै विशिष्टम्॥ ४॥
ततश्चोदरस्थां कलामास्थितास्ताँल्लसीकासमुत्पादने सिद्धहस्तान्।
अपि ग्रन्थिराशीनशेषानवश्यं स्वयं शूनयन्ति प्रसह्य प्रशस्यम्॥ ५॥

बकरी के दूध आदि पीने से रोग के कीटाणु अन्नमार्ग से अन्त्र में प्रविष्ट होकर वहाँ से रक्त में प्राप्त होकर उसे दूषित कर उदरस्थित कला की लसीकोत्पादक ग्रन्थियों को शोथयुक्त माल्टा ज्वर उत्पन्न करते हैं॥ ४-५॥

माल्टाज्वरस्य रूपम्

गदे मालटानामके नाम नूनं सदाऽऽरोहते स्वैरमुग्रो ज्वरोऽपि।
शिरोरुक् तथैवाङ्गमर्दो वमिश्चाप्यथोत्क्लेश उत्पद्यते रोगिवर्गे॥ ६॥
कदाचिद् भवेत्कण्ठदाहः क्वचिच्च प्रतिश्यायकासप्रकाशोऽप्यवश्यम्।
प्रवृत्तिः परं स्वेदराशेर्ज्वरस्यावरोहे सशोथा रुजा सन्धिदेशे॥ ७॥
अपि प्लीहवृद्धिस्तथा कोष्ठजाता महाबद्धता स्याद्धि माल्टाज्वरेऽस्मिन्।
प्रभेदाश्चतुःसंख्यकाश्चास्य सद्भिर्निदानैकविद्भिर्भिषग्भिः प्रदिष्टाः॥ ८॥
तत्र प्रभेदो मृदुराद्य उक्तः साधारणः स्यात्तदनु द्वितीयः।
ततस्तृतीयो विषमश्चतुर्थो ज्ञेयः सदा दारुण इत्थमेव॥ ९॥
प्लीहाऽभिवृद्धिरुदिता तु मृदौ ज्वरेऽस्मिन् साधारणे निखिललक्ष्मसमुद्भवः स्यात्।
किंचास्य मध्यसमयोऽथ तदैधतेऽद्धा भेदे भवेद्धि विषमे विषमोऽपि वेगः॥१०॥
येन ज्वरस्य हि दशोषसि शान्तरूपा मध्ये दिनस्य च भवेदिह सोग्ररूपा।
तेनैव तस्य नियतं ननु तापमानं संलक्ष्यते गदिनि पञ्चषयुक् छतं वै॥ ११॥
सायं ज्वरस्तु सहसा बहुशो जनानां प्रस्वेदनिर्गमनतो विलयं प्रयाति।

एवंविधा ज्वरदशा विषमाऽत्र भेदे स्यात् सर्वसंधिषु विशेषरुजाऽपि नूनम् ॥ १२ ॥
उग्रे ज्वरो भवति चोग्रतमः शरीरे भूरिप्रचण्डपिडकापरिदर्शनं स्यात् ।
दाहोऽपि फुफ्फुसकलागत एव चातीसारो विपद्यत इहाशु गदी दशायाम् ॥ १३ ॥

माल्टा नामक ज्वर धीरे-धीरे उग्ररूप होता है । इसमें सिर में पीड़ा, अङ्गमर्द, वमन, उत्क्लेश, कण्ठ में दाह, जुकाम तथा खाँसी होती है । ज्वर के उतार पर खूब पसीना होता है और सन्धि-देश में शोथ के साथ पीड़ा, प्लीहा की वृद्धि तथा कोष्ठबद्धता भी होती है । इस ज्वर के चार भेद वैद्यों ने बतलाया है । उसमें पहला भेद मृदु, दूसरा साधारण, तीसरा विषम और चौथा दारुण होता है । मृदु ज्वर में प्लीहा की वृद्धि होती है, **साधारण** में पूर्वोक्त सभी लक्षण प्रकट होते हैं और इसका मध्य काल बढ़ जाता है । **विषम** में ज्वर का वेग विषम रहता है जिससे ज्वर की दशा प्रातः उषाकाल में शान्त रूप और दोपहर में उग्र रूप हो जाती है । इसमें ज्वर का ताप-मान प्रायः १०५-१०६ डिग्री तक हो जाता है और सन्धियों में विशेष पीड़ा होती है । शाम को पसीना निकल कर ज्वर उतर जाता है । **दारुण** ज्वर में अत्यन्त उग्र रूप का ज्वर होता है और बहुत सी प्रचण्ड पिड़काएँ शरीर में निकल आती हैं । एवं फुफ्फुसकला का दाह तथा अतिसार होता है । इस दशा में रोगी शीघ्र मर जाता है ॥ ६-१३ ॥

विमर्श—यह रोग भारतवर्ष में बहुत कम मिलता है और प्राचीन आचार्यों ने इसका समा-वेश जीर्ण ज्वर में किया है । (देखिए पृ० १३३ पू०)

अथ कालज्वरनिदानम्[1]

तस्य निदानम्

आनूपदेशेषु महीजबाष्पात् प्रायेण नृणां कृमिकारणाच्च ।
कालज्वरः कालसमः किलायं जायेत तल्लक्षणमुच्यतेऽग्रे ॥ १ ॥

प्रायः करके आनूप देशों में पृथ्वी के बाष्प से और कृमियोंके कारण काल के समान कालज्वर उत्पन्न होता है, जिसका लक्षण आगे कहा जाता है ॥ १ ॥

विमर्श—इस रोग का प्रधान कारण 'लीशमनिया डोनोवनी' (Lieshmania donovani) नामक एक पराश्रयी कीटाणु है । इसका संक्रमण एक विशिष्ट प्रकार की मक्खी (Phlebotomus argentipes) के दंश द्वारा होती है ।

तस्य संप्राप्तिः

जीवाणवस्त्वस्य गदस्य नूनं मज्जान्त्रयोर्मुष्कजकोशमध्ये ।
अध्यन्त्रभित्त्यस्थ्न्यधिफुप्फुसं वै प्रायो यकृत्प्लीहगता वसन्ति ॥ २ ॥
प्लीहा यकृच्चैधत एव नूनमनारतं ते क्षुभिते विशेषात् ।
स्यातां च ते सौत्रिकतन्तुयुक्ते ज्वरामयेऽस्मिन्ननु कालसंज्ञे ॥ ३ ॥

इस रोग के जीवाणु प्रायः मज्जा, अन्त्र, अण्डकोश, अन्त्र की भित्ति, हड्डी, फुफ्फुस तथा यकृत् और प्लीहा के अन्तर्गत पाये जाते हैं । इसमें प्लीहा और यकृत् की वृद्धि होती है और वे दोनों विशेष रूप से क्षुभित होकर सौत्रिक तन्तुमय हो जाते हैं ॥ २-३ ॥

तस्य रूपम्—

गदेऽस्मिन्ज्वरः पूर्वमेवाविसर्गी प्रवर्त्तेत यावत्त्रिसप्ताहमद्धा ।
क्वचिद्रोगिमध्येऽधिकं वा ततो वै सदाऽऽरोहसत्ताऽवरोहैः स्थितः स्यात् ॥४॥
विमुच्य कालं किल कंचिदेवमावर्त्तते रोगिजनेषु भूयः ।

1. Kala azar.

पूर्वोदितैर्लक्षणैरन्वितः सन् प्रायेण कालज्वर आमयोऽयम् ॥ ५ ॥
एवं द्विवारागमनेन नृणां रक्ताल्पतां प्रत्यहमाचरेच्च ।
स्वेदस्य बाहुल्यमथाङ्गमध्ये प्रायेण हस्ताङ्घ्रिणि च प्रपीडनम् ॥ ६ ॥
ज्वरस्तु मन्दत्वमुपागतस्तदा-भवेत्स्थिरो रोगितनौ सुनिश्चितम् ।
विपाण्डुताऽपि ग्रहणी च कामला प्रजायते चोर्ध्वगरक्तपित्तम् ॥ ७ ॥
तथा क्वचित्स्यादपि रोमकूपिकं कराङ्घ्रिवक्त्रेऽपि च शोथसंभवः ।
ध्रुवं हि सद्यःफलदं चिकित्सितं विनाऽमयोऽयं बहुकष्टसाध्यः ॥ ८ ॥

इसमें सर्वप्रथम ज्वर अविसर्गी (नहीं उतरने वाला) होता है जो ३ सप्ताह या इससे भी अधिक दिन तक कुछ चढ़ाव, स्थिति तथा उतार के साथ बना रहता है। फिर ३-४ सप्ताह व्यतीत होने पर कुछ काल के लिये यह ज्वर उतर जाता और पुनः पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त होकर चढ़ जाता है। इस प्रकार से दुबारा ज्वर उत्पन्न होने से रोगी में प्रतिदिन रक्ताल्पता होने लगती है और शरीर से पसीना अधिक निकलता है, हाथ-पैरों में अधिक पीड़ा होती है। इस प्रकार से ज्वर मन्दरूप को धारण कर रोगी के शरीर में स्थिर हो जाता है। और अन्त में पाण्डुता, ग्रहणी, कामला, ऊर्ध्वग रक्तपित्त तथा कभी-कभी रोमकूपों से निकलने वाला रक्तपित्त और हाथ, पैर तथा मुख में शोथ हो जाता है। इस रोग की सद्यः फल देने वाली चिकित्सा यदि न की जाय तो यह अत्यन्त कष्टसाध्य हो जाता है ॥ ४-८ ॥

विमर्श—इस रोग में ज्वर कभी कभी आरम्भ से ही सततक या अन्येद्युष्क स्वरूप का अथवा कभी-कभी राजयक्ष्मा के समान मन्द रूप में रहता है। दिन में २-३ बार बढ़ना और घटना, पाण्डुता से अधिक कृशता, क्षुधाधिक्य, बालों में भंगुरता, त्वचा पर काले धब्बे उत्पन्न होना और नासा-रक्तपित्त के साथ प्लीहा एवं यकृत् की वृद्धि (जो ज्वर न रहने पर भी बढ़े रहते हैं) इस रोग के प्रधान लक्षण हैं। प्राचीन आचार्यों ने इसका समावेश जीर्ण ज्वर में ही किया है। अञ्जन (Antimony) इस रोग की परमौषध है। सुश्रुतोक्त पाण्डुरोग के भेद 'लाघरक' के बहुत से लक्षणों में समता होने और उसमें भी अञ्जन (Antimony) के प्रयोग का विधान होने से कुछ विद्वान् 'कालाजार' को 'लाघरक' में समाविष्ट मानते हैं। जलोदर, रक्तपित्त और रक्तप्रवाहिका इस रोग में घातक उपद्रव होते हैं।

कालज्वरस्यासाध्यता

अरोचकच्छर्दियुतं मनुष्यं क्षीणेन्द्रियं क्षीणबलं तथैव ।
क्षीणामिषं फुप्फुसदाहयुक्तं समन्वितं यक्ष्मजलक्ष्मजातैः ॥ ९ ॥
प्रवाहिकापीडितमप्यतीसाराक्रान्तमेवंविधमेव वैद्यः ।
कालज्वरेणार्दितमन्तकस्याध्वगं विदित्वा न च तं चिकित्सेत् ॥ १० ॥

अरुचि, वमन, इन्द्रियों की क्षीणता, मांसक्षीणता, फुप्फुस में दाह, यक्ष्मा के सभी लक्षण, प्रवाहिका, अतिसार आदि उपद्रव कालज्वर के रोगी में दिखाई पड़ें तो वैद्य असाध्य समझ कर उसकी चिकित्सा करना छोड़ देवे ॥ ९-१० ॥

अथाह्निकज्वरनिदानम्

आह्निकज्वरलक्षणम्

नासापुटाभ्यन्तरगाल्परक्तवर्णो भवेद् यत्र गदे तु शोथः ।
तथा ज्वरो गात्ररुजासमेतः स आह्निकः श्लेष्मकृतो ज्वरः स्यात् ॥ १ ॥

जिस रोग में नासिका के भीतर किञ्चित् रक्तवर्ण का शोथ हो और ज्वर भी हो एवं अङ्गों में पीड़ा जोरों से हो वह कफ से उत्पन्न होने वाला 'आह्निक ज्वर' कहलाता है ॥ १ ॥

अथ श्लैपदिकज्वरनिदानम्

शाखासु मुष्कद्वितयेऽपि रागं शोथं रुजां चाधिकमेव तन्वन् ।
पक्षान्तभावी बहुशो ज्वरो यो वैद्यैरिह श्लैपदिकः स्मृतः सः ॥ १ ॥

हाथ-पैर तथा अण्डकोषों में रक्तिमा, शोथ तथा अधिक पीड़ा करने वाला और प्रायः पक्ष के अन्त (अमा या पूर्णिमा) के आसपास के दिनों में होने वाला ज्वर 'श्लैपदिक' ज्वर कहलाता है ॥

विमर्श—श्लीपद रोग का विस्तृत वर्णन उत्तरार्ध पृष्ठ ७७ पर देखें।

अथ औपद्रविकज्वरनिदानम्

प्रायेण जीर्णेषु गदेषु सर्वेष्वपि ग्रहण्यादिषु वै विशेषात् ।
यः संनिपातप्रभवो ज्वरः स्याद् विद्यात्तमौपद्रविकाभिधं हि ॥ १ ॥

प्रायः करके सभी पुराने रोगों में विशेष करके ग्रहणी आदि में प्रायः संनिपात (त्रिदोष) से उपद्रव स्वरूप में उत्पन्न होने वाले ज्वर को 'औपद्रविक ज्वर' कहते हैं ॥ १ ॥

अथ ग्रन्थिकज्वरनिदानम्

तस्य परिचयः

ग्रीवाकक्षावङ्क्षणाद्ये लसीकाग्रन्थिव्राते शोथरुक्ज्वरो यः ।
जातो घोरो देशविध्वंसकारी वैद्यैर्नूनं ग्रन्थिकाख्यः स्मृतः सः ॥ १ ॥
दण्डाकारास्तस्य कीटाणवो वै मूलं प्रोक्तं मूषकोत्था भिषग्भिः ।
तद्भेदास्तु ग्रन्थिकः कीटरक्तः संदृश्यन्ते फुफ्फुसस्य प्रदाही ॥ २ ॥

ग्रीवा, कक्षा तथा वङ्क्षण आदि प्रदेश में स्थित लसीका-ग्रन्थियों में शोथ तथा तीव्र पीड़ायुक्त देश को विध्वंस करने वाले घोर ज्वर को ग्रन्थिक ज्वर कहते हैं। इसके मूल कारण चूहों से उत्पन्न, फैलने वाले, दण्डाकार कीटाणु होते हैं। इसके तीन भेद होते हैं। *१—ग्रन्थिक, २—कीटरक्त (कीटशोणित या सेप्टीसीमियक), ३—फुफ्फुसप्रदाही (फुफ्फुसप्रदाहिक) ॥ १-२ ॥

तस्य निदानम्

भूम्ना रोगार्त्ताखुभी रोगयुक्तस्थाने श्वासोच्छ्वासतः स्पर्शतोऽपि ।
सञ्चारेण प्रायशो नग्नपद्भ्यां संक्रामन्त्येते जातु पुंसः पुमांसम् ॥ ३ ॥
यदा मूषकस्थायिकीटः कथञ्चिन्नरं संदशत्यत्र दंशात्तदानीम् ।
विनिःसृत्य कीटाणवस्तल्लसीकावहासु प्रकुर्वन्ति संचारमेव ॥ ४ ॥
यदा ते ततो यान्ति तद्ग्रन्थिमध्ये तदा क्षोभमायान्ति तद्ग्रन्थयोऽपि ।
चिकीर्षन्ति नाशं च कीटाणुजस्य प्रकृत्या विरुद्धस्य नूनं विषस्य ॥ ५ ॥
ग्रन्थीनां वै कार्यवृद्धिप्रभावादस्मिन् कार्ये जायते तत्प्रवृद्धिः ।
किञ्चोत्पद्येत ज्वरस्तद्विषात्संप्राप्तिः प्रोक्ता ग्रन्थिकस्येत्थमस्य ॥ ६ ॥
यदा ग्रन्थिमध्ये कदाचिन्न कीटाणवस्ते विनाशं गता वा भवेयुः ।
तदा कीटरक्तत्वमेव ध्रुवं स्यादवस्थेयमुग्रा भृशं दारुणाऽपि ॥ ७ ॥
न शूनाः स्युरत्र क्वचिद् ग्रन्थयोऽङ्गविशेषस्थिताः किन्तु सर्वाङ्गजाताः ।
मनागुच्छ्वसेयुः समस्ताः स्वतस्ता इयं कीटरक्तस्य सम्प्राप्तिरुक्ता ॥ ८ ॥
कीटाणवः फुफ्फुसदाहका ये श्लेष्मादिभिस्ते बहिरागतास्तु ।
श्वासायनेनान्यनरस्य चान्तर्गत्वा भवेयुर्ननु फुफ्फुसप्लुषः ॥ ९ ॥

---

* Types of plague. (1) Bubonic. (2) Septicaemic. (3) Pneumonic.

इत्थं त्वियं फुफ्फुसदाहकस्य ज्वरस्य च ग्रन्थिकनामकस्य।
सम्प्राप्तिरुक्ता भिषगुत्तमैर्या सा कष्टदायिन्यमिता सदोह्या ॥ १० ॥

रोगार्त्त देश के चूहों द्वारा इस रोग का प्रसार होता है। श्वासोच्छ्वास के द्वारा अथवा स्पर्श से किंवा नङ्गे पैर चलने-फिरने से रोग के कीटाणुओं का मनुष्यों में संक्रमण होता है और उसके संसर्ग से अन्यों को भी ग्रन्थिक ज्वर हो जाता है। जिस समय रोगयुक्त चूहों में रहने वाले पिस्सू नामक दृश्य कीट दैवात् मनुष्य को काट लेते हैं तो उसके काटने के साथ ही बहुत से दण्डाकार रोगोत्पादक कीटाणु मनुष्यों की लसीकाओं में प्रविष्ट होकर संचार करते हैं और जब वे लसीका ग्रन्थियों में पहुँचते हैं तब उनसे उनमें क्षोभ उत्पन्न होता है क्योंकि उस समय कीटाणुजन्य विष का नाश करने में उक्त ग्रन्थियाँ प्रवृत्त हो जाती हैं जिससे उनका कार्यक्षेत्र बढ़ जाता है और ग्रन्थियाँ भी बढ़ जाती हैं। उक्त कीटाणुजन्य विष के प्रभाव से भयङ्कर ज्वर उत्पन्न हो जाता है। यदि उन कीटाणुओं का लसीका-ग्रन्थियों द्वारा विनाश नहीं हो पाता तो वे घूमते हुए लसीका से रक्त में पहुँचते हैं तब उसे कीटरक्त प्रकार का ग्रन्थिक ज्वर कहते हैं। यह अत्यन्त घातक होता है। इसमें किसी एक स्थान में स्थित लसीकाग्रन्थियों में शोथ नहीं होता, बल्कि सर्वाङ्गस्थित सभी ग्रन्थियों में किञ्चिन्मात्र शोथ हो जाता है।

फुफ्फुसप्रदाही ग्रन्थिक ज्वर से पीड़ित रोगी के श्लेष्मा में स्थित कीटाणु श्लेष्मा के साथ बाहर निकल कर श्वासोच्छ्वास द्वारा अन्य व्यक्तियों के फुफ्फुस में पहुँच कर फुफ्फुसप्रदाही नामक ग्रन्थिक ज्वर पैदा कर देते हैं। यह ग्रन्थिक ज्वर की सबसे भयङ्कर कष्टदायिनी अवस्था है ॥३-१०॥

ग्रन्थिकज्वरस्य पूर्वरूपम्

व्यथा शीर्ष्णि शैथिल्यमङ्गेषु सादो मनोदैन्यमुत्क्लेशभक्तारुची च।
ज्वरोक्तं च सामान्यतः पूर्वरूपं भवेद् ग्रन्थिकाख्ये ज्वरेऽदोऽग्ररूपम् ॥ ११ ॥

ग्रन्थिक ज्वर की पूर्वरूपावस्था में सिर में पीड़ा, अङ्गों में शिथिलता, अवसाद, मानसिक दीनता, उत्क्लेश, अन्न में अरुचि तथा ज्वर के अन्यान्य साधारण लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ११ ॥

ग्रन्थिकज्वरस्य रूपम्

तीव्रज्वरो भवति पूर्वमिह क्वचिद्वा मन्दः शिरोरुगरती वमनं भ्रमश्च।
उत्क्लेशगात्रशिथिलत्वतृषाप्रलापा उन्मादमोहधमनीद्रुतगामिताश्च ॥ १२ ॥
मूर्च्छा तथा सततदुर्बलताऽथ निद्रानाशो नृणां नियतमित्यपि लक्ष्मजातम्।
कक्षाऽऽदिकावयवमध्यलसल्लसीकाग्रन्थिव्रजस्य परितापनमप्यवश्यम् ॥१३॥
ततस्तृतीयेऽहनि वा चतुर्थे ग्रन्थिस्तु दष्टाङ्गसमीपजातः।
सुतीव्रवेगेन विवर्द्धतेऽद्धा स्पर्शं न चेषत् सहते तु तत्र ॥ १४ ॥
तस्यां तु पाकोऽपि च पूयपूर्णता चिरात् प्रजायेत सदैव रोगिषु।
अक्ष्णोस्तथा स्याच्छ्वसोः प्रसुप्तिश्चेष्टां न कांचिद्विदधीत रोगी ॥ १५ ॥
अभिन्यासजातानि लिङ्गानि चान्यान्यपीक्ष्यन्त एवानिशं रोगिवर्गे।
भृशं कर्कशा दग्धतुल्या रसज्ञा भवेत्स्रस्तभावं भजन्ती च नाडी ॥ १६ ॥
द्वित्रैस्तथा पञ्चभिरेव षड्भिर्घस्रैः क्वचिद्वा दशभिः कदाचित्।
सद्यः किलासून् विजहाति रोगी चिराच्च सिद्ध्यत्यपि तत्र कश्चित् ॥ १७ ॥
भवेद्बाहुजग्रन्थिजातो हि शोथस्तथा चात्र पाकः शुभोऽवश्यमेव।
इदं ग्रन्थिकाख्यज्वरस्याद्यभेदस्वरूपं यथावद् भिषग्भिः प्रदिष्टम् ॥ १८ ॥

इसमें प्रायः तीव्र ज्वर होता है किन्तु किसी २ को मन्द भी होता है। सिर में पीड़ा,

अरति, वमन, भ्रम, उत्क्लेश, शरीर में शिथिलता, श्वास, प्रलाप, उन्माद, मोह, नाड़ी का द्रुतगामी होना, मूर्च्छा, निरन्तर दुर्बलता, निद्रा का अभाव ये सब लक्षण निश्चित रूप से ग्रन्थिक ज्वर में होते हैं और साथ ही साथ इसमें कक्षा आदि की लसीका-ग्रन्थियों में शोथ तथा पीड़ा बढ़ने लगती है। उसके बाद तीसरे या चौथे दिन जिस स्थान पर इसके रोगोत्पादक कीटों का दंश होता है उसके पास की ग्रन्थि शीघ्र ही तीव्र वेग के साथ बढ़ने लगती है और उसके स्पर्श करने पर असह्य पीड़ा होने लगती है। उन ग्रन्थियों में बहुत देर में पाक तथा पूय की उत्पत्ति होती है, रोगी के आंखों तथा कानों में प्रसुप्ति (अवसाद) आ जाती है वह किसी प्रकार की चेष्टा करने में समर्थ नहीं होता, उसमें अभिन्यास ज्वर के लक्षण भी प्रकट होते हैं, जीभ अत्यन्त कर्कश, जली हुई सी दीख पड़ती तथा नाड़ी शिथिल भाव से चलती है। २, ३, ५, ६ दिन और कभी १० दिन में रोगी प्राण छोड़ देता है; संयोग से ही कोई बच जाता है। यदि इसमें बाहु की लसीका-ग्रन्थियों में शोथ हो और पाक शीघ्र हो जावे तो शुभ लक्षण है अर्थात् रोगी बच जाता है। इस भांति से ग्रन्थिक ज्वर के प्रथम (ब्रध्नीय) भेद का सम्पूर्ण लक्षण वैद्यों ने कहा है॥ १२-१८॥

ग्रन्थिकज्वरस्य द्वितीयभेदस्य कीटरक्तस्य स्वरूपम्—

बहुग्रन्थयः कीटरक्ताख्यभेदे ज्वरे ग्रन्थिके नापि वर्द्धन्त एव।
भवेत्तत्र रक्तस्य दुष्टिस्तथा च ज्वरस्यानिशं तीव्रता वै विशेषात्॥ १९॥
गतिर्नाडिकायाश्च दौर्बल्ययुक्ता गदार्त्तस्य पुंसोऽतितीव्रा सदा स्यात्।
तथाऽन्यानि संज्ञाप्रणाशादिकानि त्रिदोषोद्भवानीह चिह्नान्यपि स्युः॥ २०॥
गदी संयुतो लक्षणैरेभिरेव द्रुतं दारुणामप्यवस्थामवाप्य।
दिनैः पञ्चभिः सप्तभिर्वाऽपि नूनं यमस्यालयं याति देहं विहाय॥ २१॥
अतः प्रायशोऽसावसाध्यो भिषग्भिः प्रदिष्टोऽत्र भाग्याद्विमुच्येत कश्चित्।
इदं कीटरक्ताख्यभेदस्य रूपं ज्वरे ग्रन्थिके वर्णितं सर्वदैव॥ २२॥

कीटरक्त नामक ग्रन्थिक ज्वर में ग्रन्थियाँ बहुत नहीं बढ़तीं किन्तु रक्त की दुष्टि विशेषतः होती है और ज्वर की तीव्रता निरन्तर बनी रहती और नाड़ी दुर्बल एवं अति तीव्र चलती है तथा संज्ञानाश आदि संनिपात ज्वर के अन्यान्य लक्षण भी मिलते हैं। रोगी इन लक्षणों से युक्त हो दारुण अवस्था को प्राप्त कर ५-७ दिनों में शरीर छोड़ देता है। इसमें कोई-कोई भाग्य से ही बच जाता है। इस रोग को वैद्यों ने असाध्य कहा है॥ १९-२२॥

ग्रन्थिकज्वरस्यान्तिमभेदस्य फुफ्फुसप्लुषस्य रूपम्—

फुफ्फुसप्लुषनामके निर्ग्रन्थिके भेदे भृशं, श्वासमार्गं नूनमस्मिन्नेव संक्रमते विषम्।
शीतपूर्वकदारुणज्वर आशु संजायेत हि, शिरसि शूलमथाङ्गमर्दो भ्रमश्चोत्क्लेशोऽधिमहि॥
उरोरुक्कसनादिजान्यन्यानि लिङ्गानि त्विह, स्युश्च फुफ्फुसकूजनं श्वासस्य तीव्रतया सह।
कर्करायनमथ घनत्वं फुफ्फुसे परिदृश्यते, रक्तनिष्ठीवनमिहेदं लक्ष्मजातं लक्ष्यते॥ २४॥
वैद्यवर्यैरप्यसाध्योऽसौ सदा संभाषितः, कश्चिदेव हि दैवयोगाज्जीवतीह चिकित्सितः।
इत्थमत्र हि भेदयुक्तग्रन्थिकज्वरलक्षणं, सर्वमेव निरूपितं प्रविधाय शास्त्रनिरीक्षणम्॥२५॥

फुफ्फुसप्लुष नामक ग्रन्थिक रोग में ग्रन्थियाँ नहीं बढ़ती हैं, कीटाणु या उनका विष श्वास-मार्ग से संक्रमण करता है। इसमें जाड़ा देकर दारुण रूप का ज्वर होता है और सिर में शूल, अङ्गमर्द, भ्रम, उत्क्लेश, छाती में दर्द, खाँसी आदि अन्य लक्षण भी होते हैं। फुफ्फुस का कूजन तथा श्वास की तीव्रता, फुफ्फुस में घनता तथा कर्करायन उत्पन्न हो जाता है एवं थूक के साथ रक्त निकलने लगता है। ये सब लक्षण इस रोग में प्रकट होते हैं। इसको वैद्यों ने असाध्य कहा है।

कोई-कोई रोगी उत्तम चिकित्सा होने से दैवात् बच भी जाता है। इस प्रकार से ग्रन्थिक ज्वर के तीनों भेदों के सम्पूर्ण लक्षण शास्त्रानुसार कहे गये हैं ॥ २३-२५ ॥

ग्रन्थिकरोगस्योपद्रवाः

कासोऽतिसारोऽप्यथ रक्तपित्तं मूत्रावरोधो वमनं तथैव ।
उपद्रवा ग्रन्थिकनामकेऽस्मिन् ज्वरे त्वमी वैद्यजनैः प्रदिष्टाः ॥ २६ ॥

कास, अतीसार, रक्तपित्त, मूत्र बन्द होना, वमन ये सब ग्रन्थिक ज्वर के उपद्रव वैद्यों ने कहा है ॥ २६ ॥

ग्रन्थिकज्वरस्य साध्यलक्षणम्

अनेका यदि ग्रन्थयः स्युः प्रजाता भवेदाशुपाकिस्त्वमद्धाऽपि तासाम् ।
अथो बालको वा जरन् ग्रन्थिकाख्यज्वरार्त्तस्तदा स्याद् गदोऽयं सुसाध्यः ॥ २७ ॥

यदि ग्रन्थियाँ अनेक स्थानों पर हों या जल्दी पक जायें, किंवा बालक या वृद्ध में हुई हों तो ग्रन्थिक ज्वर सुसाध्य समझना चाहिये ॥ २७ ॥

ग्रन्थिकज्वरस्यारिष्टलक्षणानि

सर्वेन्द्रियाणां मनसोऽप्यशेषव्यापारनाशो यदि वाऽतिसारः ।
अत्युल्बणः स्यात्तु तदा सुवैद्योऽरिष्ट वदेद् ग्रन्थिकपीडितस्य ॥ २८ ॥
ष्ठीवेत् सुसिन्दूरसमोज्ज्वलं चेद् रक्तं कफेनानुगतं तु रोगी ।
श्वासार्दितः फुप्फुसदाहयुक्तस्तदाऽत्यसाध्यो नियतं स ना स्यात् ॥ २९ ॥
अग्रन्थिके ग्रन्थिकयोग्यलिङ्गसमुद्भवः स्याद् यदि रोगमध्ये ।
तदा तु तस्यान्तकसद्मयात्राऽवश्यं भवेदित्यपि वेदितव्यम् ॥ ३० ॥
ग्रन्थिकज्वरमिमं तु केचन प्रायशः सुभिषगाहता जनाः ।
क्षुद्ररोगपठिताग्निरोहिणीनामकामयमुदाहरन्ति वै ॥ ३१ ॥

सभी इन्द्रियों एवं मन के देखना, सुनना, विचारना आदि व्यापार नष्ट हो जावें, और अतिसार उग्ररूप से हो तो ग्रन्थिकज्वर रोगी का अरिष्ट होता है अर्थात् रोगी मर जाता है। यदि फुफ्फुस प्रदाही नामक ग्रन्थिक ज्वर में रोगी सिन्दूर के समान थूके और कफ के साथ रक्त आता हो तथा श्वास रोग उत्पन्न हो गया हो तो निश्चित असाध्य होता है। यदि अग्रन्थिक ग्रन्थिक ज्वर में ग्रन्थिक प्रकार के लक्षण प्रकट हो जाँय तो भी असाध्य समझना चाहिये, ऐसी स्थिति में रोगी अवश्य मर जाता है। इस ग्रन्थिक ज्वर को कोई वैद्य 'अग्निरोहिणी' मानकर उसी नाम से पुकारते हैं ॥ २८-३१ ॥

बिमर्श—ग्रन्थिक ज्वर और अग्निरोहिणी का विवेचन उत्तरार्ध पृष्ठ १९९ में देखें। भेलसंहिता में इससे बहुत कुछ मिलते हुए लक्षणों वाले 'वातालिका' नामक एक जनपदोद्ध्वंसक (Epidemic) रोग का वर्णन मिलता है। उसका मूषक के साथ सम्बन्ध, हेतु, लक्षण आदि वहीं देखें।

अथ वातश्लैष्मिकज्वरनिदानम्

तत्र वातश्लैष्मिकज्वरस्य परिचयः

यतः श्लेष्मजोपद्रवाः प्रायशोऽत्रोद्भवन्ति त्रिदोषोत्थचिह्नैः सहाद्धा ।
भवेन्मुख्यता मारुतस्य स्मृतोऽसौ ज्वरः श्लेष्मको देशविध्वंसकारी ॥ १ ॥
अयमागन्तुरोगः पूर्वं पश्चान्निबद्ध्यते दोषैः ।
वातश्लेष्माधिक्याद् वातश्लैष्मिक उदीरितः क्वापि ॥ २ ॥

वातश्लैष्मिक ज्वर (Influenza इन्फ्लुयेंझा) में प्रायः त्रिदोषज लक्षणों के साथ कफजन्य उपद्रव उत्पन्न होते हैं और वात की प्रधानता होती है। यह देश को विध्वंस करने वाला

संक्रामक रोग है। यह प्रथम आगन्तुक रूप में उत्पन्न होता है। पश्चात् इसमें दोषों का संबन्ध होता है। वात तथा श्लेष्मा की अधिकता होने से इसका नाम 'वातश्लैष्मिक' पड़ा है ॥ १-२ ॥

विमर्श—भेल संहिता में इसका वर्णन 'सामान्य प्रतिश्याय' नाम से जनपदोद्ध्वंसक रोगों में किया गया है। यथा—

'असात्म्यं गन्धमादाय वातो यत्राऽतिरिच्यते। तत्र मर्त्येषु सामान्यः प्रतिश्यायः प्रजायते॥

वातश्लैष्मिकज्वरस्य भेदानाह—

साधारणश्वसनकान्त्रिकवातिकाख्यभेदाच्चतुर्विध उदीरित एष रोगः ॥ ३ ॥

इस रोग के ४ भेद होते हैं जिनमें प्रथम साधारण, द्वितीय श्वसनक, तृतीय आन्त्रिक और चतुर्थ वातिक होता है ॥ ३ ॥

तस्य निदानम्—

कीटाणवोऽस्य हि गदस्य मरुत्प्रवाह-विस्तारिता जगति मर्त्यसमूहमध्ये।
श्वासायनेन लघु नृन्ननु संक्रमन्ते स्यादन्नमार्गत इमे क्वचनाशनाद्यात् ॥
एवं क्वचिच्च पटमाल्यमुखैः प्रकारैरेषां भवेदपि हि संक्रमणं कथंचिद् ॥ ४ ॥
पाश्चात्यवैद्यविसरैरणुवीक्षणेन यन्त्रेण चातिनिपुणं बहुशो निरीक्ष्य।
निर्द्धारितं सततमस्य गदस्य कीटाणोर्दण्डवन्नियतरूपमतीव विज्ञैः ॥ ५ ॥
यदा श्वासमार्गेण कीटाणवोऽस्य प्रवेशं प्रकुर्युस्तदा ते गलं च।
प्रणालीं तु वायोः परं दूषयन्तो व्रजेयुर्ध्रुवं फुप्फुसौ सर्वदैव ॥ ६ ॥
तथा येऽन्नमार्गेण दैवाद्विशेयुः समस्तं च ते सर्वथा तं रुजेयुः।
क्वचिद्धातवो दूषितास्तैर्भवेयुस्ततो रोगमेनं समुत्पादयेयुः ॥ ७ ॥
ततो धातुजातं समस्तं विषाक्तं प्रकुर्वन्त एते नरान्मारयन्ति।
मरुच्छ्लेष्ममुख्यं ज्वरं संनिपातं ससंप्राप्ति चेत्थं सुवैद्या वदन्ति ॥ ८ ॥

इस रोग के कीटाणु हवा से फैलकर जनसमुदाय में रोग पैदा करते हैं। ये कीटाणु श्वासमार्ग से, कभी-कभी भोजन आदि के साथ अन्नमार्ग से और कभी-कभी वस्त्र-माला आदि के द्वारा भी मनुष्यों में संक्रान्त होते हैं। पाश्चात्त्य चिकित्सकों ने अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा भली भाँति निरीक्षण करके इस रोग के उत्पादक दण्डाकार जीवाणुओं का पता लगाया है। जो कीटाणु श्वासमार्ग से प्रवेश करते हैं वे गले और श्वासप्रणाली को अत्यन्त दूषित करते हुए फुफ्फुस में पहुँच जाते हैं और जो कीटाणु अन्न के साथ प्रविष्ट होते हैं सम्पूर्ण अन्नमार्ग को रुग्ण कर देते हैं और कभी-कभी समस्त धातुसमूह को विषाक्त करके मनुष्यों को मार डालते हैं ॥ ४-८ ॥

शिरःशूलमङ्गेषु मर्दोऽथ कम्पः कटीपृष्ठवक्षःस्थलेऽत्युग्रपीडा।
प्रतिश्यायशैत्यावसादज्वराश्च गलैकग्रहोऽल्पैर्दिनैर्भूरि कार्श्यम् ॥ ९ ॥
बलस्यापि हानिर्भृशं नाडिकाया गतेर्नातिचाञ्चल्यमाभाति चात्र।
समन्ताच्च रक्ताऽतिमालिन्ययुक्ता रसज्ञाऽपि चोच्छूनतामाश्रिताऽद्धा ॥ १० ॥
मरुच्छ्लैष्मिकस्य प्रभेदे तु साधारणे चिह्नमेतत् समस्तं मयेत्थम्।
अभिज्ञभिषग्भिर्यथैवोपदिष्टं तथैवात्र हृद्यैः स्वपद्यैः प्रदिष्टम् ॥ ११ ॥

शिर में शूल, अङ्गमर्द, कम्प, कटि, पृष्ठ तथा वक्षःस्थल में अत्युग्र पीड़ा, जुकाम, शीतबोध होना, अवसाद, ज्वर, गलग्रह, थोड़े ही दिनों में अत्यधिक कृशता, अत्यन्त बल की हानि, ज्वर की अपेक्षा नाड़ी की गति में चञ्चलता (तीव्रता) का अभाव, जीभ के चारों तरफ किनारों पर लालिमा, अधिक मलिनता तथा उच्छूनता (फुलाव) ये सब लक्षण वातश्लैष्मिक ज्वर के साधारण भेद में प्रकट होते हैं ॥ ९-११ ॥

तत्र श्वसनकस्य रूपम्—

भेदे तथा श्वसनके सकलैः पुरोक्तै रूपैः सहोद्भवति तीव्रतमोऽपि कासः।
निष्ठीवनं कफविमिश्रितशोणितस्य श्वासप्रलापबहुशोणितवर्णताश्च ॥ १२ ॥
दशेयं ज्वरस्यास्य विश्वस्तवैद्यैः समस्तैर्भृशं दारुणोदोरिताऽपि।
(2) अतः सावधानेन सर्वोत्तमेन चिकित्साप्रकारेण रक्ष्योऽत्र रोगी ॥ १३ ॥

इसमें पूर्वोक्त सभी लक्षणों के साथ-साथ अत्यन्त तीव्र कास, थूकने पर कफ के साथ मिश्रित रक्त, श्वास, प्रलाप और शरीर का रक्तवर्ण होना ये लक्षण अधिक प्रकट होते हैं। यह दशा प्रामाणिक वैद्यों ने अत्यन्त दारुण बताई है। अतः इसमें अत्यन्त उत्तम चिकित्सा द्वारा रोगी की सावधानी से रक्षा करनी चाहिये ॥ १२-१३ ॥

आन्त्रिकस्य रूपम्—

(3) भवेदुद्भवोऽथान्त्रिकाख्यप्रभेदे वमेर्वाऽतिसारस्य किंवा द्वयोश्च।
तथोत्क्लेशशूलामयौ कामलाऽपि क्वचिन्नूनमेवोद्भवेयुर्विशिष्य ॥ १४ ॥

वातश्लैष्मिक ज्वर के आन्त्रिक प्रकार में वमन वा अतीसार अथवा दोनों एक साथ, उत्क्लेश, शूल और कभी-कभी कामला आदि लक्षण विशेष रूप से प्रकट होते हैं ॥ १४ ॥

वातिकस्य रूपम्—

(4) अथो वातिकाख्यप्रभेदे विशेषात् प्रतिश्यायकासज्वरक्षीणताश्च।
प्रलापो मनोऽस्थैर्यनिद्रा विनाशौ क्वचित् पक्षघातः प्रजायेत दैवात् ॥ १५ ॥
शीर्षावरणकदाहः कृतसंनाहः क्वचिच्चैव। अवलोक्यत इह साधारणचिह्नैर्युत आमयान्वितेषु॥

वातश्लैष्मिक ज्वर के वातिक प्रकार में प्रतिश्याय (जुकाम), कास, ज्वर, क्षीणता, प्रलाप, मन की अस्थिरता, निद्रानाश और कहीं-कहीं पर पक्षाघात तथा कभी-कभी तीव्र शीर्षावरणप्रदाह भी होता है। इन सभी भेदों में साधारण वातश्लैष्मिक ज्वर के भी लक्षण रहते हैं ॥ १५-१६ ॥

वातश्लैष्मिकज्वरस्योपद्रवाः—

पक्षाभिघातो हृदयावसादः पुनः पुनश्चाक्रमणं गदस्य।
तथा प्रदाहो ननु फुफ्फुसे स्युर्ज्ञेया इमे श्लेष्मकजा उपद्रवाः ॥ १७ ॥

पक्षाघात, हृदय में अवसाद और बारबार रोग का आक्रमण, फुफ्फुस में प्रदाह ये सब वातश्लैष्मिक ज्वर के उपद्रव रूप में होते हैं ॥ १७ ॥

अथ सन्धिकज्वरनिदानम्

तत्रादौ संधिकज्वरस्य परिचयः—

भवेज्ज्वरो यो व्रणशोथतुल्यैः शोथैर्भृशं सन्धिगणं प्रपीडयन्।
घोरोऽपि हृद्रोगयुतः स वैद्यैरुदीरितः सन्धिकनामकोऽत्र ॥ १ ॥

जिस ज्वर में व्रणशोथ के समान सन्धियों में शोथ और पीड़ा तथा हृद्रोग भी होता हो उसे सन्धिक ज्वर (Rhumatic fever रीयुमैटिक फीवर) कहते हैं ॥ १ ॥

तस्य संप्राप्तिः—

हेमन्तवर्षाशिशिरर्तुमध्ये तथा वसन्तेऽपि च शीतकाले।
क्लिन्नोष्णभूमिष्वविशङ्कमद्धाऽजस्रं जनानां भ्रमतामवश्यम् ॥ २ ॥
तथैव बाल्ये नवयौवनेऽपि प्रायेण जातेऽपचये बलस्य।
भवेज्ज्वरो योषिदपेक्षयाऽयं पुंसां च तत्रापि विशिष्य यूनाम् ॥ ३ ॥
लोके तु बिन्द्वाकृतिशालिनैजकीटाणुहेतोर्जननं सुसिद्धम्।
तथा गदस्यास्य हि सन्धिकाख्यज्वरेति नामापि सदा प्रसिद्धम् ॥ ४ ॥

हेमन्त, वर्षा, शिशिर तथा वसन्त और शीतकाल में एवं आर्द्र तथा उष्ण भूभागों में निःशङ्क होकर निरन्तर भ्रमण करने वालों को प्रायः बाल्य तथा युवावस्था में तथा बल के क्षीण होने पर यह ज्वर होता है। यह स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को उसमें भी जवानों को विशेष रूप से होता है। इसके कीटाणु बिन्दु के आकार के होते हैं। इस रोग का नाम 'सन्धिक ज्वर' है॥ २-४॥

विमर्श—इस रोग के कारण के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग बिन्दुवत् माला-गोलाणु, कुछ एक प्रकार के युग्मगोलाणु, कुछ अनूर्जता और अधिकसंख्यक विद्वान् एक प्रकार के निस्यन्दनातीत विषाणु (Virus) को इस रोग का प्रधान कारण मानते हैं। प्राचीन आचार्यों ने आमदोषयुक्त वातज्वर या वातोल्बण त्रिदोष ज्वर में ही इसका समावेश किया है।

तस्य संप्राप्तेः सविस्तरमवतरणम्—

गदस्यास्य कीटाणवो दैवयोगाद्गलग्रन्थितो धातुमध्ये प्रविष्टाः।
ध्रुवं वातपित्तोल्बणं सन्निपातं शरीरे भृशं सर्वथोदीरयन्ति॥ ५॥
ततोऽतिशोथं व्रणशोथ तुल्यं कुर्वन्ति जान्वादिषु भूयशो नृणाम्।
विदन्ति चेत्थं भिषजस्तु केचन स्वबुद्धितः सन्धिकजातिरीदृशी॥ ६॥
अथापरे तु ब्रुवते सुवैद्या इदं शृणु त्वं ननु वक्ष्यमाणम्।
विषं हि कीटाणुसमुत्थितं नृणां गलाच्छरीरस्थितधातुमध्ये॥ ७॥
कृतप्रसारं किल वातपित्तोल्बणं त्रिदोषं समुदीरयत् सत्।
सुघोरमेव व्रणशोथ तुल्यं करोति सन्धीन् परितः प्रसह्य॥ ८॥
मतद्वयं संप्रति सन्धिकस्यागताविदं चेत्थमिह प्रदर्शितम्।
परन्तु तत्रादिमपक्षमुत्तमं समाश्रयन् वक्ष्यहमग्र एतद्॥ ९॥
अथोपरिप्रोक्तनिमित्तजातैः सन्धौ प्रयाते बहुशूनतां च।
या श्लैष्मिकी सन्धिगता कला सा प्रजायते शोथयुताऽम्बुपूर्णा॥ १०॥
तद्धेतुतः स्यात्तरुणास्थिमूर्द्धसु तथाऽस्थिबन्धेस्वखिलेषु शोथः।
सन्धेरथाभ्यन्तर एधमानो विदह्यते पूर्णतया बलासः॥ ११॥
विषप्रभावादपि शोणिताणवः क्षीणा भवन्तीह विशेषतस्तु।
न्यूनत्वमस्त्रस्य ततश्च हेतोः श्वेताणुवृन्दोपचयोऽधिकं स्यात्॥ १२॥
हृदन्तिकस्थायिकलापुटेऽपां भवेद् भृशं सञ्चय एव शीघ्रम्।
तथा विकारा व्रणशोथजा हृदि कपाटमध्ये हृदयस्य वा स्युः॥ १३॥
स्याच्छ्वासयन्त्रीयकलास्थशोथः सव्ये हि पार्श्वे बहुशो गदेऽस्मिन्।
लिङ्गैश्च कासश्वसनादिभिः सहाक्रान्तं भवेत्फुफ्फुसमप्यवश्यम्॥ १४॥

इस रोग के कीटाणु गले की ग्रन्थियों द्वारा धातुओं में प्रविष्ट होकर वात-पित्तोल्बण संनिपात-ज्वर को शरीरमें उत्पन्न करते हैं। उसके बाद रोगीकी सन्धियों में घोर व्रणशोथ के समान शोथ उत्पन्न कर देते हैं। ऐसा कुछ वैद्य मानते हैं, और कोई २ यह मानते हैं कि कीटाणुओं का विष ही मनुष्यों के गले की ग्रन्थियों से धातुओं में फैलकर वातपित्तोल्बण संनिपात-ज्वर को उत्पन्न करता हुआ सन्धियों विशेषतः जानु आदि में अत्यन्त घोर शोथ उत्पन्न करता है। यहाँ प्रथम मत का ही मुख्य रूप से आश्रय लेकर आगे वर्णन करता हूँ। जब उपर्युक्त कारणों से सन्धियों में अधिक शोथ हो जाने पर सन्धिस्थित श्लैष्मिक कला भी शोथ-युक्त होकर जलपूर्ण हो जाती है तब उसके कारण तरुणास्थियों के शिरोभाग पर तथा अस्थियों के बन्धनों में भी शोथ हो जाता है और इसके बाद सन्धियों के भीतर वृद्धि को प्राप्त हुआ कफ पूर्ण रूप से विदग्ध हो जाता है तथा विष के प्रभाव से इस रोग में रक्तकण विशेष रूप से क्षीण हो जाते हैं और श्वेत कणों की अधिक वृद्धि हो

जाती है। हृदय के समीपस्थित कलापुट (हृदयावरण) में शीघ्रता से जलका संचय हो जाता है और हृदय या हृदय-कपाट के मध्य में व्रणशोथ से उत्पन्न होने वाले विकार उत्पन्न हो जाते हैं। इस रोग में वाम पार्श्व के फुफ्फुसावरण कला में शोथ हो जाता है और कास, श्वास आदि लक्षणों के साथ फुफ्फुस भी विष से आक्रान्त हो जाता है॥ ५-१४॥

तस्य रूपम्—

गदे ज्वरः स्यात् सहसेह साधारणः स शीतेन विवर्द्धतेऽद्धा।
अथाङ्गमर्दोऽपि च कण्ठदाहो हृदि व्यथा स्वेदकृतं बहुत्वम्॥ १५॥
ग्रीवास्तम्भोऽथो गलग्रन्थिमध्ये शूनत्वं स्यादल्पमूत्रत्वमेव।
गुल्फे किंवा जानुदेशे कफोण्यां नृणां प्रायेणैव बन्धे मणेर्वा॥ १६॥
रक्तः शोथो रौद्रलिङ्गाभ्युपेतः स्पर्शं सोढुं चाक्षमोऽप्यत्र रोगी।
देहे पीडा दुःसहा सन्धयोऽन्ये पर्यायेणात्राभिभूयन्त एव॥ १७॥
पूर्वप्रोक्तैर्लक्षणैः सार्द्धमस्मिन् रोगे वृद्धिर्जायते च ज्वरस्य।
आषट्सप्ताहं गदस्यास्य कालः प्रोक्तो वैद्यैः संप्रशाम्येत्तदन्ते॥ १८॥

इस रोग में सहसा शीत के साथ साधारण ज्वर चढ़ जाता है और अङ्गमर्द, कण्ठ में दाह, हृदय में व्यथा, स्वेद की अधिकता, ग्रीवा में स्तब्धता, गलग्रन्थि में शोथ, एवं मूत्र की अल्पता होती है और रोगी के गुल्फ, जानु, कोहनी तथा कलाई में रक्तवर्ण का शोथ भयङ्कर लक्षणों के साथ उत्पन्न होता है जिससे सन्धियों को छूना भी रोगी सहन नहीं कर सकता है। देह में दुःसह पीड़ा होती है और पर्याय से अन्य सन्धियों में भी इसी भाँति रक्तवर्ण का शोथ हो जाया करता है और पूर्वोक्त लक्षणों के साथ २ इस रोग में ज्वर की वृद्धि हो जाती है। ६ ठें सप्ताह के अन्त में इस रोग की शान्ति हो जाती है॥ १५-१८॥

तस्य साध्यासाध्यत्वम्—

यत्र त्रिदोषभवलक्षणमध्यगानां केषांचन क्वचन दर्शनमस्तु रोगे।
किंवा हृदामयसमुद्भव एव तत्र प्राणान्तकः स तु भवेदनुपक्रमाच्च॥ १९॥

पूर्वोक्त सांनिपातिक ज्वरों के किसी एक के भी लक्षण का जिसमें दर्शन होता है किंवा हृद्रोग की उत्पत्ति होती है वह ज्वर उचित चिकित्सा न होने से असाध्य हो जाता है॥ १९॥

विमर्श—यहाँ त्रिदोष ज्वर से विकृतिविषमसमवेत पूर्वोक्त उग्ररूप के त्रिदोष ज्वर का ग्रहण करना चाहिए क्योंकि यह रोग तो आरम्भ से ही त्रिदोषजनित होता है।

कथंचिज्ज्वरमुक्तावपि हृद्रोगित्वम्—

कीटाणुसंभवविषस्य तथा चिकित्सा नैपुण्यतो यदि हि संधिकरोगयुक्तः।
जीवेत्परं ननु चतुर्दशवासरेभ्यः किंवैकविंशतिदिनेभ्य इह स्वपुण्यैः॥ २०॥
तत्रापि रोगमुक्तः सन् हृदामययुतः पुमान्। भवेदेवेति विज्ञेयं वैद्यवर्यैरशान्तिमान्॥२१॥

कीटाणुजन्य विष की स्वल्पता से या उत्तम चिकित्सा द्वारा सन्धिक ज्वर से युक्त रोगी २-३ सप्ताह के बाद रोग से मुक्त होने पर भी हृद्रोग से युक्त हो जाता है ऐसा वैद्यों को जानना चाहिये॥ २०-२१॥

हृद्रोगस्य परिणामः—

सर्वैर्हृदामयसमागतदुःखजातं प्रायोऽनुभूयत इह प्रसभं मनुष्यैः।
शोथश्रमश्वसनकादिभिरर्द्यमानैस्त्यज्यन्त आशु किल तैरसवो विशेषात्॥ २२॥

सन्धिक के प्रायः सभी रोगी हृद्रोगसंबन्धी दुःख का अनुभव करते हैं और शोथ, श्रम, श्वास आदि से पीड़ित होते हुये अन्त में प्राण त्याग देते हैं॥ २२॥

अत्र वैशिष्ट्यम्—

प्रायो ज्वरे भवति सन्धिकनामकेऽस्मिन् यूनां तु सन्धिषु विशिष्य विकारवृन्दम् ।
तद्वन्नृणां हि हृदि बाल्यवयःस्थितानां वैशिष्ट्यमित्यपि विबोध्यमुदारवैद्यैः ॥ २३ ॥

प्रायः करके सन्धिक नामक ज्वर में युवा पुरुषों की सन्धियों में और बालकों के हृदय में विशेष रूप से विकार उत्पन्न होते हैं ॥ २३ ॥

सन्धिकज्वरस्योपद्रवाः—

शोथाः सदा हृदयफुफ्फुसशीर्षकण्ठमध्यस्थिता अथ च तीव्रतरो ज्वरोऽपि ।
नूनं निदानविधिविज्ञवरैः सुवैद्यैः ख्याता उपद्रवतयेति गदा इहैव ॥ २४ ॥

हृदय, फुफ्फुस, सिर और कण्ठ में शोथ तथा तीव्रतम ज्वर इस ज्वर के उपद्रव स्वरूप होते हैं ॥ २४ ॥

विमर्श—सन्धिक-ज्वर का ही दूसरा नाम 'आमवातिक' है। पूर्वार्ध पृ. ४०९ से ४११ तक भी देखें।

अथ श्वसनकज्वरनिदानम्

तस्य परिचयः—

लाक्षारसप्रतिमरक्तयुतं कफं यः ष्ठीवेज्ज्वरेण बहुशः श्वसनेन युक्तः ।
स्त्यानो भवेदपि च कश्चन फुप्फुसीयो भागस्तु यस्य कथितः श्वसनज्वरी सः ॥ १ ॥

जो रोगी लाक्षारस के समान रक्त मिश्रित कफ निरन्तर थूकता हो, ज्वर के साथ-साथ श्वास से युक्त हो और जिसके फुप्फुस का कोई भाग घन हो उसे श्वसनक ज्वर (Pneumonia न्यूमोनिया) युक्त समझना चाहिये ॥ १ ॥

तस्य निदानम्—

ये चान्नवस्त्ररहिता अपि दुर्बलाः स्युः श्रान्ताश्च दुःखितहृदो मनुजास्तु दीनाः ।
ये चाप्यजीर्णगदिनो बहुमद्यपा वा वृक्कस्य चापि यकृतो ननु शोथिनो वा ॥ २ ॥
मिथ्याऽऽहारान् वा विहारानजस्रं ये वा कुर्युर्नूनमेव प्रमादात् ।
तेषां प्रायः शीतवर्षाऽऽदिबाधाहेतोः किंवा पूतिगन्धैकयोगात् ॥ ३ ॥
किंवाऽभीघातात् क्वचिद्व्याधिनाऽनेनार्तस्यापि प्रत्यहं संगमाद्वा ।
सर्वेष्वेवर्तुष्वसवुद्भवेच्च प्रायः काले शैशिरे वा वसन्ते ॥ ४ ॥
किंवा वर्षासु ज्वरः प्रोक्तलिङ्गो वैद्यैः प्रोक्तं नाम कीटाणवोऽस्य ।
नूनं मूलं जन्मनो नैकरूपा ज्ञेयाश्चत्वारस्तु तत्र प्रधानम् ॥ ५ ॥
तत्राभिज्ञैर्दारुणास्तु त्रयोऽथो तेष्वप्यन्त्यो दारुणो त्यर्थमुक्तः ।
इत्थं सर्वं प्राच्यपाश्चात्त्यरीत्या सम्यङ् निर्दिष्टं निदानं किलास्य ॥ ६ ॥

अन्न-वस्त्र से रहित, दुर्बल, थके हुये, दुःखित हृदय एवं दीन, अजीर्ण के रोगी, बहुत मद्य पीने वाले या वृक्क अथवा यकृत में शोथयुक्त व्यक्ति, या प्रमादवश जो नित्य मिथ्या आहार-विहार करते हैं, उन लोगों को प्रायः शीत तथा वर्षा आदि से पीडित होने से किंवा पूतिगन्ध के सूँघने से या चोट लगने से अथवा क्वचित् श्वसनक रोगी का संसर्ग होने से सभी ऋतुओं में यह ज्वर उत्पन्न हो जाता है। यह रोग प्रायः करके शिशिर, वसन्त या वर्षा ऋतु में अधिकतर होता है। इस ज्वर के प्रधान कारण (युग्म) कीटाणु ही हैं जो बहुत प्रकार के होते हैं। उनके अभिज्ञों ने प्रधानरूप से ४ प्रकार कहे हैं। उनमें प्रथम तीन दारुण और चौथा अत्यन्त दारुण होता है ॥ २-६ ॥

तस्य भेदौ—

द्विविधः श्वसनकसंज्ञो गदितो वैद्यैर्ज्वरस्तत्र ।
खण्डीयस्तु प्रथमस्तथा द्वितीयः प्रणालिकः प्रोक्तः ॥ ७ ॥
अत्रैतच्च ज्ञेयं द्वावपि फुफ्फुसप्रदाहसंयुक्तौ ।
तत्रादिमस्य भेदा विज्ञैः पञ्चैव संप्रोक्ताः ॥ ८ ॥
तत्र प्रथमः साधारण उत्क्रामकसंज्ञको द्वितीयः ।
अपि केन्द्रिकस्तृतीयस्तदनु चतुर्थो बृहन्नामा ॥ ९ ॥
फुफ्फुसावरणप्रदाहः पञ्चमः परिभाषितः स्युः प्रभेदा आदिमस्यापि बोध्या बुद्धितः ।
तदनु द्वितीयस्यापि भेदौ मुख्यगौणविभेदतः कथ्यते तेषामथो जातिश्च रूपमशेषतः ॥१०॥

श्वसनक ज्वर के दो भेद हैं, 'खण्डीय' और 'प्रणालिक'। इन दोनों में फुफ्फुसप्रदाह होता है। 'खण्डीय' के भी ५ भेद होते हैं। प्रथम 'साधारण', द्वितीय 'उत्क्रामक', तृतीय 'केन्द्रिक', चतुर्थ बृहत् और पञ्चम फुफ्फुसावरणप्रदाह-संज्ञक कहा गया है। 'प्रणालिक' के भी दो भेद होते हैं। 'मुख्य' और 'गौण'। उन सबों की संप्राप्ति तथा लक्षण का वर्णन पूर्णरूप से नीचे किया जा रहा है ॥ ७-१० ॥[1]

तस्य संप्राप्तेरवतरणम्—

आस्यतो गलतोऽणवोऽस्य श्वासपथतो रोगदाः फुफ्फुसस्यान्तःप्रकोष्ठेषूपयाता वै यदा ।
वातप्रणालीष्वपि विषस्य प्रभावमापाद्य हि तदा शोणिते विदधति घनत्वं सर्वदा ते दुःखदाः॥
शोणिते घनतामिते वामेऽथवा वामेतरे फुफ्फुसे किंवा द्वयोरपि जायते शोथो ज्वरे ।
वच्यते संप्रति विशेषश्चात्र शृणु यदि कोष्ठगः शोथ आख्यातस्तदा खण्डीयनामविभेदगः॥
वातप्रणालीगामिशोथश्चेत्ततः स प्रणालिकः कथ्यते फुफ्फुसप्रदाहः सद्भिरत्र श्वसनकः ।
ज्वरः पीडाश्वासकृच्छ्रत्वं च तत्र तु जायते नूनमुभयोरपि भिषग्भिश्चेति नियतं कथ्यते ॥

जब रोगी के मुख, गले तथा श्वासमार्ग से इस रोग के उत्पादक जीवाणु फुफ्फुस के अन्तःप्रकोष्ठ में अथवा वायु की सूक्ष्म प्रणालियों में प्राप्त होते हैं तब विषैले प्रभाव को उत्पन्न करके रक्त (रक्तजनित फुफ्फुसगत स्राव) को गाढ़ा बना देते हैं, रोगी के बायें या दाहिने किंवा दोनों फुफ्फुसों में शोथ उत्पन्न हो जाता है। यदि इस ज्वर में कोष्ठों (वायुकोषों) में शोथ हो तो 'खण्डीय' फुफ्फुसप्रदाह (Lobar pnemonia) और वायु-प्रणालियों में शोथ हो तो 'प्रणालिक' फुफ्फुसप्रदाह (Broncho pneumonia) समझना चाहिये। इन दोनों प्रकार के श्वसनक ज्वरों में ज्वर, पीडा और श्वास में कृच्छ्रता उत्पन्न होती है ॥ ११-१३ ॥

श्वसनकज्वरस्य पूर्वरूपम्—

प्रायो ज्वरे श्वसनके ननु पार्श्वपीडा श्वासोऽवसादकसने अपि कम्पनं च ।
संदृश्यमानमितिलक्षणमग्ररूपं सर्वे गदन्ति भिषजो गदरूपविज्ञाः ॥ १४ ॥

प्रायः करके श्वसनक ज्वर की पूर्वरूपावस्था में पार्श्वों में पीड़ा, श्वास, अवसाद, खांसी और कम्प ये लक्षण होते हैं ॥ १४ ॥

श्वसनकज्वरस्य स्वरूपम्—

ज्वरोऽतितीव्रः सहसैव शीतेन संप्रवर्तेत ततोऽतितृष्णा ।
अन्नारुचिः श्वाससमृद्धिरेधेत पार्श्वशूलं कसनं क्रमेण ॥ १५ ॥

---

1. Types of pneamonia (1) Lobar pneumonia (a) Apical (b) Creeping (c) Central (b) Double (e) Massive. (2) Broncho-pneumonia (a) Primary (b) Secondary.

लाक्षारसाभं रुधिरं तु सान्द्रं कासात्प्रवर्त्तेत मुहुः कफाढ्यम् ।
श्वासेन संस्फूर्जत एव नासापुटौ सदा श्वासगतिस्तु तीव्रा ॥ १६ ॥
कपोलभागेऽपि च रक्तिमा स्यात्स्वेदो ललाटे परिदृश्यतेऽद्धा ।
स्विन्नानि गात्राणि भृशं भवेयुर्निरन्तरं दुर्बलता प्रमोहः ॥ १७ ॥
सिद्धार्थकाभाः पिडकास्तनौ संदृश्यन्त एवापि च कण्ठकूजनम् ।
सादः प्रलापः परुषाऽपि जिह्वा कार्कश्ययुक्ता मलिना भृशं च ॥ १८ ॥
द्वैगुण्यमद्धाऽऽश्रयते गतौ तु स्यात् कोमला स्थूलचला च नाडी ।
यावज्ज्वरं भाति दशेयमस्या ज्वरादिमुक्तावपि दुर्बलत्वम् ॥ १९ ॥
प्रायेण सा संभजते मृदुत्वं विनिश्चितं चेति विशेषतोऽत्र ॥ २० ॥
संख्या न चास्या परिगण्यते गतेररिष्टकाले किल केनचित् क्वचित् ।
तान्येव लिङ्गानि भवन्ति प्रायः प्रणालिकेत्याह्वयभेदमध्ये ॥ २१ ॥

शीत लग कर सहसा अत्यन्त तीव्र ज्वर होना, अत्यन्त प्यास लगना, अन्न में अरुचि, श्वास की अधिक वृद्धि, पार्श्वशूल, खाँसी, खाँसी आने पर कफ से लिपटा हुआ लाक्षा रस के समान गाढा रक्त निकलना, श्वास-वेग से नासापुट सदा फूलते रहना, और श्वास की गति तीव्र होना, कपोल भाग पर रक्तिमा, ललाट पर स्वेद आना, सारा शरीर सर्वदा गीला सा रहना, दुर्बलता, प्रमोह, शरीर में सफेद सरसो की बराबर पिडिकायें, कण्ठ में कूजन, अवसाद, प्रलाप, जिह्वा कर्कशता से युक्त अत्यन्त मलिन और नाडी की गति (अनुपात में श्वास से) दुगुनी, कोमल, स्थूल (भरी हुई) एवं चञ्चल होती है। जब तक ज्वर रहता है तब तक उक्त दशा बनी रहती है और ज्वर के छूट जाने पर भी नाडी में दुर्बलता तथा मृदुता बनी रहती है और विशेषतः अरिष्टकाल में नाडी की गति इतनी तीव्र हो जाती है कि गिनी नहीं जा सकती। प्रायः करके ये ही लक्षण प्रणालिक फुफ्फुसावरण प्रदाह में भी पाये जाते हैं ॥ १५-२१ ॥

धातुमलपाकानुसारं तीव्रातीव्रलक्षणानुसारं वाऽस्य मुक्तिः—

सप्तमे दिवसेऽष्टमे वा प्रायशो नवमे क्वचिद् दृश्यते दशमेऽत्र सहसा ज्वरविमुक्तिः कुत्रचित् ।
रोगिणो देहे तदैव स्वेदनिचयस्योद्गमः स्याच्च तेन हि रोगमुक्तिर्जातु वाऽसुविनिर्गमः ॥२२॥

सातवें, आठवें, नवें या दसवें दिन सहसा ज्वर की विमुक्ति (उतर जाना) हो जाती है। उस समय रोगी के शरीर से अत्यधिक स्वेद निकलता है जिससे योग्य चिकित्सा होने पर ही रोगी बच पाता है अन्यथा मर जाता है ॥ २२ ॥

श्वसनकज्वरस्य साध्यासाध्यत्वम्—

एकस्मिन्नधिफुफ्फुसं विधिवशाद् दुष्टे च मन्दे ज्वरे
देहे साधुतया स्थिते ननु बले पादत्रयेऽप्युत्तमे ।
ज्ञातव्या सुखसाध्यता श्वसनकेनार्त्तस्य नुः सर्वदा
स्वेदो यद्यधिको ज्वरोऽपि च भवेत्तीव्रोऽथ वृद्धो गदी ॥ २३ ॥
किंवा क्षीणतमस्तदा तु भिषजि द्रव्येऽथ भृत्ये शुभे
शास्त्रप्रोक्तगुणान्विते सति कथंचिद्दैवयोगात् क्वचित् ।
जीवेत् कश्चिदिहामयाविषु नरः सत्पुण्यपुञ्जान्वितः
प्रायेणान्तकमन्दिरान्तिकगतिं प्राप्नोति चात्रान्यथा ॥ २४ ॥

दैवात् एक ही फुफ्फुस के दूषित होने पर तथा ज्वर की मन्दता एवं बल की स्थिरता तथा औषध, उपचारक और वैद्य इन तीनों की उत्तमता रहने पर इस रोग को सुखसाध्य समझना चाहिये। यदि स्वेद अधिक हो और ज्वर अधिक तीव्र हो, रोगी वृद्ध किंवा अत्यन्त क्षीण हो तो

उपर्युक्त चिकित्सा के साधन रहने पर भी दैवयोग से कदाचित् कोई पुण्यात्मा रोगी बच जाता है अन्यथा प्रायः करके मर ही जाता है ॥ २३-२४ ॥

श्वसनकज्वरस्यारिष्टानि—

यस्याक्रान्तौ फुफ्फुसौ स्तः कदाचित् किंवाऽप्येकः फुफ्फुसोऽशेषतः स्यात् ।
नासामध्ये श्वासशब्दो विशेषः स्वेदोऽत्यर्थं जीवने तस्य शङ्का ॥ २५ ॥
स्वेदस्नातो यः प्रलापेन मन्देनोपेतः सन् पूरुषः प्रायशः स्यात् ।
वेपेते वा यस्य हस्तौ च पादौ नूनं प्राप्नोत्यत्र मृत्युं स रोगी ॥ २६ ॥
यो दुर्वारेणातिसारेण पूर्णमाक्रान्तः सन् क्षीण एवाधिकः स्यात् ।
कीनाशागारं यियासुं नरं तं विद्याद्वैद्यः स्वल्पकालादवश्यम् ॥ २७ ॥

जिसके दोनों फुफ्फुस किंवा एक ही फुफ्फुस पूर्णतया आक्रान्त हों और नासा में विशेषरूप से श्वास का शब्द होता हो एवं अत्यन्त स्वेद निकलता हो तो उसके जीवन में आशंका हो जाती है। जिसका शरीर पसीने से नहाया हुआ तथा मन्द प्रलाप से युक्त हो और हाथ-पैर कांपता हो वह अवश्य मर जाता है। जो दुःसाध्य अतीसार से पूर्णतया आक्रान्त हो और अधिक क्षीण हो गया हो उसे थोड़े ही काल में मर जाने वाला समझना चाहिये ॥ २५-२७ ॥

श्वसनकज्वरस्योपद्रवाः—

निद्रानाशोऽपि प्रलापोऽथ कम्पस्तीव्रस्तापोऽत्यर्थमेवातुरस्य ।
संज्ञाहानिः कार्यरोधो हृदोऽस्मिन् ज्ञेया एते सर्वदोपद्रवा वै ॥ २८ ॥

निद्रानाश, प्रलाप, कम्प, तीव्र ताप, संज्ञानाश, हृदय के कार्य का अवरोध हो जाना ये सब श्वसनक ज्वर के उपद्रव समझने चाहिये ॥ २८ ॥

विमर्श—इस रोग के उपद्रवस्वरूप फुफ्फुसावरण शोथ, पूयोरस्कता (Empyema) फुफ्फुसगत विद्रधि या कोथ (Abscessor Gangrene) भी हो सकते हैं।

अथ क्लोमरोगनिदानम्[1]

तत्रादौ क्लोमस्वरूपम्—

अग्न्याशयः संप्रति यः स वैद्यैः क्लोमेतिनाम्नाऽऽधुनिकैर्निगद्यते ।
कुत्रास्ति प्राचीनभिषक्प्रदिष्टं क्लोमेति नाद्याप्यवधारितं हि ॥ १ ॥
निरूप्यतेऽद्धाऽऽधुनिकानुसारि क्लोमस्वरूपं सविशेषरूपम् ।
भागे तु दक्षे हृदयादधः स्यात् क्लोम्नो निवासो विदुषां मतेन ॥ २ ॥
इदं तु नूनं सलिलप्रवाहि सिरैकमूलं लपितं विशेषात् ।
तृष्णासमुत्पादनशालि चायुर्वेदज्ञवृन्दैर्बहुशो निरीक्ष्य ॥ ३ ॥

आज कल जिसे वैद्य लोग अग्न्याशय कहते हैं उसी को आधुनिक चिकित्सक 'क्लोम' (Pancreas) नाम से पुकारते हैं। प्राचीन वैद्यों द्वारा बताया हुआ 'क्लोम' कहाँ पर है इसका निर्णय अभीतक नहीं हो पाया है अतः आधुनिक मतानुसार वर्णित 'क्लोम' का विशेष रूप से विवेचन करते हैं। दक्षिण भाग में हृदय के नीचे 'क्लोम' का निवास है। इसे जलवाही सिरा का प्रधान मूल कहा गया है। क्योंकि यह पिपासा को उत्पन्न करने वाला है ऐसा आयुर्वेदज्ञजनों का निरीक्षण पूर्वक कथन है ॥ १-३ ॥

क्लोमरोगनिदानम्—

क्लोम्नोऽभिवृद्धिर्मृदुताऽथवाऽन्नैः स्निग्धैर्भृशं वा गुरुभिः सुसेवितैः ।

1. Diseases of pancrers.

किंवाऽभिघातादिभिरेव नूनं संजायते मानवदेहमध्ये ॥ ४ ॥
किंचापि संघात इहास्रजातः प्रदृश्यते विद्रधिराश्ववश्यम् ।
एवंविधा नैकविधास्तथाऽन्ये रोगा भवेयुर्भृशदारुणाश्च ॥ ५ ॥

क्लोम की अभिवृद्धि वा मृदुता अधिक स्निग्ध एवं गुरु पदार्थों के सेवन से किंवा चोट लगने से हो जाती है कभी कभी इसमें गाढा रक्त जम जाता है, या विद्रधि हो जाती है और इसी प्रकार के अन्यान्य अत्यन्त दारुण रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ४-५ ॥

क्लोमरोगलक्षणम्—

अग्नेर्मान्द्यं पाण्डुता चापि कार्श्यं भ्रान्तिः सादः स्यादथोर्ध्वोदरे तु ।
औष्ण्यं काठिन्यं तथोत्क्लेशवान्ती क्लोमस्थायिन्यामये कामलाऽपि ॥ ६ ॥
प्रजाते विकारं सदा विद्रधेस्तु भवेदत्र शूलं तथाऽऽध्मानमेव ।
तृषा चाधिकाऽप्यश्मरीतुल्यरूपाऽतिघोरा शिला कष्टदायिन्यवश्यम् ॥ ७ ॥

क्लोम रोग में अग्नि की मन्दता, पाण्डुता, कृशता, भ्रान्ति, अवसाद, उदर के ऊर्ध्वभाग में उष्णता तथा कठिनता की प्रतीति, उत्क्लेश, वमन और कामला हो जाती है विद्रधि हो जाने पर शूल, आध्मान, एवं अधिक प्यास ये लक्षण होते हैं तथा अश्मरी होने पर अन्य अश्मरियों के समान घोर कष्ट होता है ॥ ६-७ ॥

विमर्श—क्लोम का विवेचन पूर्वार्ध पृष्ठ ३२० में देखें।

अथौपसर्गिकविसूचीनिदानम्[1]

तस्याः परिचयः—

अयं लोकमध्ये तु मारीस्वरूपेण सर्वत्र रोगः प्रसारं व्रजेद्धि ।
प्रदृश्येत संक्रामकश्चाथ तत्रातिसारो वमिर्नूनमत्यर्थमेव ॥ १ ॥

यह रोग लोक में महामारी के रूप में फैलता है और संक्रामक होता है । इसमें अतीसार और वमन अधिक रूप से होता है ॥ १-२ ॥

विमर्श—इस रोग का विशद वर्णन पूर्वार्ध के पृष्ठ ३०९-३११ पर भी देखें।

अस्य निदानम्—

दण्डाकारास्त्वस्य कीटाणवः संप्रोक्ता नूनं मूलभूता भिषग्भिः ।
तेषां वासः प्रायशो रोगिणां स्यादन्त्रे मूत्रे वा मले भाग्यदोषात् ॥ ३ ॥
अधिपित्ताशयमथवोदरककलायां कदाचिदखिलासु ।
उद्भूतासु लसीकोत्पादनकुशलासु हि ग्रन्थिषु ॥ ४ ॥
प्रसरन्त्यस्य गदस्य हि कीटाणव आन्त्रिकज्वरवत् ।
यान्ति विशेषाद् ग्रीष्मे प्रावृषि पयसाऽपि ते प्रसारमत्र ॥ ५ ॥
इत्थं चायं रोगो वस्त्रैर्भोज्यैर्विशेषतो मलिनैः ।
वस्तुभिरथ च स्थानैर्नूनं यायाद्धि संक्रमणम् ॥ ६ ॥

इसके रोगोत्पादक कीटाणु दण्डाकार होते हैं । कीटाणुओं का निवास प्रायः रोगी के अन्त्र, मूत्र तथा मल में होता है । कभी-कभी पित्ताशय अथवा उदरकला में होने वाली लसीकोत्पादक ग्रन्थियों में भी होता है । इस रोग के कीटाणु आन्त्रिक ज्वर के जीवाणु की भाँति फैलते हैं और ग्रीष्म तथा प्रावृट् ऋतुओं में एवं जल के द्वारा विशेषतः इनका प्रसार होता है । इस प्रकार से यह रोग, वस्त्र, भोज्य पदार्थ, विशेषतः मलिन वस्तु तथा स्थान के द्वारा संक्रमण करता है ॥ ३-६ ॥

---

१. Cholera.

तस्य संप्राप्तिरवतारः—

कीटाणवस्त्वन्नपथेन गत्वा क्षुद्रान्त्रमध्ये समनुप्रविष्टाः।
चेत्तत्र वृद्धिं बहुशो ह्यवाप्य प्रसारयेयुर्विषमस्रमध्ये ॥ ६ ॥
तदा प्रजायेत विसूचिकेयं भिषग्वरैरित्थमिहोपदिष्टम्।
केचित्तु वैद्या गदहेतुविज्ञा वदन्ति यत्त्वत्र शृणुष्व तत्त्वम् ॥ ७ ॥
क्षुद्रान्त्रमध्येऽनिशमेव तिष्ठद्विषं विसूचीं जनयत्यवश्यम्।
इत्थं विसूच्या भवतीह जन्मोपसर्गजाया अतिदुःखदायाः ॥ ८ ॥
क्षुद्रान्त्रमध्ये तु ततः स्थितासु ग्रन्थिष्वपि स्यादनु शोथजन्म।
किञ्चोदरस्थायिकलालसीका ग्रन्थिष्ववश्यं हि भवेत्तदेव ॥ ९ ॥
ततो वमेरप्यतिसारतः स्याद्विनिर्गमो वै तरलस्य तेन।
घनत्वमात्यन्तिकमस्रमध्ये जायेत रोगेऽत्र विसूच्यभिख्ये ॥ १० ॥
ततो निमित्तेन तदा त्वनेन विषप्रभावादपि वृक्कयुग्मे।
मूत्रस्य निर्माणविधेर्निरोधः संजायते रोगिजनेष्वजस्रम् ॥ ११ ॥
मूत्रप्रवृत्तिस्तत एव नात्र संदृश्यते जातुचिदामयेऽद्धा।
अन्तस्तु तापोऽथ बहिर्हि शैत्यं न्यूनत्वतः स्यात्तरलास्रयोश्च ॥ १२ ॥

इसके कीटाणु अन्न मार्ग से क्षुद्रान्त्र में प्रविष्ट होकर जब रक्त में विष फैलाते हैं तब विसूचिका होती है। यहाँ किसी का मत है कि क्षुद्रान्त्र में निरन्तर स्थित विष ही विसूची को पैदा करता है और वह औपसर्गिक विसूची अत्यन्त दुःखप्रद होती है। रोगी के क्षुद्रान्त्र में स्थित ग्रन्थियों में भी शोथ हो जाता है और वमन तथा अतिसार से तरलभाग के निकल जाने से रक्त अत्यन्त गाढ़ा हो जाता है। इसी कारण से तथा विष के प्रभाव से दोनों वृक्कों में मूत्र के निर्माण-विधि का अवरोध होने पर रोगियों को मूत्रस्राव होना बन्द हो जाता है। इससे भीतर ताप और बाहर शीत रहता है। यह सब तरल तथा रक्त की कमी हो जाने से होता है ॥ ६-१२ ॥

विसूच्याः पूर्वरूपम्—

आदौ नाशश्चेत्क्षुधायास्तु तृष्णाऽऽधिक्यं हृल्लासो बलस्यापि हानिः।
ओजोनाशश्चारतिः स्यात्तदा तु ज्ञेयं नूनं पूर्वरूपं विसूच्याः ॥ १३ ॥

आरम्भ में बुभुक्षा का नाश, तृष्णा की अधिकता, हृल्लास, बल की हानि, ओजोनाश, अरति ये सब लक्षण विसूचिका होने के पूर्व प्रकट होते हैं ॥ १३ ॥

विसूच्या रूपम्—

क्वचिच्चातिसारो वमिः स्याद् गदेऽस्मिन् क्वचित् केवला वा वमिर्दृश्यतेऽपि।
तथाऽन्यत्र सामान्यमुक्तं विसूच्याः समस्तं बुधैर्लक्षणं ज्ञेयमत्र ॥ १४ ॥
स्वरूपं च साध्यस्य किंवाऽप्यसाध्यस्य बोध्यं बुधैर्दोषजाया विसूच्याः।
यथा भाषितं वैद्यवर्यैस्तथैवोपसर्गोद्भवायाश्च कृत्स्नं विशेषात् ॥ १५ ॥
गदे दारुणे चेदृशे तु प्रजाते म्रियन्ते नरा रोगिणोऽद्धाऽप्यसंख्याः।
अनुग्रेऽपि रूपे क्वचिद् यान्ति भीत्या गदे पञ्चतामत्र नूनं मनुष्याः ॥ १६ ॥

इसमें कभी पतला दस्त और वमन और कभी केवल वमन होता है। दोषज विसूची के साध्यासाध्यता आदि के जो-जो लक्षण, अन्यत्र कहे हुए हैं वे सभी इस औपसर्गिक विसूची में भी होते हैं। इस भयङ्कर औपसर्गिक विसूचि के महामारी रूप में होने पर असंख्यों रोगी मर जाते हैं। इसकी अनुग्रावस्था में भी आतङ्कवश भयभीत होकर अनेक रोगी मर जाते हैं ॥ १४-१६ ॥

विमर्श—दोषजा विसूची के लक्षण आदि पूर्वार्ध पृष्ठ ३०८-३१७ में देखें।

उपसर्गजविसूचिकायाः पूर्वावस्था—

हृच्छूलमादौ तु भवेद्गदेऽस्मिंस्ततो वमिश्चाप्यतिसार एव।
तत्रापि पूर्वं सरणं मलस्य भुक्तस्य च च्छर्दनतस्तथैव॥ १७॥
तत्पश्चादतिसारस्याथ वमेः स्याच्च पीतवर्णत्वम्।
तदनु तयोरपि तण्डुलजलसन्निभता भिषग्भिरिह कथिता॥ १८॥

प्रथमावस्था में हृदय में शूल उसके बाद वमन तत्पश्चात् अतीसार, जिसमें पहिले मल का अतिसरण और खाये हुए अन्न का वमन होता है। उसके बाद अतीसार तथा वमन का रंग पीला और बाद में दोनों का रंग चावल के धोवन की भाँति हो जाता है॥ १७-१८॥

द्वितीयावस्था—

चिह्नानि यानीह पुरोदितानि भवेयुरद्धा द्विगुणानि तानि।
आक्षेपतृष्णाऽरतयश्च तीव्रा भुक्तं तथाऽन्नं न पचेच्च किञ्चित्॥ १९॥

जो चिह्न प्रथमावस्था के कहे हुए हैं वे ही द्वितीयावस्था में द्विगुणित प्रकट होते हैं और आक्षेप, प्यास तथा अरति ये सब तीव्र-रूप से प्रकट होते हैं। खाया हुआ कुछ भी नहीं पचता॥

तृतीयावस्था—

द्रवातिसाराद्बहुशोऽत्र रक्तं गाढं भवेद् देहभवं तु नूनम्।
क्षीणेन्द्रियः क्षीणतनुप्रभोऽतिदीनो नरो हीनबलः सदैव॥ २०॥
स्याच्छीतदेहोऽपि च नेत्रमन्तर्गतं स्थिरं तस्य च शीर्णवाक्त्वम्।
नीलौष्ठताऽन्यैरपि घोररूपैश्चिह्नैर्युतस्त्वं यमसद्मपान्थता॥ २१॥

द्रव भाग अधिक निकल जाने से तृतीयावस्था में रक्त गाढ़ा हो जाता है और रोगी क्षीणेन्द्रिय तथा क्षीणकान्ति वाला, दीन तथा हीनबल वाला हो जाता है। शरीर ठण्ढा पड़ जाता है। नेत्र भीतर धँस कर स्थिर हो जाते हैं। वाणी में लड़खड़ाहट आ जाती है और ओठ नीले पड़ जाते हैं इस प्रकार अन्यान्य भी भयङ्कर चिह्नों से युक्त होकर रोगी मर जाता है॥ २०-२२॥

विमर्श—इसके असाध्यता-निदर्शक लक्षण दोषजा विसूची के समान ही होते हैं। (देखें पूर्वार्ध पृष्ठ ३१५,३१६)।

तुर्यावस्था—

यदाऽन्तकग्रासविमुक्तदेहो व्रजेदवस्थां तु गदी तुरीयाम्।
तदाऽस्य पूर्वोक्तसमस्तलिङ्गानि वैपरीत्यं नितरामिहेयुः॥ २२॥
यदा जातुचिद् रोगिदेहे ज्वरः स्यात् तथा च प्रवर्त्तेत मूत्रं हि सम्यक्।
स्थिरत्वं प्रयायाच्च नाडी तदा तूपसर्गप्रजाता विसूचीह साध्या॥ २३॥

जब रोगी इस रोग-रूप यमराज के मुख (मृत्यु) से बच जाता है तब चौथी अवस्था उत्पन्न होती है। उस समय पूर्वोक्त लक्षणों के विपरीत लक्षण प्रकट होती हैं अर्थात् वमन आदि शान्त होने लगते हैं। ज्वर हो जाता है, मूत्र की भलीभाँति प्रवृत्ति होने लगती है और नाड़ी स्थिरता को प्राप्त हो जाती है और इन लक्षणों को देख कर औपसर्गिक विसूची साध्य समझी जाती है॥

अथोरस्तोयनिदानम्[१]

तस्य निदानपूर्विका संप्राप्तिः—

ज्वरादिष्वसावानुबन्ध्येन रोगः प्रजायेत किंवा क्वचिद् गुप्तरोगैः।
क्वचिच्चाभिघातादिभिर्वा निमित्तैर्विलोक्येत लोके नरेष्वत्र वाह्यैः॥ १॥

१. Pleurisy with effusion or hydrothorax.

उरस्तोयनामामये प्रायशोऽस्मिन्नुरस्येकपार्श्वेऽथवा पार्श्वयोर्वै ।
भवेत् संचयोऽद्धा जलीयस्य धातोरपि प्राणहृत् पूर्णतो यः प्रदिष्टः ॥ २ ॥

यह रोग ज्वरादिकों में अनुबन्ध-रूप से और क्वचित् गुप्त रोगों से, क्वचित् अभिघात आदि कारणों से वा अन्य बाह्य कारणों से उत्पन्न होता है। उरस्तोय रोग में प्रायः करके छाती के एक पार्श्व में अथवा दोनों पार्श्वों में जलीय धातु का सञ्चय हो जाता है जो पूर्ण रूप से प्राणघातक कहा गया है ॥ १-२ ॥

विमर्श—इस रोग में जलीय धातु का संचय फुफ्फुसावरणीकला के दोनों स्तरों के मध्य में होता है।

उरस्तोयस्य रूपम्—

श्वासस्य कृच्छ्रत्वमथो कफस्यास्रावः पिपासाऽङ्घ्रिगतश्च शोथः।
नीलत्वमास्ये रदनच्छदेऽधो मूत्रप्रवृत्तिर्बहुमन्दवेगात् ॥ ३ ॥
कृच्छ्राच्च मात्राऽल्पतया विशेषादत्यन्तसूक्ष्मा द्रुतगामिनी स्यात्।
नाडी नितान्तं विषमा नरस्य ध्रुवं शयानस्य न सौख्यलेशः ॥ ४ ॥
आसीन एवापि सुखी कथञ्चिद्भवेद्रुदी तेन नितान्तकृच्छ्रः ॥ ५ ॥

श्वासकृच्छ्रता, कफ का स्राव, पिपासा, पैरों में शोथ, मुख तथा अधरों पर नीलिमा, बहुत मन्द वेग से मूत्र की प्रवृत्ति, मूत्रकृच्छ्रता, एवं मूत्राल्पता होती है और नाड़ी अत्यन्त सूक्ष्म, द्रुत गति से एवं विषम रूप से चलती है। रोगी को लेटने पर किंचित् भी सुख नहीं मिलता किसी प्रकार बैठे रहने पर ही कथञ्चित् सुख प्राप्त करता है ॥ ३-५ ॥

विमर्श—वस्तुतः यह रोग वक्ष्यमाण फुफ्फुसावरण प्रदाह की वृद्धावस्था में उत्पन्न होता है और इसे आर्द्र या सद्रव फुफ्फुसावरण प्रदाह (Pleurisy with effusion) कहते हैं। इसमें केवल तरल रस मात्र का संचय होता है। किन्तु कभी इसमें पूय का भी संचय हो जाता है तब इसे उरःपूय (Empyema or pyothorax) कहते हैं। कभी कभी हृदय या वृक्क आदि रोगों में उत्पन्न सर्वाङ्ग शोफ के परिणामस्वरूप भी फुफ्फुसावरण में तरल संचय हो जा सकता है। इस अवस्था में ही इसे उरस्तोय (Hydrothorax) कहना उचित है।

अथ फुफ्फुसावरणप्रदाहनिदानम्[1] Pleurisy

अस्य परिचयः—

उरस्तोयसंज्ञे गदे यन्निमित्तं पुरा ख्यापितं तत्र तेनैव चात्र।
समुत्पादयेयुः प्रदाहं तु कीटाणवः फुफ्फुसाच्छादिकायां कलायाम् ॥ १ ॥
प्रसारं च लब्ध्वाऽत्र तद्वत्तु ते तरलेनैव नूनं कलां फुफ्फुसीयाम्।
सदा पूरयेयुस्ततस्तस्य शोषो द्विधा दृश्यते रोगिमध्ये विशेषात् ॥ २ ॥
भवेत्तत्र चाद्यस्तु संपूर्णशोषी द्वितीयो ह्यसंपूर्णशोषी प्रभेदः ॥ ३ ॥

पूर्व में उरस्तोय के जो निदान कहे गये हैं वे ही इस रोग के भी निदान समझने चाहिये। फुफ्फुसावरण कला में कीटाणु प्रदाह उत्पन्न करते हैं और वे ही फैल कर फुफ्फुसावरण कला को तरल से पूर्ण कर देते हैं। उसके बाद रोगी में उस तरल का शोष दो प्रकार से होता है। और इसीके अनुसार उसे पूर्ण शोषी और अपूर्ण शोषी कहते हैं ॥ १-३ ॥

विमर्श—इस रोग का प्रधान कारण राजयक्ष्मा का जीवाणु माना जाता है। किन्तु श्वसनक ज्वर आदि के जनक विभिन्न पूयोत्पादक जीवाणुओं के उपसर्ग से भी यह रोग हो सकता है।

---

१. Pleurisy.

किसी भी कारण से उत्पन्न इस रोग से आक्रान्त व्यक्ति में यक्ष्मा रोग होने की अत्यधिक सम्भावना रहती है। प्राचीन आचार्यों ने इसका समावेश 'पार्श्वशूल' में किया है (पूर्वार्ध पृष्ठ ४५५ देखें)

अस्य लक्षणम्—

गदेऽस्मिन् भवेत् पार्श्वशूलं च कासो ज्वरोऽन्तः सशोथप्रदेशप्रपीडा।
शयानः सदा रुग्णपार्श्वेन रोगी सुखं सर्वथा संलभेत प्रकामम्॥ ४॥

इस रोग में पार्श्वशूल, कास, ज्वर, भीतर शोथयुक्त स्थान में पीड़ा, रोगयुक्त पार्श्व के बल लेटने पर रोगी को सुख की अधिक प्रतीति होनी, ये सब लक्षण होते हैं॥ ४॥

अथ स्मरोन्मादनिदानम्

तस्य निदानम्—

यश्चोन्मादः प्रायशः पूरुषस्याप्राप्तेः प्रेयस्याश्च रेतोविकारात्।
किंवोपस्थस्येन्द्रियस्यापि दोषाद् वैगुण्याद्वा मारुतस्यात्र वै स्यात्॥ १॥
अनेन प्रकारेण नार्या यदि स्यादवाप्तेरभावात् प्रियस्यापि पुंसः।
अथोन्माद एभिर्निमित्तैः पुरोक्तैः स एवोदितोऽत्र स्मरोन्मादरोगः॥ २॥

जो उन्माद प्रायः पुरुषों को प्रेयसी स्त्री की प्राप्ति न होने से या शुक्रविकार से वा मूत्रेन्द्रिय के दोष से किंवा वायु के कुपित होने से एवं इसी भाँति स्त्रियों को प्रियतम पुरुष की अप्राप्ति होने से जो उन्माद होता है उसे 'स्मरोन्माद' रोग कहते हैं॥ १-२॥

तस्य लक्षणम्—

स्मरोन्मादरोगे भवेत्स्तब्धताऽथ प्रलापस्तथा कम्पनं श्वास एव।
तनौ पाण्डुता रोदनं चाप्यधैर्यं परं चिन्तनं प्रेयसो वा प्रियायाः॥ ३॥

स्मरोन्माद रोग में स्तब्धता, प्रलाप, कम्पन, श्वास, शरीर का पाण्डु वर्ण हो जाना, रोना, अधीरता, प्रेयसी अथवा प्रियतम का चिन्तन ये सब लक्षण होते हैं॥ ३॥

तस्य दश दशाः—

आदौ चक्षुःप्रीतिरुक्ता ततः स्याच्चिन्ताऽऽसक्तिश्चाथ संकल्प एव।
निद्राच्छेदः कार्श्यताऽथो निवृत्तिर्भोगात्सर्वस्मात्सदैवेन्द्रियाणाम्॥ ४॥
लज्जानाशोन्मादमूर्च्छाश्च मृत्युर्ह्येताः संख्याता दशास्तु स्मरस्य।
आक्राम्यन्ते चाभिरत्यल्पसत्त्वा लोका अस्मिन् दुर्बलात्मान एव॥ ५॥

प्रथमा आँखों द्वारा प्रेम होना, द्वितीया प्रेमी या प्रेमिका की ओर चित्त की आसक्ति, तृतीया तद्विषयक नाना प्रकार के संकल्प का उठना, चतुर्थी निद्रा का नाश, पञ्चमी कृशता, षष्ठी प्रत्येक इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के भोग करने से निवृत्ति, सप्तमी लज्जा का नाश, अष्टमी उन्माद, नवमी मूर्च्छा और दशमी मृत्यु, ये १० दशायें स्मरोन्माद की कही हुई हैं। इन दशाओं से वे ही लोग आक्रान्त होते हैं जो हीन सत्त्व तथा दुर्बल चित्त वाले होते हैं॥ ४-५॥

अथ भ्रमोन्मादादिनिदानम्

भ्रमोन्माद एवं जडोन्माद उग्रस्तथा यौवनोन्माद आलोक्यते यः।
नृलोके तु गर्भप्रसूत्यादिजाता इहोन्मादरोगा अनेके च ये स्युः॥ १॥
समेषां भवन्त्येव चिह्नानि तेषामवस्थाऽनुसारेण भिन्नानि यानि।
अतो बुद्धिमद्भिस्तु सद्भिर्भिषग्भिः स्वया प्रज्ञया वेदितव्यानि तानि॥ २॥

भ्रमोन्माद, जडोन्माद, यौवनोन्माद, गर्भोन्माद, प्रसवोन्माद आदि अनेक प्रकार के जितने उन्माद संसार में मनुष्यों को होते हैं उन सबों के अवस्थानुसार भिन्न २ चिह्न होते हैं जिन्हें बुद्धिमान वैद्यों को अपनी बुद्धि से स्वयं समझ लेना चाहिये॥ १-२॥

अथ तत्त्वोन्मादनिदानम्

पूर्णं भाग्यं सर्वथाऽहो मदीयं प्राप्ता पूर्णा ब्रह्मणो यत् कृपाऽद्य।
एवंरूपो यो भ्रमोत्थो हि मोहो वैद्यैस्तत्त्वोन्माद इत्युक्त एव ॥ १ ॥
तत्त्वोन्मादो हर्षमौढ्यं च तस्य सर्वत्रैव ब्रह्ममोहो नृलोके।
नामान्युक्तान्येष सद्भिर्वृथाधीजातो व्याधिर्भाषितो व्याधिविद्भिः ॥ २ ॥

अहो, मेरा सर्वतोभावेन पूर्ण भाग्य है जो ब्रह्म की पूर्ण कृपा मैंने प्राप्त की, इस प्रकार का जो भ्रमवश मोह उत्पन्न हो जाता है उसी को 'तत्त्वोन्माद' कहते हैं। तत्त्वोन्माद, हर्षमौढ्य, ब्रह्ममोह ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। रोगवेत्ताओं ने इस रोग को वृथा बुद्धि से उत्पन्न बताया है ॥ २ ॥

तत्त्वेन चोन्माद्यति यस्तु तत्त्वोन्मादस्ततस्तस्य गदोऽयमुक्तः।
प्रायः स दुर्बुद्धिमतां च नीचात्मनां कदाचिन्महतामपि स्यात् ॥ ३ ॥

इस रोग में रोगी इस प्रकार के तात्त्विक विचार रखने से उन्मत्त की भाँति आचरण करता है अतः यह रोग 'तत्त्वोन्माद' नाम से कहा गया है। प्रायः दुर्बुद्धि और नीचात्मा को ही यह रोग होता है, महान् आत्मा वालों में कदाचित् ही देखा जाता है ॥ ३ ॥

तत्त्वोन्मादनिदानम्—

अतिप्रगाढान्ननु चेतसोऽसौ धर्मादिमध्येषु वृथाग्रहाच्च।
मरुत्प्रकोपादनिशं तु तत्त्वोन्मादः प्रजायेत गदो विचित्रः ॥ ४ ॥

चित्त के अत्यन्त कठोर होने से तथा धर्मादिक में वृथा आग्रह रखने से और वायु के प्रकोप से विचित्र 'तत्त्वोन्माद' नामक रोग उत्पन्न होता है ॥ ४ ॥

तत्त्वोन्मादस्य लक्षणम्—

प्रमूढताऽतिस्थिरता तथाऽस्मिन्नस्पन्दता स्याच्च कनीनिकायाम्।
उन्मीलितं चक्षुरतो निरन्तरं ह्युन्निद्रताऽथो बहुवाग्मिताऽद्धा ॥ ५ ॥
दम्भोग्रभावावपि चातिहासो विक्षेप उन्माद उदाररोदनम्।
एवंविधानि स्युरिमानि तत्त्वोन्मादे तु चिह्नान्यखिलानि नूनम् ॥ ६ ॥

प्रमेह, अत्यन्त स्थिरचित्तता, कनीनिका की स्थिरता (एक टक से देखना), निरन्तर आँखें खुली रहना, निद्रा का अभाव, बहुत अधिक बात करना, दम्भ की अधिकता, अत्यन्त हँसना, विक्षेप, उन्माद, अधिक रोना, इस प्रकार के संपूर्ण लक्षण 'तत्त्वोन्माद' रोग में प्रकट होते हैं ॥

अथ महागदनिदानम्

अस्य पर्यायः—

अतत्त्वाभिनिवेशोऽस्मिन्नपदार्थगदस्तथा। विक्षिप्तता गदोद्वेगो महागद उदीरितः ॥१॥
सदा गदोद्वेगत एव भिन्नो महागदोऽयं बहुभिस्तु मन्यते।
परन्तु भेदोऽत्र हि सूक्ष्मदृष्ट्याऽवलोकनात्कश्चन न प्रदृश्यते ॥ २ ॥
यतो गदोद्वेगवदत्र बुद्धिर्महागदे स्याद्विषमा विशेषतः।
स्यादप्यभिव्याप्त इहामये महागदे गदोद्वेग इति प्रबोध्यम् ॥ ३ ॥

अतत्त्वाभिनिवेश, अपदार्थगद, विक्षिप्तता, गदोद्वेग और महागद ये सब समानार्थक पर्यायवाची हैं। बहुत से लोग इसे गदोद्वेग से भिन्न रोग मानते हैं किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर भी इसमें साधारणतः कोई भेद नहीं प्रतीत होता। क्योंकि गदोद्वेग में जैसी विषम बुद्धि विशेषतः होती है वैसी ही इसमें भी होती है। प्रत्युत महागद के अन्दर गदोद्वेग के लक्षण व्याप्त रहते हैं ॥१-३॥

तत्रादौ महागदस्य वर्णनम्—

निरन्तरं दुर्मलिनान्नभोजिनो निगृह्णतः प्राप्तसमस्तवेगान्।

स्निग्धैश्च रूक्षैरपि चोष्णशीतादिकैर्निमित्तैरतिमात्रसेवितैः ॥ ४ ॥
दोषाः प्रदुष्टा हृदयं समाश्रिताः सिरा मनोबुद्धिवहाः प्रदूष्य ।
तिष्ठन्ति पश्चाद्रजसाऽथ मोहेनैवावृते चात्मनि सत्यवश्यम् ॥ ५ ॥
तथा च बुद्धौ मनसि प्रवृद्धरजस्तमोभ्यामतिमात्रमावृते ।
दोषैरथ व्याकुलिते हृदि स्यान्नरो विमूढो बहुशोऽल्पचेतनः ॥ ६ ॥
करोति बुद्धिं विषमां च नित्यानित्ये पदार्थेऽपि हिताहिते तु ।
चिह्नैरमीभिर्नियतं महागदं वैद्या अतत्त्वाभिनिवेशमाहुः ॥ ७ ॥

निरन्तर मलिन अन्न के भोजन करने से, मल-मूत्रादि के वेगों को रोकने से और स्निग्ध, रूक्ष, उष्ण, शीत का अधिक मात्रा में सेवन करने से वातादिक दोष कुपित होकर हृदय में स्थित मन तथा बुद्धि को वहन करने वाली सिराओं को दूषित कर देते हैं। पीछे रजोगुण तथा मोह से आत्मा के आवृत होने से बुद्धि तथा मन के प्रवृद्ध रजोगुण तथा तमोगुण से अधिक आवृत होने पर दोषों से हृदय का व्याकुल होने से मनुष्य अत्यन्त विमूढ़ और अल्प चेतना वाला होकर नित्य-अनित्य पदार्थ तथा हिताहित के विषय में बुद्धि धारण करता है, इन चिह्नों से वैद्य लोग महागद अथवा अतत्त्वाभिनिवेश रोग कहते हैं ॥ ४-७ ॥

गदोद्वेगस्य वर्णनम्—

अत्यन्तदुर्बलतया मनसोऽथ मस्तिष्कस्यातिसंभ्रमवशान्ननु मानवानाम् ।
नूनं वृथा विविधकल्पनयैकजातः ख्यातो स आमय इहाद्य शृणुष्व तं त्वम् ॥८॥
उपर्युक्तहेतुप्रजातामयो वै गदोद्वेगसंज्ञो भिषग्भिः प्रदिष्टः ।
विना व्याधिना व्याधिशङ्का यदि स्यात्तदा तं गदोद्वेगमेवात्रविद्यात् ।
पदार्थस्य राहित्यतः सर्वथा सोऽपदार्थो गदो भाषितः संज्ञयाऽद्धा ॥ ९ ॥

वमन के अत्यन्त दुर्बल होने पर मस्तिष्क में अत्यन्त भ्रम हो जाने से मनुष्यों को एक मात्र विविध मिथ्या कल्पना द्वारा उत्पन्न रोग को वैद्य लोग 'गदोद्वेग' कहते हैं और यदि बिना व्याधि के व्याधिशंका हो तो उसे भी 'गदोद्वेग' समझना चाहिये। जिस पदार्थ का रोगी को ज्ञान होता है उसकी वस्तुतः सत्ता न रहने से इस रोग को अपदार्थगद भी कहते हैं ॥ ८-९ ॥

गदोद्वेगस्य निदानम्—

शारीरिकश्रमवशान्मनसः श्रमाद्वा नैराश्यतोऽपि च शुचो बलहानितो वा ।
मानस्य हानित उदारभयाच्च सत्त्वहानेस्तथैव विधिबीजसमुत्थदोषात् ।
गदोद्वेगसंज्ञो गदो जायतेऽसौ निदानं त्विति प्रोक्तमत्रार्यवैद्यैः ॥१०॥

शारीरिक या मानसिक श्रम से अथवा नैराश्य (हताश) शोक, बल अथवा मान की हानि किंवा अधिक भय या सत्त्व की हानि होने से विधिवशात् 'गदोद्वेग' संज्ञक रोग हो जाता है ॥१०॥

गदेऽस्मिन् भवेद् यस्य रोगस्य चिन्ताऽनुभूतिर्भवेल्लक्षणस्यैव तस्य ।
गदी कोऽपि मन्येत नैजोदरेऽत्र प्रविष्टं कथंचिद् ध्रुवं गूढपादम् ॥ ११ ॥
भ्रमन्तं च तं खाद्यमानं हि तेन स जानाति सर्वं प्रभुक्तं स्वमन्नम् ।
निरस्यत्ययं किं कथं वा पथाऽधो विनङ्क्ष्यत्युपायेन केनेह नूनम् ॥ १२ ॥
न जाने करिष्यत्ययं किं विधातर्भवेयं न दष्टः कदाचिच्च तेन ।
मदीयोदरस्थस्य चास्य प्रणाशः प्रयत्नेन केन ध्रुवं संभवेद्वा ॥ १३ ॥
निमित्तेन चानेन मृत्युर्मदीयो भविष्यत्यवश्यं च दुर्दैवयोगात् ।
सदा तर्कयन्नित्थमेवात्मनि स्वे गदार्त्तोऽश्नुते दुःखमत्यर्थमत्र ॥ १४ ॥

प्रजानाति कश्चित्स्वमस्तिष्कमध्ये प्रविष्टं च कञ्चित्कथञ्चिद्धि भेकम् ।
स भित्त्वा मदीयं च मस्तिष्कमाशु हनिष्यत्यवश्यं नु मामित्यजस्रम् ॥ १५ ॥
तनुं मन्यते काचरूपां च कश्चित् स्वकीयामतस्तस्य रक्षार्थमेव ।
प्रकामं करोति प्रयत्नं स नूनं मुधाऽनेकरूपाभिरेवंविधाभिः ॥ १६ ॥
सदैवाकुलः प्रायशो भूरिचिन्ताभिरार्त्तो गदोद्वेगरोगेण भीतः ।
सुखं चाप्नुवन्नैव किञ्चित् क्वचिद्वै प्रशुष्येद्दिवारात्रिमध्ये विशेषात् ॥ १७ ॥
न शक्नोति स प्रायशः सान्त्ववाक्यैर्भृशं सान्त्वितोऽभीक्ष्णमप्यात्मचित्तात् ।
निराकर्त्तुमद्धा भ्रमं पूर्वमुक्तं सुयुक्त्याऽपि दूरीकृतं वा कदाचित् ॥ १८ ॥
तव भ्रान्तिरेषेति योऽस्मै गदेद्वा स तस्मै सदा द्रुह्यति भ्रान्तचित्तः ।
य एतद्विचारानुसारेण रोगानुमोदी स तस्मै ध्रुवं रोचतेऽपि ॥ १९ ॥
रुजा चातिकष्टप्रदा तस्य पक्वाशये लक्ष्यते श्लेष्मणा सन्ततं हि ।
प्रलिप्ता रसज्ञा तथा श्वासमध्ये भवेत् पूतिगन्धो गदेऽस्मिन् विशेषात् ॥ २० ॥
वमिः स्यादथोत्क्लेश एतत्तु सर्वं ध्रुवं लक्षणं जीर्णतायाश्च बोध्यम् ।
अथ स्पर्शशक्तेश्च तीक्ष्णत्वमत्रानुभूयेत केनापि रोगार्दितेन ॥ २१ ॥

रोगी जिस रोग की चिन्ता करता है उसी रोग के लक्षणों का अनुभव करता है। इसमें कोई रोगी ऐसा समझता है कि मेरे उदर में कोई सर्प घुस गया है और वह घूमता हुआ खाये हुए अन्न को खा जाता है और यह सर्प किस मार्ग से कैसे निकलेगा और किस उपाय से नष्ट होगा ? हे विधाता ! न जाने यह (सर्प) क्या अनिष्ट करेगी और कहीं यह मुझे डस न ले ? मेरे उदर में स्थित इसका अब कौन से प्रयत्न से नाश होगा ? दुर्दैववश इसी निमित्त से सदा अपने मन में विचार करता हुआ रोगी अत्यन्त दुःख प्राप्त करता है। कोई रोगी यह समझता है कि मेरे मस्तिष्क के अन्दर कोई मेढक किसी प्रकार से घुस गया है और यह मेरे मस्तिष्क का भेदन अवश्य करेगा और कोई रोगी अपने शरीर को काच का बना हुआ मानता है अतः वह उसे टूटने से बचाने का अनेक प्रकार से व्यर्थ प्रयत्न करता रहता है। इस प्रकार वह अधिक चिन्ता से दुःखी होकर गदोद्वेग रोग से डरा हुआ कभी सुख का अनुभव नहीं करता और दिन रात विशेष रूप से सूखता जाता है निरन्तर सान्त्वनायुक्त वाक्यों से सान्त्वना पहुँचाने पर या युक्ति से दूर करने पर भी अपने चित्त से उक्त भ्रमों को कभी दूर नहीं कर पाता और भ्रान्त-चित्त होने से वह जो कोई उससे कहे कि तुम्हारा यह सब केवल भ्रम है तो उससे सदा द्रोह रखने लगता है और जो उसके विचारों का उसी के अनुसार अनुमोदन करता है उससे वह खूब प्रसन्न रहता है। इस रोग में रोगी के पक्वाशय में अत्यन्त कष्टप्रद पीड़ा बनी रहती है और जिह्वा कफ से लिपटी रहती है। श्वास के मध्य में पूतिगन्ध होता है। एवं वमन तथा उत्क्लेश होता रहता है। ये सब लक्षण निश्चित रूप से रोग की जीर्णता के द्योतक होते हैं। कोई रोगी स्पर्शशक्ति की तीक्ष्णता का अनुभव करता है ॥ ११–२१ ॥

जलोदरादेरुदरामयस्य वा विपाण्डुताया हृदये निरन्तरम् ।
साङ्घातिकस्यापि गदस्य कश्चित् करोत्यतीवानुभवं गदीह ॥ २२ ॥

कोई रोगी जलोदरादि उदर-रोग वा पाण्डुता किंवा किसी सांघातिक रोग का हृदय में सदा अनुभव करता है ॥ २२ ॥

क्वचित्पुरुषताक्षयो भवति रोगिणि प्रायशः क्वचिच्च सततज्वरोदय उदारदुःखप्रदः ।
क्वचिच्च किल कम्पनादिकमलं गदोद्वेगिनि त्विति प्रकृतितोऽप्यनेकपरिकल्पनासम्भवाः ॥
भवन्ति बहुशोऽनिशं भ्रममयाश्च ये त्वामयानिरस्ततमसस्त्वपि विशिष्टमूर्खेष्विह ।

न केनचन भाषितुं निखिलरूपतस्तान् क्वचित् क्रमेण ननु भूयते तत उदारवैद्यैः स्वयम् ॥
तदीयपवनप्रभृत्यखिलदोषरूपानुसारिलक्षणात्सततमेव बोध्याश्च ते ।
गदोऽप्ययमुपजायते क्वचन नैव कैशोरके न वा जरसि वै निमित्तमिह भाति चेतोगतिः ॥

किसी रोगी में पुरुषत्व का क्षय होता है, किसी में दुःखप्रद निरन्तर बना रहने वाला ज्वर होता है और किसी में अत्यन्त कम्प एवं इसी प्रकार से प्रकृतिवश अन्यान्य कल्पनाओं के करने की संभावना होती है। जिस रोगी में सत्त्व की अत्यन्त कमी होती है तथा जो विशिष्ट मूर्ख है उन लोगों में ही इस प्रकार के जितने भ्रमस्वरूप रोग होते हैं उन सबों को संपूर्णतः कहने के लिए कोई कभी समर्थ नहीं हो सकता, अतः श्रेष्ठ वैद्यों को स्वयम् उनके वातादिक दोषानुरूप लक्षणों को देखकर समझना चाहिए। यह रोग किशोरावस्था या वृद्धावस्था में प्रायः नहीं होता॥

रजःप्रसेकात्प्रतिमासमद्धा स्त्रिया विशुद्धयत्यथ धातुवृन्दम् ।
अतो नहि प्रायस एव तस्यां मनोगदस्यास्य समुद्भवः स्यात् ॥ ३० ॥

प्रति मास रजःस्राव होते रहने से स्त्रियों की समस्त धातुएँ विशुद्ध होती रहती हैं। प्रायः उनमें इस मनोरोग (गदोद्वेग) की उत्पत्ति नहीं होती ॥ ३० ॥

अथ योषाऽपस्मारनिदानम्[1]

तत्रादौ योषाऽपस्मारविषये भिषजां विचारः—

संबन्धो मानसक्षेत्रस्य साक्षाद् यत्र नश्यति । गतिसंवेदनाक्षेत्रद्वयेन हि कथंचन ॥ १ ॥
भवेयुर्यत्र चिह्नानि विचित्राण्यमितान्यपि । यं गदं मनसा ध्यायेदाक्रान्ता तेन सा भवेत् ॥
किन्तु वास्तविकी कस्यचिद्गदस्यात्र न स्थितिः ईदृशोऽसौ गदो योषाऽपस्मार इति कथ्यते॥
कैश्चिद्भिषग्भिः क्रियते गणनाऽस्यापतन्त्रके । योषासु बहुधोत्पत्त्या योषाऽपस्मार उच्यते॥
किन्तु ये प्रमदातुल्याः कोमलां प्रकृतिं श्रिताः । असहिष्णवस्तेष्वपि प्रेक्ष्यतेऽयं गदः क्वचित्॥

इस 'योषापस्मार' रोग में गति तथा सांवेदनिक क्षेत्र का मानस क्षेत्र के साथ साक्षात् सम्बन्ध टूट जाता है जिससे विचित्र प्रकार के अनेकों लक्षण प्रकट होते हैं। इस रोग से आक्रान्त स्त्री जिस रोग का मन से ध्यान करती है उसे भ्रमवश वही रोग हुआ प्रतीत होता है। कोई-कोई वैद्य इसकी गणना 'अपतन्त्रक' रोग (पृ. पृ. ४१२) में करते हैं और योषा (स्त्री) में अधिकतर होने से इसे 'योषापस्मार' कहते हैं। किन्तु स्त्रियों की भाँति कोमल प्रकृति वाले तथा क्लेशादि न सहन कर सकने वाले पुरुषों में भी यह रोग दिखाई पड़ता है ॥ १–५ ॥

योषाऽपस्मारकारणम्—

रक्तक्षयाद्वा बहुशोऽप्यजीर्णादुद्वेगतः कोष्ठविबन्धतो वा ।
शोकाच्च भङ्गान्मनसो जरायो विकारतोऽथो रजसो विनाशात् ॥ ६ ॥
कुटुम्बिनां निष्ठुरभावतो वा दौर्बल्यतोऽपि प्रकृतेः कदाचित् ।
पत्युश्च निःस्नेहतया तरुण्या वैधव्यशोकादथवा विशेषात् ॥ ७ ॥
योषित्सु रोगो यत एष कष्टदः प्रजायते मानसदेहतापनः ।
चिह्नैरपस्मारसमैः समन्वितः सुदारुणो वै भिषगुत्तमैः सदा ॥ ८ ॥
प्रकाशितो भूमितले तु योषाऽपस्मारनाम्ना बहुशो गदोऽसौ ।
यावत्प्रवृत्ती रजसः स्त्रियां स्यात् तावद् गदस्यास्य मतो हि कालः ॥ ९ ॥

रक्त का अधिक क्षय, अजीर्ण, उद्वेग, विबन्ध (मलबद्धता), शोक, निराशा, जरायु की विकृत, रजःक्षय, कुटुम्बियों के निष्ठुर व्यवहार, प्रकृति की दुर्बलता, पति का स्नेह रहित व्यवहार और

1. Hysteria.

युवावस्था में विधवा हो जाने से एवं अत्यधिक शोक से स्त्रियों में यह कष्टप्रद रोग उत्पन्न होता है। इसमें अपस्मार के समान लक्षण मिलते हैं। यह 'योषापस्मार' रोग अत्यन्त दारुण होता है। जब तक स्त्रियों को रजःस्राव होता रहता है (प्रायः १२ से ५० वर्ष की आयु) तभी तक इस रोग के उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है ६-९ ॥

योषाऽपस्मारसंप्राप्तिवर्णनम्—

पूर्वोदितैर्हेतुभिरेव तावत् क्षेत्रे भवेद्धै मनसो विकारः।
तथैव सांवेदनिकात्तथा गतेः क्षेत्राच्च्युतिर्मानसिकस्य जायते ॥ १० ॥
क्षेत्रस्य योगस्य ततः क्रमेण प्राग्रूपरूपोद्भव एव लोके।
संप्राप्तिरूपेण विशिष्य योषाऽपस्माररोगस्य विलोक्यते जनैः ॥ ११ ॥

पूर्वोक्त कारणों से पहले मानसिक क्षेत्र में विकार होता है तत्पश्चात् सांवेदनिक क्षेत्र एवं गतिक्षेत्र का मानसिक क्षेत्र के साथ सम्बन्ध टूट जाता है। उसके बाद क्रम से पूर्वरूप तथा रूप के लक्षण प्रकट होते हैं। इस प्रकार से योषापस्मार रोग की विशेष रूप से संप्राप्ति का दर्शन होता है ॥ १०-११ ॥

योषाऽपस्मारपूर्वरूपम्—

हृत्पीडनं जृम्भणमङ्गचित्तयोः सदाऽवसादो भवतीह योषिताम्।
अव्यक्तरूपं गदितं तु योषाऽपस्मारसंज्ञे हि गदे भिषग्भिः ॥ १२ ॥

हृदय में पीड़ा, जँभाई और अङ्ग तथा चित्त में सदा अवसाद बना रहना ये सब योषापस्मार के पूर्वरूप में लक्षण होते हैं ॥ १२ ॥

योषाऽपस्मारलक्षणम्—

चिह्नान्यनेकानि विचित्ररूपाण्यपि प्रजायन्त इहेत्यवेहि।
ध्यानं भवेद्यस्य गदस्य यत्र स्यात्तत्र तस्याक्रमणं विशेषात् ॥ १३ ॥
किंवा क्वचिद्रोगिणि यानि चिह्नान्याकर्णितान्यप्यवलोकितानि।
सर्वाणि तानि स्युरिहापि योषाऽपस्मारसंज्ञे हि महागदे वै ॥ १४ ॥
तथाऽपि चिह्नानि विशेषतोऽस्मिन् स्युर्यानि दृष्टान्यखिलानि तानि।
विविच्य सौकर्यकृते चिकित्साविधावहं वच्मि भिषग्जनानाम् ॥ १५ ॥
वैचित्र्यमाक्रन्दनरोदने च भ्रान्तिः प्रलापो मतिविभ्रमश्च।
द्वेषः सदा ज्योतिषि चोद्धता स्यादाक्रोश उच्चैर्हसनं च कण्ठे ॥ १६ ॥
श्लेष्माशये पीडनमङ्गमध्ये सदाऽनूभूतिः क्वचन व्यथायाः।
स्पर्शोत्थशक्तेरपि वृद्धिभावः श्वासस्य कृच्छ्रत्वमथोदराच्च ॥ १७ ॥
यावद्गलं चानृतगुल्मरोगोत्पत्तिस्तु मूर्च्छाऽत्र मतिप्रणाशः।
योषित्सु जायन्त इमानि चिह्नान्यनारतं प्रायश एव लोके ॥ १८ ॥

इस रोग में अनेक प्रकार के विचित्र लक्षण प्रकट होते हैं अर्थात् जिस रोग का ध्यान रोगी करता है उस रोग का, किंवा रोगी किसी अन्य रोगी में जिन लक्षणों को सुने या देखे रहता है वे सभी लक्षण स्मरण करने पर प्रकट हो जाते हैं। निम्न लक्षण तो इस रोग में होते ही हैं। यथा—मोह, आक्रन्दन (करुण विलाप), रोना, भ्रान्ति, प्रलाप, बुद्धिभ्रम, प्रकाश से द्वेष, उद्धतता, आक्रोश (चिल्लाना या गाली बकना), उच्च रूप से हँसना, कण्ठ, श्लेष्माशय या अन्य अङ्गों में पीड़ा, स्पर्शशक्ति की वृद्धि, श्वासकृच्छ्रता, उदर से लेकर गले तक के अन्दर मिथ्या गुल्म की प्रतीति, मूर्च्छा और बुद्धिभ्रंश ये सब लक्षण प्रायः स्त्रियों में उत्पन्न होते हैं ॥ १३-१८ ॥

योषाऽपस्मारस्य परिणतिः—

यैः कारणैरेष गदः प्रजायते प्रयाति शान्तिं विरतेषु तेषु।
अतः परिस्थित्यनुसारतोऽस्य स्याल्लोकमध्ये परिणाम एव ॥ १९ ॥
दैवात् कदाचिद् यदि कारणानां स्थितिर्भवेत्तर्हि गदप्रवृद्धिः।
एवं निवृत्तेऽपि च हेतुवृन्दे रोगस्य शान्तिर्नियता प्रदृश्यते ॥ २० ॥
काचिन्न नारी मृतिमेति रोगे वयोविवृद्धौ स्वत एष शाम्यति।
विपर्ययोऽपि प्रकृतेः कदाचिज्जायेत नार्या इति यन्न दृश्यते ॥ २१ ॥
ततो गदस्यास्य भवेन्मुहुर्मुहुः प्रायः सदैवाक्रमणं नृलोके।
इत्थं यथामत्यधुना तु योषाऽपस्माररोगस्य निदानमुक्तम् ॥ २२ ॥

जिन कारणों से यह रोग उत्पन्न होता है उन्हीं कारणों के दूर होने पर शान्त भी हो जाता है। अतः लोक में परिस्थिति के अनुसार ही इस रोग का परिणाम दृष्टिगोचर होता है। इस रोग में कभी भी स्त्री की मृत्यु नहीं होती, अवस्था ढल जाने पर स्वतः ही यह रोग निवृत्त हो जाता है। स्त्री की प्रकृति का कभी विपर्यय नहीं दिखाई देता, अतः इस रोग का आक्रमण भी बार-बार होता रहता है ॥ १९-२२ ॥

विमर्श—स्मरोन्माद प्रभृति रोग पूर्वोक्त उन्माद रोग (पूर्वार्ध पृष्ठ ३७३) के प्रकार ही हैं। योषापस्मार में अपस्मार (पू. पृ. ३८९) के लक्षण अधिक होते हैं। इनमें रोगी द्वारा वर्णित लक्षणों से सम्बद्ध किसी शारीरिक विकृति का अभाव रहता है अतः ये मानस रोग कहलाते हैं। इनमें प्रायः वातिक लक्षणों की अधिकता रहती है अतः आधुनिक विद्वान इसे मानस 'वातव्याधि' (Psychoneuroses) कहते हैं। इनके कारणों की सम्प्राप्ति एवं लक्षणों का सोपपत्तिक वर्णन उन्माद एवं अपस्मार रोगाध्याय में देखें।

अथागन्तुजपक्षवधनिदानम्

तत्रादौ संख्यासम्प्राप्तिमाह—

भिषग्भिर्गदितो दोषाऽगन्तुकारणतो द्विधा। विशेषतः पक्षवधस्तत्राद्यो दोषजः पुरा ॥१॥
वातव्याधौ विनिर्दिष्टोऽधुनाऽऽगन्तुज उच्यते। सोऽपि कारणभेदेन प्रोक्तो वैद्यैश्चतुर्विधः ॥
तत्राद्यो रससंजातो द्वितीयो नागजः स्मृतः। इन्द्रियोत्थविकारोत्थस्तृतीयस्तु ततो मतः ॥
व्यापारिकविकारोत्थश्चतुर्थः परिकीर्तितः ॥ ३ ॥

'माधवनिदान' के वातव्याधि प्रकरण में पक्षवध रोग का वर्णन किया गया है, वैद्यों ने उसके विशेषतः दो भेद बताये हैं। जिनमें पहला दोषज और दूसरा आगन्तुज है। इसमें दोषज का वर्णन हो चुका है अब इस समय आगन्तुज पक्षवध का वर्णन कर रहे हैं। यह कारण भेद से ४ प्रकार का होता है, इसमें पहला रसज, दूसरा नागज, तीसरा इन्द्रियविकारोत्थ और चौथा व्यापारिकविकारोत्थ होता है ॥ १-३ ॥

रसहेतुजपक्षवधनिदानमाह—

अनारतं यत्र भवेद् रसस्य स्पर्शोऽधिकस्तद्गतधूमसेवनम्।
तत्रोद्गमः पक्षवधस्य चेत् स्यात् तदा स वैद्यै रसहेतुजः स्मृतः ॥ ४ ॥

जहाँ पर रस (पारा) का अधिक स्पर्श होता रहता है और उसके धूम का सेवन होता रहता है वहाँ पर (कार्य करने वाले व्यक्ति में) पक्षवध का प्रादुर्भाव होता है। इसी को वैद्य लोग 'रस हेतुज' (रसज) पक्षवध कहते हैं ॥ ४ ॥

रसहेतुजपक्षवधमाह—

बलप्रणाशो भुजयोस्तु पूर्वं ततः प्रकम्पोऽथ च सक्थिमध्ये।

स्याद्वेपनं नूनमतः परं तु प्रकम्पनं सर्वशरीरवर्त्ति ॥ ४ ॥
द्रव्यं ततो नैव दृढं ग्रहीतुं किञ्चित् क्वचिद्रोगिजनः क्षमेत ।
न व्यक्तरूपेण हि वक्तुमीषन्न चर्वितुं च प्रभवेत् कदाचित् ॥ ५ ॥
नृत्यं प्रकुर्वन्निव च प्रगच्छेन्निद्रालुता तस्य ततः प्रकम्पः ।
बलप्रणाशोऽनलमन्दता चोत्क्लेशोऽपि लालासरणं रदच्युतिः ॥ ६ ॥
एतानि चिह्नानि भिषड्मतानि स्युः पक्षनाशे रसहेतुजाते ।
संधारितेऽङ्गेऽत्र करादिभिः स्यात्कम्पस्य शान्तिर्गदिनोऽपि नूनम् ॥ ७ ॥

सर्व प्रथम बाहुओं में बल का नाश, तत्पश्चात् दोनों पैरों में कम्प, इसके बाद सारे शरीर में कम्प हो जाता है जिससे रोगी कोई वस्तु दृढ़ रूप से धारण करने में समर्थ नहीं होता है और व्यक्त रूप से भाषण करने में तथा कुछ भी चबाने में भी असमर्थ रहता है और नाचता हुआ चलता है, उसे नींद घेरे रहती है तथा कम्प, बलनाश, अग्निमन्दता, उत्क्लेश, लालास्राव, दाँत गिरना ये सब लक्षण रसहेतुज पक्षवध में होते हैं। हाथ आदि से अङ्गों के पकड़ लेने पर कम्प की शान्ति होती है ॥ ४-७ ॥

नागहेतुजपक्षाघातनिदानमाह—

चित्रादिकर्माणि सदैव नागैः कुर्वन्ति ये शिल्पिजना अगत्या ।
किंवा भवेत्सीसकसंनिबद्धा वृत्तिर्यदीया प्रतिवासरं हि ॥ ८ ॥
ये चापि मोहादथवा कुवैद्यैरशुद्धनागोद्भवभस्म दत्तम् ।
अदन्ति दैवादिह तेषु नूनं प्रजायते नागजपक्षघातः ॥ ९ ॥

जो शिल्पी लोग नाग (सीसा) द्वारा चित्रादि कर्म करते रहते हैं या जो सीसा (नाग) से सम्बद्ध व्यापार में प्रतिदिन लगे रहते हैं अथवा जो कुवैद्यों द्वारा दी हुई अशुद्ध नागभस्म का सेवन करते हैं उन्हें 'नागज पक्षघात' रोग होता है ॥ ८-९ ॥

तस्य लक्षणमाह—

आदौ समारभ्य नुरङ्गुलीभ्यो व्याप्नोति नूनं मणिबन्धमेषः ।
उक्तो गदानामतिदारुणोऽपि प्रायेण नागैकनिमित्तजातः ॥ १० ॥
जायेत दौर्बल्यमतीव तत्र प्राधान्यतो लक्ष्म तथांऽसदेशे ।
प्रकोष्ठमध्येऽपि च तोद एव स्यात्स्रंसनं बाहुयुगेऽप्यवश्यम् ।
शूलञ्च नीलत्वमपीह दन्तवेष्टे भवेन्नागजपक्षघाते ॥ ११ ॥

यह पहले मनुष्यों की अङ्गुलियों से शुरू होकर मणिबन्ध (कलाई) तक व्याप्त हो जाता है। यह 'नागज पक्षाघात रोग' अत्यन्त दारुण होता है। इसमें दुर्बलता अधिक होती है और प्रधान रूप से स्कन्ध प्रदेश और प्रकोष्ठ में सूई चुभोने की सी पीड़ा होती है। दोनों बाहुओं में शिथिलता, शूल और मसूढ़ों में नीलापन होना ये सब लक्षण नागज पक्षघात में होते हैं ॥१०-११॥

इन्द्रियोत्थविकारोत्पन्नपक्षाघातनिदानमाह—

मस्तिष्कस्य गतिक्षेत्रे सुषुम्णाशीर्षकेऽथवा ॥ १२ ॥
शोथोऽर्बुदं तथा रक्तस्रुतिः क्षीणत्वमेव च । अथवा तत्समीपस्थावयवस्य च शूनता ॥१३॥
स्याच्चेत्तेन गतिक्षेत्रतन्तूनां त्रुटनं भवेत् । किंवाऽवरोधस्तस्मात्तु गत्यभावोऽभिजायते ॥
ततः पक्षवधो जायेतेन्द्रियोत्थविकारजः । पूर्वोक्तान्येव लिङ्गानि ज्ञातव्यानीह सूरिभिः ॥

मस्तिष्क के गति क्षेत्र (Motor Area) में अथवा सुषुम्णाशीर्षक में शोथ, अर्बुद तथा रक्तस्राव, क्षीणता अथवा उन सबों के समीपस्थ अवयव में शोथ आदि होने से यदि गतिक्षेत्र की तन्तुयें टूट

जायें किंवा उनमें अवरोध हो जाय तो गति का अभाव हो जाता है और उससे इन्द्रियोत्थ विकारज पक्षवध होता है इसके अतिरिक्त और पूर्वोक्त (दोषज पक्षवध) के लक्षण समझने चाहिये ॥१२-१५॥

विमर्श—इस प्रकार के ही पक्षवध का वर्णन मूल ग्रन्थ में किया गया है। अर्वाचीन दृष्ट या उसके विविध भेदों का वर्णन भी वहीं विमर्श में है। (पूर्वार्ध ४१८)

व्यापारिकविकृतिजपक्षाघातमाह—

व्यापारिकविकारोत्थपक्षाघाताभिधे गदे। गतिक्षेत्रे न विकृतिः परिदृश्येत काचन ॥ १६ ॥
किन्तु मानसिकक्षेत्रे सैवालोक्येत केवला। गत्यर्थं मनसाऽऽज्ञप्तं गतिक्षेत्रं क्षमं यतः ॥१७॥
ततो मानसिकक्षेत्रे विकृते तद्ददाति नो। गतितन्तुभ्य आज्ञां वै यस्माद्भवति किंचन ॥१८॥
कार्यं नहि शरीरेऽस्मिन्नत एव प्रजायते। शैथिल्यं मांसपेशीनां पक्षाघातामयप्रदम् ॥१९॥
एवं च पक्षाघातीयलक्षणसङ्घातसंभवः। स्यादतोऽयं गदः कष्टप्रदः प्रोक्तो हि मानसः ॥२०॥

व्यापारिक विकारोत्थ पक्षाघात में गतिक्षेत्र में तो कोई विकृति नहीं दिखाई पड़ती किन्तु मानसिक क्षेत्र में अवश्य वह (विकृति) दिखाई पड़ती है और मन के द्वारा आज्ञा पाने पर गतिक्षेत्र कार्य करने में समर्थ होता है। इससे मानसिक क्षेत्र के विकृत होने पर मन गति-तन्तुओं को आज्ञा नहीं दे सकता। अतः इस शरीर में कुछ भी कार्य नहीं होता और उसीसे मांसपेशियों की शिथिलता होती है जिसके फलस्वरूप पक्षाघात रोग होता है। इस प्रकार से पक्षाघातसम्बन्धी लक्षण-समूह की उत्पत्ति होती है। इसीसे यह रोग कष्टप्रद तथा मानस कहा गया है॥ १६-१७॥

अथ स्नायुशूलनिदानम्

तत्रादौ तस्य परिचयः—

स्नायुष्वथवा शश्वत् तच्छाखासूपजायते घोरा। पीडा प्राणपीडनी गदिता सा स्नायुशूलाह्वा॥

स्नायुओं में अथवा उनकी शाखाओं में प्राण को कष्ट देने वाली जो निरन्तर घोर पीड़ा होती है उसे स्नायुशूल कहते हैं॥ १॥

विमर्श—स्नायु शब्द का प्रयोग प्राचीन आचार्यों ने बन्धन कार्य में प्रयुक्त सौत्रिक तन्तु (Ligaments) एवं संज्ञा और चेष्टावह नाडीतन्तु दोनों अर्थों में किया है। प्रस्तुत विषय में स्नायु शब्द नाडीतन्तु का ही वाचक मानना चाहिये। (पूर्वार्ध पृ० ४०८ भी देखें)

व्याधेः स्थानम्—

सदा मस्तकस्याथ बाह्वोश्च सक्थ्नोस्तथाऽन्यस्य चाङ्गस्य नूनं जनानाम्।
त्वचानिम्नभागस्थितस्नायुमध्ये गदोऽयं भवेत् स्नायुशूलाह्वयोऽत्र ॥ २ ॥
प्रजायेत वै प्रायशोऽङ्गेषु सर्वेष्वयं तीव्रप्राणप्रपीडाप्रदायी।
विशिष्टाङ्गजातस्य चास्याभिधेयान्यपि स्युर्विशिष्टानि शिष्टोदितानि ॥ ३ ॥
क्रमादूर्ध्वभेदस्तथैवार्धभेदो ह्यधोभेद एवामयानां समेषात्।
नृणां मुण्डमुण्डार्धकस्फिग्भवानां भवेयुर्भवेऽमूनि नामानि नूनम् ॥ ४ ॥

मनुष्यों के मस्तक (सिर), दोनों बाहुओं, दोनों पैरों तथा अन्य अङ्गों में त्वचा के निम्न भाग में स्थित स्नायु (नाडी-तन्तु) में स्नायुशूल नामक यह रोग होता है। यह तीव्र कष्ट देने वाला रोग प्रायः सभी अङ्गों में उत्पन्न हो सकता है और विशिष्ट २ अङ्गों में होने से इसके विशिष्ट २ नाम शिष्ट वैद्यों ने कहे हैं। मनुष्यों के सिर और सिर का अर्धभाग, स्फिक् (चूतर) में उत्पन्न इस रोग के क्रम से ऊर्ध्वभेद, अर्धभेद तथा अधोभेद ये नाम भी होते हैं॥ २-४॥

ऊर्ध्वभेदस्य निदानम्—

बलक्षीणतातोऽथ रक्तक्षयाद्वा नृणां वृक्कमस्तिष्कयोर्दोषतोऽपि।

अजीर्णाच्च दन्तामयादूर्ध्वभेदाभिधः स्नायुशूलो गदो जायतेऽत्र ॥ ५ ॥

मनुष्यों को बलक्षीणता, रक्तक्षय, वृक्क तथा मस्तिष्क का दोष, अजीर्ण, दन्त-रोग इन सबों से ऊर्ध्वभेद नामक स्नायुशूल रोग होता है ॥ ५ ॥

तस्य लक्षणम्—

ललाटे पुटेऽक्ष्णोऽप्यधोभागमध्ये तथैवाधिगण्डं च दन्तच्छदे वा ।
रदे वाऽधरे शूलवद्दाहवद् रसनापार्श्वमध्ये भवेद् वेदना या ॥ ६ ॥
सुघोरा भविष्णुर्भृशं चैकपार्श्वे क्रमेणैधिनी चास्य संबन्धिभागे ।
सदैवोर्ध्वभेदाभिधोदीरिता साऽगदङ्कारत्नैरनूनैर्विविच्य ॥ ७ ॥

ललाट, नेत्रपुटक तथा उसके अधोभाग के मध्य में तथा गण्डस्थल, ओष्ठ, दाँत, अधर और जिह्वा के पार्श्वभाग में शूल और दाह के समान जो घोर पीड़ा होती है और जो एक पार्श्व में होकर क्रमशः बढ़ती हुई मुख के दूसरे भागों में भी होती है उसे ऊर्ध्वभेदसंज्ञक स्नायुशूल कहते हैं ॥६-७॥

अस्यानुपशयः—

भृशं स्पर्शनाच्चातिशीतस्य वायोर्विवर्द्धेत देहप्रकम्पाच्च नूनम् ।
विकारात्तथा स्नायुभेदस्य रोगः सदैवोर्ध्वभेदो विशेषान्नृदेहे ॥ ८ ॥

अत्यन्त शीतल वायु का अधिक स्पर्श होने से, देह में प्रकम्प होने से, स्नायुभेद-सम्बन्धी विकार से यह बढ़ता है ॥ ८ ॥

विमर्श—प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार मूल ग्रन्थ में इसका समावेश शिरोरोग के वातिक या अनन्तवात भेद में किया गया है (देखिए उत्त० पृ० ३३२ और ३४२)

अर्द्धभेदस्य निदानम्—

सदैवार्द्रभूमिस्थितेश्चातिशीताभिसंबन्धतो वा बलक्षीणतातः ।
प्रजायेत दुष्टस्य वातस्य नीरस्य वा सेवनादर्द्धभेदो गदोऽयम् ॥ ९ ॥

सदैव आर्द्र भूमि में निवास करने से या अत्यन्त शीत का सम्बन्ध होने से वा बल की क्षीणता से अथवा दूषित वायु तथा जल के सेवन करने से यह अर्द्धभेद नामक रोग उत्पन्न होता है ॥ ९ ॥

तस्य लक्षणम्—

भवेद् वेदना व्याप्य याऽर्द्धं मुखस्यानिशं मण्डले तीव्ररूपा जनानाम् ।
अपि प्रायशो वामपार्श्वे प्रजाताऽर्द्धभेदो गदः सा प्रकीर्त्त्येत वैद्यैः ॥ १० ॥
व्यथेताशुगेनेव विद्धं शिरोऽद्धा नृणां दारुणं तीव्ररूपेण पूर्णम् ।
कदाचित् क्रमं चावलम्ब्य प्रशस्तं विरामो महान् वा प्रजायेत चात्र ॥ ११ ॥
अपि प्रायशो योषितामेष रोगो वपुष्येव जातः प्रदृश्येत लोके ।
वयःस्थेऽथ वै यौवने वाऽस्य भूम्ना भवेदुद्भवोऽप्यामयस्य स्वभावात् ॥१२॥

जो तीव्र पीड़ा मुखमण्डल के अर्धभाग में होती है और जो प्रायः वाम ही पार्श्व में होती है उसे वैद्य लोग 'अर्द्धभेद' संज्ञक स्नायुशूल कहते हैं। इसमें मनुष्यों का सिर तीव्र बाण से पूर्ण विद्ध हुआ सा पीड़ायुक्त प्रतीत होता है वह पीड़ा कभी शान्त होती है और कभी बढ़ जाती है। यह रोग प्रायः करके स्त्रियों में अधिक होता है। इस रोग की उत्पत्ति स्वभावतः वृद्धावस्था तथा युवावस्था में होती है ॥ १०-१२ ॥

विमर्श—मूलग्रन्थ में इसका समावेश 'अर्धावभेद' नामक शिरोरोग में किया गया है।
(देखिए उत्तरार्ध पृ० ३४२)

अधोभेदस्य निदानम्—

सदा विड्विबन्धाच्छ्रमाच्छीतयोगात्तथा वाऽऽमवाताच्च दौर्बल्यतोऽद्धा ।

अथार्द्रस्थलावस्थितेर्गर्भदोषादधोभेदनामोपजायेत रोगः ॥ १३ ॥

सदा मल का विबन्ध होने से, श्रम से, शीत का सम्बन्ध होने से, आमवात से, दुर्बलता से, आर्द्र स्थल में रहने से अधोभेद स्नायु-रोग उत्पन्न होता है ॥ १३ ॥

तस्य लक्षणम्—

अधिस्फिक् तथा चोरुजानुस्थसन्ध्योः पदे पश्चिमे वा क्वचिच्चाधिजङ्घम् ।
प्रजायेत यच्छूलमुच्येत वैद्यैरधोभेदनामा गदो वै तदेव ॥ १४ ॥
भवेत्प्रायशः सक्थ्नि सर्वत्र चैकतरे रात्रिमध्ये बली शूल एषः ।
अपि प्रौढ एव प्रजायेत भूम्ना वयस्यामयः स्नाय्वधोभेदनामा ॥ १५ ॥

स्फिक् तथा ऊरु और जानु की सन्धियों में, पैर के पिछले भाग और जङ्घा में जो शूल होता है वैद्य लोग उसे अधोभेदसंज्ञक स्नायु-शूल कहते हैं। यह शूल प्रायः करके सर्वत्र एक ही पैर में होता है तथा रात्रि में बढ़ता है। यह अधोभेद नामक स्नायुशूल रोग प्रायः प्रौढ़ अवस्था में ही होता है ॥ १४-१५ ॥

विमर्श—इसका अन्तर्भाव मूलग्रन्थ में वर्णित गृध्रसी रोग में हो जाता है (पू. पृ. ४२७) इनके अतिरिक्त भी अनेक स्नायुज शूल (Neuralgia) हो सकते हैं। स्थान के अनुसार उनके नाम भी भिन्न-भिन्न होते हैं। अनुक्तवात रोग (पू. पृ. ४३७) तथा शूल रोग का विमर्श (पू. पृ. ४५३) भी देखें।

अथाचलवातनिदानम्

यथैव संस्थया जनो विमोहमाप्नुयाद्धि चेत् । ततोऽप्यनन्तरं तथैव च स्थितिं लभेत वै ॥
सा क्लेशकारिण्यपि चेत्स्थितिः स्यात्तदा स रोगोऽचलवातनामा ।
निदानविद्भिर्बहुशो भिषग्भिः संकीर्त्तितोऽथापरिवर्त्तकोऽपि ॥ २ ॥
अपि चाचलसंस्थानाह्वयस्तथा तादवस्थ्यगदनामा ।
इत्यभिधानचतुष्टयमुक्तं विज्ञैः क्रियावशतः ॥ ३ ॥
वातागतेश्चापरिवृत्तिहेतोस्तथा समस्थानत एव नूनम् ।
चतुर्विधं नाम च पूर्वभावस्थितेः कृतं वैद्यवरैः सहेतुकम् ॥ ४ ॥

जिस स्थिति में रोगी मूर्च्छित होता है उसी स्थिति को यदि संज्ञा आने पर भी प्राप्त करे और वह स्थिति यदि क्लेश-कारिणी हो तो उसे 'अचलवात' रोग कहते हैं। अचल वात के ही अपरिवर्त्तक, अचलसंस्थान, तादवस्थ्यगद ये ४ नाम भी हैं। वात के द्वारा क्रिया न होने से, परिवर्त्तन न होने से, समान अवस्था होने से एवं पूर्व भाव में स्थिति होने से ये चारों नाम सहेतुक हैं ॥ १-४ ॥

अस्य निदानम्—

संचिन्तनाद्वाऽतिभयात्तथा च सङ्क्षीणधातुत्वत एव लोके ।
क्षयाद्धि सत्त्वस्य च बीजदोषादुत्पद्यतेऽद्धाऽचलवातरोगः ॥ ५ ॥

अधिक चिन्ता, अत्यन्त भय, धातुओं की क्षीणता, सत्त्व के क्षय, एवं बीजदोष से अचलवात रोग होता है ॥ ५ ॥

अस्य लक्षणम्—

स्पर्शाज्ञत्वं दृढता पेशीनां स्यादचेष्टितं नियतम् ।
आक्षेपेण विना वै मूर्च्छाऽचलवातसंज्ञके रोगे ॥ ६ ॥
प्राक्संस्थया तु गदिनः स्थितिरित्यस्य विशेषचिह्नमुक्तम् ।
श्वासाधिक्यं जातु क्षुद्रत्वं स्याद्धमन्यां वै ॥ ७ ॥

प्राग् रूपेण विनैव व्याधेः सहसोदयोऽप्यत्र ।
ग्रीवास्तम्भः शूलं शिरसि कदाचिच्च चेतसश्चलता ॥ ८ ॥

स्पर्श का ज्ञान न होना, मांसपेशियों की दृढ़ता, नियत रूप से चेष्टा न होना और आक्षेप के बिना मूर्च्छा ये सब लक्षण अचलवातसंज्ञक रोग के हैं। रोगी मूच्छित होने के पहले जिस स्थिति में था वैसे ही संज्ञा होने पर भी रहे, यह इस रोग का विशिष्ट चिह्न तो पहले कहा जा चुका है साथ ही श्वास की अधिकता, नाड़ी में क्षुद्रता, पूर्वरूप के बिना ही रोग का सहसा प्रकट हो जाना, ग्रीवा की स्तब्धता, सिर में शूल और कभी चित्त की चञ्चलता ये सब लक्षण होते हैं ॥ ६-९ ॥

अथ [1]ताण्डवरोगनिदानम्

ताण्डवस्य लक्षणम्—

चिरन्तनातङ्कपरानुबन्धतो बलक्षयात्क्रोधमुदोः प्रकर्षतः ।
क्रिमेश्चयात् स्वप्ननिरोधहेतुतः प्रकर्षणादप्यतिविड् विबन्धतः ॥ १ ॥
आशाऽतिघातादधिकाभिघातात् स्त्रीणां विशेषेण रजोविकारात् ।
अत्युग्रभावान्ननु पृष्ठवंशे कशेरुकाभञ्जनमुद्भवेद् यत् ॥ २ ॥
स देहिनां दुःखकरः परः सदा गदोऽगदङ्कारवरैरुदीरितः ।
अकाण्डमेवाङ्गकदम्बताण्डवात्प्रचण्डरीत्या ननु ताण्डवाह्वयः ॥ ३ ॥
कैशोरके वयसि प्रायश एष योषामध्ये विशेषत इहातिजराऽऽतुराणाम् ।
नृणां बलापचयतो नितरां प्रजायेतैवामयोऽतिभयदायितया प्रसिद्धः ॥ ४ ॥

अधिक समय तक आतङ्क बना रहने से, बलक्षय से, क्रोध और हर्ष की अधिकता होने से, क्रिमि का संचय होने से, निद्रा को रोकने से, अत्यन्त कर्षण से अत्यन्त मलबन्ध होने से, आशा का विघात होने से, अधिक आघात (चोट) लगने से और स्त्रियों को अत्युग्र रजोदोष होने से यह रोग होता है। कभी कभी इस रोग में पृष्ठवंश की कशेरुकायें टूट सकती हैं। यह रोग अत्यन्त कष्ट देने वाला है। इस रोग में अकाण्ड में अङ्गसमूह के प्रचण्ड रीति से ताण्डव नृत्य करने से यह रोग 'ताण्डव' नामक रोग कहा जाता है। स्त्रियों को यह रोग प्रायः किशोरावस्था में और पुरुषों को वृद्धावस्था में बल की कमी से होता है ॥ १-४ ॥

ताण्डवस्य स्वरूपम्—

आरभ्य वामभुजतः प्रथमं तु प्रायः सजायते तदनु चापरबाहुमध्ये ।
संचाल्य तौ तदनु पादयुगं ततोऽङ्गान्येवं प्रचालयति पाण्डवरोग एषः ॥ ५ ॥
तेनामयी न किमपीह हि मुष्टिमध्ये द्रव्यं निधातुमपि पारयति प्रयत्नैः ।
नो वा समर्पयितुमात्ममुखे कदाऽपि भक्ष्यान्नमीषदपि ताण्डवपीडिताङ्गः ॥ ६ ॥
नृत्यन्निव प्रचलति प्रसभं विशेषाद् बीभत्सनैकविधचेष्टितमास्यसंस्थम् ।
संदर्शयन्नतिचलः सततं च तिष्ठेन्निद्रादशामनुभवन्न भवेत् सकम्पः ।

इस रोग में प्रायः प्रथम बाएँ बाहु से प्रारम्भ होकर दूसरे बाहु में कम्प या आक्षेप उत्पन्न होता है। इसके बाद दोनों पैरों को ताण्डव की भाँति चलायमान कर अन्त में सारे अङ्गों को चलायमान कर देता है। इसरोग में रोगी मुष्टि के अन्दर कोई द्रव्य नहीं धारण कर सकता, और न वह थोड़ा भी ग्रास मुख में स्वयं रख सकता है। रोगी विवश होकर ताण्डव की भाँति नाचता

---

[1]. Chorea.

हुआ चलता है और मुख की मुद्रा वीभत्स रूप से अनेक प्रकार का दिखाता हुआ अत्यन्त सदा चञ्चल अवस्था में रहता है। निद्रा की दशा में कम्प कभी नहीं होता ॥ ११-१३ ॥

विमर्श—यह वातिक संस्थान की विकृति से उत्पन्न एक रोग है। किन्तु मस्तिष्क आदि किसी वातसंस्थानीय अंगविशेष या उसके किसी अंश में स्पष्ट कोई विकार नहीं प्रमाणित होता अतः अर्वाचीन ग्रन्थों में इसका वर्णन रचना सम्बन्ध विहीन वातिक रोगों में किया गया है।

अथ हृद्यन्त्ररोगनिदानम्

तत्राद्रावावरणिकलक्षणम्—

वृक्कस्य दोषादपि चामवातात् तथाऽऽर्द्रशीतस्थलसन्निवासात्।
हृत्कोष्ठसंबन्धिकलाविभागे जायेत रोगो भृशदारुणोऽयम् ॥ १ ॥
रोगेण चानेन कला तु तत्र प्रपीड्यते सत्वरमेव नूनम्।
तेनोष्णता स्यादथ शोथदाहौ कोष्ठव्यथा दुर्बलता च गौरवम् ॥ २ ॥
श्वासस्य कृच्छ्रत्वमतीव पीडा हृत्कोष्ठकम्पः कसनं विशेषात्।
नासापथेनास्रमपि स्रवेच्च शाखासु शोथोऽनलमन्दताऽपि ॥ ३ ॥

वृक्क के दोष से, आमवात से और आर्द्र तथा शीत स्थल में निवास करने आदि से हृत्कोष्ठ सम्बन्धी कला भाग में यह दारुण 'आवरणिक' हृद्यन्त्र रोग होता है। इस रोग के होने से वहाँ की कला शीघ्र ही प्रपीड़ित हो जाती है। इससे उष्णता, शोथ, दाह, कोष्ठव्यथा, दुर्बलता, गौरव, श्वास की कृच्छ्रता, अत्यन्त पीड़ा, हृत्कोष्ठ में कम्प, कास, नासा से रक्तस्राव, हाथ-पैरों में शोथ और अग्नि की मन्दता होती है ॥ १-३ ॥

भवेत्तु विषमा गतिर्यदि हि नाडिकायाः क्वचिद् धृदावरणिकस्तदा निगदितो गदः कोविदैः।
चिकित्स्यत इह द्रुतं स किल जातमात्रः सदाऽन्यथा मरणदो नृणां भणित एव चोपेक्षया ॥

उपर्युक्त लक्षणों के साथ-साथ यदि कहीं नाड़ी की गति विषम हो तो पण्डित लोग इसे 'हृदावरणिक' रोग कहते हैं इस रोग के उत्पन्न होते ही शीघ्र चिकित्सा प्रारम्भ कर देनी चाहिये, अन्यथा उपेक्षा करने से यह मृत्युदायक हो जाता है ॥ ४ ॥

विमर्श—हृदय को बाहर से आच्छादित करनेवाली कला को हृदयावरण (Pericardium), मांसमय मुख्य उपादान को हृन्मांस (Myocardium) एवं हृत्कोष्ठ के भीतर स्थित कला को अन्तःस्था कला (Endocardium) कहते हैं। इन प्रत्येक अवयवों तथा अन्य सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतम अवयवों की विकृति से हृद्रोग के अनेक प्रकार अर्वाचीन ग्रन्थों में वर्णित हैं। उन सबका वर्णन करना यहाँ सम्भव नहीं है। विस्तृत वर्णन के लिए 'हृद्रोग' सम्बन्धी अर्वाचीन ग्रन्थों को ही देखना पड़ेगा। किन्तु प्राचीन आचार्यों ने सूत्ररूप में ही सबका निर्देश दोषभेद के आधार पर संक्षेप में ही किया है। (पूर्वार्ध पृष्ठ ४८१ से ४८६ तक देखिए)

कोष्ठयकाहृद्यन्त्ररोगलक्षणम्—

सदाऽभिघातादथवाऽऽमवातात्तथैव पूर्वोदितकारणाद्धि।
प्रजायते हृद्गतकोष्ठमध्ये यतस्ततः कोष्ठयक एष उच्यते ॥ ५ ॥
अस्मिन् गदे स्यादरुचिर्ज्वरोऽथो वैवर्ण्यमङ्गेऽनलसंक्षयोऽपि।
श्वासोऽथ कम्पः कसनं च दाहो यक्ष्माधिकोष्ठं ननु पूयसंचयः ॥ ६ ॥
आक्षेपमूर्च्छे अपि च प्रलापो नूनं धमन्या विषमा गतिश्च।
अस्माद्गदाद् घोरतरात्कदाचिद् विमुच्यते कोऽपि गदी तु दैवात् ॥ ७ ॥

अभिघात वा आमवात से हृद्गत कोष्ठ के मध्य में यह रोग होता है अतः 'कोष्ठयक' कहा जाता है। इस रोग में अरुचि, ज्वर, अङ्गों की क्षीणता, श्वास, कम्प, कास, दाह, यक्ष्मा, कोष्ठ में पूय का

सञ्चय, आक्षेप, मूर्च्छा, प्रलाप और नाड़ी की विषम गति होती है। इस अत्यन्त घोर रोग से कदाचित् ही कोई रोगी दैवात् बच जाता है ॥ ५-७ ॥

विमर्श—यहाँ कोष्ठ का तात्पर्य हृदय के आभ्यन्तर भाग विशेषतः अन्तःस्था कला और विभिन्न छिद्रों के कपाटों से है। (इनके रोगों का विस्तृत वर्णन किसी अर्वाचीन चिकित्सा-ग्रन्थ के हृद्रोगाध्याय में देखें)

पृथुकहृद्यन्त्ररोगलक्षणम्—

मिथ्यानिजाहारविहारहेतोर्हृत्कोष्ठमध्येऽस्रगतिर्यदैव।
स्याद् व्याहता तर्हि समस्तपेशी हृदः प्रयायात्पृथुतामवश्यम् ॥ ८ ॥
ततश्च सकम्पनदुर्बलत्वान्यपि स्युरुद्धा हृदये तथैव।
श्वासस्य कृच्छ्रत्वमथो भ्रमश्चारतिः प्रमोहः प्रथुकामये हृदः ॥ ९ ॥

मिथ्या आहार-विहार आदि के कारण हृत्कोष्ठ में जब रक्त की गति में व्याघात पहुँचता है तब हृदय की समस्त पेशियाँ मोटी हो जाती हैं। उसमें पीड़ा, कम्प, दुर्बलता, श्वास की कृच्छ्रता, भ्रम, अरति और प्रमोह ये सब लक्षण हो जाते हैं ॥ ८-९ ॥

विमर्श—जब हृदय को अधिक कार्य करना पड़ता है तो आरम्भ में हृन्मांस उपचित होकर मोटा हो जाता है। इसे हृन्मांसोपचिति (Hypertrophy of the heart) कहते हैं। (विस्तृत वर्णन अर्वाचीन ग्रन्थों में देखें)

आयामिकहृद्यन्त्ररोगलक्षणम्—

स्याद् विस्तृतिर्हृदयकोष्ठगता तु यस्मिन्नायामिकः स गदितो गद आमयज्ञैः।
प्रायेण दारुणतया परिवर्णितेऽस्मिन् मूर्च्छा भ्रमः श्वसनहृद्गतवेपथू च ॥ १० ॥
शून्यत्वमप्यवयवेष्वनलस्य मान्द्यं हानिर्बलस्य पललस्य परिक्षयोऽपि।
उन्निद्रताऽथ सलिलोदररोगजन्मान्यानि स्युरत्र हृदयामयलक्षणानि ॥ ११ ॥

जिसमें हृदय के कोष्ठ की विस्तृति हो जाती है उसे रोगज्ञ लोगों ने आयामिक हृद्यन्त्र रोग कहा है। प्रायः इस दारुण रोग में मूर्च्छा, भ्रम, श्वास, हृदय-कम्प, अङ्गों में शून्यता, अग्नि की मन्दता, बल की हानि, मांस का क्षय, निद्रा का अभाव, जलोदर तथा अन्यान्य हृद्रोग के लक्षण भी होते हैं ॥ १०-११ ॥

विमर्श—पूर्वोक्त हृन्मांसोपचिति के बाद भी जब उसे विश्राम नहीं मिलता और अधिकाधिक कार्य करना पड़ता है तब हृन्मांस-सूत्र लम्बे और पतले हो जाते हैं। हृदय की भित्ति पतली पड़ जाती है, हृदय बहुत चौड़ा हो जाता है। कभी-कभी दुर्बलताजनक विविध कारणों से आरम्भ से ही यह विकार उत्पन्न होता है। इसे आयामिक हृद्रोग (Dilatation of heart) कहते हैं। (विस्तृत विवेचन अर्वाचीन ग्रन्थों में देखें।)

परिक्षयहृद्यन्त्ररोगलक्षणम्—

क्षयाद् यतो जायत एष रोगस्ततोऽतिघोरः कथितः परिक्षयः।
हृत्कोष्ठपेश्या इह संक्षयः स्याद् भ्रमोऽवसादोऽपि च दुर्बलत्वम् ॥ १२ ॥
श्वासोऽग्निमान्द्यं हृदयप्रकम्पः शोथस्य नूनं क्रमिकाभिवृद्धिः।
जायन्त एतानि परिक्षयेऽस्मिंस्तथाऽपरेऽपि स्युरुपद्रवाश्च ॥ १३ ॥

यह अत्यन्त घोर रोग हृन्मांस के क्षय से होता है अतः यह 'परिक्षय हृद्यन्त्र' रोग कहा जाता है। इसमें हृत्कोष्ठपेशी का संक्षय होता है और भ्रम, अवसाद, दुर्बलता, श्वास, अग्नि की मन्दता, हृत्कम्प और क्रमिक शोथ की वृद्धि आदि लक्षणों के साथ-साथ अन्य भी उपद्रव होते हैं ॥१२-१३॥

विमर्श—यह भी हृन्मांस की ही विकृति है। विभिन्न औपसर्गिक ज्वर आदि रोगों के विष या मद्य आदि के प्रभाव से अथवा मधुमेह आदि निज विकारों से हृन्मांस का शोथ होकर वा बिना शोथ के ही विनाश होता है। इसी को हृन्मांस-परिक्षय (Myocardial degeneration) कहते हैं। मांससूत्रों में होने वाले परिवर्तनों के अनुसार इसके अनेक प्रकार अर्वाचीन ग्रन्थों में वर्णित हैं; उन्हें वहीं देखें।

मेदःसूत्रहृद्यन्त्ररोगलक्षणम्—

यदा तु हृत्कोष्ठगतेषु मांससूत्रेषु मेदःकणसञ्चयः स्यात्।
तदा गदज्ञानविदा स मेदःसूत्राभिधेयो गदितो गदोऽत्र ॥ १४ ॥
अस्मिन् गदे स्याद्धृदयप्रकम्पो मन्दाऽवलोक्येत गतिश्च नाड्याः।
मूर्च्छाऽवसादो नियतं भ्रमश्च बलक्षयाऽलं किल नाडिकानाम् ॥ १५ ॥
अन्ते हृदोऽप्यावरणस्य नूनं संभेदतः स्यात् सहसैव मृत्युः।
सद्यश्चिकित्स्योऽयमतश्चिकित्साविधानदक्षैरतिदारुणो गदः ॥ १६ ॥

जब हृत्कोष्ठगत मांससूत्रों में मेद के कणों का संचय हो जाता है तब उसे 'मेदःसूत्र' नामक हृद्यन्त्र रोग कहते हैं। इस रोग में हृदय में कम्प, नाडी की गति की मन्दता, मूर्च्छा, अवसाद, भ्रम तथा नाडी की क्षीणता दिखाई देती है और अन्त में हृदय के आवरण (कला) का भेद होने से सहसा मृत्यु हो जाती है। अतः चिकित्सा में चतुर वैद्यों को इस अति दारुण रोग की सद्यः चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १४-१६ ॥

विमर्श—विभिन्न कारणों से एवं मेदस्वी व्यक्तियों में हृन्मांससूत्रों के बीच मेद का सञ्चय होकरमांस तन्तुओं का विनाश होता है। इसे आधुनिक विद्वान् Fatty Degeneration of heart कहते हैं।

विक्षेपिकाहृद्यन्त्ररोगलक्षणम्—

हृदाक्षेपिका यत्र पीडा भवेद्धि स विक्षेपिकाख्यो गदः संप्रदिष्टः।
प्रजातेऽत्र रोगेऽतिघोरे नृदेहे त्वधोभागमध्ये ह्युरोऽस्थ्नोऽधिकोष्ठम् ॥ १७ ॥
अथो वामबाहौ तथा वामभागस्थितांसास्थिमध्येऽपि पृष्ठप्रदेशे।
अधिग्रीवमुग्रा भृशं प्राणमर्मप्रपीडिन्यवश्यं प्रजायेत पीडा ॥ १८ ॥
समाकर्षतोदौ तथा भेददाहावभीक्ष्णं च निःश्वासरोधोऽथ मोहः।
भृशं निर्गमः स्वेदराशेरथाध्मानमानाहवैवर्ण्यकार्श्यान्यवश्यम् ॥ १९ ॥
स्युरत्रारुचिश्चेन्द्रियाणां क्रमेण प्रणाशोऽपि मृत्युं लभेताजिताक्षः ॥ २० ॥

जिसमें हृदय में आक्षेप पैदा करने वाली पीड़ा हो उसे विक्षेपिका हृद्यन्त्र रोग कहते हैं। इस अत्यन्त घोर रोग के उत्पन्न होने पर मनुष्यों के शरीर में उरोऽस्थि के अधोभाग के मध्य में, एवं कोष्ठ, वाम बाहु, वाम भाग में स्थित स्कन्ध की अस्थि, पृष्ठदेश तथा ग्रीवा में प्राण तथा मर्म को अत्यन्त पीडित करने वाली पीडा उत्पन्न हो जाती है और आकर्षण (खिंचाव), तोद (सूई चुभोने की सी पीडा), भेद, दाह, श्वासावरोध, मोह, स्वेद का अत्यन्त निकलना, आध्मान, आनाह, विवर्णता, कृशता, अरुचि और इन्द्रियों का क्रमिक नाश ये लक्षण होते हैं। अन्त में इससे अजितेन्द्रिय रोगी की मृत्यु हो जाती है ॥ १७-२० ॥

विमर्श—इसे प्रावेगिक हृच्छूल (Anginapectoris) भी कहते हैं। इसका कुछ वर्णन पूर्वार्ध पृष्ठ ४८३ पर तथा विस्तृत वर्णन अर्वाचीन ग्रन्थों में देखें।

उपसंहारः—

स्युरेवं भृशं हृद्गदा दारुणा वै सुसाध्यास्त एवात्र वैद्यैर्नवा ये।

तथा वर्जिताः सर्वदोपद्रवैर्वा चिकित्साचतुष्पादवाप्तिप्रसङ्गात् ॥ २१ ॥
अतोऽन्ये चिरोत्था निजोपद्रवैर्वा युताः सर्वहेतुप्रजाताश्च ये स्युः ।
क्रमेणैव कृच्छ्रास्तथा ते तु याप्या असाध्या बुधैर्बोधिता नूनमेव ॥ २२ ॥

उक्त हृद्यन्त्र रोग अत्यन्त दारुण होते हैं। वैद्यों के द्वारा वे ही सुसाध्य हैं जो नये हैं और सर्वोपद्रव से रहित तथा चिकित्सापाद-चतुष्टय (ओषधि, वैद्य, परिचारक, रोगी) की उत्तमता से युक्त हैं। इससे अन्यथा जो प्राचीन या अपने उपद्रवों से युक्त वा सभी दोषों से उत्पन्न हुये हैं वे क्रम से कृच्छ्साध्य, याप्य तथा असाध्य हैं ॥ २१-२२ ॥

विमर्श—इनके अतिरिक्त भी अनेक विकार होते हैं, प्राचीन आचार्यों ने इन सभी का समावेश केवल पाँच भेदों में किया है। लक्षणानुसार इन रोगों में दोष की कल्पना कर लेनी चाहिए।

अथ यकृद्रोगनिदानम्

यकृतः परिचयः—

यकृतोऽवस्थितिरनिशं दक्षिणतः स्यादधो हृदयात् ।
तत्र तु विविधा रोगा जायेरन् भूरिदुःखदा नियतम् ॥ १ ॥

हृदय के नीचे दक्षिण भाग में यकृत् (Liver) की अवस्थिति है जिसमें अनेक प्रकार के अत्यन्त दुःख देने वाले रोग उत्पन्न होते हैं ॥ १ ॥

यकृद्रोगनिदानम्—

मद्यातिपानादथ वेगरोधादत्युष्णगुर्वन्ननिषेवणाच्च ।
स्वापाद्दिवा जागरतोऽथ रात्रावतिव्यवायादभिघाततो वा ॥ २ ॥
गुरून् पदार्थान् वहतां नराणां सदैव मार्गक्रमणे रतानाम् ।
तथाऽपरैर्घोरतरैश्च कर्मभिर्भवन्ति नूनं यकृदुत्थिता गदाः ॥ ३ ॥

अत्यन्त मद्यपान करने से, मल-मूत्रादि वेगों का अवरोध होने से, अधिक उष्ण तथा गुरु अन्न भोजन करने से, दिन में सोने से, रात्रि में जागने से, अत्यन्त मैथुन करने से, अभिघात से, तथा भारी बोझ ढोने वाले और अधिक पैदल चलने वाले व्यक्तियों को तथा अन्यान्य और भी घोरतर कर्मों के करने से यकृत्संबन्धी रोग पैदा होते हैं ॥ २-३ ॥

म्लानावस्थायां यकृतो लक्षणम्—

म्लाने यकृत्यथ भवेच्छकृदप्रवृत्तिः पित्ताल्पताऽप्यतितृषाऽऽविलमूत्रता च ।
देहस्य कर्दमसमप्रभताऽथ पाण्डुत्वाध्मानसादवमनान्यनलस्य मान्द्यम् ॥ ४ ॥
प्रातश्च तिक्तमुखता रसना मलाढ्योद्गारो भृशं कठिनता धमनीगता स्यात् ।
आकृष्टिवद्बहुरुजाऽपि वमेश्चिकीर्षा लिङ्गान्यमूनि नितरां ननु संभवेयुः ॥ ५ ॥

यकृत् के म्लान होने पर (उसकी क्रिया ठीक न होने से) मल की प्रवृत्ति न होना, पित्त की कमी, अत्यन्त तृषा, मूत्र का आविल रहना, शरीर का वर्ण कीचड़ की भाँति हो जाना, पाण्डुता, आध्मान, अवसाद, वमन, अग्नि की मन्दता, प्रातःकाल मुख का कडुवापन, जिह्वा का अधिक मलयुक्त रहना, अत्यन्त उद्गार, नाड़ी की गति कठिन होना, आकर्षण की भाँति अधिक पीड़ा होना, वमन करने की इच्छा होना, ये सब लक्षण प्रकट होते हैं ॥ ४५ ॥

वृद्धिदशायां यकृतो लक्षणम्—

वृद्धिं गते यकृति चोरुरुजाऽप्युरोऽस्थ्नि स्कन्धेऽधिदक्षिणमथापि च दक्षसक्थ्नि ।
जायेत जाड्यमपि दक्षिणबाहुमध्ये वैवर्ण्यमप्यधिशकृत् कसनं ज्वरश्च ॥ ६ ॥
तिक्तास्यताऽप्यरतिलोहितमूत्रते वा हानिर्बलस्य तनुबद्धपुरीषताऽपि ।
पीताक्षताऽथ सततं शयनं तु सव्यपार्श्वेन चात्र गदिनः सुखलिप्सया स्यात् ॥ ७ ॥

निद्रानाशः कामला तोदभेदौ दाहः शोथो जायते चात्र तृष्णा ।
प्राणघ्नी स्याद्विद्रधिर्वै यकृत्स्था प्राणी मुच्येतात्र कश्चित् सुभाग्यात् ॥ ८ ॥

यकृत् के बढ़ जाने पर छाती की अस्थि, दक्षिण स्कन्ध और दक्षिण पैर में अधिक पीड़ा, दक्षिण बाहु में जड़ता, मल की विवर्णता, खाँसी, ज्वर, मुख में कड़वापन, अरति (बेचैनी), रक्तमूत्रता, बल की हानि, थोड़ी मलबद्धता, आँखों का पीलापन, बायें करवट लेटने से आराम मिलना, निद्रानाश, कामला, तोद, भेद, दाह, शोथ और तृष्णा आदि लक्षण होते हैं, कभी-कभी यकृत् में विद्रधि हो जाती है, यह अत्यन्त घातक होती है, भाग्य से ही कोई प्राणी बच जाता है ॥

विमर्श—यकृत् रोगों को कारण और सम्प्राप्तिभेद से अर्वाचीन ग्रन्थों में अनेक प्रकार का कहा गया है । सभी में प्रायः न्यूनाधिक रूप में पूर्वोक्त लक्षण ही होते हैं । केवल साध्यासाध्यता की दृष्टि से ही प्रधान अन्तर होता है । पूर्वोक्त यकृत् रोगों में पित्ताशय-जो यकृत् का ही एक उपांग है-के रोगों को भी समाविष्ट समझना चाहिए । इनका संक्षिप्त निर्देश अर्श (पू. पृ. १७७) कामला (पू. पृ. २३३) और यकृद्दाल्युदर (उत्त. पृ. ३७) में देखें और विस्तृत विवेचन किसी अर्वाचीन चिकित्सा-ग्रन्थ में देखें ।

अथ वृक्करोगनिदानम्[1]

वृक्करोगस्य पूर्वरूपम्—

निद्रानाशो वह्निमान्द्यं च शोथो नेत्रे चास्ये पादयोर्वृक्करोगे ।
नाडी स्तब्धा वेगयुक्ताऽथ चोष्णा त्वाचं रौक्ष्यं पूर्वरूपं प्रदिष्टम् ॥ १ ॥

वृक्करोग की पूर्वावस्था में निद्रानाश, अग्नि की मन्दता, नेत्र, मुख और पैरों में शोथ, नाड़ी की स्तब्धता तथा वेग से युक्त एवं उष्ण होना और त्वचा की रूक्षता ये सब लक्षण होते हैं ॥ १ ॥

वृक्करोगस्य लक्षणम्—

रक्तह्रासात्पाण्डुवर्णत्वमास्ये स्वेदाभावस्त्वाचरौक्ष्याग्निमान्द्ये ।
पीडा कट्यां चोदरे वृक्कदेशे नाडी नूनं वेगयुक्ता भवेच्च ॥ २ ॥
मूत्रं शश्वद्बिन्दुरूपेण चोष्णं पीडायुक्तं वृक्करोगे स्रवेद्धि ।
एवं तीव्रं लक्षणं वृक्कयुग्मे जातु स्यादेवाश्मरीयोगतोऽपि ॥ ३ ॥
शिश्नस्याग्रे जायते चातिपीडा मूत्रं रक्तेनान्वितं स्यात् कदाचित् ।
शैत्योपेतं पाणिपादं भवेद्धि दाहश्चाल्पो मूत्रकाले ध्वजाग्रे ॥ ४ ॥
वृक्कद्वन्द्वे कार्यशैथिल्यहेतोर्घोरः स्वैःस्वैर्लक्षणैर्लक्ष्यमाणः ।
रोगः प्लीह्नो ह्यकृत्सम्भवो नुर्वृक्कग्रस्तस्येति चिह्नं प्रदिष्टम् ॥ ५ ॥
नादः कर्णे नेत्ररोगो ध्वजोत्थो भङ्गः शाखागौरवं चापि मूर्च्छा ।
ग्रीवामूर्ध्नंश्चांसदेशेऽपि पीडा मोहो लिङ्गान्येवमेतानि च स्युः ॥ ६ ॥
विशेषतो वृक्करोगो रक्तस्य परिवर्त्तनात् । नराणां जायते देहे भिषजामिति निर्णयः ॥ ७ ॥

रक्त का ह्रास हो जाने से मुख में पाण्डुता, पसीने का न निकलना, त्वचा की रूक्षता, अग्निमान्द्य, कटि, उदर तथा वृक्कदेश में पीड़ा, नाड़ी का वेगयुक्त होना और निरन्तर बूँद-बूँद (थोड़ी मात्रा में) उष्ण तथा पीडायुक्त मूत्र का निकलना, ये सब लक्षण वृक्करोग में होते हैं । जब वृक्कों में अश्मरी हो जाती है तो उक्त लक्षणों की तीव्रता होती है और शिश्न के अग्रभाग में अत्यन्त पीड़ा होती है तथा मूत्र रक्तयुक्त हो जाता है । हाथ-पैरों में शीतलता तथा मूत्रकाल में शिश्नाग्र में थोड़ा-थोड़ा दाह होता है । दोनों वृक्कों में शिथिलता आ जाने से अपने-अपने लक्षणों से युक्त

---

१. Kidney diseases.

प्लीहा तथा यकृत् के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। साथ ही कर्णनाद, नेत्ररोग, ध्वजभङ्ग, हाथ-पैरों में गुरुता, मूर्च्छा, ग्रीवा, मस्तक तथा स्कन्ध देश में पीड़ा और मोह ये सब लक्षण भी वृक्क रोग में होते हैं। विशेषतः वृक्क रोग रक्त की परिवृत्ति से होता है, ऐसा वैद्यों का निर्णय है॥ २-७॥

विमर्श—वृक्कों द्वारा ही मूत्र का उत्पादन होता है अतः इनके विकारों में मूत्र में अनेक परिवर्तन हो सकते हैं। किन्तु मूत्र में न्यूनाधिक मात्रा में शुक्लि (Albumin) नामक एक प्रोभुजिन (Protien) जाति का पदार्थ अवश्य मिलता है। मूत्र में इसकी उपस्थिति-जो कि स्वाभाविक मूत्र में बिल्कुल नहीं होती-को अर्वाचीन विद्वान् ओजोमेह (Albuminurea) कहते हैं। इसका वर्णन आगे किया जायगा।

सामान्य रूप से वृक्क के शोथ को नेफ्राइटिस (Nephritis) कहते हैं और वृक्क के विभिन्न सूक्ष्म अवयवों की विकृति एवं कारणों के अनुसार वृक्क रोग के अनेक भेद अर्वाचीन ग्रन्थों में वर्णित हैं (उन्हें वहीं देखना चाहिये) किन्तु सशोथ (Hydraemic) तथा अशोथ (Azotaemic) तथा तरुण और जीर्ण प्रकार विशेष महत्त्व के हैं। रोग की अवस्था और प्रकार के अनुसार कुछ अन्तर होते हुए भी निम्नलिखित लक्षण वृक्करोग में प्रायः अवश्य होते हैं :—

(१) शोथ—अक्षिकूट में विशेषतः प्रभातकाल में शोथ होता है जो क्रमशः समस्त शरीर में व्याप्त हो सकता है। (शोथ की उत्पत्ति के कारणों का सोपपत्तिक वर्णन उत्त० पृष्ठ ४८ से देखें)

(२) बहुमूत्रता या स्वल्पमूत्रता (Polyurea or anurea)

(३) मूत्र का आपेक्षिक घनत्व प्रायः कम होना (उदकमेह उत्त. पृ. १० देखें)

(४) मूत्र में शुक्लि और निर्मोक (Casts) एवं कभी कभी धूम्राभ रक्त की उपस्थिति। (देखें लालामेह और माञ्जिष्ठमेह उत्तरार्ध पृष्ठ १३ और १५) इनकी अधिकता से मूत्र का आपेक्षिक घनत्व अधिक भी हो सकता है।

(५) रक्तभार की अधिकता (High blood pressure) तथा इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न विविध लक्षण।

अथौजोमेहनिदानम्[1]

अथामवातादभिघाततो वाऽजीर्णादिकाज्जाठरवह्निमान्द्यात्।
शोथात्तथा वा विषमज्वराच्च क्षयाच्च कासप्रभृतेर्नराणाम्॥ १॥
रक्तस्रोतोविक्रियातोऽस्रदोषात् किंवा वृक्कद्वन्द्वदुष्ट्या विशेषात्।
पूयेनास्रेणाथवा वै लसीकाद्वारा दुष्टे रेतसा वाऽपि मूत्रे॥ २॥
क्षारेण किंवा कटुना कषायेण वर्जितैर्गर्भवतीजनस्य।
ओजस्करैर्वा मधुरैः सदैवान्नपानजातैरतिमात्रभक्षितैः॥ ३॥
गुरोस्तथा पर्युषितस्य चान्नस्य सेवनादप्यतिभोजनाद्वा।
शिशोश्च हंसस्य विशिष्य गोधूमनव्यधान्यप्रभृतेश्च सेवनात्॥ ४॥
अतीव शीते सलिलेऽपि दुष्टे स्नानेन पानेन च वाऽवगाहनात्।
एभिर्निमित्तैरपरैस्तथौजो मेहो भवेद्धि विकृतादिहौजसः॥ ५॥

आमवात, अभिघात, अजीर्ण, अग्निमान्द्य, शोथ, क्षय तथा कास आदि से एवं रक्तस्रोत की विक्रिया, रक्तदोष, विशेषतः दोनों वृक्कों की दुष्टि होने पर पूय, रक्त अथवा लसीका द्वारा पुरुषों के वीर्य या मूत्र के दूषित होने पर एवं गर्भवती स्त्री के क्षार, कटु तथा कषाय से रहित मधुर तथा ओजस्कर पदार्थ एवं गुरु तथा पर्युषित अन्न के सेवन, अधिक अन्न भोजन, हंस के बच्चों का मांस,

---

१. Albuminurea शुक्लिमेह या लालामेह (उत्त. पृ. १३)

विशेषतः गोधूम आदि नवीन धान्य के सेवन, अत्यन्त शीतल एवं दुष्ट जल में स्नान तथा अवगाहन आदि करने से ओज की विकृति होने पर ओजोमेह उत्पन्न होता है ॥ १-५ ॥

आयुर्बलयोर्नितरां कृन्तननिपुणो विशेषतो नृणाम् ।
आमय एष उदारैरायुर्वेदस्य कोविदैरुदितः ॥ ६ ॥

वैद्यों ने इस रोग को मनुष्यों के आयु तथा बल को नाश करने में प्रधान कारण बताया है ॥

पुनश्च तस्य हेतुपूर्वकरूपवर्णनम्—

शारीरिकश्रमवशादथवाऽपरस्माद्धेतोर्द्रुतं रुधिरसंचरणाज्जनानाम् ।
किंवा विपर्ययवशात्प्रकृतेः किलौजो मूत्रेण सार्द्धमतिदुष्टिमितं स्रवेद्वै ॥ ७ ॥

शारीरिक श्रमवश अथवा अन्य कारणों से शीघ्र शीघ्र रुधिर का संचार होने से किंवा वृक्कों की प्रकृति का विपर्यय होने से मनुष्यों की मूत्र के साथ ओज निकलने लगता है ॥ ७ ॥

हंसाण्डसंस्थितसमुज्ज्वलभागतुल्यं किंवाऽपि तण्डुलजलप्रतिमं च शुक्लम् ।
ओजःस्थितं भवति रूपमिदं विकृत्या मूत्रेण सार्धमभियाति नहि प्रकृत्या ॥ ८ ॥

हंस आदि के अण्डों में स्थित श्वेत भाग की तरह किंवा चावल के धोवन के सदृश शुक्ल ओज का रंग होता है जो कि विकृति के कारण मूत्र के साथ निकलता है । स्वभावतः मूत्र के साथ नहीं निकलता ॥ ८ ॥

अस्य साध्यादिकम्—

मेदःक्षयो यदि भवेदरुचिर्ज्वरो वा शोथोऽग्निमान्द्यमपि तर्हि न साध्य एषः ।
दुःसाध्य एव कथितोऽत इहान्यथौजोमेहो भिषग्भिरथ न क्वचिदाशु साध्यः ॥ ९ ॥

ओजोमेह में यदि मेद का क्षय, अरुचि, ज्वर, शोथ और अग्निमान्द्य हो तो असाध्य होता है और इससे अन्यथा होने पर दुःसाध्य होता है अर्थात् ओजोमेह कभी सुखसाध्य नहीं होता ॥९॥

अथ लसीकामेहनिदानम्

अनूपदेशोद्भवमीनमांसादिकादनाद्वाऽमितभोजनाद्वा ।
क्लिन्नं सदा पर्युषितं भृशाभिष्यन्दि प्रकामं मधुरं गरीयः ॥ १ ॥
अन्नं विशेषाद्रसनाऽतिलौल्यात् समश्नतामत्र नृणामवश्यम् ।
तथा च शारीरपरिश्रमं वा ह्यकुर्वतां वा मनसोऽधिकश्रमात् ॥ २ ॥
प्रदूषितो हेतुभिरेभिरन्यैः पाकाशयश्चापि यकृन्नितान्तम् ।
वृक्कद्वयेऽथापि च मूत्रकोषे क्षतं समुत्पादयतो विशेषतः ॥ ३ ॥
ततश्च मूत्रं तरलं सरक्तं लसीकया वा सहितं च मेदसा ।
क्वचिद्घनं स्थूलमथापि सूत्रवज्जतूकवारिप्रतिमं प्रवर्त्तते ॥ ४ ॥
वैशिष्ट्यतोऽस्मिन्नपि दोषदूष्ययोर्ह्रासं प्रवृद्धिं च सदैव लक्षयेत् ।
कुर्याच्चिकित्सामवगत्य वैद्यो मूत्रस्थितं वर्णविशेषमेव ॥ ५ ॥

अनूप देशोत्पन्न मत्स्य-मांसादिक भोजन करने से या अमित भोजन करने से, रसना की लोलुपता से अत्यन्त क्लिन्न तथा पर्युषित अधिक अभिष्यन्दि, मधुर तथा अत्यन्त गुरु अन्न भोजन करने से और शारीरिक परिश्रम नहीं करने से अथवा मानसिक श्रम अधिक करने से तथा इस प्रकार के अन्यान्य भी हेतुओं से पाकाशय तथा यकृत् नितान्त दूषित होकर वृक्कद्वय और मूत्रकोश में विशेष रूप से क्षत उत्पन्न कर देते हैं । उसके बाद मूत्र तरल, रक्त, लसीका तथा मेद के सहित घन, स्थूल और सूत्रवत् लाक्षारस के समान निकलने लगता है । वैद्य को चाहिये कि वह इस रोग में दोष तथा दूष्य की ह्रास तथा वृद्धि का लक्ष्य रखते हुये मूत्रस्थित वर्ण की विशेषता को समझ कर चिकित्सा करे ॥ १-५ ॥

वातजस्य तस्य लक्षणम्—

वातोपसृष्टेऽत्र भवेद्धि मूत्रं सशोणितं पूर्णतयाऽम्लगन्धकम् ।
मलावरोधोऽपि च सन्धिवृन्दविश्लेषणं चाप्युपजायतेऽद्धा ॥ ६ ॥
मुहुर्मुहुर्मूत्रमतिप्रवर्त्तते गदे त्वभिक्षाजलसंनिभं सदा ॥ ७ ॥

वातिक लसीका मेह में मूत्र रक्तयुक्त तथा अम्ल गन्धयुक्त होता है और मल का अवरोध तथा सन्धिसमूह का विघटन होने लगता है। बारम्बार मूत्र की प्रवृत्ति होती है, जो अभिक्षा (मांस धोने के) जल के समान होता है ॥ ६-७ ॥

पित्तजस्य लक्षणम्—

घनं पूतियुक्तं च दुर्गन्धपूर्णं भवेत्पैत्तिके रोगिमूत्रं च पूर्णम् ।
तथाऽऽस्यस्य वैरस्यमत्यर्थमेव प्रदाहश्च हस्ताङ्घ्रिमध्ये सदव ॥ ८ ॥

पैत्तिक लसीका मेह में रोगी का मूत्र घन, पूतियुक्त और दुर्गन्ध पूर्ण होता है। मुख में विरसता बनी रहती है और हाथ आदि में प्रदाह सदा रहा करता है ॥ ८ ॥

श्लैष्मिकस्य लक्षणम्—

कफेनोपसृष्टोऽत्र शुक्लं तु मूत्रं भवेत्स्वच्छमत्यर्थमद्धाऽधिपात्रम् ।
निशि स्थापितं प्रातरेवोपरिस्थं तदच्छं घनं सर्वथा चाप्यधःस्थम् ॥ ९ ॥
कटौ वङ्क्षणेऽनुक्षणं चापि पीडा प्रजायेत तीव्रोऽन्नविद्वेष एव ।
इदं लक्ष्म सर्वं कफेनोपसृष्टस्य मेहस्य चोक्तं लसीकाऽभिधस्य ॥ १० ॥

कफज लसीका मेह में मूत्र का वर्ण श्वेत तथा अत्यन्त स्वच्छ होता है। पात्र में रात्रि भर मूत्र रहने पर प्रातःकाल ऊपर का भाग स्वच्छ तथा नीचे घन भाग जमा हो जाता है। कटि तथा वङ्क्षण प्रदेश में प्रतिक्षण पीड़ा रहती है तथा तीव्र अन्नविद्वेष बना रहता है ॥ ९-१० ॥

द्वित्रिदोषजयोर्लक्षणम्—

द्विदोषोत्थितेऽथ त्रिदोषोत्थितेऽद्धा यथादोषमूह्यं तयोर्लक्षणं वै ।
पुरा वर्णितं यत् पृथग्दोषरूपं तदेवात्र बोध्यं यथावद्विमिश्रम् ॥ ११ ॥

द्विदोषज तथा त्रिदोषज लसीका मेह में दोषानुसार लक्षणों का ज्ञान करना चाहिये। पूर्व में पृथक्-पृथक् दोषों के जो लक्षण कहे गये हैं, वे ही लक्षण यहाँ भी दोषानुसार समझ लेना चाहिये ॥ ११ ॥

साध्यासाध्यलक्षणम्—

लसीकाऽभिधोऽयं तु मेहो हि यूनां बलेनान्वितानां विशेषान्नवोत्थः ।
अपि प्रायशः साध्य एवामयज्ञैर्भिषग्भिर्जनैर्बोधितो बुद्धिमद्भिः ॥ १२ ॥
स एवाथवादुर्बलानां तु वृद्धात्मनां नैव साध्यः कदाचित्प्रदिष्टः ।
क्वचिच्चामयोऽयं गतः प्रौढभावं प्रशान्तिं प्रयायात् सुपथ्यस्य योगात् ॥ १३ ॥
पुनर्दैवदुर्दृष्टितो रोगयुक्तं स एवाधिगत्योत्थितिं स्वामवश्यम् ।
नयत्येव कालान्नरं चान्तकस्यान्तिके सच्चिकित्सामतिक्रम्य सर्वान् ॥ १४ ॥

युवा तथा बलवानों में नवीन उत्पन्न हुआ यह लसीका-मेह प्रायः साध्य होता है। किन्तु वही यदि दुर्बल अथवा वृद्धों में उत्पन्न हो तो असाध्य हो जाता है। क्वचित् यह रोग बढ़ जाने पर सुपथ्य करने से एक बार तो शान्ति प्राप्त कर लेता है किन्तु यदि पुनः दुर्भाग्यवश कुपथ्य सेवन से बढ़ जाता है तो निश्चय ही रोगी का प्राण लेता है, चाहे कितनी भी चिकित्सा की जाय सब निष्फल हो जाती है ॥ १२-१४ ॥

विमर्श—इसे रसमेह (Chyluria) भी कहते हैं। प्राचीन आचार्यों ने इसका समावेश वसामेह और मज्जमेह में किया है। (पृष्ठ १४ उत्तरार्ध देखें)

अथ मूत्रातिसारनिदानम्

तस्य निदानम्—

अभिष्यन्दिगुर्वन्नसंभोजनाद्वा श्रमाभावतोऽथो विलासाद्विशेषात् ।
विचारं विना मैथुनाद् मद्यपानाज्जलस्यातिदुष्टस्य संसेवनाद्वा ॥ १ ॥
गुडोत्थस्य वै वस्तुनो भोजनाद्वा यकृद्‌दुष्टिहेतोश्च मर्माभिघातात् ।
विकारादथो नाडिकामण्डलस्याभिचारप्रयोगाद्भयाच्छोकतो वा ॥ २ ॥
सदा मानसस्य प्रवृत्तेर्भृशं विषयेषु स्वकीयेषु वेगावरोधात् ।
गराख्यस्य नूनं विषस्यापि योगाद् दिवास्वापतश्चातिनिद्राप्रसङ्गात् ॥ ३ ॥
चिरं रोगिलोकस्य सेवाविधानात् तथा पत्तने सर्वदा संनिवासात् ।
अतीवोष्मसंतप्तदेहस्य शीघ्रयात् सदा शीतसंसेवनादेव नूनम् ॥ ४ ॥
तथा चेदृशैः सेवितैश्चातिमात्रं निमित्तैरिहान्यैर्गदः प्रायशोऽयम् ।
प्रजायेत नृणां तनावेव मूत्रातिसाराभिधस्तस्य संप्राप्तिरग्रे ॥ ५ ॥

अभिष्यन्द-कारक और गुरु अन्न का भोजन करने से, श्रम न करने से, विशेष विलासिता के कारण अविचार मैथुन करने से, मद्यपान तथा अति दुष्ट जल का सेवन करने से, गुड की बनी वस्तुओं के सेवन करने से, यकृत् की दुष्टि होने से, मर्म में अभिघात होने से, नाडी-मण्डल के विकार से, अभिचार-प्रयोग से, भय से, शोक से, मानसिक विषयों में मन की सदा अधिक प्रवृत्ति रहने से, वेगावरोध से, 'गर' संज्ञक विष का प्रयोग करने से, दिन में या अधिक सोने से, रोगियों की निरन्तर सेवा करने से, घनी आबादी में सदा निवास करने से, अत्यन्त ऊष्मा से शरीर के तप्त रहने पर ही शीघ्रता से शीत का सेवन करने से तथा इसी प्रकार के अन्यान्य कारणों से भी मूत्रातिसार रोग उत्पन्न होता है ॥ १–५ ॥

तस्य संप्राप्तिः—

उपर्युक्तहेतोरतीव प्रसङ्गाद् नृणां सर्वदेहस्थितोऽब्धातुरेव ।
गतः क्षोभभावं द्रुतं सोऽतिमात्रं समस्ताङ्गतः प्रस्रवत्याश्ववश्यम् ॥ ६ ॥
ततः प्रच्युतः स्थानतः स्वास्स मूत्रपथं याति तेनातिमात्रं प्रसन्नम् ।
सितं शीतलं गन्धशून्यं च पीडा-विहीनं क्वचिन्मन्ददाहं कुगन्धम् ॥ ७ ॥
गदेनार्दितानां स्रवत्येव मूत्रं सदैवेदृशं पूरुषाणां विशेषात् ।
मयेत्थं च सद्भिर्भिषग्भिस्तु मूत्रातिसारस्य संप्राप्तिरुक्ता प्रदिष्टा ॥ ८ ॥

उपर्युक्त हेतुओं का अधिक प्रसंग होने पर देह में स्थित जो जल धातु है वह शीघ्र ही क्षोभ को प्राप्त होकर समस्त अङ्ग से अधिक प्रस्रुत होने लगता है और उसके बाद यह अपने स्थान से प्रस्रुत होकर मूत्रमार्ग में पहुँचता है जिससे श्वेत, शीतल, गन्ध और पीडा रहित, तथा कभी-कभी मन्द दाह से युक्त एवं कुत्सित गन्धवाला मूत्र निकलने लगता है। यही सद्वैद्यों द्वारा निर्दिष्ट इस रोग की संप्राप्ति है ॥ ६–८ ॥

मूत्रप्रस्रवणमानम्—

अहोरात्रमध्ये चतुःप्रस्थतुल्योन्मितं मूत्रमस्मिञ्जनानां स्रवेद् वै ।
निशि स्थापितं प्रातरालोकितं तद् घनं निम्नभागे ह्युपर्यच्छमस्तु ॥ ९ ॥

मूत्रातिसार में पुरुष को दिन रात्रि के अन्दर ४ प्रस्थ परिमाण के लगभग मूत्र निकलता है। उसे रात्रि में पात्र में स्थापित रखने पर प्रातःकाल वह निचले भाग में घना तथा ऊपर स्वच्छ हो जाता है ॥ ९ ॥

मूत्रातिसारलक्षणम्—

भवेन्मूत्रमार्गेऽति कण्डूस्तथा पिडिकोत्पत्तिरद्धाऽथवा दुःक्षतं च।
तथा तत्र चर्मक्षयो येन रोगी भृशं चावसीदेद्रुजा तज्जया तु ॥ १० ॥
अथाङ्गेषु दाहस्तृषा चाधिकोऽपि रसज्ञाऽपि शुष्का चिता कण्टकैश्च।
क्वचित्तीव्रताऽग्नेः क्वचिद्वाऽग्निमान्द्यं प्रजायेत कार्श्यं तथा विड्विबन्धः ॥ ११ ॥
दृशोर्म्लानता रूक्षताधिस्त्वचं पेशिकाः कोमलाश्चातिशैथिल्यभाजः।
शिरोघूर्णनं चालसत्वं च संकोचभावो हृदो मैथुनाशक्तता च ॥ १२ ॥
बलक्षीणतोद्वेग आस्यस्य मालिन्यमेवारतिः स्वीयकर्त्तव्यकृत्ये।
परिक्षीणता मेदसश्चाधिकाऽऽस्ये प्रशोषस्तथा तालुनि स्यादवश्यम् ॥ १३ ॥
इतीमानि चिह्नानि मूत्रातिसारोदितानीह बोध्यानि चाद्धाऽखिलानि।
तनौ चाबलानां गदोऽयं तु सोमक्षयात् सोमनामाऽपि वैद्यैः प्रदिष्टः ॥ १४ ॥
अतीव प्रवृद्धे क्रमेणामयेऽस्मिन् स्रवेन्मूत्रमत्यर्थमेवाप्यभीक्ष्णम्।
अतो रोगमेनं तु वैद्या हि मूत्रातिसारं च रोगानुसारेण प्राहुः ॥ १५ ॥

मूत्रमार्ग में अत्यन्त खुजली तथा पिडकाएँ निकलती हैं अथवा दुष्टक्षत तथा चर्मक्षय हो जाता है जिससे रोगी तज्जन्य पीडा से अत्यन्त अवसन्न हो जाता है। रोगी के अङ्गों में दाह, अधिक तृषा, जिह्वा काँटों से व्याप्त, सूखी, अग्नि की कभी तीव्रता व कभी मन्दता, कृशता, मलबन्ध, आँखों की म्लानता, त्वचा में रूक्षता होती है, पेशियाँ कोमल तथा अधिक शिथिल हो जाती हैं एवं शिर का घूमना, आलस्य, हृदय का संकुचित होना, मैथुन-शक्ति का अभाव, बलक्षीणता, उद्वेग, मुख की मलिनता, अपने कार्यों में अरति, मेद की अत्यन्त क्षीणता, मुखशोष तथा तालुशोष होते हैं। स्त्रियों के शरीर में इसी मूत्रातिसार को सोमरोग कहते हैं। इस रोग के अत्यन्त बढ़ जाने पर निरन्तर अत्यन्त मूत्रस्राव होता रहता है ॥ १०-१५ ॥

मूत्रातिसारस्योपद्रवाः—

बलस्यातिनाशस्तृषा चातिघोरा प्रलापोऽपि मूर्च्छाऽथ वीसर्प एव।
क्षतं वा क्षयो दुर्व्रणश्चापि नूनमभिन्यासरोगादयोऽस्मिन् गदे तु ॥ १६ ॥
भिषग्भिः प्रदिष्टा विशेषात्तु चोपद्रवा एत एभिस्तु मूत्रातिसारी।
उपेतोऽभ्युपैतीह शीघ्रं विहाय स्वलोकं तु कीनाशलोकं मनुष्यः ॥ १७ ॥

अत्यधिक बल का नाश, घोर तृषा, प्रलाप, मूर्च्छा, वीसर्प, क्षत वा क्षय, दुष्ट व्रण और अभिन्यास आदि रोग उपद्रव स्वरूप में होते हैं इन सबों से यदि मूत्रातिसारी रोगी युक्त हो तो वह शीघ्र मर जाता है ॥ १६-१७ ॥

अत्रर्त्तुप्रभावः—

निदाघे प्रजायेत रोगो विशेषादयं चापि तत्रैव कुप्येदवश्यम्।
कदाचिच्च कालेऽतिशीते प्रवृत्तिः प्रदृश्येत लोके क्वचिच्चास्य वैद्यः ॥ १८ ॥
पुरोक्तैरिहैभिर्निमित्तैरथो मधुमेहोऽपि जायेत रोगोऽतिकृच्छ्रः।
समासेन चेत्थं तु मूत्रातिसारोदितं हेतुरूपादिकं सर्वमुक्तम् ॥ १९ ॥

यह रोग विशेषतः ग्रीष्मऋतु में उत्पन्न होकर कुपित होता है। शीतकाल में कदाचित् ही इस की प्रवृत्ति दिखाई देती है। इन्हीं पूर्वोक्त कारणों से अति कृच्छ्रसाध्य मधुमेह भी उत्पन्न हो जाता है

विमर्श—प्राचीन आचार्यों ने इसका समावेश उदकमेह नामक रोग में किया है और अंग्रेजी में इसे 'डायबीटीज इन्सीपीडस' (Diabeteis insipidus) कहते हैं। (विशेष विवेचन उत्तरार्ध पृष्ठ १२ में देखें)

अथ शुक्रमेहनिदानम्[1]

तत्र शुक्रमेहे हेतुः—

ये हस्तमैथुनमुखातिविगीतरीत्या रेतःक्षयं विदधतीह जना विमूढाः।
तेषामवश्यमतिकामवशं गतानां जायेत दारुणगदः खलु शुक्रमेहः॥ १॥

जो मूर्ख लोग हस्तमैथुन आदि अत्यन्त निन्दित रीति से शुक्रक्षय किया करते हैं उन सबों को दारुण शुक्रमेह रोग होता है॥ १॥

तस्य लक्षणम्—

मलमूत्रमनोजजवाधिकता युवतिस्थविलासदृढस्मृतितः।
पतनं यतनेन विनैव मुहुर्ननु रेतस आशु भवेदनिशम्॥ २॥
अथवा प्रमदाऽङ्गमपि स्पृशतः सहसा तरुणीजनदर्शनतः।
स्वपने रमणीरमणेक्षणतः स्खलनं पुरुषस्य भवेत् क्षणतः॥ ३॥
अधितन्द्रमथाप्यधिवर्त्म यतः शयनं च जनस्य मनोजवतः।
स्मरणादवलोकनतोऽप्यचिराच्च्यवनं प्रमदात् प्रमदाविषयात्॥ ४॥
अहोरात्रमध्ये प्ररूढे गदेऽस्मिन् नरस्य त्रिवारं चतुर्वारमद्धा।
उपर्युक्तहेतोश्च्युती रेतसः स्यात् क्वचिल्लिङ्गशैथिल्यमन्ते नितान्तम्॥ ५॥
ततोऽनेन रोगेण संव्यूढदेहो जनो भामिनीमानभेदेऽप्यशक्तः।
भवन्नङ्गनाऽङ्गस्य संस्पर्शमात्राच्च्युतिं रेतसो नूनमत्राभ्युपैति॥ ६॥
ततोऽतीव लज्जाविषादाभिभूतः पराभूतचेता भृशं कामिनीतः।
विरक्तो भवन्नातु विक्षिप्तगत्या स्वयं मानवो मृत्युमीप्सेदगत्या॥ ७॥

मल-मूत्र तथा काम के वेग की अधिकता एवं युवतीविषयक विलासों की स्मृति मात्र से बिना प्रयत्न के बारंबार शुक्र का शीघ्र-शीघ्र पतन हुआ करना अथवा स्त्रियों के अङ्ग का स्पर्श करने, तरुणी स्त्रियों का दर्शन करने और स्वप्न में रमणी के साथ रमण करने से पुरुष का क्षणमात्र में शुक्र का स्खलन हो जाता है कभी-कभी तन्द्रावस्था में, मार्ग चलते हुये, शय्या पर पड़े कामवासना से स्त्रियों का स्मरण तथा अवलोकन करने मात्र से शीघ्र शुक्र का स्खलन हो जाता है। इस रोग की अधिक वृद्धि होने पर दिन-रात्रि में ३ या ४ बार उपर्युक्त कारणों से शुक्र स्खलन हो जाता है और अन्त में किसी-किसी में लिङ्गशैथिल्य भी हो जाता है। ऐसे रोग से युक्त रोगी यौवनगर्विता स्त्री के मानमर्दन करने में अशक्त होता हुआ अङ्गना के अङ्गों के संस्पर्शमात्र से वीर्यच्युति को प्राप्त करता है। इसके पश्चात् लज्जा और विषाद से युक्त होकर संसार से विरक्त होकर विक्षिप्त हो जाता है और लाचार होकर मर जाने की इच्छा करने लगता है॥ २-७॥

शुक्रमेहस्योपद्रवाः—

वह्नेर्मान्द्यं मूत्रवर्चोऽवरोधो दृष्टेर्ह्रासो नीलिमाऽल्पोऽप्यजीर्णम्।
चातीसारो घूर्णनं मस्तकस्य मेहे शुक्रस्योपसर्गा इमे स्युः॥ ८॥

अग्नि की मन्दता, मूत्र तथा मल का अवरोध, दर्शनशक्ति का ह्रास, आँखों में थोड़ी नीलिमा, अजीर्ण, अतीसार, सिर घूमना ये सब शुक्रमेह के उपद्रव हैं॥ ८॥

---

१. Spermatorrhoea.

विमर्श—शुक्रमेह का वर्णन उत्तरार्ध पृष्ठ १० और १३ पर भी देखें।

अथ भृशोष्णवातनिदानम्[1]

अस्य परिचयः—

मूत्राध्वना यत्र विनिर्गमः स्यात् पूयस्य पुंसु प्रमदाजनेषु।
योन्यध्वना ह्येष भृशोष्णवातः संसर्गजः पूययुतश्च मेहः॥ १॥

पुरुषों में मूत्रेन्द्रिय और स्त्रियों में योनिमार्ग से यदि पूय निकलता हो तो उसे भृशोष्णवात और औपसर्गिक पूयमेह कहते हैं॥ १॥

औपसर्गिकमेहाख्यो गदो यः स भिषग्वरैः। व्रणमेहः पूयमेहश्चागन्तुमेह उच्यते॥ २॥

औपसर्गिक मेह नामक जो रोग वैद्यवरों ने कहा है उसी को व्रणमेह, पूयमेह, आगन्तुकमेह भी कहते हैं॥ २॥

संप्राप्तिः—

रजस्वलायां बहुभुक्तवत्यां तथाऽऽर्तयोनौ मदनातुरो यः।
प्रयातु मोहाद् यदि कोऽपि तर्हि ध्रुवं गदं दारुणमेतमेतु॥ ३॥
या मूत्रनाड्यन्तरसंस्थिता त्वक् श्लेष्मावहा सा व्रणिता सती तु।
क्लेदं गदेऽत्राहरति प्रकामं ततो भिषग्भिर्व्रणमेह उक्तः॥ ४॥

रजस्वला, अधिक भोजन किये हुई एवं रुग्ण योनि वाली स्त्रियों में कामातुर होकर यदि कोई पुरुष मोहवश गमन करता है तो उसे यह दारुण रोग हो जाता है। मूत्रनाडी की श्लैष्मिक कला व्रणयुक्त हो जाती है उससे इस रोग में अत्यन्त क्लेद बना रहता है। इसीसे यह व्रणमेह कहा जाता है॥ ३-४॥

कीटाणवो युगलबिन्दुनिभा निदानं त्वस्यामयस्य गदितं गदलक्ष्मविद्भिः।
स्यान्मैथुनेन खलु संक्रमणं सदैतद्रोगार्दितप्रमदया सह पूरुषेषु॥ ५॥
तथा जनन्या गदियोनिमार्गादुत्पद्यमानेषु शिशुष्ववश्यम्।
विलोक्यते संक्रमतोऽक्षिपाको भृशोष्णवातस्य च लोकमध्ये॥ ६॥

इस रोग के कारण दो बिन्दुओं के सदृश आकार वाले कीटाणु (Gonocoocus) हैं। रोग से युक्त स्त्री के साथ मैथुन करने से पुरुषों में (या पुरुषों से स्त्री में) इस रोग का संक्रमण होता है। रोगयुक्त माता के योनिमार्ग से उत्पन्न शिशुओं में (प्रसवकाल में) इसके संक्रमण से नेत्रपाक दिखाई पड़ता है॥ ५-६॥

तस्य लक्षणम्—

प्रायः स्त्रीसङ्गदिष्टं मुनिमितरजनीकाल आरभ्य रोगो
जायेतायं कदाचिद् विपुलतररुजाव्यञ्जकः पूरुषेषु।
वारं वारं ध्वजस्योत्थितिरपि महती शिश्नमुण्डे च कण्डूः-
क्लिश्चासह्या भृशार्त्तिर्भवति हि सततं मूत्रकाले गदेऽस्मिन्॥ ७॥

स्त्रीसङ्ग से ७ दिन के बाद यह रोग आरम्भ होता है। इस रोग से शिश्न में अत्यन्त पीड़ा होती है। बारंबार शिश्न का उत्थान होता रहता है। शिश्न के मुण्ड भाग में कड़ी खुजली उत्पन्न हो जाती है और मूत्र करने के समय असह्य पीड़ा होती है॥ ७॥

प्रदाहो रुजा मूत्रमार्गेऽपि पूयागमः शिश्नमुण्डे च शोथः किल स्यात्।
कटिश्रोणिदेशोत्थिता चापि पीडा ज्वरस्यागमो मूत्रमार्गस्थितायाम्॥ ८॥

---

१. Gonorrhoea इस रोग का वर्णन उत्तरार्ध पृष्ठ १४६ में भी देखें।

कलायां च शोथो ध्रुवं श्लेष्मलायामथो मूत्रकृच्छ्रश्च रक्तस्य मेहः ।
तथा मूत्ररोधो यदास्याग्रगत्वं ततः पौरुषग्रन्थिमध्येऽपि शोथः ॥ ९ ॥
तथैवाशये रेतसो ग्रन्थिभागे यदोपद्रवैरेभिरासेवितः स्यात् ।
जनः काऽप्यवस्था तदा तस्य दुःखप्रदाऽऽविर्भवेन्नो भवेद्रोगशान्तिः ॥ १० ॥
अथो सा कदाचित्कथं चिद् यदि स्यात् तदा सौत्रिकैस्तन्तुभिर्मूत्रमार्गः ।
प्रजायेत संकीर्ण आश्वेव तस्मात् प्रदाहादिभिर्दुःखितश्चापि रोगी ॥ ११ ॥
ततो जीवनं नारकौपम्यमेव स्वकीयं स जानाति तद्दुःखतप्तः ।
अतः सद्य एवामयस्यास्य वैद्यैः सदाऽरम्भकाले चिकित्सा विधेया ॥ १२ ॥

इसमें मूत्रमार्ग में प्रदाह, पीड़ा, पूयस्राव, शिश्नमुण्ड में शोथ, कटि तथा श्रोणिप्रदेश में पीड़ा, ज्वर, मूत्रमार्ग में स्थित श्लेष्मलकला में शोथ और क्षत होने से मूत्रकृच्छ्र, रक्तमेह और मूत्रावरोध होते हैं। रोग आगे बढ़ने पर पौरुषग्रन्थि में शोथ तथा शुक्राशय और शुक्रग्रन्थियाँ, अण्डकोष भी शोथयुक्त हो जाने से रोगी की दुःखदायिनी अवस्था हो जाती है। रोग की शान्ति नहीं होती यदि कदाचित् किसी भाँति कुछ शान्ति हो जाती भी है तो सौत्रिक तन्तुओं के कारण मूत्रमार्ग शीघ्र संकीर्ण हो जाता है जिससे प्रदाहादिकसे रोगी अत्यन्त दुःखित होकर अपने जीवन को तुच्छ समझने लगता है। इसलिये वैद्यों को सदा इस रोग की आरम्भावस्था में ही चिकित्सा प्रारम्भ कर देनी चाहिये ॥ ८-१२ ॥

डिम्बप्रणाल्यां परिविस्तृतासु कलासु योषित्सु हि योनिमार्गे ।
गर्भाशये जायत एष रोगो भिषग्वराणामिह निर्णयोऽयम् ॥ १३ ॥

स्त्रियों को यह रोग योनिमार्ग, गर्भाशय, डिम्बप्रणाली और परिविस्तृत कला में उत्पन्न होता है, ऐसा वैद्यों का निर्णय है ॥ १३ ॥

उपद्रवाः—

शुक्रग्रन्थिष्वाशये रेतसोऽथो शोथोऽवश्यं पौरुषग्रन्थिमध्ये ।
मूत्रस्यालं पूर्णता मूत्रधाम्नि प्रादुर्भावो विद्रधीनां विशेषात् ॥ १४ ॥
मूत्राध्वानं सर्वतोऽथ प्रभिन्नैस्तैरुत्पत्तिश्चोग्रशोथस्य तत्र ।
किंवा नाडीसंज्ञकस्य व्रणस्योद्भूतिर्भूयो दुःखदस्यापि नूनम् ॥ १५ ॥
भृशोष्णवाते भृशदुःसहे सदा गदेऽगदङ्कारवरैरुपद्रवाः ।
उदीरिता एत उदारबुद्धिभिर्द्रुतं चिकित्सा अपि यत्नपूर्वकम् ॥ १६ ॥

शुक्रग्रन्थि, शुक्राशय तथा पौरुषग्रन्थि में शोथ, (मूत्रमार्ग में अवरोध के कारण) मूत्राशय में मूत्र का भरा रहना, मूत्रमार्ग के चारों ओर विद्रधियों की उत्पत्ति, विद्रधि के फट जाने पर उग्र शोथ अथवा अत्यन्त दुःखप्रद नाडीव्रण की उत्पत्ति ये सब उपद्रव दुःखप्रद भृशोष्णवात रोग में होते हैं। अतः शीघ्र ही इनकी चिकित्सा यत्नपूर्वक करनी चाहिये ॥ १४-१६ ॥

विमर्श—प्राचीन आचार्यों ने अवस्था भेद के लक्षणानुसार इस रोग का समावेश रक्तमेह, मज्जमेह या हस्तिमेह (उत्त. पृ. १५ और १६) तथा उष्णवात (पूर्वार्धं पृष्ठ ४९५) में करते हैं।

अथ शुक्रदोषनिदानम्

तत्रादौ शुक्रपरिचयः—

यतो व्यवायेषु विशेषहर्षनिमित्ततो बीजमिदं प्रजायते ।
ततो ध्रुवं पौरुषशुक्रमेतद्वदन्ति वैद्या गदतत्त्ववेदिनः ॥ १ ॥
शृणूच्यते तद्विषयेऽधुना मया यथा ह्यकालोदककीटवह्निभिः ।
प्रदूषितं रोहति नैव बीजं तथा नृणां शुक्रमपि प्रदुष्टम् ॥ २ ॥

मैथुन में अधिक प्रहर्ष होने से जो गर्भस्थापक शुक्र उत्पन्न होता है उसे 'पौरुष शुक्र' कहते हैं। जैसे जल, जलकीट तथा अग्नि से दूषित 'बीज' नहीं जमता, वैसे ही मनुष्यों का 'शुक्र' भी दूषित होकर उत्पादक शक्ति से शून्य हो जाता है ॥ १-२ ॥

शुक्रदोषस्य निदानपूर्विका संप्राप्तिः—

व्यायामतोऽतीव नितान्तमैथुनात् सदैव चासात्म्यपदार्थसेवनात्।
अकालमध्येऽप्यधियोनि मैथुनं प्रकुर्वतां वा त्यजतां रतिक्रियाम् ॥ ३ ॥
अतीव रूक्षं लवणं तथाऽम्लमुष्णं कषायं बहुशश्च तिक्तम्।
पदार्थजातं च समश्नतां नृणां निषेवणाच्चाप्यरसज्ञयोषिताम् ॥ ४ ॥
तथा च शुक्रस्रवणाज्जरातोऽथवाऽतिशोकादपि चिन्तनाद् भृशम्।
किंवाऽग्निदाहादथ शस्त्रघातात् क्षाराभिपाताच्च भयाद्विशेषात् ॥ ५ ॥
क्रोधादविश्वासत एव चातीसारात्तथा व्याधिसमुत्थकार्श्यात्।
वेगावरोधादधिकक्षताद्वा संदूषणाद् धातुगणस्य चापि ॥ ६ ॥
पृथक्पृथग्वा मिलितास्तु दोषा रेतोवहाः प्राप्य सिराः प्रदुष्टाः।
द्रुतं च शुक्रं ननु दूषयेयुर्ब्रवीमि तद्दुष्टिमथो विभागशः ॥ ७ ॥

अत्यन्त व्यायाम, अधिक मैथुन, निरन्तर असात्म्य पदार्थों का सेवन, अकाल मैथुन, मैथुन का पूर्ण त्याग, अत्यन्त रूक्ष, लवण, अम्ल, उष्ण, कषाय, तिक्त पदार्थों का अधिक सेवन, कामशास्त्र से अनभिज्ञ स्त्रियों के साथ संभोग, अति शुक्रस्राव, वृद्धावस्था, अत्यन्त शोक तथा चिन्ता, अग्नि से जल जाना, शस्त्र का आघात, क्षार से जल जाना, विशेष भय, क्रोध, अविश्वास, अतिसार, व्याधिजन्य कृशता, मल-मूत्रादि का वेगावरोध, अधिक क्षत, दूषित धातु इत्यादि कारणों से पृथक्-पृथक् वा मिलित वातादिक दोष पुरुषों के शुक्रवह सिराओं को प्राप्त होकर उन्हें भी दूषित कर शुक्र को भी दूषित कर देते हैं ॥ ३-७ ॥

तत्रादौ शुक्रस्याष्टौ दोषाः—

यत्फेनिलं तनु च रूक्षमतीव वाऽन्यधातूपसृष्टमवसाद्यपि पूतिगन्धि।
स्यात् पिच्छिलं प्रकृतितोऽपि विवर्णमद्धा तद् दुष्टशुक्रमिह वैद्यवरा वदेयुः ॥८॥

जो शुक्र फेनयुक्त, पतला, अत्यन्त रूक्ष, अन्य धातुओं से उपसृष्ट, अवसादयुक्त, पूतिगन्ध वाला, पिच्छिल और विवर्णता इन ८ दोषों से युक्त होता है उसे 'दुष्ट शुक्र' कहते हैं ॥ ८ ॥

वातदुष्टशुक्रलक्षणम्—

यत्फेनिलं तनु च रूक्षमथातिकृच्छ्रेणाल्पं स्रवेत्तदनिलेन विदूषितं स्यात्।
एवंविधं तु नहि शुक्रमुशन्ति वैद्या गर्भाय जातु चन योग्यमवश्यमेव ॥ ९ ॥

जो शुक्र फेनिल, पतला, रूक्ष और अत्यन्त कष्ट के साथ थोड़ा-थोड़ा स्रवित होनेवाला होता है, वह वात से दूषित होता है। वह कभी भी गर्भ स्थिति के लिये योग्य नहीं होता ॥ ९ ॥

पित्तदुष्टशुक्रलक्षणम्—

शुक्रं भवेन्नीलमथापि पीतमत्युष्णमद्धा ननु पूतिगन्धि।
स्रवेच्च लिङ्गं प्रदहत्तु यत्तत् पित्तेन संदूषितमेव बोध्यम् ॥ १० ॥

जो शुक्र नील अथवा पीतवर्ण का, अत्यन्त उष्ण, पूतिगन्धयुक्त और स्राव के समय लिङ्ग में दाह पैदा करने वाला होता है उसे पित्त से दूषित समझना चाहिये ॥ १० ॥

कफदुष्टशुक्रलक्षणम्—

भवेत् पिच्छिलं चाधिकं बद्धमार्गं कफेनैव संदूषितं शुक्रमत्र।

ब्रुवन्तीत्थमायुर्विदामग्रगण्या वरेण्याश्च ये शुक्रदोषज्ञमध्ये ॥ ११ ॥

जो शुक्र अधिक पिच्छिल तथा बद्धमार्ग (ग्रथित) होता है उसे कफ से दूषित समझना चाहिये॥

रक्तान्वितशुक्रलक्षणम्—

अतीवाङ्गनासङ्गमाद्वाऽभिघातात् क्षताच्चापि संयुक्तमस्रेण नृणाम् ।
अपि प्रायशः संप्रवर्त्तेत शुक्रं तथा वेगसन्धारणान्मारुतेन ॥
स्वमार्गाऽवरुद्धं च कृच्छ्रेण रेतः सदा ग्रन्थियुक्तं स्रवेच्चावसादि ॥ १२ ॥

अत्यन्त स्त्री-संभोग करने से तथा अभिघात या क्षत होने से एवं वेगावरोध करने से प्रकुपित वायु द्वारा अपने मार्ग में रुका रह कर बड़ी कठिनाई से निकलने वाला ग्रन्थियुक्त एवं अवसाद उत्पन्न करने वाला रक्त से युक्त शुक्र निकलता है ॥ १२ ॥

शुद्धशुक्रलक्षणम्—

घनं स्निग्धमद्धाऽथ माधुर्ययुक्तं तथा पिच्छिलं चाविदाहीह शुक्लम् ।
सदा स्फाटिकं वर्णमाप्तं तु शुक्रं विशुद्धं विशेषेण बोध्यं सुवैद्यैः ॥ १३ ॥

घन, स्निग्ध, माधुर्ययुक्त, पिच्छिल तथा विदाह न करने वाला शुक्ल वर्ण का स्फटिक के समान जो शुक्र होता है उसे विशुद्ध समझना चाहिए ॥ १३ ॥

अथ क्लैब्यनिदानम्

तत्रादौ क्लैब्यप्रकाराः—

बीजोपघातात्तदनुध्वजोपघाताज्जरातोऽपि च शुक्रसंक्षयात् ।
इत्थं प्रजायेत चतुर्विधं हि क्लैब्यं पुराणैर्ऋषिभिः प्रदिष्टम् ॥ १ ॥

बीजोपघात, ध्वजोपघात, जरा और शुक्रक्षय इन ४ कारणों से उत्पन्न होने से नपुंसकता ४ प्रकार की होती है। ऐसा प्राचीन ऋषियों ने कहा है ॥ १ ॥

क्लैब्यस्य सामान्यलक्षणम्—

यः स्यादशक्तः सुरते मनुष्यः स क्लीब उक्तः किल वैद्यवृन्दैः ।
क्लैब्यं तु तद्भाव इहोपदिष्टं तल्लक्ष्म सामान्यमथो ब्रवीमि ॥ २ ॥
न यात्यधीनां प्रमदामपि स्वकामुपस्थशैथिल्यनिमित्ततः स्वयम् ।
अथो कदाचिद् यदि याति कुत्रचित् श्वासार्त्तिमान् स्विन्नतनुस्तदानीम् ॥ ३ ॥
संकल्पवैफल्ययुतोऽपि मोघ-संचेष्टितः संश्लथलिङ्गवीर्यः ।
तथा च निर्बीजतया समन्वितो भवत्यवश्यं प्रमदासमीपे ॥ ४ ॥

जो मनुष्य मैथुन करने में असमर्थ हो उसे नपुंसक और उसके भाव को 'क्लैब्य' (नपुंसकता) कहते हैं। उसके सामान्य लक्षण निम्न होते हैं—अपने अधीन रहने वाली स्त्री के पास भी संभोगार्थ नहीं जाता, यदि कभी स्त्री के पास जाता भी है तो उसके समीप श्वास से पीड़ित, पसीना से तर पड़ा रहता है और संकल्प की विफलता से युक्त, निष्फल चेष्टा वाला, शिथिल लिङ्ग तथा निर्बीज बना रहता है ॥ २-४ ॥

अथ बीजोपघातजक्लैब्यमाह—

शीतं रूक्षं चाऽल्पमन्नं विरुद्धं संक्लिष्टं चाजीर्णकालेऽपि भुक्तम् ।
शोकश्चिन्ताऽर्थादिजाताऽपि भीतिस्त्रासो भूरिस्त्रीप्रसङ्गः श्रमश्च ॥ ५ ॥
चाविश्वासोऽथाभिचारो रसादेः संक्षीणत्वं -पञ्चकर्मापचारः ।
वातादीनां चापि वैषम्यमल्पाहारः स्त्रीणां चारसज्ञत्वमेव ॥ ६ ॥
प्रायेणैभ्यो नुर्हि बीजोपघातो जायेतास्मिन् कारणेभ्यो विशेषात् ।
यस्मात्स स्यात्कामिनीष्वल्पहर्षश्चाल्पप्राणो दुर्बलः पाण्डुवर्णः ॥ ७ ॥

हृत्कामलातमकपाण्डुगदश्रमाख्यैः शूलातिसारवमनज्वरकाससंज्ञैः ।
रोगैर्निपीडिततनुश्च भवेन्मनुष्यो बीजोपघातजनपुंसकताऽभिजुष्टः ॥ ८ ॥

शीत, रूक्ष, अल्प, कठिन तथा विरुद्ध अन्नका सेवन एवं अजीर्ण में भोजन करने से तथा शोक, अर्थादिजन्य चिन्ता, शत्रुजन्यादि भय, त्रास (मिथ्या भय), अत्यन्त स्त्रीप्रसङ्ग, श्रम, अविश्वास, अभिचार, रसादि की क्षीणता, पञ्चकर्म का ठीक रीति से प्रयोग न होना, वातादिक की विषमता, अल्प भोजन और स्त्रीविषयक रसिकता का अभाव इन सब कारणों से विशेषतः मनुष्यों को बीजोपघात होता है। इससे वह स्त्रियों में अल्प हर्ष वाला तथा अल्पप्राण वाला, दुर्बल, पाण्डुवर्ण, हृद्रोग, कामला, तमकश्वास, पाण्डुरोग, श्रम, शूल, अतीसार, वमन, ज्वर तथा कास आदि रोगों से पीड़ित हो जाता है ॥ ५-८ ॥

ध्वजभङ्गजक्लैब्यस्य कारणमाह—

क्लैब्यं पुनर्ननु पुरातनवैद्यजातैर्गीतं शृणु त्वमधुना ध्वजभङ्गजातम् ।
अत्यम्बुपानविषमाशनपिष्टभोज्या लध्वन्नभोजनपरस्य नरस्य नूनम् ॥ ९ ॥
क्षारं तथा लवणमम्लमथो विरुद्धं द्रव्यं त्वनूपभवमांसमपि प्रकामम् ।
दुग्धं दधि प्रतिदिनं त्वदतोऽतिलौल्याच्चासात्म्यभोजिन इहातिकृशस्य रोगैः ॥
कन्यास्वयोनिषु पुरातनरोगिणीषूत्सृष्टासु दीर्घसमयात् पुरुषैः प्रसङ्गे ।
दुर्गन्धितास्वपि च पुष्पवतीषु दुष्टयोनिष्वनङ्गवशतो हि परिस्रुतासु ॥ ११ ॥
एतादृशीषु युवतीषु चतुष्पदासु प्रायः परं विदधतः सुरतं प्रमोहात् ।
लिङ्गस्य शस्त्रनखदन्तकृतक्षताच्चाघातादधावनत इध्मप्रहारतोऽपि ॥ १२ ॥
निष्पेषणादपि परिच्युतरेतसः संरोधाच्च शूकपरिशीलनतश्च मेढ्रे ।
संजायतेऽधिपुरुषं ध्वजभङ्गनामा क्लीबत्वसंजननकारणमामयो वै ॥ १३ ॥

अधिक जलपान, विषम भोजन, पीठी के बने भोज्य पदार्थ, गुरु अन्न, क्षार, लवण, अम्ल, विरुद्ध द्रव्य, आनूप जीवों का मांस तथा दुग्ध, दधि आदि प्रतिदिन अधिक रूप से सेवन करने तथा रसना-लोलुप होने से असात्म्य (अहितकर) पदार्थों के भोजन करने से रोगों से अत्यन्त कृश शरीर होने से एवं कन्या, अयोनि (गुदा आदि), रोगिणी, दीर्घकाल से पुरुषों के द्वारा नहीं संभोग की हुई, दुर्गन्धित, रजस्वला, परिस्रुता (स्रावयुक्ता) स्त्री की दुष्ट योनि में तथा पशु योनि में कामवश होकर संभोग करने से तथा शस्त्र, नख एवं दन्तक्षत. आघात, शिश्न की गन्दगी, लकड़ी का प्रहार, निष्पेषण (मीजने), स्खलित होते हुए वीर्य का स्तम्भन (दबा कर रोकने) और लिङ्ग बढ़ाने के लिए शूक का प्रयोग करने से पुरुषों को लिङ्ग में ध्वजभङ्ग नामक रोग हो जाता है ॥ ९-१३ ॥

वातजध्वजभङ्गमाह—

मेढ्रेऽतिरुजा स्याद् ध्वजभङ्गे रागः श्वयथुर्वातसमुत्थे ।

लिङ्ग में अत्यन्त पीड़ा, लालिमा और शोथ ये सब लक्षण वातज ध्वजभङ्ग के होते हैं।

पित्तजध्वजभङ्गमाह—

स्फोटाः प्रखराः स्युर्ननु लिङ्गे पाकः परमः पित्तसमुत्थे ॥ १४ ॥

प्रखर रूप से स्फोट (फोड़े) और अत्यन्त पाक यह पित्तज ध्वजभङ्ग के लक्षण हैं ॥ १४ ॥

कफध्वजभङ्गमाह—

लिङ्गोपरि मांसस्य समृद्धिः क्षिप्रं व्रणजन्माऽमितवृद्धिः ।
स्रावश्च पुलाकोदककल्पः श्यावारुणभः स्याद् यदनल्पः ॥ १५ ॥
वलयीकुरुते स्फीतो देशः शिश्ने कठिनः स्यात् सविशेषः ।

कफजे ध्वजभङ्गे किल लक्षणमेतद्विद्धि निदानविचक्षण ! ॥ १६ ॥

लिङ्ग के ऊपर मांस का अधिक बढ़ जाना और शीघ्र ही व्रण की उत्पत्ति और उसकी अधिक वृद्धि तथा उससे पुलाक जल के समान श्याव और अरुण वर्ण का स्राव होना, लिङ्ग का वर्तुलाकार होना तथा उसका फैलाव कठिन होना, ये सब लक्षण कफज ध्वजभङ्ग के हैं ॥ १५-१६ ॥

रक्तजध्वजभङ्गमाह—

छर्दिज्वरमूर्च्छाभ्रमतृष्णाः स्युरिमे रोगाः पुंसि सतृष्णाः ।
लोहितमाविलनीलसवर्णं वहति हि कृष्णं रक्तमुदीर्णम् ॥ १७ ॥
शिश्नव्रणतो यस्य जनस्य ध्वजभङ्गो रक्तज इह तस्य ।
इति विज्ञेयं साधु सदैव श्रेष्ठेनायुर्वेदविदैव ॥ १८ ॥

वमन, ज्वर, मूर्च्छा, भ्रम और तृष्णा का विशेष रूप से होना, लिङ्ग के व्रणों द्वारा लाल आविल (गंदला), नील तथा कृष्ण वर्ण का रक्त बहना। ये सब लक्षण यदि हों तो रक्तज ध्वजभङ्ग समझना चाहिये ॥ १७-१८ ॥

सन्निपातजध्वजभङ्गमाह—

अग्निदग्धसदृशोऽपि च दाहः सरुजश्चेत्स्यात्कृतसंनाहः ।
वस्तौ सीवन्यामधिवृषणं वङ्क्षणमध्ये स्वीकृतमरणम् ॥ १९ ॥
पाण्डुर्वा पिच्छिल आस्रावः कादाचित्कोऽप्येवं भावः ।
मन्दः स्तिमितः श्वयथुर्नूनं स्रावः स्यादिह संततमूनम् ॥ २० ॥
चिरकालादपि पाकं गच्छेत् संत्वरया वा मुक्तिं यच्छेत् ।
जायेरन् क्रिमयोऽप्यधिलिङ्गं क्लेदि पूतिगन्धीति च लिङ्गम् ॥ २१ ॥
मणिर्विशीर्येतापि च यस्य मेढ्रं मुष्कौ वाऽथ विशिष्य ।
संनिपातजनितध्वजभङ्गं विद्यात्तस्योदितमध्यङ्गम् ॥ २२ ॥
कथितं क्लैब्यं ध्वजभङ्गोत्थं चरकप्रोक्तमिदं हि मयेत्थम् ।
एतं ब्रुवते साङ्गोपाङ्गं केचित् पञ्चविधं ध्वजभङ्गम् ॥ २३ ॥

यदि बस्ति, सीवनी, अण्डकोश तथा वङ्क्षण के अन्दर पीडायुक्त ज्वर के साथ अग्नि से जले की भाँति दाह हो, कभी-कभी पाण्डु वर्ण का तथा पिच्छिल स्राव हो, मन्द एवं निश्चल शोथ हो तथा थोड़ा २ स्राव हो, देर से पाक होकर शीघ्र ही शान्त हो जाता हो, लिङ्ग में क्रिमि उत्पन्न हों और वह क्लेद तथा मुर्दे के समान पूति गन्ध युक्त हो और लिङ्ग का मुण्ड विशीर्ण हो तथा अण्डकोश भी कभी २ फट जाता हो तो संनिपातज ध्वजभङ्ग समझना चाहिये ॥ १९-२३ ॥

जरासम्भवक्लैब्यमाह—

क्लैब्यं जराजातमथो ब्रवीमि त्वं साम्प्रतं तच्छृणु सावधानः ।
जघन्यमध्यप्रवरप्रभेदादुक्तं मुनीन्द्रैस्त्रिविधं वयोऽत्र ॥ २४ ॥
प्रायस्तत्र प्रवरवयसां मानुषाणामजस्रं शुक्रं क्षीणं स्वत इह भवत्यात्मना निर्विकल्पम् ।
तस्मिन् काले यदि न मनुजा वृष्यमासेवमानाः स्युस्तेषान्तु ध्रुवमनुदिनं सङ्क्षयाद्वा रसादेः ॥
वीर्यस्याथेन्द्रियाणामपि तदनु बलस्य क्रमेण क्षयाद्वा
किञ्चायुः क्षीणतातोऽनशनविधिवशात्क्लान्तितोऽपि श्रमाच्च ।
जायेत क्लीबताऽसावधिधरणि जराऽवाप्तजन्मा जनानां
तेनातिक्षीणधातुर्भृशमबलतनुर्विह्वलो वर्णहीनः ।
दीनः सन् पूरुषः स द्रुततरमुदितं वृद्धतातो गदं तु
प्राप्य प्रायो रमण्या सह रमणविधावक्षमः स्यादवश्यम् ॥ २६ ॥

मुनियों ने मनुष्यों की जघन्य, मध्य, प्रवर भेद से तीन प्रकार की अवस्था कही है। प्रायः वृद्धावस्था में मनुष्यों का शुक्र स्वभावतः क्षीण हो जाता है, उस समय यदि मनुष्य वृष्य पदार्थों का सेवन नहीं करता है तो निश्चय प्रतिदिन रसादि का क्षय होने पर यथाक्रम वीर्य, इन्द्रियों की शक्ति और बलका क्षय होने से एवं आयु की क्षीणता, अनशन, क्लान्ति तथा श्रम से जराजन्य क्लीबता उत्पन्न होती है और धातु अति क्षीण हो जाती है तथा शरीर में बल नहीं रह जाता। ऐसा पुरुष विह्वल, वर्णहीन तथा दीन होता हुआ अत्यन्त शीघ्र ही वृद्धता से उत्पन्न रोग को पाकर रमणियों के साथ रमण करने में असमर्थ हो जाता है ॥ २४-२६ ॥

शुक्रक्षयजक्लैब्यमाह—

क्लैब्यं संकथ्यमानं त्वमिह शृणु तुरीयं च शुक्रक्षयोत्थं
चिन्ताऽऽधिक्याच्च शोकादपि च बहुभयात्क्रोधतो वा मनुष्यः ॥ २७ ॥
उद्वेगादीर्ष्यया वा युवतिजनमुपेयात्समुत्कण्ठया चेत्
किं वा कार्श्यं श्रितः सन्ननुदिनममितं रूक्षमन्नादिजातम् ।
भैषज्यं वा भजेदप्यशनविरहितो दुर्बलः स्यात् प्रकृत्या
किञ्चासात्म्यान्नपानं समधिकरसनाऽधीनतातः सदाऽद्यात् ॥ २८ ॥
मुख्यो धातू रसाख्यः स्थित इह हृदये यस्तदीये स आशु
क्षीयेताथो मनुष्यः स्वयमपि बहुशः क्षीयमाणो भवेद्धि ।
शुक्रान्ता लोहिताद्यास्तदनु ननु परं धातवस्तु क्रमेण
क्षीयेरंस्तस्य जन्तोर्मतमधिकवरं तत्र शुक्रस्य धाम ॥ २९ ॥

अधिक चिन्ता, शोक, अत्यन्त भय या क्रोध, उद्वेग, ईर्ष्या या उत्कण्ठावश हो कर जो मनुष्य युवतियों के साथ सम्भोग करता है तथा कृश होते हुये भी प्रतिदिन रूक्ष अन्न-पान या ओषधि भक्षण करता है या स्वभावतः दुर्बल होते हुये भी भोजन नहीं करता है और रसनेन्द्रिय के अधीन होने से असात्म्य अन्न-पान का सेवन करता है, उसका हृदय में स्थित रसरूप प्रधान धातु शीघ्र क्षीण होने लगता है जिससे वह भी स्वयं क्षीण हो जाता है। उसके बाद रक्त से लेकर शुक्र पर्यन्त जितनी धातुयें हैं सभी क्रम से क्षीण हो जाती हैं ॥ २७-२९ ॥

यः सेवेत ग्राम्यधर्मं प्रहर्षाच्चित्तस्यातीवाथवा स्त्रीषु नित्यम् ।
क्षीयेताथो तस्य रेतोऽपि नूनं स प्राप्नोति क्षीणतां सर्वतोऽरम् ॥ ३० ॥
घोरं व्याधिं चान्ततो वाऽपि मृत्युं प्रायोऽवाप्नोत्येव शुक्रक्षयी सः ।
सार्द्धं हेत्वाद्येन शुक्रक्षयोत्थं क्लैब्यं कृत्स्नं प्रोक्तमित्थं चतुर्द्धा ॥ ३१ ॥

जो मनुष्य अत्यन्त प्रहर्षित चित्त होकर अधिक मैथुन किया करता है उसका शुक्र शीघ्र क्षीण हो जाता है और वह शुक्रक्षयजनित घोर व्याधि को प्राप्त करता हुआ अन्त में मृत्यु को भी प्राप्त कर लेता है ॥ ३०-३१ ॥

मतान्तरमाह—

क्षयोद्भवं च ध्वजभङ्गजातं क्लैब्यद्वयं चैतदसाध्यमेव ।
समामनन्तीति भिषग्जनेज्याः केचिन्निदानायनरीतिविज्ञाः ॥ ३२ ॥
उत्पाटनाद्धि वृषणस्य तथैव शेफः-संछेदतोऽधिगतजन्म नपुंसकत्वम् ।
चासाध्यमेव निगदन्ति निदानविज्ञाः पूर्णं कृतं प्रयतनं किल तत्र चोनम् ॥३३॥

कोई २ आचार्य क्षय तथा ध्वजभङ्गजात क्लीबता को असाध्य मानते हैं और कोई अण्डकोश के निकाल लेने और लिङ्ग के कटजाने से भी उत्पन्न नपुंसकता को असाध्य मानते हैं ॥ ३२-३३ ॥

बीजदोषाद्गर्भजक्लैब्यमाह—

मातापित्रोर्बीजदोषात्तथा चापुण्यैः कृत्यैः प्राक्तनैर्देहिनोऽस्य ।
गर्भस्थस्यावाप्य दोषा यदाऽरं नाडी रेतोवाहिनीः शोषयन्ती ॥ ३४ ॥
तस्माद्रेतः शुष्कतां तर्हि यातं जातं बालं पूर्णसर्वाङ्गयुक्तम् ॥
कन्यारूपेणाथवा पुत्ररूपे-णाशक्तं च स्वस्वकृत्ये प्रकुर्यात् ॥ ३५ ॥

जिस मनुष्य के दोष माता-पिता के बीज-दोष से तथा प्राक्तन पाप कर्मों के फल से गर्भावस्था में ही शुक्रवाहिनी नाडी को सुखा देते हैं उसका शुक्र शुष्कता को प्राप्त हो जाता है। इससे बालक अथवा कन्या रूप शिशु उत्पन्न होकर भी अपने-अपने कृत्यों के करने में अशक्त हो जाते हैं ॥

आसेक्यलक्षणमाह—

अत्यल्पवीर्यत्वत एव तातस्य क्लीब आसेक्यपदाभिधो हि ।
संजायते ना स निजध्वजोत्थानं प्राप्नुयात् प्राश्य किलान्यशुक्रम् ॥ ३६ ॥

पिता का वीर्य अत्यन्त अल्प होने से आसेक्य नामक नपुंसक बालक उत्पन्न होता है जो युवा होने पर अन्य मनुष्य या प्राणी के शुक्र को चाट करके ही अपने लिङ्ग की उत्थान-शक्ति को प्राप्त करता है ॥ ३६ ॥

सौगन्धिकलक्षणमाह—

जायेत यो ना यदि पूतियोना-वजस्रमाघ्राय स शेफसो वै ।
भगस्य वा गन्धमतिप्रहर्षं योषित्प्रसङ्गे प्रलभेत लोके ॥ ३७ ॥

जो पुरुष दुर्गन्धित योनि वाली स्त्री में उत्पन्न होता है वह सौगन्धिकसंज्ञक नपुंसक होता है। वह लिङ्ग वा भग की गन्ध को सूँघने पर ही मैथुन में उत्साह को प्राप्त करता है ॥ ३७ ॥

कुम्भीकलक्षणमाह—

यः स्वे गुदे मैथुनमन्यपुंसा विधाप्य पुंवत् प्रमदासु सर्वदा ।
यदि प्रवर्त्तेत तदा भिषग्भिर्ज्ञायेत कुम्भीकनपुंसकः सः ॥ ३८ ॥

जो अपनी गुदा में दूसरे पुरुष द्वारा प्रथम मैथुन करा कर ही स्त्रियों से मैथुन करने में समर्थ होता है वह कुम्भीकसंज्ञक नपुंसक कहलाता है ॥ ३८ ॥

ईर्ष्यकलक्षणमाह—

दृष्ट्वा व्यवायं यदि चान्यदीयं स्वयं भवेद् यः सुरते प्रवृत्तः ।
स ईर्ष्यकक्लीब इह प्रदिष्टो विशिष्टतः शिष्टतमैर्भिषग्भिः ॥ ३९ ॥

जो दूसरे को मैथुन करते देख कर ही स्वयं मैथुन करने में प्रवृत्त होता है वह ईर्ष्यकसंज्ञक नपुंसक कहलाता है ॥ ३९ ॥

षण्ढलक्षणमाह—

ऋतौ प्रवर्त्तेत यदाऽङ्गनावद् मोहात् स्त्रियां यः खलु तस्य नूनम् ।
स्त्रीचेष्टिताकारयुतस्तु षण्ढाभिधः प्रजायेत नपुंसकस्तदा ॥ ४० ॥
किंवाऽङ्गना काऽपि यदि प्रवर्त्तेतर्त्तौ रतौ पुंवदपीह पुंसि ।
ततः प्रजायेत सुता क्वचिच्चेत् पुंचेष्टिताकारयुता भवेत्सा ॥ ४१ ॥

जो पुरुष ऋतु काल में मोहवश स्त्री की भाँति स्वयं नीचे रह कर ऊपर से स्त्री द्वारा मैथुन क्रिया करवाता है उस समय जो पुत्र होता है वह देखने में स्त्री के समान चेष्टा तथा आकार वाला षण्ढसंज्ञक नपुंसक होता है उसी प्रकार उससे यदि कन्या की उत्पत्ति हो तो वह चेष्टा तथा आकार में पुरुष की भाँति होती है ॥ ४०-४१ ॥

द्विरेतःक्लीबमाह—

समांशभागादुपतप्तशुक्रात् सशोणिताद्यो नियतः प्रजातः।
क्लीबो द्विरेताः स तु संज्ञया स्यात् स्त्रीपुंसलिङ्गयाकृतिचेष्टिताभ्याम् ॥ ४२ ॥

रज और उपतप्त शुक्र यदि सम भाग में मिलित हो और उससे सन्तान उत्पन्न हो तो वह द्विरेतःसंज्ञक नपुंसक कहलाता है। उसके आकार तथा चेष्टा में स्त्री तथा पुरुष दोनों के मिश्रित लक्षण होते हैं ॥ ४२ ॥

पवनेन्द्रियत्वं लक्षयति—

वायुर्यदा गर्भगतस्य हन्याद्बालस्य शुक्राशयमत्र दैवात्।
तदा प्रकुर्यात्पवनेन्द्रियत्वं नपुंसकत्वप्रदमेव निश्चितम् ॥ ४३ ॥

जब गर्भगत बालक के शुक्राशय को दैवात् वायु नष्ट कर देता है तब नपुंसकता को देने वाली पवनेन्द्रियता हो जाती है अर्थात् शिश्नोत्थान होने पर भी उससे शुक्र का स्राव नहीं होता ॥४३॥

संस्कारवाहस्य लक्षणमाह—

यदा मारुतः कस्यचित् पूरुषस्य प्रदुष्टः परं घट्टनं च प्रकुर्वन्।
प्रदुष्येत्तु शुक्राशयद्वारमद्धा विदध्यात्तदा तं हि संस्कारवाहम् ॥ ४४ ॥

जब वायु दुष्ट हो कर किसी पुरुष के शुक्राशय द्वार को अधिक विघट्टित करता हुआ दूषित करता है तो उसे संस्कारवाह समझना चाहिये अर्थात् उसकी योग्य चिकित्सा करने पर नपुंसकता नष्ट हो सकती है ॥ ४४ ॥

मन्दवेगाल्पहर्षयोर्लक्षणमाह—

यदा मन्दबीजाल्पबीजौ तथा चाबलौ वाऽप्यहर्षौ भवेतां कदाचित्।
तदा क्लैब्ययुक्ताविमौ कारणं वै विकारद्वयस्येति विज्ञेयमत्र ॥ ४५ ॥

अवस्थाकृत मन्दवेग तथा अल्प हर्ष वाली नपुंसकता का कारण मन्दबीज तथा अल्पबीज है ॥ ४५ ॥

वक्रिलक्षणमाह—

यदा विदध्याज्जननी तु मैथुने निजाङ्गजातं विषमं कदाचित्।
स्याद्बीजदौर्बल्ययुतः पिता चेत् तदा भवेद्बालजनो हि वक्री ॥ ४६ ॥

जब मैथुन के समय स्त्री अपने अङ्गों को विषम रूप में रखती है और पुरुष दुर्बल बीज वाला होता है उनसे जो बालक उत्पन्न होता है वह वक्री होता है ॥ ४६ ॥

ईर्ष्यारतेर्लक्षणमाह—

यौ स्त्रीपुंसौ मैथुनं मन्दहर्षौ कुर्यातां चेदीर्ष्यया चाभिभूतौ।
तौ तु प्रायो वैद्यवृन्दैर्निमित्तं संकथ्येतेर्ष्यारतेरेव लोके ॥ ४७ ॥

जब स्त्री पुरुष मन्द हर्ष वाले होकर ईर्ष्या से युक्त होते हुये मैथुन में प्रवृत्त होते हैं और उस स्थिति में जो बालक होता है वह 'ईर्ष्यारतिसंज्ञक क्लीब' होता है ॥ ४७ ॥

वातिकषण्ढलक्षणम्—

वायोः पित्तस्यापि दोषाद् यदीयौ नष्टौ स्यातामण्डकोशौ कदाचिद्।
रोगाज्ञानावाप्तवैशिष्ट्यवैद्यैराख्यातोऽद्धा वातिकः षण्ढकः सः ॥ ४८ ॥

वायु तथा पित्त के दोष से जब दोनों 'अण्डकोष' कदाचित् नष्ट हो जाते हैं। तब उसे 'वातिकषण्ढ' रोग कहते हैं ॥ ४८ ॥

इत्थं विकृतिविकारा अष्टावेते नपुंसकाः कथिताः।
प्राक्तनदुष्कृतिजन्यास्ते विज्ञेया ध्रुवं विज्ञैः ॥ ४९ ॥

उक्त 'द्विरेतः क्लीब' आदि ८ प्रकार के क्लीबों को 'विकृतिविकार' कहते हैं और वे प्राक्तन पापों के फल से उत्पन्न होते हैं ॥ ४९ ॥

प्रकारान्तरेण क्लैब्यलक्षणानि

मानसक्लैब्यलक्षणम्—

यद् द्वेषपात्रप्रमदाप्रसङ्गात पुंसां प्रजायेत नपुंसकत्वम् ।
तन्मानसं नाम सदा सुवैद्यैराम्नातमद्धाऽऽकलनीयमत्र ॥ ५० ॥

द्वेषपात्र स्त्री के प्रसङ्ग से जो नपुंसकता होती है उसे 'मानसक्लैब्य' कहते हैं ॥ ५० ॥

पित्तजक्लैब्यलक्षणम्—

येऽम्लं कटूष्णमथवा लवणं सदैव द्रव्यं नरोऽपरिमितं खलु भक्षयन्ति ।
शुक्रक्षयो भवति पित्तत एव तेषां क्लैब्यं ततो निगदितं ननु पित्तज स्यात् ॥ ५१ ॥

जो पुरुष अम्ल, कटु, उष्ण अथवा लवण पदार्थों का अपरिमित रूप से सेवन करता है उसे पित्त के कुपित होने से शुक्रक्षय हो जाता है और उससे उत्पन्न क्लीबता को 'पित्तज क्लैब्य' कहते हैं॥

शुक्रक्षयजक्लैब्यलक्षणम्—

नो सेवित्वा वाजीकरणं नित्यं विदधति रमणीरमणम् ।
शुक्रक्षयजं क्लैब्यं तेषां भवति नराणामत्र समेषाम् ॥ ५२ ॥

जो पुरुष वाजीकरण को बिना सेवन किये हीं स्त्री के साथ रमण करता है उसे 'शुक्रक्षयज क्लैब्य' होता है ॥ ५२ ॥

मेढ्रोगजक्लैब्यलक्षणम्—

अतिशयकालव्यापिगदेन मेढ्मध्यसम्प्राप्तभवेन ।
क्लैब्यं जायत इह वै यस्य मेढ्रोगजं ज्ञेयं तस्य ॥ ५३ ॥

लिङ्गगत दीर्घकालव्यापी रोग होने से जो क्लीबता होती है उसे 'मेढ्रोगज क्लैब्य' कहते हैं ॥

उपघातजक्लैब्यलक्षणम्—

या सिरा भवति वीर्यवाहिनी लिङ्गनिम्नतलनित्यगेहिनी ।
छिन्नयाऽस्ति मनुजोऽन्वितस्तया तूपघातजनपुंसकाख्यया ॥ ५४ ॥

लिङ्ग के नीचे रहने वाली जो वीर्यवाहिनी सिरा होती है, उसके कट जाने से जो क्लैब्य होता है उसे 'उपघातज क्लैब्य' कहते हैं ॥ ५४ ॥

शुक्रस्तम्भजक्लैब्यलक्षणम्—

देहे यस्य स्यादतुल्यं बलं वै यस्य प्रायो ब्रह्मचर्यप्रसङ्गात् ।
प्राप्तक्षोभस्यापि चित्तस्य रोधात् क्लैब्यं शुक्रस्तम्भहेतूत्थमुक्तम् ॥ ५५ ॥

जिसके शरीर में पर्याप्त बल होता है उसको भी प्रायः ब्रह्मचर्य रखने से अर्थात् चित्त के चलायमान होने पर भी उसे रोक रखने से जो क्लैब्य होता है उसे 'शुक्रस्तम्भज क्लैब्य' कहते हैं ॥

सहजक्लैब्यलक्षणम्—

आजन्म स्याद् यत्तु नरस्य क्लैब्यं दुर्विधिवशतो यस्य ।
सहजं नाम च तन्निर्दिष्टं वैद्यवरैरिह तस्य विशिष्टम् ॥ ५६ ॥

जिसे दुर्दैववश आजन्म से क्लैब्य रहता है उसे 'सहज क्लैब्य' कहते हैं ॥ ५६ ॥

साध्यासाध्यत्वम्—

क्लैब्यमसाध्यं निगदितं सहजाख्यं तु यथैव ।
ज्ञातव्यं भिषजोपघातजमपि चात्र तथैव ॥ ५७ ॥

जिस प्रकार से सहज क्लैब्य असाध्य कहा गया है उसी प्रकार 'उपघातज क्लैब्य' भी असाध्य होता है ॥ ५७ ॥

अथोपदंशनिदानम्

तत्रोपदंशस्य परिचयः—

द्विधोपदंशो मृदुलोऽथ कर्कशः स्यातामुभौ वर्णितकारणैः पुरा।
डयूक्रे यदण्डाणुभिरुद्भवेन्मृदुस्त्रिपोणिमाख्यैः पलिडैश्च कर्कशः ॥ १ ॥
व्रणस्तु गुह्येन्द्रियगो मृदुर्मृदो युक्तो न लिङ्गैरपि सर्वदेहगैः।
व्रणः कठोरोऽथ भवेत्तु कर्कशे स्थानीयलिङ्गैरपि देहगैर्युतः ॥ २ ॥
मृदुर्भवेद्वर्णितपूर्वलिङ्गको विवक्ष्यतेऽग्रे कठिनस्य लक्षणम्।
संलक्षयेद्दोषकृतैस्तु चिह्नैस्तं वैद्यवर्योऽमुकदोषजुष्टम् ॥ ३ ॥
फिरङ्गाख्यदेशे यतोऽयङ्गदः स्याद् विशेषात्ततो भाषितो ज्ञैः फिरङ्गः।
असौ गन्धरोगः फिरङ्गो जनानां प्रजातः स्वदेशे फिरङ्ग्यङ्गसङ्गात् ॥ ४ ॥
द्विधा फिरङ्गः सहजोऽथ जग्तोत्तरस्तथाऽऽरम्भिक युग्द्वितीयकः।
आरम्भिके गुह्यगमेव वैकृतं द्वितीयके चाखिलदेहसम्भवम् ॥ ५ ॥
संक्रामति प्रायश एष पुंभिः स्त्रीतश्च तस्यां तत एव रोगः।
जायेत चापत्यजनेष्वतोऽसौ सुदारुणोऽद्धा कुलजः प्रकीर्तितः ॥ ६ ॥
व्रणाः प्रजायन्त इहाध्युपस्थं बहिःस्थलेऽथो रुधिरे गदाणवः।
प्रविश्य कुर्वन्ति च लक्ष्म नैकं सामान्यतो लक्षणमेतदूह्यम् ॥ ७ ॥

उपदंश रोग मृदु (Soft chancre) और कर्कश (Hard chancre) भेद से दो प्रकार का होता है। यह दोनों ही प्रकार पूर्ववर्णित (उत्त. पृ. १३९) कारणों से ही उत्पन्न होते हैं किन्तु मृदु का विशिष्ट उत्पादक कारण 'डयूक्रे' का दण्डाणु' (Ducrey's bacillus) और कठिन कारण 'ट्रिपोनिमा पैलिडम' (Treponema palidum) नामक जीवाणु होते हैं। मृदु उपदंश से गुप्त अङ्गों में जो व्रण उत्पन्न होता है वह मृदु होता है और सार्वदेहिक ज्वर आदि सार्वदेहिक लक्षण नहीं होते। कठिन प्रकार के उपदंश से उत्पन्न व्रण कठोर होता है और उसमें स्थानीय लक्षणों के साथ अनेक सार्वदेहिक लक्षण भी होते हैं। मृदु प्रकार के प्रायः वेही लक्षण होते हैं जो (प्राचीन आचार्यों द्वारा) पहिले (उत्त. पृ. १३९) कहे जा चुके हैं। अतः आगे केवल कर्कश प्रकार के लक्षणादि बताए जायंगे। दोषों के लक्षणों के अनुसार इस रोग में भी किस दोष का सम्बन्ध है यह समझ लेना चाहिए।

यह (कर्कश उपदंश) विशेषतः फिरङ्ग देश (यूरोप) में होता है अतः इसे फिरङ्ग रोग भी कहते हैं। यह संक्रामक रोग है और हमारे देश में भी इसका प्रसार फिरङ्गिनियों के साथ मैथुन करने से हुआ है। फिरङ्ग (जिसे अंग्रेजी में Syphilis 'सिफिलिस' कहते हैं) सहज और जातोत्तर भेद से दो प्रकार का होता है। पुनः प्रारम्भिक (Primary) और द्वितीयक (Secondary) भेद से दो प्रकार का होता है। आरम्भिक में गुह्याङ्ग (या अन्य उपसर्गाङ्गों) में ही विकार होता है किन्तु द्वितीयक में समस्त शरीर में विकार उत्पन्न हो जाते हैं। इसका संक्रमण पुरुष से स्त्री में एवं स्त्री से पुरुष में होता है और (रोगी माता-पिता से उत्पन्न) सन्तान में भी हो जाता है अतः इसे 'कुलज' रोग मानते हैं।

इस रोग में लिङ्गेन्द्रिय के ऊपर व्रण उत्पन्न होते हैं और इसके कीटाणु रक्त में प्रविष्ट होकर अनेक प्रकार के लक्षण उत्पन्न करते हैं, यह इस रोग का सामान्य लक्षण समझना चाहिये ॥१-७॥

तस्य कारणम्—

'स्पाइरो कीटा पैलिडा' कीटाः। लोहिते विष्टाश्चक्षुषाऽदृष्टाः ॥ ८ ॥
कारणं शस्यमामयस्यास्य। कर्षिणीतुल्या रोगिणे शल्याः ॥ ९ ॥

'ट्रिपोनिमा या स्पाइरोकीटा पैलिडा' (Treponema or Spirochaeta Pallia) नामक कीटाणु रुधिर में प्रविष्ट होकर रहते हैं जो आँख से नहीं दिखाई पड़ते किन्तु 'अणुवीक्षण' यन्त्र से दिखाई पड़ते हैं। ये देखने में चिमटी के आकार के और शल्य की भांति दुःखदायक होते हैं। ये ही इस रोग के उत्पादक मूल कारण हैं ॥ ८-९ ॥

अस्य संप्राप्तिस्तत्र च प्रथमावस्था

प्रायेण चाक्रमणमस्य तु मैथुनेन जायेत च क्वचन संक्रमणैरथान्यैः ॥ १० ॥
जीवाणवोऽस्य हि गदस्य सदाऽध्युपस्थं स्पर्शस्थले विदधति व्रणमत्युदग्रम्।
पूर्वं भवेत्त्वचि तु वर्तुलसूक्ष्मकोषाणां वृद्धिरत्यधिकतासहिता विशेषात् ॥ ११ ॥
संजायते तदनु सौत्रिकतन्तुजालसंवर्द्धनं प्रतिदिनं ननु रोगिमध्ये।
शूना कला भवति रक्तधराऽतिवृत्तकोषाणुवृद्धिसहिताऽविरतं नितान्तम् ॥ १२ ॥
हेतोरतो रुधिरधारिधराऽध्वसूक्ष्मत्वं जायते तदनु संनिधिवर्त्तिनोऽद्धा।
पूर्णाभिवृद्धिरुदिताऽपि भवेल्लसीकाग्रन्थिव्रजस्य किल तास्वणुकोषसंस्था ॥ १३ ॥

विशेषतया इस रोग का आक्रमण मैथुन द्वारा होता है। इस रोग के जीवाणु मूत्रेन्द्रिय के स्पर्श करने वाले स्थान में भयङ्कर व्रण उत्पन्न करते हैं। प्रथम त्वचा के ऊपर वर्तुलाकार सूक्ष्म कोषाणुओं (Cells) की वृद्धि होती है। उसके बाद रोगी में सौत्रिक तन्तु-समूह की वृद्धि प्रतिदिन होती है और रक्तधरा कला शोथयुक्त हो जाती है तथा उसमें गोल कोषाणुओं की अत्यधिक वृद्धि होती है जिससे रक्तवाहिनियों का मार्ग सँकरा हो जाता है। उसके बाद उसके समीप में रहने वाली लसीकाग्रन्थियों और कोषाणुओं की पूर्ण वृद्धि हो जाती है ॥ १०-१३ ॥

अस्य द्वितीयाऽवस्था—

सप्ताहषट्केन ततः प्रयान्ति ग्रन्थिभ्य एवास्य गदाणवोऽस्त्रम्।
प्रकुर्वते च त्वचि तत्र संगतास्ते श्लेष्मलायां हि ततः कलायाम् ॥ १४ ॥
स्फोटांस्तथाऽद्धा पिडिका अवश्यं ततः प्रवृद्धिं विपुलां प्रयाति।
समस्तकायस्थितिमल्लसीका-ग्रन्थिव्रजोऽस्मिन्नुपदंशरोगे ॥ १५ ॥
पश्चाद्भवेद् ग्रन्थिषु कोषतन्तुप्रवर्धनं पूर्ववदेव नूनम्।
गदस्य चेत्थं गदिता द्वितीयाऽवस्था भिषग्भिर्बहुशो विविच्य ॥ १६ ॥

६ सप्ताह में इस रोग के जीवाणु लसीका-ग्रन्थियों से रक्त में पहुँच कर त्वचा एवं श्लेष्मल कला में पिडिकायें या स्फोट उत्पन्न कर देते हैं। इस उपदंश रोग में शरीरस्थित सारी लसीका ग्रन्थियाँ अत्यधिक बढ़ जाती हैं। उसके बाद उन ग्रन्थियों में पूर्वोक्त प्रकार से कोषाणुओं और सौत्रिक तन्तुओं की भी वृद्धि होती है यह इस रोग की द्वितीयावस्था कहलाती है ॥ १४-१६ ॥

अस्य तृतीयाऽवस्था—

श्यानग्रन्थीनूर्ध्वमब्दद्वयात्तु प्रायः कुर्वन्त्यामयस्याणवोऽस्य।
रोगग्रस्तानां नृणां वै विशिष्टभागेष्वेवाथो शरीरस्य मध्ये ॥ १७ ॥
पश्चात्ते तु ग्रन्थयो मांसपेशीभिस्तत्रस्था आवृताः सन्त एव।
सूक्ष्माः स्थूलाः क्षुद्रवृत्तैश्च कोषैः किं वा कोषैः श्लैष्मिकैः सर्वथैव ॥ १८ ॥
नूनं सौत्रैस्तन्तुभिर्वा कृताः स्युः पश्चात्ते च ग्रन्थयो मध्यभागात्।
संयाताः स्युः शीर्णभावं विशेषात् पश्चाज्जायेत व्रणत्वं तु तत्र ॥ १९ ॥

तस्मिन् काले रक्तसंवाहिनाड्यो दाढर्यं प्राप्ता रज्जुवच्चातिमात्रम् ।
संदृश्यन्ते चातिसंकीर्णमार्गास्तत् संकीर्णत्वातिरेकाद् यदा तु ॥ २० ॥
तासां जायेताथ मस्तिष्कदेशे भूम्ना मार्गस्यावरुद्धत्वमेव ।
पक्षाघातो मूर्च्छनं वाऽपि मृत्युर्नूनं तेनास्मिन् गदे स्यात्तदा तु ॥ २१ ॥
इत्थं तासां हृत्प्रदेशे कदाचिच्चेत्स्यान्मार्गस्यावरुद्धत्वमद्धा ।
संजायेताशु प्रायशो वै तदा तु हृत्कार्यस्यातीवरोधोऽप्यकस्मात् ॥ २२ ॥
किंवा वा तत्र स्याद्धृद्दो विस्तृतिश्च ह्येवंभूता अन्य एवोपसर्गाः ।
प्राणघ्ना वा दृश्यमाना भवेयुः प्रोक्ताऽवस्थाऽस्येत्थमेषा तृतीया ॥ २३ ॥

इस रोग के कीटाणु प्रायः दो वर्ष के बाद रोगियों के शरीर के विशिष्ट भागों में श्यान ग्रन्थियाँ (Gumma) उत्पन्न कर देते हैं। उसके बाद वे ग्रन्थियाँ वहाँ की मांसपेशियों से आवृत रहती हैं और सूक्ष्म वा स्थूल, क्षुद्र, गोलाकार किंवा श्लैष्मिक कोषाणुवों से वा सौत्रिक तन्तुओं से निर्मित होती है। उसके बाद ग्रन्थियां मध्यभाग से विशीर्ण हो (फूट) जाती हैं, जिससे उनमें व्रण बन जाता है। उस समय रक्तवाहिनी नाड़ियां रज्जु (रस्सी) की भाँति दृढ (कठिन) हो जाती हैं और उनके मार्ग अत्यन्त संकीर्ण हो जाते हैं। इस प्रकार इनकी अत्यन्त संकीर्णता के कारण जब कभी मस्तिष्क देश में उनके रक्तमार्ग का अवरोध हो जाता है तब रोगी को पक्षाघात, मूर्च्छा अथवा मृत्यु तक भी हो जाती है। इसी प्रकार से जब कभी हृदय प्रदेश में रक्तवाहिनियों के मार्ग का अवरोध हो जाता है तब अकस्मात् हृत्कार्य का अवरोध (हृद्गति बन्द) उपद्रव उत्पन्न हो जाता है अथवा हृदय की विस्तृति किंवा इसी प्रकार के अनेक अन्य प्राणनाशक उपद्रव हो जाते हैं ॥ १७-२३ ॥

आसूत्तरोत्तरं जीवाणूनामल्पतानिर्देशः—

पुरोदितास्वासु दशासु तूत्तरोत्तरं भिषग्वृन्दमवैतु चाल्पताम् ।
व्रणेषु जीवाणुगणस्य चामयप्रदायिनो नूनमिहोपदंशे ॥ २४ ॥

'उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं में उत्तरोत्तर रोगी के व्रणों में रोगोत्पादक कीटाणुओं की कमी होने लगती है ॥ २४ ॥.

अस्य लक्षणम्—

श्यानाभिधा ग्रन्थय आमयेऽस्मिंस्तनौ भवेयुर्ननु यत्र तत्र ।
वर्णस्तु तेषां पललोपमो वा ताम्रोपमो वा परिदृश्यतेऽत्र ॥ २५ ॥
त उद्भवेयुश्च समानरूपतो भूयः शरीरस्य च पार्श्वयोः सदा ।
यदा ह्यनेके मिलिताः परस्परं तदा तु दध्युर्ननु मण्डलाकृतिम् ॥ २६ ॥
मन्दज्वरः स्यादिह कण्ठपाकता न्यूनत्वमस्रस्य तथेन्द्रलुप्तता ।
शिरोव्यथा नक्तमथास्थिमध्ये रुजा सशोथाऽभ्यधिका प्रदृश्यते ॥ २७ ॥
मुखेऽधिनासं रदनच्छदेऽथो श्लेष्मच्छदे योनिगते विशेषात् ।
भवेद् व्रणोत्पत्तिरपीह संशयो विधेय ईषन्न कदाऽपि कोविदैः ॥ २८ ॥
श्यानाभिधग्रन्थिसमुद्भवोऽस्थिन यकृत्यथो प्लीह्न्यधिफुप्फुसं हृदि ।
संदृश्यते तत्स्फुटनं ततश्च तथा च तत्र स्फुटितेऽथ रूढे ॥ २९ ॥
समुद्भवेत्सौत्रिकतन्तुता तदा गदेऽत्र योषित्स्वपि गर्भपातः ।
आदौ भवेच्च क्रमतस्ततः स विलम्बतो दृश्यत एव लोके ॥ ३० ॥
तदन्वपातश्च ततोऽल्पजीविनः शिशोर्भवेदुद्भव एव सर्वथा ।

ततः क्रमेण ह्युपदंशरोगिणश्चिरायुषो बालजनस्य जन्म ॥ ३१ ॥
प्रजायते प्रायश एव चैषा रीतिर्भिषग्भिर्भुवनेऽनुभूता ।
ततस्तु तद्बालगतो ह्यवश्यं सदोपदंशः सहजः स बोध्यः ॥ ३२ ॥

इस रोग में शरीर जहाँ-जहाँ श्यान-ग्रन्थियाँ (गुमा) होती हैं वहाँ का वर्ण मांस अथवा ताम्र के समान दिखाई देता है। वे ग्रन्थियाँ प्रायः शरीर के दोनों पार्श्वों में समान रूप से उत्पन्न होती हैं। जब वे बहुत सी एकत्र मिल जाती हैं तब उनका आकार मण्डल की भाँति हो जाता है। साथ में मन्द ज्वर, कण्ठ में पाक, रक्त की न्यूनता, इन्द्रलुप्त (बाल झड़ना), रात्रि में सिर में पीडा और अस्थियों में शोथ के साथ-साथ अधिक पीड़ा होती है मुख, नाक, ओठ, गुह्य तथा योनिगत श्लेष्मल कला में विशेषतः व्रण उत्पन्न हो जाते हैं। श्यान-ग्रन्थियाँ (गुमा), अस्थि, यकृत, प्लीहा, फुफ्फुस, हृदय इन स्थानों में उत्पन्न होकर फूट जाती हैं तथा जब वे भर जाती हैं तब उनमें सौत्रिक तन्तु उत्पन्न हो जाते हैं (और इन अंगों में संकोच आदि अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं)। इस रोग में स्त्रियों को प्रारम्भ में जल्दी-जल्दी गर्भपात होता है फिर धीरे २ गर्भपात बन्द होकर कुछ दिन तक अल्पजीवी बालक और अन्त में बहुत दिनों के बाद दीर्घजीवी भी उत्पन्न होने लगते हैं। उन बालकों में जन्म से ही जो उपदंश होता है, वह 'सहज उपदंश' कहलाता है ॥ २५-३२ ॥

अत्रोपद्रवाः—

संकोचभावो ह्यधिफुफ्फुसं वा यकृत्यथो प्लीहृत्यपि पक्षघातः ।
अपस्मृतिर्मूर्च्छनमप्यवश्यमुन्मत्तता मारुतजा गदाश्च ॥ ३३ ॥
एते यदा ह्यध्युपदंशरोगमुपद्रवा वैद्यवरैर्विशिष्य ।
संकीर्त्तितास्तेन युतः स सद्भी रोगी लभेतान्तकलोकवासम् ॥ ३४ ॥

फुफ्फुस, यकृत और प्लीहा में संकोच, पक्षाघात, अपस्मार, मूर्च्छा, उन्माद और अन्य वातिक रोग जब उपदंश रोगी को उत्पन्न होने लगते हैं तब वह असाध्य होकर रोगी का प्राण लेलेता है ॥

अथ सहजोपदंशनिदानम् Congenital

जीवाणुयोगयुतशोणितशुक्रहेतुजातोपदंश उदितः सहजाभिधो हि ।
शुक्रे तथा रजसि दुष्ट इहोपदंशजीवाणुभिः सति तयोरवमेलनाद्धि ॥ १ ॥
जायेत कश्चन कदाचन दैवयोगाद्गर्भः स नाशमपि नूनमवाप्नुयाच्च ।
किंवा क्वचिन्त्वभिनवेऽपि फिरङ्गरोगो नैवोद्भवेत्सुकृतितोऽथ च गर्भपातः ॥ २ ॥
एवं च जातुचन बालकजन्म चेत् स्यात् सद्वैद्यवृन्दपरिभाषित एव लोके ।
नूनं बुधैः स सहजेन गदेन चोपदंशेन पीडिततनुर्ननु बोधनीयः ॥ ३ ॥
किं चोपदंशवशगा यदि गर्भिणी स्यात् तत्रोद्भवं त्वधिगतः शिशुरप्यवश्यम् ।
सांसर्गिकेण कलितः स इहोपदंशेनाभाषितो बुधजनैरपि वेदनीयः ॥ ४ ॥

जीवाणु (के विष) से युक्त रज-वीर्य के होने पर जो सन्तान होती है उसमें जो उपदंश होता है वह 'सहज उपदंश' कहलाता है। जब माता-पिता के रज तथा वीर्य उपदंश के कीटाणुओं से दूषित होते हैं उस समय दोनों का संगम होने से कदाचित् गर्भ रह जाता है तब उस गर्भ का निश्चय पात हो जाता है कभी-कभी उपदंश रोगीके नवीन होने से भाग्यवश गर्भपात नहीं भी होता है किन्तु यदि वह बच्चा पैदा होता है तो 'सहज उपदंश' से पीड़ित शरीर वाला होता है, यदि गर्भिणी स्त्री को उपदंश रोग हो जाय तो उसके बच्चे को भी उपदंश होगा किन्तु वह 'सांसर्गिक उपदंश' कहलाता है ॥ १-४ ॥

सहजोपदंशस्य लक्षणम्—

न जातमात्रे हि शिशौ विलोक्यते गदस्य किंचित् क्वचिदेव लक्षणम् ।
परन्तु सप्ताहचतुष्टयात्परं तद्वर्ष्मणि प्राय अनावृतेषु वै ॥ ५ ॥
नासामुखादिष्वखिलेषु चाङ्गेषु पाटलाभाः पिडिका भवेयुः ।
परस्परं ता मिलिता व्रणत्वं प्रसारिणोऽद्धा बहुधा हि दध्युः ॥ ६ ॥
ततस्त्विमां प्राप्य दशामवश्यं सङ्क्षीयमाणाः शिशवः सदेहशाः ।
वलीविशेषाकलिताननाः ध्रुवं विलोक्यमाना इह वै भवेयुः ॥ ७ ॥
पतिष्णुता वाऽथ विरूपता भवेन्नखेषु तेषामपि चेन्द्रलुप्तता ।
मुखोष्ठयोर्वा व्रणयुक्तताऽधिकाऽधिनासिकं वा स्वरयन्त्रमध्ये ॥ ८ ॥
श्लेष्मच्छदेऽति व्रणिता तयोर्ध्रुवं नासाऽस्थिमध्ये गलितिर्विशेषाद् ।
मिथो विलम्बेन तथाऽस्थिकेन्द्राणां मेलनं जायत एव नूनम् ॥ ९ ॥
समुद्गमश्चाथ विनाश आशु प्रदृश्यते बालतनौ रदानाम् ।
तथाऽऽश्रितेष्वप्यथ तेषु यौवनं पुरोदिताया उपदंशजायाः ॥ १० ॥
प्रायो दशाया बहुशस्तृतीयाया लक्षणानीह भवेयुरेव ।
अथोपदंशीयगदाणुजुष्टयोः पित्रो रजःशुक्रत आप्तजन्मसु ॥ ११ ॥
किञ्चित्प्रवृद्धेषु च तेषु नूनं कार्श्यं प्रदृश्येत च दुर्बलत्वम् ।
तथाऽधिकत्वं वयसोऽपि लक्ष्यते तदीयदेहस्थितलक्षणैर्ध्रुवम् ॥ १२ ॥
नासासेतुश्चिपिटः स्याच्च तेषां साम्यं शीर्षे प्रायशः संभवेद्वै ।
मूर्ध्नो रन्ध्राण्यत्र नूनं चिरेण संपूर्णत्वं संभजन्ते विशेषात् ॥ १३ ॥
ऊर्ध्वस्था ये भेदकास्ते रदास्तु तीक्ष्णाः कीलौपम्ययुक्ता भवेयुः ।
चक्राकारा ओष्ठयोः प्रान्तभागे बाह्ये जायेरन् व्रणाः पूर्णरीत्या ॥ १४ ॥
दीर्घास्थ्नां च स्युः शिरांसि प्रकामं स्थूलान्येवं नेत्रयोः शुक्ररोगः ।
जायेताथो शोथ एवोपतारिकायामन्ये चाक्षिरोगा भवेयुः ॥ १५ ॥

तत्काल उत्पन्न हुये शिशु में प्रायः कुछ भी सहजोपदंश के लक्षण नहीं दिखाई देते हैं किन्तु चार सप्ताह व्यतीत होने पर बालक के नासिका और मुख आदि खुले अङ्गों पर गुलाबी रंग की पिडिकायें दिखाई पड़ने लगती हैं। जो बहुत प्रकार से फैलती हुई परस्पर मिलकर व्रण का रूप धारण कर लेती हैं। इस दशा को प्राप्त होकर बालक अत्यन्त क्षीण होने लगता है और उसके मुख पर झुर्रियाँ दिखाई पड़ने लगती हैं। उसके नख गिर जाते हैं अथवा विरूप हो जाते हैं, एवं इन्द्र-लुप्त होता है, मुख, ओष्ठ, नासिका तथा स्वरयन्त्र में अथवा उनकी श्लैष्मिक कला में व्रण हो जाते हैं, नासा की अस्थि गल जाती है, अस्थियों के केन्द्रों का परस्पर मिलन बिलम्ब से होता है, दाँत निकल कर शीघ्र ही गिर जाते हैं। युवा हो जाने पर उसमें पूर्वोक्त उपदंश की तृतीयावस्था के संपूर्ण लक्षण दिखाई पड़ने लगते हैं। माता-पिता के रज-वीर्य फिरङ्ग के कीटाणुओं (के विष) से युक्त होने पर जिन बालकों का जन्म होता है उनमें बड़े होने पर कृशता तथा दुर्बलता आ जाती है, वह अवस्था में कम होने पर भी अधिक अवस्था के प्रतीत होने लगते हैं, प्रायः उसका नासावंश चिपटा और शिर सपाट हो जाता है, सिर के रन्ध्र देर में पूर्ण होते हैं, ऊर्ध्वस्थ भेदक दाँत तीक्ष्ण तथा कील के समान हो जाते हैं, ओष्ठों के बाह्य प्रान्त भाग में चक्राकार व्रण हो जाते हैं, लम्बी अस्थियों के सिरे (प्रान्त भाग) स्थूल हो जाते हैं, नेत्रों में कभी-कभी शुक्र रोग (फूला) हो जाता और उपतारिका में शोथ तथा अन्य नेत्र रोग भी हो जाते हैं ॥ ५-१५ ॥

फिरङ्गरोगस्त्रिविधो भिषग्भिः प्रोक्तस्तु तत्रादिम एव बाह्यः ॥ १६ ॥

आभ्यन्तरः स्यादपि च द्वितीयो बाह्यान्विताभ्यन्तरसंज्ञकोऽन्यः ।
लिङ्गानि चैषामथ संब्रवीमि क्रमेण कृत्स्नं कथितानि वैद्यैः ॥ १७ ॥
बाह्यः फिरङ्गो गदितस्तु तत्र विस्फोटतुल्योऽल्परुजाऽन्वितश्च ।
प्रदृश्यते च स्फुटितो भिषग्भिः प्रायेण लोके व्रणवत् सुसाध्यः ॥ १८ ॥
आभ्यन्तरो यः स इहामवातोपमव्यथां सन्धिषु चापि नूनम् ।
शोथं विशेषाज्जनयेत्ततोऽसौ ख्यातो भिषग्भिर्ननु कष्टसाध्यः ॥ १९ ॥

फिरङ्ग रोग ३ प्रकार का होता है । पहला बाह्य, दूसरा आभ्यन्तर और तीसरा बाह्याभ्यन्तर । इनमें 'बाह्य फिरङ्ग' विस्फोट के तुल्य एवं अल्प पीड़ा वाला होता है और व्रण की तरह फूटता है तथा 'सुसाध्य' है । आभ्यन्तर संज्ञक दूसरे फिरङ्ग रोग में आमवात के समान सन्धियों में विशेष रूप से शोथ उत्पन्न होता है, यह 'कष्टसाध्य है ॥ १६-१९ ॥

नासाभङ्गो वह्निमान्द्यं च कार्श्यं शोषश्चास्थ्नां वक्रता वा फिरङ्गे ।
तूपद्रुत्यो भाषिता वै बलस्य क्षीणत्वं चैताइहायुर्विदग्र्यैः ॥ २० ॥

नासाभङ्ग, अग्निमान्द्य, कृशता, अस्थिशोष, अस्थिवक्रता तथा बल की क्षीणता ये सब फिरङ्ग रोग के उपद्रव कहलाते हैं ॥ २० ॥

उपद्रवैरेभिरनन्वितो यो गदः फिरङ्गोऽभिनवो बहिर्भवः ।
भवेत् स साध्योऽथ च कष्टसाध्य आभ्यन्तरोऽयं बहुशो भिषग्भिः ॥ २१ ॥
क्षीणजनस्योपद्रवसहितो व्याप्तो बहिरन्तःस्थल उदितः ।
भवेदसाध्यः फिरङ्गरोगः कथयन्त्येतद्वैद्यपुरोगः ॥ २२ ॥

बाह्यसंज्ञक फिरङ्ग रोग यदि नवीन तथा उपद्रवरहित हो तो वह साध्य होता है और आभ्यन्तर संज्ञक फिरङ्ग रोग कष्टसाध्य होता है तथा क्षीण मनुष्य का उपद्रवयुक्त, सर्वत्र व्याप्त, बाह्याभ्यन्तर संज्ञक फिरङ्ग रोग असाध्य होता है ॥ २१-२२ ॥

विमर्श—पूर्वोक्त दोनों प्रकार के उपदंशों का स्पष्ट और विस्तृत वर्णन ग्रन्थ के उत्तरार्ध (पृष्ठ २२५ और १२७ से १३० तक) में भी देखिए ।

अथ चुल्लिकाग्रन्थिरोगनिदानम्

अस्य परिचयः—

ग्रीवायां स्वरयन्त्रसंनिधिभवो यश्चुल्लिकानामको
ग्रन्थिः स्यात् किल तत्समुत्थितरसो देहेऽतिलाभप्रदः ।
तस्य द्वौ गदितौ गदौ गदरहस्यज्ञानिभिः कोविदै-
स्तत्राद्यो रसवृद्धिहेतुजगदः संकीर्तितः सर्वथा ॥ १ ॥
अप्यन्यो रसहानिहेतुजगदोऽग्रे वर्ण्यते पूर्णत-
स्तत्रादौ रसवृद्धिहेतुजगदो नूनं वहिर्नेत्रयुग् ।
आख्यातो गलगण्डनामक इहैकः श्लैष्मिकाद्रान्वितः
शोथो वामनता तथा च गलगण्डोऽन्यस्य भेदास्त्रयः ॥ २ ॥
तेष्वन्त्ये गलगण्डनामकगदे सर्वाधिका चुल्लिका-
ग्रन्थेर्वृद्धिरवेक्ष्यतेऽथ सकलानां वर्णनं कृत्स्नशः ।
अप्यस्माभिरिह क्रमेण विधिवत्संपाद्यते सांप्रतं-
तत् प्रीत्या रसवृद्धिहानिजगदानां त्वं समाकर्णय ॥ ३ ॥

ग्रीवा में स्वरयन्त्र के समीप रहने वाली जो चुल्लिका[1] नाम की ग्रन्थि होती है उससे जो रस निकलता रहता है वह शरीर के लिये अत्यन्त लाभप्रद होता है। रोग के रहस्यवेत्ता लोग उक्त ग्रन्थिसंबन्धी दो रोगों का वर्णन करते हैं। उसमें रस की वृद्धि के कारण होने वाला पहला रोग 'बहिर्नेत्र गलगण्ड'[2] नामक होता है और दूसरा रस की कमी से होने वाला रोग तीन प्रकार का होता है—१. श्लैष्मिकार्द्रशोथ,[3] २. वामनता[4] (बौनापन) और ३. गलगण्ड[5]। इनमें अन्तिम जो 'गलगण्ड' रोग है उसमें सबसे अधिक चुल्लिकाग्रन्थि की वृद्धि दिखाई पड़ती है॥ १-३॥

बहिर्नेत्रगलगण्डनिदानम्—

चिन्ताशोकक्रोधभीतिप्रकर्षादुष्णप्रायेष्वेव देशेष्वसौ स्यात्।
भूम्ना तत्रातीव सभ्येषु चैवं प्रायः पुंसोऽपेक्षया स्त्रीषु रोगः॥ ४॥
आपञ्चदशशरद्भ्यो विंशतिवर्षाण्यभिव्याप्य। जायेत हि बहिर्नेत्रगलगण्डाख्यो विशेषेण॥

चिन्ता, शोक, क्रोध तथा भय की अधिकता से उष्णप्राय देशों में यह रोग अधिकतर सभ्य लोगों में १५ वर्ष की अवस्था से लेकर २० वर्ष की अवस्था तक विशेषतः उत्पन्न होता है, उनमें भी पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में विशेष रूप से होता है॥ ४-५॥

अस्य संप्राप्तिः—

अन्त्राद्विषं चापि विलीय पीडोपेत्योपवृक्कद्वितये निरन्तरम्।
प्रक्षोभयेन्नन्विह पिङ्गलायाः सर्वं सिरायाः किल चक्रवालम्॥ ६॥
ततो बहिर्नेत्रपदान्वितोऽयं प्रजायते वै गलगण्डरोगः।
संप्राप्तिरित्थं गदिता भिषग्भिर्निदानविद्भिर्बहुशो विविच्य॥ ७॥

अन्त्र से विष विलीन होकर दोनों उपवृक्कों में विकार उत्पन्न कर पिङ्गला नाडीमण्डल को प्रक्षुभित कर देता है जिससे 'बहिर्नेत्रगलगण्ड' रोग उत्पन्न हो जाता है॥ ६-७॥

अस्य स्वरूपम्—

श्रमो मानसः क्षोभ एवं कदाचिद् रुजा चाधिका जातुचिद् हृत्प्रकम्पः।
अथो चुल्लिकाग्रन्थिवृद्धिश्च चक्षुर्युदासस्तथा कामशक्तेश्च ह्रासः॥ ८॥
इतीमे विकाराः समुद्भूय नूनं नरान् पीडयेयुर्गदेऽस्मिन् विशेषात्।
अतो यत्नतः सद्य एवावलोच्य क्रिया रोगनाशिन्यवश्यं विधेया॥ ९॥

श्रम, मानसिक क्षोभ, पीड़ा, हृत्कम्प, चुल्लिकाग्रन्थि की वृद्धि, आंखों का बाहर आजाना तथा कामशक्ति का ह्रास ये सब विकार इस बहिर्नेत्रगलगण्ड रोग में उत्पन्न होकर मनुष्यों को पीड़ित करते हैं। इसलिये शीघ्र चिकित्सा करनी चाहिये॥ ८-९॥

अस्य साध्यासाध्यत्वम्—

दशायां मृदौ चास्य रोगस्य नूनं भवेत्स्वस्थताऽब्दात्परं सर्वदैव।
तथा तीव्रतामास्थितायां तु वर्षद्वयादेव पञ्चत्वमेतीह रोगी॥ १०॥

इस रोग की मृदु अवस्था होने पर १ वर्ष के बाद रोगी स्वस्थ हो जाता है और रोग की तीव्र अवस्था होने पर दो वर्ष के बाद मर जाता है॥ १०॥

अत्रारिष्टम्—

बहिर्नेत्रयुक्ते गदेऽस्मिन् यदा गलगण्डाभिधे रोगिदेहे कदाचित्।
प्रदृश्येत शक्तेर्व्ययस्याधिकत्वं तदाऽरिष्टमत्यर्थमद्धाऽवगच्छेत्॥ ११॥

इस 'बहिर्नेत्रगलगण्ड' नामक रोग में रोगी के शरीर में यदि शक्ति का अधिक व्यय होता हो तो उसे अरिष्टसूचक समझना चाहिये॥ ११॥

---

१. Thyroid २. Exophthalmic goitre ३. Myxoedema ४. Cretinism ५. Goitre.

श्लैष्मिकार्द्रशोथनिदानम्

तस्य परिचयः—

गदे श्लैष्मिकार्द्राख्यशोथे विशेषाद् भवेच्चुल्लिकाग्रन्थिजातस्य नूनम् ।
रसस्याधिका हीनताऽथो त्वचायां तथा श्लेष्मलायां कलायां नरेषु ॥ १२ ॥
अपि स्थूलता गौरवं चेन्द्रलुप्तोद्भवो मानसस्यापि कायस्य शीघ्रम् ।
क्रियायां भृशं मन्दता मन्दभाग्यादितीमानि चिह्नानि संक्षेपतः स्युः ॥ १३ ॥

श्लैष्मिकार्द्र शोथ (Myxoedema) रोग में चुल्लिका ग्रन्थि के रस की अधिक हानि होती है और त्वचा तथा श्लेष्मल कला में स्थूलता तथा गौरव होता है एवं इन्द्रलुप्त की उत्पत्ति तथा शारीरिक और मानसिक क्रियाओं में अत्यन्त मन्दता उत्पन्न हो जाती है ॥ १२-१३ ॥

तस्य च कारणम्—

भवेत् कारणं श्लैष्मिकार्द्राख्यशोथामयस्योद्भवे दृश्यमानं विशेषात् ।
परं चुल्लिकाग्रन्थिनिष्कासनं वै स्वयं नाश एवाथवाऽस्या अकस्माद् ॥ १४ ॥
तथा पूरुषापेक्षया स्त्रीषु सप्तगुणाधिक्यवद् दृश्यते रोगजन्म ।
भिषग्भिश्च कैश्चिन्मतोऽयं कुलोत्थस्तथैति प्रकाशं भृशं प्रौढतायाम् ॥ १५ ॥

चुल्लिका ग्रन्थि का एक दम निकाल देना या स्वयं उसका अकस्मात् नष्ट हो जाना श्लैष्मिकार्द्र शोथ नामक रोग के विशेष कारण हैं । यह रोग पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में ७ गुना अधिक होता है ॥ १४-१५ ॥

विमर्श—कुछ विद्वान् इसे कुलज मानते हैं । यह रोग प्रायः प्रौढ़ावस्था (३०-५० वर्ष) में ही प्रकट होता है ।

तस्य संप्राप्तेरवतारः—

अन्तःस्था रसकारकाः प्रकथिता ये चुल्लिकाया ध्रुवं
भागा ग्रन्थिभवास्त एव हि गदे गच्छन्ति च क्षीणताम् ।
श्लेष्मा यस्त्वगधः स्थितोऽपि च भवेत् सोऽत्यन्तवृद्धिं वियात्
तस्मात्त्वक् प्रविलोक्यते प्रकृतितः स्थूला कला श्लेष्मला ॥ १६ ॥

चुल्लिका ग्रन्थि के अन्तःस्थित रसकारक अवयव श्लैष्मिकार्द्रशोथ में क्षीणता को प्राप्त हो जाते हैं और त्वचा के नीचे जो श्लेष्मा (मेद) रहता है वह अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त हो जाता है जिससे त्वचा और श्लेष्मल कला स्थूल दिखाई पड़ने लगती है ॥ १६ ॥

तस्य लक्षणम्—

गदारम्भकाले सदैवावसादो भृशं मानसे भ्रष्टताऽपि स्मृतेश्च ।
ततः सर्वशाखासु पीडोद्भवोऽथो भवेद् गौरवं वर्त्मनो मण्डलेऽपि ॥ १७ ॥
त्वचा स्थूलभावं गता चातिशुष्का खरस्पर्शयुक्ता प्रदृश्येत नूनम् ।
विकृत्याऽन्विताः स्थौल्यमाप्ता विशुष्काः परिभ्रंशिनश्चापि केशा भवेयुः ॥ १८ ॥
ततोऽतिप्रवृद्धे गदे रोगिदेहे गुरुत्वं च मूढत्वमुत्पद्यतेऽद्धा ।
मुखं चायतं स्थूलता दीर्घताऽपि प्रजायेत दन्तच्छदद्वन्द्वमध्ये ॥ १९ ॥
तथा गण्डयो रक्तिमा कर्णपाल्यां गुरुत्वं च रोम्णां परिक्षीणताऽपि ।
अथ स्थूलता हस्तयोः पादयोश्च द्विजानां तु पातो मतेर्मन्दता स्यात् ॥ २० ॥
भवेदिन्द्रियाणां हृदः क्षीणताऽपि प्रजाते भृशं दारुणेऽस्मिन् गदे तु ।
तनुस्थायितापस्य मानस्य तद्वत् क्षुधो मन्दभावोऽपि भूम्ना विबन्धः ॥ २१ ॥

रोग की प्रारम्भावस्था में मन में अवसाद और स्मृति का भ्रंश हो जाता है। इसके बाद सभी शाखाओं (हाथ-पैरों) में पीड़ा होने लगती है और पलकों में भारीपन हो जाता है। त्वचा मोटी होकर अत्यन्त शुष्क तथा खर स्पर्श युक्त दिखाई पड़ने लगती है। केश विकृत, स्थूल, शुष्क और पतनशील हो जाते हैं। रोग के अधिक बढ़ जाने पर शरीर में गुरुता और मूढता उत्पन्न हो जाती है एवं रोगी का मुख चौड़ा और ओठ मोटे तथा बड़े हो जाते हैं। कपोलों पर रक्तिमा, कर्णपाली में गुरुता, रोमों की क्षीणता, हाथ-पैरों की स्थूलता, दाँतों का गिरना, बुद्धि की मन्दता और इन्द्रियों तथा हृदय की क्षीणता होती है। इस रोग की दारुण अवस्था होने पर शरीर का स्थायी तापमान तथा भूख दोनों मन्द हो जाते हैं और विबन्ध (बद्धकोष्ठता) हो जाता है॥ १७-२१ ॥

उग्रदशायामस्य गदस्य बन्ध्यात्वं योषित्सु विशिष्य।
सर्वत्रैवं बहुशो दृष्टं तस्माद्वैद्यैरिह निर्दिष्टम्॥ २२॥

स्त्रियों में इस रोग की उग्रता होने पर अधिकतर बन्ध्यापन हो जाता है॥ २२॥

वामनरोगनिदानम्

तस्य परिचयः—

शरीरमानहीनता तथाऽतिबुद्धिमन्दता। उपस्थसूक्ष्मता भवेत् सदा गदे तु वामने॥ २३॥

शरीर की लम्बाई में कमी, बुद्धि की अत्यन्त मन्दता, लिङ्गेन्द्रिय का छोटा होना ये प्रधान लक्षण वामन (Cretinism) रोग में होते हैं॥ २३॥

तस्य कारणनिर्देशः—

आजन्मनो भवति यस्य न चुल्लिकाख्यो ग्रन्थिस्तनावथ च तद्भवदुर्बलत्वम्।
तस्मिन्नरे नियमतो ननु वामनत्वं तस्मान्निमित्तत इहोदितमेव विद्यात्॥ २४॥
गलगण्डगदेन रोगिणः कुलबीजस्य च दुष्टता सदा।
अपि देशविशेषताऽस्य वै जनने स्यात् सहकारि कारणम्॥ २५॥

जिसके शरीर में जन्म से ही चुल्लिका नामक ग्रन्थि नहीं होती किंवा वह दुर्बल होती है उस मनुष्य में वामन रोग नियमतः उत्पन्न होता है। इस रोग में गलगण्ड रोग से कुल के बीज का दूषित होना और आनूपादिविशिष्ट देश की विशेषता ये दोनों सहकारिकारण होते हैं॥२४-२५॥

तस्य लक्षणम्—

गदे श्लैष्मिकार्द्राख्यशोथे तु यानि पुरोक्तान्यशेषाणि लक्ष्माणि तानि।
विशेषादिह स्युर्ध्रुवं वामनत्वे ह्यभिव्यक्तिमाप्तानि विद्वन्मतानि॥ २६॥
सदा मेदसा गर्भितानीह सर्वाणि चाङ्गानि ह्रस्वानि नूनं भवेयुः।
पुनश्चात्र वैशिष्ट्यमाभाति यत्तत् समस्तं मया साम्प्रतं कथ्यतेऽग्रे॥ २७॥
भवेज्जङ्घयोर्वक्रता चापि बाहुद्वयेऽथोदरे पूर्णरीत्या गुरुत्वम्।
खरस्पर्शयुक्ताऽतिशैथिल्यमाप्ता तथा स्थौल्यवत्यत्र जायेत च त्वक्॥ २८॥
प्रशूने च नासापुटे वर्त्तुलं वै भवेदाननं नासिका चायताऽपि।
ललाटं विशालं तथैवौष्ठयुग्मं सदा पीवरं पीवराऽथो रसज्ञा॥ २९॥
मतेर्मन्दता प्रायशश्च प्रणाशः स्मृतेरेवमुग्रत्वमाप्ते गदे तु।
प्रभेदः स्वरस्यात्र मेदःसमुत्थः प्रजोत्पत्तिकारीन्द्रियक्षीणता च॥ ३०॥
तथा जायते कामशक्तेश्च मान्द्यं विशेषाद्गदे वामने नूनमेव।

पूर्व में श्लैष्मिकार्द्र शोथ नामक रोग के जितने लक्षण कहे हुये हैं, वे ही सब वामन रोग में

भी व्यक्त होते हैं। विशेषतः इसमें सभी अङ्ग मेद से भरे हुये तथा छोटे २ हो जाते हैं और दोनों जाँघों तथा बाहुओं में टेढ़ापन तथा उदर में अत्यधिक गुरुता, त्वचा खर स्पर्शवाली, अत्यन्त शिथिल तथा स्थूल, दोनों नथुने फूले हुये, मुख गोलाकार, नाक चौड़ी, ललाट चिपटा, दोनों ओठ और जिह्वा मोटी होती है बुद्धि की मन्दता और स्मृति का नाश हो जाता है। इस रोग की उग्रता होने पर मेदोज स्वरभेद हो जाता है (पू. पृ. ३०४)। सन्तान को उत्पन्न करने वाली इन्द्रिय में क्षीणता तथा कामशक्ति की मन्दता विशेष रूप से इस रोग में उत्पन्न होती है ॥ २६-३० ॥

गलगण्डविषये कथनम्—

गलगण्डगदो गदितो मुनिभिर्यत एव ततोऽस्य च रूपमलम् ।
अवबोध्यमिहाखिलमुक्तमतो न हि किंचन तुल्यतया तु मया ॥ ३१ ॥

पूर्व में जो गलगण्ड रोग का लक्षण कहा गया है उसी से इस गलगण्ड का भी लक्षण समझ लेना चाहिये। यहाँ पर दोनों गलगण्डों की समानता होने से लक्षण का निर्देशन नहीं किया गया है॥

विमर्श—गलगण्ड रोग और चुल्लिका ग्रन्थि के विकारों का वर्णन उत्तरार्ध पृष्ठ ६२ एवं ६४ पर भी देखिए।

अथ मस्तिष्करोगनिदानम्

शीर्षकम्पस्य निदानम्—

यदा भवेन्मूर्ध्न्यभिघात उच्चकैस्तदा तदीयानुगुणैः स्वलक्षणैः ।
सुलक्ष्यमाणः खलु शीर्षकम्पामयो भवेद्वैद्यजनाभिभाषितः ॥ १ ॥

जिस समय मस्तक में भारी आघात हो जाता है उस समय आघातानुरूप लक्षणों से युक्त शीर्षकम्प रोग होता है ॥ १ ॥

शीर्षकम्पस्य लक्षणम्—

हृल्लासमूर्च्छे वमनं जडत्वं चित्तस्य चाञ्चल्यमतीव वेपथुः ।
स्यात्कर्णनादो मलिनास्यता च प्रविस्तृतिर्नेत्रकनीनिकायाः ॥ २ ॥
नाड्यास्तथा स्पन्दनमल्पमात्रं शैत्यं तनोर्दुर्बलताऽधिकाऽपि ।
वाचो विकारः खलु पक्षहानी रोगे प्रजायेत हि शीर्षकम्पे ॥ ३ ॥

हृल्लास (उबकाई), मूर्च्छा, वमन, जड़ता, चित्त की चञ्चलता, अत्यन्त कंपकपी, कर्णनाद (कर्ण में शब्द सुनाई देना), मुख की मलिनता, नेत्र की कनीनिका की अधिक विस्तृति, नाडी के स्पन्द की स्वल्पता, शरीर की शीतलता, अधिक दुर्बलता, वाणी में विकार, पक्षाघात ये सब लक्षण शीर्षकम्प रोग में उत्पन्न होते हैं ॥ २-३ ॥

विमर्श—देखिये पूर्वार्ध पृष्ठ ३३१

अथ मस्तिष्कचयापचयनिदानम्

तत्र मस्तिष्कचयस्य निदानादिकमाह—

प्रायः शिशूनां क्वचिदेव यूनां दुर्भाग्यतोऽजस्रमपि स्वभावात् ।
कपालमत्यर्थमुपैति वृद्धिं मस्तिष्कवृद्धौ खलु मस्तुलुङ्गः ॥ १ ॥
वृद्धिः समाना यदि मस्तुलुङ्गकपालगा स्याद्धि तदा तु तत्र ।
प्रायेण काचिन्न विकारजाता भीतिर्भिषग्भिः क्वचिदूहनीया ॥ २ ॥
स्वाभाविकी चेदथवाऽस्त्ववस्था क्वचित्कपालस्य तथा च वृद्धिः ।
मस्तिष्कमध्ये तु तदाऽतिघोरा उपद्रवाः सन्तु तदीयपीडनात् ॥ ३ ॥

प्रायः शिशुओं के और कभी-कभी युवकों के कपाल की दुर्भाग्यवश या स्वभावतः वृद्धि होती है और उसकी वृद्धि होने पर मस्तुलुङ्ग की भी वृद्धि होती है। यदि सौभाग्यवश मस्तुलुङ्ग तथा

कपाल की वृद्धि समानरूप से हो तो किसी प्रकार के विकार का भय नहीं समझना चाहिये। किन्तु यदि केवल कपाल की और कभी केवल मस्तिष्क की ही वृद्धि हो तो मस्तिष्क के पीडित होने से अत्यन्त घोर उपद्रव होते हैं ॥ १-३ ॥

उपद्रवानाह—

शिरोऽर्त्तिर्भ्रमो मूर्च्छनं पक्षनाशो बलस्यापि हानिस्तथाऽऽक्षेपरोगः।
तथाऽन्तेऽपि मृत्युश्च मस्तिष्कवृद्धावुपद्रुत्य एता भिषग्भिर्विभाव्याः॥ ४ ॥

सिर में पीडा, भ्रम, मूर्च्छा, पक्षाघात, बल की हानि, आक्षेप रोग और अन्त में मृत्यु ये सब उपद्रव मस्तिष्क-वृद्धि होने पर होते हैं ॥ ४ ॥

मस्तिष्कह्रासमाह—

वृद्धिस्तु मस्तिष्कभवा यथा स्याद्ध्रासस्तथैवाप्युपजायते हि।
ह्रासोऽपि मस्तिष्कगतः कपाले प्रवर्द्धमानेऽतिभयङ्करः स्यात्॥ ५ ॥
ह्रासो यदा स्यात्क्वचिदेकपार्श्वे मृत्युर्भवेन्नैव तदाऽऽतुरस्य।
चेन्मस्तुलुङ्गस्य समन्ततो वा ह्रासस्तदाऽऽश्वस्तु मृतिस्तदीया ॥ ६ ॥
स्यान्मस्तुलुङ्गस्य सदैव वृद्धिर्ह्रासोऽपि नूनं मरणाय लोके।
व्यर्थो भवेदत्र यदप्युपायस्तथाऽपि रासायनिको विधेयः ॥ ७ ॥

जिस प्रकार मस्तिष्क की वृद्धि होती है उसी प्रकार ह्रास भी होता है। ह्रास भी यदि मस्तिष्क का हो कपाल की वृद्धि हो तो वह अत्यन्त भयङ्कर होता है। और जब कभी एक पार्श्व में मस्तिष्क का ह्रास हो तो उससे रोगी की मृत्यु नहीं होती। किन्तु यदि चारो तरफ से मस्तुलुङ्ग का ह्रास हो तो अवश्य मृत्यु हो जाती है। मस्तुलुङ्ग की वृद्धि और ह्रास दोनों ही सदा मृत्युप्रद होते हैं। इस समय रासायनिक चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ५-७ ॥

अथ शीर्षाम्बुरोगनिदानम्

शीर्षाम्बुरोगस्य निदानसंप्राप्त्यादिकमाह—

दुष्टाम्बुपानादतिशैत्यतो वाऽऽन्त्रेषु क्रिमेरुद्भवतोऽभिघातात्।
असात्म्यभोज्याशनतः सुराया अत्यर्थपानात् पवनप्रदोषात् ॥ १ ॥
संचीयते यत्क्रमतः शिरःस्थस्नेहस्य भूमौ बहुलं जलं हि।
तदेव वैद्यैर्गदितस्तु शीर्षाम्बुरोग एषोऽस्त्वतिदुश्चिकित्स्यः ॥ २ ॥
प्रायः शिशूनामुपजायतेऽसौ बाल्ये वयस्येव गदो विशेषात्।
दन्तोद्गमेऽनेकविधाहितानां निषेवणात्सद्भिषजां मतेन ॥ ३ ॥

दूषित जल के पीने से, अत्यन्त शीत लगने से, आँतों में क्रिमि उत्पन्न होने से, अभिघात से, असात्म्य (प्रकृतिविरुद्ध) भोजन से, मद्य के अधिक पीने से, वायु के प्रकोप से, शिरःस्थित स्नेह के स्थान में क्रमशः बहुत सा जल एकत्र हो जाता है, उसी को शीर्षाम्बुरोग कहते हैं यह अत्यन्त दुश्चिकित्स्य होता है। यह रोग प्रायः बाल्यावस्था में बच्चों को हो जाता है। जब कि वे दाँत निकलने के समय अनेक प्रकार के अहितकर पदार्थों का सेवन करते हैं ॥ १-३ ॥

शीर्षाम्बुरोगस्य पूर्वरूपम्—

जिह्वाऽवृता गाढपुरीषताऽथो दौर्बल्यनिद्राऽधिकते तथा च।
निःश्वासमध्येऽपि च पूतिगन्धः शीर्षाम्बुरोगेऽस्त्विति पूर्वरूपम् ॥ ४ ॥

जिह्वा के ऊपर मल का जम जाना, विष्ठा का गाढा होना, दुर्बलता, अधिक निद्रा का होना और निश्वास के अन्दर पूतिगन्ध होना ये सब लक्षण शीर्षाम्बुरोग के पूर्वरूप के हैं ॥ ४ ॥

शीर्षाम्बुरोगस्य लक्षणम्—

तीव्रा व्यथा शिरसि कृष्णपुरीषताऽथो मूत्राल्पता श्रुतिगताऽक्षिण च तीक्ष्णता स्यात् ॥
वेगं समाश्रितवती धमनी त्वचायां रूक्षोष्णते च वमनं विषमाऽक्षितारा ॥ ५ ॥
कण्डू रदच्छदगताऽपि च नासिकाया लौहित्यमक्षियुगले च विवर्णताऽऽस्ये ।
आक्षेपकः प्रलपनं खलु पक्षनाशः शीर्षाम्बुरोग इति लक्ष्म विभावनीयम् ॥ ६ ॥

सिर में तीव्र पीड़ा, विष्ठा का वर्ण काला, मूत्र की कमी, श्रवण तथा दृष्टि की शक्ति का तीक्ष्ण हो जाना, नाड़ी की गति वेगयुक्त होना, त्वचा में रूक्षता तथा उष्णता, वमन, आँख की पुतलियों का विषम हो जाना, ओष्ठ में खुजली, नासिका तथा आँखों का लाल हो जाना, मुख में विवर्णता, आक्षेपक, प्रलाप तथा पक्षघात ये सब लक्षण 'शीर्षाम्बुरोग' में होते हैं ॥ ५-६ ॥

विमर्श—अंग्रेजी में इसे 'हाइड्रोकेफलस' (Hydrocephalus) कहते हैं। मस्तिष्क का संकोच, वृद्धावस्था, कृशता एवं रक्तस्राव आदि कारणों से मस्तिष्क और कपालास्थियों के बीच द्रव सञ्चय होने पर इसे 'बाह्य' (H.Externus) एवं मस्तिष्क के विभिन्न कोष्ठों में ब्रह्मवारि (C. S. Fluid) के सञ्चय से उत्पन्न होने पर 'आभ्यन्तर' (H. Internus) कहते हैं। इसी को मस्तिष्कचय भी कहते हैं। और जब 'बाह्य' प्रकार के कारणों से अथवा कोष्ठगत द्रव की कमी से मस्तिष्क संकुचित हो जाता है तो उसे मस्तिष्कापचय (Atrophy of brain) कहते हैं।

अथ योनिकण्डूनिदानम्

योनौ प्रायः श्लेष्मवैगुण्यहेतोरर्शःकोपाद्वस्तिजातेऽर्बुदेऽपि ।
योनिस्थानां संप्रसारात्सिराणां किं वा नारीणां विकाराज्जरायोः ॥ १ ॥
पुंसा सार्द्धं सर्वदाऽभिसङ्गात् प्रायः काले चार्त्तवस्य प्रवृत्तेः ।
गर्भस्य प्रागुद्भवे वातलत्वाद् योनेः कण्डूर्जायते योनिमध्ये ॥ २ ॥
एवं नारीवृद्धतातो विशेषात्प्रोक्तं वैद्यैर्योनिकण्डूनिदानम् ॥ ३ ॥

कफ की विगुणता, अर्श के कोप एवं वस्ति में अर्बुद रोग से, योनिगत सिराओं के प्रसार, जरायु में विकार, अति मैथुन, आर्तव-प्रवृत्ति का काल, अनुत्पन्न गर्भ के दबाव से वाताधिक्य होने पर और विशेषतः स्त्री की वृद्धावस्था आने पर योनि में खुजली होती है, इसे 'योनिकण्डू' कहते हैं ॥ १-३ ॥

योनिकण्डूलक्षणम्—

योनौ कण्डूर्योनिकण्डूगदे स्यात् तोदो रौक्ष्यं शुष्कता चापि नूनम् ।
वृद्धिर्व्याधेरुष्णतातोऽपि शैत्याच्छान्तिर्लोके वैद्यवर्यैः प्रदिष्टा ॥ ४ ॥

योनिकण्डू रोग में कण्डू में योनि (खुजली), सुई चुभोने जैसी पीड़ा, रूक्षता और शुष्कता होती है, उष्णता से व्याधि की वृद्धि और शीतलता से शान्ति होती है ॥ ४ ॥

अथ योन्याक्षेपनिदानम्

योनौ यदा विगुणता पवनस्य नूनं स्पर्शस्य वृद्धिरमिता तु तदोदिता स्यात् ।
विक्षेपणं भवति योनिमुखे च तस्य स्पर्शे व्यथाऽपि गहना प्रमदाजनस्य ॥ १ ॥
एतद्गदेन कलिता न सहेत नारी पुंसा कृतं रतिविलासमथो बलाच्चेद् ।
भर्त्ता रमेत हि तया सह तर्हि पीडाऽऽक्रान्ता भवेत्त तरुणी विकलेन्द्रियाऽद्धा ॥ २ ॥
भयव्यथाभीतिसमन्विता सा यतो न कान्तं प्रति याति कामिनी ।
ततः प्रियेणातितिरस्कृता क्वचित् समीहते मर्त्तुमतीव दुःखिता ॥ ३ ॥

योनि में जब वायु की विगुणता होती है तब स्पर्श-शक्ति की अमित वृद्धि होती है और योनि के मुख में विक्षेपण होता है तथा स्पर्श करने पर भयङ्कर पीड़ा होती है। इस रोग से

आक्रान्त होने पर स्त्री मैथुन नहीं सहन कर सकती। यदि उसका स्वामी बलपूर्वक उसके साथ रमण करता है तो स्त्री विकल हो जाती है और भय से वह स्वामी के पास नहीं जाती। अत एव वह स्वामी से अत्यन्त तिरस्कृत होती हुई मारे दुखः के मर जाना चाहती है ॥ १-३ ॥

योन्याक्षेपस्य लक्षणम्—

योन्याक्षेपे वह्निमान्द्यं तथा चोद्वेगो निद्राऽल्पत्वमुक्तं क्रमेण।
वस्तौ दाहः पृष्ठदेशे व्यथा च स्यात्संचारेऽङ्घ्रिद्वयेनाप्यशक्तिः ॥ ४ ॥
उत्साहस्य क्षीणता दुर्बलत्वं वैवर्ण्यं चेमानि चिह्नानि नूनम्।
आयुर्वेदज्ञानवृद्धैर्विशेषात् सद्भिः प्रोक्तानीति विज्ञेयमत्र ॥ ५ ॥

योन्याक्षेप रोग में अग्नि की मन्दता, उद्वेग, निद्रा की स्वल्पता, वस्ति स्थान में दाह, पृष्ठदेश में पीड़ा, दोनों पैरों में चलने की शक्ति का अभाव, उत्साह की क्षीणता, दुर्बलता और विवर्णता ये सब लक्षण होते हैं ॥ ४-५ ॥

अथ योनिव्यापत्सु बाधकरोगनिदानम्

बाधकभेदानाह—

बाधकत्वेन ये लोके प्रजोत्पत्तौ विशेषतः। विख्याता बाधका रोगा वक्ष्ये ताञ्छृणु सादरम् ॥
प्रथमा रक्तमाद्री स्यात् षष्ठी नाम्न्यपरा स्मृता। उक्तोऽङ्कुरस्तृतीयो वै तुर्यो जलकुमारकः ॥

सन्तानोत्पत्ति में रक्तमाद्री, षष्ठी, अङ्कुर और जलकुमार ये ४ बाधक रोग हैं ॥ १-२ ॥

रक्तमाद्रीलक्षणम्—

कट्यां व्यथा यदि भवेदथ नाभिदेशस्याधःस्थले स्तनयुगेऽपि च पार्श्वभागे।
नारी तदा तु कलिता ननु रक्तमाद्रीदोषेण किञ्च तत एव फलेन हीना ॥ ३ ॥
मासैकं वा मासयुग्मं कदाचिच्चेन्नारीणामार्त्तवस्रावयोगः।
तर्हि स्युस्ता रक्तमाद्रीतिदोषेणैव ग्रस्तत्वेन हीनाः फलेन ॥ ४ ॥

कटि, नाभिदेश के नीचे का भाग, दोनों स्तनों और पार्श्वभाग में भी यदि व्यथा हो तो नारी रक्तमाद्री दोष से पीड़ित और गर्भस्थिति से शून्य होती है। इस रोग में कभी-कभी एक या दो मास तक आर्तवस्राव का संबन्ध बना रहता है जिससे स्त्री गर्भस्थिति से हीन रहती है ॥ ३-४ ॥

षष्ठीलक्षणम्—

षष्ठीरोगग्रस्तनार्यास्तु नेत्रे हस्ते ज्वाला स्याद्विशेषाद्भगेऽपि।
एवं जुष्टं लालयाऽप्यार्त्तवं तु प्रोक्तं चिह्नं चेति वैद्यैरभिज्ञैः ॥ ५ ॥
स्याच्चेत् षष्ठीबाधकाख्यामयेनोपेता नारी तर्हि वारद्वयं सा।
स्नायान्मासे चार्त्तवस्रावयोगाद् योनिस्तस्या रक्तमालिन्ययुक्ता ॥ ६ ॥

षष्ठी रोग से ग्रस्त हुई स्त्री के नेत्रों तथा हाथों में विशेषतः भग में ज्वाला सी बनी रहती है और आर्त्तव लाला से युक्त रहता है तथा महीने के अन्दर दो बार आर्त्तवस्राव (ऋतुधर्म) होता है। स्त्री की योनि रक्त की मलिनता से युक्त होती है ॥ ५-६ ॥

अङ्कुरलक्षणम्—

स्यादुद्वेगो गौरवं चापि देहे रक्तस्रावश्चाधिकश्चेत्तरुण्याः।
शूलं नाभेर्निम्नभागे तदा सा ज्ञेया वैद्यैरङ्कुरेणैव युक्ता ॥ ७ ॥
युक्ताऽङ्कुराख्येन हि बाधकेन मासत्रयं मासचतुष्टयं वा।
नारी भवेदप्यृतुना विहीना कराङ्घ्रिदाहेन युता कृशाङ्गी ॥ ८ ॥

उद्वेग, शरीर में गुरुता, अधिक रजःस्राव और नाभि के नीचे शूल ये सब लक्षण यदि स्त्री को

प्रगट हों तो वह अङ्कुरसंज्ञक घातक रोग से पीड़ित होती है। उस रोग से पीड़ित स्त्री ३-४ मास तक ऋतुधर्म से रहित होती है, उसके अङ्ग कृश हो जाते हैं तथा हाथ-पैरों में जलन भी होती है॥

जलकुमारलक्षणम्—

भवतु शूलयुताऽपि च गर्भिणी यदि हि शुष्कतनुस्तनुरक्तिका।
प्रकटिता किल तत्फलहीनता जलकुमारकदोषतया तदा॥ ९॥
जलकुमारकदोषनिपीडिता कृशतनुः प्रमदा खलु पीवरा।
बहुदिनं च भवेदृतुमत्यथो गुरुकुचा क्षतजाल्पतयाऽन्विता॥ १०॥

यदि गर्भिणी स्त्री शूल से युक्त हो, शरीर सूख गया हो और रक्त थोड़ा हो तो उसे 'जल कुमारक' संज्ञक बाधक रोग होने से सन्तान होने में बाधा होती है अर्थात् वह गर्भ निष्फल हो जाता है। इस रोग से कृश शरीर वाली हो तो मोटी हो जाती है, बहुत दिनों पर उसे ऋतुधर्म होता है तथा उसके स्तन भारी हो जाते हैं और रक्त की कमी हो जाती है॥ ९-१०॥

अथ जरायुरोगनिदानम्[1]

प्रायेणाधानाद्धि गर्भस्य नैरन्तर्येणाद्वा स्रावतस्तस्य वाऽपि।
शैत्यात्तद्वच्चार्द्रभूमौ निवासाद्रोगाद्वा पापोपदंशाद्विशेषात्॥ १॥
अत्यर्थं वा मैथुनस्य प्रयोगात् किंवा संगात्पूयमेहार्दितेन।
संजायेत स्त्रीजने वै जरायुरोगस्तस्याकर्णयापि स्वरूपम्॥ २॥

निरन्तर गर्भ का आधान तथा स्राव हो जाने से, किंवा शीतलता से, वा आर्द्रभूमि में निवास करने से, विशेषतः पापोपदंश रोग से वा अत्यन्त मैथुन से वा पूयमेह से युक्त पुरुष के साथ संभोग करने से स्त्री में 'जरायु रोग' हो जाता है॥ १-२॥

तस्य स्वरूपम्—

ज्वरोऽग्निमान्द्यं त्रिकतोदनं तथा व्यथाऽतिनिम्नोदरमध्यगाऽपि।
अथोष्णता बस्तिगता गुरुत्वं मुहुर्मुहुर्मूत्रप्रवृत्तिरेव॥ ३॥
भगादपि क्लेदपरिस्रुतिस्तथा मलस्य शश्वच्च प्रवृत्तिरप्यथो।
ततोऽवरोधो मुखनीलिमाऽर्शः सुदुर्बलत्वं वमथुः शिरोव्यथा॥ ४॥
आविर्भवेयुर्निखिलाङ्गनास्वायुर्वेदवित्सज्जनसंमतानि॥ ५॥

ज्वर, अग्नि की मन्दता, त्रिकस्थान में सूई चुभोने की सी पीड़ा, उदर के नीचे पीड़ा, बस्ति स्थान में उष्णता, गुरुता, बारंबार मूत्रस्राव, भग से क्लेद का स्राव, मलोत्सर्ग की बारंबार प्रवृत्ति वा एकाएक रुक जाना, मुख का वर्ण नीला हो जाना, अर्श, दुर्बलता, वमन और सिर में पीड़ा ये सब लक्षण जरायु (गर्भाशय = Uterus) की विकृति से उत्पन्न जरायुरोग में होते हैं॥ ३-५॥

अथाण्डाधाररोगनिदानम्[2]

अतिव्यवायादतिशीतसेवनात्तथाऽभिघाताद्विषभोजनादपि।
अथो कुपथ्याशनतो गदोऽण्डाधारः प्रजायेत सदाऽङ्गनासु॥ १॥

अत्यन्त मैथुन से, अत्यन्त शीत लगने या शीतल वस्तु के सेवन से, चोट लगने से, विषभक्षण करने से, सदा कुपथ्य भोजन करने से, स्त्रियों में अण्डाधार रोग उत्पन्न होता है॥ १॥

तस्य लक्षणम्—

उरुव्यथोरूदरमध्यसंस्था कृच्छ्राल्पते मूत्रगते सरक्तता।
अरोचकत्वं त्वरतिर्बलक्षयो ज्वरश्च हृल्लास इहोद्भवेयुः॥ २॥

---

१. Disuses of uterus. २. Disuses of fallopian tube.

क्षुद्रा सवेगा धमनी च जिह्वा रक्तोज्ज्वला स्यादनिशं गदिन्याः।
बोध्यानि चिह्नानि भिषग्भिरण्डाधारामयस्येति सुभाषितानि ॥ ३ ॥

जङ्घा तथा उदर के मध्य में अधिक व्यथा, मूत्रकृच्छ्रता या मूत्र की अल्पता वा रक्त मिश्रित मूत्रस्राव, अरोचक, अरति (बेचैनी), बल की क्षीणता, ज्वर और हृल्लास (उबकाई) ये सब लक्षण अण्डाधार रोग में प्रगट होते हैं। इस रोग में नाड़ी क्षुद्र तथा वेगयुक्त हो कर निरन्तर फड़कती है। जिह्वा उज्ज्वल रक्तवर्ण की होती है ॥ २-३ ॥

अथ बन्ध्यारोगनिदानम्

बन्ध्याङ्गनानां नवधा प्रभेदाः प्रकीर्त्तिताः प्राक्तनवैद्यवर्यैः।
तत्रादिबन्ध्या प्रथमा तु बोध्या तदुद्भवः स्यादतिपापकर्मभिः॥ १ ॥
रक्तेन वातेन तथैव पित्तेन श्लेष्मणा चापि समस्तदोषैः।
एवं भवेत् पञ्चविधाऽथ तिस्रो भूतेन दैवेन तथाऽभिचाराद् ॥ २ ॥
तथा प्रकारान्तरतोऽपि बन्ध्या चतुर्विधा संकथिता पुनश्च।
तत्रादिमा वै गदिता तु गर्भस्राविण्यथाऽन्या मृतपुत्रिका च ॥ ३ ॥
कन्याप्रसूः स्याच्च मता तृतीया सकृत्प्रसूर्या नियतं चतुर्थी।
एषैव लोके किल काकबन्ध्या निगद्यते वैद्यजनैरवश्यम् ॥ ४ ॥
तथैव बन्ध्या भवतीह नारी तथैव बन्ध्योऽपि पुमान् प्रकीर्त्तितः।
तच्छुक्रमध्यस्थितदोषजातैः सर्वं सुधीभिः स्वधियैव बोध्यम् ॥ ५ ॥

बन्ध्या स्त्रियों के नव प्रकार के भेदों को प्राचीन वैद्यों ने कहा है। उसमें प्रथम 'आदि बन्ध्या' की उत्पत्ति अत्यन्त पाप कर्मों से होती है। इसके अतिरिक्त रक्त, वात, पित्त, कफ और त्रिदोष भेद से ५ प्रकार की और भूत, दैव तथा अभिचार भेद से तीन प्रकार की और भी बंध्यायें होती हैं। मतान्तर से गर्भस्राविणी, मृतपुत्रिका, कन्याप्रसूता और सकृत्प्रसूता (काकबन्ध्या) ये ४ भेद और होते हैं। जिस प्रकार से स्त्रियां बन्ध्या होती हैं उसी प्रकार से पुरुष भी अपने शुक्रगत दोषों से बन्ध्य (नपुंसक) होते हैं ॥ १-५ ॥

विमर्श—योनिकण्डू से बन्ध्या पर्यन्त रोगों का समावेश प्राचीनों ने योनिव्यापदों में कर लिया है। कारण एवं लक्षणों में किञ्चित् अन्तर होने से तन्त्रान्तरों से भी इन रोगों का संग्रह यहां किया गया है, सभी का संक्षिप्त किन्तु बन्ध्या का विस्तृत विवेचन उत्तरार्ध पृष्ठ ३५३ से ३६१ तक में देखें।

अथ सोमरोगनिदानम्

अतिप्रसङ्गात्प्रमदाजनानामविश्रमादप्यतिसारयोगतः।
गरप्रयोगादतिशोकतो वा क्षुभ्येत्स्रवेत्कृत्स्नतनुस्थवारि ॥ १ ॥
स्थानच्युतं तत्प्रतियाति मूत्रमार्गं स्त्रियास्तेन हि गन्धहीनम्।
शीतं सितं रुग्रहितं प्रसन्नं मलेन रिक्तं बहुशः स्रवेत्तत् ॥ २ ॥
ततो न शक्नोति तदीयवेगं सुदुर्बला धारयितुं स्वयं सा।
क्वचिन्न प्राप्नोति सुखं तथाऽलं मुखं विशुष्यत्यपि तालु तस्याः ॥ ३ ॥
त्वाचं रौक्ष्यं चातिमात्रं प्रलापः शैथिल्यं स्यान्मस्तकस्याथ मूर्च्छा।
जृम्भा नूनं भक्ष्यभोज्याद्यपेयैस्तृप्तिं प्रायो न क्वचिद्विन्दतीह ॥ ४ ॥

अत्यन्त संभोग करने से, विश्राम न करने से, अतिसार होने से, कृत्रिम विष-सेवन से और अत्यन्त शोक करने से सम्पूर्ण शरीर का जल क्षुभित होकर अपने स्थान से च्युत होकर

मूत्रमार्ग में जाता है और गन्धहीन, शीतल, श्वेत, पीड़ा से रहित, स्वच्छ, बहुत अधिक मात्रामें स्रवित होने लगता है। उसके बाद अत्यन्त दुर्बल होने से वह स्राव के वेग को सम्भालने में असमर्थ हो जाती है। उसका मुख और तालु अधिक सूखने लगता है और त्वचा में रूक्षता, प्रलाप, मस्तक की शिथिलता, मूर्च्छा, जम्भाई तथा अन्न-पानादि से कभी भी तृप्ति न होना ये सब लक्षण सोम रोग में होते हैं ॥ १-४ ॥

विमर्श—इसका वर्णन विस्तृत रूप से पूर्वोक्त मूत्रातिसार रोग में देखें।

अथ जरारोगनिदानम्

पद्भ्यामतीव गमनेन तथाऽतिशीत-संसेवनेन च कदन्ननिषेवणाच्च।
वृद्धाङ्गनासततसंगमनाच्च चेतो दुःखादुदेति हि जरा समयाच्च नूनम् ॥ १ ॥

अधिक पैदल चलना, अत्यन्त शीत सेवन, कदन्न भोजन, वृद्धा स्त्री के साथ निरन्तर मैथुन, मानसिक दुःख तथा अधिक अवस्था इन सब कारणों से जरा होती है ॥ १ ॥

जरायाः पूर्वरूपम्—

क्षीणत्वमत्र समुदेति शरीरशक्तेरादौ क्रमेण तदनु स्मृतिनाश एव।
ग्लानिस्ततोऽप्यवयवेषु जनिर्वलीनां पालित्यमत्यधिकतो हि शिरोरुहेषु ॥ २ ॥
दन्तस्य चापि शिथिलत्वमथ स्वभावे भूयान् विपर्यय इति प्रतिमानवं वै।
प्रायो जराऽऽगमनकालत एव पूर्वमव्यक्तमीक्ष्यत उपर्युदितं तु लक्ष्म ॥ ३ ॥

शक्ति की क्षीणता, स्मृति का नाश, ग्लानि, अङ्गों में बली का प्रादुर्भाव, बालों का सफेद होना, दाँतों की शिथिलता और स्वभाव में अत्यधिक परिवर्त्तन ये सब लक्षण प्रत्येक मनुष्यों में जरा आने के पूर्व अव्यक्त रूप से प्रगट होते हैं ॥ २-३ ॥

जरायाः स्वरूपम्—

प्राग्रूपसंकथितलक्ष्मचयप्रकाशो वह्नेश्च मान्द्यमथ साहसहीनताऽद्धा।
धैर्यप्रणाश उरुरप्यति संशयः स्यात् संपादने युवजनोचितकृत्यराशेः ॥ ४ ॥
चिन्ता घृणाबहुलता कृशताऽतिरोषो वृद्ध्या कफस्य हि गले नितरां च सक्तिः।
निष्ठीवनेन सह तस्य च निर्गमो वा हस्ताङ्घ्रिमध्यगतवेपथुरप्यजस्रम् ॥ ५ ॥
कम्पोऽधिजिह्वमपि च स्खलनं तु मूर्ध्नः पादद्वयस्य च धनुर्वदथाग्रतः स्यात्।
देहस्य चातिनमनं ह्यधिबुद्धि बाल्यं जायेत चातिखरता प्रकृतौ विशेषात् ॥ ६ ॥
वातामयादिकगदा विविधा भवेयुः स्वल्पाऽपि शक्तिरवशिष्यत एव सोढुम्।
क्लेशं च कंचन कथंचन नैव देहे कासस्तथा श्वसनमप्यतिविस्मृतिश्च ॥ ७ ॥
दण्डाश्रयेण गमनं रदहीनताऽऽस्ये चिह्नान्यमूनि गदितानि जरोत्थितानि।
वैद्योत्तमैर्बहु विविच्य च यानि तानि ज्ञेयानि संप्रति जराऽऽकृतिमीप्सुभिर्वै ॥ ८ ॥
सत्पथ्यसेवनवशादपि यूनि रोगा ये यान्ति चाशु सुखसाध्यदशामवश्यम्।
ते याप्यतां दधति चात्र हि सच्चिकित्सानिःशेषपादसमुपस्थितिकाल एव ॥ ९ ॥

जरा के पूर्वरूप में जो लक्षण कहे हैं उन्हीं सबों का पूर्ण रूप से प्रकट होना तथा अग्नि की मन्दता, साहस की हीनता, धैर्य का नाश, युवकजनों के योग्य कृत्यों के करने में अत्यन्त संशय, चिन्ता, घृणा की अधिकता, कृशता, अत्यन्त क्रोध, कफ की वृद्धि, गले में कफ का अटका रहना और खखारने पर थूक के साथ निकलना, हाथ-पैर में निरन्तर कम्प, जिह्वा में कम्पन, शिर और पैर का लड़खड़ाना, धनुष के समान शरीर का झुक जाना, लड़कों की सी बुद्धि हो जाना, स्वभाव में कठोरता, वातरोग आदि विविध रोगों का होना, किसी प्रकार के कुछ भी क्लेश सहन करने की शरीर में शक्ति का न रहना, कास, श्वास तथा अत्यन्त विस्मृति, दण्डे के सहारे

चलना और मुख में दाँतों का न रहना इत्यादि लक्षण होते हैं। युवावस्था में जो रोग अच्छे पथ्यों के सेवन से सुखसाध्य होते हैं वे ही रोग जरावस्था में चिकित्सा की उत्तमता होने पर भी याप्यावस्था को धारण करते हैं ॥ ४-९ ॥

अत्र साध्यतावर्णनम्—

सुसाध्ये तथा कृच्छ्रसाध्ये जराऽऽख्ये गदे तन्निवृत्त्यै तदुत्पादकानाम्।
शुभं वर्जनं वै निदानव्रजानां प्रयोगोऽपि रासायनः शोभनः स्यात् ॥ १० ॥

सुसाध्य तथा कृच्छ्रसाध्य जरारोग मे निवृत्ति के लिये उसके उत्पादक कारणों का भलीभाँति त्याग करना तथा रासायनिक ओषधियों का प्रयोग करना हितकर होता है ॥ १० ॥

विमर्श—यद्यपि अवस्था कृत 'जरा' स्वाभाविक है किन्तु पूर्वोक्त कारणों से कुछ लोगों में यह अकाल में ही उत्पन्न हो जाती है एवं नियमित आहार करने वाले या रसायनसेवी व्यक्तियों में यह अधिक अवस्था होने पर भी जल्दी पास नहीं फटकने पाती है अतः इसे भी रोग रूप में वर्णित किया गया है।

अथ शैशवसंन्यासनिदानम्

संदूषितस्य जननीपयसोऽतिपानाद् वातातपातिरहिते सततं च शीते।
दुर्वातदूषिततमे गहनान्धकारे गेहे शिशोरतिनिवासत एव लोके ॥ १ ॥
दन्तोद्गमामय इह क्रिमिबद्धकोष्ठव्याध्योश्च कुक्कुरपदाभिधकासरोगे।
किंवाऽन्यकष्टदगदे विपुलाभिघाते मिथ्याऽशनाचरणतो बहुदोषजातैः ॥ २ ॥
संन्यासव्यञ्जनयुतः क्वचनार्भकश्चेत् संन्यासरोग उदितो ननु शैशवादिः।
प्रायेण बालकजनस्य निपीडकस्तु ज्ञेयो भवेद् गदनिमित्तविदा विशेषात् ॥ ३ ॥

माँ के अत्यन्त दूषित दूध पीने से तथा निरन्तर वायु तथा धूप से रहित शीत स्थान में और दूषित वायु एवं घने अन्धकार से युक्त गृह में बालक के अधिक निवास करने से और दन्त रोग, क्रिमि रोग, बद्धकोष्ठता, कुक्कुर खाँसी, अभिघात (चोट), मिथ्या आहार-विहारादि कारणों से यदि कभी कोई बालक संन्यास पीड़ित होता है तो उसे 'शैशवसंन्यास' कहते हैं ॥ १-३ ॥

शैशवसंन्यासलक्षणम्—

उत्तारमक्षियुगलं सकलेषु गात्रेष्वाक्षेपको भवति चेतनताविघातः।
संलक्ष्यते मृत इवापतितः स बालः संजायतेऽस्य च दृढा खलु दन्तपङ्क्तिः ॥ ४ ॥
अयं शिशूनां गदितो हि शैशवाभिधस्तु संन्यासगदोऽतिबाधकः।
चिकित्सितं तत्र विरेचनं भवेद् विशेषतस्तत्क्षणसत्फलप्रदम् ॥ ५ ॥

शैशव संन्यास में बालक के दोनों नेत्रों की पुतलियाँ चढ़ जाती हैं। सारे शरीर में आक्षेप हो जाता है। चेतनता नष्ट हो जाती है, बालक मुर्दे की भाँति पड़ा रहता है और उसके दाँतों पर दाँत बैठ जाते हैं—इनका उभाड़ना कठिन हो जाता है। यह रोग अत्यन्त कष्टप्रद 'शैशव संन्यास' नामक रोग कहलाता है। इसमें तत्काल फल देने वाली चिकित्सा करनी चाहिए ॥ ४-५ ॥

अथांशुघातनिदानम्[1]

अंशुघातकारणम्—

भूम्नाऽयमुग्रातपहेतुतः सदा स्यादंशुघातः खलु दुर्बलादिषु।
उष्णप्रदेशेषु तथैव भूमेरार्द्रत्वतः स्थैर्यत एव वायोः ॥ १ ॥
उष्णानि कार्याण्यनिशं प्रकुर्वतस्त्वेतत्प्रभावान्मनुजेषु नूनम्।

---

१. Sun stroke

ग्रीष्मप्रचण्डांशुनिषेविपूपानदातपत्रादिमनाश्रितेषु ॥ २ ॥
निर्वातकारालयमास्थितेषु प्राधान्यतो योद्धृजनेष्ववश्यम् ।
संजायते प्राणिवपुर्विमर्दी घोरो गदः सद्भिषजां मतेन ॥ ३ ॥

प्रायः दुर्बल व्यक्तियों में तीव्र धूप लगने से अथवा अत्यन्त गर्म या शीत प्रदेश अथवा स्थिर वायु में रहने से यह रोग हुआ करता है तथा उष्ण कार्यों को निरन्तर करनेवाले, ग्रीष्म ऋतु के प्रचण्ड धूप में रहने वाले तथा जूता आदि नहीं पहनने वाले और वायुरहित कारागार (जेल) की कोठरियों में रहनेवाले प्राणियों को यह भयङ्कर अंशुघात रोग उत्पन्न होता है ॥१-३॥

अंशुघातस्य संप्राप्तिः—

भवेच्छरीराणुककोषविश्लेषणं विशेषादतितीव्रतापात् ।
ततः समुत्पद्य विषं प्रकुर्याद्रक्तं विषाक्तं मिलितं च तेन ॥ ४ ॥
किंवा प्रचण्डाः किरणाः खरांशोर्नूनं सुषुम्णास्थिततापकेन्द्रम् ।
संकोपयेयुर्यत एव काले स्यादंशुघातस्य गदस्य जन्म ॥ ५ ॥

अत्यन्त तीव्र ताप से शरीर के कोषाणुवों का विश्लेषण हो जाने पर एक प्रकार का विष उत्पन्न होता है जो रक्त से मिल कर उसे विषाक्त कर देता है इसी कारण से अंशुघात रोग का जन्म होता है अथवा सूर्य की तीक्ष्ण किरणें सुषुम्णामूलस्थित ताप केन्द्र को अत्यन्त कुपित कर देती हैं जिससे अंशुघात रोग हो जाता है ॥ ४-५ ॥

अंशुघातस्य लक्षणम्—

अस्यांशुघातस्य गदस्य वैद्यैस्तिस्रस्त्ववस्थाः परिकीर्त्तिता वै ।
शीताऽभिधाऽऽद्या च ततो द्वितीया साधारणी चान्तगता हि तीव्रा ॥ ६ ॥
क्लिन्नत्वशीतत्वसमन्विता त्वग् मूर्च्छा श्रमः स्यादथ दुर्बलत्वम् ।
तीव्रत्वमुक्तं ननु नाडिकायास्तत्रादिमायां हि रुजो दशायाम् ॥ ७ ॥
अस्यां दशायां नहि जातु मृत्युः प्रदृश्यते रोगिजनस्य नूनम् ।
चिकित्सया जीवनमेव रोगी हृत्कार्यरोधात्तु लभेत मृत्युम् ॥ ८ ॥
तथा द्वितीयां हि दशां गतस्यांशुघातिनो मूर्ध्नि भवेद्धि शूलम् ।
पीडाऽपि शुष्कत्वमथोष्णता च त्वचो धमन्याश्चपलत्वमुक्तम् ॥ ९ ॥
क्षीणत्वमेवं बहु दुर्बलत्वं हृच्छ्वासयोरप्यतिनिश्चयेन ।
मूर्च्छाऽऽदिचिह्नानि भवेयुरत्र प्रायेण पूर्वोक्तदशासमानि ॥ १० ॥
एवं दशामाप्नुवतोऽन्तिमां च ज्वरस्तु तीव्रः श्वसनं प्रलापः ।
भवेद्धदार्त्तस्य च वर्णनीलता संन्यासरोगो मरणं तथाऽन्ते ॥ ११ ॥

वैद्यों ने शीता, साधारणी और तीव्रा इस भेद से अंशुघात रोग की तीन अवस्थायें बताई हैं। इनमें 'शीता' में त्वचा क्लेदयुक्त तथा शीतल रहती है और मूर्च्छा, थकावट, दुर्बलता एवं नाड़ी की गति में तीव्रता ये सब लक्षण प्रकट होते हैं। इस दशा में चिकित्सा करने से रोगी की जीवन-रक्षा हो जाती है। दूसरी 'साधारणी' दशा को प्राप्त हुए रोगी के सिर में शूल, पीड़ा और त्वचा में शुष्कता तथा उष्णता, नाड़ी की गति में चपलता, क्षीणता एवं दुर्बलता रहती है और हृदय तथा श्वास की भी अत्यन्त दुर्बलता होती है। पहली दशा की भाँति इसमें भी मूर्च्छा आदि लक्षण मिलते हैं। तीसरी 'तीव्रा' को प्राप्त हुये रोगी की तीव्र ज्वर, श्वास, प्रलाप, वर्ण का नीला हो जाना और संन्यास ये सब दारुण लक्षण होते हैं जिससे रोगी प्रायः मर जाता है ॥ ६-११ ॥

असाध्यलक्षणम्—

करद्वयेऽङ्घ्रिद्वितये च नीलिमा तथा धमन्याः क्षणलुप्तता च ।

विक्षेपणं चावयवस्य रोगिणोंऽशुघातिनो मृत्युकृते भवन्ति ॥ १२ ॥

दोनों हाथ तथा पैरों का नीलवर्ण हो जाना, नाड़ी की गति क्षण-क्षण भर में लुप्त हो जाना और अङ्गों में विक्षेपण, ये सब लक्षण यदि अंशुघात रोगी में प्रकट हों तो असाध्य होता है ॥१२॥

अथोपान्त्रशोथनिदानम्[1]

उपान्त्रशोथस्य परिचयः—

प्रतिमानवं विभिन्ना मानेनान्त्रपुटेऽन्त्रनित्यलग्ना।
एका नलिका वर्त्तते उपान्त्रपदनामिका विदिता ॥ १ ॥
तस्या मानं क्वचन स्यादङ्गुलिद्वयोन्मिता बहुधाऽपि।
जातुचनातोऽप्यधिकं मानं क्वचिदष्टाङ्गुलोन्मितं भवति ॥ २ ॥
अतएव स्थितिरस्या भवति हि मनुजानुसारिणी नियतम्।
जाते चात्र प्रदाहे तीव्रा पीडा प्रजायते नूनम् ॥ ३ ॥

हर एक मनुष्यों में विभिन्न मान से अन्त्रपुट (उण्डुक) के पास अन्त्र से संबद्ध एक नलिका होती है जो 'उपान्त्र' नाम से विदित है। उसका प्रमाण प्रायः दो अङ्गुल का और कहीं-कहीं उससे अधिक आठ अंगुल तक होता है। इसलिए इसकी स्थिति मनुष्यों के अनुसार हुआ करती है। इसमें प्रदाह होने पर तीव्र पीड़ा निश्चित रूप से होती है (और इसी को 'उपान्त्रशोथ' कहते हैं।) ॥ १-३ ॥

अस्य प्रदाहे कारणम्—

यदाऽऽहारभागोऽत्र किंवाऽन्यदेवाविशेद्वस्तु काठिन्ययुक्तं कदाचित्।
तदोपान्त्रमध्ये प्रदाहोऽतिघोरोऽनुभूयेत रोगार्दितेनैव नूनम् ॥ ४ ॥

जब आहार का भाग या कोई कठिन वस्तु दैवात् उपान्त्र के अन्दर चली जाती है तब अत्यन्त घोर प्रदाह का अनुभव रोगी करने लगता है ॥ ४ ॥

अस्य संप्राप्तिः—

उपान्त्रस्य भित्तौ यदा श्लेष्मणो वा कलायां प्रकुर्युर्हि कीटाः प्रशोथम्।
ततो मन्दभावेन वृद्धः स शोथो व्रणस्य स्वरूपं तु नूनं सुदध्यात् ॥ ५ ॥

उपान्त्र की भित्ति अथवा श्लैष्मिक कला में जब कीटाणु शोथ उत्पन्न कर देते हैं तब वह शोथ धीरे-धीरे बढ़ता हुआ व्रणशोथ का स्वरूप धारण कर लेता है ॥ १५ ॥

उपान्त्रशोथस्य स्वरूपम्—

इह श्रोणिदेशे रुजा दक्षिणे स्याद्भृशं जातु देशे कपर्दाभिधे वा।
समुत्पद्य पूर्वं ततश्चोदरं वै परिव्याप्य सा प्रायशश्चाभ्युदेति ॥ ६ ॥
स्थिरा श्रोणिमध्ये पुनः पूर्णरीत्या ततश्छर्दनाधिक्यमाटोप उग्रः।
भवेन्मांसपेशीस्थितः स्पर्शनोत्था रुगुग्राऽप्युपान्त्रस्य नूनं तदानीम् ॥ ७ ॥
सदा दक्षिणं सक्थि संकोच्य रोगी स्वपित्यत्र यत्नादभीप्सुः प्रशान्तिम् ॥ ८ ॥
भवेद् द्व्युत्तरं तापमानं ज्वरस्यानिशं ह्येकसंख्यं शतं रोगिदेहे ॥
विबन्धस्य संबन्ध एवात्र भुग्ना प्रदृश्येत वा जातुचिच्चातिसारः ॥ ९ ॥

इस रोग में दक्षिण श्रोणि देश में अत्यन्त पीडा होती है अथवा कौड़ी प्रदेश में पहले पीडा उत्पन्न होकर पश्चात् सारे उदर में व्याप्त हो जाती है। फिर दक्षिण श्रोणि में पूर्ण रीति से स्थिर

---

१. Appendicitis

हो कर पीडा बनी रहती है । वमन और आटोप एवं मांसपेशियों में स्पर्श करनेसे उग्र पीडा होती है । रोगी को सदा दक्षिण पैर सिकोड़ कर सोने में शान्ति मिलती है । रोगी के शरीर में १०२ डिग्री ज्वर निरन्तर बना रहता है । इस रोग में अधिकतर विबन्ध बना रहता है कभी-कभी अतिसार भी होता है ॥ ६-९ ॥

अस्य साध्यत्वादिकम्—

दशायां तु साध्यस्य रोगोऽयमुक्तो मृदुश्च क्रमेण द्व्यहाद्वा त्र्यहाद् वै ।
लभेतापि च न्यूनभावं च तेनामयी मानवः सौख्यमाप्नोति नूनम् ॥ १० ॥
यदा चाक्रमेदेष रोगस्तु शश्वन्नरन्त्वस्य कृच्छ्रत्वमूह्यं तदा तु ।
प्रशस्तैः प्रयोगैश्चिकित्साऽतियत्नाद्विधेयेति सर्वैः सुवैद्यैरिहोक्ता ॥ ११ ॥
यदा चात्र योगो भवेद्विद्रधेर्वा प्रजायेत विस्फोट एवैतदीयः ।
तथा चोदराच्छादिकायां कलायां भवेच्छोथसंदर्शनं दैवदोषात् ॥ १२ ॥
विना शल्यसंबन्धिनीं सच्चिकित्सामसाध्यत्वमस्येति बोध्यं तदा तु ।
प्रजातेऽत्र योगे ध्रुवं विद्रधेर्वै ज्वरादीनि रूपाणि वृद्धान्यपि स्युः ॥ १३ ॥
तथा चोदराच्छादिकायां कलायां प्रजाते च शोथे भवेत् तापमानम् ।
अपि स्वस्थतुल्यं ज्वरस्याथ शीताङ्गताच्छर्दनादीनि चिह्नान्यपि स्युः ॥ १४ ॥

साध्यदशा में यह रोग मृदु रूप में रहता है और क्रम से २ या ३ दिन के बाद कम हो जाता है जिससे रोगी सुख प्राप्त करता है । जब यह रोग मनुष्य को बारंबार आक्रान्त करे तब इसे कृच्छ्रसाध्य समझ कर सद्वैद्यों से अच्छी चिकित्सा करानी चाहिए । जब इस रोगमें विद्रधि उत्पन्न हो जाती है अथवा उत्पन्न होकर फूट जाती है तब उदराच्छादिका कला में शोथ हो जाता है और विना अच्छी शल्य चिकित्सा के यह असाध्य समझा जाता है । इस रोग में विद्रधि का संबन्ध होने पर ज्वरादिक की वृद्धि हो जाती है किन्तु उदर कला में शोथ होने पर ज्वर का तापमान स्वस्थ के तुल्य या उससे भी कम हो जाता है और शीताङ्गता तथा वमन आदि चिह्न भी प्रकट होते हैं ॥ १०-१४ ॥

विमर्श—अन्तर्विद्रधि (उत्त० पृ० ८५) भी देखें ।

अथ स्नायुकनिदानम्

अत्यन्तवृष्ट्यादिनिमित्ततो यदा सेवेत दुष्टं बहुशो जलं ना ।
शाखासु दोषः कुपितो विसर्पवच्छोथं तदा तस्य विधाय भिन्द्यात् ॥ १ ॥
सोष्म स्नायुं तत्क्षते तत्र नूनं संशोष्याथो श्वेततन्तूपमं तु ।
वृत्तं जीवं संविदध्याद् बहिश्च स्वैरं स्वैरं निःसरेत् स क्षताच्च ॥ २ ॥
कुप्येच्छेदान्निःसृते तत्र शान्तिं शश्वत् स्थानेऽन्यत्र तस्योद्भवोऽपि ।
एवंरूपः स्नायुको नाम रोगः ख्यातो वीसर्पोदिता च क्रियाऽत्र ॥ ३ ॥
त्रुट्येत बाह्वोर्यदि जङ्घयोर्वा प्रमादतो यस्य नरस्य जातु ।
तदा तु संकोचमसौ करोति खञ्जत्वमद्धा क्रमतोऽपि तस्य ॥ ४ ॥

अत्यन्त वृष्टि आदि कारणों से दूषित जल का अधिक सेवन करने पर उससे कुपित हुआ दोष (अथवा उसके द्वारा कोष्ठ में पहुंचा हुआ क्रिमि) विसर्प की भाँति हाथ-पैरों में शोथ पैदा करके उसका भेदन कर देता है और उससे उत्पन्न हुए क्षत में वहाँ की ऊष्मायुक्त स्नायु को सुखा कर श्वेत तन्तु के समान गोल जीव को उत्पन्न कर धीरे-धीरे त्वचा से बाहर निकालता है । यदि वह बीच से कदाचित् टूट जाता है तो रोग का प्रकोप बढ़ जाता है और यदि सम्पूर्ण निकल जाता है तो रोग की शान्ति हो जाती है परन्तु पुनः दूसरे स्थान पर उक्त रीति से निकलना प्रारम्भ हो

जाता है। इसकी चिकित्सा विसर्प रोग की भाँति करनी चाहिए। जिस मनुष्य को कभी प्रमादवश बाहु तथा जङ्घा में वह स्नायुक टूट जाता है तो उस अङ्ग को संकुचित कर शनैः-शनैः खञ्जता को भी उत्पन्न कर देता है॥ १-४॥

वातादिभेदेन तस्य लक्षणमाह—

श्वासो रूक्षो वायुना चातिपीडायुक्तो नूनं तन्तुकः स प्रदिष्टः।
पित्तेनाथो नीलिमोपेतपीतोऽवश्यं दाहेनान्वितो दृश्यतेऽपि॥ ५॥
स्थूलः श्वेतः श्लेष्मणा स्याद्गरीयान् रोगो नाम्ना स्नायुको दुष्टरोगः॥ ६॥
स स्याद्दोषाणां त्रयेण त्रिलिङ्गश्चेत्थं रोगः स्नायुसंज्ञोऽष्टधा तु।
वैद्यैः प्रोक्तः प्राणहारी विशेषान्नानोपद्रुत्यन्वितोऽयं प्रमादात्॥ ७॥

वात दोष से वह तन्तुक कपिश वर्ण का रूक्ष तथा अत्यन्त पीड़ा युक्त होता है, पित्त से नीलिमा युक्त पीतवर्ण का तथा दाहयुक्त होता है, कफ से स्थूल, श्वेतवर्ण का तथा अत्यन्त गुरु होता है और रक्त से अत्यन्त दाहयुक्त, रक्त वर्ण का होता है तथा दो दोषों से दो दोषों के लक्षणों से युक्त और तीनों दोषों से तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त होता है। इस भाँति १ वात, २ पित्त, ३ कफ, ४ वात-पित्त, ५ वात-कफ, ६ पित्त-कफ, ७ रक्त और ८ वात-पित्त-कफ से ८ प्रकार का स्नायुक रोग होता है। प्रमादवश टूट जाने से नाना प्रकार के उपद्रवों से युक्त विशेषतः प्राणनाशक होता है॥ ५-७॥

विमर्श—यह एक क्रिमिज रोग है। अंग्रेजी में इसे 'ड्रेकन्टिएसिस' या 'गिनी वर्म रोग' (Dracontiasis or guine worm disease) कहते हैं। दूषित जल के द्वारा मनुष्य में इसका संक्रमण होता है। यह क्रिमि आमाशय में पहुंचता है। सगर्भा होनेपर स्त्री क्रिमि आन्त्र का भेदन कर त्वचा के नीचे पहुंचती है यहाँ इसकी वृद्धि होती रहती है और यह क्रमशः नीचे की ओर गमन करती हुई गुल्फ-सन्धि या पांव में पहुँचती है। वहाँ एक विस्फोट उत्पन्न होता है जो जल के सम्पर्क से फूट जाता है। इससे उत्पन्न क्षत द्वारा स्त्री क्रिमि अपने मुख द्वारा (प्रायः उसके सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त) गर्भाशय को उलट कर उसमें से अण्डों को बाहर जल में फेंकती है। इस व्रण द्वारा सूत्र रूप में निकला हुआ क्रिमि का मुख पकड़ कर सावधानी से खींचा जा सकता है। इस स्त्री क्रिमि की लम्बाई १५ से ५० इञ्च तक और चौडाई लगभग २५/१०० इञ्च होती है इस विस्फोट की उत्पत्ति के साथ ही उदर्द, ज्वर, वमन आदि अनेक उपद्रव होते हैं। यह विस्फोट कभी-कभी हाथ, पीठ या नितम्ब पर भी होते हैं। लोक में इसे 'नहरुआ' कहते हैं।

अथ पारदविकारनिदानम्[1]

यदा दोषहीनो भवेत् पारदो वै तदा सोऽत्र मृत्युज्वरघ्नः स्मृतः स्यात्।
अतोऽसौ विशुद्धः सुधासंनिभोऽथो विषाभो विशेषादशुद्धः प्रदिष्टः॥ १॥
अयुक्तिप्रयुक्तो रसो रोगमूलं सुयुक्तिप्रयुक्तो जराव्याधिशूलम्।
यतः संप्रदिष्टो विशिष्टैर्भिषग्भिस्ततः सेवनीयो यथाविध्यभिज्ञैः॥ २॥
विधिवदेष रसो ननु सेवितो हरति नुनियतं सकलामयान्।
अविधिना स हि भक्षित एव वै भुवि करोति गदान् विविधानिमान्॥ ३॥
नासाभङ्गः पीनसो दन्तपातो नेत्रास्योत्थो रोगजातो विसर्पः।
कोठः कण्डूर्मस्तके चातिपीडा त्वग्वैवर्ण्यं नासिकाऽऽदौ क्षतञ्च॥ ४॥
पीडायुक्तग्रन्थिवच्छोथकाठिन्यं जायेताप्यण्डकोशद्वये च।
पक्षाघातो ग्रन्थिवातोऽस्थिदाहोऽस्युग्रो जाड्यं चापि चेतोविकारः॥ ५॥

1. Mercury poisoning.

भगन्दरो नैकविधानि कुष्ठोपदंशचिह्नानि शरीरमध्ये।
तथाऽपरे कृच्छ्रतमा गदाः स्युर्यथोचितं भेषजमत्र कल्प्यम् ॥ ६ ॥

पारा शोधनादि द्वारा विशुद्ध होने पर अमृत के समान गुणकारी तथा अशुद्ध होने पर विषतुल्य कहा गया है। यदि इसका विधिपूर्वक प्रयोग न किया जाय तो रोगों को उत्पन्न करने का प्रधान कारण बन जाता है और यही यदि सविधि प्रयोग में लाया जाय तो जरा एवं नाना प्रकार की व्याधि को दूर करने वाला होता है। अतएव इसका विधिपूर्वक ही प्रयोग करना चाहिये। अविधिपूर्वक सेवन करने से नासाभङ्ग, पीनस, दाँतों का गिरना, नेत्र तथा मुख के रोगों का उत्पन्न होना, विसर्प, कोठ रोग (चकत्ते होना), खुजली, मस्तक में अत्यन्त पीडा, त्वचा की विवर्णता, नासिका आदि में क्षत, दोनों अण्डकोषों के ऊपर पीडायुक्त गाँठ की भाँति शोथ, पक्षाघात, ग्रन्थिवात (गँठिया), अत्यन्त उग्र अस्थियों में दाह, जड़ता, मानसिक विकार, भगन्दर अनेक प्रकार के कुष्ठ, उपदंश तथा अन्यान्य भी अत्यन्त कृच्छ्रसाध्य रोगों की उत्पत्ति होती है। इनके होने पर यथोचित औषधों का प्रयोग करना चाहिये ॥ १-६ ॥

विमर्श—आयुर्वेद में रसौषधियों के प्रयोग का बहुशः विधान है। इन रसौषधियों में अधिकांश पारदयुक्त होती हैं, प्रमादवश इनमें कदाचित् अशोधित पारद का योग हो जाने पर अनेक विकारों की उत्पत्ति हो सकती है। अतः संक्षेप में पारदविकारों का उल्लेख कर दिया गया है। विशिष्ट विवेचन के लिए अर्वाचीन 'विषतन्त्र' का अवलोकन करें।

अथ शीतलानिदानम्

शीतला-परिचयः—

देव्या शीतलयाऽऽक्रान्ता मसूर्यः शीतला बहिः। ज्वरयेयुर्यथा भूताधिष्ठितो विषमज्वरः ॥
ताश्च सप्तविधाः ख्यातास्तासां भेदान् प्रचक्ष्महे ॥ १ ॥

देवी शीतला से आक्रान्त मसूरिकायें शीतला कहलाती हैं ये शरीर के बाह्य भाग में होती हैं। इसमें भूताभिषङ्गज विषम ज्वर की भांति ज्वर होता है। ये ७ प्रकार की होती हैं ॥ १ ॥

बृहतीशीतलालक्षणम्—

ज्वरपूर्वा बृहत्स्फोटैः शीतला बृहती भवेत् ॥ २ ॥
सप्ताहान्निःसरत्येव सप्ताहात् पूर्णतां व्रजेत्। ततस्तृतीये सप्ताहे शुष्यति स्खलति स्वयम् ॥३॥

१. उनमें प्रथम बृहती शीतला ज्वरपूर्वक बड़े २ स्फोटों से युक्त सात दिन में निकलती है और दूसरे सप्ताह में पूर्ण होकर तीसरे सप्ताह में सूख जाती है और स्वयं झड़ जाती है ॥ २-३ ॥

कोद्रवशीतलालक्षणम्—

वातश्लेष्मसमुद्भूता कोद्रवा कोद्रवाकृतिः। तां कश्चित् प्राह पक्वेति सा तु पाकं न गच्छति ॥
जलशूकवदङ्गानि सा विध्यति विशेषतः। सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा शान्तिं याति विनौषधम् ॥

२. वात-कफ से उत्पन्न कोद्रव के आकार की जो शीतला होती है उसे 'कोद्रवशीतला' कहते हैं। यह पकी हुई सी दिखती है किन्तु वह पाकावस्था को नहीं प्राप्त होती है। यह अङ्गों को जलशूक से वेधनवत् पीडित करती है। सात अथवा दस दिन पर बिना ओषधि के ही यह शान्त हो जाती है ॥ ४-५ ॥

पाणिसहालक्षणम्—

ऊष्मणा तूष्मजारूपा सकण्डूः स्पर्शनप्रिया। नाम्ना पाणिसहा ख्याता सप्ताहाच्छुष्यति स्वयम्॥

३. ऊष्मा से उत्पन्न अन्हौरी के समान खुजलाहट पूर्ण और जिसे स्पर्श करना रोगी को प्रिय मालूम पड़ता है वह पाणिसहा शीतला कहलाती हैं। यह १ सप्ताह के बाद स्वयं सूख जाती है ॥

सर्षपिकाशीतलालक्षणम्—

चतुर्थी सर्षपाकारा पीतसर्षपवर्णिनी। नाम्ना सर्षपिका ज्ञेयाऽभ्यङ्गमत्र विवर्जयेत् ॥ ७ ॥

४. जो शीतला पीले सर्सों के समान पीले वर्ण की होती है उसे 'सर्षपिका शीतला' कहते हैं, इसमें तैल का अभ्यङ्ग (मालिश) करना वर्जित होता है ॥ ७ ॥

राजिकाकृतिमसूरिकालक्षणम्—

किञ्चिदूष्मनिमित्तेन जायते राजिकाऽऽकृतिः। एषा भवति बालानां सुखं शुष्यति च स्वयम् ॥

५. किंचित् ऊष्मा के निमित्त से उत्पन्न राई की भाँति आकार वाली शीतला 'राजिकाकृति शीतला' कहते हैं। यह बालकों को होती है और स्वयं सुखपूर्वक सूख भी जाती है ॥ ८ ॥

षष्ठी-मसूरिका-लक्षणम्—

कोठवज्जायते षष्ठी लोहितोन्नतमण्डला। ज्वरपूर्वा व्यथायुक्ता ज्वरस्तिष्ठेद्दिनत्रयम् ॥
स्फोटानां मेलनादेषा बहुस्फोटाऽपि दृश्यते ॥ ९ ॥

६. जो मसूरिका कोठ (चकत्ते) की भाँति उत्पन्न होती है और देखने में लाल वर्ण की एवं ऊपर की ओर विस्तारयुक्त मण्डल वाली होती है, जिसमें ३ दिन तक ज्वरपूर्वक व्यथा बनी रहती है वह 'षष्ठी मसूरिका' कहलाती है। बहुत से विस्फोटों के परस्पर मिल जाने से यह बहुत बड़े स्फोटों वाली भी होती है ॥ ९ ॥

सप्तमी-मसूरिका-लक्षणम्—

एकस्फोटा च कृष्णा च बोद्धव्या चर्मजाऽभिधा ॥ १० ॥

७. जो एक (अलग २ विकीर्ण) स्फोटों वाली तथा कृष्ण वर्ण की होती है वह 'चर्मजा' नाम शीतला कहलाती है ॥ १० ॥

विमर्श—प्राचीन आचार्यों ने इनका वर्णन मसूरिका नाम से किया है। इनका प्राचीन और अर्वाचीन रीति से विस्तृत वर्णन उत्तरार्ध (पृ० १८२ से १९२ तक) में देखें।

अथाशीतिर्वातजरोगनामानि

ये चाशीतिर्वातजाता मुनीन्द्रैः ख्याता रोगास्तान् समस्तान् ब्रवीमि।
बाह्यायामश्चान्तरायाम ऊरुस्तम्भो जिह्वास्तम्भ उद्गार एव ॥ १ ॥
खञ्जी पक्षाघात आक्षेपकोऽथो मन्यास्तम्भः पङ्गुता क्रोष्टुशीर्षः।
प्रत्यष्ठीलाऽष्ठीलिका वामनत्वं कम्पः कार्श्यं श्यावता च प्रलापः ॥ २ ॥
निद्रानाशः स्वेदनाशोऽपि रेतोनाशो रेतोऽतिप्रवृत्तिश्च तोदः।
कार्श्यं शुक्रस्यापि काठिन्यमाध्मानं भीरुत्वं दुर्बलत्वं च कण्डूः॥ ३ ॥
प्रत्याध्मानं शीतता रोमहर्षः स्तम्भो विश्वाची हनुस्तम्भ एव।
सङ्कोचोऽथो गृध्रसी पादहर्षो मूकत्वं चातीव जृम्भा तथा च ॥ ४ ॥
शिरोग्रहश्चापि कटीग्रहोऽर्दितस्तथाऽपतानोऽथ कलायखञ्जता।
बलक्षयश्चाप्यनवस्थितात्मता रसाज्ञता मिन्मिनताऽथ कुब्जता ॥ ५ ॥
शब्दाज्ञता चाप्यपतन्त्रको व्रणायामः प्रसुप्तिर्विरसास्यता च।
दृशोः क्षयो विड्ग्रह एव कलताऽपबाहुकश्चापि कषायवक्त्रता ॥ ६ ॥
गन्धाज्ञत्वं क्षिप्रमूत्रत्वमङ्गशूलं तूनी चाङ्गपीडाऽङ्गभङ्गः।
पार्श्वे शूलं वातकण्टोऽङ्गभेदः शोषश्चाङ्गस्यापि विभ्रंश एव ॥ ७ ॥
दण्डापतानको वातप्रवृत्तिश्चान्त्रकूजनम्। सिराणां पूरणं तद्वत् स्फुरणं बद्धविट्कता ॥ ८ ॥
खञ्जता रूक्षता चैव प्रतितूनी पुरातनैः। भिषग्भिर्गदिता एते ज्ञेया रोगास्तु कोविदैः ॥९॥

प्राचीन मुनीन्द्रों ने निम्न प्रकार से ८० वातज रोगों को कहा है—१ बाह्यायाम, २ अन्तरायाम, ३ ऊरुस्तम्भ, ४ जिह्वास्तम्भ, ५ उद्गार, ६ खञ्जी, ७ पक्षाघात, ८ आक्षेपक, ९ मन्यास्तम्भ, १० पङ्गुता, ११ क्रोष्टुशीर्ष, १२ प्रत्यष्ठीला, १३ अष्ठीलिका, १४ वामनता, १५ कम्प, १६ कार्श्य, (कृशता), १७ श्यावता, १८ प्रलाप, १९ निद्रानाश, २० स्वेदनाश, २१ रेतोनाश (शुक्रनाश),

२२ रेतोऽतिप्रवृत्ति (शुक्रातिप्रवृत्ति), २३ तोद, २४, शुक्रकार्श्य, २५ काठिन्य, २६ आध्मान, २७ भीरुत्व, २८ दुर्बलत्व, २९ कण्डू, ३० प्रत्याध्मान, ३१ शीतता, ३२ रोमहर्ष, ३३ स्तम्भ, ३४ विश्वाची, ३५ हनुस्तम्भ, ३६ सङ्कोच, ३७ गृध्रसी, ३८ पादहर्ष, ३९ मूकता, ४० अतिजृम्भा, ४१ शिरोग्रह, ४२ कटिग्रह, ४३ अर्दित, ४४ अपतानक, ४५ कलायखञ्जता, ४६ बलक्षय, ४७, अनवस्थितात्मता (अनवस्थितचित्तता), ४८ रसाज्ञता, ४९ मिन्मिनता, ५० कुब्जता, ५१ शब्दाज्ञता, ५२ अपतन्त्रक, ५३ व्रणायाम, ५४ प्रसुप्ति, ५५ विरसास्यता, ५६ दृक्क्षय, ५७ विड्ग्रह, ५८ कल्लता, ५९ अपबाहुक, ६० कषायवक्त्रता, ६१ गन्धाज्ञत्व, ६२ क्षिप्रमूत्रत्व, ६३ अङ्गशूल, ६४ तूनी, ६५ अङ्गपीडा, ६६ अङ्गभङ्ग, ६७ पार्श्वशूल, ६८ वातकण्टक, ६९ अङ्गभेद, ७० शोष, ७१ अङ्गविभ्रंश, ७२, दण्डापतानक, ७३ वातप्रवृत्ति, ७४ अन्त्रकूजन, ७५ सिरापूरण, ७६ स्फुरण, ७७ बद्धविट्कता, ७८ खञ्जता, ७९ रूक्षता और ८० प्रतितूनी ॥ १-९ ॥

अथ चत्वारिंशत्पित्तरोगनामानि

चत्वारिंशत्संख्यकाः पित्तजाताः ख्याता रोगा ये मुनीन्द्रैः पुराणैः ।
संकथ्यन्ते चाधुना सावधानं श्रोतव्यास्तेऽवश्यमेवाप्यभिज्ञैः ॥ १ ॥
उष्णाङ्गत्वं कण्ठशोषो विदाहो धूमोद्गारः कान्तिहानिः क्लमश्च ।
तिक्तास्यत्वं चाल्पशुक्रत्वमम्लवक्त्रत्वं चाप्यास्यशोषोऽङ्गपाकः ॥ २ ॥
स्वेदस्रावो लोहगन्धास्यता चातृप्तिश्चाथो पीतविट्कत्वमेव ।
रक्तद्रावोऽथारतिः पीतमूत्रत्वं दौर्गन्ध्यं पीतगात्रत्वमद्धा ॥ ३ ॥
उष्णोच्छ्वासत्वं च कोपोऽथ गात्रसादः शीतेच्छाऽल्पनिद्रत्वमेव ।
तेजोद्वेषो भिन्नविट्कत्वमान्ध्यं मूत्रस्योष्णत्वं मलस्योष्णता च ॥ ४ ॥
मतिभ्रमोऽङ्गदरणं तथा पीतावलोकनम् । तमसो दर्शनं पीतनखता पीतदन्तता ॥ ५ ॥
निःसरत्वं तथा पीतमण्डलानां च दर्शनम् । अथो हरितवर्णत्वं पीतनेत्रत्वमित्यलम् ॥ ६ ॥

मुनियों ने निम्न प्रकार से पित्त रोग के ४० भेद कहे हैं :—१ उष्णाङ्गत्व, २ कण्ठशोष, ३ विदाह, ४ धूमोद्गार, ५ कान्तिहानि, ६ क्लम, ७ तिक्तास्यता, ८ अल्पशुक्रता, ९ अम्लवक्त्रता, १० आस्यशोष, ११ अङ्गपाक, १२ स्वेदस्राव, १३ लोहगन्धास्यता १४ तृप्ति, १५ पीतविट्कत्व, १६ रक्तद्राव, १७ अरति, १८ पीतमूत्रत्व, १९ दौर्गन्ध्य, २० पीतगात्रत्व, २१ उष्णोच्छ्वासत्व, २२ कोप, २३ गात्रसाद, २४ शीतेच्छा, २५ अल्पनिद्रत्व, २६ तेजोद्वेष, २७ भिन्नविट्कत्व, २८ आन्ध्य, २९ मूत्रोष्णत्व, ३० मलोष्णता, ३१ मतिभ्रम, ३२ अङ्गदरण, ३३ पीतावलोकन, ३४ तमोदर्शन, ३५ पीतनखता, ३६ पीतदन्तता, ३७ निःसरत्व, ३८ पीतमण्डलदर्शन, ३९ हरितवर्णता और ४० पीतनेत्रता ॥ १-६ ॥

अथ विंशतिश्लेष्मरोगनामानि

ये विंशतिः श्लेष्मसमुद्भवा गदा उदीरिता रोगनिदानसंविदा ।
त एव संप्रत्यखिला विशेषतस्त्वाकर्णनीया ननु सावधानतः ॥ १ ॥
मुखमाधुर्यं शैत्यं गौरवमतिनिद्रता तन्द्रा । उष्णेच्छा मुखलेपः प्रसेकता तिक्तकामिता चापि ॥
श्वेतावलोकनं चाचैतन्यं मन्दबुद्धिताऽतृप्तिः । श्वेताङ्गवर्णताऽथो बहुमूत्रत्वं मलाधिकता ॥
आलस्यं विण्मूत्रश्वेतत्वं चापि चेतनाविरहः । घर्घरवाक्यत्वं च ज्ञेया एते गदाः कफजाः ॥

रोगनिदान-वेत्ताओं ने निम्न प्रकार से २० प्रकार के कफज रोग कहे हैं :—१ मुखमाधुर्य, २ शैत्य, ३ गौरव, ४ अतिनिद्रता, ५ तन्द्रा, ६ उष्णेच्छा, ७ मुखलेप, ८ प्रसेकता, ९ तिक्तकामिता, १० श्वेतावलोकन, ११ अचैतन्य, १२ मन्दबुद्धिता, १३ अतितृप्ति, १४ श्वेताङ्गवर्णता, १५ बहुमूत्रता, १६ मलाधिकता, १७ आलस्य, १८ विण्मूत्रश्वेतता, १९ चेतनाविरह और २० घर्घरवाक्यता ॥ १-४ ॥

इति भिषग्रत्नब्रह्मशंकरमिश्रशास्त्रिप्रणीतं भाषाटीकोपेतं परिशिष्टं समाप्तम् ।

To. Dr. Vimla Gupta
G.A.M.S

- Vimla Kumari
Gupta

सम्पूर्ण ! छप गया !!

चरकसंहिता

सविमर्श 'विद्योतिनी' हिन्दी व्याख्या, परिशिष्ट सहित

शुभाशंसक—

कविराज पं० सत्यनारायण जी शास्त्री पद्मभूषण

व्याख्याकार—

डा० गोरखनाथ चतुर्वेदी, पं० काशीनाथ पाण्डेय

सम्पादकमण्डल—

पं० राजेश्वरदत्त शास्त्री, पं० यदुनन्दन उपाध्याय,
डा० गंगासहाय पाण्डेय, डा० बनारसीदास गुप्त

इस संस्करण की विशेषता—

इसमें विशुद्ध मूलपाठ का निर्णय करके टिप्पणी में पाठान्तर दे दिए गए हैं। छात्रों की सुविधा के लिये विषयानुसार यत्र-तत्र मूल को विभाजित कर उसका अनुवाद किया गया है। अनुवाद में संस्कृत की प्रकृति का ही विशेष ध्यान रखा गया है। तदनन्तर 'विमर्श' नामक विशद व्याख्या की गई है जिसमें चक्रपाणि की सर्वमान्य प्रामाणिक संस्कृत टीका 'आयुर्वेददीपिका' के अधिकांश भाग एवं आधुनिक चिकित्सा-सिद्धान्तों का समावेश तथा समन्वय किया गया है।

आयुर्वेद के मुख्य सिद्धान्तों तथा प्रष्टव्य अंशों का विभाजन स्पष्ट करने के लिये मूल के प्रसिद्ध अंशों को पुष्पांकित कर दिया गया है।

किस अध्याय में कौन-कौन से मुख्य विषयों का वर्णन है इस बात को सरलतया स्मरण रखने के लिये अध्यायों को उपप्रकरणों में विभक्त कर दिया गया है।

कतिपय अध्यायों में पहले निश्चित प्रश्न हैं तदनन्तर उनके उत्तर-रूप में पूरा अध्याय है। ऐसे स्थलों पर किस प्रश्न का उत्तर कहाँ से कहाँ तक है, यह उल्लेखपूर्वक स्पष्ट कर दिया गया है। स्पष्टीकरण के लिये यत्र-तत्र सारणियाँ दे दी गई हैं तथा आयुर्वेदीय शब्दों के यथासम्भव अंग्रेजी पर्याय भी दिए गए हैं।

इस प्रकार छात्रों, अध्यापकों तथा चिकित्सकों की प्रायः सभी सम्बद्ध आवश्यकताओं की पूर्ति इस संस्करण से हो जायगी ऐसा विश्वास है।

आयुर्वेदप्रेमी यथाशीघ्र इस संस्करण का संग्रह करें। कागज, छपाई, जिल्द, आकार आदि सभी दृष्टियों से सर्वोत्तम। मूल्य इन्द्रियस्थान पर्यन्त पूर्वार्द्ध १६-००
चिकित्सादि समाप्ति पर्यंत बृहत् परिशिष्ट सहित उत्तरार्द्ध २०-००
१-२ भाग संपूर्ण ग्रन्थ ३६-००

प्राप्तिस्थानम्—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१